श्रीश्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रो विजयतेतमाम्

श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत

✵✵✵

मध्य लीला

✵✵✵

प्रथम परिच्छेद

कथासार—इस परिच्छेद में महाप्रभु की समस्त मध्यलीला और शेषलीला के प्रथम छह वर्षों की लीलाओं के सूत्र का वर्णन हुआ है। "यः कौमारहरः" श्लोक का उच्चारण करके महाप्रभु ने जो भाव प्रकाशित किया, उसके श्रीरूप गोस्वामी के "सोह्‌यं कृष्णः" श्लोक में स्पष्ट रूप से लक्षित होने के कारण महाप्रभु ने रूप के प्रति विशेष कृपा की। इस परिच्छेद में रूप, सनातन और जीव गोस्वामी द्वारा विरचित सभी ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है। महाप्रभु ने रामकेलि ग्राम में रूप-सनातन पर दया की।

(अः प्रः भाः)

श्रीगौर कृपा से अज्ञ व्यक्ति को भी अभिज्ञता प्राप्त—

यस्य प्रसादादज्ञोऽपि सद्यः सर्वज्ञतां व्रजेत्।
स श्रीचैतन्यदेवो मे भगवान् संप्रसीदतु॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिनकी कृपा से अनभिज्ञ व्यक्ति भी तत्क्षणात् सर्वज्ञता (सभी विषयोंकी जानकारी) प्राप्त करता है, वही भगवान् श्रीचैतन्यदेव मेरे प्रति प्रसन्न हों।

अनुभाष्य

१। यस्य (श्रीचैतन्यदेवस्य) प्रसादात् (अनुकम्पया) अज्ञः (अनभिज्ञः) अपि सद्यः सर्वज्ञतां व्रजेत् (सर्वेषु विषयेषु पारङ्गतो विज्ञो भवति), स भगवान् श्रीचैतन्यदेवः मे (मयि) संप्रसीदतु (सम्यक् प्रसन्नो भवतु)।

श्रीगौर-नित्यानन्द
को प्रणाम—

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्य-नित्यानन्दौ सहोदितौ।
गौड़ोदये पुष्पवन्तौ चित्रौ शन्दौ तमोनुदौ॥२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२। आदि १म प: ८४ संख्या द्रष्टव्य।

सम्बन्धाधि देवता को प्रणाम—

जयतां सुरतौ पङ्गोर्मम मन्दमतेर्गती।
मत्सर्वस्वपदाम्भोजौ राधामदनमोहनौ॥३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३। आदि १म प: १५ संख्या द्रष्टव्य।

अभिधेयाधिदेवता को प्रणाम—

दीव्यद्वृन्दारण्यकल्पद्रुमाधः
श्रीमद्रत्नागारसिंहासनस्थौ।
श्रीश्रीराधाश्रीलगोविन्ददेवौ
प्रेष्ठालीभिः सेव्यमानौ स्मरामि॥४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४। आदि १ म प: १६ संख्या द्रष्टव्य।

प्रयोजनाधिदेवता को प्रणाम—

श्रीमान्रासरसारम्भी वंशीवटतटस्थितः।
कर्षन् वेणुस्वनैर्गोपीर्गोपीनाथः श्रियेऽस्तु नः॥५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५। आदि १ म प: १७ संख्या द्रष्टव्य।

जय जय गौरचन्द्र जय कृपासिन्धु।
जय जय शचीसुत जय दीनबन्धु॥६॥

६। प० अनु०—कृपासिन्धु श्रीगौरचन्द्रकी जय हो, जय हो। दीनबन्धु श्रीशचीनन्दन की जय हो, जय हो।

जय जय नित्यानन्द जयाद्वैतचन्द्र।
जय जय श्रीवासादि जय गौरभक्तवृन्द॥७॥

७। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो। श्रीवासादि गौरभक्तवृन्द की जय हो, जय हो।

पहले (आदिलीला के १४ से १७ संख्या परिच्छेद में) आदिलीला के सूत्रों के साथ-ही-साथ मुख्य घटनाएँ वर्णित—

पूर्वे कहिलूँ आदिलीलार सूत्रगण।
याहा विस्तारियाछेन दास-वृन्दावन॥८॥
अतएव तार आमि सूत्रमात्रे कैल।
जे किछु विशेष, सूत्रमध्येई कहिल॥९॥

८-९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जिस आदि लीला का श्रील वृन्दावन दास ठाकुर ने विस्तृत रूप से वर्णन किया है, मैंने उसका पहले (स्वरचित आदिलीला के चौदहवें से सत्रहवें परिच्छेद में) सूत्ररूप से वर्णन किया है। उसमें जो कुछ विशेष है (अर्थात् जिसका श्रील वृन्दावनदास ठाकुर ने संक्षेप से वर्णन किया है अथवा बिलकुल ही वर्णन नहीं किया), उसे मैंने सूत्र के बीच में ही कह दिया है।

अब शेष लीला के मुख्य सूत्रों का वर्णन आरम्भ—

एबे कहि शेष लीलार मुख्य सूत्रगण।
प्रभुर अशेष लीला ना जाय वर्णन॥१०॥

१०। प० अनु०—अब श्रीमन् महाप्रभु की (संन्यास से अन्त धर्ान तक की) शेषलीला के अन्तर्गत मुख्य लीलाओं के सूत्र (संक्षिप्त विवरण) का उल्लेख करूँगा, क्योंकि श्रीमन् महाप्रभु की लीलाएँ अनन्त हैं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता।

चैतन्यभागवत में विस्तृत रूप से वर्णित घटनाओं को सूत्ररूप में तथा संक्षिप्त रूप से वर्णित मुख्य-मुख्य घटनाओंको विस्तृत रूप से वर्णन करने की प्रतिज्ञा—

तार मध्ये जेइ भाग दास-वृन्दावन।
'चैतन्यमङ्गले' विस्तारि' करिला वर्णन॥११॥
सेइ भागेर इहाँ सूत्र मात्र लिखिब।
ताँहा जे विशेष किछु, इहाँ विस्तारिब॥१२॥

११-१२। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु की शेष लीलाओं में से जिन लीलाओं का श्रीवृन्दावन दास ठाकुर

ने चैतन्यमङ्गल (चैतन्यभागवत) में विस्तृत रूप से वर्णन किया है। उन लीलाओं को तो मैं सूत्ररूप में अर्थात् संक्षेप में लिखूँगा और जो कुछ विशेष लीलाएँ हैं, उनका विस्तारपूर्वक वर्णन करूँगा।

अनुभाष्य

११। चैतन्यचरितामृत की रचना के समय तक श्रीवृन्दावन दास ठाकुर के चैतन्यभागवत का 'चैतन्य-मङ्गल' नाम था, यही जाना जाता है। जयानन्द के 'चैतन्य-मङ्गल' नामक जो बहुत ही आधुनिक भक्तिसिद्धान्त विरोधी ग्रन्थ का नाम उल्लेख किया जाता है, वह एक कपट (झूठ-मूठ का) ग्रन्थ है; प्राचीन किसी भी ग्रन्थ में उसका तथा उसके रचयिता 'जयानन्द' का नाम तक भी दिखायी नहीं देता। इसलिये 'जयानन्द' नाम ही कृत्रिम है, यह भी सहज ही बोधगम्य होता है।

वृन्दावनदास ठाकुर की नियत (नित्य) वन्दना—

चैतन्यलीलार व्यास—दास वृन्दावन।
ताँर आज्ञाय करों ताँर उच्छिष्ट चर्वण॥१३॥
भक्ति करि' शिरे धरि ताँहार चरण।
शेषलीलार सूत्र इबे करिये वर्णन॥१४॥

१३-१४। प० अनु०—श्रीवृन्दावनदास ठाकुर श्रीचैतन्य लीलाके व्यास हैं। मैं उनकी आज्ञा से ही उनके उच्छिष्ट का चर्वण करता हूँ। अब मैं भक्तिपूर्वक अर्थात् सेवा की अभिलाषा से उनके श्रीचरणों को मस्तकर पर धारण करके शेष लीला के सूत्रों का वर्णन करता हूँ।

अनुभाष्य

१३। चैतन्य लीला के व्यास—भगवान् के अवतार समूह के एवं श्रीकृष्ण लीला के लेखक श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास हैं। श्रीचैतन्य लीला के लेखक श्रीवृन्दावन दास ठाकुर—श्रीव्यास स्वरूप हैं। श्रीवृन्दावन दास द्वारा वर्णन नहीं की गयी अवशिष्ट चैतन्य-लीलाओं के वर्णन का कार्य उनके सेवक, पाल्य और अनुगत होने के कारण श्रीकृष्णदास द्वारा ही चैतन्य-लीला लिखी गयी है।

शेषलीला के सूत्रों का वर्णन आरम्भ; पहले २४ वर्षों में गृहस्थ लीला का अभिनय नामक 'आदिलीला'—

चब्बिस वत्सर प्रभुर गृहे अवस्थान।
ताँहा जे करिला लीला—'आदि-लीला' नाम॥१५॥

१५। प० अनु०—चौबीस वर्ष की आयु तक श्रीमन् महाप्रभु ने घर में रहकर जो लीलाएँ की, उनका नाम 'आदि-लीला' है।

दूसरे २४ वर्ष संन्यास लीला का अभिनय करते हुए 'शेषलीला'—

चब्बिस वत्सर शेष जेइ माघमास।
तार शुक्लपक्षे प्रभु करिला संन्यास॥१६॥

१६। प० अनु०—चौबीस वर्ष की आयु के अन्त में जो माघ मास आया, उसके शुक्ल पक्ष में अर्थात् माघ मास के अन्तिम भाग में श्रीमन् महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण किया।

संन्यास करिया चब्बिस वत्सर अवस्थान।
ताँहा जेइ लीला, तार 'शेषलीला' नाम॥१७॥

१७। प० अनु०—संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् श्रीमन् महाप्रभु चौबीस वर्ष तक ही प्रकट रहे। उस प्रकट काल में उन्होंने जो लीलाएँ की, उसका नाम शेष-लीला है।

मध्य और अन्त्य के भेद से शेषलीला—

शेषलीलार 'मध्य', 'अन्त्य',—दुइ नाम हय।
लीलाभेदे वैष्णव सब नाम-भेद कय॥१८॥

१८। प० अनु०—शेष लीला 'मध्य' और 'अन्त्य' दो नामों में विभक्त हैं। लीलाभेद के अनुसार सब वैष्णवों ने इन्हें दो नामों में विभक्त किया है।

अन्त के चौबीस वर्षों के पहले छह वर्ष तक समस्त भारत में प्रचार रूपी मध्य लीला—

तार मध्ये छय वत्सर—गमनागमन।
नीलाचल-गौड़-सेतुबन्ध-वृन्दावन॥१९॥

१९। प० अनु॰—उन चौबीस वर्षों में पहले के छह वर्षों तक श्रीमन् महाप्रभु ने नीलाचल, गौड़देश (बङ्गाल), सेतुबन्ध (रामेश्वर) और वृन्दावन आदि में गमनामन किया।

अन्त के अठारह वर्षों में
आस्वादनरूपी अन्त्य लीला—

ताँहा जेइ लीला, तार 'मध्यलीला' नाम।
तार पाछे लीला—'अन्त्यलीला' अभिधान॥२०॥

२०। प० अनु॰—गमनागमन करते समय उपरोक्त स्थानों पर श्रीमन् महाप्रभु ने जो लीलाएँ की, वह 'मध्य-लीला' के नाम से जानी जाती हैं और उसके बाद (श्रीजगन्नाथ पुरी) की लीलाएँ 'अन्त्यलीला' के नाम से जानी जाती हैं।

'आदिलीला', 'मध्यलीला', 'अन्त्यलीला' आर।
एबे 'मध्यलीला' किछु करिये विस्तार॥२१॥

२१। प० अनु॰—अतः श्रीमन् महाप्रभु की तीन प्रकार की लीलाएँ है, जिन्हें 'आदिलीला', 'मध्यलीला' और 'अन्त्यलीला' कहते हैं। अब मैं 'मध्यलीला' का कुछ विस्तार पूर्वक वर्णन करता हूँ।

अठारह वर्षों में पहले छह वर्षों तक भक्तों
के साथ वास और पुरी में आचार्यत्व—

अष्टादशवर्ष केवल नीलाचले स्थिति।
आपनि आचरि' जीवे शिखाइल भक्ति॥२२॥

२२। प० अनु॰—अठारह वर्षों तक श्रीमन् महाप्रभु ने केवल नीलाचल में ही वास किया और स्वयं आचरण कर जीवों को भक्ति की शिक्षा प्रदान की।

तार मध्ये छय वत्सर भक्तगण-सङ्गे।
प्रेमभक्ति प्रवर्ताइल नृत्यगीतरङ्गे॥२३॥

२३। प० अनु॰—उन अठारह वर्षों में प्रथम छह वर्षों तक श्रीमन् महाप्रभु ने स्वयं भक्तों के साथ नृत्य-गीत का आस्वादन कर प्रेमभक्ति का प्रवर्त्तन किया।

प्रचारकवर्ग—(१) गौड़मण्डल में अपने
परिकरों के साथ श्रीनित्यानन्द का प्रचार—

नित्यानन्द-गोसाञिरे पाठाइल गौड़देशे।
तिँहो गौड़देश भासाइल प्रेमरसे॥२४॥

२४। प० अनु॰—(उसी प्रेमभक्ति का प्रवर्त्तन करने के लिये) श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द प्रभु को गौड़देश (बङ्गाल) में भेजा तथा उन्होंने वहाँ जाकर गौड़देश को प्रेमरस में डुबा दिया।

कृष्णप्रेम की बाढ़ से गौड़मण्डल का डूबना—

सहजेइ नित्यानन्द—कृष्णप्रेमोद्दाम।
प्रभु-आज्ञाय कैल जाँहा ताँहा प्रेमदान॥२५॥

२५। प० अनु॰—श्रीनित्यानन्द प्रभु स्वभाव से ही कृष्ण प्रेमभक्तिके आस्वादन में मत हैं। उन्होंने श्रीमन् महाप्रभु की आज्ञा प्राप्त करके जहाँ-तहाँ प्रेमदान दिया।

श्रीनित्यानन्द की वन्दना और गुणों का वर्णन—

ताँहार चरणे मोर कोटि नमस्कार।
चैतन्येर प्रिय जिँहो लओयाइल संसार॥२६॥

२६। प० अनु॰—उन श्रीनित्यानन्द प्रभु के श्रीचरण-कमलों में मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है, जिन्होंने संसार के समस्त जीवों को श्रीचैतन्य महाप्रभु की अभीष्ट भक्ति प्रदान की।

श्रीगौराङ्ग महाप्रभु के 'सम्माननीय भाई' और स्वयं प्रभु
होते हुए भी श्रीनित्यानन्द का श्रीगौर-दासाभिमान—

चैतन्य-गोसाञि जाँरे बले 'बड़ भाइ'।
तेँहो कहे, मोर प्रभु—चैतन्य गोसाञि॥२७॥

२७। प० अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु जिन नित्यानन्द प्रभु को अपना 'बड़ा भाई' कहते हैं, वही नित्यानन्द प्रभु कहते हैं कि श्रीचैतन्य महाप्रभु मेरे प्रभु हैं।

यद्यपि आपनि हये प्रभु बलराम।
तथापि चैतन्येर करे दास-अभिमान॥२८॥

२८। प० अनु॰—यद्यपि नित्यानन्द प्रभु स्वयं भगवान्

बलराम हैं तथापि वे अपने में श्रीचैतन्य महाप्रभु के दास होने का अभिमान रखते हैं।

अचिद् वस्तु की सेवा और भोग को छोड़कर नित्य चिद ईश्वर की सेवा से ही जीव को नित्यानन्द की प्राप्ति—

'चैतन्य' सेव, 'चैतन्य' गाओ, लओ 'चैतन्य'-नाम।
'चैतन्य' जे भक्ति करे, सेइ मोर प्राण॥२९॥

२९। प० अनु०—(श्रीनित्यानन्द प्रभु घोषणा करते हैं कि—) 'श्रीचैतन्य महाप्रभु की सेवा करो, श्रीचैतन्य महाप्रभु के गुणों का गान करो और श्रीचैतन्य महाप्रभु का नाम ग्रहण करो। जो श्रीचैतन्य की भक्ति करता है, वे मेरे प्राणों के समान हैं।'

आपामर (सर्वसाधारण) को ही विभु चित् की सेवा में लगाना और उनका उद्धार—

एइ मत लोक चैतन्य-भक्ति लओयाइल।
दीनहीन, निन्दक, सबारे निस्तारिल॥३०॥

३०। प० अनु०—इस प्रकार श्रीनित्यानन्द प्रभु ने सभी लोगों को श्रीचैतन्य भक्ति का उपदेश किया और दीनहीन, निन्दुक आदि तक का भी उद्धार कर दिया।

अनुभाष्य

२७-३०। आदि, ६ प: ५०-५१ संख्या दृष्टव्य।

(२) मथुरामण्डल में श्रीरूप-सनातन के द्वारा प्रचार—

तबे प्रभु व्रजे पाठाइल रूप-सनातन।
प्रभु-आज्ञाय दुइ भाइ आइला वृन्दावन॥३१॥

३१। प० अनु०—(उसी प्रेम भक्ति का प्रवर्त्तन करने के लिये) श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीरूप गोस्वामी और श्रीसनातन गोस्वामी को व्रज में भेजा और प्रभु की आज्ञा पाकर दोनों भाई वृन्दावन आ गये।

(क) शुद्धभक्ति-प्रचार, (ख) लुप्ततीर्थ उद्धार,
(ग) मठादि-स्थापन द्वारा श्रीमूर्त्तिका प्रचार—

भक्ति प्रचारिये सर्वतीर्थ प्रकाशिल।
मदनगोपाल-गोविन्देर सेवा प्रचारिल॥३२॥

३२। प० अनु०—(व्रज में आकर उन दोनों भाईयों ने) भक्ति का प्रचार किया और सभी लुप्त तीर्थों को प्रकाशित किया तथा (श्रीसनातन गोस्वामी ने) श्रीमदन-गोपाल और (श्रीरूप गोस्वामी ने) श्रीगोविन्ददेव की सेवा का प्रचार किया।

अनुभाष्य

३२। अप्राकृत सेवा से ही भक्ति का प्रचार होता है तथा उसके द्वारा ही तीर्थों का स्वरूप प्रकाशित होता है। ढ़ोंगी बाउल चरित्र हीनता के कारण इन्द्रिय तर्पण के उद्देश्य से जो निश्चिन्त उठने-बैठने के वास स्थान को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, उससे वैकुण्ठ तीर्थ प्रकाशित नहीं होते। वह माया का खेल मात्र ही है।

(घ)सात्वत शास्त्रों का प्रचार,
(ङ) अधम व्यक्तियों का उद्धार—

नाना शास्त्र आनि' कैल भक्तिग्रन्थ सार।
मूढ़ अधम जनेरे तिंहो करिला निस्तार॥३३॥

३३। प० अनु०—(उन दोनों भाईयों ने) अनेकों शास्त्रों को संग्रह कर भक्तिग्रन्थों के सार को प्रकटित करके मूढ़ और अधम लोगों का उद्धार किया।

सर्वशास्त्रों की मीमांसा और अप्राकृत व्रज की रागभक्ति का प्रचार—

प्रभु आज्ञाय कैल सब शास्त्रेर विचार।
व्रजेर निगूढ़ भक्ति करिल प्रचार॥३४॥

३४। प० अनु०—उन दोनों भाईयों ने श्रीमन् महाप्रभु की आज्ञा से सब शास्त्रों का विचार किया और व्रज की अत्यन्त गोपनीय भक्ति का प्रचार किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

३४। निगूढ़ भक्ति—पाठान्तर में निगूढ़ रस।

अनुभाष्य

३४। प्राकृत सहजिया जिस प्रकार कृत्रिम अश्रुओं से सत्य स्वरूप भगवद् सेवा को डुबोकर शास्त्रों के विचारों का त्याग करते हैं, उससे प्रभु की आज्ञा का

उल्लघंन होता है। शास्त्रों के माध्यम से ही निगूढ़ व्रज की सेवा प्रचारित होती है, अन्यथा इन्द्रियों का भोग-विचार आकर भक्तिसिद्धान्त को विपन्न (उल्टा-पल्टा) कर देता है।

हरिभक्तिविलास, आर भागवतामृत।
दशम-टिप्पणी, आर दशम-चरित॥३५॥
एइ सब ग्रन्थ कैल गोसाञि सनातन।
रूप गोसाञि कैल जत, के करु गणन॥३६॥

३५-३६। प० अनु०—हरिभक्तिविलास, श्रीबृहद्-भागवतामृत, श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की टिप्पणी और दशम चरित नामक ग्रन्थों की रचना श्रीसनातन गोस्वामी ने की और श्रीरूप गोस्वामी ने जितने ग्रन्थों की रचना की, उसकी गणना कौन कर सकता है?

अमृतप्रवाह भाष्य

३५। भागवतामृत—बृहद्भागवतामृत। दशमटिप्पणी-दशम स्कन्ध की 'बृहद् वैष्णव तोषणी' नामक टीका। दशमचरित—दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्णलीला-चरित (श्रीलीला स्तव)।

अनुभाष्य

३५-४४। अन्त्य चतुर्थ प: २१९-२३१ संख्या द्रष्टव्य।

भक्तिरत्नाकर की प्रथम तरङ्ग में—"श्रीमद्भागवत-अर्थ जैछे आस्वादिल। ताहा श्रीवैष्णवतोषणीते प्रकाशिल॥" * * * "हेन सनातन-रूप प्रभुर आज्ञाते। वर्णिल जतेक ताहा व्यापिल जगते॥ श्रीरूप श्रीहंसदूत-आदि ग्रन्थ कैला। सनातन भागवतामृतादि वर्णिला॥ श्रीवैष्णवतोषणी करिया सनातन। श्रीजीवेरे आज्ञा दिला करिते शोधन॥ आज्ञा पाइया श्रीजीव लघुतोषणी करिला। जैछे करिलेन ताहा तथाइ लिखिला॥ चौद्दशत सप्तछये (१४७६) सम्पूर्ण 'बृहत्'। पनरशत चारि (१५०४) शके 'लघु' सुसम्मत॥ तथाहि लघु-तोषण्याम्—"तयोरनुजसृष्टेषु काव्यं श्रीहंसदूतकम्। श्रीमदुद्धवसन्देशश्छन्दोहष्टादशकं तथा॥ स्तवस्योत्कलि-कवल्ली गोविन्द विरुद्धावली। प्रेमेन्दुसागराद्याश्च वहवः सुप्रतिष्ठिताः॥ विदग्ध-ललिताग्र-माधवं नाटकद्वयम्। भाणिका दानकेल्याख्या रसामृत युगं पुनः॥ मथुरा महिमा पद्यावली नाटकचन्द्रिका। संक्षिप्त-श्रीभागवतामृतमेते च संग्रहाः॥ तथा—ग्रजकृतेष्वग्रं श्रील-भागवतामृतम्। हरिभक्तिविलासश्च तट्टीका दिक्प्रदर्शिनी॥ लीलास्तव-टिप्पणी च सेयं वैष्णव तोषणी। या संक्षिप्ता मया क्षुद्रजीवेनापि तदाज्ञया॥ शके षट्सप्ततिमनौ पूर्णेयं टिप्पणी शुभा। संक्षिप्ता युगशून्याग्रपञ्चैक गणिते तथा॥" श्रीजीवेर शिष्य कृष्णदास अधिकारी। तिंह निजग्रन्थे इहा कहिल विस्तारि॥ "तयोर्जयेष्ठस्य कृतिषु श्रीसनातन नामिनः। सिद्धान्त ग्रन्थ सन्दोहाल्लेखोल्लेखो विधीयते॥ प्रथमादिद्वयं खण्डयुग्मं भागवतामृतम्। हरिभक्तिविलासश्च तट्टीका दिक्दप्रदर्शिनी॥ लीलास्तव टिप्पणी च नाम्ना वैष्णव-तोषणी। तयोरनुजसृष्टेषु काव्यं श्रीहंसदूतकम्॥ श्रीमदु-द्धवसन्देशः कृष्णजन्मतिथोर्विधिः। बृहल्लधुतया ख्याता श्रीगणोद्देशदीपिका॥ श्रीकृष्णस्य प्रियाणां च स्तवमाला मनोहरा। विदग्धमाधवः ख्यातस्तथा ललित-माधवः॥ दानलीला कौमुदी च तथा भक्तिरसामृतम्॥ उज्ज्वलाख्यो नीलमणिः प्रयुक्ता-ख्यात चन्द्रिका॥ मथुरा महिमा पद्यावली नाटकचन्द्रिका। संक्षिप्त-श्रीभागवतामृतमेते च संग्रहाः॥ श्रीमद्वल्लभपुत्रश्रीजीवस्य कृतिषुद्यते। शब्दा-नुशासनं नाम्ना हरिनामामृतं तथा॥ तत्सूत्रमालिका तत्र प्रयुक्तो धातुसंग्रहः। कृष्णार्च्चादीपिका सूक्ष्मा गोपाल विरुद्धावली॥ रसामृतस्य शेषश्च श्रीमाधव महोत्सवः। सङ्कल्प-कल्पवृक्षो यश्चम्पूभावार्थसूचकः॥ टीका गोपालतापन्याः संहितायाश्च ब्रह्मणः रसामृतस्याज्ज्वलस्य योगसार-स्तवस्य च॥ तथा चाग्निपुराणस्थगायत्री विवृति रपि। श्रीकृष्णपद चिह्नां पाद्मोक्तानामखापि च॥

लक्ष्मीविशेषरूपा या श्रीमद्वृन्दावनेश्वरी। तस्याः करपदस्थानां चिह्नानाञ्च समाहृतिः॥ पूर्वोतरतया चम्पुद्वयी या च त्रयी त्रयी। सन्दर्भाः सप्तविख्याताः श्रीमद्भागवतस्य वै॥ तत्वाख्यो भगवत् संज्ञः परमात्माख्य एव च। कृष्ण-भक्तिप्रीति संज्ञाः क्रमाख्याः सप्तमः स्मृतः॥ सम्बन्धश्चा-

भिधेयश्च प्रयोजनमिति त्रयम्। हस्तामलकवद् येषु सद्भिराद्यैः प्रकाशितम्॥"

हरिभक्तिविलास—श्रील सनातन गोस्वामी प्रभु द्वारा रचित तथा श्रील गोपाल भट्ट गोस्वामी प्रभु द्वारा समाहृत वैष्णव-स्मृतिग्रन्थ, बीसवें विलास पर समाप्त प्रथम विलास में—गुरु, शिष्य और मन्त्र; द्वितीय विलास में—दीक्षा; तृतीय विलास में—सदाचार, स्मरण और शुचि (स्नान और सन्ध्या); चतुर्थ विलास में—संस्कार, तिलक, मुद्रा, माला और गुरुपूजा; पंचम विलास में—आसन, प्राणायाम, न्यास, शालग्रामादि श्रीमूर्त्ति; षष्ठ विलास में—श्रीमूर्त्ति का आह्वान, स्नान कराना और आनुषङ्गिक आवश्यक कृत्य; सप्तम विलास में—श्रीविष्णुपूजा योग्य पुष्पों का विवरण; अष्टम विलास में—श्रीमूर्त्ति के सम्मुख धूप, दीप, नैवेद्य, नृत्य, वाद्य नीराजन (आरती), स्तुति नमस्कार और अपराध-क्षालन अपराधों के लिये क्षमा-प्रार्थना); नवम विलास में—तुलसी, वैष्णव-श्राद्ध और नैवेद्य; दशम विलास में—भगवद्भक्त अथवा वैष्णव अथवा साधु; एकादश विलास में—श्रीमूर्त्ति का अर्चन, श्रीहरिनाम, श्रीनाम का जप और कीर्त्तन, नामापराध और उनका मोचन, भक्ति का माहात्म्य और शरणागति; द्वादश विलास में—एकादशी-विधि; त्रयोदश विलास में—उपवास, महाद्वादशी-व्रत; चतुर्दश विलास में—विभिन्न मासों में किये जाने वाले अनेकानेक कृत्य; पञ्चदश विलास में—निर्जला एकादशी, तप्तमुद्रा-धारण, चातुर्मास्य, जन्माष्टमी, पार्श्व एकादशी, श्रवणा द्वादशी, रामनवमी, विजयादशमी; षोड़श विलास में—कार्त्तिक मास के कृत्य अथवा दामोदर (ऊर्जा) व्रज, दीप-दान आदि, गोवर्द्धन पूजा, रथ यात्रा; सप्तदश विलास में—पुरश्चरण, जप और माला; अष्टादश विलास में—विष्णु की श्रीमूर्त्ति के विभिन्न प्रकार; उन्नीसवें विलास में—श्रीमूर्त्ति की प्रतिष्ठा करना तथा उनको स्नान आदि कराना; बीसवें विलास में—श्रीमन्दिर-निर्माण आदि और ऐकान्तिक भक्तों के कृत्य वर्णित हैं।

अनुभाष्य

३५। मध्य, चौबीस प: ३२५-३४१ संख्या द्रष्टव्य।

'श्रीहरिभक्तिविलास' ग्रन्थ के कुछेक अंश, जिनका श्रीमद् गोपाल भट्ट गोस्वामी प्रभु ने संकलन किया था, उसका विवरण ही श्रील कविराज गोस्वामी ने मध्य चौबीसवें परिच्छेद में लिखा है। वर्तमान श्रीगोपाल भट्ट सङ्कलित ग्रन्थ में वैष्णव स्मृति का पूर्ण विकास लक्षित नहीं होता। श्रीगौरसुन्दर के आदेशानुसार श्रीसनातन गोस्वामी के विपुल स्मृति-संग्रह के केवल तत्कालोचित आंशिक समूह ही गुम्फित हुए हैं। वैष्णवस्मृति-कल्पद्रुम के अथवा श्रीसनातन गोस्वामी के श्रीहरिभक्तिविलास के प्रकाशित होने से ही वैष्णव समाज के सभी व्यवहारिक अभाव दूर होंगे। श्रीहरिभक्तिविलास में से ही श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी प्रभु का 'भक्तिविलास'—ग्रन्थ संक्षिप्त रूप से लिखा गया है कहकर स्मार्त्तकुल की प्रबलता के कारण इस भक्तिविलास ग्रन्थ द्वारा सभी व्यवहारिक कार्यों की मीमांसा प्राप्त नहीं होती। श्रीसनातन गोस्वामी के द्वारा लिखित निज सङ्कलित हरिभक्तिविलास की टीका 'दिग्दर्शिनी' टीका का कुछेक अंश, जो वर्त्तमान काल में भक्तिविलास ग्रन्थ की टीका के रूप में प्रकाशित हुआ है, वह श्रीगोपीनाथ पूजाधिकारी द्वार सङ्कलित "दिग्दर्शिनी" कहकर कोई-कोई प्रचार करते हैं। यह श्रीगोपीनाथ वृन्दावन के श्रीराधारमण की सेवा में रत श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी प्रभु के अन्यतम शिष्य हैं।

बृहद्भागवतामृत—दो खण्डों में भगवद्भक्तिसिद्धान्त से पूर्ण ग्रन्थ। प्रथम खण्ड का नाम—'भगवत् कृपाभर-निर्द्धार' है; उसमें भौम, दिव्य, ब्रह्मलोक और वैकुण्ठ, भक्त, प्रिय, प्रियतम और पूर्ण—यह सात अध्याय है। द्वितीय खण्ड का नाम 'गोलोक-माहात्म्य निरूपण' है; उसमें वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, वैकुण्ठ, प्रेम, अभीष्टलाभ और जगदानन्द—यह सात अध्याय हैं। कुल मिलाकर चौदह अध्यायों में ग्रन्थ सम्पूर्ण होता है।

दशम-टिप्पणी—श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की

टीका, उसका दूसरा नाम स्वनामप्रसिद्ध "बृहद्वैष्णव-तोषणी" है। भक्तिरत्नाकर की प्रथम तरङ्ग में वर्णित है कि—"चौद्दशत सप्तछये (१४७६) में सम्पूर्ण 'बृहत्' (वैष्णवतोषणी)। पनरशत चारि (१५०४) शके 'लघु' (तोषणी) सुसम्मत॥ अर्थात् १४७६ शाक में बृहद्वैष्णव-तोषणी तथा १५०४ शाक में लघुवैष्णवतोषणी सम्पूर्ण हुई थी।

आदि दशम परिच्छेद ८४ संख्या का अनुभाष्य और भक्तिरत्नाकर प्रथम तरङ्ग द्रष्टव्य—"सनातन गोस्वामीर ग्रन्थ चतुष्टय।"

श्रीरूप द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ मधुरसेवा-विषयक—

प्रधान प्रधान किछु करिये गणन।
लक्ष ग्रन्थे कैल व्रजविलास वर्णन॥३७॥

३७। प॰ अनु॰—मैं श्रीरूप गोस्वामी द्वारा रचित प्रधान-प्रधान ग्रन्थों के नामों का (३८-४१ संख्या पयार में) उल्लेख कर रहा हूँ। एक लाख ग्रन्थ; तात्पर्य यह है कि उन्होंने जितने ग्रन्थों की रचना की है, अनुष्टुप छन्द के अक्षरों की गणना से उन सबमें एक लाख श्लोक होंगे। श्रीकृष्ण की व्रजलीला का वर्णन करते हुए श्रील रूप गोस्वामी ने एक लाख श्लोकों की रचना की है।

अमृतप्रवाह भाष्य

३७। ग्रन्थ—अनुष्टुप (एक श्लोक के परिमाण में शब्दों की संख्या)।

अनुभाष्य

३७-४१। भक्तिरत्नाकर की प्रथम तरङ्ग द्रष्टव्य है—"श्रीरूप गोस्वामी ग्रन्थ षोड़श करिल।" आदि दशम परिच्छेद ८४ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

३७। ग्रन्थ—अनुष्टुप, यहाँ पर ग्रन्थ का अर्थ पुस्तक नहीं है। एक श्लोक में चार ग्रन्थ अथवा चारपाद होते हैं। गद्य ग्रन्थ में भी ऐसा ही माना जाता है।

श्रीरूप द्वारा रचित ग्रन्थ समूह—

रसामृतसिन्धु, आर विदग्धमाधव।
उज्ज्वलनीलमणि, आर लीलतमाधव॥३८॥
दानकेलिकौमुदी, आर बहु स्तवावली।
अष्टादश लीलाछन्द, आर पद्यावली॥३९॥
गोविन्द-विरुदावली, ताहार लक्षण।
मथुरा-माहात्म्य, आर नाटक-वर्णन॥४०॥
लघुभागवतामृतादि के करु गणन।
सर्वत्र करिल व्रजविलास वर्णन॥४१॥

३८-४१। प॰ अनु॰—श्रीरूप गोस्वामी ने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र ही व्रज की लीलाओं का ही वर्णन किया है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु, विदग्धमाधव, उज्ज्वलनीलमणि और ललितमाधव, दानकेलि-कौमुदी, स्तवावली, अष्टादश लीलाच्छन्द, पद्यावली, गोविन्द-विरुदावली तथा उसके लक्षण, मथुरा-माहात्म्य, नाटक-वर्णन अर्थात् नाटकचन्द्रिका, लघु-भागवतामृत आदि अनेक ग्रन्थ हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती।

अमृतप्रवाह भाष्य

३९। बहुस्तवावली—'स्तवमाला' ग्रन्थ।

४०। गोविन्दविरुद्धावली—'स्तवमाला' के अन्तर्गत। नाटक-वर्णन—नाटक चन्द्रिका।

अनुभाष्य

३८। भक्तिरसामृतसिन्धु—कृष्णभक्ति और भक्तिरस से सम्बन्धित संग्रह-ग्रन्थ। १४६३ शकाब्द में यह ग्रन्थ रचित हुआ। इसमें पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर—यह चार विभाग हैं। पूर्व विभाग का नाम—'स्थायिभावोत्पादन' है; उसमें सामान्य भक्ति, साधन भक्ति, भाव भक्ति और प्रेम भक्ति—यह चार लहरियाँ वर्त्तमान हैं। दक्षिण विभाग का नाम—'भक्ति रस का सामान्य निरूपण' है; इसमें विभाव, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी और स्थायि-भाव—यह पाँच लहरियाँ वर्त्तमान है। पश्चिम विभाव का नाम—'मुख्यभक्तिरसनिरूपण है; उसमें शान्त, प्रीति-भक्तिरस अर्थात् दास्य, प्रेयोभक्तिरस अर्थात् सख्य, वात्स-ल्यभक्तिरस, मधुरभक्तिरस—यह पाँच लहरियाँ वर्तमान है। उत्तर विभाग का नाम—'गौण भक्ति रसादि-निरूपण'

है; उसमें हास्य भक्तिरस, अद्भुत भक्तिरस, वीर भक्तिरस, करुण भक्तिरस, रौद्र भक्तिरस, भयानक भक्तिरस, वीभत्स भक्तिरस, मैत्र-वैर-स्थिति और रसाभास—यह नौ लहरियाँ वर्त्तमान हैं।

विदग्धमाधव—कृष्ण का व्रजलीला सम्बन्धी नाटक ग्रन्थ। १४५४ शकाब्द में यह ग्रन्थ रचित हुआ। प्रथम अङ्क का नाम—वेणुनाद विलास, द्वितीय अङ्क का नाम—मन्मथलेख, तृतीय अङ्क का नाम—राधासङ्ग, चतुर्थ अङ्क का नाम—वेणुहरण, पञ्चम अङ्क का नाम—राधा प्रसादन, षष्ठ अङ्क का नाम—शरद् विहार, सप्तम अङ्क का नाम—गौरी विहार—यह सप्ताङ्क नाटक हैं।

उज्ज्वलनीलमणि—अप्राकृत मधुर-व्रजरस विषयक अलङ्कार ग्रन्थ। द्वितीय श्लोक में—'मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितोहतिरहस्यत्वात्। पृथगेव भक्ति रसराट् सविस्तारेणोच्यतेहत्र मधुरः॥" अर्थात् 'भक्तिरसामृत-सिन्धु'—ग्रन्थ में शान्त आदि मुख्य रस समूहों में अत्यधिक रहस्यमय होने के कारण मधुर रस संक्षेप में ही वर्णित हुआ है। इस उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में पृथक भाव अर्थात् पृथक रूपसे केवल भक्तिरसराज मधुर-रस का ही वर्णन हो रहा है। इसमें नायकभेद, सहायभेद, कृष्णवल्लभा, श्रीराधिका, नायिका-भेद, यूथेश्वरीभेद, दूतीभेद, सखी, हरिवल्लभा, उद्दीपन, अनुभाव, उद्भास्वर, सात्विक और व्यभिचारिभाव, स्थायीभाव, शृंङ्गारभेदान्तर्गत विप्रलम्भ, पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्र्य, प्रवास, संयोग-वियोगस्थिति, सम्भोग (मुख्य और गौण) प्रभृति विषय वर्णित हुए हैं।

ललितमाधव—श्रीकृष्ण का द्वारका-लीला-विषयक नाटक ग्रन्थ। १४५९ शकाब्द में यह ग्रन्थ रचित हुआ। प्रथम अङ्क का नाम—सायं उत्सव, द्वितीय अङ्क का नाम—शङ्खचूड़ वध, तृतीय अङ्क का नाम—उन्मत्ता राधिका, चतुर्थ अङ्क का नाम—राधिकाभिसार, पञ्चम अङ्क का नाम—चन्द्रावलीलाभ, षष्ठ अङ्क का नाम—ललिता-प्राप्ति, सप्तम अङ्क का नाम—नव-वृन्दावन-सङ्गम, अष्टम अङ्क का नाम—नव वृन्दावन-विहार, नवम अङ्क का नाम—चित्रदर्शन, दशम अङ्क का नाम—पूण मनोरथ—यह दशाङ्क नाटक हैं।

४१। लघुभागवतामृत—कृष्णामृत और भक्तामृत के भेद से दो खण्डों में विभक्त। प्रथम खण्ड में—शब्द-प्रमाण की श्रेष्ठता, बाद में सर्वप्रथम स्वयंरूप श्रीकृष्ण, उनके विलास स्वांश और आवेश भेद से तदेकात्मरूप, त्रिविध अवतार (तीन पुरुषावतार), तीन गुणावतारों में विष्णु और विष्णुभक्ति की निर्गुणता एवं पञ्चीस लीलावतार (चतुःसन, नारद, वराह, मत्स्य, यज्ञ, नर-नारायण, ऋषि, सेश्वर कपिल, दत्तात्रेय, हयग्रीव, हंस, पृश्निगर्भ, ऋषभ, पृथु, नृसिंह, कूर्म, धन्वन्तरी, मोहिनी, वामन, परशुराम, दाशरथि, कृष्णद्वैपायन, बलराम अर्थात् शेष सङ्कर्षण, वासुदेव, बुद्ध और कल्की); चौदह मन्वन्तरावतार (यज्ञ, विभु, सत्यसेन, हरि, वैकुण्ठ, अजित, वामन, सार्वभौम, ऋषभ, विष्वक्सेन, धर्मसेतू, सुधामा, योगेश्वर, वृहद्भानु); चार प्रकार के युगावतार (शुक्ल, रक्त, श्याम और कृष्णवर्ण); विभिन्न कल्प और तदवतार समूह एवं आवेश, प्राभव, वैभव और पर, इन चार प्रकार की अवस्थाओं में अवस्थित अवतार विचार। लीलाभेद से भगवन् नाम महिमा का वैचित्र्य, शक्ति और शक्तिमद् का विचार, भगवता के परस्पर विरुद्ध गुण समूहों का अचिन्त्य समन्वय; श्रीकृष्ण की स्वयं भगवता, पारतम्य, अवतारित्व, अंशित्व और सर्वेश्वरेश्वरत्व, निर्विशेष ब्रह्म का श्रीकृष्णप्रभावत्व, श्रीकृष्ण की द्विभुज नरलीला का माधुर्य और असमोर्द्धत्व; अप्राकृत वैकुण्ठ वस्तु के देह-देहि में भेद का खण्डन; श्रीकृष्ण के अजत्व और आविर्भाव का अनादित्व एवं परस्पर में अविरोध; लीला की नित्यता, प्रकट और अप्रकट के भेद से लीला का द्विविधत्व, प्रकट लीला के रस का वैचित्र्य, व्रज, माथुर और द्वारका लीला की नित्यता, विभिन्न धामतत्व और माहात्म्य-विचार, बाल्य, पौगण्ड, कैशोर और यौवन के भेद से वयोभेद का माधुर्य-वैचित्र्य एवं अन्त में चतुर्विध माधुरी (ऐश्वर्य, क्रीड़ा, वेणु और श्रीविग्रह) प्रभृति विषय वर्णित हुए हैं।

द्वितीय खण्ड में—भक्तपूजा की आवश्यकता, भजन के तारतम्य के क्रम से भक्तों का तारतम्य; प्रह्लाद, पाण्डव, यादव, उद्धव और व्रजदेवियों तथा सर्वापेक्षा श्रीमती राधिका और श्रीराधाकुण्ड का माहात्म्य वर्णित हुआ है।

श्रीजीव—

ताँर भ्रातुष्पुत्र नाम—श्रीजीवगोसाञि।
जत भक्ति-ग्रन्थ कैल, तार अन्त नाइ॥४२॥
श्रीभागवतसन्दर्भ-नाम ग्रन्थ-विस्तार।
भक्तिसिद्धान्त ताते लिखियाछेन सार॥४३॥
गोपालचम्पू-नामे ग्रन्थ महाशूर।
नित्यलीला स्थापन जाहे व्रजरस-पूर॥४४॥

४२-४४। प० अनु०—(श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीरूप गोस्वामी के) भाई श्रीअनुपम अथवा वल्लभ के पुत्र का नाम श्रीजीव गोस्वामी है। उन्होंने जितने भक्ति-ग्रन्थों की रचना की है उनका पार नहीं पाया जा सकता। श्रीजीव गोस्वामी ने बहुत ही विस्तृत 'श्रीभागवतसन्दर्भ' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें उन्होंने भक्ति के सिद्धान्तों के सार को लिखा है। उनके ग्रन्थों में श्रीगोपालचम्पू नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है, जिसमें उन्होंने उस नित्यलीला के सिद्धान्त को स्थापित किया, जो व्रजरस से परिपूर्ण है।

अनुभाष्य

४२-४४। आदि दशम परिच्छेद ८५ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य।

४३। भागवत सन्दर्भ—जिसका नामान्तर 'षट्सन्दर्भ' है। प्रथम 'तत्त्वसन्दर्भ' में—श्रीमद्भागवत के सभी प्रमाणों की अपेक्षा श्रेष्ठत्व और तत्त्व निरूपण। द्वितीय 'भगवत् सन्दर्भ' में—ब्रह्म परमात्मा का विचार, वैकुण्ठ और विशुद्ध सत्त्व का निरुपण, स्वरूप के स्वशक्तिकत्व, विरुद्धशक्त्याश्रयत्व, शक्तिर अचिन्त्यत्व और नानात्व स्थापन; अन्तरङ्ग आदि भेद, माया शक्ति, स्वरूप शक्ति, गुणों का स्वरूपभूतत्व, श्रीविग्रह की नित्यता, विभुता, सर्वाश्रयता, स्थूल सूक्ष्मातिरिक्तता, स्वप्रकाशत्व, रूप गुण लीला मयत्व, अप्राकृतत्व, पूर्ण स्वरूपत्व, परिकर समूह का स्वरूपांशत्व; वैकुण्ठ, पार्षद और त्रिपादविभूति का अप्राकृतत्व, ब्रह्म और भगवान् में तारतम्य, भगवता में पूर्णत्व, सर्ववेदाभिधेयत्व, स्वरूप शक्ति का विवरण, भगवान् के वेद भक्त्यैकगम्यत्व। तृतीय **'परमात्म सन्दर्भ'** में—परमात्मा, उनके भेद, गुणावतारों का तारतम्य, जीव, माया जगत, परिणामवाद स्थापन, विवर्त्त समाधान, जगत और परमात्मा का अनन्यत्व, जगत की सत्यता और श्रीधर स्वामी का मत, निर्गुण ईश्वर में कर्तृत्व-योजना, लीलावतार समूह की भक्तों के उद्देश्य से प्रवृत्ति, छह प्रकार के चिह्नों द्वारा भगवान् का ही तात्पर्यत्व। चतुर्थ **'कृष्ण सन्दर्भ'** में—कृष्ण की स्वयं भगवत्ता, कृष्ण लीला-गुण, पुरुषावतारों का कर्तृत्व, श्रीधर स्वामी की सम्मति, सभी शास्त्रों में कृष्ण-समन्वय, बलदेव आदि का महासङ्कर्षणत्व, कृष्ण में सभी अंशो के प्रवेश का विचार और उनमें नित्यस्थिति, द्विभुजत्व, गोलोक-निरुपण, वृन्दावन आदि का नित्य कृष्णधामत्व, गोलोक और वृन्दावन का एकवस्तुत्व, यादवों और गोपों का नित्य कृष्णपरिकरत्व, प्रकट-अप्रकट लीला की व्यवस्था, प्रकट-अप्रकट लीला का समन्वय, श्रीकृष्ण का गोकुल में प्रकाश अतिशयत्व, पट्ट महिषियों का स्वरूप शक्तित्व, उनकी अपेक्षा गोपियों का उत्कर्ष, उनके नाम और राधिकाजी की सर्वोत्कर्षता। पञ्चम **'भक्ति सन्दर्भ'** में—भगवद्भक्ति के साक्षात् अभिधेयत्व, अन्वय और व्यतिरेक भाव से भक्तितत्व का निरुपण, सर्वशास्त्र श्रवण, वर्णाश्रम आचार और अन्तर्भूत ज्ञान द्वारा अन्वय भाव से कर्म का अनादर, हरिविमुख विप्र की निन्दा, भगवदर्पित कर्म का अनादर, योग का अनादर, ज्ञान के श्रम के स्वतन्त्र होने के प्रदर्शन और अन्याश्रयत्व अनादर के द्वारा उनके गणों का आदर-विधान, अभक्त मात्र का अनादर, जीवन्मुक्त और परम मुक्त शिव आदि पर्यन्त भक्तों की भक्ति की नित्यता और अभिधेयत्व, भक्ति का सर्वफलदातृत्व अर्थात् सर्व फलों को देने वाली, निगुर्णता स्व-प्रकाशता और परमसुखरूपता, भगवत्-प्रीति हेतु

वैशिष्ट्य, भजनाभास के भी फललाभ निष्काम भक्ति की प्रशंसा, अधिकारी के भेद से पुन: निष्काम भक्ति की स्थापना, साधुसङ्ग का मूल कारण, महाभागवतों में भेद और विशेष, सर्वाश्रय विवेक, भक्तिभेद निरूपण में ज्ञान का लक्षण, अहंग्रहोपासना का लक्षण, भक्ति के लक्षण, आरोपसिद्धा आदि के लक्षण, वैधीभक्ति में शरणापत्ति, गुरुसेवा, महाभागवत का प्रसङ्ग, उसकी परिचर्या साधारण वैष्णव सेवा; श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, अपराध और उनका दूरीकरण, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन; रागानुगा भक्ति का विचार, कृष्ण भजन वैशिष्ट्य और सिद्धि का क्रम। छटे **'प्रीति-सन्दर्भ'** में—प्रीति के परम पुरुषार्थ का निरूपण, मुक्ति में सविशेष और निर्विशेष भेद, जीवन्मुक्ति और उत्क्रान्त मुक्ति में भेद, सभी प्रकार की मुक्तियों की अपेक्षा भगवत् प्रीति का आधिक्य, परतत्त्व के साक्षात्कार से परम पुरुषार्थ की प्राप्ति, सद्य क्रम मुक्ति, ब्रह्म साक्षात्कार और भगवत् साक्षात्कार लक्षणा रूपा जीवन्मुक्ति और उत्क्रान्त मुक्ति। अन्तर और बाहर के भेद से भगवद् साक्षात्कार के लक्षणों के दो प्रकार, ब्रह्म-साक्षात्कार लक्षणा की अपेक्षा श्रेष्ठत्व, बाहरी साक्षात्कार लक्षणा जीवन्मुक्ति और उत्क्रान्त मुक्ति, सालोक्य आदि भेद, सामीप्य का आधिक्य, भक्ति का मुक्तित्व और उपादेयत्व; उसकी उत्पत्ति, प्रीति का स्वरूप लक्षण, गुणातीत प्रीति का तटस्थ लक्षण और आविर्भाव-भेद, प्रीति रति आदि का भेद, व्रजदेवियों के काम का शुद्ध प्रेम के रूप में स्थापन, ज्ञान-भक्ति आदि का मिश्रत्व, परिकर अभिमानी गणों की प्रीति का उत्कर्ष, ऐश्वर्य-माधुर्य के अनुभव का तारतम्य, गोकुलवासियों की श्रेष्ठता, उनकी अपेक्षा सखाओं, पितृगणों, गोपियों और राधिका का उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्व, अनुकरण कार्य में रसत्व, लौकिक रस की अपेक्षा श्रेष्ठता, आलम्बन-विभाग, उद्दीपन-विभाग, गुण, धीरोदातादि भेद, माधुर्य की उत्तमता, अनुभाव, सञ्चारी, रस के पाँच प्रकार, गौण रस का सप्तत्व; रसाभास, शान्त, दास्य, प्रश्रय (सख्य), वात्सल्य और उज्ज्वल में वल्लभभेद, स्थायी, सम्भोग और विप्रलम्भभेद, पूर्वराग, मान, प्रेम वैचित्र्य, प्रवास और श्रीराधिका देवी की महिमा।

४४। श्रीगोपालचम्पू ग्रन्थ के दो विभाग हैं,—पूर्व और उत्तर; पूर्व चम्पू में तैंतीस पूरण और उत्तर में सैंतीस पूरण हैं। १५१० शकाब्द में पूर्व चम्पू लिखा गया था। पूर्व चम्पू के प्रथम पूरण में १। वृन्दावन और गोलोक, २। प्रस्तावना, पूतना वध लीला वर्णन, यशोदा के आदेश से गोपियों का गृह-गमन, राम-कृष्ण का स्नान, स्निग्ध-कण्ठ और मधुकण्ठ, ३। यशोदा जी का स्वप्न, ४। जन्मोत्सव, ५। नन्द-वसुदेव का मिलन, पूतना वध, ६। उत्थानिक (उठने की) लीला, शकटभञ्जन, नामकरण, ७। तृणावर्त्त वध, मिट्टी भक्षण, बाल-चापल्य, चोरी करना, ८। दधिमन्थन, स्तनपान, दधिभाण्ड भञ्जन, बन्धन, यमुलार्जुन भञ्जन, यशोदा विलाप, ९। वृन्दावन प्रवेश, १०। वत्सासुर वध, बकासुर वध, व्योमासुर वध, ११। अघासुर वध, ब्रह्ममोहन, १२। गोष्ठ गमन, १३। गोचारण, कालियदमन, १४। गर्द्दभासुर वध, कृष्णलालन, १५। गोपियों का पूर्वानुराग, १६। प्रलम्बासुर वध, दावाग्नि पान, १७। गोपियों की कृष्णचेष्टा अर्थात् कृष्ण की लीलाओं का अनुकरण, १८। गोवर्द्धन धारण, १९। कृष्णाभिषेक, २०। वरुणालय से नन्द को लाना, गोपों का गोलोक दर्शन, २१। कात्यायनीव्रतानुष्ठान, २२। यज्ञपत्नियों के निकट अन्न भिक्षा, २३। गोपियों का मिलन, २४। गोपीविहार, राधा-कृष्ण का अन्तर्धान होना, गोपियों द्वारा ढूँढ़ना, २५। कृष्ण का प्रकट होना, २६। गोपियों का सङ्कल्प, २७। जलविहार, २८। सर्पग्रस्तनन्द मोक्षण, २९। विविध रहः क्रीड़ा, ३०। शङ्खचूड़ वध, होली, ३१। अरिष्टासुर वध, ३२। केश वध, ३३। नारद का आगमन, ग्रन्थ रचना का शक और सम्वत।

उत्तर चम्पू के प्रथम पूरण में १। व्रजानुराग, २। अक्रूर की क्रूरता, ३। माथुर पुर नामक स्थान में प्रस्थान, ४। मथुरान्त प्रदेश का निर्देश, ५। कंस वध, ६। व्रजपति-विसर्जन-कष्ट, (अर्थात् नन्द महाराज को व्रज में भेजने का कष्ट), ७। नन्द का व्रज में प्रवेश, ८। अध्ययन

आदि, ९। गुरुपुत्र को लाना, १०। उद्धव का व्रज आगमन, ११। भ्रमर में दूत भ्रम, १२। उद्धव का प्रत्या-गमन, १३। जरासन्ध-बन्धन, १४। यवन जरासन्ध, १५। बलभद्र-विवाह, १६। रुक्मिणी विवाह, १७। सप्तविवाह, १८। नरकासुर वध, पारिजात हरण, सोलह हजार महिषियों के साथ विवाह, १९। बाण विजय, २०। राम व्रजागमन कामना, २१। पौण्ड्रक-युद्ध, २२। द्विविधवध, हस्तिनापुर विमर्षण, २३। कुरुक्षेत्र की ओर यात्रा, २४। व्रजवासियों की कुरुक्षेत्र यात्रा, २५। उद्धवमन्त्रणा, २६। राज मोचन, २७। राजसूय, २८। शाल्व विनाशन, २९। व्रज आगमन-विषयक विचार, ३०। कृष्ण का व्रज-आगमन, ३१। राधा आदि की बाधा का समाधान, ३२। सर्वसमा- धान, ३३। राधामाधव-अधिवास, ३४। राधाकृष्ण का अल-ङ्करण, ३५। राधामाधव-विवाह निर्वाह, ३६। राधा- माधव का मिलन, ३७। गोलोक प्रवेश।

ग्रन्थ की रचना और
सगोष्ठी वृन्दावन वास—

एइ मत नाना ग्रन्थ करिया प्रकाश।
गोष्ठी सहिते कैला वृन्दावने वास॥४५॥

४५। प॰ अनु॰—इस प्रकार श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीरूप गोस्वामी ने अनेक ग्रन्थों को प्रकाशित करके गोष्ठी अर्थात् श्रीजीव आदि सहित वृन्दावन में वास किया।

प्रभु के संन्यास के बाद के पहले
वर्ष में श्रीअद्वैतादि गौड़ीय भक्तों
का पुरी में गमन—

प्रथम वत्सरे अद्वैतादि भक्तगण।
प्रभुरे देखिते कैल नीलाद्रि-गमन॥४६॥

४६। प॰ अनु॰—श्रीमन् महाप्रभु के संन्यास ग्रहण करने के बाद के प्रथम वर्ष में श्रीअद्वैतादि भक्त श्रीमन् महाप्रभु के दर्शन के लिये नीलाचल गये।

पुरी में कीर्त्तनादि के द्वारा चातुर्मास्य व्यतीत करना—

रथयात्रा देखि' ताँहा रहिला चारिमास।
प्रभुसङ्गे नृत्यगीत परम उल्लास॥४७॥

४७। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैतादि भक्तों ने रथयात्रा दर्शन करने के उपरान्त चार मास तक नीलाचल में ही श्रीमन् महाप्रभु के साथ परम उल्लास से नृत्य-गीत करते हुए वास किया।

प्रति वर्ष गुण्डिचा-दर्शन अर्थात् रथ-यात्रा
के लिये प्रभु का भक्तों को आमन्त्रण—

विदाय-समय प्रभु कहिला सबारे।
"प्रत्यब्द आसिबे सबे गुण्डिचा देखिबारे॥"४८॥

४८। प॰ अनु॰—गौड़देश वापिस जाते हुए भक्तों को विदाई के समय श्रीमन् महाप्रभु ने कहा—"प्रति वर्ष आप सब लोग गुण्डिचा अर्थात् रथयात्रा के दर्शन के लिये आना।"

अमृतप्रवाह भाष्य

४८। गुण्डिचा—श्रीजगन्नाथदेव रथ-यात्रा में 'सुन्दरा-चल' नामक स्थान पर 'गुण्डिचा' नामक मन्दिर में जाकर नौ रात तक लीला करते हैं, इसलिये उड़ीसावासी रथ-यात्रा को गुण्ड़िचा-यात्रा कहते हैं।

प्रति वर्ष गौड़ीय भक्तों का पुरी में गुण्डिचा-दर्शन—

प्रभु-आज्ञाय भक्तगण प्रत्यब्द आसिया।
गुण्डिचा देखिया जान प्रभुरे मिलिया॥४९॥

४९। प॰ अनु॰—श्रीमन् महाप्रभु की आज्ञा से सभी भक्त प्रति वर्ष आकर गुण्डिचा (रथ-यात्रा) का दर्शन करते और श्रीमन् महाप्रभु से भी मिलते।

अन्त के २४ वर्षों में से १२ वर्षों
तक भक्तों के साथ प्रभु का मिलन—

द्वादश वत्सर ऐछे कैला गतागति।
अन्यान्ये दुँहार दुँहा बिना नाहि स्थिति॥५०॥

५०। प० अनु०—इस प्रकार अन्त के चौबीस वर्षों के पहले बारह वर्षों तक श्रीमन् महाप्रभु से मिलने के लिये भक्तों ने नीलाचल में आना-जाना किया। क्योंकि महाप्रभु और भक्तगण दोनों ही एक दूसरे को देखे बिना नहीं रह सकते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

५०। प्रभु और प्रभु के भक्त परस्पर के मिलन के बिना सुखी नहीं होते थे।

अन्त के १२ वर्षों में प्रभु का कृष्ण विरह—

तार शेष जेइ रहे द्वादश वत्सर।
कृष्णेर विरहलीला प्रभुर अन्तर॥५१॥

५१। प० अनु०—और चौबीस वर्षों के अन्तिम बारह वर्षों में श्रीमन् महाप्रभु के अन्तःकरण में सदा श्रीकृष्ण के विरह की लीलाएँ जागृत होती।

अमृतप्रवाह भाष्य

५१। गोपियों की कृष्ण-विरह लीला प्रभु के अन्तर अर्थात् अन्तःकरण में सदैव विद्यमान रहती थी।

रात-दिन कृष्णविरह से
उत्पन्न दिव्योन्माद—

निरन्तर रात्रि-दिन विरह उन्मादे।
हासे, कान्दे, नाचे, गाय परम विषादे॥५२॥

५२। प० अनु०—इस प्रकार श्रीमन् महाप्रभु निरन्तर रात-दिन कृष्ण विरह से अत्यधिक व्याकुल होने के कारण उन्मत्त होकर कभी हँसते, कभी रोते, कभी नृत्य करते तथा कभी गान करने लगते।

बहुत लम्बे विरह के अन्त में श्रीराधिका के
कृष्ण दर्शन से उत्पन्न भावों में विभोर भावमय
श्रीमन् महाप्रभु का जगन्नाथ दर्शन—

जे-काले करेन जगन्नाथ-दरशन।
मने भावेन, कुरुक्षेत्रे पाइयाछि मिलन॥५३॥

५३। प० अनु०—जिस समय श्रीमन् महाप्रभु श्रीजगन्नाथ का दर्शन करते उस समय मन में ऐसी भावना करते कि उनका कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण से मिलन हो रहा है।

अमृतप्रवाह भाष्य

५३। कृष्ण ने कुरुक्षेत्र में यज्ञ करके जब व्रजवासियों को निमन्त्रण किया, तब गोपियों ने वहाँ जाकर कृष्ण दर्शन के सुख को प्राप्त किया था। प्रभु के अन्तःकरण में कृष्ण-विरह भाव उद्दीपित था। केवल जब-जब जगन्नाथ के दर्शन करते, उस समय कुरुक्षेत्र के मिलन का भाव उनके हृदय में उदित होता था।

रथ के आगे नृत्य करते समय प्रभु का गान—

रथयात्रार आगे जबे करेन नर्तन।
ताँहा एइ पद मात्र करये गायन॥५४॥

५४। प० अनु०—रथयात्रा के समक्ष जब श्रीमन् महाप्रभु नृत्य करते, तब केवल यही अर्थात् निम्नोक्त पद गान करते।

यथा पद—

"सेइत' पराण-नाथ पाइनु।
जाहा लागि' मदनदहने झुरि' गेनु॥"५५॥

५५। प० अनु०—"मैंने उन प्राणनाथ को पा लिया, जिनके लिये मैं कामाग्नि में जल गयी थी। "

श्रीजगन्नाथ के गुण्डिचा मन्दिर
में जाने के समय प्रभु का भाव—

एइ धुया-गाने नाचेन द्वितीय प्रहर।
कृष्ण लइया व्रजे जाइ—एभाव अन्तर॥५६॥

५६। प० अनु०—इस अर्थात् उपरोक्त पद का गान करते हुए श्रीमन् महाप्रभु दो प्रहर तक श्रीजगन्नाथ रथ के आगे नृत्य करते रहते और उनके हृदय में यही भाव रहता कि "मैं कृष्ण को कुरुक्षेत्र से ब्रज ले जा रहा हूँ।"

अमृतप्रवाह भाष्य

५६। कुरुक्षेत्र के मिलन में सन्तोष प्राप्त ना कर पाने के कारण कृष्ण को व्रज में ले जाकर उनके साथ

मिलन करूँ, यही भाव ही उनके हृदय में सब समय उठता।

अनुभाष्य

५३-५६। श्रीमहाप्रभु ने राधाभाव में विभावित होकर सुदीर्घ माथुर विरह भाव को ग्रहण करते हुए निरन्तर सम्भोग के पुष्टि कारक विप्रलम्भ रस के मूर्त्तिमान् प्राकट्य को ही जीवों का एकमात्र साधन बतलाया है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ८२ वें अध्याय में वर्णित कृष्ण दर्शनों के लिये उत्सुक गोकुलवासिनी व्रजगोपियों ने कुरुक्षेत्र के सयमन्त पञ्चक में ग्रहण के उपलक्ष में जाकर जिस प्रकार हृदय के भावों को प्रकाशित किया था, श्रीगौरसुन्दर में नीलाचल पति के दर्शन से उन्हीं भावों का ही दूसरी बार अधिष्ठान हुआ। गोप ललनाओं ने जिस प्रकार कुरुक्षेत्र में कृष्ण के ऐश्वर्य को दूर करके कृष्ण को गोकुल के माधुर्य के आस्वादन के लिये ले जाने का प्रयास प्राप्त किया था, उसी प्रकार गौरहरि कुरुक्षेत्र रूपी नीलाचल मन्दिर से कृष्ण रूपी जगन्नाथदेव को वृन्दावन रूपी गुण्डिचा मन्दिर की ओर रथ के सम्मुख श्रीगौरसुन्दर रूपी श्रीमती वार्षभानवी (राधारानी) के हृदय के भाव गान करके पारकीय विहार स्थली गुण्डिचा में ले जा रहे हैं।

गुह्य (गोपनीय) श्लोक—

एइ भावे नृत्यमध्ये पड़े एक श्लोक।
सेइ श्लोकेर अर्थ केह नाहि बुझे लोक॥५७॥

५७। प॰ अनु॰—इसी भाव में नृत्य करते-करते श्रीमन् महाप्रभु ने एक श्लोक का उच्चारण किया, जिसका अर्थ कोई भी नहीं समझ पाता था।

पूर्वोक्त भाव को जागृत करने वाला श्लोक
काव्यप्रकाश (१/४)—

यः कौमारहरः स एव हि सरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढ़ाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसितरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥५८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५८। जिसने कौमार-अवस्था में रेवा नदी के तट पर मेरे चित्त को हरण किया था, वही अब मेरे पति बने हैं; वह मधुमास की रात्रि भी उपस्थित है; विकसित मालती पुष्पों की सुगन्धि भी है; कदम्ब कानन से वायु भी मधु के रूप में बह रही है; सुरत व्यापार लीला (नायक के सङ्ग की आकांक्षा) के कार्य में मैं वही नायिका भी उपस्थित हूँ; तथापि मेरा चित्त इस अवस्था में सन्तुष्ट न होकर रेवा के तट पर विद्यमान वेतसी (बेंत) के वृक्ष के तल के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है।

अनुभाष्य

५८। हे सखि, यः कान्तः कौमार हरः (कौमारं हरति अपनयति यः सः) स एव हि वरः, ता एव चैत्रक्षपाः (मधुचैत्रमासस्य ज्योत्सनावत्यः रजन्य), तथा ते च उन्मीलितमालती सुरभयः (उन्मीलितानि विकशितानि यानि मालतीपुष्पानि तैः सुरभयः सुगन्धाः), प्रौढ़ा (धन-सुखप्रदाः) कदम्बानिलाः (कदम्ब-सुरभिपूर्णाः समीरणाः वहन्ति), सा च अहमेवास्मि, तथापि तत्र रेवारोधसि (रेवा-नदीतटे) वतेसीतरुतले (वेतसीकन्टकाकीर्णे निर्जन सुशीतल प्रदेशे) सुरतव्यापारलीलाविधौ (नायक सङ्गा-कांक्षायां यत्र पूर्वसङ्गमो जातस्तत्रैव) चेतः (मनः) समुत्कण्ठते (विहर्त्तृत उत्सहते)।

एकमात्र स्वरूप दामोदर ही प्रभु के भावों के ज्ञाता—

एइ श्लोकेर अर्थ जाने एकेला स्वरूप।
दैवे से वत्सर ताहाँ गियाछेन रूप॥५९॥

५९। प॰ अनु—ऊपर कहे गये श्रीमन् महाप्रभु द्वारा उच्चारित श्लोक का अर्थ एकमात्र श्रीस्वरूप दामोदर ही जानते थे। दैवयोग से उस वर्ष श्रीरूप गोस्वामी भी नीलाचल में गये थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

५९। एकला स्वरूप,—उक्त श्लोक नितान्त हेय नायक और नायिका के सम्बन्ध में विरचित है। महाप्रभु ने इसको क्यों इतना आदरपूर्वक उच्चारण किया था, उसका गूढ़ तात्पर्य स्वरूप दामोदर के अतिरिक्त और कोई भी नहीं जानता था।

श्रीरूप के द्वारा उपरोक्त श्लोक के अनुरूप स्वरचित श्लोक—

प्रभुमुखे श्लोक शुनि' श्रीरूपगोसाञि।
सेइ श्लोकेर अर्थ-श्लोक करिला तथाइ॥६०॥

६०। प० अनु—श्रीमन् महाप्रभु के मुख से श्लोक को सुनकर श्रीरूप गोस्वामी ने वहीं पर ही उस श्लोक के अर्थ (ममार्थ न कि शब्दार्थ) को प्रकाशित करने वाले एक और श्लोक की (मन-ही-मन) रचना की।

अनुभाष्य

५३-६०। मध्य, त्रयोदश परिच्छेद १११-१५९ संख्या द्रष्टव्य है।

श्रीमन्महाप्रभु और श्रीरूप के द्वारा रचित श्लोक की कथा—

श्लोक करि' एक तालपत्रेते लिखिया।
आपन वासार चाले राखिला गुञ्जिया॥६१॥
श्लोक राखि' गेला समुद्रस्नान करिते।
हेनकाले आइला प्रभु ताँहारे मिलिते॥६२॥

६१-६२। प० अनु०—(अपने वास स्थान पर पहुँचने के उपरान्त) श्रीरूप गोस्वामी श्लोक को तालपत्र पर लिखकर उसे अपनी झोंपडी की छत्त में सावधानी पूर्वक रखकर समुद्र में स्नान करने के लिये चले गये। उसी समय अर्थात् उनकी अनुपस्थिति में श्रीमन् महाप्रभु उनसे मिलने उनकी कुटिया में आ गये।

अप्राकृत ब्राह्मण गुरु वैष्णवाचार्य होने पर भी
दीनतावश मर्यादा का पालन करते हुए तीन
व्यक्तियों की जगन्नाथ-मन्दिर में जाने की अनिच्छा—

हरिदास ठाकुर, श्रीरूप-सनातन।
जगन्नाथ-मन्दिरे ना जा' न तिन जन॥६३॥
महाप्रभु जगन्नाथेर उपल-भोग देखिया।
निजगृहे जा' न एइ तिनेरे मिलिया॥६४॥
एइ तिन मध्ये जबे थाके जेइ जन।
ताँरे आसि' आपने मिले,—प्रभुर नियम॥६५॥
दैवे आसि' प्रभु जबे ऊर्ध्वेते चाहिल।
चाले गोंजा तालपत्रे सेइ श्लोक पाइल॥६६॥
श्लोक पड़ि' आछे प्रभु आविष्ट हइया।
रूपगोसाञि आसि' पड़े दण्डवत् हञा॥६७॥

६३-६७। प० अनु०—श्रील हरिदास ठाकुर, श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीरूप गोस्वामी—ये तीन जन श्रीजगन्नाथ मन्दिर में नहीं जाते थे। श्रीमन् महाप्रभु श्रीजगन्नाथ मन्दिर में उपल भोग (गरुड़ स्तम्भ के पीछे पत्थर से बने हॉल में लगाया जाने वाला भोग) का दर्शन करने के उपरान्त इन तीनों को दर्शन देकर ही अपने घर जाते थे। श्रीमन् महाप्रभु का यह नियम था कि इन तीनों में से जो कोई भी घर में रहता उसे वे स्वयं आकर मिलते थे। इसी प्रकार दैवयोग से जब श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीरूप गोस्वामी की झोंपडी की छत्त की ओर देखा तो उन्हें झोंपड़ी की छत में तालपत्र पर लिखा हुआ वह श्लोक मिला। श्लोक को पढ़ते ही श्रीमन् महाप्रभु भावाविष्ट हो गये। उसी समय श्रीरूप गोस्वामी भी वहाँ आ गये और उन्होंने श्रीमन् महाप्रभु को दण्डवत प्रणाम किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

६३। हरिदास ठाकुर काजी के पुत्र थे; मन्दिर की मर्यादा के भङ्ग होने की आशङ्का से श्रीमन्दिर में नहीं जाते थे। रूप-सनातन अपने-आपको "तृणादपि-सुनीच" मानकर नीचजाति की भाँति अधिकार-सामान्य-बुद्धि अर्थात् हमें भी नीच जाति के व्यक्तियों की भाँति मन्दिर में जाने का अधिकार नहीं हैं, इसी विचार से श्रीमन्दिर नहीं जाते थे।

६४। उपलभोग,—छत्र-भोग। उपलभोग के अतिरिक्त जगन्नाथदेव के और सब भोग मणि कोठरी अर्थात् गर्भ गृह में ही होते हैं। दिन के दो प्रहर के बाद जो बहुत बड़ा

भोग लगता है, वह गरुड़ के पीछे विद्यमान पत्थर से बने एक बहुत बड़े स्थान पर लगाया जाता है। उपल शब्द का अर्थ पत्थर है; उस पत्थर से बने स्थान पर (सब प्रकार की भोग की वस्तुओं को सजाकर) भोग लगाने के कारण उसका नाम 'उपलभोग' है।

६८। उठि,—किसी-किसी पाठ में 'उह्राई' भी मिलता है।

श्रीरूप के प्रति प्रभु की
अकृत्रिम स्नेह-कृपा—

उठि' महाप्रभु ताँरि चापड़ मारिया।
कहिते लागिला किछु कोलेते करिया॥६८॥
मोर श्लोकेर अभिप्राय ना जाने कोन जने।
मोर मनेर कथा तुञि जानिलि केमने?६९॥
एत बलि' ताँरि बहु प्रसाद करिया।
स्वरूप-गोसाञिरे श्लोक देखाइल लइया॥७०॥

६८-७०। प० अनु०—दण्डवत करने के पश्चात् जब श्रीरूप गोस्वामी उठे तो श्रीमन् महाप्रभु ने उन्हें (स्नेहपूर्वक) एक थप्पड़ मारा और उन्हें गोद में लेकर कहने लगे—"मेरे (द्वारा उच्चारित 'यः कौमारहरः) श्लोक का अभिप्राय कोई भी नहीं जानता। परन्तु मेरे मन के भावों को तुमने कैसे जान लिया?" इतना कहकर श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीरूप गोस्वामी पर बहुत कृपा की और उस श्लोक को श्रीस्वरूप दामोदर को दिखलाया।

श्रीस्वरूप को श्रीरूप के द्वारा रचित
श्लोक का प्रदर्शन और जिज्ञासा—

स्वरूपे पूछेन प्रभु हइया विस्मिते।
मोर मनेर कथा रूप जानिल केमते॥७१॥
स्वरूप कहे,—जाते जानिल तोमार मन।
ताते जानि,—हय तोमार कृपार भाजन॥"७२॥
प्रभु कहे,—तारे आमि सन्तुष्ट हइया।
आलिङ्गन कैलूँ सर्वशक्ति सञ्चारिया॥७३॥
योग्यपात्र हय गूढ़रस-विवेचने।
तुमिओ कहिओ तारे गूढ़रसाख्याने॥७४॥
एसब कहिब आगे विस्तार करिञा।
संक्षेपे उद्देश कैल प्रस्ताव पाइया॥७५॥

७१-७५। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु विस्मित होकर श्रीस्वरूप दामोदर से पूछने लगे—"मेरे मन के भावों को रूप ने कैसे जान लिया?" श्रीस्वरूप दामोदर कहने लगे—"क्योंकि रूप ने आपके मन के भावों को जान लिया है, इससे तो मैं यही समझता हूँ कि वे आपके कृपापात्र हैं।" तब श्रीमन् महाप्रभु ने कहा—"मैंने रूप से सन्तुष्ट होकर उसमें सर्वशक्ति का सञ्चार करते हुए उसका (प्रयाग में) आलिङ्गन किया था। रूप गूढ़रस की आलोचना करने में योग्यपात्र है, तुम भी उसे उस गूढ़रस के विषय में बतलाना।" (श्रील कृष्णदास कविराज कहते है—) इन सब कथाओं का मैं आगे विस्तारपूर्वक वर्णन करूँगा। प्रसङ्ग के अनुसार मैंने यहाँ संक्षेप में ही इसका उल्लेख किया है।

श्रीरूप के द्वारा रचित श्लोक—

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्रमिलित-
स्तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः सङ्गमसुखम्।
तथाप्यान्तः-खेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दीपुलिनविपिनाय स्पृहयति॥७६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७६। हे सहचरि, (जिन्होंने मेरे साथ वृन्दावन में विहार किया था) मेरे वही अतिप्रिय कृष्ण आज कुरुक्षेत्र में मिलित हुए हैं। यद्यपि मैं भी वही राधा हूँ; और हम दोनों के मिलन का सुख भी वही है; तथापि इन श्रीकृष्ण के द्वारा वन में क्रीड़ा करते हुए मुरली के पञ्चम स्वर (के श्रवण) से आनन्द से अप्लावित कालिन्दी के पुलिन पर स्थित वन के लिये ही मेरा चित्त स्पृहा कर रहा है अर्थात् वहाँ जाने के लिये उत्कण्ठित हो रहा है।

अनुभाष्य

७६। हे सहचरि (सखि) सः (मम कान्तः) अयं (प्रिय प्राणारामः) कृष्णः कुरुक्षेत्रमिलितः (कुरुक्षेत्रे प्राप्तः) तथा सा राधा अहं उभयोः तत् इदं सङ्गम सुखं

(मिथमिलनेन यद्यपि सुखं जात), तथापि अन्तः-खेलन्मधुर-मुरली-पञ्चमजुषे (अन्तः हृदयाभ्यन्तरे वृन्दाविपिन मध्ये वा खेलन् क्रीड़न मधुरो यः वश्याः पञ्चमो रागः तं जोषति सेवत तस्मै) कालिन्दीपुलिन-विपिनाय (कालिन्द्याः युमनायाः पुलिनं तटस्थलं तस्मिन् यत् विपिनं तरुसमाकीर्णं निर्जनं काननं तस्मै वंशीनिनाद पूर्णयामुनतटान्तस्थ-वृन्दावनाय) मे (मम) मनः स्पृहयति (गमनाय समुत्कण्ठितो भवति)।

श्लोक में प्रभु के जगन्नाथ-दर्शन
के समय के भाव व्यक्त—

एइ श्लोकेर संक्षेपार्थ शुन, भक्तगण।
जगन्नाथ देखि' जैछे प्रभुर भावन॥७७॥

७७। प० अनु०—(श्रीकृष्णदास कविराज कहते हैं—) हे भक्तगण! उपरोक्त कहे हुए श्लोक का संक्षिप्त अर्थ श्रवण करो। जिसमें श्रीजगन्नाथ दर्शन के समय श्रीमन् महाप्रभु में जो भाव व्यक्त होते थे उसे कहा गया है।

कुरुक्षेत्र में कृष्ण दर्शन से राधिका का भाव—

श्रीराधिका कुरुक्षेत्रे कृष्णेर दरशन।
यद्यपि पायेन, तबु भावेन ऐछन॥७८॥

७८। प० अनु०—यद्यपि श्रीराधिका को कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण का दर्शन प्राप्त हुआ, तब भी वे इस प्रकार की भावना करती हैं।

विधिधर्म और ऐश्वर्य त्याग कराके कृष्ण को व्रज में
दीन गोपियों के बीच में प्राप्त करने की आकांक्षा—

राजवेश, हाती, घोड़ा, मनुष्य गहन।
काँहा गोप-वेश, काँहा निर्जन वृन्दावन॥७९॥
सेइ भाव, सेइ कृष्ण, सेइ वृन्दावन।
जबे पाइ, तबे हय वाञ्छित पूरण॥८०॥

७९-८०। प० अनु०—(श्रीराधिका श्रीकृष्ण का दर्शन कर विचार कर रही हैं कहाँ तो) श्रीकृष्ण का यह राजवेश, हाथी, घोड़े और अनेक लोगों की भीड़ और कहाँ श्रीकृष्ण का गोपवेश और कहाँ निर्जन वृन्दावन। जब मुझे वही व्रज के भाव, वही व्रज के कृष्ण तथा वही वृन्दावन प्राप्त होगा, तभी मेरी इच्छा पूर्ण होगी।

अपने घर में कृष्ण को प्राप्त करने का आग्रह—
(श्रीमद्भागवत १०/८२/४८)

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरनावलम्बं
गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥८१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८१। गोपियाँ ने कहा—"हे कमलनाभ! संसार रूपी कुएँ में गिरे हुए व्यक्तियों के ऊपर उठने के एकमात्र अवलम्बन स्वरूप आपके चरणकमल, जो अगाध बोध योगेश्वरों के हृदय में ही सदैव चिन्तनीय हैं, वह गृह सेवी हमारे मन में उदित हों।

किसी-किसी पाठ में निम्नलिखित श्लोक दिखायी देता है—

(श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध, ८३ अध्याय, द्वितीय श्लोक)

"त एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः।
प्रत्युचुर्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतां हसः॥"

अनुभाष्य

८१। स्यमन्तपञ्चक अर्थात् कुरुक्षेत्र में कृष्ण प्रमुख वृष्णियों के साथ गोप-गोपियों के मिलन के बाद कृष्ण के प्रति गोपियों की उक्ति,—

गोप्यः आहुश्च—हे नलिननाभ, (पद्मनाभ) अगाध-बोधैः बुद्धेः पारङ्गतैः) योगेश्वरैः (विषय निवृत्तैः) हृदि (मनसि) विचिन्त्यं (सर्वतोभावेन चिन्तनीय) संसारकुल-पतितोतरणावलम्बं (संसार एव कूपः तस्मिन् पतिताः ये तेषां उत्तरणाय उद्धाराय अवलम्बम् आश्रय रूपं विषयर-तानां मुक्त्युपाय रूप) ते (तव) पदारविन्दं (चरणकमल) गेहं (गोपभवनं वृन्दावन) जुषां (सेवमानानां सहजगृहधर्म-निरतानां गोपीना) नः (अस्माक) मनसि सदा उदियात्।

(सांसारिकविषयरसाविष्टानां उद्धरणसमर्थं विषय रहितानं योगीनां च ध्यानविषयात्मकं तव पदकमलं, किन्तु अस्माकम् सहजगृहधर्मपराणां तव विरहसिन्धुनिमग्नानां नोद्धत्तुं शक्नुयात् यतः वयं न ध्यानपरा योगिनः, न च पति पुत्रादि कथारताः कृपणाः संसारिणः)।

दीर्घ विरह के अन्त में मिलन की आकांक्षा—

तोमार चरण मोर व्रजपुरघरे।
उदय करये जदि, तबे वाञ्छा पूरे॥८२॥
भागवतेर श्लोकार्थ विचार करिञा।
रूप-गोसाञि श्लोक कैल लोक बुझाइञा॥८३॥

८२-८३। प० अनु०—(श्रीराधिका श्रीकृष्ण को सम्बोधन करते हुए कह रही हैं—) "यदि आपके श्रीचरणेकमलों को अपने व्रजरूपी घर में उदय करा सकूँ तभी मेरी वाञ्छा पूर्ण होगी।" श्रीमद्भागवत के पूर्वोक्त श्लोक के अर्थ का विचार करके श्रीरूप गोस्वामी ने लोगों को समझाने के लिये एक और श्लोक की रचना की।

अनुभाष्य

८२। गोपियाँ विशुद्ध कृष्ण सेवा करने वाली हैं। वे कृष्ण के ऐश्वर्य अथवा वैसे किसी अन्य माहात्म्य को देखकर सेवा परायण नहीं बनी हैं। अतएव कुरुक्षेत्र के हाथी, घोड़े और राजवेश के प्रति उनकी कभी भी रुचि नहीं है। जिस प्रकार गोपीजनवल्लभ कृष्ण गोपियोंके निर्मल प्रेमभाव से आबद्ध हैं, गोपियाँ भी वैसे ही गोपी-जनवल्लभ की नित्य सेविकाएँ हैं। दुर्बोध वैभव के अधिपति (श्रीभगवान्) को विषयों से निवृत्त तथा उन्हीं में अपने चित्त को नियोजित करने वाले योगी जिस प्रकार ध्यान के द्वारा अनुशीलन करते हैं, अथवा विषयों में लिप्त व्यक्ति विषयों की समृद्धि के लिये अपनी देह, पुत्र, स्त्री आदि के जागतिक मङ्गल अर्थात् अपने भवसंसार से मुक्त होने के उद्देश्य से हरि के चरणों का आश्रय करते हैं, गोपियों में वैसी ध्यान परायण चेष्टा और सत् कर्म निपुणता नहीं है। वे सभी इन्द्रियों के द्वारा, काय-मन और वाक्य से कृष्ण की शुद्ध सेवा में व्यस्त हैं। नीरस शुष्क तर्क विचार अथवा प्राकृत रस से रहित अथवा मिलित, दोनों को त्याग करके गोपियाँ ऐसा नहीं चाहती कि उनके अपने वल्लभ दूसरों के कार्यों में व्यस्त अथवा मर्यादावान् होकर किसी दूसरे स्थान पर रहें। श्रीव्रजेन्द्रनन्दन को श्रीवृन्दावन में लाकर गोपियाँ काय-मन और वाक्य से केवल कृष्ण की सेवा द्वारा उनके प्रीति साधन में ही सुख प्राप्त करती हैं।

विरह के कारण सब समय के लिये
मधुर-स्मृतिमय मिलन की आकांक्षा—
(ललितमाधव १०/३८ श्लोक)

या ते लीलारसपरिमलोद्गारिवन्यापरीता
धन्या क्षौणी विलसति वृता माथुरी माधुरीभिः।
तत्रास्माभिश्चटुलपशुपीभावमुग्धान्तराभिः
संवीतस्त्वं कलय वदनोल्लासि-वेणुर्विहारम्॥८४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८४। हे कृष्ण, तुम्हारी जिस लीला-रस-गन्ध-विस्तारी वनसमूह द्वारा व्याप्त माथुर मण्डलीय माधुरी द्वारा परिवृत एवं भाव द्वारा मुग्धमन जो हम गोपियाँ हैं, हमारे द्वारा परिसेवित धन्य वृन्दावन भूमि में तुम जो विलास करते थे। वंशीवदन, तुम हमारे साथ मिलकर वही लीला विहार करो।

अनुभाष्य

८४। श्रीकृष्ण ने जब श्रीमती राधिका को अभीष्ट वरदान प्रार्थना करने के लिये कहा, तब श्रीमती की उक्ति,—

लीलारसपरिमलोद्गारिवन्यापरीता (लीलारससुर-भिनिः सारिणी य वन्या वनसमूहतया परीता व्याप्ता) माथुरी (मथुरा-सम्बन्धिनी) माधुरीभिः (सौन्दर्यैः) वृता (आवृता) धन्या (प्रशंसनीया), या ते (तव) क्षौणी (व्रजभूमिः) विलसति, तत्र (व्रजपुर्यांचटुलपशुपीभाव-मुग्धन्तराभिः (चटुलाः चञ्चलाः पशुपीभावेन गोपीभावेन मुग्धतान्तःकरणं यासां ताभिः) अस्माभिः (गोपीभिः)

संवीतः (सम्मिलितः) वदनोल्लासिवेणुः (वदनात् उल्लसितुं शीलमस्य इति उल्लासी वंशी यस्य तथाभूतः सन्, स्मितवदनोथ-गोप्युन्मादिमुरली निनादकारी त्व) विहारं कलय कुरु।

विरह के कारण जगन्नाथ को व्रज में ले जाने का आग्रह—

एइरूप महाप्रभु देखि' जगन्नाथे।
सुभद्रा सहित देखे, वंशी नाहि हाते॥८५॥
त्रिभङ्गसुन्दर व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन।
काँहा पाव, एइ वाञ्छा करे अनुक्षण॥८६॥

८५-८६। प० अनु०—श्रीमती राधिका के कृष्ण दर्शन की भाँति श्रीमन् महाप्रभु जब श्रीजगन्नाथ के दर्शन करते तो देखते कि ये तो सुभद्राजी के साथ है तथा इनके हाथ में तो वंशी भी नहीं है। (श्रीराधा भाव में विभावित) श्रीमन् महाप्रभु उस समय प्रतिक्षण यही इच्छा करते कि मैं व्रज में त्रिभङ्ग सुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन को कब अथवा कहाँ प्राप्त कर पाऊँगी।

उद्धव के दर्शन से राधिका के भाव में डूबे हुए महाप्रभु—

राधिका-उन्माद यैछे उद्धव-दर्शने।
उद्घूर्णा-प्रलाप तैछे प्रभुर रात्रि-दिने॥८७॥

८७। प० अनु०—उद्धव के दर्शन से श्रीराधिका कृष्ण-विरह में जैसी उन्मादित हो उठी थी तथा नाना प्रकार की विवशता भरी चेष्टाएँ करते हुए प्रलाप करने लगी थी, उसी प्रकार श्रीमन् महाप्रभु रात-दिन उन्मत्त अवस्था में प्रलाप करते रहते।

अमृतप्रवाह भाष्य

८७। उद्घूर्णा-प्रलाप,—अनेक प्रकार की विवश अर्थात् वश में नहीं होने वाली चेष्टाओं से जिस प्रलाप आदि का उदय होता है।

अनुभाष्य

८७। उन्माद,—उद्घूर्णा और चित्रजल्प आदि से युक्त दिव्योन्माद। उज्ज्वलनीलमणौ—"एतस्य मोहनाख्यस्य गतिं कामप्युपेयुषः। भ्रामाभा कापि वैचित्री दिव्योन्माद इतीर्यते॥ उद्घूर्णा चित्रजल्पाद्यास्तद्भेदा बहवो मताः।" आधिरूढ़महाभाव में मोदन,—दो प्रकार के भेद हैं। मोदन भाव विरह-दशा में 'मोहन' नाम से प्रसिद्ध है। मोहन दशा में विरह के कारण विवशता के क्रम से सात्विक भाव समूह भलीभाँति प्रदीप्त होते हैं। "कामपि निवत्तुमशक्यां गतिं वृत्तिमुपेयुषः प्राप्तस्य काम्युद्धुता वैचित्री दिव्योन्मादः।" किसी अनिर्वचनीय वृत्ति से प्राप्त मोहन की भ्रम जैसी विचित्रतापूर्ण अवस्था को 'दिव्योन्माद' कहते हैं; उसके उद्घूर्णा और चित्रजल्प प्रभृति अनेक भेद हैं।

उद्घूर्णा—अनेकानेक विवश चेष्टाओं से युक्त विलक्षण भाव। "स्याद्विलक्षणमुद्घूर्णा नानावैवश्यचेष्टितम्। यथा शय्या कुञ्जगृहे क्वचिद्वितनुते सा वाससज्जायिता नीलाभ्रं धृत खण्डिता व्यवहृतिश्चण्डी क्वचितर्जति। आघूर्णत्यभिसार सम्भ्रमवती धवान्ते क्वचिद्दारुणे राधा ते विरहोद्भ्रमप्रमथिता धत्ते न कां वा दशाम्॥" उद्धव ने कृष्ण को कहा—'राधा तुम्हारे विरह से उत्पन्न भ्रम में पीड़ित होकर कभी कुञ्ज के गृह में वासक सज्जा की रचना कर रही है, और कभी खण्डिता होकर नीले मेघों को तर्जन कर रही है, और कभी अभिसारिका होकर घोर अन्धकार में भ्रमण कर रही है, ऐसी कौन सी दशा है, जिसे वे प्राप्त नहीं हो रही है।'

अन्त के १२ वर्षों में प्रभु का कृष्ण विरह—

द्वादश वत्सर शेष ऐछे गोयांइल।
एइ मत शेष लीलार विधान करिल॥८८॥

८८। प० अनु—श्रीमन् महाप्रभु ने अन्त के बारह वर्ष इसी प्रकार कृष्ण के विरहोन्माद में व्यतीत किये। (श्रील कविराज गोस्वामी यहाँ पर उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि) इस प्रकार श्रीमन् महाप्रभु ने अपनी शेष लीला अर्थात् संन्यास के बाद के अन्तिम बारह वर्षों में की गयी लीलाओं का विधान किया।

प्रभु की असीम लीला—

संन्यास करि' चब्बिस वत्सर कैला जे जे कर्म।
अनन्त, अपार—तार के जानिबे मर्म॥८९॥

८९। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् चौबीस वर्षों तक जो जो लीलाएँ की है वे अनन्त एवं अपार हैं। उन समस्त लीलाओं के मर्म को कौन जान सकता है?

ग्रन्थकार का दिग्दर्शन—

उद्देश करिते करि दिग् दरशन।
मुख्य-मुख्य-लीलार करि सूत्र गणन॥९०॥

९०। प० अनु०—दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से अब मैं श्रीमन् महाप्रभु की मुख्य-मुख्य लीलाओं की सूत्र रूप अर्थात् संक्षेप में गणना करता हूँ।

सबसे पहले प्रभु का संन्यास और
उसके पश्चात् वृन्दावन-यात्रा—

प्रथम सूत्र प्रभुर संन्यासकरण।
संन्यास करि' चलिला प्रभु श्रीवृन्दावन॥९१॥

९१। प० अनु०—उनकी पहली लीला यह है कि उन्होंने संन्यास ग्रहण किया और संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् वे श्रीवृन्दावन की ओर चल दिये।

अनुभाष्य

९१। श्रीमहाप्रभु का संन्यास कर्मियों या ज्ञानियों जैसा नहीं है। उन्होंने संन्यास ग्रहण करके श्रीवृन्दावन गमन लीला का प्रदर्शन किया है। प्राकृत भोग विचार से रहित होकर श्रीकृष्ण का अनुकूल अनुशीलन ही अवैष्णवता से संन्यास ग्रहण करना है। "अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः। निर्बन्धः कृष्ण सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥" ज्ञानी संन्यासी हरिसेवा से विमुख होकर—अप्राकृत तत्त्व को समझने में असमर्थ होकर हरि सम्बन्धी वस्तु को प्रापञ्चिक समझते हैं।

अनुभाष्य

९१-९५—मध्य, तृतीय परिच्छेद द्रष्टव्य।

तीन दिन तक राढ़ देश में भ्रमण—

प्रेमेते विह्वल बाह्य नाहिक स्मरण।
राढ़देशे तिन दिन करिला भ्रमण॥९२॥

९२। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु प्रेम में इतने विह्वल थे कि उनको बाह्य ज्ञान ही नहीं था। इसी अवस्था में उन्होंने राढ़देश में तीन दिन तक भ्रमण किया।

नित्यानन्द की चतुरता से प्रभु का नवद्वीप में आगमन—

नित्यानन्द प्रभु महाप्रभु भुलाइया।
गङ्गातीरे लञा गेला 'यमुना' बलिया॥९३॥

९३। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीमन् महाप्रभु को छल से यमुना बतला कर गङ्गा के तट पर ले गये।

शान्तिपुर में श्रीअद्वैत के घर में भिक्षा और कीर्त्तन—

शान्तिपुरे आचार्येर गृहे आगमन।
प्रथम भिक्षा कैल ताँहा, रात्रे सङ्कीर्तन॥९४॥

९४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु का आगमन श्रीअद्वैताचार्य के शान्तिपुर वाले घर में हुआ और वहीं पर ही महाप्रभुजी ने (तीन दिन के बाद) पहली भिक्षा (भोजन) ग्रहण की तथा रात्रि में सङ्गीर्त्तन किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

९४। प्रथम भिक्षा,—संन्यास के बाद कुछेक दिन भ्रमण करके अद्वैत प्रभु के घर में प्रथम अन्नभिक्षा ग्रहण की।

शची माता और भक्तों के साथ
मिलन तथा पुरी में गमन—

माता भक्तगणेर ताँहा करिल मिलन।
सर्व समाधान करि' कैल नीलाद्रिगमन॥९५॥

९५। प० अनु०—शान्तिपुर में ही श्रीमन् महाप्रभु शची माता और अन्य भक्तों से मिले और वहाँ सब समाधान करके [अर्थात् शची माता की आज्ञा लेकर तथा भक्तों को सान्त्वना और उन सबसे विदाई लेकर] श्रीमन् महाप्रभु नीलाचल चले गये।

पुरी के मार्ग में रेमुणा नामक स्थान पर माधवेन्द्र पुरी का वृत्तान्त और गोपीनाथ का दर्शन—

पथे नाना लीला, सब देव-दरशन।
माधवपुरीर कथा, गोपाल-स्थापन॥९६॥

९६। प० अनु०—शान्तिपुर से नीलाचल जाने के मार्ग में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अनेक लीलाएँ करते हुए भगवान् के सभी विग्रहों का दर्शन किया और श्रीमाधवेन्द्र-पुरी के द्वारा किये गये श्रीगोपालजी के स्थापन की कथा को श्रवण किया।

अनुभाष्य

९६। श्रीमाधवपुरी शब्द से श्रीमाधवेन्द्रपुरी (समझना चाहिए)। श्रीवल्लभ भट्ट ने श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी की शाखा में श्रीमङ्गल भाष्य के लेखक श्रीमाधवाचार्य से त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण किया। श्रीमाधवाचार्य श्रीमाध-वेन्द्र पुरी से भिन्न व्यक्ति हैं।

श्रीनित्यानन्द के द्वारा साक्षी-गोपाल का वृत्तान्त वर्णन और प्रभु के संन्यास दण्ड को तोड़ना—

क्षीर-चुरि कथा, साक्षी-गोपाल-विवरण।
नित्यानन्द कैल प्रभुर दण्ड भञ्जन॥९७॥

९७। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीगोपीनाथ के द्वारा खीर चोरी करने और साक्षी-गोपाल के वृन्दावन से आने का विवरण सुनाया तथा उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु के संन्यास-दण्ड को तोड़ दिया।

अनुभाष्य

९६-९७। मध्य लीला का चतुर्थ और पञ्चम परिच्छेद द्रष्टव्य है।

९७। क्षीरचोरा गोपीनाथ,—श्रीपाट रेमुणा में विरा-जित। वर्त्तमान मन्दिर के सेवाइत श्यामसुन्दर अधि-कारी—श्रीश्यामानन्द प्रभु के अधस्तन श्रील रसिकानन्द-मुरारि के श्रीपाट् मेदिनीपुर जिले के प्रान्त देश में स्थित गोपीवल्लभपुर के शिष्य हैं।

साक्षीगोपाल—वि, एन्, आर लाइन में पुरी के रास्ते इस नाम अर्थात् साक्षी गोपाल नाम के स्टेशन से थोड़ी दूरी पर ही 'सत्यवादी' नामक ग्राम में श्रीमन्दिर अवस्थित है। श्रीमन् महाप्रभु के समय कट्टक शहर में श्रीसाक्षी-गोपाल का मन्दिर था (मध्य पञ्चम परिच्छेद ८ संख्या का अमृतप्रवाह भाष्य द्रष्टव्य)।

अकेले जगन्नाथ दर्शन करते समय मूर्च्छा—

क्रुद्ध हइया एका गेला जगन्नाथ देखिते।
देखिया मूर्च्छित हइया पड़िला भूमिते॥९८॥

९८। प० अनु०—(श्रीनित्यानन्द प्रभु ने जब श्रीचैतन्य महाप्रभु के संन्यास-दण्ड को तोड़ दिया, तब) श्रीचैन्य महाप्रभु क्रोधित होकर उनके सङ्ग को त्यागकर अकेले ही भगवान् श्रीजगन्नाथदेव के दर्शन करने के लिये मन्दिर की ओर चल पड़े और जगन्नाथदेव के दर्शन करते ही मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े।

सार्वभौम के घर में प्रभु को लाना और प्रभु की मूर्च्छा भङ्ग—

सार्वभौम लइया गेला आपन-भवन।
तृतीय प्रहरे प्रभु हइल चेतन॥९९॥

९९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु को मूर्च्छित देखकर सार्वभौम भट्टाचार्य उन्हें अपने घर ले आये और तीसरे प्रहर में श्रीमन् महाप्रभु को चेतना आयी।

बाद में श्रीनित्यानन्द-प्रमुख भक्तों के साथ मिलन—

नित्यानन्द, जगदानन्द, दामोदर, मुकुन्द।
पाछे आसि' मिलि' सबे पाइल आनन्द॥१००॥

१००। प० अनु०—बाद में श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीजगदानन्द पण्डित, श्रीदामोदर, श्रीमुकुन्द आकर श्रीमन् महाप्रभु से मिलकर आनन्दित हुए।

सार्वभौम पर कृपा और षड़भुज प्रदर्शन—

तबे सार्वभौमे प्रभु प्रसाद करिल।
आपन-ईश्वरमूर्ति ताँरे देखाइल॥१०१॥

१०१। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सार्वभौम

पर कृपा की और उन्हें अपनी ईश्वर मूर्त्ति अर्थात् षड़भुज रूप का दर्शन कराया।

अनुभाष्य

१०१। मध्य षष्ठ परिच्छेद २०१-२०४ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु का दक्षिण भारत की ओर गमन
तथा कूर्मक्षेत्र में कुष्ठरोगी विप्र का उद्धार—

तबे त' करिला प्रभु दक्षिण गमन।
कूर्मक्षेत्रे कैल वासुदेव विमोचन॥१०२॥

१०२। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने दक्षिण भारत की ओर गमन किया और कूर्मक्षेत्र में वासुदेव विप्र का उद्धार किया।

अनुभाष्य

१०२। मध्य सप्तम परिच्छेद ११३ संख्या के अनुभाष्य में कूर्मस्थान और श्रीनरहरि (नृहरि) तीर्थ के समय १२०३ शकाब्द का पत्थर पर खुदा हुआ वृतान्त द्रष्टव्य।

जियड़-नृसिंह का दर्शन—

जियड़-नृसिंहे कैल नृसिंह स्तवन।
पथे-पथे ग्रामे-ग्रामे नामप्रवर्तन॥१०३॥

१०३। प० अनु०—दक्षिण देश में आकर श्रीमन् महाप्रभु ने जियड़-नृसिंह मन्दिर में श्रीनृसिंह भगवान् की स्तुति की और मार्ग के गाँव-गाँव में कृष्ण नाम का प्रवर्त्तन किया।

अनुभाष्य

१०३। मध्य अष्टम परिच्छेद का ३ संख्या अनुभाष्य द्रष्टव्य।

विद्यानगर में गोदावरी के तट पर राय रामानन्द से मिलन—

गोदावरीतीर-वने वृन्दावन-भ्रम।
रामानन्द राय सह ताहाञि मिलन॥१०४॥

१०४। प० अनु०—गोदावरी नदी के तट पर एक वन को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को वृन्दावन का भ्रम हुआ और वहीं पर उनका श्रीरामानन्द राय के साथ मिलन हुआ।

अनुभाष्य

१०४। मध्य अष्टम परिच्छेद की ११ और १४-२० तक की संख्या द्रष्टव्य।

तिरुमलय में तिरुपति का दर्शन—

त्रिमल्ल-त्रिपदी-स्थान कैल दरशन।
सर्वत्र करिल कृष्णनाम प्रचारण॥१०५॥

१०५। प० अनु०—तिरुमलय पहुँचकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने त्रिपदी (तिरुपति) का दर्शन किया और सर्वत्र ही कृष्णनाम का प्रचार किया।

अनुभाष्य

१०५। त्रिमल्ल (तिरुमलय)—ताञ्जोर जिले में अवस्थित (मध्य नवम परिच्छेद ७१ संख्या)। त्रिपदी (तिरुपति, पदि अथवा तिरुपाट्टुर)—(उत्तर आर्कट नामक ग्रन्थ) व्येङ्कटाचल के ऊपर सुप्रसिद्ध श्रीबालाजी का मन्दिर है (मध्य नवम परिच्छेद ६४ संख्या द्रष्टव्य)।

पाषण्डी-बौद्ध का उद्धार और अहोवल नृसिंह का दर्शन—

तबे त' पाषण्डिगणे करिल दलन।
अहोवल-नृसिंहादि कैल दरशन॥१०६॥

१०६। प० अनु०—तिरुपति मन्दिर के दर्शन करने के बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पाषण्डी बौद्धों का उद्धार कर अहोवल-नृसिंह आदि का दर्शन किया।

अनुभाष्य

१०६। पाषण्डि दलन—मध्य नवम परिच्छेद ४२-६२ संख्या द्रष्टव्य।

अहोबल—नामान्तर 'अहोविलम्' मन्दिर—दक्षिण के कर्णूल जिले में सार्वेल तालुक के अन्तर्गत। पूरे जिले में यह नृसिंहदेव का मन्दिर प्रसिद्ध है। पार्श्व में स्थित अन्यान्य नौ विष्णु विग्रह युक्त नौ मन्दिर मिलकर 'नव नृसिंह मन्दिर' के नाम से जाने जाते हैं। प्रधान

मन्दिर ६४ स्तम्भों पर बना हुआ है; इन ६४ स्तम्भों में से प्रत्येक स्तम्भ पुनः छोटे-छोटे स्तम्भों में खुदा हुआ है। मन्दिर के सामने तीन फुट व्यास वाला (गोलाकार) और अत्यधिक कुशल शिल्पकारों की कारीगिरी के नमूने के रूप में सफेद पत्थर से निर्मित बड़े-बड़े स्तम्भों से युक्त एक असम्पूर्ण किन्तु बहुत विचित्र मण्डप विद्यमान है (कर्णूल म्यानुयेलन पत्रिका)।

श्रीरङ्गनाथ का दर्शन—

श्रीरङ्गक्षेत्र आइला कावेरीर तीर।
श्रीरङ्ग देखिया प्रेमे हइला अस्थिर॥१०७॥

१०७। प॰ अनु॰—उसके बाद श्रीमन् महाप्रभु कावेरी नदी के तट पर श्रीरङ्गक्षेत्र में आये और श्रीरङ्गनाथ का दर्शन कर प्रेम में विह्वल हो गये।

तिरुमलय भट्ट के घर में चातुर्मास्य-यापन—

त्रिमल्ल भट्टेर घरे कैल प्रभु वास।
ताहाञि रहिला प्रभु वर्षा चारि मास॥१०८॥

१०८। प॰ अनु॰—श्रीरङ्गक्षेत्र में श्रीमन् महाप्रभु ने वर्षा के चार महीने (चातुर्मास्य) तक त्रिमल्लभट्ट के घर में वास किया।

तिरुमलय भट्ट—श्रीसम्प्रदाय के वैष्णव—

श्रीवैष्णव त्रिमल्ल भट्ट—परम पण्डित।
गोसाञिर पाण्डित्य-प्रेमे हइला विस्मित॥१०९॥
चातुर्मास्य महाप्रभु श्रीवैष्णवेर सने।
गोञाइल नृत्य-गीत-कृष्णसंकीर्तने॥११०॥

१०९-११०। प॰ अनु॰—त्रिमल्लभट्ट श्री (रामानुज) सम्प्रदाय के परम विद्वान वैष्णव थे। इसलिये वे श्रीचैतन्य महाप्रभु के पाण्डित्य और भगवद् प्रेम को देखकर अत्यन्त आश्चर्य चकित हुए। इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्री सम्प्रदाय के वैष्णवों के साथ नृत्य-गीत और कृष्ण संकीर्तन करते हुए चातुर्मास्य व्यतीत किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

११०। चातुर्मास्य—आषाढ़ मास की शुक्ल द्वादशी से कार्तिक मास की शुक्ला द्वादशी पर्यन्त।

अनुभाष्य

११०। श्रीवैष्णवों के घर में प्रभु का चातुर्मास्य व्यतीत करना—मध्य नवम अध्याय की ८४-१६४ संख्या द्रष्टव्य।

श्रीरङ्गम के दक्षिण भाग में परमानन्द पुरी से मिलन—

चातुर्मास्यान्तरे पुनः दक्षिण गमन।
परमानन्दपुरी सह ताहाञि मिलन॥१११॥

१११। प॰ अनु॰—चातुर्मास्य पालन करने के बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पुनः दक्षिण भारत का भ्रमण करना प्रारम्भ किया और वहीं उनका श्रीपरमानन्द पुरी के साथ मिलन हुआ।

अनुभाष्य

१११। ताहाञि (अर्थात् वहीं पर)—ऋषभ पर्वत पर (मध्य नवम परिच्छेद १६७-१७३ संख्या और १६७ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य।

अपने साथी कृष्णदास का उद्धार, राम के सेवक को कृष्ण नाम में प्रवर्त्तन—

तबे भट्टथारि हइते कृष्णदासेर उद्धार।
रामजपी विप्रमुखे कृष्णनाम प्रचार॥११२॥

११२। प॰ अनु॰—दक्षिणदेश के मार्ग में श्रीमन् महाप्रभु ने भट्टथारियों से अपने साथ आये हुए सेवक काला कृष्णदास का उद्धार कराया और उसके बाद राम नाम का जप करनेवाले एक विप्र के मुख से कृष्णनाम का उच्चारण करवाया।

अमृतप्रवाह भाष्य

११२। रामजपी—जो विप्र राम नाम का जप कर रहा था।

अनुभाष्य

११२। भट्टथारि—यही वास्तविक शब्द है। मालावार प्रदेश में शुचि अभिमानी अर्थात् अपने शुद्ध, स्वच्छ और पवित्र होने का अभिमान करने वाले बहुत से नम्बुद्रि-ब्राह्मणों का वास है। यह भट्टथारि उनका पुरोहित्य करते हैं। इनकी मारण-उचाटन और वशीकरण प्रभृति तान्त्रिक याग-यज्ञों में पारदर्शिता (दक्षता) विख्यात है। प्रभु के साथी चञ्चल चित्त और कोमल मति वाले कृष्णदास नामक ब्राह्मण इन्हीं के ही चंगुल में पड़कर जीवों के एकमात्र धर्म महाप्रभु के सर्वोत्तमोत्तम दास्य को भूल गये थे। दीनों को तारने वाले प्रभु ने उसके केश पकड़कर उसे माया के दास्य से मुक्त कराके 'अहैतुकी-कृपासिन्धु' नाम की सार्थकता सम्पादित की थी। भट्टथारि शब्द ही लिपिकार-प्रमाद (लिखने के प्रमाद) के कारण बङ्गाली भाषा में (भूल से) 'भट्टमारि' हो गया है।

श्रीरङ्गपुरी के साथ मिलन, रावण के द्वारा माया सीता के हरण की कथा वर्णन कर रामदास नामक विप्र को सान्त्वाना—

श्रीरङ्गपुरी सह ताहाञि मिलन।
रामदास विप्रेर कैल दुःखविमोचन॥११३॥

११३। प० अनु०—उसके बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु का श्रीरङ्गपुरी के साथ मिलन हुआ और उन्होंने रामदास नामक विप्र के दुःख को दूर किया।

अनुभाष्य

११३। भट्टथारियों से कृष्णदास का उद्धार—मध्य नवम परिच्छेद २२६-२३३ संख्या द्रष्टव्य। राम सेवक विप्र पर कृपा—मध्य नवम परिच्छेद १८०-१९७, २०१-२१७ संख्या द्रष्टव्य।

तत्त्ववादी माधवमठाधीश के साथ विचार—

तत्त्ववादी सह कैल तत्त्वेर विचार।
आपनाके हीनबुद्धि हैल ताँ-सबार॥११४॥

११४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने तत्त्ववादी (श्रीमध्वसम्प्रदाय के मठाधीश) के साथ भगवद्-तत्त्व का विचार किया। (श्रीचैतन्य महाप्रभु के सुस्पष्ट विचारों को श्रवण करने के उपरान्त) सभी तत्त्ववादी अपने आपको निकृष्ट मानने लगे।

अनुभाष्य

११४। तत्त्ववादियों के गर्व का नाश—मध्य नवम परिच्छेद २४५-२७८ संख्या द्रष्टव्य। इन तत्त्ववादाचार्य का नाम उतरराडीमठाधीश श्रीरघुवर्य तीर्थ—मध्वाचार्य है।

विष्णुविग्रह का दर्शन—

अनन्त, पुरुषोत्तम, श्रीजनार्दन।
पद्मनाभ, वासुदेव कैल दरशन॥११५॥

११५। प० अनु०—तत्पश्चात् श्रीमन् महाप्रभु ने अनन्त, पुरुषोत्तम, श्रीजनार्दन, पद्मनाभ तथा वासुदेव नामक विष्णु-विग्रहों का दर्शन किया।

अनुभाष्य

११५। 'अनन्त पद्मनाभ'—त्रिवेन्द्रम जिला में स्वनाम प्रसिद्ध विष्णु-मन्दिर। 'श्रीजनार्द्दन'—त्रिवेन्द्रम जिले से छब्बीस मील उत्तर दिशा की ओर वर्काला स्टेशन के निकट विष्णु मन्दिर।

सप्तताल का उद्धार, रामेश्वर में
सेतुबन्ध नामक तीर्थ में स्नान—

तबे प्रभु कैल सप्तताल विमोचन।
सेतुबन्धे स्नान, रामेश्वर दरशन॥११६॥

११६। प० अनु०—तब श्रीमन् महाप्रभु ने सप्तताल (सात ताल के वृक्षों को आलिङ्गन कर उन) का उद्धार किया और रामेश्वर में सेतुबन्ध पर स्नान कर रामेश्वर नामक शिव का दर्शन किया।

अनुभाष्य

११६। सप्तताल-विमोचन—मध्य नवम परिच्छेद ३११-३१५ संख्या तथा सेतुबन्ध और रामेश्वर—मध्य नवम परिच्छेद २०० संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य।

रामेश्वर तीर्थ से कूर्मपुराण को लेकर
विप्र रामदास के दुःख का मोचन—

ताहाञि करिल कूर्मपुराण श्रवण।
मायासीता निलेक रावण, ताहाते लिखन॥११७॥
शुनिया प्रभुर आनन्दित हैल मन।
रामदास विप्रेर कथा हइल स्मरण॥११८॥
सेइ पुरातन पत्र आग्रह करि' निल।
रामदासे देखाइया दुःख खण्डाइल॥११९॥

११७-११९। प० अनु०—रामेश्वर में श्रीमन् महाप्रभु ने कूर्मपुराण श्रवण किया, जिसमें लिखा हुआ था—'रावण माया-सीता को ले गया था'। इस बात को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का मन बहुत आनन्दित हुआ और उन्हें रामदास विप्र का स्मरण हो आया। कुर्मपुराण के उस प्राचीन पृष्ठ को श्रीमन् महाप्रभु आग्रह पूर्वक अपने साथ ले आये और उन्होंने रामदास को वह पृष्ठ दिखाकर उसके दुःख को दूर किया।

अनुभाष्य

११७-११९। रामदास विप्र को 'कूर्म पुराण' पुराण पत्रार्पण मध्य नवम परिच्छेद पयार २०१-२१७ संख्या द्रष्टव्य।

'ब्रह्मसंहिता' और 'कर्णामृत' नामक दो ग्रन्थ को लाना—

ब्रह्मसंहिता, कर्णामृत, दुइ पूँथि पाञा।
दुइ पुस्तक लञा आइला उत्तम जानिञा॥१२०॥

१२०। प० अनु०—वहीं पर श्रीचैतन्य महाप्रभु को ब्रह्मसंहिता और कर्णामृत नामक दो ग्रन्थ प्राप्त हुए जिन्हें उत्तम ग्रन्थ जानकर वे अपने साथ ले आये।

अनुभाष्य

१२०। ब्रह्म संहिता—मध्य नवम परिच्छेद २३७-२४१ संख्या पयार और अनुभाष्य तथा कर्णामृत—मध्य नवम परिच्छेद ३०५-३०९, ३२३-३२५ संख्या द्रष्टव्य।

पुरी में वापिस लौटना और स्नान-यात्रा का दर्शन—

पुनरपि नीलाचले गमन करिल।
भक्तगणे मेलिया स्नानयात्रा देखिल॥१२१॥

१२१। प० अनु०—फिर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पुनः नीलाचल की ओर गमन किया तथा वहाँ पहुँचकर उन्होंने भक्तों के साथ मिलकर श्रीजगन्नाथ की स्नान यात्रा का दर्शन किया।

अनवसर के समय आलालनाथ
में जाना और वहाँ पर वास—

अनवसरे जगन्नाथ ना पाञा दरशन।
विरहे आलालनाथ करिला गमन॥१२२॥

१२२। प० अनु०—(स्नान यात्रा के पश्चात् १५ दिन तक जब श्रीजगन्नाथ के दर्शन नहीं होते, उस) अनवसर के समय श्रीमन् महाप्रभु श्रीजगन्नाथ के दर्शन नहीं कर पाने के कारण विरह में व्याकुल हो गये और जगन्नाथ पुरी से आलालनाथ चले गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२२। अनवसर—स्नान-यात्रा के बाद तथा 'नवयौवन' दर्शन के बीच वाले कुछेक दिन जगन्नाथजी के दर्शन नहीं होते। उस समय को 'अनवसर' कहते हैं।

अनुभाष्य

१२२। आलालनाथ—दूसरा नाम 'ब्रह्म गिरि'—पुरी से बालु से बने मार्ग पर लगभग चौदह मील पार करने पर श्रीमन्दिर स्थित है। आजकल यहाँ पर एक थाना और डाकघर वर्त्तमान है। (मध्य सप्तम परिच्छेद ५९ संख्या का अमृतप्रवाह भाष्य द्रष्टव्य)।

गौड़ीय भक्तों के
आगमन का श्रवण—

भक्तसङ्गे दिन कत ताहाञि रहिल।
गौड़ेर भक्त आइसे, समाचार पाइल॥१२३॥

१२३। प० अनु०—आलालनाथ में श्रीमन् महाप्रभु ने भक्तों के साथ कुछ दिन तक वास किया और वहीं पर उन्होंने गौड़देश के भक्तों के आने का समाचार प्राप्त किया।

प्रभु को पुरी में लाना—

नित्यानन्द-सार्वभौम आग्रह करिञा।
नीलाचले आइला महाप्रभुके लइञा॥१२४॥

१२४। प० अनु०—तब श्रीनित्यानन्द प्रभु और सार्वभौम भट्टाचार्य आग्रह अर्थात् अनुनय-विनय करके श्रीचैतन्य महाप्रभु को नीलाचल ले आये।

प्रभु का रात-दिन कृष्णविरह—

विरहे विह्वल प्रभु गोङाय रात्रि-दिने।
हेनकाले आइला गौड़ेर भक्तगणे॥१२५॥

१२५। प० अनु०—विरह में विह्वल होकर श्रीमन् महाप्रभु अपने रात-दिन व्यतीत करते रहे। ऐसे समय गौड़देश से भक्तगण वहाँ आ गये।

भक्तों के साथ कीर्त्तन—

सबे मिलि' युक्ति करि' कीर्तन आरम्भिल।
कीर्तन-आवेशे प्रभुर मन स्थिर हैल॥१२६॥

१२६। प० अनु०—तब सभी भक्तों ने आपस में परामर्श करके कीर्त्तन आरम्भ कर दिया और कीर्त्तन के आवेश में श्रीमन् महाप्रभु का मन स्थिर हो गया।

पूर्व में रामानन्द राय को
पुरी में आने की आज्ञा—

पूर्वे जबे प्रभु रामानन्देरे मिलिला।
नीलाचले आसिबारे ताँरे आज्ञा दिला॥१२७॥

१२७। प० अनु०—पहले दक्षिण यात्रा के समय जब श्रीमन् महाप्रभु श्रीरामानन्द राय से मिले थे तो उन्होंने श्रीरामानन्द राय को नीलाचल आने का आदेश दिया था।

राजा की आज्ञा से पुरी में आकर
प्रभु के साथ कृष्णकथा आलाप—

राज-आज्ञा लञा तिंहो आइला कत दिने।
रात्रि-दिने कृष्णकथा रामानन्दसने॥१२८॥

१२८। प० अनु—कुछ दिनों में ही राजा की आज्ञा लेकर श्रीरामानन्द राय नीलाचल आ गये और श्रीचैतन्य महाप्रभु रात-दिन उनके साथ कृष्ण की कथाओं की आलोचना करने लगे।

काशीमिश्र और प्रद्युम्नमिश्र एवं परमानन्द पुरी
और गोविन्द तथा काशीश्वर के साथ मिलन—

काशीमिश्रे कृपा, प्रद्युम्न मिश्रादि-मिलन।
परमानन्दपुरी-गोविन्द-काशीश्वरागमन॥१२९॥

१२९। प० अनु०—तत्पश्चात् काशीमिश्र पर कृपा कर श्रीचैतन्य महाप्रभु का प्रद्युम्न मिश्र आदि के साथ मिलन हुआ और बाद में परमानन्द पुरी, गोविन्द तथा काशीवर का आगमन हुआ।

श्रीस्वरूप दामोदर और शिखि-माहिति के साथ मिलन—

दामोदरस्वरूप-मिलने परम आनन्द।
शिखिमाहिति-मिलन, राय भवानन्द॥१३०॥

१३०। प० अनु०—श्रीस्वरूप दामोदर से मिलकर श्रीचैतन्य महाप्रभु परम आनन्दित हुए। शिखिमाहिति और राय भवानन्द के साथ भी महाप्रभु का मिलन हुआ।

अनुभाष्य

१२१-१३०। मध्य दशम परिच्छेद द्रष्टव्य।

गौड़देश से आये कुलीन
ग्रामवासियों के साथ मिलन—

गौड़ हैते सर्व वैष्णवेर आगमन।
कुलीनग्रामवासी-सङ्गे प्रथम मिलन॥१३१॥

१३१। प० अनु०—तब गौड़देश से सभी वैष्णवों का नीलाचल में आगमन हुआ। उस समय कुलीन ग्रामवासी भी श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शन करने के लिये वहाँ आये। श्रीचैतन्य महाप्रभु का कुलीनग्रामवासी भक्तों से यही प्रथम मिलन था।

खण्डवासी और शिवानन्द के साथ मिलन—

नरहरि दास आदि जत खण्डवासी।
शिवानन्दसेन-सङ्गे मिलिला सबे आसि'॥१३२॥

१३२। प॰ अनु॰—श्रीनरहरिदास आदि जितने खण्डवासी भक्त थे, सब श्रीशिवानन्दसेन के साथ आकर श्रीमन् महाप्रभु से मिले।

अनुभाष्य

१३१-१३२। मध्य एकादश परिच्छेद द्रष्टव्य।

भक्तों के साथ स्नानयात्रा-दर्शन और गुण्डिचा मार्जन—

स्नानयात्रा देखि' प्रभु सङ्गे भक्तगण।
सबा लञा कैला प्रभु गुण्डिचा मार्जन॥१३३॥

१३३। प॰ अनु॰—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सभी भक्तों को अपने साथ लेकर श्रीजगन्नाथदेव की स्नान यात्रा का दर्शन किया और (रथ-यात्रा से एक दिन पहले) सब भक्तों को साथ लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने गुण्डिचा मन्दिर का मार्जन किया।

अनुभाष्य

१३३। मध्य द्वादश परिच्छेद द्रष्टव्य।

रथ के आगे नृत्य-कीर्त्तन—

सबा-सङ्गे रथयात्रा कैल दरशन।
रथ-अग्रे नृत्य करि' उद्याने गमन॥१३४॥

१३४। प॰ अनु॰—सभी भक्तों के साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीजगन्नाथ रथयात्रा का दर्शन किया और रथ के आगे नृत्य करने के बाद उन्होंने (श्रीजगन्नाथ वल्लभ नामक) एक उद्यान में गमन किया।

प्रतापरुद्र पर कृपा—

प्रतापरुद्रेरे कृपा कैल सेइ स्थाने।
गौड़भक्ते आज्ञा दिल विदायेर दिने॥१३५॥

१३५। प॰ अनु॰—उसी उद्यान में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने राजा प्रतापरुद्र पर कृपा की और गौड़भक्तों को विदाई के दिन यह आज्ञा दी कि—

अनुभाष्य

१३४-१३५। मध्य त्रयोदश परिच्छेद में रथ के आगे नृत्य, चतुर्द्दश परिच्छेद में उद्यान-गमन और प्रतापरुद्र पर कृपा वर्णित है।

प्रति वर्ष गौड़ीय भक्तों को आमन्त्रण—

प्रत्यब्द आसिबे रथयात्रा-दरशने।
एइ छले चाहे भक्तगणेर मिलने॥१३६॥

१३६। प॰ अनु॰—'प्रति वर्ष श्रीजगन्नाथदेव की रथयात्रा के दर्शन करने के लिये आना'। ऐसा कहकर श्रीमन् महाप्रभु बहाने से अपने भक्तों से प्रतिवर्ष मिलना चाहते थे।

सार्वभौम के द्वारा प्रभु को भिक्षा देना, सार्वभौम के जामाता अमोघ का अपराध और उद्धार—

सार्वभौम-घरे प्रभुर भिक्षा-परिपाटी।
षाठीर माता कहे, जाते राण्डी हउक् षाठी॥१३७॥

१३७। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के घर में श्रीमन् महाप्रभु की भिक्षा-परिपाटी को देखकर सार्वभौम के जामाता अमोघ ने उनकी समालोचना की थी, जिसे सुनकर षाठी की माता अर्थात् श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य की पत्नी ने परोक्ष रूप से उसे अभिशाप देते हुए कहा था मेरी बेटी षाठी विधवा हो जाये अर्थात् अमोघ की मृत्यु हो जाये।

अनुभाष्य

१३७। मध्य पञ्चदश परिच्छेद द्रष्टव्य।

दूसरे वर्ष अद्वैतादि भक्तों का गौड़देश से आगमन—

वर्षान्तरे अद्वैतादि भक्तेर आगमन।
प्रभुरे देखिते सबे करिला गमन॥१३८॥

१३८। प॰ अनु॰—एक वर्ष के बाद जब श्रीअद्वैतादि भक्तों का नीलाचल में आगमन हुआ तब सभी (श्रीजगन्नाथदेव के दर्शन किये बिना ही) श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शन के लिये चल पड़े।

प्रभु के द्वारा सभी के वास स्थान
की व्यवस्था का सम्पादन—

आनन्दे सबारे निया देन वास-स्थान।
शिवानन्द सेन करे सबार पालन॥१३९॥

१३९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने स्वयं आनन्दपूर्वक सभी को साथ लेकर वास स्थान प्रदान किया और श्रीशिवानन्द सेन ने उनका पालन किया अर्थात् उन्हें जब जिस वस्तु की आवश्यकता पड़ती, वे उन्हें प्रदान करते।

शिवानन्द के साथ आये कुत्ते का प्रभु के
चरण दर्शन करने के पश्चात् अन्तर्ध्यान—

शिवानन्द सङ्गे आइला कुक्कुर भाग्यवान्।
प्रभुर चरण देखि' कैल अन्तर्धान॥१४०॥

१४०। प० अनु—श्रीशिवानन्दसेन के साथ नीला-चल आने वाला एक अति सौभाग्यशाली कुत्ता श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों का दर्शन करने के बाद अन्तर्धान हो गया।

पुरी की ओर आने वाले भक्तों का बीच में ही काशी
की ओर जाने वाले सार्वभौम के साथ मिलन—

पथे सार्वभौम सह सबार मिलन।
सार्वभौम भट्टाचार्येर काशीते गमन॥१४१॥

१४१। प० अनु—एक समय जब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य काशी में जा रहे थे तो मार्ग में गौड़देश से नीलाचल आने वाले सभी भक्तों का उनसे मिलन हुआ।

भक्तों के साथ जल क्रीड़ा—

प्रभुरे मिलिला सर्व वैष्णव आसिया।
जलक्रीड़ा कैल प्रभु सबारे लइया॥१४२॥

१४२। प० अनु—सब वैष्णव जगन्नाथ पुरी आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिले और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सबको अपने साथ ले जाकर जलक्रीड़ा की।

रथ के आगे नृत्य और गुण्डिचा-मार्जन—

सबा लञा कैल गुण्डिचा-गृह-संमार्जन।
रथयात्रा-दरशने प्रभुर नर्तन॥१४३॥

१४३। प० अनु०—सब भक्तों को लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने गुण्डिचा मन्दिर की भलीभाँति सफाई की और रथयात्रा को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने नृत्य किया।

विप्रलम्भ भावमय प्रभु का विलास—

उपवने कैल प्रभु विविध विलास।
प्रभुर अभिषेक कैल विप्र कृष्णदास॥१४४॥

१४४। प० अनु०—उपवन में जाकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने विविध लीला-विलास किये और कृष्णदास नामक एक ब्राह्मण ने श्रीचैतन्य महाप्रभु का अभिषेक किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४४। उपवन—जिस रास्ते से रथ गुण्डिचा मन्दिर जाता है, उसका नाम बड़दाँड है। उस रास्ते के दोनों ओर जो सब उद्यान हैं, उसे ही 'उपवन' कहा गया है।

नृत्य के अन्त में जलकेलि
और हेरा-पञ्चमी—

गुण्डिचाते नृत्य-अन्ते कैल जलकेलि।
हेरा-पञ्चमी देखिल लक्ष्मीदेवीर केली॥१४५॥

१४५। प० अनु०—गुण्डिचा में नृत्य करने के बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु ने (भक्तों के साथ इन्द्रद्युम्न सरोवर में) जलकेलि की और हेरा पञ्चमी के दिन उन्होंने लक्ष्मीदेवी की लीला का दर्शन किया।

कृष्ण जन्माष्टमी
पर गोप लीला—

कृष्णजन्म-यात्राते प्रभु गोपवेश हैला।
दधिभार वहि' तबे लगुड फिराइला॥१४६॥

१४६। प॰ अनु॰—कृष्ण जन्माष्टमी पर श्रीमन् महाप्रभु ने गोपवेश धारण किया और दधि की मटकी को सिर पर धारण कर लाठी घुमाने लगे।

गौड़ीय भक्तों को विदाई देना—

गौड़ेर भक्तगणे तबे करिल विदाय।
सङ्गेर भक्त लञा करे कीर्तन सदाय॥१४७॥

१४७। प॰ अनु॰—तब श्रीमन् महाप्रभु ने गौड़देश के भक्तों को विदाई दी और अपने साथी भक्तों को लेकर निरन्तर कीर्त्तन करने लगे।

वृन्दावन ना जाकर गौड़ जाते समय
प्रतापरुद्र के द्वारा प्रभु की सेवा—

वृन्दावन जाइते कैल गौड़ेरे गमन।
प्रतापरुद्र कैल पथे विविध सेवन॥१४८॥

१४८। प॰ अनु॰—नीलाचल से वृन्दावन की ओर जाते हुए जब श्रीमन् महाप्रभु गौड़देश में गये तब महाराज प्रतापरुद्र ने मार्ग में उनकी अनेक प्रकार की सेवा की।

प्रभु के साथ-साथ श्रीरामानन्द
राय का भद्रक तक आगमन—

पुरीगोसाञि-सङ्गे वस्त्रप्रदान-प्रसङ्ग।
रामानन्द राय आइला भद्रक पर्यन्त॥१४९॥

१४९। प॰ अनु॰—गौड़देश से वृन्दावन जाने के मार्ग में श्रीचैतन्य महाप्रभु का पुरी गोसाञि के साथ वस्त्र विनिमय हुआ था। श्रीरामानन्द राय श्रीचैतन्यदेव के साथ भद्रक तक गये थे।

गौड़देश के विद्यानगर में आगमन—

आसि' विद्यावाचस्पतिर गृहेते रहिला।
प्रभुरे देखिते लोकसंघट्ट हइला॥१५०॥

१५०। प॰ अनु॰—गौड़देश में आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु विद्यावाचस्पति के घर पर रहे थे। प्रभु के दर्शन के लिये बहुत भीड़ एकत्रित हुई थी।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५०। वृन्दावन जाने के समय गौड़मण्डल आकर विशारद के पुत्र अर्थात् सार्वभौम के भाई विद्यावाचस्पति के घर अर्थात् विद्यानगर में प्रभु रहे।

कुलिया आगमन—

पञ्चदिन देखे लोक नाहिक विश्राम।
लोकभये रात्रे प्रभु आइला कुलिया-ग्राम॥१५१॥

१५१। प॰ अनु॰—विद्यानगर में पाँच दिन तक इतने अधिक लोग श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शन के लिये आये कि महाप्रभु को विश्राम करने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये लोगों की भीड़ के भय से प्रभु रात में ही कुलिया नामक ग्राम आ गये थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५१। विद्यानगर में पाँच दिन रहकर अनेक लोगों के समागम को देखकर प्रभु रात्रि के समय कुलिया ग्राम में आ गये। श्रीचैतन्य भागवत के अन्त्य खण्ड, तृतीय अध्याय में लिखा है—

"गङ्गा प्रति महा-अनुराग बाड़ाइया। अतिशीघ्र गौड़देशे आइला चलिया॥ सार्वभौम-भ्राता 'विद्या वाचस्पति' नाम। *** आचम्बिते आसि' उतरिला तार घर॥ नवद्वीप आदि सर्वदिके हैल ध्वनि। वाचस्पति घरे आइलेन न्यासि मणि॥ कुलियाय आइलेन वैकुण्ठ-ईश्वर। *** सबे गङ्गा मध्ये नदीयाय कुलियाय। शुनिमात्र सर्वलोके महानन्दे धाय॥"

चैतन्यभागवत के इस अध्याय का लोचनदास ठाकुर के द्वारा किये गये वर्णन के साथ पाठ करने से यह स्पष्ट बोध होगा कि वर्त्तमान समय में 'नवद्वीप' के नाम से जो स्थान प्रसिद्ध है, वही प्राचीन नवद्वीप के दूसरी ओर स्थित आज का कुलिया ग्राम है। उसी स्थान पर ही देवानन्द पण्डित, गोपाल-चापाल एवं अन्यान्य कुछेक व्यक्तियों का अपराध दूर हुआ था। उस समय विद्यानगर से कुलिया आने के लिये गङ्गा की एक धारा को पार

करना पड़ता था तथा कुलिया से नवद्वीप जाने के लिये मूल भागीरथी को पार करना पड़ता है। अभी भी इन सभी स्थानों को देखने से यह प्रतीत होता है कि तब के कुलिया ग्राम में 'चिनाडांगा' प्रभृति पल्ली तथा 'कुलियार गञ्ज' जिसको अब 'कोलेर गञ्ज' कहते हैं, वह समस्त भूमि तब की कुलिया के अवशेष के अंश के रूप में विद्यमान है।

प्रभु के दर्शन के लिये लोगों की भीड़—

कुलिया-ग्रामेते प्रभुर शुनिया आगमन।
कोटि कोटि लोक आसि' कैल दरशन॥१५२॥

१५२। प॰ अनु॰—कुलिया ग्राम में श्रीमन् महाप्रभु के आगमन की बात को सुनकर करोड़ो-करोड़ो लोगों ने आकर प्रभु के दर्शन किये थे।

कुलिया में देवानन्द और चापाल गोपाल के अपराध का भञ्जन—

कुलिया-ग्रामे कैल देवानन्देरे प्रसाद।
गोपाल-विप्रेरे क्षमाइल श्रीवासापराध॥१५३॥
पाषण्डी निन्दक आसि' पड़िला चरणे।
अपराध क्षमि' तारे दिल कृष्णप्रेमे॥१५४॥

१५३-१५४। प॰ अनु॰—कुलिया ग्राम में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने देवानन्द पण्डित पर कृपा की और गोपाल चापाल नामक विप्र के श्रीवास के प्रति किये गये अपराध को दूर किया। बहुत से पाषण्डी और निन्दुक आकर प्रभु के चरणों में पड़ गये थे और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भी उनके अपराध को क्षमा करके उन्हें कृष्णप्रेम प्रदान किया था।

अनुभाष्य

१५३। चापाल गोपाल का उद्धार—आदि सप्तदश परिच्छेद की ५५-५९ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु की व्रज यात्रा को श्रवण कर नृसिंहानन्द द्वारा किये गये ध्यान में कानाई नाटशाला तक मार्ग-सजाना और रत्नों के द्वारा उसे जड़ना—

वृन्दावन जाबेन प्रभु शुनि' नृसिंहानन्द।
पथ साजाइल मने करिया आनन्द॥१५५॥
कुलिया नगर हैते पथ रत्ने बान्धाइल।
निवृन्त पुष्पशय्या उपरे पातिल॥१५६॥
पथे दुइदिके पुष्पबकुलेर श्रेणी।
मध्ये मध्ये दुइपाशे दिव्य पुष्करिणी॥१५७॥
रत्नबन्ध घाट ताहे प्रफुल्ल कमल।
नाना पक्षि-कोलाहल, सुधा-सम जल॥१५८॥
शीतल समीर बहे नाना गन्ध लञा।
'कानाइर नाटशाला' पर्यन्त लैल बाधिञा॥१५९॥
आगे मन नाहिं चले, ना पारे बान्धिते।
पथबान्धा ना जाय, नृसिंह हैल विस्मिते॥१६०॥

१५५-१६०। प॰ अनु॰—जब नृसिंहानन्द ने सुना कि श्रीचैतन्य महाप्रभु वृन्दावन जायेंगे तो वे आनन्दपूर्वक मन-ही-मन श्रीचैतन्य महाप्रभु के जानेवाले मार्ग को सजाने लगे। उन्होंने कुलिया नगर से मार्ग को पहले रत्नों के द्वारा बनाया और बाद में उसको वृन्तहीन अर्थात् बूँटे के बिना केवल पुष्पों की पखुड़ियों से ढ़क दिया। मार्ग के दोनों ओर उन्होंने पुष्पों से लदे हुए (सुगन्धित और छायादार) बकुल के वृक्षों को पक्तियों में लगा दिया और बीच-बीच में दोनों ओर दिव्य सरोवरों का निर्माण कर दिया। उन सरोवरों के घाट रत्नों से जड़े हुए थे तथा उनमें सुन्दर कमल के पुष्प खिले हुए थे। उन सरोवरों के इर्द-गिर्द अनेक पक्षी कोलाहल कर रहे थे तथा उन सरोवरों का जल अमृत के समान था। पूरे मार्ग में शीतल वायु अनेक प्रकार की सुगन्ध के साथ प्रवाहित हो रही थी। इस प्रकार नृसिंहानन्द ने मानसिक चिन्तन के द्वारा कानाई नाटशाला तक मार्ग को बना लिया। परन्तु नृसिंहानन्द यह देखकर विस्मित होने लगे कि इसके आगे उनका चिन्तन नहीं हो पा रहा था जिसके कारण मार्ग भी नहीं बन पा रहा था।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६०-१६२। जिस समय यह बात हुई कि महाप्रभु कुलिया से वृन्दावन जायेंगे, उस समय उनके परमभक्त

श्रीनृसिंहानन्द ने ध्यान में कुलिया से वृन्दावन तक का मार्ग बनाना आरम्भ किया। गौड़देश के निकटवर्ती 'कानाई नाटशाला' तक वह पथ बन गया, किन्तु बाद में उनके चित्त के विचलित होने से ध्यान भङ्ग हो गया। ऐसा देखकर नृसिंहानन्द ने कहा—इस बार महाप्रभु केवल कानाई नाटशाला तक जायेंगे, वृन्दावन तक नहीं जायेंगे।

नृसिंहानन्द की भविष्यवाणी—

निश्चय करिया कहि, शुन भक्तगण।
एबार ना जाबेन प्रभु श्रीवृन्दावन॥१६१॥
'कानाञिर नाटशाला' हैते आसिब फिरिञा।
जानिबे पश्चात्, कहिलुँ निश्चय करिञा॥१६२॥

१६१-१६२। प० अनु०—तब श्रीनृसिंहानन्द ने भक्तों को कहा—"मैं निश्चित रूप से कह रहा हूँ कि इस बार श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीवृन्दावन नहीं जायेंगे। कानाई नाटशाला से ही श्रीचैतन्य महाप्रभु वापिस लौट आयेंगे, आप सभी बाद में इस बात को जान पायेंगे, मैंने ऐसा दृढ़ निश्चय करके ही कहा है।

अनुभाष्य

१६२। कानाई नाटशाला—कलकत्ता से दो सौ दो मील ई, आई, आर लूप लाइन पर 'तिन पाहाड़' स्टेशन पर उतरकर वहाँ से शाखा-लाइन पर राजमहल स्टेशन से प्राय छह मील दूर अवस्थित। (तालझाड़ि से दो मील)।

प्रभु की कुलिया से वृन्दावन की यात्रा—

गोसाञि कुलिया हैते चलिला वृन्दावन।
सङ्गे सहस्रेक लोक जत भक्तगण॥१६३॥

१६३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु जब कुलिया से वृन्दावन की ओर जाने लगे तो उनके साथ हजारों-हजारों भक्त लोग चलने लगे।

प्रभु के दर्शन के लिये असंख्य लोगों का एकत्रित होना—

जाँहा जाय प्रभु, ताँहा कोटिसंख्य लोक।
देखिते आइसे, देखि' खण्डे दुःख-शोक॥१६४॥
जाँहा जाँहा प्रभुर चरण पड़ये चलिते।
से मृत्तिका लय लोक, गर्त हय पथे॥१६५॥

१६४-१६५। प० अनु०—जहाँ-जहाँ श्रीचैतन्य महाप्रभु जाते वहीं करोड़ो-करोड़ो लोग उनके दर्शन के लिये आ जाते और प्रभु के दर्शन से उनका दुःख-शोक दूर हो जाता। मार्ग में चलते हुए जहाँ-जहाँ श्रीमन् महाप्रभु के चरणकमल पड़ते, लोग उस-उस स्थान की रज लेने लगते, देखते-ही-देखते वह स्थान गड्ढा बन जाता।

रामकेलि में आगमन—

ऐछे चलि' आइला प्रभु 'रामकेलि' ग्राम।
गौड़ेर निकट ग्राम अति अनुपम॥१६६॥
ताँहा नृत्य करे प्रभु प्रेमे अचेतन।
कोटि कोटि लोक आइसे देखिते चरण॥१६७॥

१६६-१६७। प० अनु०—इस प्रकार चलते-चलते श्रीचैतन्य महाप्रभु 'रामकेलि' ग्राम में पहुँचे। यह ग्राम गौड़देश के निकट है और अति अतुलनीय है। वहाँ पर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कृष्णप्रेम में अचेतन अर्थात् बाहरी सुध-बुध खोकर नृत्य किया था। उनके श्रीचरणकमलों का दर्शन करने के लिये करोड़ो-करोड़ो लोग आये थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६६। रामकेलिग्राम,—गौड़देश के निकट गङ्गा के तट पर रामकेलिग्राम है, वहाँ पर श्रीरूप-सनातन का तत्कालीन वास स्थान था।

बादशाह के द्वारा अपने कर्मचारियों को प्रभु के यथेच्छा गमन में बाधा प्रदान करने हेतु निषेधाज्ञा प्रदान—

गौड़ाध्यक्ष यवन-राजा प्रभाव शुनिञा।
कहिते लागिल किछु विस्मित हञा॥१६८॥
बिना दाने एत लोक जाँर पाछे हय।
सेइ त' गोसाञा, इहा जानिह निश्चय॥१६९॥
काजी, यवन इहार ना करिह हिंसन।
आपन-इच्छाय बुलुन, जाँहा उँहार मन॥१७०॥

१६८-१७०। प० अनु०—गौड़देश के यवन राजा

ने जब श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रभाव के विषय में सुना तो वह विस्मित होकर इस प्रकार कहने लगा—"किसी प्रकार की जागतिक वस्तु को ही न प्रदान करने वाले जिस व्यक्ति के पीछे इतने लोग जा रहे हैं वह कोई 'गोसाईं' अर्थात् महापुरुष हैं यह निश्चय जान लो।" इसलिये यवन राजा ने काजी और सभी मुसलमानों को आदेश दिया कि—"इन महापुरुष के प्रति किसी भी प्रकार की हिंसा मत करना। इनको इनकी इच्छानुसार अर्थात् जहाँ इनकी प्रसन्नता हो, वहाँ विचरण करने दो।"

अमृतप्रवाह भाष्य

१६८। गौड़ाध्यक्ष यवनराजा,—हुसैन शाह बादशाह।

क्षत्रिय केशव की प्रभु के कल्याण की इच्छा तथा उसके अनुसार ही बादशाह को प्रबोध प्रदान करना—

केशव-छत्रीरे राजा वार्त्ता पूछिल।
प्रभुर महिमा छत्री उड़ाइया दिल॥१७१॥
भिखारी संन्यासी करे तीर्थ पर्यटन।
ताँरे देखिबारे आइसे दुइ चारिजन॥१७२॥
यवने तोमार ठाञि करये लागानि।
ताँर हिंसाय लाभ नाहि, हय आर हानि॥१७३॥

१७१-१७३। प० अनु०—यवन राजा ने (अपने एक विश्वसनीय हिन्दु कर्मचारी) केशव छत्री से जब श्रीचैतन्य महाप्रभु के सम्बन्ध में पूछा तो उसने प्रभु की महिमा को छिपाते हुए कहा—"वे एक साधारण भिक्षुक संन्यासी है, भिक्षा करते-करते तीर्थ भ्रमण कर रहे हैं। और उन्हें देखने के लिये केवल दो-चार लोग ही आते हैं। आपके यवन कर्मचारी हिंसा के कारण उनके विरुद्ध कुप्रचार कर रहे हैं। किन्तु उनके प्रति हिंसा करने से कोई लाभ नहीं होगा बल्कि हानि ही होगी।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७१। यद्यपि क्षत्रिय केशव महाप्रभु के तत्त्व से अवगत था, (तथापि मन में ऐसा विचार करके कि) बाद में बादशाह कहीं महाप्रभु के बारे में पूछते-पूछते उनसे शत्रुता करनी आरम्भ न कर दे,—इसी आशङ्का से उसने बादशाह की बात को आगे नहीं बढ़ाया।

गुप्तचर के द्वारा प्रभु को अन्य स्थान पर चले जाने का आदेश—

राजारे प्रबोधि' केशव, ब्राह्मण पाठाञा।
चलिबार तरे प्रभुके कहिल याञा॥१७४॥

१७४। प० अनु०—इस प्रकार राजा को समझा कर केशव छत्री ने एक ब्राह्मण को श्रीमन् महाप्रभु के पास भेजकर अनुरोध करवाया कि वे यहाँ से अन्य स्थान पर चले जायें।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७४। राजा को इस प्रकार भलीभाँति प्रबोधित करके सैनिक कर्मचारी केशव ने ब्राह्मण को भेजकर प्रभु को स्थान छोड़ने के लिये अनुरोध किया।

श्रीरूप से प्रभु के विषय में बादशाह की जिज्ञासा—

दबिर खासेरे राजा पूछिल निभृते।
गोसाञिर महिमा तिंहो लागिल कहिते॥१७५॥

१७५। प० अनु०—तब यवन राजा ने दबीर खास (श्रीरूप गोस्वामी) से एकान्त में श्रीचैतन्य महाप्रभु के सम्बन्ध में जिज्ञासा की और दबीर खास प्रभु की महिमा को सुनाने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७५। दबीर खास,—श्रीरूप गोस्वामी का तत्का-लीन यवन राजा द्वारा प्रदान किया गया नाम।

श्रीरूप द्वारा प्रभु के माहात्म्य का कीर्त्तन—

जे तोमारे राज्य दिल, जे तोमार गोसाञा।
तोमार देशे तोमार भाग्ये जन्मिला आसिञा॥१७६॥
तोमार मङ्गल वाञ्छे, वाक्य सिद्ध हय।
इहार आशीर्वादे तोमार सर्वत्रइ जय॥१७७॥

१७६-१७७। प० अनु०—श्रीरूप गोस्वामी कहने लगे—"जिन्होंने आपको राज्य प्रदान किया है और जो आपके ईश्वर हैं, आपके ही देश में जन्म ग्रहण करके वे

ही आज आपके सौभाग्य से आपके देश में आये हैं।" श्रीरूप गोस्वामी और कहने लगे—"वे आपके मङ्गल की इच्छा करते हैं उनके द्वारा कहे गये वचन सदैव सत्य होते हैं। उनके आशीर्वाद से आपकी सर्वत्र जय होती है।"

बादशाह की प्रशंसा—

मोरे केन पूछ, तुमि पूछ आपन-मन।
तुमि नराधिप हओ विष्णु-अंश सम॥१७८॥
तोमार चित्ते चैतन्येरे कैछे हय ज्ञान।
तोमार चित्ते जेइ लय, सेइ त' प्रमाण॥१७९॥

१७८-१७९। प॰ अनु॰—श्रीरूप गोस्वामी यवन राजा से कहने लगे—"मुझसे क्यों पूछते हो? आप अपने मन से ही पूछो। आप स्वयं राजा हो और राजा विष्णु के अंश के समान होता है।" आपके चित्त में श्रीचैतन्य महाप्रभु के विषय में क्या ज्ञान होता है? आपके चित्त में उनके सम्बन्ध में जो कुछ विचार आता है, वही वास्तविक प्रमाण है।

अनुभाष्य

१७८। "महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति"—मनुसंहिता।

बादशाह का प्रभु को ईश्वर के रूप में ज्ञान—

राजा कहे, शुन, मोर मने जेइ लय।
साक्षात ईश्वर, इहाँ नाहिक संशय॥१८०॥
एत कहि' राजा गेला निज अभ्यन्तरे।
तबे दबिर खास आइला आपनार घरे॥१८१॥

१८०-१८१। प॰ अनु॰—राजा कहने लगा—"सुनो! मेरे मन में जो है वे यह है कि ये साक्षात् ईश्वर ही हैं इसमें मुझे कोई भी संशय नहीं है।" इतना कहकर राजा अपने अन्तःपुर में चला गया और दबिर खास (श्रीरूप गोस्वामी) अपने घर लौट आये।

श्रीरूप-सनातन का परामर्श—

घरे आसि' दुइ भाई युकति करिञा।
प्रभु देखिबारे चले वेश लुकाञा॥१८२॥

१८२। प॰ अनु॰—घर आकर श्रीरूप और श्रीसनातन दोनों भाईयों ने परमार्श किया कि वे अपना वेश बदल कर श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शन के लिये जायेंगे।

दोनों का प्रभु के दर्शन के लिये जाना और सबसे पहले श्रीनिताई और हरिदास के साथ मिलन—

अर्धरात्रे दुइ भाई आइला प्रभु-स्थाने।
प्रथमे मिलिला नित्यानन्द-हरिदास सने॥१८३॥

१८३। प॰ अनु—आधी रात को दोनों भाई श्रीचैतन्य महाप्रभु के स्थान पर पहुँच गये और सबसे पहले श्रीनित्यानन्द और श्रीहरिदास से उनका साक्षात्कार हुआ।

प्रभु को उनके आगमन के संवाद की प्राप्ति—

ताँरा दुइ जन जानाइला प्रभुर गोचरे।
रूप, साकरमल्लिक आइला तोमा' देखिबारे॥१८४॥

१८४। प॰ अनु॰—तब श्रीनित्यानन्द प्रभु और श्रीहरिदास ठाकुर ने श्रीमन् महाप्रभु को बताया कि रूप और साकरमल्लिक (श्रीसनातन) आपके दर्शन के लिये आये हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१८४। साकर मल्लिक,—जिस प्रकार श्रीरूप का नाम 'दबीरखास' हुआ था, श्रीसनातन का भी उस समय राजा द्वारा प्रदान किया गया नाम 'साकर मल्लिक' प्रसिद्ध था।

दोनों के दैन्य के विषय में वर्णन—

दुइ गुच्छ तृण दुँहे दशने धरिञा।
गले वस्त्र बान्धि' पड़े दण्डवत् हञा॥१८५॥
दैन्य रोदन करे, आनन्दे विह्वल।
प्रभु कहे,—उठ, उठ, हइल मङ्गल॥१८६॥

१८५-१८६। प॰ अनु॰—श्रीरूप और श्रीसनातन दोनों दाँतों में तृण लेकर तथा गले में वस्त्र लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को दण्डवत् प्रणाम करने लगे और दीनतापूर्वक रोते हुए आनन्द में विह्वल हो गये। तब श्रीचैतन्य महाप्रभु

ने कहा—"उठो! उठो! तुम्हारा मङ्गल हुआ है।"

श्रीरूप-सनातन का दैन्य और स्तव—

उठि' दुइ भाइ तबे दन्ते तृण धरि'।
दैन्य करि' स्तुति करे करजोड़ करि'॥१८७॥
जय जय श्रीकृष्णचैतन्य दयामय।
पतितपावन जय, जय महाशय॥१८८॥
नीच-जाति, नीच-सङ्गी, करि नीच काज।
तोमार अग्रेते प्रभु कहिते वासि लाज॥१८९॥

१८७-१८९। प॰ अनु॰—प्रभु के वाक्य सुनकर दोनों भाई उठे और दाँतों में तृण लेकर दैन्यपूर्वक हाथ जोड़कर श्रीमन् महाप्रभु की स्तुति करने लगे—"दयामय श्रीकृष्णचैतन्य की जय हो, जय हो, पतितपावन महाशय की जय हो जय हो। हम नीच जाति के हैं, नीच व्यक्तियों का सङ्ग करने वाले तथा हमारा कार्य भी नीच (निम्न-कोटि) का है। इसलिये आपके आगे अपना परिचय देने में हमें लज्जा आती है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१८९। जो सभी नीच लोग नीच जाति में जन्में हैं, उनके सङ्गी अर्थात् उनके सेवा रूपी नीच कार्यों को करते हैं।

अनुभाष्य

१८९। नीचजाति—पवित्र कर्णाट-ब्राह्मणकुल में उत्पन्न, दीनता के कारण ऐसी उक्ति। जन्म तीन प्रकार के होते हैं—शौक्र, सावित्र्य और दैक्ष्य। वृत अथवा स्वभाव नीच व्यक्तियों के सङ्ग से नीच होता है। "म्लेच्छजाति, म्लेच्छसेवी करि म्लेच्छ कर्म। गोब्राह्मण-द्रोही सङ्गे आमार सङ्गम॥" भागवत सप्तम स्कन्ध में कहे गये आदेशानुसार—"यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्ज-कम्। यदन्यत्रापि दृश्यते तत्तेनैव विनिर्दिशेत्।" यवन राजा की सेवक वृत्ति हेतु अपने को नीच-जाति का कहा। ब्रह्म वृत्ति रहित नीच जाति की नीच शूद्र वृत्ति को धिक्कार देने के लिये, अपने आपको उस जाति का कहा। भक्तिरत्नाकार की प्रथम तरङ्ग में—"नीचजाति सङ्गे सदा नीच व्यवहार। ऐई हेतु नीच जात्यादिक उक्ति ताँर॥

(भः रः सिः पूः विः साधनभक्तिलहरी १५४ अध्याय में उद्धृत)—

मत्तुल्यो नास्ति पापात्मा नापराधी च कश्चन।
परिहारेऽपि लज्जा मे किं ब्रुवे पुरुषोत्तम॥१९०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९०। मेरे समान पापी नहीं है, मेरे समान अपराधी भी नहीं है। हे पुरुषोत्तम, मेरे द्वारा किये गये पापों और अपराधों का उल्लेख करके उनके लिये क्षमा याचना करने में भी मुझे लज्जा आ रही है।

अनुभाष्य

१९०। हे पुरुषोत्तम, (पुरुषश्रेष्ठ) मतुल्यः कश्चित् पापात्मा (पापी) नास्ति, कश्चन् अपराधी न (नास्ति); परिहारे (अपराधक्षमापण विषये) अपि मे (मम) लज्जा (व्रीड़ात्मकः सङ्कोचः), (अतः अहं) किं ब्रुवे (कथ-यामि—मम प्रार्थनावसरोऽपि नास्ति इत्यर्थः)।

पतित-पावन-हेतु तोमार अवतार।
आमा-वइ जगते, पतित नाहि आर॥१९१॥

१९१। प॰ अनु॰—"पतितों का उद्धार करने के लिये ही आपका अवतार हुआ है। हमारे समान पतित इस जगत में और कोई नहीं है।

जगाई-मधाई की अपेक्षा अपने को अधिक हीन और पापी समझना—

जगाई-माधाई—दुइ करिले उद्धार।
ताँहा उद्धारिते श्रम नहिल तोमार॥१९२॥
ब्राह्मण जाति तारा, नवद्वीपे घर।
नीच-सेवा नाहि करे, नहे नीचेर कूर्पर॥१९३॥

१९२-१९३। प॰ अनु॰—(श्रीरूप गोस्वामी कह रहे हैं—) आपने जगाई और माधाई का उद्धार किया है, किन्तु उनके उद्धार में आपका कुछ भी परिश्रम नहीं

हुआ। क्योंकि वे दोनों ब्राह्मण कुल के थे तथा उनका घर नवद्वीप में था। इस पर भी उन्होंने कभी कोई नीच सेवा नहीं की और न ही वे नीच व्यक्तियों के द्वारा पालित थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९२-१९५। जगाई और माधाई का उद्धार करने में आपका अधिक परिश्रम नहीं हुआ। हम उनसे भी अधिक अधम हैं, हमारा उद्धार करना ही विशेष कार्य है। जगाई-माधाई अपतित ब्राह्मण जाति के थे एवं महातीर्थ नवद्वीप में उनका वासस्थान था। हमारी भाँति उन्होंने कभी भी नीच लोगों की सेवा नहीं की, और न ही वे नीच लोगों के द्वारा पालित थे; वे केवल पापाचारी थे। सभी पाप आपके नामाभास से ही दग्ध हो जाते हैं, उन्होंने आपका नाम लेकर आपकी निन्दा की थी, इसलिये वही नाम ही उनके पापों से मुक्ति का कारण बन गया था।

अनुभाष्य

१९३। यद्यपि जगाई-माधाई पापाचारी थे, तथापि नीच व्यक्तियों के सेवक बनकर तथा अपने (अर्थात् आत्म-सम्मान को) आपको बेचकर उन्हें अपने मालिक के लिये निन्दनीय कार्य नहीं करने पड़े। हम उनसे भी अधिक घृणा योग्य हैं, क्योंकि हम नीच व्यक्तियों द्वारा पालित हैं। हमें अवलम्बन करके ही मालिक (बादशाह) महाशय नीच कार्य करवाता है।

नामाभास के द्वारा ही उनका पापनाश और उद्धार—

सबे एक दोष तार, हय पापाचार।
पापराशि दहे नामाभासेइ तोमार॥१९४॥
तोमार नाम लञा तोमार करिल निन्दन।
सेइ नाम हइल तार मुक्तिर कारण॥१९५॥

१९४-१९५। प० अनु०—उनमें (जगाई और माधाई) केवल पाप आचरण का ही दोष था, परन्तु समस्त पाप तो आपके नामाभास से ही नष्ट हो जाते हैं। आपका नाम लेते हुए उन्होंने आपकी निन्दा की थी, फलस्वरूप वही नाम ही उनकी मुक्ति का कारण बन गया।

अनुभाष्य

१९५। साधु निन्दा करने से अपराध होता है। विष्णु-निन्दा से उत्पन्न अपराध नाम ग्रहण करने से नष्ट होता है।

जगाई-माधाई से भी अपने को अधम मानने की उक्ति—

जगाई-माधाई हैते कोटि कोटि गुण।
अधम पतित पापी आमि दुइ जन॥१९६॥
म्लेच्छजाति, म्लेच्छसङ्गी, करि म्लेच्छकर्म।
गो-ब्राह्मण-द्रोहि-सङ्गे आमार सङ्गम॥१९७॥

१९६-१९७। प० अनु०—हम दोनों जगाई और माधाई से करोड़ो-करोड़ो गुणा अधिक अधम, पतित और पापी हैं। हम म्लेच्छजाति के, म्लेच्छसङ्गी और म्लेच्छों जैसा कार्य करने वाले हैं। गैयाओं और ब्राह्मणों के द्रोहियों का ही हम सङ्ग करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९७। म्लेच्छ दो प्रकार के होते हैं, अर्थात् जन्म द्वारा म्लेच्छ और सङ्ग द्वारा म्लेच्छ। जन्म से ही जो म्लेच्छ होते हैं, हम उन म्लेच्छों के सङ्गी हैं। पतित होकर अनेक प्रकार के म्लेच्छ व्यवहार किये हैं, विशेष करके गो-ब्राह्मण द्रोही जो सब म्लेच्छ हैं, उनके साथ हमारा सङ्ग है।

अति कातर स्वर से दोनों का दैन्य-विलाप—

मोर कर्म, मोर हाते-गलाय बान्धिञा।
कुविषयविष्ठा-गर्ते दियाछे फेलिया॥१९८॥
आमा उद्धारिते बली नाहि त्रिभुवने।
पतितपावन तुमि—सबे तोमा बिने॥१९९॥
आमा उद्धारिया यदि राख निज-बल।
'पतितपावन' नाम तबे से सफल॥२००॥
सत्य एक बात कहों, शुन, दयामय।
मो-बिनु दयार पात्र जगते ना हय॥२०१॥

मोरे दया करि' कर सदय (स्वदया) सफल।
अखिल ब्रह्माण्ड देखुक तोमार दया-बल॥२०२॥

१९८-२०२। प० अनु०—पूर्व-पूर्व जन्मों में किये गये हमारे कर्मों ने हमारे हाथ और गले को बाँधकर हमें कुविषय रूपी विष्ठा के गड्ढ़े में डाल दिया है। हे पतितपावन! प्रभु आपको छोड़कर इस त्रिभुवन में हमें उद्धार करने में और कोई भी समर्थ नहीं है। हमारे जैसे पतितों का उद्धार करने में यदि आप अपने अप्राकृत बल का प्रदर्शन करें तभी आपका 'पतितपावन' नाम सार्थक होगा। हे दयामय! दया करके सुनिए! एक बात हम सत्य कह रहे हैं—हमारे समान दया का पात्र जगत में कोई नहीं है। इसलिये हम पर दया करके आप अपनी दया को सार्थक कीजिए, जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपकी दया के बल को देख सके।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०२। हमारे समान अत्यन्त पतित व्यक्ति पर दया करके अपना सदय अर्थात् दयालु नाम सफल कीजिए।

अनुभाष्य

१९८। कुविषय-विष्ठा-गर्त्त—इन्द्रियों की चेष्टाओं के द्वारा भोग के वशीभूत होकर संसार में जो ग्रहण किया जाता है वही 'विषय' है। जिससे पुण्य कमाया जाता है, वह 'सुविषय' है, और पापों के अर्जित होने पर 'कुविषय' है। सब प्रकार के जड़ीय भोग विष्ठा जैसे त्याग करने योग्य है। कृष्ण की सेवा ही जीवों के लिये परम श्रेष्ठ ग्रहण करने योग्य वस्तु है। इन्द्रिय-सेवा घृणित और त्यागने योग्य है, अतएव विष्ठा के समान त्याग करनी चाहिए। त्याग किये गये मल पर जिस प्रकार कृमि-कीटों का अधिकार होता है, उसी प्रकार जीवों का आत्म विस्मृत होकर कृमि-कीटों की भाँति विषय रूपी विष्ठा में अवस्थित रहने को श्रेयः समझना कृमि और कीटों की रुचि का अनुसरण मात्र है। गढ़्ढ़े में गिरा हुआ प्राणी जिस प्रकार स्वेच्छापूर्वक उठ नहीं पाता, विषयी जीव भी उसी प्रकार कृष्णोन्मुखता प्राप्त करने के लिये चेष्टा करने पर भी अपने बल से विषय विष्ठा गढ़्ढ़े रूपी जड़भोग राज्य को पार करने में समर्थ नहीं हो पाता।

(श्रीयामुनाचार्य पाद के द्वारा रचित श्लोक)

न मृषा परमार्थमेव मे,
शृणु विज्ञापनमेकमग्रतः।
यदि मे न दयिष्यसे तदा,
दयनीयस्तव नाथ दुर्लभः॥२०३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२०३। आपके निकट मैं एक आवेदन कर रहा हूँ, जिसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है—वह परमार्थ से परिपूर्ण है, वह यह है कि यदि आप मुझ पर दया नहीं करेंगे, तब तो हे नाथ, आपको अपनी दया का उपयुक्त पात्र और कहाँ मिलेगा?

अनुभाष्य

२०३। हे नाथ, (प्रभो), (तव) अग्रतः (पुरतः) मे (मम) एकं परमार्थं (वास्तवं) विज्ञापनं (निवेदनं) शृणु, न (तत्) मृषा (मिथ्या); यदि मे (मम सम्बन्धे मयि) न दयिष्यसे (दयां करिष्यसि), तदा तव दयनीयाः (दयार्हः) दुर्लभः। सर्वाधमत्वात् दयायोग्यपात्रत्वात् मम अपकृष्टत्वस्य आधिक्यम्।

आपने अयोग्य देखि' मने पाउ क्षोभ।
तथापि तोमार गुणे उपजय लोभ॥२०४॥
वामन हञा चाँद धरिते इच्छा करे।
तैछे मोर एइ वाञ्छा उठये अन्तरे॥२०५॥

२०४-२०५। प० अनु०—हे प्रभो! (आपकी कृपा प्राप्ति हेतु) स्वयं को अयोग्य देखकर मेरे मन में बहुत दुःख होता है, तथापि आपके गुणों को जानकर (आपकी कृपा प्राप्ति की आशा से) मन में लोभ उत्पन्न हो जाता है। हमारे अन्तःकरण में यह लोभ ठीक उसी प्रकार उदित हो रहा है, जिस प्रकार कोई बौना (छोटा सा बच्चा) चाँद की (सुन्दरता के प्रति आकृष्ट होकर उसे) पकड़ने की इच्छा करता है।

(श्रीयामुनाचार्य द्वारा रचित श्लोक)

भवन्तमेवानुचरन्निरन्तरः
प्रशान्तनिःशेषमनोरथान्तरः।
कदाहमैकान्तिकनित्यकिंकरः
प्रहर्षयिष्यामि स नाथ जीवितम्॥२०६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२०६। आपकी निरन्तर सेवा द्वारा अन्य मनोरथों से छूटकर कब मैं प्रशान्त भाव से अपने आपको आपका नित्य किङ्कर जानकर दास जीवन के साथ आनन्द से प्रफुल्ल होऊँगा।

अनुभाष्य

२०६। हे नाथ, (प्रभो), प्रशान्त—निःशेष-मनोरथान्तरः (प्रशान्तं निश्चलं निःशेष सम्पूर्णं मनोरथानां व्यसानानां अन्तरं यस्य सः) एकान्तिकनित्यकिङ्करः (दृढ़ नित्यदासः सन) सः अहं भवन्तं (मम सेव्यं त्वम्) एव निरन्तरः (सान्द्रः) अनुचरन् (परिचर्यां कुर्वन् घनमनुगच्छन्) कदा (कस्मिन् काले) जीवितं (प्राणान्) प्रहर्षयिष्यामि (सर्वतोभावेन सुखयामि)।

श्रीरूप को लक्ष्य करके दोनों के
लिये प्रभु के कृपामय वचन—

शुनि' महाप्रभु कहे,—शुन, दबिर खास।
तुमि दुइ भाई—मोर पुरातन दास॥२०७॥
आजि हैते दुँहार नाम 'रूप' 'सनातन'।
दैन्य छाड़, तोमार दैन्ये फाटे मोर मन॥२०८॥
दैन्यपत्री लिखि' मोरे पाठाले बार बार।
सेइ पत्रीद्वारा जानि तोमार व्यवहार॥२०९॥
तोमार हृदय आमि जानि पत्रीद्वारे।
तोमा शिखाइते श्लोक कहिलुँ बारे बारे॥२१०॥

२०७-२१०। प० अनु०—दोनों की स्तुति को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"सुनो! दबिर खास! तुम दोनों भाई मेरे पुराने सेवक हो। आज से तुम्हारे नाम 'रूप' और 'सनातन' हैं। तुम लोग अपनी इस दीनता को छोड़ो क्योंकि तुम लोगों की दीनता को देखकर मेरा हृदय विदीर्ण होने लगता है अर्थात् इससे मेरा हृदय बहुत व्यथित होता है। तुम दोनों ने दीनता से परिपूर्ण होकर बार-बार मुझे जो पत्र लिखे थे, उन पत्रों के द्वारा ही मैं तुम्हारे व्यवहार को जान गया था और उन पत्रों के द्वारा तुम्हारे हृदय को जानकर मैंने तुम्हें शिक्षा देने के लिये यह श्लोक बार-बार कहा था।

अनुभाष्य

२०८। श्रीमहाप्रभु ने कृपा करके दबीर खास का नाम 'रूप' तथा साकर मल्लिक का नाम 'सनातन' रखा था। वैद्य कनिष्ठ अधिकार में, नामकरण—एक संस्कार है। जो नाम प्रसाद की अवज्ञा करता है, उनकी हरिभक्ति की सम्भावना नहीं है, वे जड़ प्रतिष्ठता में मत्त रहते हैं। "शङ्खचक्राद्यूर्द्ध्वपुण्ड्रधारणाद्यात्म लक्षणम्। तन्नामकरण-ञ्चैव वैष्णवत्वमिहोच्यते॥" प्राकृत सहजियाओं में विष्णुदास्य परक नामकरण का अभाव होने के कारण वर्त्तमान काल में वे 'गौड़ीय वैष्णव'—कहलाने योग्य नहीं है। अवैष्णव वैष्णव गुरु द्वारा प्रदान किये जाने वाले नाम की अप्राप्ति से देहात्म बुद्धि के कारण अपने हरिसम्बन्ध को न जानकर प्राग्वर्णोचित (पूर्व वर्णोचित) नाम आदि के संरक्षण में प्रमत्त रहते हैं।

रागमार्गीय भक्तों का लोक व्यवहार—
(श्रीकृष्णचैतन्य के मुख से निसृत श्लोक)

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु।
तदेवास्वादयत्यन्तर्नवसंगरसायनम्॥२११॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२११। परपुरुष में अनुरक्त रमणी (केवलमात्र दिखाने के लिये) घर के सभी कार्यों को करने में उत्सुक रहने पर भी अपने अन्तःकरण में प्रिय लगने वाले नये पुरुष के सङ्ग के रस का आस्वादन करती रहती है।

अनुभाष्य

२११। परव्यसनिनी (निजपतिभिन्नापरपुरुषसङ्गा-मोदिनी) नारी (कुल रमणी) गृहकर्मसु व्यग्रा (पतिपुत्र

सेवादिषु सेवैकपरताप्रदर्शनपरा) अपि अन्तः (हृदयाभ्यन्तरे) तत् नवसङ्गरसायनं (नव नव कान्त सङ्ग सुख रस स्थानम्) तव आस्वादयति। (यथा पत्यन्तरभजनपर नारी स्व गृहधर्मपरा भूत्वा संसारे स्थित्वापि जारसङ्ग-सुखेन दिनानि यापयति, तथा वैद्य वर्णाश्रमधर्मपालनेन मूढ़न वञ्चयिता, चतुराणां वैष्णावानां हरिदास्यमेव भजन चातुर्यम्)।

रूप-सनातन को देखने के लिये प्रभु का रामकेलि में आगमन—

गौड़-निकट आसिते नाहि मोर प्रयोजन।
तोमा-दुँहा देखिते मोर ईँहा आगमन॥२१२॥
एइ मोर मनेर कथा केह नाहि जाने।
सबे बले, केने आइला रामकेलि-ग्रामे॥२१३॥

२१२-२१३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने और कहा—"गौड़देश के निकट (रामकेलि ग्राम में) आने का मेरा कोई प्रयोजन नहीं था। तब भी केवल तुम दोनों को मिलने के लिये ही मैं यहाँ आया हूँ। मेरे मन की इस बात को कोई भी नहीं जानता इसलिये सब मुझसे पूछते हैं कि मैं रामकेलि ग्राम में क्यों आया हूँ"

उत्कण्ठित दोनों भाईयों को प्रभु द्वारा आश्वासन प्रदान—

भाल हैल, दुइ भाई आइला मोर स्थाने।
घरे जाह, भय किछु ना करिह मने॥२१४॥
जन्मे जन्मे तुमि दुइ—किङ्कर आमार।
अचिराते कृष्ण तोमाय करिबे उद्धार॥२१५॥

२१४-२१५। प० अनु०—"यह बहुत ही अच्छा हुआ कि तुम दोनों भाई मेरे स्थान पर ही मुझसे मिलने चले आये। अब घर जाओ और मन में किसी प्रकार का भय मत करो। प्रत्येक जन्म में ही तुम दोनों मेरे सेवक हो, श्रीकृष्ण शीघ्र ही तुम्हारा उद्धार करेंगे।

दोनों का प्रभु के श्रीचरणों को मस्तक पर धारण करना—

एइ बलि दुँहार शिरे धरिल दुइ हाते।
दुइ भाइ धरि' प्रभुर पद निल माथे॥२१६॥

२१६। प० अनु०—इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने दोनों भाईयों के मस्तक पर अपने दोनों हाथ रख दिये और उन दोनों भाईयों ने महाप्रभु के चरणकमलों को पकड़कर अपने मस्तक पर धारण कर लिया।

कृपामय प्रभु का दोनों के लिये भक्तों के निकट आवेदन—

दोहाँ आलिङ्गिया प्रभु बलिल भक्तगणे।
सबे कृपा करि' उद्धार' ऐई दुइ जने॥२१७॥

२१७। प० अनु०—दोनों (श्रीरूप और श्रीसनतान) को आलिङ्गन करने के बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उपस्थित समस्त भक्तों से कहा—"आप सब भी इन दोनों पर कृपा करके इनका उद्धार कीजिए।"

भक्तों का विस्मय और आनन्द—

दुइ जने प्रभुर कृपा देखि' भक्तगणे।
'हरि' 'हरि' बले सबे आनन्दित-मने॥२१८॥

२१८। प० अनु०—इन दोनों पर श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा को देखकर सभी भक्त आनन्दित मन से 'हरि-हरि' बोलने लगे।

रामकेलि में प्रभु के सङ्गी भक्तगण—

नित्यानन्द, हरिदास, श्रीवास, गदाधर।
मुकुन्द, जगदानन्द, मुरारि, वक्रेश्वर॥२१९॥

२१९। प० अनु०—रामकेलि ग्राम में श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीहरिदास ठाकुर, श्रीवास पण्डित, श्रीगदाधर पण्डित, श्रीमुकुन्द, श्रीजगदानन्द पण्डित, श्रीमुरारि गुप्त और श्रीवक्रेश्वर पण्डित आदि भक्तगण उपस्थित थे।

सभी भक्तों के चरणों में कृपा की याचना
और सबके द्वारा धन्यवाद की प्राप्ति—

सबार चरणे धरि' पड़े दुइ भाई।
सबे बले,—धन्य तुमि, पाईल गोसाञि॥२२०॥

२२०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ उपस्थित सभी भक्तों के चरणों को धारण कर दोनों भाईयों ने प्रणाम किया और उनके प्रति भक्तों ने कहा—"श्रीचैतन्य

महाप्रभु को प्राप्त करके तुम धन्य हो गये।"

विदाई के समय श्रीसनातन का प्रभु को सत्परामर्श प्रदान—

सबा-पाश आज्ञा मागि' चलन-समय।
प्रभु-पदे कहे किछु करिया विनय॥२२१॥
इहाँ हैते चल, प्रभु, इहाँ नाहि काज।
यद्यपि तोमारे भक्ति करे गौड़राज॥२२२॥
तथापि यवन जाति, ना करिह प्रतीति।
तीर्थयात्राय एत संघट्ट भाल नहे रीति॥२२३॥

२२१-२२३। प० अनु०—श्रीसनातन ने चलते समय सबसे आज्ञा माँगी और श्रीमन् महाप्रभु के चरणों में दीनतापूर्वक यह निवेदन किया—"अब आप यहाँ से कहीं ओर चले जायें क्योंकि यहाँ आपका कोई भी प्रयोजन नहीं है। यद्यपि गौड़राज (यवन राजा) आपके प्रति श्रद्धा रखता है तथापि यवन जाति का होने के कारण उस पर विश्वास करना उचित नहीं है। तीर्थ यात्रा में इतने लोगों की भीड़ को साथ लेना भी उचित नहीं होगा।"

अपने भजन के स्थान पर बहुत बहिरङ्ग लोगों को ले जाना अप्रयोजनीय—

याँहा सङ्गे चले एइ लोक लक्षकोटि।
वृन्दावन-जाइबार ए नहे परिपाटी॥२२४॥

२२४। प० अनु०—श्रीसनातन ने और कहा—"जिनके साथ-साथ लाखों-करोड़ों लोग चल रहे हैं, (उन आपके लिये इस प्रकार वृन्दावन जाना सङ्गत नहीं है, क्योंकि) वृन्दावन जाने की यह परिपाटी नहीं है।"

स्वयं परमेश्वर होते हुए भी आचार्यरूप से कनिष्ठाधिकारी को शिक्षा का सुयोग प्रदान—

यद्यपि वस्तुतः प्रभुर किछु नाहि भय।
तथापि लौकिकलीला, लोक-चेष्टामय॥२२५॥

२२५। प० अनु—यद्यपि वास्तव में श्रीमन् महाप्रभु को किसी प्रकार का कोई भय नहीं है। परन्तु फिर भी लौकिक लीला करते हुए प्रभु ने साधारण व्यक्ति की भाँति आचरण किया था।

अनुभाष्य

२२१-२२५। मध्य षोड़श परिच्छेद की २६५-२७६ संख्या द्रष्टव्य है।

दोनों भाईयों का विदाई ग्रहण करना—

एत बलि' चरण वन्दि' गेला दुइजन।
प्रभुर सेइ ग्राम हैते चलिते हैल मन॥२२६॥

२२६। प० अनु०—इतना कहकर दोनों भाई श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों की वन्दना करके चले गये और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भी उस ग्राम से जाने का मन बना लिया।

रामकेलि से 'कानाई नाटशाला'—

प्राते चलि' आइला 'कानाइर नाटशाला'।
देखिल सकल ताँहा कृष्णचरित्र-लीला॥२२७॥

२२७। प० अनु०—प्रातःकाल होते ही श्रीचैतन्य महाप्रभु रामकेलि ग्राम से चलकर कानाई नाटशाला में आ गये और वहाँ आकर उन्होंने श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का दर्शन किया।

सनातन के परामर्श के अनुसार प्रभु द्वारा वृन्दावन जाने की इच्छा का त्याग—

सेइ रात्रे प्रभु ताँहा चिन्ते मने मन।
सङ्गे संघट्ट भाल नहे, बले सनातन॥२२८॥
मथुरा जाइब आमि एत लोक-सङ्गे।
किछु सुख ना हइबे, हबे रसभङ्गे॥२२९॥
एकाकी जाइब, किम्बा सङ्गे एकजन।
तबे से शोभये वृन्दावनेरे गमन॥२३०॥

२२८-२३०। प० अनु—क्योंकि एक रात पहले श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मन-ही-मन श्रीसनातन की बात पर विचार किया कि अपने साथ लोगों की भीड़ रखना उचित नहीं है। तब श्रीमन् महाप्रभु विचार करने लगे—"इतने लोगों को साथ लेकर मैं मथुरा जाऊँगा तो थोड़ा-सा भी सुख प्राप्त नहीं होगा, बल्कि रस भङ्ग ही होगा। इसलिये मैं अकेले ही अथवा एक व्यक्ति को

साथ लेकर वृन्दावन जाऊँगा। तभी मेरा वृन्दावन जाना युक्तियुक्त होगा।"

अमृतप्रवाह भाष्य

२२७। कृष्णचरित-लीला—उस समय गौड़देश के अनेक-अनेक स्थानों पर कानाई-नाटशाला के नाम से प्रसिद्ध स्थानों की व्यवस्था थी। गौड़देश के निकट स्थित जो कानाई-नाटशाला थी, वहाँ पर अनेक प्रकार की कृष्ण लीलाओं के चित्रण को देखा।

नीलाचल की ओर जाते हुए बीच में शान्तिपुर आगमन—

एत चिन्ति' प्रातःकाले गङ्गास्नान करि'।
'नीलाचले जाब' बलि' चलिला गौरहरि॥२३१॥
एइ मत चलि' चलि' आइला शान्तिपुरे।
दिन पाँच-सात रहिला आचार्येर घरे॥२३२॥

२३१-२३२। प० अनु०—सारी रात मन में इस प्रकार विचार करने के बाद प्रातःकाल श्रीचैतन्य महाप्रभु ने गङ्गा स्नान करके भक्तों को कहा कि "मैं नीलाचल जाऊँगा।" इतना कहकर श्रीगौरहरि नीलाचल की ओर चल पड़े तथा इस प्रकार चलते-चलते वे शान्तिपुर आ पहुँचे और श्रीअद्वैताचार्य के घर में पाँच-सात दिन तक रहे।

शान्तिपुर में सात दिन तक वास—

शचीदेवी आसि' ताँरे कैल नमस्कार।
सात दिन ताँर ठाञि भिक्षा-व्यवहार॥२३३॥

२३३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के शान्तिपुर में आने के संवाद को सुनकर श्रीशचीमाता भी श्रीअद्वैताचार्य के घर में आ गयीं और उन्हें श्रीचैतन्य महाप्रभु ने प्रणाम किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सात दिन तक शची माता से ही भिक्षा ग्रहण की अर्थात् उनके द्वारा बनाये गये भोजन को ही स्वीकार किया।

अनुभाष्य

२३२-२३३। मध्य, षोड़श परिच्छेद की २१२-२१६, २२३, २३४, २४५-२५० संख्या और चैः भाः अन्त्य, तृतीय अध्याय द्रष्टव्य।

सब भक्तों को विदाई देना और रथयात्रा के समय पुरी में मिलने का आदेश—

ताँरे आज्ञा लञा पुनः करिला गमने।
विनय करिया विदाय दिल भक्तगणे॥२३४॥
जना दुइ सङ्गे आमि जाब नीलाचले।
आमारे मिलिबा आसि' रथयात्रा-काले॥२३५॥

२३४-२३५। प० अनु०—शची माता की अनुमति लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पुनः यात्रा आरम्भ की (जब बहुत से भक्त भी उनके पीछे-पीछे चलने लगे, तब उन्होंने) विनीत भाव से सभी भक्तों को घर जाने का अनुरोध किया तथा यह कहते हुये उन्हें विदाई दी कि "मैं केवल दो लोगों को ही अपने साथ लेकर नीलाचल जाऊँगा। आप सभी रथयात्रा के समय आकर मुझसे मिलना।"

अनुभाष्य

२२८-२३५। मध्य षोड़श परिच्छेद की २६५-२७६ संख्या द्रष्टव्य।

बलभद्र और दामोदर पण्डित को लेकर पुरी में आगमन—

बलभद्र भट्टाचार्य, आर पण्डित दामोदर।
दुइजन-सङ्गे प्रभु आइला नीलाचल॥२३६॥

२३६। प० अनु०—इस प्रकार बलभद्र भट्टाचार्य और दामोदर पण्डित को साथ लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु नीलाचल आ गये।

अनुभाष्य

२३६। दामोदर,—आदि दशम परिच्छेद की ३१ संख्या तथा अन्त्य तृतीय परिच्छेद द्रष्टव्य।

कुछ दिन पुरी में वास करने के बाद वृन्दावन की यात्रा—

दिन कत रहि' ताँहा चलिला वृन्दावन।
लुकाञा चलिला रात्रे, ना जाने कोन जन॥२३७॥

२३७। प० अनु०—नीलाचल में कुछ दिनों तक रहने के बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु रात में छिपकर, वृन्दावन के लिये चल दिये। उनकी इस यात्रा के विषय में कोई भी नहीं जान पाया।

प्रभु के साथ एकमात्र बलभद्र भट्ट—

बलभद्र भट्टाचार्य रहे मात्र सङ्गे।
झारिखण्ड-पथे काशी आइला नानारङ्गे॥२३८॥

२३८। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु एकमात्र बलभद्र भट्टाचार्य को ही अपने साथ लाये और झारिखण्ड के मार्ग में अनेक लीलाओं को करते हुए काशी आ पहुँचे।

अनुभाष्य

२३६-२३८। बलभद्र,—आदि दशम परिच्छेद की १४६ संख्या और झारिखण्ड़ के पथ से प्रभु का काशी गमन—मध्य, १७ परिच्छेद की ३-८२ संख्या द्रष्टव्य।

काशी में आगमन और चार दिन तक
वास करने के बाद मथुरा-गमन—

दिन चारि काशीते रहि' गेला वृन्दावन।
मथुरा देखिया देखे द्वादश कानन॥२३९॥

२३९। प॰ अनु॰—काशी में चार दिन तक रहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु वृन्दावन चले गये और वहाँ मथुरा के दर्शन करने के बाद उन्होंने द्वादश वनों का भी दर्शन किया।

अनुभाष्य

२३९। द्वादशकानन,—काम्यवन, तालवन, तमाल-वन, मधुवन, कुसुमवन, भाण्डीरवन, बिल्ववन, भद्रवन, खदीरवन, लौहवन, कुमुदवन और गोकुल महावन।

वृन्दावन में प्रेमोन्माद, तत्पश्चात् मथुरा होकर प्रयाग—

लीलास्थल देखि' प्रेमे हइला अस्थिर।
बलभद्र कैल ताँरे मथुरार बाहिर॥२४०॥

२४०। प॰ अनु॰—द्वादश वनों में श्रीकृष्ण की लीला-स्थलियों के दर्शन कर श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रेम में अधीर हो गये। जिसे देखकर बलभद्र भट्टाचार्य उन्हें मथुरा से बाहर ले आये।

प्रयाग में दशाश्वमेधघाट पर श्रीरूप के साथ मिलन—

गङ्गातीर-पथे लञा प्रयागे आइला।
श्रीरूप प्रभुरे आसि' तथाइ मिलिला॥२४१॥
दण्डवत् करि' रूप भूमिते पड़िला।
परम आनन्दे प्रभु आलिङ्गन दिला॥२४२॥

२४१-२४२। प॰ अनु॰—श्रीबलभद्र भट्टाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु को गङ्गा के किनारे-किनारे होते हुए प्रयाग ले आये और प्रयाग में ही श्रीरूप गोस्वामी आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिले। श्रीचैतन्य महाप्रभु को देखकर श्रीरूप गोस्वामी ने भूमि पर गिरकर साष्टाङ्ग दण्डवत प्रणाम किया और महाप्रभु ने भी अत्यधिक आनन्द पूर्वक श्रीरूप को आलिङ्गन प्रदान किया।

श्रीरूप को शिक्षा देकर वृन्दावन
भेजना और स्वयं काशी में गमन—

श्रीरूपे शिक्षा कराइ' पाठा'न वृन्दावन।
आपने करिला वाराणसी आगमन॥२४३॥

२४३। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरूप गोस्वामी को शिक्षा देकर वृन्दावन भेज दिया और वे स्वयं वाराणसी (काशी) चले आये।

अनुभाष्य

२४१-२४३। श्रीरूप मिलन और शिक्षा—मध्य उन्नीसवाँ परिच्छेद द्रष्टव्य।

काशी में श्रीसनातन के साथ
मिलन और उनको शिक्षा प्रदान—

काशीते प्रभुके आसि' मिलिला सनातन।
दुइ मास रहि' ताँरे कराइला शिक्षण॥२४४॥

२४४। प॰ अनु॰—काशी में आकर श्रीसनातन गोस्वामी का भी श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिलन हुआ। दो मास तक काशी में रहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसनातन को शिक्षा प्रदान की।

श्रीसनातन को मथुरा मण्डल भेजना
और प्रकाशानन्द का उद्धार—

मथुरा पाठाइला ताँरे दिया भक्तिबल।
संन्यासीरे कृपा करि' गेला नीलाचल॥२४५॥

२४५। प॰ अनु॰—फिर श्रीसनातन गोस्वामी में भक्ति बल सञ्चारित करके श्रीमन् महाप्रभु ने उन्हें मथुरा भेज दिया और स्वयं संन्यासी (प्रकाशानन्द) पर कृपा करने के बाद नीलाचल चले गये।

अनुभाष्य

२४४-२४५। श्रीसनातन मिलन और शिक्षा—मध्य बीसवाँ परिच्छेद द्रष्टव्य।

छह वर्ष इधर-उधर गमनागमन रूप 'मध्यलीला'—

छय वत्सर प्रभु ऐछे करिला विलास।
कभु इति-उति गति, कभु क्षेत्रवास॥२४६॥

२४६। प॰ अनु॰—इस प्रकार छह वर्षों तक श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कभी इधर-उधर गमनागमन करके और कभी नीलाचल में वास करके लीला-विलास किया।

पुरी में भक्तों के साथ नित्य कीर्त्तन और जगन्नाथ दर्शन—

आनन्दे भक्त-सङ्गे सदा कीर्तन-विलास।
जगन्नाथ-दरशन, प्रेमेर विलास॥२४७॥

२४७। प॰ अनु॰—जगन्नाथ पुरी में वास करते समय श्रीचैतन्य महाप्रभु भक्तों के साथ सदैव आनन्दपूर्वक कीर्त्तन-विलास करते और श्रीजगन्नाथ का दर्शन कर प्रेम रस का आस्वादन करते।

अन्त्यलीला के सूत्रों का आरम्भ—

मध्यलीलार कैलूँ एइ सूत्र-विवरण।
अन्त्यलीलार सूत्र एबे शुन, भक्तगण॥२४८॥

२४८। प॰ अनु॰—(श्रील कविराज गोस्वामी कह रहे हैं—) यहाँ तक मैंने श्रीचैतन्य महाप्रभु की मध्यलीला के सूत्रों का वर्णन किया है। हे भक्तगण! अब श्रीचैतन्य महाप्रभु की अन्त्यलीला के सूत्रों का श्रवण करो।

(अन्त के २४ वर्षों में से) पहले छह वर्षों को छोड़कर
बाकी के १८ वर्षों तक केवल पुरी में वास—

वृन्दावन हैते जदि नीलाचल आइला।
आठार वर्ष ताहाँ वास, काँहा नाहि गेला॥२४९॥

२४९। प॰ अनु॰—वृन्दावन से जब श्रीचैतन्य महाप्रभु नीलाचल आये तो अठारह वर्षों तक वहीं वास किया। उन अठारह वर्षों में वे और किसी भी स्थान पर नहीं गये।

चातुर्मास्य में गौड़ीय भक्तों का प्रभु के साथ पुरी में वास—

प्रतिवर्ष आइसेन ताहाँ गौड़ेर भक्तगण।
चारि मास रहे प्रभुर सङ्गे सम्मिलन॥२५०॥

२५०। प॰ अनु॰—प्रत्येक वर्ष गौड़देश से भक्तगण नीलाचल में आते और चार मास तक श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ रहकर आनन्द प्राप्त करते थे।

नित्यकाल कृष्ण कीर्त्तन और प्रेम भक्ति का दान—

निरन्तर नृत्यगीत कीर्तन-विलास।
आ-चण्डाले प्रेमभक्ति करिला प्रकाश॥२५१॥

२५१। प॰ अनु॰—जगन्नाथ पुरी में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने निरन्तर नृत्य-गीत रूपी नाम-कीर्त्तन में निमग्न रहकर लीला विलास किया और चण्डालादि पर्यन्त सभी में प्रेम भक्ति को प्रकाशित कर दिया।

श्रीगदाधर पण्डित का क्षेत्र-संन्यास
और पुरी प्रवासी भक्तगण—

पण्डित-गोसाञि कैल नीलाचले वास।
वक्रेश्वर, दामोदर, शङ्कर, हरिदास॥२५२॥
जगदानन्द, भवानन्द, गोविन्द, काशीश्वर।
परमानन्द पुरी, आर स्वरूप दामोदर॥२५३॥
क्षेत्रवासी रामानन्द राय प्रभृति।
प्रभुसङ्गे एइ सब कैल नित्य स्थिति॥२५४॥

२५२-२५४। प॰ अनु॰—क्षेत्र संन्यास लेने वाले पण्डित गोसाञि (श्रीगदाधर पण्डित), श्रीवक्रेश्वर, श्रीदामोदर, श्रीशङ्कर, श्रीहरिदास, श्रीजगदानन्द, श्रीभवा-

नन्द, श्रीगोविन्द, श्रीकाशीश्वर, श्रीपरमानन्द पुरी, श्रीस्वरूप दामोदर और नीलाचलवासी श्रीरामानन्द राय आदि सभी भक्तगण नित्य ही श्रीमन् महाप्रभु के साथ नीलाचल में रहते थे।

प्रतिवर्ष गौड़ीय भक्तों का प्रभु
के साथ चातुर्मास्य-यापन—

अद्वैत, नित्यानन्द, मुकुन्द, श्रीवास।
विद्यानिधि, वासुदेव, मुरारि,—जत दास॥२५५॥
प्रतिवर्षे आइसे सङ्गे रहे चारिमास।
ताँ-सबा लञा प्रभुर विविध विलास॥२५६॥

२५५-२५६। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैत, श्रीनित्यानन्द, श्रीमुकुन्द, श्रीवास, श्रीविद्यानिधि, श्रीवासुदेव और श्रीमुरारि आदि श्रीचैतन्य महाप्रभु के जितने भी भक्त थे, वे प्रति वर्ष गौड़देश से नीलाचल में आकर श्रीमन् महाप्रभु के साथ चार मास तक वास करते और महाप्रभु उनके साथ अनेक प्रकार के लीला-विलास करते।

ठाकुर हरिदास का पुरी में निर्याण—

हरिदासेर सिद्धिप्राप्ति,—अद्भुत से सब।
आपनि महाप्रभु जाँर कैल महोत्सव॥२५७॥

२५७। प॰ अनु॰—जगन्नाथपुरी में ही श्रीहरिदास ठाकुर अप्रकट हुए। उनकी सिद्धि-प्राप्ति (देह-त्याग) की लीला बहुत अद्भुत है, क्योंकि स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनके अप्रकट होने का महोत्सव किया था।

अनुभाष्य

२५७। ठाकुर हरिदास का निर्याण—अन्त्य ग्यारहवाँ परिच्छेद द्रष्टव्य।

श्रीरूप का पुरीमें आगमन—

तबे रूप-गोसाञिर पुनरागमन।
ताँहार हृदये कैल प्रभु शक्ति-सञ्चारण॥२५८॥

२५८। प॰ अनु॰—श्रीरूप गोस्वामी का श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ पुनः मिलने के लिये नीलाचल में आगमन हुआ और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनके हृदय में शक्ति सञ्चार की।

अनुभाष्य

२५८। चिद् शक्ति अर्थात् अप्राकृत बल का संचार; उस (अप्राकृत बल के संचार) के बिना अथवा मायाशक्ति के सञ्चार से भोग में प्रवृत्त होने की बुद्धि। अन्त्य प्रथम परिच्छेद द्रष्टव्य।

छोटा हरिदास को दण्ड और
दामोदर पण्डित का वाक्य दण्ड—

तबे छोट हरिदासे प्रभु कैल दण्ड।
दामोदर-पण्डित कैल प्रभुके वाक्य-दण्ड॥२५९॥

२५९। प॰ अनु॰—उसके बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु ने छोटा हरिदास को दण्ड दिया और दामोदर पण्डित ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को वाक्य के द्वारा दण्ड दिया।

अनुभाष्य

२५९। छोटा हरिदास—अन्त्य द्वितीय परिच्छेद द्रष्टव्य। दामोदर का 'वाक्यदण्ड'—अन्त्य तृतीय परिच्छेद द्रष्टव्य।

अज्ञ अर्थात् अबोध व्यक्ति प्रभु को न समझकर कटाक्ष करेंगे, ऐसा निवेदन ही प्रभु के प्रति वाक्यदण्ड है। दामोदर पण्डित द्वारा किये गये वैसे वचनों का प्रयोग भक्तों के विचार से दण्डात्मक वाक्य मात्र है। निग्रह-अनुग्रह में समर्थ व्यक्ति को किसी दूसरे का सावधान करने जाना अनधिकार चर्चा मात्र है।

श्रीसनातन का पुरी में आगमन—

तबे सनातन-गोसाञिर पुनरागमन।
ज्येष्ठमासे प्रभु ताँरे कैल परीक्षण॥२६०॥

२६०। प॰ अनु॰—उसके बाद श्रीसनातन गोस्वामी का श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ पुनः मिलने के लिये नीलाचल में आगमन हुआ और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने ज्येष्ठमास में उनकी परीक्षा ली।

अनुभाष्य

२६०। सनातन—अन्त्य चतुर्थ पच्छिेद द्रष्टव्य।

सनातन को वृन्दावन भेजना और श्रीअद्वैत के घर भिक्षा—

तुष्ट हञा प्रभु ताँरे पाठाइला वृन्दावन।
अद्वैतेर हस्ते प्रभुर अद्भुत भोजन॥२६१॥

२६१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सन्तुष्ट होकर श्रीसनातन गोस्वामी को वृन्दावन भेज दिया और प्रभु ने श्रीअद्वैताचार्य के हाथों से अद्भुत भोजन ग्रहण किया।

अनुभाष्य

२६१। अद्वैत के घर पर प्रभु का एकाकी (अकेले) भोजन करना—चैतन्य भागवत अन्त्य अष्टम अध्याय द्रष्टव्य।

गौड़देश में श्रीनित्यानन्द को नाम-प्रेम-प्रचार के लिये भेजना—

नित्यानन्द-सङ्गे युक्ति करिया निभृते।
ताँरे पाठाइला गौड़े प्रेम प्रचारिते॥२६२॥

२६२। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु के साथ एकान्त में परामर्श करके श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें भगवद् प्रेम के प्रचार के लिये गौड़देश में भेज दिया।

अनुभाष्य

२६२। श्रीनित्यानन्द को गौड़देश में नाम-प्रेम प्रचार करने की आज्ञा-प्रदान—मध्य पन्द्रहवें परिच्छेद की ४२ एवं सोलहवें परिच्छेद की ५९-६७ संख्या द्रष्टव्य।

वल्लभ भट्ट के द्वारा की गयी कृष्णनाम की महिमा का श्रवण और (स्वयं प्रकृत नाम की महिमा के कीर्त्तन के द्वारा उनके विचार का खण्डन करके) वल्लभ भट्ट के गर्व का नाश—

तबे त' वल्लभ भट्ट प्रभुरे मिलिला।
कृष्णनामेर अर्थ प्रभु ताँहारे कहिला॥२६३॥

२६३। प० अनु०—उसके बाद श्रीवल्लभ भट्ट श्रीजगन्नाथ पुरी आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिले और महाप्रभु ने उनको कृष्णनाम के अर्थ का श्रवण कराया।

अनुभाष्य

२६३। वल्लभ भट्ट—अन्त्य सप्तम परिच्छेद में वल्लभ भट्ट का विषय—मध्य उन्नीसवाँ परिच्छेद तथा अन्त्य सप्तम परिच्छेद द्रष्टव्य।

वल्लभ भट्ट ने श्रीगौरसुन्दर के प्रिय व्यक्ति श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी से नाम-मन्त्र ग्रहण किया, इसलिये उसे अपने सम्प्रदाय का मानकर महाप्रभु ने स्वयं उनको नाम का अर्थ समझाया था। "विनीतानथ पत्रादीन् संस्कृत्य प्रतिबोधयेत्"—इस पञ्चरात्र के वाक्य के अनुसार भट्ट ने नाम के अर्थ को श्रवण करने का अधिकार प्राप्त किया था।

अशौक्र-विप्र वैष्णवाचार्य श्रीराय रामानन्द का शौक्रविप्र प्रद्युम्न मिश्र के द्वारा गुरु रूप में वरण—

प्रद्युम्न मिश्रेरे प्रभु रामानन्द-स्थाने।
कृष्णकथा शुनाइल कहि' ताँर गुणे॥२६४॥

२६४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीप्रद्युम्न मिश्र को श्रीरामानन्द राय के अप्राकृत गुणों को सुनाकर उन्हें श्रीरामानन्द राय के स्थान पर प्रेरित कर कृष्णकथा श्रवण करवायी।

अनुभाष्य

२६४। अन्त्य, पञ्चम परिच्छेद द्रष्टव्य।

राजा के क्रोध से पतित गोपीनाथ का उद्धार—

गोपीनाथ पट्टनायक—रामानन्द-भ्राता।
राजा मारितेछिल, प्रभु हैल त्राता॥२६५॥

२६५। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय के भाई श्रीगोपीनाथ पट्टनायक को राजा दण्ड देना चाहता था परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनकी रक्षा की।

अनुभाष्य

२६५। अन्त्य, नवम परिच्छेद द्रष्टव्य।

विद्वेषी रामचन्द्र पुरी का प्रभु के प्रति शासन और भक्तों का दुःख—

रामचन्द्रपुरी-भये भिक्षा घाटाइल।
वैष्णवेर दुःख देखि' अर्धेक राखिल॥२६६॥

२६६। प० अनु—रामचन्द्रपुरी के भय से श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने भोजन की मात्रा कम कर दी थी, परन्तु वैष्णवों के दुःख को देखकर उन्होंने पहले के (अर्थात् रामचन्द्र पुरी के निन्दा करने से पहले श्रीमन् महाप्रभु जितने अर्थ का जगन्नाथ प्रसाद स्वीकार करते थे, अब उन्होंने भोजन की मात्रा बिल्कुल कम नहीं करके पहले के अर्थ के) परिमाण से आधे (परिमाण के अर्थ का) भोजन करना स्वीकार किया।

अनुभाष्य

२६६। अन्त्य, अष्टम परिच्छेद द्रष्टव्य।

ब्रह्माण्डवासी असंख्य जीवों का प्रभु के दर्शन से उद्धार—

ब्रह्माण्ड-भितरे हय चौद्द भुवन।
चोद्दभुवने वैसे जत जीवगण॥२६७॥
मनुष्येर वेश धरि' यात्रिकेर छले।
प्रभुर दर्शन करे आसि' नीलाचले॥२६८॥

२६७-२६८। प० अनु—ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन हैं और उन चौदह भुवनों में जितने भी जीव थे वे सब मनुष्य का रूप धारण कर, यात्री के रूप में नीलाचल आकर प्रभु के दर्शन करते थे।

श्रीवासादि भक्तों के द्वारा किये जाने वाले गौरकीर्त्तन में प्रभु की असहमति और रोषाभास एवं कृष्ण-कीर्त्तन करने की आज्ञा—

एकदिन श्रीवासादि जत भक्तगण।
महाप्रभुर गुण गाञा करेन कीर्त्तन॥२६९॥
शुनि' भक्तगणे कहे सक्रोध वचने।
"कृष्ण-नाम-गुण छाड़ि, कि कर कीर्त्तने॥२७०॥
उद्धत्य करिते हैल सबाकार मन।
स्वतन्त्र हइया सबे नाशा' बे भुवन॥२७१॥

२६९-२७१। प० अनु—एकदिन श्रीवासादि समस्त भक्तगण मिलकर श्रीचैतन्य महाप्रभु की गुणावली का उच्च स्वर से गान करते हुए कीर्त्तन करने लगे, जिसे सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु क्रोधित होकर उनसे कहने लगे—"कृष्ण नाम और गुणों को छोड़कर तुमलोग ये क्या कीर्त्तन कर रहे हो? क्या आज सभी के मन में उद्दण्डता करने की बात आ गयी है। स्वतन्त्र आचरण कर क्या आप सभी पृथ्वीवासियों का सर्वनाश करना चाहते हैं।"

असंख्य जीवों के कण्ठ से गौर-जयध्वनि और आर्त्ति ज्ञापन—

दशदिके कोटि कोटि लोक हेन काले।
'जय कृष्णचैतन्य' बलि' करे कोलाहले॥२७२॥
जय जय महाप्रभु—व्रजेन्द्रकुमार।
जगत तारिते प्रभु, तोमार अवतार॥२७३॥
बहुदूर हैते आइनु हञा बड़ आर्त्त।
दरशन दिया प्रभु करह कृतार्थ॥२७४॥

२७२-२७४। प० अनु—उसी समय दसों दिशाओं से करोड़ों-करोड़ों लोग 'जय कृष्णचैतन्य' कहकर कोलाहल करने लगे और कहने लगे—"उन श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो जय हो, जो वास्तव में व्रजन्द्रेकुमार हैं। जगत के उद्धार के लिये ही आप अवतरित हुए हैं। हे प्रभो! हम बहुत दूर से अत्यधिक दुःख उठाकर यहाँ आयें हैं। आप अपने दर्शन देकर हमें कृतार्थ कीजिए।"

प्रभु की करूणा—

शुनिया लोकेर दैन्य द्रविला हृदय।
बाहिरे आसि' दरशन दिला दयामय॥२७५॥

२७५। प० अनु—इस प्रकार लोगों के दीनतापूर्ण वचनों को सुनकर दयामय श्रीचैतन्य महाप्रभु का हृदय पिघल गया और उन्होंने बाहर आकर सबको दर्शन दिया।

श्रीमहाप्रभु के कृपा आदेश को प्राप्त कर असंख्य लोगों के कण्ठ से गौरहरि की ध्वनि—

बाहु तुलि' बले प्रभु,—बल, 'हरि' 'हरि'।
उठिल श्रीहरिध्वनि चतुर्द्दिक भरि'॥२७६॥

२७६। प० अनु—अपनी भुजाओं को ऊपर उठाकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सभी को 'हरि हरि' बोलने के लिये कहा। श्रीचैतन्य महाप्रभु के ऐसा कहते ही सभी के द्वारा

उच्चारित हरि-हरि शब्द की ध्वनि से चारों दिशाएँ गूँजने लगी।

प्रभु की स्तुति—
प्रभु देखि' प्रेमे लोक आनन्दित मन।
प्रभुके ईश्वर बलि' करये स्तवन॥२७७॥

२७७। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु के दर्शन से सबका मन प्रेम से आनन्दित हो गया और सभी प्रभु का ईश्वर कहकर स्तव करने लगे।

करोड़ों कण्ठों से प्रभु की जयध्वनि सुनकर तथा अच्छा सुयोग समझकर श्रीवास पण्डित द्वारा प्रभु को उलाहना देना—
स्तव शुनि' प्रभुके कहेन श्रीनिवास।
"घरे गुप्त हओ, केने बाहिरे प्रकाश॥२७८॥
के शिखाल एइ लोके, कहे कोन् बात।
इहा-सबार मुख ढाक दिया निज हात॥२७९॥
सूर्य येन उदय करि' चाहे लुकाइते।
बुझिते ना पारि तोमार ऐछन चरिते"॥२८०॥

२७८-२८०। प० अनु०—लोगों के मुख से श्रीचैतन्य महाप्रभु का स्तव सुनकर श्रीनिवास अर्थात् श्रीवास पण्डित कहने लगे—"आप घर में छिपकर रहो, बाहर क्यों आते हो। इन लोगों को यह सब किसने सिखाया है? ये सब क्या कह रहे हैं? अब आप ही इन सबके मुख को अपने हाथ द्वारा ढकिये। जैसे सूर्य उदित होने के बाद यदि अपने आपको छिपाना चाहे, तो यह असम्भव है, (ठीक उसी प्रकार चेष्टा करने पर भी आपके द्वारा अपने आपको छिपा पाना असम्भव है।) हे प्रभु! मैं आपके ऐसे आचरण को समझ नहीं पा रहा हूँ।"

प्रभु की लज्जा और श्रीवास के प्रति कृत्रिम शिकायत—
प्रभु कहेन,—श्रीनिवास, छाड़ विडम्बना।
सबे मेलि' कर मोरे कतेक लाञ्छना॥२८१॥

२८१। प० अनु०—श्रीवास पण्डित की बात सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु कहने लगे—"श्रीनिवास! इस प्रकार से विडम्बना मत करो। तुम सब मिलकर मुझ पर कितनी लाञ्छनाएँ लगाओगे?"

अमृतप्रवाह भाष्य

२८१। किसी-किसी पाठ में इस पंक्ति (द्वितीय पंक्ति) के स्थान पर यह पंक्ति देखी जाती है, "सेई सब कर जाते आमार यातना॥"

प्रथम परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

प्रभु की कृपा दृष्टि के वर्षण से लोगों का उद्धार—
एत बलि' लोके करि' शुभदृष्टि दान।
अभ्यन्तरे गेला, लोकेर पूर्ण हैल काम॥२८२॥

२८२। प० अनु०—इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु सभी के प्रति शुभ दृष्टिपात करके घर के अन्दर चले गये और सभी की मनोकामना पूर्ण हो गयी।

अनुभाष्य

२६७-२८२। अन्त्य नवम परिच्छेद की ७-१२ संख्या द्रष्टव्य।

पानिहाटी में श्रीरघुनाथ के द्वारा श्रीनित्यानन्द और उनके परिकरों की सेवा—
रघुनाथ-दास नित्यानन्द-पाशे गेला।
चिड़ा-दधि-महोत्सव ताँहाइ करिला॥२८३॥

२८३। प० अनु०—श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी श्रीनित्यानन्द प्रभु के पास (पानिहाटी) गये और उन्होंने वहाँ पर चिड़ा-दधि महोत्सव का आयोजन किया।

तत्पश्चात् श्रीनित्यानन्द की कृपा से रघुनाथ का गृह त्याग तथा पुरी में प्रभु के चरणों में आगमन और स्वरूप दामोदर के निकट आत्मसमर्पण—
ताँर आज्ञा लञा गेला प्रभुर चरणे।
प्रभु ताँरे समर्पिला स्वरूपेर स्थाने॥२८४॥

२८४। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु की आज्ञा अनुसार श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी श्रीचैतन्य महाप्रभु के

चरणों में उपस्थित हुए और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें श्रीस्वरूप दामोदर के हाथों में समर्पित कर दिया।

अनुभाष्य

२८३-२८४। "यो मां दुस्तरगेहनिर्जलमहाकूपाद-पारक्लमात् सद्यः सान्द्रदयाम्बुधिः प्रकृतितः स्वैरी कृपा-रज्जुभिः। उद्धृत्यात्म-सरोजनिन्दिचरणप्रान्तं प्रपाद्य स्वयं श्रीदामोदर सा चकार तमहं चैतन्यचन्द्रं भजे।"—(विलाप कुसुमाञ्जलि ५) अन्त्य षष्ठ परिच्छेद द्रष्टव्य।

ब्रह्मानन्द भारती द्वारा
चर्मवस्त्र का त्याग—

ब्रह्मानन्द-भारतीर घुचाइल चर्माम्बर।
एइ मत लीला कैल छय वत्सर॥२८५॥

२८५। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ पुरी में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने ब्रह्मानन्द भारती से उनके चर्मवस्त्रों का त्याग करवाया और इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने छह वर्षों तक अनेक लीलाएँ की।

अनुभाष्य

२८५। मध्य दशम परिच्छेद द्रष्टव्य।

अन्त के १८ वर्षों के ६ वर्षों को छोड़कर, अन्त के
१२ वर्षों की लीलाओं के सूत्र का बाद में वर्णन—

एइ त' कहिल मध्यलीलार सूत्रगण।
शेषद्वादश वत्सरेर शुन विवरण॥२८६॥

२८६। प० अनु०—(श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कहते हैं—) इस प्रकार मैंने मध्यलीला के सूत्रों का वर्णन किया है। अब अन्त के द्वादश वर्षों के विवरण को श्रवण करो।

अनुभाष्य

२८६। आदि, सप्तदश परिच्छेद की ३१२ संख्या में कहे गये व्यास के आचरण के अनुगमन में, लिखे गये प्रबन्ध का अनुवाद, आदि, मध्य और अन्त्य—इन तीन लीलाओं के शेषभाग में लिखे हैं। आदि लीला के पाँच प्रकार के वयोभेद के अनुसार सूत्र मात्र लिखकर कुछेक लीलाओं को वर्णन करके श्रीवृन्दावन दास के विस्तारित वर्णन का उल्लेख किया है। शेष लीला अर्थात् मध्य और अन्त्य लीला के सूत्र इस अध्याय में लिखकर अन्तिम द्वादश वर्षों के सूत्रों का विवरण द्वितीय अध्याय में लिखे हैं। क्रमशः मध्य और अन्त्य लीला का विस्तार से वर्णन किया है। उद्देश्य—(अन्त्य प्रथम परिच्छेद की १० संख्या)—'मध्यलीला-मध्ये अन्त्यलीला-सूत्रगण। पूर्व-ग्रन्थे संक्षेपेते करियाछि वर्णन। आमिजराग्रस्त निकट जानिया मरण। अन्त्य लीलार कोन सूत्र करियाछि वर्णन।"

प्रथम परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

श्रीरूप-रघुनाथ-पदे जार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥२८७॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्यखण्ड में मध्य-लीला सूत्र वर्णन नामक प्रथम परिच्छेद समाप्त।

२८७। प० अनु०—श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

❋ ❋ ❋

द्वितीय परिच्छेद

कथासार—इस द्वितीय परिच्छेद में ग्रन्थकार ने महाप्रभु के अन्तिम बारह वर्षों में भावपूर्ण आस्वादनमयी लीलाओं के सूत्र का वर्णन किया है; बीच में श्लोक को उद्धृत करने के कारण की व्याख्या की है। इस गम्भीर भाव के तत्त्व को लोग आसानी से समझ नहीं सकते। इस ग्रन्थ में वर्णित श्रीचैतन्य महाप्रभु की लीलाओं के वर्णन को सुनते-सुनते आसानी से भावतत्त्व जीवों के हृदय में उदित होगा। कविराज गोस्वामी वृद्धा-अवस्था में इस ग्रन्थ को लिख रहे थे, अतएव अन्त्यलीला के सूत्र पर्यन्त भक्तों के उपकार के लिये उन्होंने इस परिच्छेद में संगृहीत किये हैं। कविराज गोस्वामी ने कहा है श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी का मत ही भजन के सम्बन्ध में प्रधान मत है। रघुनाथ दास गोस्वामी ने श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी की कृपा से उनके द्वारा रचित कड़चा कण्ठस्थ करके स्वरूप के अन्तर्द्धान के बाद, व्रज में आगमन किया। वहाँ कविराज गोस्वामी ने उपस्थित होकर श्रीरूप और रघुनाथ की कृपा से उस कण्ठस्थ कड़चे के तात्पर्य को जानकर इस ग्रन्थ की रचना की। (अ:प्र:भा:)

प्रभु के कृष्ण विरह-
प्रलापादि का वर्णन—

विच्छेदेऽस्मिन् प्रभोरन्त्यलीला-सूत्रानुवर्णने।
गौरस्य कृष्णविच्छेदप्रलापाद्यनुवर्णते॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। (श्रील कविराज गोस्वामी कह रहे हैं)—महाप्रभु की अन्त्य लीला के सूत्र का अनुवर्णन करते हुए इस परिच्छेद में कृष्णविच्छेद-प्रलाप आदि का वर्णन कर रहा हूँ।

अनुभाष्य

१। अस्मिन् (श्रीचैतन्यचरितामृते मध्यलीलायां द्वितीय परिच्छेदे) प्रभोः (श्रीचैतन्यदेवस्य) अन्त्यलीला-सूत्रानुवर्णने (संन्यास चरित्र सूत्र संक्रमण-विषये) गौरस्य (गोपीभावाश्रितस्य भगवतो महाप्रभोः) कृष्णविच्छेद प्रलापादि (निजकान्त विरहजन्योन्मतवाक्यादि) अनुवर्ण-यते (मया लिख्यते)।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प॰अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो और श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो।

अन्त के द्वादश वर्षों में प्रभु का कृष्ण-विरह—

शेष जे रहिल प्रभुर द्वादश वत्सर।
कृष्णेर वियोग-स्फूर्ति हय निरन्तर॥३॥

३। प॰ अनु॰—अन्त के १२ वर्षों में श्रीमन् महाप्रभु को निरन्तर श्रीकृष्ण के विरह की स्फूर्ति होती थी।

अमृतप्रवाह भाष्य

३। वियोग,—विच्छेद।

उद्धव के दर्शन से श्रीराधिकाभावमय प्रभु—

श्रीराधिकार चेष्टा जेन उद्धव-दर्शने।
एइमत दशा प्रभुर हय रात्रि-दिने॥४॥
निरन्तर हय प्रभुर विरह-उन्माद।
भ्रममय चेष्टा सदा, प्रलापमय वाद॥५॥

४-५। प॰ अनु—उद्धव के दर्शन करके श्रीराधिका की जैसी दशा हुई थी, ठीक वैसी ही अवस्था श्रीमन्

महाप्रभु की भी रात-दिन होती थी। श्रीचैतन्य महाप्रभु निरन्तर कृष्ण के विरह में उन्मत्त रहते और सदैव भ्रममय चेष्टाएँ करते तथा प्रलापमय वचन उच्चारण करते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

५। वाद,—वाक्य।

अनुभाष्य

५। भ्रममय चेष्टा,—उद्घूर्णा। प्रलापमय वाद,—चित्रजल्पादि दस प्रकार के प्रलापमय वाक्य।

प्रभु का विप्रलम्भ महाभाव—

लोमकूपे रक्तोद्गम, दन्त सब हाले।
क्षणे अङ्ग क्षीण हय, क्षणे अङ्ग फूले॥६॥
गम्भीरा-भितरे रात्रे नाहि निद्रा-लव।
भित्ते मुख-शिर घषे, क्षत हय सब॥७॥
तिन द्वारे कपाट, प्रभु जायेन बाहिरे।
कभु सिंहद्वारे पड़े, कभु सिन्धुनीरे॥८॥

६-८। प॰ अनु॰—विरह की दशा में श्रीमन् महाप्रभु के लोम-विवरों में से कभी तो रक्त निकलता और कभी उनके दाँत हिलने लगते। एक क्षण में तो उनका अङ्ग पतला हो जाता और दूसरे ही क्षण में फूलने लगता अथवा उनकी देह कभी तो छोटी हो जाती और कभी बड़ी हो जाती। इस प्रकार गम्भीरा में रहते हुए श्रीमन् महाप्रभु को रात भर नींद ही नहीं आती थी। वे सारी रात गम्भीरा की भीतरी दीवारों से अपने मुख को तथा मस्तक को घिसते थे, जिसके फलस्वरूप वे घायल हो जाते थे। घर से बाहर निकलने वाले तीनों द्वारों के बन्द होने पर भी श्रीचैतन्य महाप्रभु घर से बाहर निकल जाते, कभी वे श्रीजगन्नाथ मन्दिर के सिंहद्वार पर गिरे हुए दिखायी देते और कभी समुद्र के जल में पाये जाते।

अमृतप्रवाह भाष्य

६। हाले,—नड़े (हिलने लगे)।

७। गम्भीरा,—बरामदे के बाद बना हुआ दरवाजा, पुनः, उसके भीतर के छोटे से घर को 'गम्भीरा' कहते हैं।

प्रभु को चिन्मय व्रज लीला का उद्दीपन—

चटक पर्वत देखि' 'गोवर्धन' भ्रमे।
धाञा चले आर्तनाद करिया क्रन्दने॥९॥
उपवनोद्यान देखि' वृन्दावन-ज्ञान।
ताँहा जाइ' नाचे, गाय, क्षणे मूर्च्छा जा' न॥१०॥

९-१०। प॰ अनु॰—चटक पर्वत को देखकर गोवर्धन के भ्रम से श्रीचैतन्य महाप्रभु उच्च स्वर से क्रन्दन करते-करते उस और दौड़ने लगते। कभी नीलाचल के वन-उपवनों को देखकर उन्हें वृन्दावन समझते और वहाँ जाकर नृत्य-कीर्त्तन करते हुए मूर्च्छित हो जाते।

अमृतप्रवाह भाष्य

९। चटकपर्वत,—समुद्र के तट पर जो सब बालू के पाहाड़ हैं, उन्हें 'चटक पर्वत' कहते हैं। गुण्डिचा मन्दिर और समुद्र के बीच में एक बड़ा चटक पर्वत है, उस स्थान पर बहुत बार 'गोवर्द्धन' के भ्रम से महाप्रभु चले जाते थे।

अनुभाष्य

९। भ्रमे,—भ्रम करते थे।

कृष्ण विरह से उत्पन्न अपूर्व महाभाव-विकार—

काँहा नाहि शुनि जेइ भावेर विकार।
सेइ भाव हय प्रभुर शरीरे प्रचार॥११॥
हस्तपदेर सन्धि सब वितस्ति-प्रमाणे।
सन्धि छाड़ि' भिन्न हये चर्म रहे स्थाने॥१२॥
हस्त, पद, शिर, सब शरीर-भितरे।
प्रविष्ट हय-कूर्मरूप देखिये प्रभुरे॥१३॥
एइ मत अद्भुत-भाव शरीरे प्रकाश।
मनेते शून्यता, वाक्ये हाहा-हुताश॥१४॥

११-१४। प॰ अनु॰—जिन भावों के विकारों को कभी सुना नहीं अर्थात् जो भाव अन्य किसी के शरीर में उत्पन्न हो ही नहीं सकते, वे सब विकार श्रीचैतन्य महाप्रभु के कलेवर में प्रकट होते थे। भावावेश के कारण उनके हस्तकमल तथा चरणकमल के जोड़ इतने खुल जाते, कि उनकी अस्थियों के जोड़ों में प्रायः एक विघत

(अर्थात् आठ इंच) का अन्तर आ जाता, खाली वाली जगह पर चमड़े के अतिरिक्त और कुछ न रहता। कभी- कभी उनके हस्त, चरण और सिर सब शरीर के भीतर प्रवेश कर जाते और प्रभु का आकार कछुए जैसा हो जाता। इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु के कलेवर में अद्भुत भाव प्रकटित होते, मन में शून्यता आ जाती और वाक्यों में हा-हुताश प्रकाशित होता।

अनुभाष्य

११। प्रचार,—प्रकाशित।

१२। सन्धि के स्थानों पर अन्दर में एक-दूसरे से सटी हुई अस्थियाँ (हड्डियाँ) अलग-अलग हो जाती, जिससे केवल मात्र चर्म का अस्तित्व ही लक्षित होता। सन्धि स्थल उस समय तक विघत (आठ इंच) दीर्घ हो जाते।

कृष्ण के विरह में प्रभु का करुण विलाप—

काँहा मोर प्राणनाथ मुरलीवदन।
काँहा करों, काँहा पाऊ व्रजेन्द्रनन्दन॥१५॥
काहारे कहिब, केबा जाने मोर दुःख।
व्रजेन्द्रनन्दन बिना फाटे मोर बुक॥१६॥
एइमत विलाप करे विह्वल अन्तर।
रायेर नाटक-श्लोक पड़े निरन्तर॥१७॥

१५-१७। प० अनु०—श्रीकृष्ण के विरह में श्रीचैतन्य महाप्रभु मन के भावों को व्यक्त करके विलाप करते हुए कहते—"मुख पर मुरली को धारण करने वाले मेरे प्राणनाथ कहाँ हैं? मैं अब क्या करूँ? कहाँ जाकर उन व्रजेन्द्रनन्दन को ढूँढू? किसे मैं अपने हृदय की बात बताऊँ? कौन मेरे दुःख को समझ सकता है? व्रजेन्द्रनन्दन के बिना अर्थात् उनके विरह में मेरा वक्षस्थल फटा जा रहा है।" इस प्रकार श्रीमन् महाप्रभु विह्वल होकर विलाप करते और उस समय श्रीरायरामानन्द के द्वारा रचित जगन्नाथवल्लभ नाटक का निम्नोक्त श्लोक निरन्तर उच्चारण करते।

(जगन्नाथवल्लभ नाटक के तृतीय अंक का नवम श्लोक)

प्रेमच्छेदरुजोऽवगच्छति हरिर्नायं न च प्रेम वा
स्थानास्थानमवैति नापि मदनो जानाति नो दुर्बलाः।
अन्यो वेद न चान्यदुःखमखिलं नो जीवनं वाश्रवं
द्वित्रान्येव दिनानि यौवनमिदं हा हा विधेः का गतिः॥१८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१८। हमारे कृष्ण, प्रेम द्वारा दिये गये आघात से उत्पन्न रोग को अनुभव नहीं कर रहे। प्रेम के विषय में भी क्या बात कहुँ, वह स्थानास्थान को न जानकर ही आघात करता है! मदन की तो बात ही नहीं, क्योंकि वह तो यह भी नहीं समझ पाया कि हम बहुत अधिक दुर्बल हैं! किसको क्या कहुँ, कोई भी दूसरे के सम्पूर्ण दुःख को नहीं समझ सकता! हमारा जीवन हमारे वश में नहीं है; यौवन भी दो-तीन दिनों के समान थोड़े समय के लिये रहने वाला है! हाय! ऐसी अवस्था में, हे विधाता; हमारी क्या गति होगी?

पाठान्तर में,—'विधे'।

अनुभाष्य

१८। अयं हरिः (कृष्णः) अस्मान् प्रेमोच्छेदरुजः (प्रेमच्छेदने तस्य प्रेम भङ्गेन याः रुजः ताः विच्छेदरोगार्त्ताः गोपीः) न अवगच्छति (जानाति); प्रेम वा स्थानास्थानं च (सद्सत-पात्रापात्रं) न अवैति (जानाति); मदनः अपि नः (अस्मान्) दुर्बलाः (परवश्याः अबलाः) न जानाति। अन्यः जनः दुखं (अपरजन क्लेशं) न वेद। नः (अस्माकं) जीवनम् आश्रवं (क्लेशमात्रं परवश्यं वा)। इदं यौवनं द्वित्राण्येव दिनानि! हा हा विधे! (विधातः) का गतिः (कीदृशी गतिः, अस्माभिदुर्बोध्येति भावः)।

अत्यन्त विरह के कारण कृष्ण के प्रति दोषोदगार—

उपजिल प्रेमाङ्कुर, भाङ्गिल जे दुःख-पूर,
कृष्ण ताहा नाहि करे पान।

बाहिरे नागरराज, भितरे शठेर काज,
परनारी वधे सावधान॥१९॥

निजादृष्ट-धिक्कार—
सखि हे, ना बुझिये विधिर विधान।
सुख लागि, कैलूँ प्रीति, हैल विपरीत गति,
एबे जाय, ना रहे परान॥२०॥

प्रेम के प्रति दोषारोपण—
कुटिल प्रेमा अगेयान, नाहि जाने स्थानास्थान,
भाल-मन्द नारे विचारिते।
क्रूर शठेर गुणडोरे, हाते-गले बान्धि' मोरे,
राखियाछे, नारि' उकाशिते॥२१॥

कृष्ण कामना के प्रति दोषोद्गार—
जे मदन तनुहीन, परद्रोहे परवीण,
पाँच बाण सन्धे अनुक्षण।
अबलार शरीरे, विन्धि' कैल जरजरे,
दुःख देय, ना लय जीवन॥२२॥

परमप्रेष्ठ-सखियों के
प्रति भी दोषारोपण—
अन्येर ये दुःख मने, अन्ये ताहा नाहि जाने,
सत्य एइ शास्त्रेर विचार।
अन्य जन काँहा लिखि, ना जानये प्राणसखी,
जाते कहे धैर्य धरिवार॥२३॥

अल्प आयु के कारण विलम्ब और
प्रतीक्षा के कारण हताशभाव—
'कृष्ण—कृपा-पारावार, कभु करिबेन अङ्गीकार',
सखि, तोर ए व्यर्थ वचन।
जीवेर जीवन चञ्चल, जेन पद्मपत्रेर जल,
तत दिन जीवे कोन् जन॥२४॥
शत वत्सर पर्यन्त, जीवेर जीवन अन्त,
एइ वाक्य कह ना विचारि'।
नारीर यौवन-धन, जारे कृष्ण करे मन,
से यौवन—दिन दुइ-चारि॥२५॥

अग्नि और पतङ्ग के साथ कृष्ण की और अपनी तुलना—
अग्नि जैछे निज-धाम, देखाइया अभिराम,
पतङ्गीरे आकर्षिया मारे।
कृष्ण ऐछे निज-गुण, देखाइया हरे मन,
पाछे दुःख-समुद्रेते डारे॥२६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९-२६। (श्रीकृष्ण के विरह में) श्रीमती राधिका कह रही हैं—आहा, दुःख की बात क्या बताऊँ! कृष्ण के सम्मिलन से मुझमें प्रेम का अङ्कुर उत्पन्न हुआ था; पुनः कृष्ण के विच्छेद से उसी प्रेमाङ्कुर में आघात लगने के कारण अब दुःख का प्रवाह बह रहा है। इस रोग के कृष्ण ही एकमात्र चिकित्सक हैं, किन्तु कृष्ण उस प्रेमाङ्कुर की रक्षा करने का कोई भी यत्न नहीं कर रहे हैं! कृष्ण के व्यवहार के विषय में क्या कहुँ!—वे बाहर में तो नागर राज है, किन्तु अन्दर में शठता से परिपूर्ण हैं,—दूसरों की स्त्रियों के वध करने के लिये ही उनकी सब चेष्टाएँ हैं। कृष्ण के साथ प्रीति करने का ऐसा फल! सखि हे, विधि के इस विधान को न समझ पाने के कारण मैंने सुख के लिये प्रीति की थी, किन्तु इस दुःखी के लिये उसके ठीक विपरीत अत्यन्त दुःख उपस्थित हुआ है! और क्या, प्राण अब गये, तब गये, ऐसी अवस्था है! हमारे कृष्ण तो ऐसे हैं ही, और उस पर 'प्रेम' कहकर जो एक तत्त्व है, उसके बारे में क्या कहुँ! प्रेम स्वभाव से ही कुटिल और अज्ञानमय अन्धा होता है—स्थानास्थान न समझकर एवं मन्द फलाफल का विचार किये बिना ही उस कृष्ण रूपी क्रूर शठ की गुण रूपी रज्जु से उसने मेरे हाथ और गले को बाँधकर रख दिया है, मैं अपने आपको छुड़ा नहीं पा रही हूँ! कृष्ण और प्रेम, इन दोनों का ऐसा कार्य है! इस प्रीति रूपी कार्य में 'मदन' नामक और एक तत्त्व है। उसका गुण

यह है,—वह स्वयं शरीर विहीन है, किन्तु तब भी दूसरों के प्रति द्रोह करने में प्रवीण है। वह सब समय पाँच बाणों के द्वारा बींधकर देह को छेदनकर उसे छिन्न-भिन्न कर देता है! यदि एक ही बार में जीवन ले लेता, तब भी अच्छा था, किन्तु वह वैसा न करके केवल दुःख ही देता है। शास्त्र कहते हैं कि एक व्यक्ति के दुःख को दूसरे नहीं समझ पाते। इस विषय में दूसरों की बात क्या कहुँ, मेरी ललिता आदि प्राण सखियाँ भी मेरे दुःख को समझ नहीं पाने के कारण, 'हे सखि! धैर्य रखो,' बारम्बार यही कहती रहती है। हे सखि! तुम जो कह रही हो,—'कृष्ण कृपा के समुद्र हैं,—कभी-न-कभी तुम्हें अङ्गीकार करेंगे'—तुम्हारी यह बात किन्तु किसी कार्य में नहीं लगेगी; क्योंकि, कमल की पंखुड़ी पर स्थित जल की बूँद के समान जीव का जीवन चञ्चल है,—कृष्ण की कृपा जब होगी, तब तक क्या मैं बची रहूँगी? मनुष्य सौ वर्ष से अधिक तक नहीं रहता। और फिर तुम विचार करके देखो कि, कृष्ण के चित्त का हरण करने वाली रमणी का यौवन रूपी धन बहुत ही कम दिनों तक रहता है। यदि कहो, कृष्ण—गुणों के सागर हैं, अवश्य ही कृपा करेंगे, तो मेरा कहना है, अग्नि जिस प्रकार अपने प्रकाश को दिखाकर पतङ्गों को आकर्षित करके मार डालती है, कृष्ण के गुण भी उसी प्रकार गुणों की झलमल को दिखलाकर स्त्रियों के मन को आकर्षित करके पुनः विच्छेद रूपी दुःख-समुद्र में डुबो देते हैं।

अनुभाष्य

२१। अगेयान,—अज्ञान, ना समझ। उक्राशिते,—उद्धार (मोचन) करने में।

२२। तनुहीन—अनङ्ग (बिना अङ्गों वाला)।

एतेक विलाप करि', विषादे श्रीगौरहरि,
उघाड़िया दुःखेर कपाट।
भावेर तरङ्ग-बले, नानारूपे मन चले,
आर एक श्लोक कैल पाठ॥२७॥

२७। प० अनु०—इस प्रकार विषाद पूर्वक विलाप करके श्रीगौरहरि ने अपने हृदय में सञ्चित दुःख के कपाट को खोल दिया। भाव की तरङ्ग के प्रवाह के बल से उनका चित्त अनेक प्रकार से प्रवाहित हो रहा था तथा उसी अवस्था में उन्होंने इस प्रकार और एक श्लोक का उच्चारण किया।

अनुभाष्य

२७। उघाड़िया,—उद्घाटन करके (दिखलाकर)।

अत्यधिक गूढ़ कृष्णप्रीति-सूचक निर्वेदमय गान—
(गोस्वामि-पादोक्त-श्लोक)

श्रीकृष्णरूपादिनिषेवणं विना
व्यर्थानि मेऽहान्यखिलेन्द्रियान्यलम्।
पाषाणशुष्केन्धनभारकान्यहो
विभर्मि वा तानि कथं हतत्रपः॥२८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२८। हे सखि, श्रीकृष्ण के रूप-गुण और लीलाओं को सेवन न करके मेरे दिन और समस्त इन्द्रियाँ व्यर्थ हो रही हैं, अब उन सभी पाषाण और सूखी हुयी लकड़ियों के भार जैसी इन्द्रियों को मैं निर्लज होकर किस प्रकार धारण करने में समर्थ होऊँगी?

अनुभाष्य

२८। श्रीकृष्णरूपादिनिषेवणं (श्रीकृष्णरूपगुणलीलानां निषेवणं शुश्रुषादिकं) बिना मे (मम) अहानि (दिनानि जीवितकालानि) अखिलेन्द्रियाणि (सर्वहृषीकाणि भोगाङ्ग-विग्रहाणि) च अलं (नितरां) व्याथानि (विफल-प्रदानि भविन्त)। अहो, पाषाण शुष्केन्धनभारकाणि (पाषाण शुष्क काष्ठतुल्यो भारो येषां तानि इन्द्रियाणि) कथं विभर्मि (धारयामि)? अहं हतत्रपः (निर्लज्जः), (अतः कृष्णभोग-रहिते जीवित विग्रहे मम स्पृहा वर्त्तते)।

कृष्णसेवाहीन अङ्ग और इन्दियाँ निष्फल;
(१) भोगों में रत आँखों की व्यर्थता—

वंशीगानामृत-धाम, लावण्यामृत-जन्मस्थान,

जे ना देखे से-चाँद वदन।
से नयने किबा काज, पड़ूक तार मुण्डे बाज,
से नयन रहे कि कारण॥२९॥

२९। प॰ अनु॰—जो नेत्र श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र के साथ उनके उस सुन्दर वदन का दर्शन नहीं करते, जहाँ से समस्त सौन्दर्य एवं वंशीगीत रूपी अमृत का जन्म होता है, उन नेत्रों की क्या आवश्यकता? उन नेत्रों के आधार स्वरूप मस्तक पर व्रजाघात हो! ऐसे नेत्रों को धारण करने का क्या लाभ?

अमृतप्रवाह भाष्य

२९। श्रीकृष्ण का चन्द्रवदन वंशीगान का अमृतधाम स्वरूप और लावण्य रूपी अमृत के जन्म स्थान स्वरूप है ।

अनुभाष्य

२९। श्रीकृष्ण का चन्द्रवदन वंशी गान सुधा का आश्रय एवं लावण्य रूपी सुधा का मूल स्त्रोत्र है। गोपियों के जो नेत्र ऐसे परम रमणीय कृष्ण के रूप के दर्शनों से वञ्चित हैं, उन नयनों के आश्रय गोपियों के मस्तक पर वज्राघात होना ही श्रेयः अर्थात् परम मङ्गलकारी है। वास्तव में गोपियाँ कृष्ण के अतिरिक्त किसी और वस्तु को देखकर उसके प्रति विराग (अनासक्ति) प्रदर्शित करती हैं अर्थात् उसके प्रति उदासीन रहती हैं, प्रसन्न नहीं होती। उनके नयनाभिराम (अर्थात् नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले) सेव्य कृष्ण मुखचन्द्र ही नेत्र रूपी इन्द्रियों की आराध्य वस्तु हैं, उस (मुखकमल के दर्शन के) अभाव में नेत्रों को धारण करने वाले अर्थात् उनके आधार स्वरूप सिर पर वज्राघात ही वाञ्छनीय है। और कृष्ण दर्शन रहित होकर दूसरी वस्तुओं को देखने के लिये नेत्रों के होने का कोई कारण उनको उपलब्ध नहीं होता।

सखि हे, शुन, मोर हत विधिबल।
मोर वपु-चित्त-मन, सकल इन्द्रियगण,
कृष्ण बिना सकल विफल॥३०॥ध्रु॥

३०। प॰ अनु॰—हे सखी! मेरे दुर्दैव की कितनी शक्ति है, उसे एकबार सुनो। इसी दुर्दैव के प्रभाव से ही मेरी देह, चित्त, मन और समस्त इन्द्रियाँ सब व्यर्थ हो गयी हैं।

(२) भोगों में रत
कानों की व्यर्थता—

कृष्णेर मधुर वाणी, अमृतेर तरङ्गिणी,
तार प्रवेश नाहि जे श्रवणे।
काणाकड़ि-छिद्र सम, जानिह से श्रवण,
तार जन्म हैल अकारणे॥३१॥

३१। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण की मधुर वाणी अमृत की तरङ्ग की भाँति है, वह अमृत यदि किसी के कर्ण-कुहरों में प्रवेश नहीं किया, तो उसके कान-कौड़ी के छिद्र के समान हैं, ऐसा जानना चाहिए। अकारण ही उन कानों की सृष्टि हुई है।

(३) भोगों में रत जिह्वा की व्यर्थता—

कृष्णेर अधरामृत, कृष्ण-गुण-चरित,
सुधासार-स्वादु-विनिन्दन।
तार स्वाद जे ना जाने, जन्मिया ना मैल केने,
से रसना भेक-जिह्वा सम॥३२॥

३२। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण का अधरामृत एवं श्रीकृष्ण के गुण और चरित्र अमृत के सार के स्वाद को भी तुच्छ कर देते हैं। उस स्वाद को जो नहीं जानता, अर्थात् आस्वादन नहीं करता, वह जन्म लेने के साथ-ही-साथ मर क्यों नहीं गया। ऐसे व्यक्ति की रसना (जिह्वा) मेढ़क की जिह्वा के समान है।

(४) भोगों में रत नासिका की व्यर्थता—

मृगमद-नीलोत्पल, मिलने जे परिमल,
जेइ हरे तार गर्व-मान।
हेन कृष्ण-अङ्ग-गन्ध, जार नाहि से सम्बन्ध,

सेइ नासा भस्त्रार समान॥३३॥

३३। प० अनु०—कस्तूरी और नीलकमल के मिलन से जो सुगन्ध उत्पन्न होती है, श्रीकृष्ण के अङ्गों की सुगन्ध उस सुगन्ध के भी गर्व और मान का हरण कर देती है अर्थात् उसे तुच्छ कर देती है। श्रीकृष्ण के अङ्गों की उस गन्ध का जिसकी नासिका ने आघ्राण नहीं लिया, उसकी नासिका धौकनी के समान है।

(५) भोगों में रत चर्म की व्यर्थता—

कृष्ण-कर-पदतल, कोटिचन्द्र-सुशीतल,
तार स्पर्श जेन स्पर्शमणि।
तार स्पर्श नाहि जार, से जाउक् छारखार,
सेइ वपु लौह-सम जानि॥३४॥

३४। प० अनु०—श्रीकृष्ण के हस्तकमल एवं चरणकमल करोड़ो-करोड़ो चन्द्रमाओं के समान सुशीतल हैं। उनका स्पर्श ऐसा है, मानों स्पर्शमणि का स्पर्श हो। किन्तु जिन्होंने श्रीकृष्ण के हस्तकमल एवं पदकमल का स्पर्श प्राप्त नहीं किया, उनका जीवन ध्वंस होने के कगार पर है तथा उनकी देह लोहे के समान है।"

अनुभाष्य

२९-३४। (भा: २/३/१७-२४) आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ। तस्यर्ते यत् क्षणो नीत उत्तमः-श्लोकवार्तया॥ तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत। न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे॥ श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः। न यत्कर्ण-पथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥ बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य। जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥ भारः परं पट्टकिरीटजुष्ट-मप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्। शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥ बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये। पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥ जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुन् न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु। श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुल-स्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥ तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः। न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥

करि' एत विलापन, प्रभु श्रीशचीनन्दन,
उघाड़िया हृदयेर शोक।
दैन्य-निर्वेद-विषादे, हृदयेर अवसादे,
पुनरपि पड़े एक श्लोक॥३५॥

३५। प० अनु०—इस प्रकार विलाप करते-करते श्रीशचीनन्दन महाप्रभु ने अपने हृदय के शोक को प्रकट किया तथा दैन्य, निर्वेद, विषाद और हृदय के अवसाद में पुनः एक श्लोक का उच्चारण किया।

अनुभाष्य

३५। दैन्य—भः रः सिः,दः विः चतुर्थ लः—"दुःख- त्रासापराधाधैरनोर्जित्यन्तु 'दीनता'। चाटुकृन्मान्द्यमा- लिन्यचिन्ताङ्गजड़िमादिकृत॥" दुःख, त्रास और अपराध आदि द्वारा अपने को अति निकृष्ट मानने से 'दीनता' आती है। दैन्य उत्पन्न होने पर दैन्यमयी याचना, हृदय की अपटुता, अस्वच्छन्दता, अनेक प्रकार की भावनाएँ तथा अङ्गों में जड़ता अर्थात् शिथिलता आ जाती है।

निर्वेद—भः रः सिः दः विः चतुर्थ लः—"महार्त्ति-विप्रयोगर्ष्यासद्विवेकादिकल्पितम्। स्वावमाननमेवात्र 'निर्वेद' इति कथ्यते। अत्र चिन्ताश्रुवैवर्ण्यदैन्यनिश्व-सितादयः॥" अत्यन्त दुःख, विच्छेद, ईर्ष्या, अकर्त्तव्य के अनुष्ठान के लिये और कर्त्तव्य को पालन नहीं करने के कारण शोक युक्त निज अपमान को ही 'निर्वेद' कहते हैं। निर्वेद होने से चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य, दैन्य और निःश्वास आदि उत्पन्न होते हैं।

विषाद—भः रः सिः दः विः चतुर्थ लः—"इष्टा-नवाप्तिप्रारब्धकार्यासिद्धिविपतितः। अपराधादितो-ऽपिस्यादुतापो विषन्नता॥ अत्रोपायसहायासन्धिश्चिन्ता च

रोदनम्, विलापश्वासवैवर्ण्य मुख शोषादयोऽपि च॥" इष्ट अर्थात् अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति, सङ्कल्पित प्रारब्ध कार्य की असिद्धि, विपत्ति एवं अपराध आदि से जो अनुताप होता है, वही 'विषाद' है। विषाद होने पर उपाय और उसके सहायक का अनुसन्धान, चिन्ता, रोदन, विलाप, श्वास, वैवर्ण्य और मुख का सूखना आदि होता है। दैन्य, निर्वेद और विषाद आदि तैंतीस व्यभिचारी भाव स्थायिभाव में विशेष प्राधानता प्राप्त करके विचरण करते हैं। वाक्य, भ्रूनेत्र आदि अङ्ग, सात्विकानुभाव सूची द्वारा व्यभिचारी भाव को जानना पड़ता है। भाव की गति को सञ्चार करने वाले होने के कारण व्यभिचारी भावों को 'सञ्चारी' कहा जाता है।

(श्रीजगन्नाथवल्लभ-नाटक के तृतीय अंक का एकादश श्लोक)—

यदा यातो दैवन्मधुरिपुरसौ लोचनपथं
तदास्माकं चेतो मदनहतकेनाहृतमभृत्।
पुनर्यस्मिन्नेष क्षणमपि दृशोरेति पदवीं
विधास्यामस्तस्मिन्नखिलघटिका रत्नखचिताः॥३६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३६। दैववशतः श्रीकृष्ण का रूप मेरे नयनों के गोचर होने पर भी मेरे चित्त के दर्शन के सौभाग्य रूपी अहङ्कार के द्वारा हत होने पर, 'मदन' और 'आनन्द' नामक किसी त त्त्व के द्वारा उस चित्त का अपहरण किया गया था, (मेरे उसी चित्त ने अपने दोष के कारण) मुझे जी भरकर उस रूप-सौन्दर्य को देखने नहीं दिया। यदि फिर, कभी दोबारा उस कृष्ण स्वरूप को देख पाऊँगी, तब उस समय को बहुत से रत्नों के द्वारा अलंकृत करूँगी।

अनुभाष्य

३६। यदा (यस्मिन् काले स्वप्ने वा) असौ मधुरिपुः (मधुसूदनः) दैवात् (मम भाग्येन) लोचनपथं (दृगगोचर) यातः (प्राप्तः) मदनहतकेन (मदयति हर्षयति इति मदनः एवः हतकः शषुर्यस्य तेन वैरिणा मदनेन) अस्माकं चेतः (मनः) आहृतं (चोरितम्) अभूत। पुनः यस्मिन् (क्षणे) एषः (कृष्णः) दृशोः (नेत्रयोः) पदवीं (मार्ग) एति (याति, प्राप्नोति), (तस्मिन् काले) अखिलघाटिकाः (मुर्हूत्तघटीपलविपलादिकाः) रत्नखाचिताः। विधास्यामः (माल्यचन्दन-मणिमुक्तादिना समलङ्कुर्मः)।

श्लोकार्थ—विरह के कारण कृष्ण के दर्शन और मिलन के एक क्षण को भी बहुत मानना—

जे काले वा स्वपने, देखिनु वंशीवदने,
सेइ काले आइला दुइ वैरी।
'आनन्द' आर 'मदन', हरि' निल मोर मन,
देखिते ना पाइलुँ नेत्र भरि'॥३७॥
पुनः यदि कोन क्षण, कराय कृष्ण दरशन,
तबे सेइ घटी-क्षण-पल।
दिया माल्यचन्दन, नाना रत्न-आभरण,
अलंकृत करिमु सकल॥३८॥

३७-३८। प० अनु०—"जिस समय अथवा स्वप्न में मुझे वंशीवदन श्रीकृष्ण को देखने का अवसर प्राप्त हुआ, उस समय मेरे दो शत्रु आकर उपस्थित हुए। उन शत्रुओं का नाम 'आनन्द' और 'मदन' है। उन्होंने मेरे मन को चोरी कर लिया तथा मैं नेत्र भरकर श्रीकृष्ण के रूप को नहीं देख पायी। पुनः यदि किसी समय श्रीकृष्ण दर्शन करायेगे, तब मैं दिव्य माला-चन्दन और अनेक प्रकार के रत्न-अलङ्कारों के द्वारा उस घड़ी-क्षण-पल को अलंकृत करूँगी।"

प्रभु का 'चित्रजल्प' महाभाव; बाह्य दशा में प्रभु का स्वरूप-रामानन्द के निकट विलाप—

क्षणे बाह्य हैल मन, आगे देखे दुइ जन,
ताँरे पुछे,—आमि ना चैतन्य?
स्वप्नप्राय कि देखिनु, किबा आमि प्रलापिनु,

तोमरा किछु शुनियाछ दैन्य?॥३९॥

३९। प० अनु०—थोड़ी देर के बाद जब श्रीचैतन्य महाप्रभु के मन को बाह्य ज्ञान हुआ, तब अपने सामने दो व्यक्तियों को देखकर (राधा-भावाविष्ट) उन्होंने पूछा, "मैं कृष्ण चैतन्य ही हूँ ना? मैंने क्या कुछ स्वप्न जैसा देखा है? मैंने क्या प्रलाप किया है? क्या तुमने मुझे दैन्यपूर्वक कुछ कहते सुना है?

अमृतप्रवाह भाष्य

३९। आगे देखे दुईजन (अर्थात् सामने दो लोगों को देखा),—(ये दो लोग) स्वरूप दामोदर और राय रामानन्द हैं। उनको देखकर थोड़ी बाह्य चेष्टा (दशा) हुई, (महाप्रभु ने) राधाभिमान छोड़कर जिज्ञासा की,—मैं वही चैतन्य ही हूँ ना?

कृष्ण के विरह में अपने आपको दीन मानना—

शुन, मोर प्राणेर बान्धव।
नाहि कृष्ण-प्रेमधन, दरिद्र मोर जीवन,
देहेन्द्रिय वृथा मोर सब॥४०॥
पुनः कहे,—हाय हाय, शुन, स्वरूप-रामराय,
एइ मोर हृदय निश्चय।
शुनि, करह विचार, हय, नय—कह सार,
एत बलि' श्लोक उच्चारय॥४१॥

श्रीमद्भागवत १०/३१/१ का तोषणी धृत श्लोक—

कईअबरहिअं पेम्मं ण हि होइ मानुसे लोए।
जइ होई कस्स विरहे होन्तम्मि को जीअइ॥४२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४२। इस प्राकृत (जागतिक) श्लोक की संस्कृत में परिणति—"कैतव रहितं प्रेम न हि भवति मानुषे लोके। यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि न को जीवति॥" अर्थात् प्रेम कैतव रहित (कपटता रहित) एवं मनुष्य लोक में कभी भी उदित नहीं होता। यदि कभी उदित होता भी है, तो फिर विरह नहीं होता। यदि विरह होता है तो फिर जीवन नहीं रहता।

अनुभाष्य

४२। कहअवरहि अं (कैवत रहितं धर्मार्थका मोक्षादिछल धर्म शून्य) प्रेम्मं (प्रेम) मानुसेलोत्र (मानुषे लोके) नहि होई (नहि भवति) जइ (यदि) कसस (कस्य) विरहः (प्रेम्नः) विच्छेदः भवति), (तदा) विरहे (विच्छेदे) होन्तस्मि (भवत्यपि) न को जीभई (जीवित)।

श्लोक का अर्थ—

अकैतव कृष्णप्रेम, जेन जाम्बुनद-हेम,
सेइ प्रेमा नृलोके ना हय।
यदि हय तार योग, ना हय तबे वियोग,
वियोग हैले केह ना जीयय॥४३॥
एत कहि' शचीसुत, श्लोक पड़े अद्भुत,
शुने दुँहे एक-मन हञा।
आपन-हृदय-काज, कहिते वासिये लाज
तबु कहि लाजबीज खाञा॥४४॥

४३-४४। प० अनु०—"धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि छल-धर्मों अर्थात् स्वसुखवासना से शून्य अकैतव कृष्णप्रेम विशुद्ध स्वर्ण के समान है, वैसा कामगन्धहीन प्रेम इस मनुष्यलोक में होता ही नहीं। यदि चित्त के साथ उस कृष्णप्रेम का संयोग होता है, तब उस प्रेम का चित्त से वियोग नहीं होता। यदि चित्त से उस प्रेम का वियोग हो, तो जीवन नहीं रहता।" इतना कहकर श्रीशचीनन्दन ने और एक अद्भुत श्लोक का उच्चारण किया एवं श्रीस्वरूप दामोदर और श्रीराय रामानन्द ने उसे एकाग्रचित्त से श्रवण किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"यद्यपि अपने हृदय के ऐसे कार्य-कलापों को व्यक्त करने में मैं लज्जा अनुभव कर रहा हूँ, तथापि लज्जा त्याग करके अर्थात् निर्लज्ज होकर मैं उसके विषय में बतला रहा हूँ।"

अनुभाष्य

४४। लाजबीज खाइया—लज्जा के माथे को खाकर।

श्रीमन् महाप्रभु उच्चारित श्लोक—

न प्रेमगन्धोऽस्ति दरापि मे हरौ
क्रन्दामि सौभाग्यभरं प्रकाशितुम्।
वंशीविलास्याननलोकनं विना
विभर्मि यत् प्राणपतङ्कान् वृथा॥४५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४५। हे सखि, कृष्ण के प्रति मुझमें सामान्य प्रेम की गन्ध भी नहीं है। तब मैं जो क्रन्दन करती हूँ, वह केवल अपने अधिक सौभाग्य को प्रकाशित करने के लिये। वंशी-वदन श्रीकृष्ण के दर्शन के बिना मैं जिस प्राण पतङ्ग को धारण करती हूँ, वह वृथा है।

अनुभाष्य

४५। मे (मम) हरौ (भगवति कृष्णे) दरापि (ईषदपि) प्रेमगन्धः (प्रेमासम्बन्धः) न अस्ति, (तथापि) सौभाग्यभरं (मम प्रेमास्ति इति सौभाग्यातिशयं) प्रकाशितुं क्रन्दामि (आनन्द-नीरं विसृजामि)। यत् (यतः) वंशी-विलासस्याननलोकनं (मुरलीनिनाद पर-कृष्ण-मुखशोभा-निरीक्षणं) बिना प्राणपतङ्गकान् (क्षुद्रपतङ्ग तुल्य प्राणान्) वृथा विभर्मि (धारयामि)।

श्लोक का अर्थ—

दूरे शुद्धप्रेमगन्ध, कपट प्रेमेर बन्ध,
सेह मोर नाहि कृष्ण-पाय।
तबे जे करि क्रन्दन, स्वसौभाग्य प्रख्यापन,
करि, इहा जानिह निश्चय॥४६॥
जाते वंशीध्वनि-सुख, ना देखि' से चाँद मुख,
यद्यपि नाहिक 'आलम्बन'।
निज-देहे करि प्रीति, केवल कामेर रीति,
प्राण-कीटेरे करिये धारण॥४७॥

४६-४७। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण के चरणकमलों के प्रति स्वसुखवासनाशून्य शुद्ध प्रेम के लेशमात्र का तो कहना ही क्या, बल्कि उसकी गन्धमात्र भी मुझमें नहीं है। और तो और, स्वसुखवासना युक्त कपट प्रेम का बन्धन भी नहीं है। तुम मुझे जो क्रन्दन करते हुए देख रही हो, वह केवल मैं अपने सौभाग्य को प्रदर्शित करने के लिये ही करती हूँ। (अर्थात् मैं कृष्ण प्रेम में क्रन्दन नहीं, बल्कि अपने आपको अत्यन्त सौभाग्यवान् दिखलाने के लिये ही क्रन्दन करती हूँ) मेरी इस बात पर तुम लोग दृढ़तापूर्वक विश्वास करो। (यदि पूछो कि यह मैंने किस प्रकार जाना, तो सुनो—) श्रीकृष्ण के साथ मेरा कपट-प्रेम का बन्धन भी नहीं है, जिस मुखचन्द्र की वंशीध्वनि से सुख उत्पन्न होता है, वंशीवादन में रत श्रीकृष्ण के उस चन्द्रवदन को नहीं देख पाने पर एवं उनके साथ मिलन की कोई सम्भावना नहीं होने पर भी मैं अपनी देह के प्रति जो प्रीति रखती हूँ। उसी से पता चलता है कि प्राण-कीट को धारण किये रखना तो केवल काम की ही रीति है प्रेम की रीति नहीं।

अनुभाष्य

४७। सेव्य विषय और सेवक आश्रय, इन दोनों तत्त्वों के मिलन को 'आलम्बन' कहते हैं। आश्रय का— श्रवण, विषय की—वंशीध्वनि; विषय के चन्द्रमुख का दर्शन करने में आग्रह भाव—आश्रय के आलम्बन राहित्य का ज्ञापक है। अपनी बाहरी अनुभूति वशतः काम को चरितार्थ करने के लिये प्राणों को धारण करना वृथा है।

भः रः सिः—"हन्ते देहहतकैः किमममीभिः पालितै-विफलपुण्यफलेर्नः।" हाय, हमारी पुण्य रहित हत देह को पालन करने से क्या होगा?

कृष्ण प्रेम का लक्षण—

कृष्णप्रेमा सुनिर्मल, जेन शुद्धगङ्गाजल,
सेइ प्रेमा—अमृतेर सिन्धु।
निर्मल से अनुरागे, ना लुकाय अन्य दागे,
शुक्लवस्त्रे जैछे मसीबिन्दु॥४८॥
शुद्धप्रेम-सुखसिन्धु, पाइ तार एक बिन्दु,
सेइ बिन्दु जगत् डुबाय।

कहिबार योग्य नय, तथापि बाउले कय,
कहिले वा केबा पातियाय॥४९॥

४८-४९। प० अनु०—कृष्ण-प्रेम शुद्ध गङ्गाजल की भाँति अत्यन्त निर्मल है। वह प्रेम अमृत का समुद्र है। उस निर्मल अनुराग में अन्य कोई भी चिह्न उसी प्रकार छिप नहीं सकता। जिस प्रकार सफेद वस्त्र में स्याही की एक बूँद भी नहीं छिप सकती अर्थात् जिस प्रकार सफेद वस्त्र में स्याही का एक छोटा सा चिह्न भी स्पष्ट दिखायी देता है, उसी प्रकार सुनिर्मल कृष्णप्रेम में कृष्ण के प्रति अनुराग में थोड़ी-सी कमी भी अत्यन्त प्रबल रूप से प्रकाशित हो पड़ती है। शुद्ध कृष्णप्रेम सुख के सिन्धु के समान है, उस शुद्ध प्रेम रूपी सुख समुद्र का एक बिन्दु भी यदि जगत् को मिल जाये, तो वही एक बिन्दु ही समस्त जगत् को डुबो देने में समर्थ है। इस प्रकार के शुद्ध प्रेम की बात प्रकाश करने के योग्य नहीं है, तथापि (एक बिन्दु का पान करने वाला व्यक्ति) पागल होकर उसका वर्णन करने का प्रयास करता है। फिर भी कहने में कैसा दोष! क्योंकि उसके कहने पर भी कोई विश्वास नहीं करता।

अनुभाष्य

४८। निर्मल कृष्णप्रेम का अनुराग सफेद वस्त्र के जैसा है, अनुराग का अभाव स्याही के धब्बे जैसा है, वह वास्तव में अनुराग नहीं है। वह 'अनुराग' नामक स्वच्छ वस्तु पर स्याही के धब्बे जैसा स्पष्ट है।

४९। पतियाय—प्रत्यय होगा अर्थात दोष होगा।

कृष्ण प्रेम का परस्पर
विरुद्ध लक्षण—

एइमत दिने-दिने, स्वरूप-रामानन्द-सने,
निज-भाव करेन विदित।
बाह्ये विषज्वाला हय, भितरे आनन्दमय,
कृष्णप्रेमा अद्भुत चरित॥५०॥
एइ प्रेमा-आस्वादन, तप्त-इक्षु-चर्वण,
मुख ज्वले, ना जाय त्यजन।
सेइ प्रेमा जाँर मने, तार विक्रम सेइ जाने,
विषामृते एकत्र मिलन॥५१॥

५०-५१। प० अनु०—इस प्रकार दिन-प्रतिदिन श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वरूप दामोदर और राय रामानन्द के समक्ष अपने हृदगत भावों को व्यक्त करते। इस भाव में विष की ज्वाला की भाँति बाहर से दुःख अनुभव होने पर हृदय में आनन्द होने के कारण कष्ट की अनुभूति नहीं होती, बल्कि परम आनन्द की ही अनुभूति होती है। कृष्ण-प्रेम का ऐसा अद्भुत चरित्र है।

इस प्रेम का आस्वादन तप्त इक्षु के चबाने के समान है। तप्त इक्षु* के चबाने से मुख जलता है, किन्तु तब भी त्याग नहीं किया जाता। यह प्रेम जिनमें होता है, वही इसके प्रभाव को जानता है कि यह विष और अमृत के एकसाथ मिलन की भाँति ही है।

(विदग्धमाधव द्वितीय अंक, १८ श्लोक)

पीड़ाभिर्नवकालकूट-कटुतागर्वस्य निर्वासनो
निःस्यन्देन मुदां सुधा-मधुरिमाहङ्कारसङ्कोचनः।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥५२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५२। हे सुन्दरि, नन्द नन्दन से सम्बन्धित प्रेम जिसके हृदय में जागृत हुआ है, उसे कृष्ण के वक्रमधुर भाव वाले पराक्रम स्पष्ट प्रतीत होते हैं। वह प्रेम दो प्रकार से कार्य करता है, अर्थात् नूतन सर्प के विष की कड़वाहट के गर्व को अपने द्वारा उत्पन्न की गयी पीड़ा के द्वारा

* गन्ने का सम्पूर्ण रस निकाल देने के बाद जो अवशेष बचता है, किसी-किसी स्थान पर उसे उबलते हुए गन्ने के रस में पुनः पकाकर खाया जाता है। उसी को ही तप्त इक्षु कहते हैं।

तिरस्कृत करता है, अर्थात् ऐसे दुःख को उत्पन्न करता है, जिससे बढ़कर और कोई दुःख हो ही नहीं सकता; और दूसरी तरफ, आनन्द की वर्षा द्वारा अमृत के माधुर्य का जो अहङ्कार है, उसको संकुचित कर देनेवाले परम सुख को प्रदान करता है।

अनुभाष्य

५२। पौर्णमासी नान्दीमुखी से कह रही है—

हे सुन्दरि, पीड़ाभिः (यातनाभिः) नवकालकूटकटुता गर्वस्य (नवकालकूटस्य सुतीव्र विषस्य यः कटुतागर्वः अन्यावज्ञारुपोग्रतामयभावः तस्य) निर्वासनः (दूरी-करणशीलः), मुदां निःस्यान्देन (क्षरणेन) साधुमधुरि-माहङ्कार सङ्कोचनः (सुधायाः अमृतस्य यः मधुरिमा माधुर्यं तेन यः अहङ्कारः गर्वः तं सङ्कोचयति खर्वीकरोति यः) नन्दनन्दनपरः (कृष्णोद्देशकः) प्रेमा यस्य अन्तरे (हृदये) जागर्ति, अस्य (प्रेम्नः) वक्रमधुराः (कुटिलमाधुर्य-समन्विताः) विक्रान्तयः (प्रभावाः) तेन (जनेन) एव स्फुटं (स्पष्ट) ज्ञायन्ते (अनुभूयन्ते)।

कृष्ण दर्शन से प्रभु की महाभाव-चेष्टा—

जे काले देखे जगन्नाथ, श्रीराम-सुभद्रा-साथ,
तबे जाने-आइलाम कुरुक्षेत्र।
सफल हैल जीवन, देखिलूँ पद्मलोचन,
जुड़ाइल तनु-मन-नेत्र॥५३॥
गरुड़ेर सन्निधाने, रहि' करे दरशने,
से आनन्देर कि कहिब ब'ले।
गरुड़-स्तम्भेर तले, आछे एक निम्न खाले,
से थाल भरिल अश्रुजले॥५४॥

५३-५४। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु जब श्रीबलराम और सुभद्रा देवी के साथ भगवान् श्रीजगन्नाथ के दर्शन करते, तब उन्हें ऐसा लगता—"मैं कुरुक्षेत्र पहुँच गया हूँ। कमललोचन श्रीकृष्ण के दर्शन से मेरा जीवन सफल हो गया तथा मेरा तन-मन और नेत्र शीतल हो गये।" गरुड़-स्तम्भ के निकट खड़े होकर श्रीजगन्नाथ के दर्शन से श्रीमन् महाप्रभु के हृदय में जो आनन्द होता, उस आनन्द के विषय में क्या बतलाऊँ? गरुड़-स्तम्भ के नीचे अर्थात् उस स्तम्भ के चारों ओर एक गड्ढ़ा है, वह श्रीमन् महाप्रभु के प्रेममय अश्रुओं के जल से भर जाता।

अनुभाष्य

५४। श्रीजगन्नाथ मन्दिर के सामने जगमोहन (नाट्य मन्दिर) के अन्त में 'गरुड़स्तम्भ' है। उसके पीछे वाले हिस्से में भूमि पर जो निम्न गड्ढ़ा था, वह भगवान् के प्रेमाश्रुओं के जल से भर जाता था।

पुनः कृष्ण विरह का उद्दीपन—

ताँहा हैते घरे आसि', माटीर उपरे वसि',
नखे करे पृथिवी लिखन।
हा-हा काँहा वृन्दावन, काँहा गोपेन्द्रनन्दन,
काँहा सेइ वंशीवदन॥५५॥
काँहा से त्रिभङ्गठाम, काँहा सेइ वेणुगान,
काँहा सेइ यमुना-पुलिन।
काँहा से रासविलास, काँहा नृत्यगीत-हास,
काँहा प्रभु मदनमोहन॥५६॥
उठिल नाना भावोद्वेग, मने हैल उद्वेग,
क्षणमात्र नारे गोङाइते।
प्रबल विरहानले, धैर्य हैल टलमले,
नाना श्लोक लागिला पड़िते॥५७॥

५५-५७। प॰ अनु॰—श्रीजगन्नाथ मन्दिर से गम्भीरा में लौट आने पर श्रीचैतन्य महाप्रभु मिट्टी के ऊपर बैठकर अपने नाखूनों से भूमि पर लिखने लगते तथा हा-हुताश करते हुए कहने लगते—"हाय! हाय, कहाँ है वह वृन्दावन? कहाँ हैं गोपेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण? कहाँ हैं वे वंशीवदन? कहाँ हैं वे त्रिभङ्ग बङ्किम श्रीकृष्ण? कहाँ है वह वेणुगीत? कहाँ है वह यमुना-पुलिन? कहाँ है वह

रास विलास? कहाँ है वह नृत्य-गीत एवं हास्य? और कहाँ हैं प्रभु श्रीमदन मोहन?" इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु के हृदय में अनेक भाव उदित होते। उससे उनका मन उद्विग्न हो उठता, वे एक क्षण भी बिना उद्वेग के व्यतीत न कर पाते। इस प्रकार प्रबल विरह रूपी अनल में उनका धैर्य टूटने के कगार पर पहुँच गया तथा वे अनेक श्लोक उच्चारण करने लगे—

कृष्णकर्णामृत का इक्तालीसवाँ श्लोक—

अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि
हरे त्वदालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो करुणैकसिन्धो
हा हन्त हा हन्त कथं नयामि॥५८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५८। हे हरि! हे अनाथबन्धु! हे करुणा के एकमात्र समुद्र! तुम्हारे दर्शन के बिना अपने इन अधन्य (अशुभ) दिन और रातों को मैं किस प्रकार व्यतीत करूँगी?

अनुभाष्य

५८। हे अनाथबन्धो (अनाथानां विरह विधुराणां गोपीनां बन्धुर्यः एवम्विध) करुणैकसिन्धो (दयैकसमुद्र) (कृष्णदूते माधुर्यप्रेमसम्पत्य भावात् कोह्यप्यन्यः गोपीः अनुकम्पयितुं न समर्थः इति भावः) हे हरे, (गोपीजन कायमनोवाक्यहारिन्), त्वदालोकनं (भवद्दर्शनम्) अन्तरेण (बिना) हा हन्त! हा हन्त! अधन्यानि (अशुभानि) अमुनि दिनान्तराणि (दिनावधीन्) अहोरात्रान् इत्यर्थः) कथं (केन प्रकारेण तव सेवां इत्यर्थः) नयामि अतिवाहयामि)।

कृष्ण के विरह में प्रभु का विलाप—

तोमार-दर्शन-बिने, अधन्य ए रात्रि-दिने,
एइ काल ना जाय काटन।
तुमि अनाथेर बन्धु, अपार करुणासिन्धु,
कृपा करि' देह दरशन॥५९॥

५९। प० अनु०—"तुम्हारे दर्शन के बिना मेरे यह अशुभ रात्रि और दिन बीतते ही नहीं है। कैसे समय को व्यतीत करूँ। तुम अनाथों के बन्धु तथा अपार करुणा के समुद्र हो! अतएव कृपा करके मुझे अपने दर्शन प्रदान करो।"

कृष्ण दर्शन के लिये पागल—

उठिल भाव-चापल, मन हइल चञ्चल,
भावेर गति बुझन ना जाय।
अदर्शने पोड़े मन, केमने पाव दरशन,
कृष्ण-ठाञि पुछेन उपाय॥६०॥

६०। प० अनु०—विभिन्न भावों के उदित होने से श्रीचैतन्य महाप्रभु का मन चञ्चल हो उठा। उनके भावों की गति को समझा नहीं जा सकता। श्रीकृष्ण के अदर्शन में उनका चित्त दग्ध होने लगता तथा वे श्रीकृष्ण से ही दर्शन का उपाय पूछते हुए कहने लगते कि "हे कृष्ण! तुम ही बताओ! मुझे तुम्हारे दर्शन किस प्रकार प्राप्त होंगे?"

अमृतप्रवाह भाष्य

६०। चापल,—चापल्य, चपलता।

कृष्णकर्णामृत के ३२ वें श्लोक में बिल्वमङ्गल वाक्य—

तच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतमित्यवेहि
मच्चापलंञ्च तव वा मम वाधिगम्यम्।
तत् किं करोमि विरलं मुरलीविलासि
मुग्धं मुखाम्बुजमुदीक्षितुमक्षणाभ्याम्॥६१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६१। हे वंशीविलासि कृष्ण, तुम्हारे शैशवकाल (बचपन) का माधुर्य त्रिभुवन में अद्भुत है। तुम्हारी चपलता को तुम और मैं ही जानती हूँ, और कोई नहीं जानता। मैं अपने इन दोनों चक्षुओं द्वारा एकान्त में तुम्हारे सुन्दर मुख रूपी कमल के दर्शन करने के लिये अब क्या करूँ?

अनुभाष्य

६१। हे मुरलीविलासि, (गोपीचित्तहारिवंशीवादक), त्वत् (तव) शैशवं मत् (मम) चापलं च त्रिभुवनाद्भुतं (त्रिलोकमध्ये विचित्रं)—तव वा मम वा (आवयोरेव इत्यर्थः) अधिगम्यम्, (अन्याः कोऽपि न जानाति) विरलं (दुर्लभदर्शनं निर्जने वा) मुग्धं (गोपीमनोहर) मुखाम्बुजं (वदन कमल) इक्षणाभ्यां (नेत्राभ्यां) उदीक्षितुम् (यथेष्टम् अवलोकयितु) किं करोमि, (तदुपायं कथय)।

तोमार माधुरी-बल, ताते मोर चापल,
एइ दुइ, तुमि आमि जानि।
काँहा करों काँहा जाउ, काँहा गेले तोमा पाउ
ताहा मोरे कह त' आपनि॥६२॥

६२। प० अनु०—हे कृष्ण, तुम्हारे माधुर्य के प्रभाव और उसके द्वारा होने वाली मेरी चपलता को केवल तुम और मैं ही जानते हैं। मैं नहीं जानती कि अब मैं क्या करूँ और कहाँ जाऊँ, कहाँ जाने पर तुम्हें प्राप्त करूँ? दया करके मुझे इस विषय में तुम स्वयं ही कुछ बता दो।

महाभाव में प्रभु का दिव्य उन्माद—
नाना-भावेर प्राबल्य, हैल सन्धि-शाबल्य,
भावे-भावे हैल महारण।
उत्सुक्य, चापल्य, दैन्य, रोषामर्ष आदि सैन्य,
प्रेमोन्माद—सबार कारण॥६३॥
मत्तगज भावगण, प्रभुर देह—इक्षुवन,
गजयुद्धे वनेर दलन।
प्रभुर हैल दिव्योन्माद, तनुमनेर अवसाद,
भावावेशे करे सम्बोधन॥६४॥

६३-६४। प० अनु०—अनेक प्रकार के भावों की प्रबलता के फलस्वरूप उनमें से किसी में तो सन्धि हुई और किसी में विरोध हुआ तथा इसके कारण विभिन्न भावों में महायुद्ध हुआ। उत्सुक्य, चापल्य, दैन्य, रोष और अमर्ष आदि उस युद्ध की सेना थी और प्रेम की उन्मादता (मत्तता) ही उस युद्ध का कारण थी।

श्रीचैतन्य महाप्रभु के देह रूपी इक्षुवन में मत्त हाथी रूपी भावों ने प्रवेश करके परस्पर-परस्पर से युद्ध किया, जिससे इक्षुवन तहस-नहस हो गया। श्रीचैतन्य महाप्रभु की देह में दिव्योन्माद प्रकाशित हुआ तथा उनके तन और मन में अवसाद उत्पन्न हुआ तथा वे भावाविष्ट अवस्था में इस प्रकार कहने लगे—

अमृतप्रवाह भाष्य

६४। दिव्योन्माद—'मोहनभाव में भ्रम के समान होने वाली किसी प्रेम-वैचित्र्य दशा का नाम 'दिव्योन्माद' है।

अनुभाष्य

६३। सन्धि,—भः रः सिः दः विः चतुर्थ लः—"सरुपयोर्भिन्नयोर्वा सन्धिः स्याद्भावयोर्युतिः।" 'सरुपसन्धि' —"सन्धि सरुपयोस्तत्र भिन्नहेतुउथ्योर्मतः।' 'भिन्नरूप सन्धि'—"भिन्नयोर्हेतुनैकेन भिन्नेनाप्युपजातयोः।" समान रूप अथवा भिन्न रूप दो प्रकार के भावों के मिलन को 'सन्धि' कहते हैं। भिन्न-भिन्न कारणों से समानरूप दो प्रकार के भावों के मिलन को 'सरुप सन्धि' कहते हैं। एक ही कारण अथवा भिन्न कारण से दो प्रकार के भिन्न रूप भावों के मिलन को 'भिन्नरूप सन्धि' कहते हैं। एक कारण अथवा भिन्न कारण से उत्पन्न दो प्रकार के भावों की सन्धि, हर्ष और शङ्का—दोनों की सन्धि, हर्ष और विषाद की सन्धि कहलाती है।

शाबल्य,—भः रः सिः दः विः, चतुर्थ लः—"शव- लत्वं तु भावानां संमर्द्दः स्यात् परस्परम्।" सभी प्रकार के भावों के परस्पर समर्द्दन का नाम 'शाबल्य' है। गर्व, विषाद, दैन्य, मति, स्मृति, शङ्का, अमर्ष, त्रास, निर्वेद, धैर्य और उत्सुकता

आदि भावों के सन्मर्द्द होने से 'शाबल्य' होता है।

उत्सुक्य (उत्सुकता)—भः रः सिः दः विः चतुर्थ लः—"कालाक्षमत्व—मैत्सुक्यमिष्टेक्षाप्ति-स्पृहादिभिः। मुखशोषत्वरा-चिन्ता-निश्वास-स्थिरतादिकृत्॥" अभीष्ट वस्तु के दर्शन की इच्छा और अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति की वासना के लिये समय की देरी को सहन करने की अक्षमता को 'उत्सुक्य' कहते हैं। उत्सुक्य में मुख का सूखना, बेचैनी, चिन्ता, लम्बे-लम्बे श्वास और स्थिरता लक्षित होती है।

चापल,—भः रः सिः दः विः चतुर्थ लः—"राग-द्वेषादिभिश्चितलाघवं चापलं भवेत। तत्राविचारपारुष्य-स्वच्छन्द चरणादयः॥" आसक्ति और विरक्ति द्वारा चि त्त की लघुता को 'चापल' कहते हैं। इसमें अविचार, कर्कशवाक्य और स्वच्छन्द आचरण आदि होता है।

रोष,—भः रः सिः दः विः चतुर्थ लः—"अपराध-दुरुक्त्यादिजातं चण्डत्वमुग्रता। वधबन्धशिरः कम्प भर्त्सनाताड़नादिकृत॥" अपराध और दूषित करने वाले वाक्यों से उत्पन्न क्रोध को 'उग्रता' अथवा 'रोष' कहते हैं। इसमें वध, बन्ध, सिर का काँपना, भर्त्सन और ताड़न आदि होता है।

अमर्ष,—भः रः सिः दः विः चतुर्थ लः—"अधिक्षे-पापमानादेः स्यादमर्षोऽसहिष्णुता॥ तत्र स्वेदः शिरकम्पो विवर्णत्वं विचिन्तनम्। उपायान्वेषणाक्रोशवैमुख्योताड़ा-नदयः॥" अधिक्षेप अर्थात् तिरस्कार एवं अपमान आदि के लिये होने वाली असहिष्णुता को 'अमर्ष' कहते हैं। इसमें स्वेद (पसीना आना), सिर का काँपना, विवर्णता (अङ्गकान्ति का बदल जाना), चिन्ता, उपाय को ढूढँना, आक्रोश, विमुखता और ताड़न आदि होता है।

दयित श्रीकृष्ण के दर्शन की आकांक्षा—
(श्रीकृष्णकर्णामृत के चालासीवें श्लोक
में विल्वमङ्गल वाक्य)

हे देव, हे दयित, हे भुवनैकबन्धो,
हे कृष्ण, हे चपल, हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ, हे रमण, हे नयनाभिराम,
हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे॥६५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६५। हे देव! हे दयित (प्रियतम)! हे भुवन के एक मात्र बन्धु! हे कृष्ण! हे चपल! हे करुणासिन्धु! हे नाथ! हे रमण! हे नयनरञ्जन! आहा! तुम फिर कब मुझे दर्शन प्रदान करोगे?

अनुभाष्य

६५। हे देव, हे दयित, (प्रिय,) हे भुवनैकबन्धो, (व्रज-भूम्येकपालक,) हे चपल, (स्वेच्छाराम,) हे करुणैकसिन्धो, हे रमण, (गोपीजनरमण,) हे नयनाभिराम (नयनानन्द,) हे कृष्ण, (गोपवधवाकर्षक,)। हाहा मे (मम) दृशोः (नयनयोः) पदं (गोचर) कदा (कस्मिन् काले) नु (किं) भवितासि?

प्रभु के दिव्योन्माद का वर्णन—

उन्मादेर लक्षण, कराय कृष्ण-स्फुरण,
भावावेशे उठे प्रणय-मान।
सोलुण्ठ-वचन-रीति, मान, गर्व, व्याज-स्तुति,
कभु निन्दा, कभु वा सम्मान॥६६॥

६६। प॰ अनु॰—दिव्योन्माद के लक्षण श्रीकृष्ण की स्फूर्ति करा देते हैं अर्थात् ऐसा प्रतीत होता है, मानो श्रीकृष्ण साक्षात् उपस्थित हो। भावों के आवेश में मान, प्रणय परिहास युक्त वचन भङ्गी मान, गर्व एवं व्याज स्तुति आदि भाव प्रकाशित होते हैं।

इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु कभी तो श्रीकृष्ण की निन्दा कर रहे थे और कभी उनकी प्रशंशा कर रहे थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

६६। सोलुण्ठ,—स्तुतिपूर्ण वाक्यों द्वारा निन्दा।

अनुभाष्य

६६। उन्माद,—भः रः सिः दः विः चतुर्थ लः— "उन्मादो हृदभ्रमः प्रोढ़ानन्दापद्विरहादिजः। अत्राट्हासो नटनं सङ्गीतं व्यर्थचेष्टितम्॥

प्रलापधावन क्रोश-विपरीत- क्रियादयः॥" अत्यन्त आनन्द, आपद (विपत्ति) एवं विरह आदि से उत्पन्न हृदय के भ्रम को 'उन्माद' कहते हैं। उन्माद में अट्टहास, नटन, सङ्गीत, व्यर्थ चेष्टा, प्रलाप, दौड़ना, चीत्कार और विरुद्ध कार्य होते हैं।

प्रणय,—भः रः सिः दः विः तृतीय लः—"प्राप्तायां सम्भ्रमादीनां योग्यतायामपि स्फुटम्। तदगन्धेनाप्य संस्पृष्टा रतिः प्रणय उच्यते॥" सम्भ्रम आदि की स्पष्ट रूप से प्राप्ति, योग्यता रहने पर भी जहाँ सम्भ्रम की गन्ध भी स्पर्श नहीं करती, वैसी रति 'प्रणय' के नाम से जानी जाती है।

मान,—उज्ज्वलनीलमणौ—"स्नेहस्तूत्कृष्टता व्याप्त्या माधुर्यं मानयन्नवम्। यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्तयते॥" जो चित्त द्रव (विगलित) उत्कर्षप्राप्ति द्वारा नये-नये माधुर्य का अनुभव कराये तथा अपने भाव को छिपाने के लिये बाहर में कुटिलता धारण करे, वही 'मान' है।

पूर्वोक्त 'हे देव' श्लोक की व्याख्या—

तुमि देव—क्रीडा-रत, भुवनेर नारी जत,
ताहे कर अभीष्ट क्रीड़न।
तुमि मोर दयित, ताते वैसे मोर चित,
मोर भाग्ये कैले आगमन॥६७॥
भुवनेर नारीगण, सबा' कर आकर्षण,
ताँहा कर सब समाधान।
तुमि कृष्ण—चित्त हर, ऐछे कोन् पामर,
तोमारे वा केबा करे मान॥६८॥
तोमार चपल मति, एकत्र ना हय स्थिति,
ताते तोमार नाहि किछु दोष।
तुमि त' करुणासिन्धु, आमार पराण-बन्धु,
तोमाय नाहि मोर कभु रोष॥६९॥

६७-६९। प० अनु०—हे देव! तुम अपने लीला विलास में रत हो तथा जगत् की जितनी भी रमणियाँ है, उन सबके साथ तुम अपने मन की इच्छानुसार क्रीड़ा करते हो। तुम मेरे दयित (प्रियतम) हो। अतएव मेरे चित्त में वास करते हो। मेरे सौभाग्य से ही तुम मेरे समक्ष उपस्थित हुए हो। जगत् की समस्त रमणियों को तुम आकर्षित करते हो एवं अपने प्रयोजन की सिद्धि करते हो अथवा उन्हें तुम यथायथ रूप में सन्तुष्ट करते हो। हे कृष्ण! तुम चित्त का हरण करते हो। तुम्हारे जैसे पामर (लम्पट) का कौन सम्मान कर सकता है। हे कृष्ण! तुम्हारा मन बहुत चञ्चल है। तुम एक स्थान पर रह नहीं सकते, किन्तु इसमें तुम्हारा कोई भी दोष नहीं। तुम तो करुणासिन्धु हो! तुम मेरे प्राणों के बन्धु हो। तुम्हारे प्रति मैं कभी भी रुष्ट नहीं हो सकती।

कृष्ण के प्रति क्षमा और प्रसन्न भाव—

तुमि नाथ,—व्रजप्राण, व्रजेर कर परित्राण,
बहुकार्ये नाहि अवकाश।
तुमि आमार रमण, सुख दिते आगमन,
ए तोमार वैदग्ध्य-विलास॥७०॥
मोर वाक्य निन्दा मानि', कृष्ण छाड़ि' गेला जानि,
शुन, मोर ए स्तुति-वचन।
नयनेर अभिराम, तुमि मोर धन-प्राण,
हाहा पुनः देह दरशन॥७१॥

७०-७१। प० अनु०—हे नाथ! तुम व्रज अथवा व्रजवासियों के प्राण स्वरूप हो। तुम व्रज की सदैव रक्षा करते हो। रक्षा-सम्बन्धीय बहुत से कार्यों में व्यस्त रहने के कारण तुम्हारे पास (मेरे निकट) आने का समय ही नहीं है। (अन्य भाव के उदित हो आने पर कह रही हैं—) तुम तो मेरे रमण हो। मुझे आनन्द प्रदान करने के लिये ही तुम आये हो। यह तुम्हारा वैदग्ध-विलास है। (अन्य किसी भाव के उदित होने पर कह रही हैं—) हे कृष्ण लगता है, मेरे (व्याज) स्तुति मूलक वचनों को निन्दा मूलक मानकर तुम मुझे छोड़कर चले गये हो। किन्तु हे नयनाभिराम (नयनों को आनन्द प्रदान करने वाले)! तुम ही तो मेरे धन-प्राण हो। हाय! दया करके इस दासी को पुनः अपने दर्शन प्रदान

करो।"

अनुभाष्य

७०। वैदग्ध—पटुता, पाण्डित्य, रसिकता, चतुरता, शोभा अथवा भङ्गी।

प्रभु के महाभाव का लक्षण—

स्तम्भ, कम्प, प्रस्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभेद,
देह हैल पुलके व्यापित।
हासे, कान्दे, नाचे, गाय, उठि' इति-उति धाय,
क्षणे भूमे पड़िया मूर्च्छित॥७२॥

७२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की देह स्तम्भ, कम्प, प्रस्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभेद आदि आनन्द से परिव्याप्त हो गयी। इन्हीं के कारण वे कभी तो हँसने लगते और कभी रोने, कभी नाचने लगते तो कभी गाने, कभी इधर-उधर दौड़ने लगते तो कभी अचानक मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ते।

अनुभाष्य

७२। स्तम्भ,—अष्टसात्विक विकारों में से एक; भः रः सिः दः विः तृतीय लः—"चित्तं सत्वीभवत् प्राणे न्यस्त्यात्मनमुद्भटम्। प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम्। तदा स्तम्भादयो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी॥ स्तम्भं भूमि स्थितः प्राण स्तनोति। स्तम्भो हर्षभयाश्चर्यविषादामर्षसम्भवः। तत्र रागादि राहित्यं नैश्चल्यं शून्यतादयः॥" चित्त सात्त्विक भाव प्राप्त करने पर चञ्चल मन को प्राणों में विन्यास (नियुक्त) कर देता है, प्राण विकृत होकर देह को क्षुब्ध करते हैं। उस समय भजनशील व्यक्ति की देह में ये स्तम्भ आदि भाव प्रकाशित होते हैं। प्राण पंचभूत में अवस्थित होने पर 'स्तम्भ' होता है। हर्ष, भय, विस्मय, विषाद और क्रोध से स्तम्भ उत्पन्न होता है। स्तम्भ होने पर वाक्-पाणि-पाद आदि का चेष्टा, राहित्य, निश्चलता एवं शून्यता प्रभृति होता है। स्तम्भ—मन की विशेष अवस्था। वाक्य आदि राहित्य दैहिक विकार बाहर और अन्दर व्याप्त होकर रहते हैं। पहले सूक्ष्म शरीर में रहते हैं, बाद में स्थूल शरीर में। वाक्य आदि हीनता कर्मेन्द्रियों की भी शून्यता—ज्ञानेन्द्रियों की क्रिया राहित्य का ज्ञापक है।

कम्प—(ऐ) "वित्रासामर्षहर्षाद्यैर्वपथुगात्रलौल्यकृत॥" विशेष भय, क्रोध और हर्ष आदि द्वारा जिस किसी से शरीर में चञ्चलता होती है, उसका नाम 'वेपथु' अथवा 'कम्प' हैं।

स्वेद,—(भः रः सिः दः विः तृतीय लः)—"स्वेदो हर्षभय-क्रोधादिजः क्लेदकरस्तनोः अर्थात् हर्ष, भय और क्रोध आदि से उत्पन्न (एक विशेष अवस्था) जो देह में क्लेद (पसीना) ला देती है, उसे 'स्वेद' कहते हैं।

वैवर्ण्य,—(भः रः सिः दः विः तृतीय लः)—"विषादरोषभीत्यादैर्वैवर्ण्यं वर्णविक्रिया। भावज्ञैरत्र मालिन्यकार्श्याद्याः परिकीर्तिताः॥" अर्थात् विषाद, क्रोध, और भय प्रभृति से हुए देह के वर्ण (अङ्गकान्ति) के विकार को 'वैवर्ण्य' कहते हैं। वैवर्ण्य होने पर मलिनता और कृशता प्रभृति कहलाता है।

अश्रु,—(भः रः सिः दः विः तृतीय लः)—"हर्षरोष विषादाद्यैरषु नेत्रे जलोद्गमः। हर्षजेहश्रुणिशीतत्वमौष्णं रोषादि सम्भवे। सर्वत्र नयनक्षोभरागसंमार्जनादयः॥" अर्थात् हर्ष, क्रोध और विषाद आदि द्वारा बिना प्रयत्न के नेत्रों में से जो जल निकलता है, उसका नाम 'अश्रु' है। हर्ष से उत्पन्न अश्रुओं में शीतलता एवं क्रोध आदि से उत्पन्न अश्रुओं में उष्णता लक्षित होने पर भी सभी प्रकार के अश्रुओं में नेत्रों की चञ्चलता, रक्तवर्णता और मार्जन आदि देखा जाता है।

गद्गद्—(ऐ) "विषादविस्मयामर्षहर्षभीत्यादिसम्भवम्। वैस्वर्यं स्वरभेदः स्यादेष गद्गदिकादिकृत।" विषाद, आश्चर्य, क्रोध, आनन्द और भय आदि से 'वैस्वर्य' अथवा 'स्वरभेद' होता है, यही स्वरभेद ही गद्गद् वाक्य उत्पन्न कराता है।

पुलक,—भः रः सिः दः विः तृतीय लः— "रोमाञ्चोऽयं किलाश्चर्य हर्षोत्साहभयादिजः। रोम्नामभ्युद्-

गमस्तत्र गात्रसंस्पर्शनादयः॥" अर्थात् विस्मय, हर्ष, उत्साह और भय आदि से लोमकूपों में पुलक अर्थात् रोमाञ्च होता है, उसमें देह को स्पर्श करना आदि होता है।

प्रभु को कृष्ण दर्शन का भ्रम—

मूर्च्छाय हैल साक्षात्कार, उठि' करे हुहुँकार,
कहे,—एइ आइला महाशय।
कृष्णेर माधुरी-गुणे, नाना भ्रम हय मने,
श्लोक पड़ि' करये निश्चय॥७३॥

७३। प० अनु०—मूर्च्छित अवस्था में श्रीचैतन्य महाप्रभु को श्रीकृष्ण का साक्षातकार प्राप्त हुआ। इसलिए उठने के बाद उन्होंने उच्च स्वर से हुँकार करते हुये कहा—"महान् आशय वाले श्रीकृष्ण अब आये हैं।" इस प्रकार श्रीकृष्ण की मधुर गुणावली के प्रभाव से श्रीचैतन्य महाप्रभु के मन में अनेक प्रकार के भ्रम उत्पन्न होने लगे। अन्त में समस्त भ्रमों को छोड़कर वे स्वयं ही किस प्रकार निश्चित तथ्य पर पहुँचे, नीचे लिखे श्लोक का उच्चारण करके उन्होंने यही व्यक्त किया।

श्रीकृष्णकर्णामृत के ६८ वें श्लोक में विल्वमङ्गल वाक्य—

मारः स्वयं नु मधुरद्युतिमण्डलं नु
माधुर्यमेव नु मनोनयनामृतं नु।
वेणीमृजो नु मम जीवितवल्लभो नु
कृष्णोऽयमभ्युदयते मम लोचनाय॥७४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७४। हे सखि, साक्षात् कन्दर्प स्वरूप, द्युति (अङ्ग-कान्ति) कदम्ब माधुर्य स्वरूप, मूत्तिमान् माधुर्य स्वरूप, मन और नयन के लिये अमृत स्वरूप, गोपियों की बेणी (चोटी) को खोलकर आनन्दप्रदस्वरूप, हमारे प्राण-वल्लभ स्वरूप—ये साक्षात् नन्दनन्दन मेरे नेत्रों के समक्ष भली-भाँति उदित हुए हैं।

अनुभाष्य

७४। स्वयं मारः (कन्दर्पः) नु (किं वितर्के) मधुरद्युतिमन्तलं (हृत्स्पर्शि सुन्दरस्निग्ध ज्योतिर्बिम्ब) नु (किं) माधुर्यम् एव नु (किं) मनोनयानामृतं (हृदयनेत्र-सुधास्वरूपः) नु (किं) वेणीमृजः (वेण्युन्मोचनकारी) नुः (किं) अयं जीवितवल्लभ (कृष्णः) मम लोचनाय (लोचनसुखदातु) अभ्युद्यते (मत् सन्निधौ प्रकटितो भवति)।

श्लोक का अर्थ—

किबा एइ साक्षात् काम, द्युतिबिम्ब-मूर्तिमान,
कि माधुर्य स्वयं मूर्तिमन्त।
किबा मनो-नेत्रोत्सव, किबा प्राणवल्लभ,
सत्य कृष्ण आइला नेत्रानन्द॥७५॥

७५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"क्या ये साक्षात् कामदेव हैं? या फिर ज्योतिराशि मूर्त्ति धारण करके उपस्थित हुई है? या फिर स्वयं माधुर्य ही मूर्त्ति धारण करके उपस्थित हुआ है? या फिर मेरे मन और नेत्रों का आनन्द विधान करने के लिये साक्षात् अमृत उपस्थित हुआ है? या फिर मेरे प्राणवल्लभ हैं? क्या सचमुच मेरे नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले श्रीकृष्ण आये हैं?

भावमय प्रभु—

गुरु—नाना भावगण, शिष्य—प्रभुर तनु-मन,
नाना रीते सतत नाचाय।
निर्वेद, विषाद, दैन्य, चापल्य, हर्ष, धैर्य, मन्यु,
एइ नृत्ये प्रभुर काल जाय॥७६॥

अनुभाष्य

७६। गुरु शिष्यों को जिस प्रकार शासन करके कला की शिक्षा देता है, उसी प्रकार महाप्रभु के हृदय के (निर्वेद, विषाद, दैन्य, चापल्य, हर्ष, धैर्य और क्रोध आदि) भाव समूह गुरु बनकर प्रभु के श्रीअङ्ग और मन रूपी दो शिष्यों को अनेक प्रकार की रीति से नृत्य कराते हैं। इन्हीं के इङ्गित पर नृत्य करते-करते श्रीचैतन्य महाप्रभु का सारा समय व्यतीत हो जाता है।

स्वरूप-रामानन्द के साथ प्रभु की दैनन्दिन कार्यावली—

चण्डीदास, विद्यापति, रायेर नाटक-गीति,
कर्णामृत, श्रीगीतगोविन्द।
स्वरूप-रामानन्द-सने, महाप्रभु रात्रि-दिने,
गाय, शुने—परम आनन्द॥७७॥

७७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु परम आनन्द-पूर्वक रात-दिन चण्डीदास, विद्यापति, राय रामानन्द द्वारा लिखित जगन्नाथ-वल्लभ नाटक, बिल्वमङ्गल द्वारा लिखित कृष्णकर्णामृत और कवि जयदेव द्वारा लिखित श्रीगीत गोविन्द की पदावलियों का कभी तो श्रीस्वरूप दामोदर और श्रीराय रामानन्द के समक्ष गान करते थे और कभी उन दोनों के मुख से श्रवण करते थे।

अनुभाष्य

७७। रायेर नाटक,—'जगन्नाथवल्लभ' नाटक। गीति—चण्डीदास, विद्यापति, रामानन्द राय, बिल्वमङ्गल और जयदेव,—इनके द्वारा रचित ग्रन्थों के पदों का गान।

प्रभु के विभिन्न रसाश्रित भक्तगण—

पुरीर वात्सल्य मुख्य, रामानन्देर शुद्धसख्य,
गोविन्दाद्येर शुद्धदास्यरस।
गदाधर, जगदानन्द, स्वरूपेर (मुख्य) रसानन्द,
एइ चारिभावे प्रभु वश॥७८॥

७८। प० अनु०—अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

अमृतप्रवाह भाष्य

७८। पुरीर,—श्रीपरमानन्द पुरी का। मुख्य रस,—मधुर रस।

अनुभाष्य

७८। श्रीपरमानन्द पुरी (व्रज के उद्धव) का वात्सल्य रस प्रधान भाव, रामानन्द (अर्जुन अथवा विशाखा) का शुद्धसख्यभाव, गोविन्द आदि का सेवामय शुद्धदास्य एवं अन्तरङ्ग-भक्त गदाधर, जगदानन्द और दामोदर स्वरूप का मुख्य मधुर रस,—इन चारों भावों में प्रभु उनसे भजन-सङ्ग सुख रूपी सेवा ग्रहण करके बाध्य थे।

प्रभु के लिए मधुररस का महाभाव आश्चर्यजनक नहीं—

लीलाशुक-मत जन, ताँर हय भावोद्‌गम,
ईश्वरे से,—कि इहा विस्मय।
ताहे मुख्य-रसाश्रय, हइयाछेन महाशय,
ताते हय सर्व भावोदय॥७९॥

७९। प० अनु०—लीलाशुक श्रीविल्वमङ्गल जैसे भगवान् के दास में भी जब दिव्य भाव उदित होते हैं, तब स्वयं भगवान् के श्रीअङ्गों में यदि वे सब दिव्य भाव उदित होते हैं, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? विशेषतः मुख्य अर्थात् मधुर रस का आश्रय ग्रहण करके श्रीचैतन्य महाप्रभु महान् आशय वाले बन गये हैं, इसलिये उनके श्रीअङ्गों में सब प्रकार के भाव प्रकाशित होते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

७९। लीलाशुक,—श्रीबिल्वमङ्गल गोस्वामी। ये 'शिहलणमिश्र'—नामक दाक्षिणात्य-ब्राह्मण थे, शास्त्रा-नुसार गृहस्थ धर्ममय जीवन यापन करते-करते चिन्तामणि नामक वेश्या के उपदेश से वैराग्य अवलम्बन करके इन्होंने 'शान्तिशतक' की रचना की। बाद में कृष्ण और वैष्णवों की कृपा से भक्ति प्राप्त करके 'बिल्वमङ्गल गोस्वामी' नाम प्राप्त करने के उपरान्त इन्होंने 'कृष्ण-कर्णामृत' ग्रन्थ की रचना की। उनके प्रेम में उन्म त्त भाव को देखकर लोग उन्हें 'लीलाशुक' कहते थे।

अनुभाष्य

७९। लीलाशुक, —नामान्तर,—'लीलासुख', चित् सुखाचार्य' और 'बिल्वमङ्गल'—विष्णुस्वामि सम्प्रदाय के त्रिदण्डिस्वामी। आदि प्रथम परिच्छेद ५७ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य।

आश्रय के प्रणय भावमय विषयविग्रह गौरसुन्दर—

पूर्वे व्रजविलासे, जेइ तिन अभिलाषे,
यत्नेह आस्वाद ना हैल।
श्रीराधार भावसार, आपने करि' अङ्गीकार,
सेइ तिन वस्तु आस्वादिल॥८०॥

८०। प॰ अनु॰—व्रज विलास रूपी पूर्व लीला में श्रीकृष्ण अपनी जिन तीन अभिलाषाओं को बहुत प्रयत्न करने पर भी आस्वादन (पूर्ण) नहीं कर पाये थे, उन्हीं तीन वस्तुओं का श्रीकृष्ण ने श्रीमती राधारानी के भावों के सार को स्वयं अङ्गीकार कर श्रीचैतन्य महाप्रभु के रूप में आस्वादन किया।

अनुभाष्य

८०। आदि चतुर्थ परिच्छेद की २३० संख्या द्रष्टव्य।

महावदान्य प्रभु के द्वारा उसी आश्रय का सेवा-भाव-वितरण—

आपने करि' आस्वादने, शिखाइल भक्तगणे,
प्रेमचिन्तामणिर प्रभु धनी।
नाहि जाने स्थानास्थान, जारे तारे कैल दान,
महाप्रभु—दाता-शिरोमणि॥८१॥

८१। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने स्वयं राधारानी के भावों के सार अर्थात् महाभाव आदि का आस्वादन करके भक्तों को आस्वादन करने के उपाय की शिक्षा प्रदान की। श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रेम रूपी चिन्तामणि के धन में धनी हैं। पात्र-अपात्र अथवा स्थान-अस्थान का विचार किये बिना ही उन्होंने जिस-किसी को भी वह सम्पत्ति दान कर दी। इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु—दाता-शिरोमणि हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

८१। प्रभु चैतन्यदेव का धन प्रेम रूपी चिन्तामणि है, उसी धन में ही वे धनी हैं। प्राकृत (जागतिक) चिन्तामणि के कार्य के समान प्रेम रूपी चिन्तामणि बहुत-बहुत प्रेम रूपी चिन्तामणियों को उत्पन्न करने के बाद भी प्रभु के भण्डार में वह पूर्ण रूप से विराजित है। और भक्तों ने भी प्रभु द्वारा दी गयी प्रेम रूपी चिन्तामणि से अनन्त कोटि चिन्तामणियों को सम्पूर्ण जगत् में विस्तृत किया है।

परम दयाल अवतार—

एइ गुप्तभाव-सिन्धु, ब्रह्मा ना पाय एक बिन्दु,
हेन धन बिलाइल संसारे।
ऐछे दयालु अवतार, ऐछे दाता नाहि आर,
गुण केह नारे वर्णिवारे॥८२॥

८२। प॰ अनु॰—ब्रह्मा पर्यन्त श्रीकृष्ण के प्रति व्रजवासियों के जिन गुप्त भाव रूपी समुद्र की एक बूँद को भी प्राप्त नहीं कर पाते, उसी धन अर्थात् भाव को श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सारे संसार में वितरण किया है। इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु जैसा दयालु अवतार, उनके जैसा दाता और कोई नहीं हो सकता। उनके दिव्य गुणों का कोई वर्णन नहीं कर सकता।

श्रीचैतन्य के आनुगत्य के बिना
कृष्णसेवा की प्राप्ति सम्भव नहीं—

कहिबार कथा नहे, कहिले केह ना बुझये,
ऐछे चित्र चैतन्येर रङ्ग।
सेइ से बुझिते पारे, चैतन्येर कृपा जाँरे,
हय ताँर दासानुदास-सङ्ग॥८३॥

८३। प॰ अनु॰—यह बात जिस-तिस के समक्ष कहने की नहीं है। बोलने पर भी सभी इसे समझ ही जायेंगे, यह आवश्यक नहीं। श्रीचैतन्य महाप्रभु की ऐसी ही अद्भुत लीला है। श्रीचैतन्य महाप्रभु की अहैतुकी कृपा से जिन्हें उनके दासानुदासों का सङ्ग प्राप्त होता है, केवल वही इस बात को समझ सकता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

८३। इस राधानुगत भाव तत्त्व में सर्वसाधारण का अधिकार नहीं है। अयोग्य पात्र में कहने से वह 'सहजिया', 'बाउल' प्रभृति के विकृत भाव के समान रूपान्तर (एक भिन्न रूप) प्राप्त करता है। पाण्डित्य का अभिमान करने वाले भी इस रसत त्त्व में प्रवेश करने योग्य नहीं है।

दामोदर स्वरूप और रघुनाथ से भक्तों द्वारा प्रभु के भावों का श्रवण—

चैतन्यलीला-रत्न-सार, स्वरूपेर भाण्डार,
तेंहो थुइल रघुनाथेर कण्ठे।
ताँहा किछु जे शुनिलुँ, ताहा इहा विस्तारिलुँ,
भक्तगणे दिलुँ एइ भेटे॥८४॥

८४। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की लीला समस्त रत्नों के सार स्वरूप रत्नों का संग्रह है। वह रत्न श्रील स्वरूप दामोदर गोस्वामी के भण्डार में संरक्षित थे। उन्होंने उन रत्नों को श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी के कण्ठ में धारण कराया था। श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी से मैंने जो कुछ श्रवण किया, उसी को मैंने इस ग्रन्थ में वर्णित करके भक्तों को उपहार-स्वरूप निवेदन किया है।

अमृतप्रवाह भाष्य

८४। स्वरूप दामोदर गोस्वामी ने महाप्रभु की शेष-लीला को कड़चे के सूत्र के रूप में श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी के कंठ में रखा था, अर्थात् उन्होंने ही श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी को कंठस्थ करवाके कविराज गोस्वामी के द्वारा जगत् में प्रचार किया है। अतएव श्रीस्वरूपकृत कड़चा पृथक् ग्रन्थ के आकार में नहीं लिखा गया। यह श्रीचैतन्यचरितामृत ही स्वरूप दामोदर गोस्वामी के कड़चे का निष्कर्ष है।

अनुभाष्य

८४। भेटे,—उपहार।

ग्रन्थकार की निरपेक्षता—

यदि केह हेन कय, ग्रन्थ कैल श्लोकमय,
इतर-जने नारिबे बुझिते।
प्रभुर जेइ आचरण, सेइ करि वर्णन,
सर्व-चित्त नारि आराधिते॥८५॥
नाहि काँहा सविरोध, नाहि काँहा अनुरोध,
सहज वस्तु करि विवरण।
यदि हय रागोद्देश, ताँहा हये आवेश,
सहज वस्तु ना जाय लिखन॥८६॥

८५-८६। प॰ अनु॰—यदि कोई कहे कि "मैंने (श्रील कृष्णदास कविराज) ने ग्रन्थ में बहुत से श्लोकों की अवतारणा के द्वारा इस ग्रन्थ (चैतन्यचरितामृत) को श्लोकमय बना दिया है, जिससे संस्कृत नहीं जानने वाले व्यक्ति इस ग्रन्थ को समझ नहीं पायेंगे।" तो मेरा कहना है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने जैसी लीला की है, मैंने तो केवल उसी का उसी रूप में वर्णन किया है। और फिर, मैं सभी के चित्त की सन्तुष्टि तो नहीं कर सकता। मैंने किसी के प्रति शत्रुता करके या फिर किसी के अनुरोध से कुछ नहीं लिखा, बल्कि मैंने तो सहज वस्तु अर्थात् जैसा श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी से श्रवण किया है, ठीक उसी का ही वर्णन किया है। क्योंकि यदि किसी के अच्छे लगने के लिये या फिर अच्छे न लगने के लिये कुछ लिखा जाता है, तो उसमें आवेश हो जाने के कारण सहज वस्तु को लिखा नहीं जा सकता।

अमृतप्रवाह भाष्य

८६। मेरे इस ग्रन्थ के किसी भी स्थान पर सविरोध सिद्धान्त नहीं है। अथवा अन्य किसी व्यक्ति के मत का अनुरोध नहीं है। मैंने सहज तत्त्व को विचार करके लिखा है। जीव के लिये राग तत्त्व ही सहज है, विचार तत्त्व सहज नहीं है। रागतत्त्व में जो कुछ उदित होता है, वही श्रीमहाप्रभु के द्वारा प्रदर्शित भजन तत्त्व है। यदि किसी दूसरे के मतानुसार अथवा अन्य प्रकार के तर्क-सिद्धान्त में रागोद्देश हो, तो फिर उसमें आविष्ट होकर निरपेक्षता दूर हो जाती है; अतएव जीवों का स्वत:सिद्ध सहजत्व लिखा नहीं जा सकता।

अनुभाष्य

८५। (मैं) श्रीगौरसुन्दर के आचरण को यथायथ (हुँ-बहुँ) वर्णन करूँगा। क्योंकि मैं सभी मतवादियों

का प्रशंशनीय होने की इच्छा नहीं करता हूँ। वे मेरी निन्दा करेंगे—(इस बात की कोई भी चिन्ता न कर) इस ग्रन्थ में मैंने प्रभु के चरित्र की वास्तविक बात को न लिखकर वर्जन (कुछ छोड़ देना), वर्द्धन (कुछ बढ़ा-चढ़ा कर लिखना), आवरण (ढ़कना) और संशोधन नहीं किया। (बङ्गाली भाषा में लिखे गये) इस ग्रन्थ में कुछेक संस्कृत के श्लोकों को संयुक्त देखकर अनेक लोग तर्क कर सकते हैं कि संस्कृत नहीं जानने वाले लोग श्लोकों के वास्तविक भावार्थ को नहीं समझ पायेंगे।

अनुभाष्य

८६। इस ग्रन्थ में किसी वस्तु (प्रशंशा अथवा निन्दा) की अपेक्षा (उम्मीद) करके मैंने किसी के साथ विरोध अथवा किसी के अनुरोध के वशीभूत होकर कुछ नहीं लिखा; मैंने केवलमात्र सहज वस्तु का ही विवरण लिखा है। यदि कोई राग की प्राप्ति के लिये कुछ करे, तब उसमें आविष्ट होने पर मेरे द्वारा लिखे हुए इस वर्णन की सहज ही उपलब्धि करेंगे। सहज वस्तु रागानुग-जनों द्वारा अनुभवनीय है। लिखते समय वैसी लेखनी राग में आविष्ट व्यक्ति के हृदय में स्फुरित होती है; राग हीन जन उसमें उस प्रकार से प्रवेश नहीं कर पायेंगे। अनुभवनीय सहज वस्तु को जनाने के लिये यहाँ केवल लिख नहीं डाला।

पाठान्तर में—'यदि हय राग-द्वेष', तब फिर ऐसा अर्थ होगा।—'यदि कृष्ण सेवा को परित्याग करके कृष्णेतर (अन्यान्य) वस्तुओं में अनुराग अर्थात् अभि-निवेश एवं द्वेष अथवा विराग आकर यदि किसी को आविष्ट कर दे, तो फिर उसके द्वारा शुद्धात्मा के साथ उत्पन्न अप्राकृत कृष्ण प्रेम का विषय किसी भी प्रकार से वर्णित नहीं हो सकता।'

श्रद्धापूर्वक चैतन्यलीला श्रवण के
फलस्वरूप कृष्णप्रीति का उदय—

जेबा नाहि बुझे केह, शुनिते शुनिते सेह,
कि अद्भुत चैतन्यचरित।
कृष्णे उपजिबे प्रीति, जानिबे रसेर रीति,
शुनिलेइ बड़ हय हित॥८७॥

८७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरित्र में एक ऐसी अद्भुत शक्ति है कि यद्यपि कोई पहले-पहले उसे नहीं भी समझ सकता, तथापि बार-बार सुनने के फलस्वरूप उसके हृदय में भी श्रीकृष्ण के प्रति प्रीति उत्पन्न हो जाती है, वह व्रज रस की रीति को जान जाता है तथा इसे सुनने मात्र से ही परम कल्याण साधित होता है।

संस्कृत भाषा में लिखे हुए
भागवत के साथ उपमा—

भागवत—श्लोकमय, टीका तार संस्कृत हय,
तबु कैछे बुझे त्रिभुवन।
इँहा श्लोक दुइ-चारि, तार व्याख्या भाषा करि,
केने ना बुझिबे सर्वजन॥८८॥

अनुभाष्य

८८। ८५ संख्या पयार में लिखित वादियों के वाद के सम्बन्ध में कह सकता हूँ कि श्रीमद्भागवत ग्रन्थ—संस्कृत श्लोक मय है, उसकी सारी व्याख्याएँ भी संस्कृत भाषा में लिखी गयी हैं। उसको समझकर जब त्रिभुवन के लोग कृष्णभक्ति प्राप्त करते हैं, तब इस चैतन्यचरितामृत में दो-चार संस्कृत के श्लोकों को उद्धृत करके उनकी बङ्गला भाषा में कविता के रूप में व्याख्या कर देने से सभी गौरभक्त उसको क्यों नहीं समझ पायेंगे?

प्रभु की शेषलीला का वर्णन करने की इच्छा—

शेष-लीलार सूत्रगण, कैलूँ किछु विवरण,
इँहा विस्तारिते चित्त हय।
थाके यदि आयुः-शेष, विस्तारिब लीला-शेष,

यदि महाप्रभुर कृपा हय॥८९॥

८९। प० अनु०—शेष लीला के जिन-जिन विषयों का यहाँ पर सूत्र के रूप में वर्णन किया गया है, उनका विस्तृत रूप से वर्णन करने की इच्छा हो रही है। यदि मेरी आयु बची और श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा हुई तो मैं अवश्य ही शेष-लीला का विस्तृत रूप में वर्णन करूँगा।

ग्रन्थकार के द्वारा अपनी अयोग्यता
और दैन्य को प्रकट करना—

आमि वृद्ध जरातुर, लिखिते काँपये कर,
मने किछु स्मरण ना हय।
ना देखिये नयने, ना शुनये श्रवणे,
तबु लिखि,—ए बड़ विस्मय॥९०॥

९०। प० अनु०—मैं बहुत वृद्ध और जरातुर (वृद्धा- वस्था आने पर होने वाली कातरता से ग्रस्त) हूँ। लिखते समय मेरे हाथ काँपते हैं, मेरी स्मरण-शक्ति भी प्रायः नष्ट हो गयी है। मुझे आँखों से भलीभाँति दिखायी नहीं देता तथा न ही कानों से ठीक से सुनाई। तब भी मैं लिखता हूँ, यह एक बहुत ही आश्चर्य की बात है।

प्रभु के दिव्योन्मादात्मक अन्त्यलीला ही
गौरभक्तों के लिये नित्य आलोच्य—

एइ अन्त्यलीला-सार, सूत्रमध्ये विस्तार,
करि' किछु करिलूँ वर्णन।
इहा मध्ये मरि जबे, वर्णिते ना पारि तबे,
एइ लीला भक्तगण-धन॥९१॥

९१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की अन्त्य लीला ही भक्तों का धन है अर्थात् उन्हें बहुत प्रिय है। हो सकता है, ग्रन्थ की समाप्ति से पहले ही मैं शरीर छोड़ देने के कारण इसका वर्णन न कर पाऊँ, इसलिए मैंने इसी अध्याय में ही श्रीचैतन्य महाप्रभु की अन्त्यलीला का सूत्र के रूप में वर्णन कर दिया है, ताकि अन्ततः भक्तों के पास सूत्र रूपी सम्पत्ति रह जाये।

अभी संक्षेप में और बाद में
विस्तारपूर्वक कहने की इच्छा—

संक्षेपे एइ सूत्र कैल, जेइ इँहा ना लिखिल,
आगे ताहा करिब विचार।
यदि तत दिन जिये, महाप्रभुर कृपा हये,
इच्छा भरि' करिब विस्तार॥९२॥

९२। प० अनु—इस अध्याय में मैंने संक्षेप में सूत्र के रूप में श्रीचैतन्य महाप्रभु की अन्त्य लीला का वर्णन किया है, जिसका मैंने यहाँ वर्णन नहीं किया, उसका बाद में विस्तृत रूप से वर्णन करूँगा। यदि श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा से मैं तब तक बचा रहा तो जी भरकर मैं उन सब लीलाओं का वर्णन करूँगा।

भक्तों की वन्दना और श्रौतपन्था में अवस्थान—

छोट बड़ भक्तगण, वन्दों सबार चरण,
सबे मोरे करह सन्तोष।
स्वरूप-गोसाञिर मत, रूप-रघुनाथ जाने जत,
ताइ लिखि, नाहि मोर दोष॥९३॥

९३। प० अनु—मैं छोटे एवं बड़े, सभी भक्तों के श्रीचरणों की वन्दना करते हुए अनुरोध करता हूँ कि वे सभी मेरे प्रति प्रसन्न हों। श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी का जो मत था, जिसे मैंने श्रीरूप गोस्वामी तथा श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी के निकट जाना है, मैं उसी को ही लिख रहा हूँ, इस विषय में मेरी कोई स्वतन्त्रता नहीं होने के कारण इसमें मेरा कोई दोष नहीं है।

अनुभाष्य

९३। 'भजनविज्ञ', 'भजनशील' और 'कृष्ण नाम

तृतीय अध्याय

कथासार—काटोया-ग्राम में संन्यास ग्रहण करने के बाद तीन दिन तक राढ़देश में भ्रमण करते-करते नित्यानन्द प्रभु की चतुरता से श्रीमहाप्रभु ने शान्तिपुर के पश्चिम दिशा के उस पार आगमन किया। गङ्गा को यमुना के भ्रम से स्तव करने के बाद अद्वैत प्रभु नौका लेकर महाप्रभु को स्नान कराके अपने घर ले गये। वहाँ नवद्वीपधाम वासियों और श्रीशची माता के साथ प्रभु का साक्षात्कार हुआ। उनके साथ मिलने के पश्चात् शची माता ने रसोई बनाई। दोनों प्रभुओं अर्थात् श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा श्रीनित्यानन्द प्रभु के भोजन के समय नित्यानन्द प्रभु के साथ अद्वैत प्रभु का अनेक प्रकार का कौतुक (हास-परिहास) हुआ। अपराह्न (दोपहर के बाद) के समय समागत भक्तों के साथ सङ्कीर्त्तन होने लगा। इस प्रकार कुछेक दिन वहीं पर व्यतीत होने के बाद भक्तों ने शची माता के साथ परामर्श करके महाप्रभु को नीलाचल रहने के लिये अनुरोध किया। महाप्रभु ने उनके परामर्श को स्वीकार करके नित्यानन्द, मुकुन्द, जगदानन्द और दामोदर को साथ लेकर शान्तिपुर के भक्तगणों और शची माता को विदायी देकर छत्रभोग के मार्ग श्रीपुरुषोत्तम की यात्रा की।

(अ:प्र:भा)

संन्यास के एकदम बाद ही भ्रमण करनेवाले गौर को प्रणाम—

न्यासं विधायोत्प्रणयोहथ गौरो
वृन्दावनं गन्तुमना भ्रमाद् यः।
राढ़े भ्रमन् शान्तिपुरीमयित्वा
ललास भक्तैरिह तं नतोऽस्मि॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। संन्यास ग्रहण करके कृष्ण प्रेम में वृन्दावन जाने की इच्छा करने पर भी भ्रान्त चित्त होकर राढ़देश में भ्रमण करते-करते शान्तिपुर पहुँचकर भक्तों के साथ उल्लास को प्राप्त करने वाले श्रीगौरचन्द्र को मैं प्रणाम करता हूँ।

अनुभाष्य

१। यः गौरः (विश्वम्भरः) न्यासं (तूर्याश्रम) विधाय (वेदविहित-संन्यास-संस्कारादिकं गृहीत्वा) उत्प्रणयः (प्रेमाकृष्टः सन्) वृन्दावनं गन्तुमनाः (व्रजगमनोत्सुक मानसः) भ्रमात (प्राकृत नेत्रेषु भ्रम प्रदर्शनात्, प्रेमाञ्जन-च्छुरित भक्तिविलोचनपदं कृष्णधाम प्राकृतचेष्टया दुर्लभं शुद्ध भजनलभ्यं चेति प्रदर्शयन्) राढ़े (गङ्गायाः पश्चिमे राष्ट्राख्ये प्रदेशे) भ्रमण शान्तिपुरीं अयित्वा (गत्वा) ईह (अस्मिन् शन्तिपुर्य्यां) भक्तैः सह ललास, त्वं गौरं नतोऽस्मि।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय, हो जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो तथा श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो।

२४ वर्ष के अन्त में प्रभु
का संन्यास ग्रहण—

चब्बिश वत्सर-शेष जेइ माघ-मास।
तार शुक्लपक्षे प्रभु करिला संन्यास॥३॥

३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपनी आयु के चौबीसवें वर्ष के अन्तिम माघ मास के शुक्लपक्ष में संन्यास ग्रहण किया।

त्रिदण्डि भिक्षुक का गीत पढ़ते हुए प्रभु
का राढ़देश में तीन दिन तक भ्रमण—

संन्यास करि' प्रेमावेशे चलिला वृन्दावन।
राढ़-देशे तिन दिन करिला भ्रमण॥४॥
एइ श्लोक पड़ि' प्रभु भावेर आवेशे।
भ्रमिते पवित्र कैल सब राढ़-देशे॥५॥

४-५। प० अनु०—संन्यास ग्रहण करके श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रेम के आवेश में अपने अनुसार तो वृन्दावन की ओर चलने लगे, किन्तु तीन दिन तक राढ़देश में ही भ्रमण करते रहे। निम्नलिखित श्लोक का उच्चारण करते-करते भाव के आवेश में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सम्पूर्ण राढ़देश को पवित्र कर दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

४। राढ़देश—'राष्ट्र' शब्द से 'राढ़'—शब्द (बना है)। गङ्गा के पश्चिम तट की ओर वाली गौड़भूमि को 'राढ़देश' कहते हैं; इसका दूसरा नाम 'पौण्ड्रदेश' है। पौण्ड्र शब्द का अपभ्रंश पेंड़ो, वहाँ राष्ट्रदेश की राजधानी थी।

श्रौतपन्था के अनुसरण से ही त्रिदण्डि
भिक्षु की सिद्धि की प्राप्ति की आशा—
(श्रीमद्भागवत ११/२३/५७ श्लोक)

एतां स्मास्थाय परात्मनिष्ठा-
मूपासितां पूर्वतमैर्महद्भिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो
मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव॥६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६। अवन्तीदेशीय भिक्षुक ब्राह्मण ने कहा,—प्राचीन महानुभावों के द्वारा उपासित इस परात्मनिष्ठा रूपी भिक्षुक आश्रम का आश्रय लेकर कृष्णपादपद्मों की सेवा द्वारा मैं इस अति कठिनाई से पार किये जाने वाले संसार रूपी तम (अन्धकार) से पार होऊँगा।

अनुभाष्य

६। आवन्तिक त्रिदण्डी भिक्षु ने त्रिताप में दग्ध होकर अन्त में काय-मन और वाक्य से भगवान् के एकान्त शरणागत होकर सेवा करने के उद्देश्य से इस गीत का गान किया—

पूर्वतमैः (प्राचीनैः) महद्भिः (महाभागवतैः) उपासितां (सेविताम्) एतां परात्मनिष्ठां (परः "ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्" इति वचनात् सर्वस्मात् परः यः आत्मा, तस्मिन् या निष्ठा अनर्थनिवृत्यनन्तरं नैसर्गिक-भजनपरावस्थितिः ता) समास्थाय (आदौ श्रद्धादिक्रम-पन्थानुसारेण सम्यक् प्रकारेण श्रौतमार्गे भजनं कुर्वन्) मुकुन्दाघ्रिनिषेवया (साधन-भाव-भक्ताख्या) दुरन्तपारं (दुस्तर) तमः (कृष्ण सेवा-रहित जड़ाहङ्कार-भोगरूप संसाराख्यम् अज्ञान) तरिष्यामि (कृष्णेतरकैङ्कर्यवासनां त्यक्तवा अति क्रमिष्यामि)।

चौंसठ प्रकार के भक्ति के अङ्गों के विचार से वैष्णव-चिह्न धारण के अन्तर्गत तूर्याश्रमोचित (संन्यासी के लिये उचित) वेष भी आता है। जो इस तूर्याश्रमोचित वेश को धारण करते हैं, उनका ही मुकुन्द सेवा के द्वारा संसार से उद्धार होता है। परमात्मनिष्ठ व्यक्ति त्रिदण्डि-भिक्षु का वेश धारण किया करते हैं। पुरातन महर्षि भी त्रिदण्ड-वेश धारण करते थे, बाद में विष्णु स्वामी ने कलियुग में त्रिदण्ड वेश को ही 'परात्म निष्ठा' के रूप में ज्ञापन करके मुकुन्द सेवा की निष्ठा का प्रवर्त्तन किया। ऐकान्तिकी भक्ति में निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों ने उस त्रिदण्ड के साथ चौथे 'जीव दण्ड' के संयोग से जिस एक दण्ड के विधान का प्रवर्त्तन किया है, उसके अन्तर्गत ही त्रिदण्ड-विधान है। एक दण्डि सम्प्रदाय त्रिदण्ड के एक तात्पर्यत्व को नहीं समझ पाने के कारण इस सम्प्रदाय के अनेक शिव स्वामियों ने बाद में निर्विशेष-ब्रह्मज्ञान को उद्देश्य करके शङ्कराचार्य के एकदण्ड संन्यास के आदर्श को स्थापन करके सेव्य-सवेक-भाव को अर्थात् मुकुन्द सेवा को छोड़ दिया है। विष्णु स्वामि-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तित अष्टोत्तरशत नामी संन्यासियों के बदले दस नामी की व्यवस्था ही केवला-द्वैतवादियों में विस्तृत हुई है।

श्रीगौरसुन्दर ने यद्यपि आर्यव्रत की तात्कालिक प्रथा के अनुसार एकदण्ड-संन्यास ग्रहण किया था, तथापि उस एकदण्ड के अन्दर (भीतर) चार दण्ड एक ही साथ थे। इसी का प्रचार करने के लिये ही श्रीचैतन्यदेव ने श्रीमद्भागवत में कहे गये त्रिदण्डि-भिक्षु के गीत का गान किया था। परात्म-निष्ठा के अभाव में जो एकदण्ड है, वह श्रीगौरसुन्दर के द्वारा अनुमोदित (समर्थित, स्वीकृत) नहीं है। त्रिदण्डिगण तीन दण्डों के साथ जीव दण्ड के संयोग से ऐकान्तिकी भक्ति का विधान करते हैं। अप्राकृत भक्ति रहित एकदण्डि गण निर्विशेष मतावलम्बी होने के कारण परात्म निष्ठा से विमुख हैं, अतएव ब्रह्मसंज्ञक प्रकृति में लीन होकर निर्विष्ट होने को 'मुक्ति' मानते हैं। श्रीचैतन्यदेव के 'त्रिदण्डि' होने को न जानने के कारण आर्यावर्तवासी मायावादियों के बाह्य ज्ञान के अनुसार 'विवर्त' उपस्थित होता है। श्रीमद्भागवत ने एकदण्ड संन्यास की कोई बात ही नहीं की, त्रिदण्डि धारण को ही तूर्याश्रम का एकमात्र वेश कहकर वर्णन किया है। श्रीगौरसुन्दर ने उसी श्रीमद्भागवत की वाणी का ही बहुमानन (अर्थात् उसे ही अत्यधिक प्रमाणिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार) किया है, बहिःप्रज्ञ (बाहर से ही ज्ञानवान दिखायी देने वाले) मायावादी इसे नहीं समझ सकते।

श्रीचैतन्यदेव की शिक्षा के अनुसार आज तक उनके अनुगत जनों में शिखा-सूत्र युक्त संन्यास प्रचलित है। एकदण्डि मायावादी शिखा सूत्र वर्जित एवं त्रिदण्डि के माहात्म्य को समझने में असमर्थ हैं; क्योंकि उनमें श्रीभगवान् की सेवा करने की प्रवृत्ति नहीं है। विषय सेवा में निमग्न चित्त में धैर्य हीन होकर वे अतद्धर्म (भगवान् से रहित धर्म) के आश्रय में सेव्य-सेवक-भाव से वर्जित होकर प्रकृति अथवा ब्रह्म में लीन होने का विचार करते हैं। दैववर्णाश्रम प्रवर्त्तनकारी आचार्यगण असुरवर्णाश्रमियों के ज्ञान और चिन्तास्त्रोत आदि कुछ भी ग्रहण नहीं करते।

श्रीगौरसुन्दर के अत्यन्त अन्तरङ्ग भक्त, श्रीमद्भागवत शास्त्र में परम प्रवीण श्रीमद् गदाधर पण्डित गोस्वामी प्रभु ने स्वयं त्रिदण्ड संन्यास के विचार को ग्रहण किया है एवं उन्होंने श्रीमाधव उपाध्याय को अपना त्रिदण्डि शिष्य कहकर ग्रहण किया है। इन्हीं माधवाचार्य से ही (भारत के) पश्चिम देश में श्रीवल्लभाचार्य सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई है। गौड़ीय-वैष्णव-स्मृत्याचार्य श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी के आचार्य और श्रीगुरुदेव त्रिदण्डिपाद श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती प्रभु द्वारा प्रवर्त्तित त्रिदण्डविधान में दीक्षित श्रील गोपाल भट्ट ने किस प्रकार के वेश को ग्रहण किया था, इसका ठीक-ठीक उल्लेख नहीं रहने पर भी श्रीरूप गोस्वामी लिखित 'उपदेशामृत' के आदि श्लोकस्थ अर्थात् प्रथम श्लोक में कहे गये त्रिदण्ड विधान के आनुगत्य में वैष्णवस्मृत्याचार्य में उत्तम रूप से परिस्फुट था। कैवलाद्वैत के विचार से एकदण्ड को श्रीगौरसुन्दर के अनुगत किसी भी भक्त ने अङ्गीकार नहीं किया। शिखा मुण्डित और सूत्र वर्जित निर्विशेष-विचारपर संन्यासिगण अपनी विचार प्रणाली गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में प्रचलित करने में असमर्थ हुए थे।

श्रीगौरसुन्दर ने त्रिदण्डि श्रीधरस्वामिपाद की प्रणाली का ही अनुमोदन किया। केवलाद्वैतवादी श्रीधर की शुद्धाद्वैत विचार-प्रणाली को नहीं समझ पाने के कारण ही उन्हें अपने दल में लेना चाहते हैं, किन्तु—यह बात श्रीगौरसुन्दर को अभिप्रेत (स्वीकृत) नहीं है।

त्रिदण्दि भिक्षु की कृष्णसेवा-निष्ठा के दर्शन से सुख—

प्रभु कहे,—साधु एइ भिक्षुर वचन।
मुकुन्द-सेवन-व्रत कैल निर्धारण॥७॥
परात्मनिष्ठा-मात्र वेष-धारण।
मुकुन्द-सेवाय हय संसार-तारण॥८॥
सेइ वेष कैल, एबे वृन्दावन गिया।
कृष्णनिषेवण करि' निभृते बसिया॥९॥

७-९। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"इस भिक्षुक के वचन बहुत सुन्दर हैं, क्योंकि इन वचनों में 'जीवों का व्रत मुकुन्द की सेवा' ही 'परात्मनिष्ठा

(श्रीकृष्ण भक्ति में निष्ठा होने) के कारण ही संन्यास वेश धारण' तथा 'मुकुन्द की सेवा से ही जीव संसार से मुक्त हो सकता है' निधारित हुआ है।

मैंने भी अब वही वेष धारण किया है अतएव अब मैं वृन्दावन जाऊँगा और एकान्त में सब प्रकार से श्रीकृष्ण की सेवा करूँगा।"

अमृतप्रवाह भाष्य

७-८। संन्यास वेश ग्रहण करके महाप्रभु ने कहा,— भिक्षुक के वचन अति सुन्दर है। क्योंकि, इनके उन वचनों में कृष्णपादपद्म का सेवा रूपी व्रत निर्धारित हुआ है। इसमें जो संन्यास वेश है, जड़ात्म निष्ठा निषेध पूर्वक परात्म निष्ठा ही इसका तात्पर्य हुआ है।

प्रभु की प्रेम उन्मत्त अवस्था में वृन्दावन-यात्रा—

एत बलि' चले प्रभु, प्रेमोन्मादेर चिह्न।
दिक्-विदिक्-ज्ञान नाहि, किबा रात्रि-दिन॥१०॥

१०। प० अनु०—इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु वृन्दावन की ओर चल पड़े। उनके श्रीअङ्गों में प्रेमोन्माद के चिह्न प्रकाशित हो रहे थे तथा उन्हें दिशा-विदिशा अथवा रात-दिन का कुछ भी ज्ञान नहीं था।

प्रभु के पीछे चलने वाले निताई, चन्द्रशेखर और मुकुन्द—

नित्यानन्द, आचार्यरत्न, मुकुन्द,—तिन जन।
प्रभु-पाछे-पाछे तिने करेन गमन॥११॥

११। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीचन्द्रशेखर आचार्य और श्रीमुकुन्द—तीनों श्रीचैतन्य महाप्रभु के पीछे-पीछे चलने लगे।

प्रभु के दर्शन मात्र से लोगों का उद्धार—

जेइ जेइ प्रभु देखे, सेइ सेइ लोक।
प्रेमावेशे 'हरि' बले, खण्डे दुःख-शोक॥१२॥

१२। प० अनु०—मार्ग में जिस-जिस व्यक्ति ने श्रीचैतन्य महाप्रभु का दर्शन किया वही प्रेमावेश में 'हरि-हरि' कहने लगता। जिससे उनका दुःख और शोक दूर हो गया था।

बालकों के प्रति प्रभु का स्नेह—

गोप-बालक सब प्रभुके देखिया।
'हरि' 'हरि' बलि' डाके उच्च करिया॥१३॥
शुनि ता-सबार निकट गेला गौरहरि।
'बल' 'बल' बले सबार शिरे हस्त धरि'॥१४॥
ता'-सबार स्तुति करे,—तोमरा भाग्यवान्।
कृतार्थ करिले मोरे शुनाञा हरिनाम॥१५॥

१३-१५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु को देखकर सभी गोपबालक उच्चस्वर से 'हरि-हरि' कहने लगे। गोपबालकों के मुख से हरि ध्वनि सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु उनके निकट चले गये और उनके मस्तक पर अपना हाथ रखकर 'हरि बोलो' 'हरि बोलो' कहने लगे। उन गोपबालकों की स्तुति करते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु कहने लगे—"तुमलोग बहुत भाग्यवान् हो। तुमने हरिनाम सुनाकर मुझे कृतार्थ कर दिया है।"

नित्यानन्द की चतुरता और
बालकों को एकान्त में उपदेश—

गुप्ते ता'-सबाके आनि' ठाकुर नित्यानन्द।
शिखाइल सबाकारे करिया प्रबन्ध॥१६॥
वृन्दावन पथ प्रभु पुछेन तोमारे।
गङ्गातीर-पथ तबे देखाइह ताँरै॥१७॥

१६-१७। प० अनु०—(श्रीमन् महाप्रभु के थोड़ा आगे बढ़ जाने पर) श्रीनित्यानन्द प्रभु ने उन बालकों को एकान्त में ले जाकर इस प्रकार समझाया। श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"यदि प्रभु तुमसे वृन्दावन जाने का मार्ग पूछेंगे तो उन्हें गङ्गा तट का मार्ग दिखा देना।"

अनुभाष्य

१६। प्रबन्ध,—सुसङ्गत कहानी की रचना।

प्रभु द्वारा बालकों से वृन्दावन
जाने के मार्ग की जिज्ञासा—

तबे प्रभु पूछिलेन,—'शुन, शिशुगण।
कह देखि, कोन् पथे जाब वृन्दावन'॥१८॥

१८। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने गोप-

बालकों से पूछा—"सुनो बालकों! बताओ तो मैं वृन्दावन किस मार्ग से जाऊँ।"

निताई के कथनानुसार बालकों का प्रभु को नवद्वीप के पथ का प्रदर्शन—

शिशु सब गङ्गातीरपथ देखाइल।
सेइ पथे आवेशे प्रभु गमन करिल॥१९॥

१९। प० अनु०—सब बालकों ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को गङ्गा तट का मार्ग दिखा दिया और प्रभु भी आवेश में उसी मार्ग पर चल दिये।

सब प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु और चारों ओर महाप्रभु के आगमन की सूचना देने के लिये निताई के द्वारा श्रीचन्द्रशेखर को शान्तिपुर में भेजना—

आचार्यरत्नेर कहे नित्यानन्द-गोसाञि।
शीघ्र जाह तुमि अद्वैत-आचार्येर ठाञि॥२०॥
प्रभु लये जाब आमि ताँहार मन्दिरे।
सावधाने रहेन जेन नौका लञा तीरे॥२१॥
तबे नवद्वीपे तुमि करिह गमन।
शची-माता लञा आइस, आर भक्तगण॥२२॥

२०-२२। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीचन्द्र-शेखर आचार्य से कहा—"आप शीघ्र ही श्रीअद्वैताचार्य के पास चले जाओ। मैं श्रीचैतन्य महाप्रभु को उन्हीं के घर शान्तिपुर में ले जाऊँगा। उनसे कहना कि वे गङ्गा तट पर एक नौका लेकर सावधान रहें। उसके बाद आप नवद्वीप जाकर शची माता और अन्यान्य सभी भक्तों को शान्तिपुर ले आना।"

महाप्रभु के सामने निताई का अचानक आना—

ताँरे पाठाइया नित्यानन्द महाशय।
महाप्रभुर आगे आसि' दिल परिचय॥२३॥

२३। प० अनु०—श्रीचन्द्रशेखर आचार्य को नवद्वीप भेजकर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के सामने आकर अपने आगमन के विषय में बतलाया।

नित्यानन्द को देखकर प्रभु की जिज्ञासा और निताई की छलना—

प्रभु कहे,—श्रीपाद, तोमार कोथाके गमन।
श्रीपाद कहे, तोमार सङ्गे जाब वृन्दावन॥२४॥

२४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा— "श्रीपाद (हे श्रीनित्यानन्द प्रभु)! आप कहाँ जा रहे हैं?" यह सुनकर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"मैं आपके साथ वृन्दावन जाऊँगा?"

गङ्गा को यमुना कहना—

प्रभु कहे, कत दूरे आछे वृन्दावन।
तिंहो कहेन,—कर एइ यमुना दरशन॥२५॥

२५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"वृन्दावन और कितना दूर है?" श्रीनित्यानन्द प्रभु ने उत्तर दिया—"सामने यमुना का दर्शन कीजिए।"

महाप्रभु को गङ्गा के दर्शन से यमुना का उद्दीपन—

एत बलि' आनिल ताँरे गंगा-सन्निधाने।
आवेशे प्रभुर हैल गंगारे यमुना-ज्ञाने॥२६॥

२६। प० अनु०—इतना कहकर श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीचैतन्य महाप्रभु को गङ्गा के निकट ले आये और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भी आवेश में गङ्गा को यमुना मान लिया।

प्रभु के द्वारा यमुना का स्तव—

अहो भाग्य, यमुनारे पाइलुँ दरशन।
एत बलि' यमुनार करेन स्तवन॥२७॥

२७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मेरा बहुत भाग्य है कि आज यमुना का दर्शन प्राप्त हुआ है।" इतना कहकर महाप्रभु यमुना की स्तुति करने लगे—

(चैतन्यचन्द्रोदयनाटक के ५अ, १३ संख्या में उद्धृत पद्म-पुराण का वाक्य)

चिदानन्दभानोः सदा नन्दसूनोः
परप्रेमपात्री द्रवब्रह्मगात्री।

अघानां लवित्री जगत्क्षेमधात्री
पवित्रीक्रियान्नो वपुर्मित्र पुत्री॥२८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२८। सर्वदा चिदानन्द सूर्य स्वरूप नन्दनन्दन के प्रेम की पात्री, ब्रह्मद्रव स्वरूपिणी, पापनाशिनी, जगत का मङ्गल करने वाली, सूर्यपुत्री यमुना हमारे शरीर को पवित्र करें।

अनुभाष्य

२८। चिदानन्द भानोः (सम्वित् प्रीति प्रकाशकस्य) नन्दसूनोः (कृष्णस्य) सदा (नित्य) परप्रेमपात्री (परम-प्रीति प्रदात्री) द्रवब्रह्मगात्री (चित् सलिला रूपा) अघा-नाम् (अपराधाना) लवित्री (विनाशयित्री) जगत् क्षेम धात्री (जगतां लोकानां मङ्गलविधात्री) मित्रपुत्री (रवि-सुता कालिन्दी यमुना) नः (अस्माक) वपुः (अस्माक) वपुः (दिव्यज्ञानेन) पवित्रीक्रियात् (शुद्धीकुर्यात्)।

एक कौपीन मात्र ही प्रभु का सम्बल—

एत बलि' नमस्करि' कैल गंगास्नान।
एक कौपीन, नाहि द्वितीय परिधान॥२९॥

२९। प० अनु०—इस प्रकार स्तुति करके श्रीचैतन्य महाप्रभु ने प्रणाम करने के बाद गङ्गा स्नान किया। उनके पास एकमात्र कौपीन के अतिरिक्त और दूसरा कोई परिधेय वस्त्र नहीं था।

अद्वैत का दर्शन—

हेनकाले आचार्य-गोसाञि नौकाते चड़िञा।
आइल नूतन कौपीन-बहिर्वास लञा॥३०॥

३०। प० अनु०—उसी समय श्रीअद्वैताचार्य नौका के माध्यम से वही आ पहुँचे, वे अपने साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु के लिये नया कौपीन तथा बहिर्वास भी लाये थे।

अद्वैत के दर्शन से प्रभु को सन्देह—

आगे आचार्य आसि' रहिला नमस्कार करि'।
आचार्य देखि' बले प्रभु मने संशय करि'॥३१॥

३१। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य ने सामने आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को प्रणाम किया और इस स्थान पर श्रीअद्वैताचार्य को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु संशय युक्त होकर कहने लगे—

प्रभु की अद्वैत से जिज्ञासा—

तुमि त' आचार्य गोसाञि, एथा केने आइला।
आमि वृन्दावने, तुमि केमते जानिला॥३२॥

३२। प० अनु०—"तुम तो श्रीआचार्य गोसाईं हो, यहाँ क्यों आये? मैं वृन्दावन में हूँ, यह तुमने कैसे जान लिया?"

अद्वैत का सरल भाव से प्रभु को उत्तर देना—

आचार्य कहे,—तुमि जाँहा, सेइ वृन्दावन।
मोर भाग्ये गंगातीरे तोमार आगमन॥३३॥

३३। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य ने कहा—"आप जिस स्थान पर हैं वही वृन्दावन है। मेरा सौभाग्य है कि आप गङ्गा के तट पर आये हैं।"

अद्वैत के समक्ष श्रीनित्यानन्द प्रभु की चतुरता का वर्णन—

प्रभु कहे,—नित्यानन्द आमारे वञ्चिला।
गंगाके आनिया मोरे यमुना कहिला॥३४॥

३४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"नित्यानन्द ने मेरी वञ्चना की है। मुझे गङ्गा के तट पर लाकर—कहा, कि ये यमुना है।

अनुभाष्य

३४। गङ्गाके,—गङ्गाय (गङ्गा के निकट); कविराज गोस्वामी प्रभु का पूर्वाश्रम राढ़देश में था—काटोया के निकट बहुत समय तक वास करने के कारण इस ग्रन्थ में बहुत स्थानों पर राढ़देश की भाषा देखी जाती है।

आज तक भी राढ़देश में सप्तमी-विभक्ति के 'ए' के स्थान पर 'के' व्यवहार किया जाता है। जैसे 'घरे' शब्द राढ़ भाषा में 'घरके' शब्द के रूप में प्रचलित है।

अद्वैत के द्वारा निताई के वाक्य का समर्थन और सत्यता का प्रतिपादन—

आचार्य कहे, मिथ्या नहे श्रीपाद-वचन।
यमुनाते स्नान तुमि करिला एखन॥३५॥
गंगाय यमुना बहे हञा एकधार।
पश्चिमे यमुना बहे, पूर्वे गंगाधार॥३६॥

३५-३६। प० अनु०—श्रीअद्वैत आचार्य ने कहा—"श्रीपाद नित्यानन्द प्रभु के वचन झूठे नहीं हैं। आपने इस समय यमुना में ही स्नान किया है। क्योंकि यहाँ गङ्गा और यमुना दोनों धाराएँ—एकधारा होकर प्रवाहित हो रही हैं। पश्चिम में यमुना और पूर्व में गङ्गा की धारा बहती है।

अद्वैत के द्वारा प्रभु को नया कौपीन प्रदान और निमन्त्रण करना—

पश्चिमधारे यमुना बहे, ताँहा कैले स्नान।
आर्द्र कौपीन छाड़ि' शुष्क कर परिधान॥३७॥
प्रेमावेशे तिन दिन आछ उपवास।
आजि मोर घरे भिक्षा, चल मोर वास॥३८॥

३७-३८। प० अनु०—पश्चिम में जो यमुना की धारा बहती है, आपने उसी में ही स्नान किया है। अब आप गीले कौपीन को छोड़कर सूखे कौपीन को धारण कीजिए। प्रेम के आवेश में आपने तीन दिन तक उपवास किया है। आज मेरे घर में चलकर भिक्षा (भोजन) ग्रहण कीजिए।"

कहीं प्रभु अस्वीकार न करें, इसी भय से अपने घर में भिक्षा की साम्रगी का सामान्यरूप से वर्णन—

एक मुष्टि अन्न मुञि करियाछों पाक।
शुखारूखा व्यञ्जन कैलूँ, सूप आर शाक॥३९॥

३९। प० अनु—मैंने अपने घर में एक मुट्ठी भर चावल और थोड़ा रूखे-सुखे दाल तथा साग आदि व्यञ्जन बनाये हैं।

अनुभाष्य

३९। सुखारूखा व्यञ्जन,—चचड़ि (सूखी सब्जी)

प्रभु को शान्तिपुर में अपने घर में लाना और उनकी अभ्यर्थना करना—

एत बलि' नौकाय चड़ाञा निल निज-घर।
पादप्रक्षालन कैल आनन्द-अन्तर॥४०॥

४०। प० अनु०—इतना कहकर श्रीअद्वैताचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु को नौका में चढ़ाकर अपने घर ले आये और फिर श्रीमन् महाप्रभु के श्रीचरणों का प्रक्षालन करके हृदय में बहुत आनन्दित हुए।

सीता-ठाकुरानी के द्वारा रसोई और स्वयं आचार्य के द्वारा भोग-निवेदन करना—

प्रथमे पाक करियाछेन आचार्याणी।
विष्णु-समर्पण कैल आचार्य आपनि॥४१॥

४१। प० अनु—श्रीअद्वैताचार्य के द्वारा श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपने घर में लाने से पहले ही आचार्याणी (श्रीअद्वैत की पत्नी श्रीसीता देवी) ने रसोई बनाकर रखी थी। श्रीअद्वैताचार्य ने आकर स्वयं समस्त पकवानों को भगवान् श्रीविष्णु को निवेदन किया।

दोनों प्रभु (श्रीमन् महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु) और कृष्ण,—इन तीनों के लिये तीन पात्रों में नैवेद्य को सजाना—

तिन ठाञि भोग बाड़ाइल सम करि'।
कृष्णेर भोग बाड़ाइल धातु-पात्रोपरि॥४२॥
बत्तिशा-आठिया-कलार आङ्गटिया पाते।
दुइ ठाञि भोग बाड़ाइल भालमते॥४३॥

४२-४३। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य ने समस्त भोग को तीन भागों में विभक्त कर दिया। जिसमें से कृष्ण के उद्देश्य से लगाये जाने वाले भोग को धातु पात्र में रखा एवं बत्तिशा-आठिया कला अर्थात् जिस केले में

स्वाभाविक रूप से बीज होते हैं, उस केले के पेड़ के अखण्ड पत्तों में श्रीमन् महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु के उद्देश्य से भोग रखा।

नैवेद्य का वर्णन—

मध्ये पीत-घृतसिक्त शाल्यन्नेर स्तूप।
चारिदिके व्यञ्जन-डोङ्गा, आर मुद्गसूप॥४४॥
साद्रक, वास्तुक-शाक विविध प्रकार।
पटोल, कुष्माण्ड-बड़ि, मानकचु आर॥४५॥
चइ-मरिच-सुखत दिया सब फल-मूले।
अमृतनिन्दक पञ्चविध तिक्त-झाले॥४६॥
कोमल निम्बपत्र सह भाजा वार्ताकी।
पटोल-फुलबड़ि-भाजा,कुष्माण्ड-मानचाकि॥४७॥
नारिकेल-शस्य, छाना, शर्करा मधुर।
मोचाघण्ट, दुग्धकुष्माण्ड, सकल प्रचुर॥४८॥
मधुराम्लबड़ा, अम्लादि पाँच-छय।
सकल व्यञ्जन कैल लोके जत हय॥४९॥
मुद्गबड़ा, माषबड़ा, कलाबड़ा मिष्ट।
क्षीरपुली, नारिकेल, जत पीठा इष्ट॥५०॥
बत्तिशा-आठिया-कलार डोङ्गा बड़ बड़।
चले हाले नाहि,—डोङ्गा अति बड़ दड़॥५१॥
पञ्चाश पञ्चाश डोङ्गा व्यञ्जने पूड़िञा।
तिन भोगेर आसे पासे राखिल धरिञा॥५२॥
सघृत-पायस नव मृत्कुण्डिका भरिञा।
तिन पात्रे घनावर्त-दुग्ध राखे त' धरिञा॥५३॥
दुग्ध-चिड़ा-कला आर दुग्ध-लक्लकी।
जतेक करिल, ताहा कहिते ना शकि॥५४॥
दुइ पाशे धरिल सब मृत्कुण्डिका भरि'।
चाँपाकला-दधि-सन्देश कहिते ना पारि॥५५॥

४४-५५। प० अनु०—भोगपात्र के बीच में पीले रङ्ग के घी से युक्त उत्तम शाली धान के चावल को स्तूप के आकार में रखा गया तथा उस चावल के स्तूप के चारों ओर केले के पत्ते से बने दोनों में नाना प्रकार के व्यञ्जन सजाये गये। उन दोनों में मूँग की दाल, अनेक प्रकार के साग, पटोल (परमल), कुष्माण्ड (कच्चे पेठे) के साथ दाल मिलाकर बनायी गयी बड़ी, मानकचु आदि को सजाया गया। चइ मिरच तीखी लगने वाली एक प्रकार की मिर्च अथवा करेले के साथ कच्चे केले, पपीता तथा कन्दमूल मूली इत्यादि के द्वारा बनाया गया पाँच प्रकार का ऐसा शुक्ता जो अमृत की भी निन्दित करने वाला था।

इन व्यञ्जनों में कोमल-कोमल नीम के पत्ते से युक्त बैंगन, परमल और फूलबड़ी (नर्म बड़ी) तथा कच्चे पेठे तथा मानचाकि (एक प्रकार की अरबी के छोटे-छोटे टुकड़े करके सरसों के दाने देकर उसे बनाना) आदि की सूखी सब्जी थी। नारियल की नर्म गिरि, पनीर और शकर से बना हुआ स्वादिष्ट व्यञ्जन, मोचा-घण्ट (केले के फूल से बनी सब्जी), दुग्ध कुष्माण्ड (दूध में कच्चे पेठे को डालकर बनाया गया व्यञ्जन) प्रचुर मात्रा में बनाये थे। खट्टा-मिठा बड़ा, पाँच-छह प्रकार के खट्टे पदार्थादि तथा जितने प्रकार के व्यञ्जन लोगों में प्रसिद्ध हैं, उन्हें भी सजाया गया। व्यञ्जनों में मुद्गबड़ा (मूँग की दाल का बड़ा), माषबड़ा (उड़द की दाल का बड़ा), कलाबड़ा (पके केले का बड़ा), क्षीरपूली (घने दुध में डालकर बनाया गया व्यञ्जन) और नारियल और अनेक प्रकार का पीठा बनाया गया था। यद्यपि बत्तिशा-आठिया केले के तनेके दोने बहुत बड़े-बड़े थे, तथापि बहुत मजबूत होने के कारण वे हिल-डुल नहीं रहे थे। इस प्रकार पचास-पचास डोंने व्यञ्जन से भरकर तीनों भोगों के आस-पास रखे गये थे। घी से बनी पायस (खीर) को नये मिट्टी के बर्त्तनों में भरकर रखा गया था तथा तीन पात्रों में गाढ़ा किया दूध (रबड़ी) भी रखी गयी। इन व्यञ्जनों में चिड़वे और केले को दूध में मिलाकर बनाये गये व्यञ्जन तथा लौकी की खीर इत्यादि जितने और व्यञ्जन प्रस्तुत किये गये उनका वर्णन करना सम्भवपर नहीं है। चाँपाकला, दही

और सन्देश आदि विविध प्रकार के व्यञ्जन जिनका वर्णन करना सम्भवपर नहीं है, वे मिट्टी के कसोरों में रखे हुए थे।

अनुभाष्य

४५-५५। ग्रन्थकार श्रील कविराज गोस्वामी अपने रन्धन अर्थात् पाक कला के नैपुण्य को सुष्ठु रूप से प्रदर्शित कर रहे हैं।

४९। लोके,—जगते (जगत में)।

५०। इष्ट,—प्रयोजनीय, वाञ्छित (अभिलषित)।

५१। चले हाले नाहि,—हिलता डुलता नहीं। दड़—दृढ़, मजबूत।

५४। शकि,—कर सकता हूँ।

नैवेद्य के ऊपर तुलसी और उसके साथ
आचमन के लिये जल प्रदान करना—

अन्न-व्यञ्जन-उपरि दिल तुलसीमञ्जरी।
तिन जलपात्रे सुवासित जल भरि'॥५६॥
तिन शुभ्रपीठ, तार उपरि वसन।
कृष्णेर भोग साक्षात् कृष्णे कराइल भोजन॥५७॥

५६-५७। । प० अनु०—तब श्रीअद्वैताचार्य ने समस्त प्रकार के अन्न और व्यञ्जनों के ऊपर तुलसी मञ्जरी रख दी और तीन पात्रों में सुगन्धित जल भरकर रख दिया तथा भोग लगाने के उद्देश्य से तीन सुन्दर लकड़ी के आसनों पर कपड़ा बिछा दिया। इस प्रकार श्रीअद्वैताचार्य ने भगवान् श्रीकृष्ण के लिये सजाये गये भोग को साक्षात् श्रीकृष्ण (श्रीचैतन्य महाप्रभु) को भोजन कराया।

अनुभाष्य

५७। साक्षात् कृष्णेर—श्रीमन् महाप्रभु को।

स्वयं अद्वैत के द्वारा आरती सम्पादन और दोनों प्रभुओं
का अपने भक्तों के साथ आरती दर्शन करना—

आरतिर काले दुइ प्रभु बोलाइल।
प्रभु-सङ्गे सबे आसि' आरति देखिल॥५८॥

५८। प० अनु०—आरती के समय श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ने श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु को बुलवा लिया और प्रभु के साथ आकर सभी भक्तों ने आरती के दर्शन किये।

ठाकुर को शयन प्रदान करना—

आरति करिया कृष्णे करा' ल शयन।
आचार्य आसि' प्रभुरे तबे कैला निवेदन॥५९॥

५९। प० अनु०—आरती करके श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ने श्रीकृष्ण को शयन कराया और श्रीचैतन्य महाप्रभु के पास आकर निवेदन किया।

दोनों प्रभुओं का भोजन करने
के लिये घर के भीतर आना—

गृहेर भितरे प्रभु करुन गमन।
दुइ भाइ आइला तबे करिते भोजन॥६०॥

६०। प० अनु०—(श्रीअद्वैताचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु से कहा) "प्रभु अब आप घर के भीतर आइये।" श्रीअद्वैताचार्य की प्रार्थना को सुनकर दोनों भाई भोजन करने के लिये अन्दर आये।

मुकुन्द और हरिदास को भोजन के लिये प्रार्थना
करने पर भी उन दोनों के द्वारा अपनी मर्यादा की
रक्षा और दैन्य-विनय—

मुकुन्द, हरिदास,—दुइ प्रभु बोलाइल।
जोड़हाते दुइजन कहिते लागिल॥६१॥
मुकुन्द बले, मोर किछु कृत्य नाहि सरे।
पाछे मुञि प्रसाद पामु, तुमि जाह घरे॥६२॥
हरिदास बले, मुञि पापिष्ठ अधम।
बाहिरे एकमुष्टि पाछे करिमु भोजन॥६३॥

६१-६३। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीमुकुन्द और श्रीहरिदास को भी भोजन करने के उद्देश्य से घर के भीतर आने के लिये कहा। उनकी बात सुनकर मुकुन्द और हरिदास हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगे। श्रीमुकुन्द ने कहा—"मेरा कुछ नित्यकृत्य अभी

बाकी है इसलिये मैं बाद में प्रसाद पाऊँगा, आप घर में प्रवेश कीजिए।" श्रीहरिदास ने कहा—"मैं पापिष्ठ और अधम हूँ इसलिये बाहर बैठकर बाद में ही एक मुट्ठी प्रसाद ग्रहण करूँगा।"

अमृतप्रवाह भाष्य

६२। कृत्य नाहि सरे,—कर्त्तव्य कुछ बाकी है।

प्रसाद के दर्शन से प्रभु का आनिन्दत होना और अद्वैत को सम्मान देना—

दुइ प्रभुरे लञा आचार्य गेला भितर-घरे।
प्रसाद देखिया प्रभुर आनन्द अन्तरे॥६४॥
ऐछे अन्न ये कृष्णके कराय भोजन।
जन्मे जन्मे शिरे धरों ताँहार चरण॥६५॥

६४-६५। प० अनु०—दोनों प्रभुओं को जब श्रीअद्वैताचार्य घर के भीतर ले गये तो प्रसाद को देखकर आनन्दित होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"जो व्यक्ति इस प्रकार कृष्ण को अन्न व्यञ्जनादि अर्पण कर भोजन कराता है, मैं उसके चरणों को जन्म-जन्मान्तर तक अपने सिर पर धारण करता हूँ।"

महाप्रभु को न बतलाकर अद्वैत का दोनों प्रभुओं के लिये आसन प्रदान करना—

प्रभु जाने, तिन भोग—कृष्णेर नैवेद्य।
आचार्येर मनः-कथा नहे प्रभुर वैद्य॥६६॥

६६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने तीनों भोगों को श्रीकृष्ण को समर्पित हुआ जाना परन्तु वे श्रीअद्वैताचार्य के मन की बात को नहीं जान पाये।

अनुभाष्य

६६। श्रीअद्वैत प्रभु ने तीन भागों में भोग को समान मात्रा में बाँटकर सजा दिया था। (इसी परिच्छेद की ४२ संख्या द्रष्टव्य), उसमें से धातु के पात्र में सजाया गया भोग कृष्ण के लिये था; और दो भाग केले के पत्तों के ऊपर सजाये गये थे। धातु के पात्र वाले भोग को श्रीअद्वैत प्रभु ने स्वयं कृष्ण को निवेदन किया था। अवशिष्ट (अन्य) केले के पत्तों वाले दो भोग श्रीमन् महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु के लिये अनिवेदित अवस्था में ही रखे हुए थे,—उसको आचार्य ने मन-ही-मन में रखा था, महाप्रभु के सामने उन्होंने इस बात को प्रकाशित नहीं किया। अतएव महाप्रभु ने तीनों भागों को ही कृष्ण नैवेद्य-प्रसाद ही समझा था।

प्रभु और आचार्य, दोनों का ही एक दूसरे को भोजन करने के लिये अनुरोध—

प्रभु बले, वैस तुमि करिते भोजन।
आचार्य कहे, आमि करिब परिवेशन॥६७॥

६७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीअद्वैताचार्य से कहा—"तुम भोजन करने के लिये बैठो! यह सुनकर श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ने कहा—"मैं परिवेशन करूँगा।"

प्रभु के वचन—

कोन् स्थाने बसिब, आर आन दुइ पात।
अल्प करि' ताहे आनि' देह व्यञ्जन-भात॥६८॥

६८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सोचा कि वे तीनों भोग ही वितरण करने के लिये हैं अतः उन्होंने कहा—"हम लोग कहाँ बैठें? दो पत्ते और ले आइये और उस पर थोड़ा अन्न और कुछ व्यञ्जन रख कर दे दीजिए।"

अनुभाष्य

६८। श्रीमहाप्रभु ने अद्वैताचार्य से पूछा,—मैं और नित्यानन्द किस स्थान पर बैठें? भोग के परिमाण को बहुत अधिक देखकर और भी दूसरे दो पात्र को लाकर उनमें ही अन्न-व्यञ्जन कम मात्रा में देने को कहा।

आचार्य के द्वारा दोनों प्रभुओं को आसन प्रदान करना—

आचार्य कहे, वैस दोँहे पिण्डर उपरे।
एत बलि हाते धरि' बसाइल दुँहारे॥६९॥

६९। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य ने कहा—"आप दोनों इन आसनों पर बैठ जाइये। इतना कहकर

श्रीअद्वैताचार्य ने दोनों के हाथ को पकड़कर आसन पर बैठा दिया।

प्रभु की विधिमार्ग में आचार्य के समान वैराग्य लीला—

प्रभु कहे, संन्यासीर भक्ष्य नहे उपकरण।
इहा खाइले कैछे हबे इन्द्रिय-वारण॥७०॥

७०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"संन्यासी के लिये इतने व्यञ्जनों का भोजन करना उचित नहीं है। इन्हें खाकर वे अपनी इन्द्रिय पर संयम कैसे रख सकता है?"

अनुभाष्य

७०। उपकरण,—दाल, सब्जी प्रभृति, जिनकी सहायता से अनायास ही अन्न भोजन किया जा सकता है। संन्यासी का वैसे जिह्वा को अच्छे लगने वाले द्रव्यों में अधिकार नहीं है। इन्द्रियों को प्रिय लगने वाली वस्तुओं के सेवन से भोग प्रवृत्ति और अधिक प्रबल होती है, इसलिए महाप्रभु ने वैराग्य प्रधान भक्तों के सम्बन्ध में श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी को कहा था—"भाल ना परिबे आर भाल ना खाइबे।" (अर्थात् बहुत अच्छे-अच्छे वस्त्र मत पहनना और बहुत स्वादिष्ट वस्तुएँ मत खाना) भक्त कृष्ण प्रसाद के अतिरिक्त कभी भी ओर कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते। अत्यन्त स्वादिष्ट लगने वाले उत्तम उत्तम द्रव्य ही धनी गृहस्थ व्यक्ति कृष्ण को भोग देते हैं। कृष्ण विलास के सहचर मुख शुद्धि (हरीतकी, सौंफ इत्यादि) तथा ताम्बुल (पान), और-और सुगन्धित मसाले, पुष्प-मालाएँ, पलङ्ग, वस्त्र, आभूषण आदि प्रसादी वस्तुएँ वैष्णवों के लिये आदर की वस्तुएँ होने पर भी प्रभु की आज्ञानुसार अकिञ्चन वैष्णव अपनी देह को प्राकृत (जागतिक) अपवित्र, मुखशुद्धि, ताम्बुल इत्यादि जैसी वस्तुओं को स्वीकार करने से अपराध होगा, ऐसा जानकर अपनी अयोग्यता ज्ञापित करते हैं। वैष्णवाभिमानी अवैष्णव सहजिया प्रभृति अनर्थ में प्रवृत्त व्यक्ति प्रभु के आदेश के तात्पर्य को समझने में असमर्थ हैं।

गौरगतप्राण आचार्य के द्वारा प्रभु को भोजन करने के लिये अत्यधिक अनुरोध—

आचार्य कहे, छाड़ तुमि आपनार चुरि।
आमि जानि तोमार संन्यासेर भारिभूरि॥७१॥

७१। प० अनु०—(श्रीचैतन्य महाप्रभु की ऐसी दीनता को देखकर) श्रीअद्वैताचार्य ने कहा—"आप अपनी चोरी (आत्मगोपन की इच्छा) को छोड़ दो। मैं आपके संन्यास ग्रहण के गोपन कारण को भी अच्छी तरह जानता हूँ।"

अमृतप्रवाह भाष्य

७१। भारि भुरि—गोपनीय बात।

अधिक अन्न भोजन करने में प्रभु की आपत्ति और आचार्य का अत्यधिक अनुरोध—

भोजन करह, छाड़ वचन-चातुरी।
प्रभु कहे, एत अन्न खाइते ना पारि॥७२॥
आचार्य बले, अकपटे करह आहार।
यदि खाइते ना पार, रहिबेक आर॥७३॥

७२-७३। प० अनु०—अब आप भोजन कीजिए और अपने वाक्य की चतुराई को छोड़ दीजिए।" श्रीअद्वैताचार्य की प्रार्थना को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मैं इतना भोजन नहीं कर पाऊँगा।" श्रीअद्वैताचार्य कहने लगे—"आप जितना खा सकते हैं, उतना ही कपट छोड़कर भोजन कीजिए और यदि कुछ नहीं भी खा पायेंगे, तो वह पत्ते में ही रह जायेगा।"

भोजन पात्र में उच्छिष्ट छोड़ना संन्यासी के लिये निषेध—

प्रभु बले, एत अन्न नारिब खाइते।
संन्यासीर धर्म नहे उच्छिष्ट राखिते॥७४॥

७४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मैं इतना अन्न नहीं खा सकूँगा और संन्यासी का यह धर्म नहीं है कि वे भोजन करके कुछ उच्छिष्ट छोड़े।"

अनुभाष्य

७४। संन्यासी उच्छिष्ट नहीं छोड़ते—(भा. ११/१८/१९) "बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग् यतः। विभजा पारितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम्।।" श्रील चक्रवर्ती पाद की टीका—"विभज्य विष्णु ब्रह्मार्कभूतेभ्यः अशेषमिति भोजनपात्रेऽवशिष्टं न रक्षणीयमिति।"

आचार्य के द्वारा प्रभु को अनुयोग
और दीनता प्रदर्शन करना—

आचार्य बले, नीलाचले खाओ चौयान्नबार।
एकबारे अन्न खाओ शत शत भार।।७५।।
तिन जनार भक्ष्यपिण्ड—तोमार एकग्रास।
तार लेखाय एइ अन्न नहे पञ्चग्रास।।७६।।
मोर भाग्ये, मोर घरे, तोमार आगमन।
छाड़ह चातुरी, प्रभु, करह भोजन।।७७।।

७५-७७। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य (श्रीचैतन्य महाप्रभु को श्रीजगन्नाथ से अभिन्न मानते हुए) कहने लगे—"नीलाचल में आप चौवन बार भोजन करते हैं और एक-एक बार में सौ-सौ पात्रों में भरे हुए अन्न का भोजन करते हैं। तीन लोगों का भोजन तो आपका एक ग्रास मात्र है। उस परिमाण में तो यह अन्न आपके लिये पाँच ग्रास भी नहीं है। मेरे बड़े सौभाग्य से आज आपका मेरे घर में आगमन हुआ है इसलिये प्रभु! अपनी चतुराई को छोड़कर भोजन कीजिए।"

अनुभाष्य

७६। लेखाय,—तुलना में।

दोनों प्रभुओं का अलग-अलग जल से
आचमन करने के बाद भोजन आरम्भ—

एत बलि, जल दिल दुइ गोसाञिर हाते।
हासिया लागिला दुँहे भोजन करिते।।७८।।

७८। प० अनु०—इतना कहकर श्रीअद्वैताचार्य ने दोनों प्रभुओं के हाथों में जल दिया और दोनों हँसते हुए भोजन करने लगे।

अद्वैत के साथ निताई का प्रेम
कौतुकमय वाक्य वितण्डा—

नित्यानन्द कहे, कैलूँ तिन उपवास।
आजि पारणा करिते बड़ छिल आश।।७९।।
आजि उपवास हैल आचार्य-निमन्त्रणे।
अर्धपेट ना भरिल एइ ग्रासेक अन्ने।।८०।।
आचार्य कहे, तुमि तैर्थिक संन्यासी।
कभु फल-मूल खाओ, कभु उपवासी।।८१।।
दरिद्रब्राह्मण घरे ये पाइला मुष्ट्येक अन्न।
इहाते सन्तुष्ट हउ, छाड़ लोभ-मन।।८२।।
नित्यानन्द बले, जबे कैले निमन्त्रण।
तत दिते चाह, जत करिये भोजन।।८३।।
शुनि, नित्यानन्देर कथा ठाकुर अद्वैत।
कहेन ताँहारे किछु पाइया पिरीत।।८४।।
"भ्रष्ट अवधूत तुमि, उदर भरिते।
संन्यास लइयाछ, बुझि, ब्राह्मण दण्डिते।।८५।।
तुमि खेते पार दश-विश मानेर अन्न।
आमि ताहा काँहा पाब, दरिद्र ब्राह्मण।।८६।।
ये पाञाछ मुष्ट्येक अन्न, ताहा खाञा उठ।
पागलामि ना करिह, ना छड़ाइओ झूठ।।८७।।

७९-८७। प० अनु०—(भोजन के समय उपहास करते हुए) श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"मैं तीन दिन से उपवास कर रहा हूँ। आज पारण (उपवास तोड़ने) की बड़ी आशा थी। यद्यपि अद्वैत आचार्य प्रभु ने मुझे अपने घर पर प्रसाद पाने के लिये निमन्त्रण किया, तथापि लगता है आज भी उपवास ही करना पड़ेगा। क्योंकि इस एक ग्रास अन्न से मेरा आधा पेट भी नहीं भरेगा।" यह सुनकर श्रीअद्वैताचार्य ने कहा—"आप एक तैर्थिक (तीर्थों में भ्रमण करनेवाले) संन्यासी हो। इसलिये कभी तो आप फल, मूल और कभी उपवास करते हो। मुझ दरिद्र ब्राह्मण के घर जो मुट्ठी भर अन्न मिला है, मन के लोभ को छोड़कर उसी में सन्तुष्ट रहो।" श्रीअद्वैताचार्य की बात को सुनकर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"जब आपने मुझे अपने घर निमन्त्रण किया है, अतएव मैं

जितना भोजन करना चाहता हूँ, आपको उतना ही देना पड़ेगा।" श्रीनित्यानन्द प्रभु की बात को सुनकर श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ने सुयोग देखकर परिहास करते हुए कहा—"मैं जान गया हूँ कि तुम एक भ्रष्ट अवधूत हो और अपना पेट भरने के लिये ही तुमने संन्यास लिया है। मैं जान गया हूँ कि तुम्हारा काम ही ब्राह्मणों को परेशान करना है। तुम तो दस-बीस मान (चार सेर) चावल खा सकते हो। मैं दरिद्र ब्राह्मण इतना अन्न कहाँ से लाऊँगा। इसलिये जो एक मुट्ठी अन्न मिला उसे खाकर उठ जाओ। पागलपन मत करो और कुछ झूठा भी मत छोड़ो।"

अमृतप्रवाह भाष्य

८६। मान,—चार सेर को एक 'मान' कहते हैं।

अनुभाष्य

८१। तैर्थिक संन्यासी,—स्वयं अवधूत होने पर भी तीर्थ भ्रमण करने वाले बहुदक संन्यासी का अभिनय करने वाले; ८५ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य।

८५। भ्रष्ट,—जागतिक स्मार्त समाज भ्रष्ट अर्थात् विधि और निषेध से अतीत, निन्दा के छल से स्तुति के अर्थ में व्यवहृत।

संन्यास की चरम अवस्था—पारमहंस (कहलाती है); उसी का ही नामान्तर 'अवधूत' है। अवधूत स्वेच्छाचारी होते हैं,—विषय ग्रहण करने पर भी विषयों के द्वारा बाध्य नहीं है। संन्यास के चिह्न वे कभी तो ग्रहण करते हैं और कभी परित्याग करते हैं। श्रील अद्वैताचार्य के द्वारा कहे गये यह सब वचन परिहास पर हैं, वास्तव सत्य नहीं है। कोई-कोई खड़दह नामक स्थान पर त्रिपुरा सुन्दरी को श्रीश्यामसुन्दर के साथ अधिष्ठित देखकर नित्यानन्द प्रभु के अवधूत वाले आचरण को शाक्त सम्प्रदाय के कौलावधूत आचार कहकर भ्रम करते हैं—"अन्तः शाक्तः बहिः शैवः सभायां वैष्णवो मतः"; वास्तव में ऐसा नहीं है। (श्रीनित्यानन्द स्वरूप वैदिक संन्यासी का स्वरूप ब्रह्मचारी, स्वयं परमहंस है) और कोई-कोई कहते हैं कि, लक्ष्मीपति तीर्थ ही उनके आचार्य (गुरु) हैं; किन्तु वैसा होने पर भी वे श्रीमाधव सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं,—बङ्गदेशीय तान्त्रिक नहीं।

८७। झूट,—उच्छिष्ट

श्रीअद्वैत और श्रीनिताई दोनों प्रभुओं के प्रीतिपूर्वक कलह-कौतुक को देखकर महाप्रभु का हँसना—

एइ मत हास्यरसे करेन भोजन।
अर्ध-अर्ध खाञा प्रभु छाड़ेन व्यञ्जन॥८८॥

८८। प० अनु—इस प्रकार दोनों के कलह कौतुक को सुनकर हँसते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु भोजन कर रहे थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु एक-एक व्यञ्जन आधा-आधा खाकर छोड़ रहे थे।

आचार्य की इच्छा के अनुसार महाप्रभु का परिपूर्ण भोजन करना—

सेइ व्यञ्जन आचार्य पुनः करेन पूरण।
एइ मत पुनः पुनः परिवेशे व्यञ्जन॥८९॥
दोना व्यञ्जने भरि' करेन प्रार्थन।
प्रभु बलेन, आर कत करिब भोजन॥९०॥
आचार्य कहे, जे दियाछि, ताहा ना छाड़िबा।
एखन जे दिये, तार अर्धेक खाइबा॥९१॥
नाना यत्न-दैन्ये प्रभुर कराइल भोजन।
आचार्येर इच्छा प्रभु करिल पूरण॥९२॥

८९-९२। प० अनु—जिन-जिन व्यञ्जनों को प्रभु आधा खाकर छोड़ देते, उन-उन व्यञ्जनों के पात्र को श्रीअद्वैताचार्य पुनः पूर्ण कर देते। ड़ोनों को व्यञ्जनों से भरते हुए जब श्रीअद्वैताचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु से और भोजन करने के लिये प्रार्थना करते तो वे कहते—"और कितना भोजन करूँगा।" श्रीअद्वैताचार्य ने कहा—"जितना दिया है उसे मत छोड़ना और अब जो दिया है उसका आधा तो खा ही लीजिएगा।" श्रीअद्वैताचार्य ने दीनता पूर्वक अनेक यत्न से प्रभु को भोजन कराया और इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीअैद्वताचार्य की इच्छा को पूर्ण किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

९०। दोना,—डोंना। करेन प्रार्थना,—खाने के लिये प्रार्थना करने लगे।

आधा पेट भरे होने का भान करते हुए कृत्रिम क्रोध से भरकर निताई का एक मुट्ठी अन्न फेंकना—

नित्यानन्द कहे, आमार पेट ना भरिल।
लञा जाह, तोर अन्न किछु ना खाइल॥९३॥
एत बलि' एकग्रास अन्न हाते लञा।
उझालि' फेलिल आगे जेन क्रुद्ध हञा॥९४॥

९३-९४। प॰ अनु॰—श्रीनित्यानन्द प्रभु ने परिहास करते हुए कहा—"मेरा पेट ही नहीं भरा, अपना भोजन ले जाओ। मैंने तुम्हारे द्वारा दिये गये अन्न में से कुछ भी नहीं खाया है।" इतना कहकर उन्होंने एक ग्रास चावल को हाथ में लेकर उछाल कर ऐसे फैंक दिया, मानो बहुत क्रोधित हो।

अनुभाष्य

९४। उझालि'—छुड़ाकर (फैंककर)।

निताई के द्वारा फैंके हुए उच्छिष्ट का अद्वैत के अङ्गों पर स्पर्श होने से अद्वैत का प्रेमपूर्वक नृत्य—

भात दुइ-चारि लागे आचार्येर अङ्गे।
भात गाये लञा आचार्य नाचे बहुरङ्गे॥९५॥
अवधूतेर झूठा लागिल मोर अङ्गे।
परम पवित्र मोरे कैल एइ ढङ्गे॥९६॥

९५-९६। प॰ अनु॰—श्रीनित्यानन्द प्रभु के द्वारा फैंके हुए चावल के दो-चार दाने श्रीअद्वैताचार्य के अङ्ग को स्पर्श कर गये एवं वे आनन्दित होकर नाचने लगे और कहने लगे—"इस अवधूत ने अपने उच्छिष्ट को मेरे अङ्ग से स्पर्श कराके मुझे परम पवित्र कर दिया है।"

अनुभाष्य

९६। अवधूत,—असंस्कृतदेह (शरीर की किसी भी प्रकार की देख-भाल नहीं करने वाला) (भा. ३/१/१९ श्लोक की श्रीधर-स्वामि-टीका द्रष्टव्य)। परमहंस जैसे (महाभागवत के) आचरण की लीला करने वाले श्रीनित्यानन्द अन्न को दूर फेंककर पागलपन जैसे व्यवहार को दिखाने की छलना करने पर भी उनके उच्छिष्ट के स्पर्श से मैं अभक्त स्मार्त समाज की विधि के अनुसार अपवित्र अर्थात् अशुचि होने के बदले वास्तव में परम पवित्र और शुद्ध हो गया। वैष्णव अथवा परमहंस का उच्छिष्ट—महामहाप्रसाद होता है, वह वास्तव में स्वयं चेतनमय विष्णु के समान है, वह अभक्तों को इन्द्रियों की तृप्ति करने वाला जड़ीय चावल-दाल नहीं है। वर्णाश्रम से अतीत परमहंस श्रेष्ठ श्रीगुरुदेव के एवं परमहंस अर्थात् वैष्णवों के उच्छिष्ट का स्पर्श और सेवन रूपी सङ्ग जागतिक जीवों के हृदय में स्थित सम्पूर्ण हरि-विमुखता को दूर करके उसको अप्राकृत परमहंस के दास्य रूप, शुद्ध ब्राह्मणत्व में प्रतिष्ठित करता है,—यही आचार्य श्रील अद्वैत प्रभु ने स्वयं मूढ़ जीवों के मङ्गल के लिये बोला।

निन्दा के छल से अद्वैत के द्वारा नित्यानन्द की स्तुति—

तोरे निमन्त्रण करि' पाइनु तार फल।
तोर जाति-कुल नाहि, सहजे पागल॥९७॥
आपनार सम मोरे करिबार तरे।
झूठा दिले, विप्र बलि' भय ना करिले॥९८॥

९७-९८। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैताचार्य (निन्दा के छल से श्रीनित्यानन्द प्रभु की स्तुति करते हुए) कहने लगे—"तुम्हें भोजन का निमन्त्रण करके मैंने उसका उपयुक्त फल पा लिया है। तुम्हारा जाति-कुल आदि कुछ भी नहीं है। तुम तो स्वभाव से पागल हो, मुझे अपने जैसे उन्मत्त बनाने के लिये ही तुमने मेरे अङ्गों पर अपना उच्छिष्ट फैंका है। ब्राह्मण के शरीर पर उच्छिष्ट फैंकना उचित नहीं है, वैसा भय भी तुमने नहीं किया।"

अनुभाष्य

९७। सहजे पागल,—आत्मा अर्थात् चेतना के साथ उत्पन्न अप्राकृत परमहंस धर्म पारायण, प्रतिक्षण सभी

इन्द्रियों के द्वारा कृष्ण की सेवा में मत (भा. ११/१८/२८-२९) द्रष्टव्य।

अनुभाष्य

९८। आपनार सम (अपने समान),—अर्थात् सिद्ध वैष्णव अथवा विधि निषेध से अतीत परमहंस। श्रीगुरु, नित्यानन्द, परमहंस अथवा वैष्णव एवं उनके दास होने का (शुद्ध) अभिमान करने वाले कभी भी हरिविमुख जागतिक स्मार्त समाज के भय से उनके द्वारा चलाई गई विधियों के अधीन नहीं होते,—यही श्रील अद्वैताचार्य प्रभु के कहने का तात्पर्य है। शुद्ध वैष्णव अर्थात् परमहंस वैष्णवों के दास चेतनमय महाप्रसाद को प्रकृति से उत्पन्न जड़ेन्द्रियों की तृप्ति करने वाले चावल-दाल के साथ एक करके उसमें स्पर्शदोष का विचार करने की अपेक्षा उसका सेवन और सम्मान करते हैं। शुद्ध वैष्णव की तो बात ही क्या, चण्डाल के मुख से गिरे महाप्रसाद के सेवन के फल से ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व पूरी तरह से अटूट रहता है, ब्राह्मणत्व में किसी प्रकार की अपवित्रता स्पर्श नहीं करती,—यही जानते हैं। महाप्रसाद के सेवन से—जड़ जगत की समस्त पवित्र और अपवित्र वस्तुएँ कृष्ण की सेवा में नियुक्त होकर अप्राकृत (दिव्य) पवित्र वस्तु के रूप में दिखायी देती है।

नित्यानन्द के द्वारा अद्वैत को दण्ड का भय दिखाना और अद्वैत के लिये प्रायश्चित की व्यवस्था—

नित्यानन्द बले,—एइ कृष्णेर प्रसाद।
इहाके 'झूठा' कहिले, कैल अपराध॥९९॥
शतेक संन्यासी यदि कराह भोजन।
तबे एइ अपराध हइबे खण्डन॥१००॥

९९-१००। प० अनु०—तब श्रीनित्यानन्द प्रभु ने (परिहास करते हुए) कहा,—"यह भोजन तो कृष्ण का प्रसाद है। इसे झूठा कहकर तुमने अपराध किया है। इसलिये तुम्हारा यह अपराध तभी दूर होगा जब तुम सौ संन्यासियों को भोजन कराओगे।"

अनुभाष्य

९९। बृहद्विष्णुपुराण में—"नैवेद्यं जगदीशस्य अन्न-पानादिकञ्च यत्। भक्ष्याभ्यक्षविचारश्च नास्ति तद्भक्षणे द्विजाः। ब्रह्मवनिर्विकारं हि यथा विष्णुस्तथैव तत्। विकारं ये प्रकुर्वन्ति भक्षणे तद्द्विजातयः॥ कुष्ठव्याधिसमायुक्ताः पुत्रदारविवर्जिताः। निवयं यान्ति ते विप्रास्तस्मानावर्त्तते पुनः॥" महाप्रसाद को जागतिक चावल-दाल के समान मानकर भोग्य बुद्धि रूपी अपराध से सावधान करने के लिये ही ग्रन्थकार ने महाप्रसाद के माहात्म्य (के विषय में अन्त्य, षोड़श परिच्छेद ५६-६३ संख्या में) लिखा है।

वैष्णव संन्यास के द्वारा स्मार्त्त विधि का लुप्त होना—

आचार्य कहे, ना करिब संन्यासी-निमन्त्रण।
संन्यासी नाशिल मोर सब स्मृति-धर्म॥१०१॥

१०१। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य ने कहा—"मैं आज के बाद कभी भी संन्यासी को निमन्त्रण नहीं दूँगा, क्योंकि संन्यासी ने मेरे ब्राह्मणोचित स्मृति धर्म को नष्ट कर दिया है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

१०१। स्मृतिधर्म,—स्मार्त्तधर्म।

आचमन देने के बाद अद्वैत के द्वारा दोनों प्रभुओं की समय के अनुसार सेवा—

एत बलि' दुइ जने कराइल आचमन।
उत्तम शय्याते लइया कराइल शयन॥१०२॥
लवङ्ग एलाची-बीज—उत्तम रसवास।
तुलसी-मञ्जरी सह दिल मुखवास॥१०३॥
सुगन्धि चन्दने लिप्त कैल कलेवर।
सुगन्धि पुष्पमाला आनि' दिल हृदय-उपर॥१०४॥

१०२-१०४। प० अनु०—इतना कहकर श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ने दोनों प्रभुओं को आचमन कराया और उत्तम शय्या पर ले जाकर शयन करवाया। उसके बाद लौंग,

इलायची के दाने आदिका बना उत्तम रसवास और तुलसी मञ्जरी देकर मुखवास अर्पित किया तथा सुगन्धित चन्दन के द्वारा उनके कलेवर का लेपन करके सुगन्धित पुष्पों की माला को उनके वक्षःस्थल में पहना दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०३। रसवास,—रसयुक्त गन्ध।

अद्वैत के द्वारा प्रभु के
पाद संवाहन की चेष्टा—

आचार्य करिते चाहे पाद-सम्वाहन।
संकुचित हञा प्रभु बलेन वचन॥१०५॥

१०५। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों को पलोटना चाहते थे, जिसे देख प्रभु ने संकोच करके कहा—

प्रभु की लज्जा और अद्वैताचार्य को मुकुन्द
तथा हरिदास के साथ भोजन करने की आज्ञा—

बहुत नाचाइले तुमि, छाड़ नाचान।
मुकुन्द-हरिदास लइया करह भोजन॥१०६॥
तबे त' आचार्य सङ्गे लञा दुइ जने।
करिल भोजन, इच्छा जे आछिल मने॥१०७॥

१०६-१०७। प० अनु०—(श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—अद्वैताचार्य), तुमने मुझे बहुत नचाया है। अब नचाना छोड़ दो और मुकुन्द तथा हरिदास के साथ भोजन करो। तब श्रीअद्वैताचार्य ने मुकुन्द तथा हरिदास के साथ भोजन किया और अपने मन की (श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु के प्रसाद को पाने की) इच्छा को पूर्ण किया।

अनुभाष्य

१०६। संन्यासी को उत्तम शय्या, लौंग, इलायची, चन्दन, पुष्प माला प्रदान और स्वयं श्रील अद्वैताचार्य की पाद सम्वाहन अर्थात् चरण दबाने की चेष्टा को देखकर महाप्रभु ने कहा—तुमने मुझे बहुत नचाया है, अब और नचाना बन्द करो।

स्थानीय लोगों का प्रभु के दर्शन के लिये आना—

शान्तिपुरेर लोक शुनि' प्रभुर आगमन।
देखिते आइला लोक प्रभुर चरण॥१०८॥

१०८। प० अनु०—शान्तिपुर के लोगों ने जब श्रीचैतन्य महाप्रभु के आगमन की बात सुनी तो सभी लोग प्रभु के श्रीचरणों के दर्शन के लिये आये।

चारों ओर हरिध्वनि और प्रभु के रूप
का दर्शन कर आनन्द की प्राप्ति—

'हरि' 'हरि' बले लोक आनन्दित हञा।
चमत्कार पाइल प्रभुर सौन्दर्य देखिञा॥१०९॥
गौर-देह-कान्ति सूर्य जिनिया उज्ज्वल।
अरुण-वस्त्रकान्ति ताहे करे झलमल॥११०॥

१०९-११०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु का दर्शन कर लोग आनन्दित होकर 'हरि' 'हरि' कहने लगे और प्रभु के सौन्दर्य को देखकर चमत्कृत हो गये। उन्होंने देखा कि गौरहरि के श्रीअङ्गों की उज्ज्वल कान्ति सूर्य की उज्ज्वल कान्ति को भी पराभूत कर रही है और अरुण वस्त्र (संन्यासी वस्त्र) उनके श्रीअङ्गों पर झलमल कर रहे हैं।

सारा दिन लोगों का आना-जाना—

आइसे जाय लोक सब, नाहि समाधान।
लोकेर सङ्घट्टे दिन हइल अवसान॥१११॥

१११। प० अनु०—कितने लोग आ-जा रहे थे इसका हिसाब नहीं लगाया जा सकता। इस प्रकार लोगों के आने-जाने के समारोह में सारा दिन व्यतीत हो गया।

अनुभाष्य

१११। समाधान,—हिसाब, मीमांसा।

सन्ध्या के समय अद्वैत का संकीर्त्तन—

सन्ध्याते आचार्य आरम्भिल सङ्कीर्तन।
आचार्य नाचेन, प्रभु करेन दर्शन॥११२॥
नित्यानन्द-गोसाञि बुले आचार्य धरिञा।
हरिदास पाछे नाचे हरषित हञा॥११३॥

११२-११३। प० अनु०—सन्ध्या होते ही श्री अद्वैताचार्य ने सङ्कीर्त्तन आरम्भ कर दिया, जिसमें वे स्वयं नाच रहे थे और प्रभु उनके नृत्य का दर्शन कर रहे थे। नित्यानन्द प्रभु भी श्रीअद्वैताचार्य के साथ-साथ नृत्य करने लगे तथा उन्हें देख श्रील हरिदास ठाकुर भी परमान्दित होकर नृत्य करने लगे।

अनुभाष्य

११३। बुले,—नाचते हुए चल रहे थे।

यथा पद—(धानश्री-राग)—

कि कहब रे सखि आजुक आनन्द ओर।
चिरदिने माधव मन्दिरे मोर॥११४॥ ध्रु॥
एइ पद गाओयाइया हर्षे करेन नर्तन।
स्वेद-कम्प-पुलकाश्रु-हुङ्कार-गर्जन॥११५॥

११४-११५। प० अनु—(श्रीअद्वैताचार्य सङ्कीर्त्तन करते हुए इस पद को गाने लगे—) "हे सखि! मैं अपने आज के आनन्द की सीमा के विषय में क्या कहूँ? बहुत दिन के बाद माधव आज मेरे घर में आये हैं?" इस प्रकार गाते हुये श्रीअद्वैताचार्य हर्ष पूर्वक नृत्य करने लगे और उनके शरीर में स्वेद, कम्प, पुलक, अश्रु, हुँकार तथा गर्जन आदि सात्त्विक भाव उत्पन्न होने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

११४। उर,—सीमा; यह पद विद्यापति जी का है।

अनुभाष्य

११४। विद्यापति द्वारा रचित गीत,—'कि कहब रे सखि आजुक आनन्द ओर। चिरदिन माधव मन्दिरे मोर॥ पाप सुधाकर यत सुख देल। पिया मुख दरशने तत सुख भेल॥ आचर भरिया यदि महानिधि पाई। तव् हाम् पिया दूरदेशे ना पाठाई॥ शीतेर उड़नी पिया, गिरिषीर वा'। वरिषार छत्र पिया, दरियार ना'॥ भणये विद्यापति, शुन, वरनारि। सुजनक दुख दिवस दुई चारि॥" श्रील राधा-मोहन ठाकुर ने 'पदामृत-समुद्र' में इस गीत की पहली चार पंक्तियों को नहीं लिखा। कोई-कोई 'माधव'—शब्द से माधवेन्द्रपुरी को लक्ष्य करके इसे अद्वैताचार्य प्रभु का गीत मानते हैं, किन्तु ऐसा विचार सङ्गत नहीं है। माथुर-विरह के बाद सम्भोग, इसकी अधिक सङ्गति जाननी चाहिए।

अद्वैत के द्वारा प्रभु के निकट सविनय प्रार्थना—

फिरि' फिरि' कभु प्रभुर धरेन चरण।
चरण धरिया प्रभुरे बलेन वचन॥११६॥
अनेक दिन तुमि मोरे बेड़ाइले भाण्डिया।
घरेते पाञाछि, एबे राखिब बाँधिया॥११७॥
एत बलि' आचार्य आनन्दे करेन नर्तन।
प्रहरेक-रात्रि आचार्य कैल सङ्कीर्तन॥११८॥

११६-११८। प० अनु०—नृत्य करते-करते श्रीअद्वैताचार्य कभी घूमते-घूमते श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरण पकड़ लेते और चरण पकड़कर उनसे कहते—"अनेक दिनों तक मुझे मूर्ख बनाकर आप इधर-उधर घूमते रहे, किन्तु अब मैं आपको पकड़ पाया हूँ, अब मैं आपको बाँधकर रखूँगा। इस प्रकार कहकर श्रीअद्वैताचार्य आनन्दपूर्वक नृत्य करने लगे। इस प्रकार उन्होंने रात के एक प्रहर तक सङ्कीर्त्तन किया।

अनुभाष्य

११७। भण्डिया,—भाँडाईया (इधर-उधर दौड़ाते हुए), प्रताड़ित करके।

प्रभु का कृष्ण विरह—

प्रेमेर उत्कण्ठा,—प्रभुर नाहि कृष्ण-सङ्ग।
विरहे बाड़िल, प्रेमज्वालार तरङ्ग॥११९॥
व्याकुल हञा प्रभु भूमेते पड़िला।
गोसाञि देखिया आचार्य नृत्य सम्वरिला॥१२०॥

११९-१२०। प० अनु—श्रीअद्वैताचार्य प्रभु जब इस प्रकार नृत्य कर रहे थे, तब श्रीचैतन्य महाप्रभु कृष्ण-प्रेम में उत्कण्ठित हो उठे, किन्तु कृष्ण-सङ्ग की अप्राप्ति हेतु कृष्ण-विरह में उनकी प्रेम की ज्वाला की तरङ्गें बढ़ने लगी। कृष्ण-विरह में व्याकुल होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु भूमि पर गिर पड़े और महाप्रभु को गिरते हुए

देखकर श्रीअद्वैताचार्य ने नृत्य करना बन्द कर दिया।

मुकुन्द का समय के
अनुसार गीत गाना—

प्रभुर अन्तर मुकुन्द जाने भाल मते।
भावेर सदृश पद लागिला गाइते॥१२१॥
आचार्य उठाइल प्रभुके करिते नर्तन।
पद शुनि' प्रभुर अङ्ग ना जाय धारण॥१२२॥

१२१-१२२। प० अनु०—मुकुन्द श्रीचैतन्य महाप्रभु के अन्तरङ्ग भावों को भलीभाँति जानते थे और वे महाप्रभु के भावों के अनुसार पद का गान करने लगे। तब श्रीअद्वैताचार्य प्रभु श्रीचैतन्य महाप्रभु को नृत्य करने के लिये उठाने लगे परन्तु मुकुन्द के पद को सुनकर श्रीमन् महाप्रभु इतने अधिक आविष्ट हो गये कि उन्हें पकड़कर भी सम्भाला नहीं जा रहा था।

प्रभु के अष्टसात्त्विक विकार—

अश्रु, कम्प, पुलक, स्वेद, गद्गद वचन।
क्षणे उठे, क्षणे पड़े, क्षणेक रोदन॥१२३॥
हाहा प्राणप्रियसखि, कि ना हैल मोरे।
कानुप्रेमविषे मोर तनु-मन जरे॥१२४॥
रात्रि-दिने पोड़े मन सोयास्ति ना पाऊँ।
याहाँ गेले कानु पाऊँ, ताहाँ उडि' याऊँ॥१२५॥
एइ पद गाय मुकुन्द मधुर सुस्वरे।
शुनिया प्रभुर चित्त हइल कातरे॥१२६॥

१२३-१२६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के दोनों नेत्रों से अश्रुओं की धारा बह रही थी, उनके अङ्ग काँप रहे थे, उनकी देह में रोमाञ्च हो रहा था, उनका शरीर पसीने से तर-बतर हो रहा था तथा उनका गला रुद्ध हो गया था। वे कभी तो हठात् उठते और फिर अगले ही महूर्त्त गिर पड़ते तथा अगले क्षण क्रन्दन करने लगते। दूसरी ओर मुकुन्द मधुर स्वर से यह पद गान करने लगे—"हा! हा! प्राणप्रियसखि! मुझे यह क्या हो रहा है? कानु (कृष्ण) के प्रेम रूपी विष के प्रभाव से मेरा तन और मन जल रहा है। रात-दिन मेरा मन जलता रहता है और मुझे इससे बिल्कुल भी आराम नहीं मिलता। जहाँ जाने से कृष्ण मिलेंगे, मेरी वहाँ उड़कर जाने की इच्छा हो रही है।" इस पद को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का हृदय विरह में कातर हो रहा था।

अनुभाष्य

१२४। सम्भोग रस के गान में कृष्ण सङ्ग के अभाववशतः श्रीचैतन्य महाप्रभु में विप्रलम्भ रस का पूर्ण प्राकट्य देखकर मुकुन्द ने उसी के अनुरूप पद का गान आरम्भ किया। अद्वैत प्रभु ने भी नृत्य बन्द कर दिया। (विद्यापतिजी का अनुरूप पद—"कि करिब कोथा जाब सोयाथ ना हय। पियार लागिया हाम् कोन देशे जाब॥"

प्रभु के भाव—

निर्वेद, विषाद, हर्ष, चापल, गर्व, दैन्य।
प्रभुर सहित युद्ध करे भाव-सैन्य॥१२७॥
जर-जर हैल प्रभु भावेर प्रहारे।
भूमिते पड़िल, श्वास नाहिक शरीरे॥१२८॥
देखिया चिन्तित हैला जत भक्तगण।
आचम्विते उठे प्रभु करिया गर्जन॥१२९॥
'बल' 'बल' बले, नाचे, आनन्दे विह्वल।
बुझन ना जाय, भाव-तरङ्गप्रबल॥१३०॥

१२७-१३०। प० अनु०—ऐसा लग रहा था जैसे निर्वेद, विषाद, हर्ष, चापल्य, गर्व और दैन्य आदि भाव आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ सेना की भाँति युद्ध कर रह हों। इस प्रकार सात्त्विक भावों के प्रहार से श्रीचैतन्य महाप्रभु का शरीर जर-जर हो गया और वे भूमि पर गिर पड़े तथा उनकी श्वास-प्रश्वास की क्रिया प्रायः बन्द हो गयी। श्रीचैतन्य महाप्रभु के इन भावों को देखकर सभी भक्त चिन्तित हो गये। उसी समय प्रभु अचानक उठकर जोर से हुँकार करते हुये उठ खड़े हुए और बोलो, बोलो कहकर आनन्द में विह्वल होकर नृत्य करने लगे। श्रीमन् महाप्रभु के इस प्रकार के प्रबल भावों की तरङ्गों को समझा नहीं जा सकता।

अनुभाष्य

१२७। हर्ष—भ: र: सि: द: वि: चतुर्थ ल:— 'अभीष्टेक्षण-लाभादि जाता चेत: प्रसन्नता। हर्ष: स्यादिह रोमाञ्च: स्वेदोहमुखप्रफुल्लता। आवेगोन्माद जड़तास्तथा मोहादयोऽपि च।" अभीष्ट के दर्शन प्राप्त करने पर चित्त में जो प्रसन्नता होती है, उसी का नाम 'हर्ष' है। हर्ष होने पर रोमाञ्च, स्वेद (पसीना), अश्रु, मुख फूलना आवेग, उन्माद, जड़ता और मोह आदि होता है।

गर्व—भ: र: सि: द: वि: चतुर्थ ल:— 'सौभाग्यरूपता-रुण्यगुणसर्वोत्तमाश्रयै:। इष्टलाभादिना टान्य हेलनं गर्वं ईष्यते॥ तत्र सोलुण्ठवचनं लीला नुतरदायिता। स्वाङ्गेक्षा निह्नवोहन्यस्य वचनाश्रवणादय:॥" अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से अपने सौभाग्य, रूप, तारुण्य, गुण, सर्वोत्तम आश्रय प्रभृति के अवलम्बन अर्थात् कारण से दूसरों की जो अवहेलना होती है, वही 'गर्व' है। इसमें स्तुति वाक्य, उत्तर न देना, अपने अङ्गों को देखना, अपने अभिप्राय आदि को गोपन रखना और दूसरों की बात को श्रवण आदि ना करने जैसी क्रियाएँ वर्त्तमान होती हैं।

प्रभु के साथ सतर्क नित्यानन्द—

नित्यानन्द सङ्गे बुले प्रभुके धरिञा।
आचार्य, हरिदास बुले पाछे त' नाचिञा॥१३१॥

१३१। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीचैतन्य महाप्रभु को पकड़े हुए थे ताकि वे गिरे नहीं और श्रीअद्वैता-चार्य तथा श्रीहरिदास श्रीमन् महाप्रभु के पीछे-पीछे नाच रहे थे।

प्रभु में अनेक भावों
का वैचित्र्य—

एइ मत प्रहरेक नाचे प्रभु रङ्गे।
कभु हर्ष, कभु विषाद, भावेर तरङ्गे॥१३२॥

१३२। प० अनु०—इस प्रकार कभी हर्ष और कभी विषाद आदि भावों की तरङ्गों में श्रीचैतन्य महाप्रभु एक प्रहर तक नृत्य करते रहे।

उपवास के बाद अधिक नृत्य
करने से प्रभु को थकावट—

तिन दिन उपवासे करिया भोजन।
उद्दण्ड-नृत्येते प्रभुर हैल परिश्रम॥१३३॥

१३३। प० अनु०—तीन दिन तक उपवास करने के बाद भोजन करके इस प्रकार के उद्दण्ड नृत्य करने के फलस्वरूप श्रीचैतन्य महाप्रभु को बहुत थकावट हो गयी।

कृष्ण प्रेम में प्रभु को थकावट
का अनुभव नहीं होने पर भी
थकावट को दूर करना—

तबु त' ना जाने श्रम प्रेमाविष्ट हञा।
नित्यानन्द महाप्रभुके राखिल धरिञा॥१३४॥
आचार्य-गोसाञि तबे राखिल कीर्त्तन।
नाना सेवा करि' प्रभुके कराइल शयन॥१३५॥

१३४-१३५। प० अनु०—यद्यपि प्रेम में आविष्ट होने के कारण श्रीचैतन्य महाप्रभु को थकावट अनुभव नहीं हो रही थी, किन्तु तब भी श्रीनित्यानन्द प्रभु ने इस बात का अनुभव करके श्रीमन् महाप्रभु को पकड़कर रखा था, ताकि वे और अधिक नृत्य न करें। तब श्रीअद्वैताचार्य ने सङ्कीर्त्तन समाप्त किया और श्रीचैतन्य महाप्रभु की अनेक प्रकार की सेवा करके उन्हें शयन कराया।

१० दिन तक
शान्तिपुर में वास—

एइमत दशदिन भोजन-कीर्तन।
एकरूपे करि' करे प्रभुर सेवन॥१३६॥

१३६। प० अनु०—प्रथम दिन जिस प्रकार श्रीअद्वैत प्रभु ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को भोजन कराया था तथा जिस प्रकार कीर्त्तनानन्द दान किया था, ठीक उसी प्रकार ही उन्होंने दस दिन तक भोजन और कीर्त्तन का आनन्द देकर प्रभु की सेवा की।

नवद्वीप के भक्तों के साथ शची माता का पालकी में चढ़कर आना—

प्रभाते आचार्य रत्न दोलाय चड़ाञा।
भक्तगण-सङ्गे आइला शचीमाता लञा॥१३७॥
नदीया-नगरेर लोक—स्त्री-बालक-वृद्ध।
सब लोक आइल, हैल संघट्ट समृद्ध॥१३८॥

१३७-१३८। प॰ अनु॰—अगले दिन प्रातःकाल होते ही श्रीचन्द्रशेखर आचार्य नवद्वीप से भक्तों को साथ लेकर तथा शची माता को पालकी में बैठाकर श्रीअद्वैताचार्य के घर ले आये। नदीया नगर के स्त्री, बालक तथा वृद्ध—सब वहाँ आये। फलस्वरूप वहाँ अनेक लोग एकत्रित हो गये।

प्रातःकाल शची माता का प्रभु से मिलन—

प्रातः कृत्य करि' करे नाम-संकीर्तन।
शचीमाता लञा आइला अद्वैत-भवन॥१३९॥

१३९। प॰ अनु॰—सुबह की क्रियाओं को समाप्त करके जब श्रीचैतन्य महाप्रभु नाम-सङ्कीर्त्तन कर रहे थे। उसी समय श्रीचन्द्रशेखर शची माता को श्रीअद्वैत भवन में ले आये।

प्रभु के दर्शन से शची माता का स्नेह में क्रन्दन—

शची-आगे पड़िला प्रभु दण्डवत् हञा।
कान्दिते लागिला शची कोले उठाइञा॥१४०॥

१४०। प॰ अनु॰—शची माता को देखने मात्र से ही श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें दण्ड्वत प्रणाम किया और शची माता प्रभु को गोद में लेकर रोने लगीं।

शची माता के प्रभु के प्रति वात्सल्य प्रेम का वर्णन—

दोंहार दर्शने दुँहे हइला विह्वल।
केश ना देखिया शची हइला विकल॥१४१॥
अङ्ग मुछे, मुख चुम्बे, करे निरीक्षण।
देखिते ना पाय,अश्रु भरिल नयन॥१४२॥

१४१—१४२। प॰ अनु॰—एक-दूसरे को देखकर दोनों ही विह्वल हो उठे। श्रीचैतन्य महाप्रभु के केशों को न देखकर शची माता व्याकुल हो उठी। वे अपने आँचल से महाप्रभु के अङ्गों को साफ करने लगी, महाप्रभु के मुख चुम्बन करके वे उन्हें देखने लगीं। परन्तु आँखों में अश्रु भर जाने के कारण अधिक समय तक उन्हें न देख सकीं।

शची माता का पुत्र के निकट विलाप और प्रार्थना—

कान्दिया कहेन शची, बाछारे निमाञि।
विश्वरूप-सम ना करिह निठुराइ॥१४३॥
संन्यासी हइया पुनः ना दिल दरशन।
तुमि तैछे कैले, मोर हइबे मरण॥१४४॥

१४३-१४४। प॰ अनु॰—क्रन्दन करते-करते शची माता कहने लगीं—"हे पुत्र निमाई! विश्वरूप की तरह तुम निष्ठुर मत बनना। उसने संन्यास लेकर मुझे कभी भी दर्शन नहीं दिया। यदि तुम भी वैसा ही करोगे तो मैं अवश्य ही मर जाऊँगी।"

अनुभाष्य

१४३। निठुराई,—निष्ठुरता।

शची माता को मातृ भक्तशिरोमणि प्रभु द्वारा सान्त्वना प्रदान—

कान्दिया बलेन प्रभु, शुन, मोर आइ।
तोमार शरीर एइ, मोर किछु नाइ॥१४५॥
तोमार पालित देह, जन्म तोमा हैते।
कोटि जन्मे तोमार ऋण ना पारि शोधिते॥१४६॥

१४५-१४६। प॰ अनु॰—शची माता की बात सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु क्रन्दन करते हुए कहने लगे—"ओ मेरी आइ (माता)! सुनो, यह शरीर तुम्हारा ही है, इस पर मेरा कुछ भी अधिकार नहीं है। आपसे ही मुझे जन्म प्राप्त हुआ है और आपने ही मेरे इस शरीर का पालन किया है। इसलिये मैं करोड़ों जन्म तक भी आपके इस ऋण को नहीं चुका सकता हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४५। आई,—आर्या, शचीमाता।

शची माता के प्रति प्रभु का चिर स्नेह—

जानि' वा ना जानि' यदि करिलूँ संन्यास।
तथापि तोमारे कभु नहिब उदास॥१४७॥

१४७। प० अनु०—(श्रीचैतन्य महाप्रभु ने और कहा—) जानकर अथवा न जानकर यद्यपि मैंने संन्यास ग्रहण किया है। परन्तु तब भी, मैं कभी भी आपके प्रति उदासीन नहीं होऊँगा।

शची माता के द्वारा अभिलषित
स्थान पर प्रभु के रहने की प्रतिज्ञा—

तुमि जाँहा कह, आमि ताँहाइ रहिब।
तुमि जेइ आज्ञा कर, सेइ त' करिब॥१४८॥

१४८। प० अनु०—आप मुझे जहाँ भी रहने का आदेश देंगी, मैं वहीं पर ही रहूँगा। आप मुझे जो आज्ञा देंगी, मैं उसी आज्ञा का ही पालन करूँगा।

प्रभु के द्वारा शची माता को प्रणाम और शची माता का
स्नेह भाव से प्रभु को अपनी गोद में धारण करना—

एत बलि' पुनः पुनः करे नमस्कार।
तुष्ट हआ आइ कोले करे बार-बार॥१४९॥

१४९। प० अनु०—इस प्रकार कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु बार-बार माता को प्रणाम करने लगे और शची माता भी सन्तुष्ट होकर महाप्रभु को बार-बार गोद में धारण करने लगीं।

भक्तों के साथ प्रभु का मिलन और प्रेमपूर्वक आलिङ्गन—

तबे आइ लआ, आचार्य गेला अभ्यन्तरे।
भक्तगण मिलिते प्रभु हइला सत्वरे॥१५०॥
एके एके मिलिला प्रभु सब भक्तगणे।
सबार मुख देखि' करे दृढ़ आलिङ्गने॥१५१॥

१५०-१५१। प० अनु०—तब श्रीअद्वैताचार्य शची माता को घर के अन्दर ले गये और श्रीचैतन्य महाप्रभु तत्क्षणात् सभी भक्तों से मिलने लगे। एक-एक करके श्रीचैतन्य महाप्रभु सभी भक्तों से मिलने लगे और सभी के मुख को देखकर वे उन्हें गाढ़ आलिङ्गन करने लगे।

प्रभु के दर्शन से भक्तों का सुख,
आत्मेन्द्रिय-प्रीति-वाञ्छा नहीं—

केश ना देखिया भक्त यद्यपि पाय दुःख।
सौन्दर्य देखिते तबु पाय महासुख॥१५२॥

१५२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के केशों को न देखकर यद्यपि भक्तों को दुःख हो रहा था तथापि महाप्रभु के सौन्दर्य को देखकर उन्हें अत्यन्त सुख भी हुआ।

नवद्वीपवासी भक्तगण—

श्रीवास, रामाइ, विद्यानिधि, गदाधर।
गङ्गादास, वक्रेश्वर, मुरारि, शुक्लाम्बर॥१५३॥
बुद्धिमन्त खाँन, नन्दन, श्रीधर, विजय।
वासुदेव, दामोदर, मुकुन्द, सञ्जय॥१५४॥
कत नाम लइब जत नवद्वीपवासी।
सबारे मिलिला प्रभु कृपादृष्ट्ये हासि'॥१५५॥

१५३-१५५। प० अनु०—श्रीवास, श्रीरामाइ, श्रीविद्यानिधि, श्रीगदाधर, श्रीगङ्गादास, श्रीवक्रेश्वर, श्रीमुरारि, श्रीशुक्लाम्बर, श्रीबुद्धिमन्त खाँन, श्रीनन्दन, श्रीधर, श्रीविजय, श्रीवासुदेव, श्रीदामोदर, श्रीमुकुन्द और श्रीसञ्जय आदि अनगनित नवद्वीपवासी भक्त वहाँ आये थे और कितनों के नामों का उल्लेख करूँ? श्रीचैतन्य महाप्रभु उनके प्रति कृपापूर्ण दृष्टिपात करके एवं मृदु मुस्कराते हुए उनके साथ मिलित हुए थे।

अद्वैतभवन—वैकुण्ठ, सब समय हरिसेवामय—

आनन्दे नाचये सबे बलि' 'हरि' 'हरि'।
आचार्य-मन्दिर हैल श्रीवैकुण्ठपुरी॥१५६॥

१५६। प० अनु०—सभी आनन्दपूर्वक नाचते हुए 'हरि' 'हरि' बोल रहे थे। श्रीअद्वैताचार्य प्रभु का घर श्रीवैकुण्ठपुरी बन गया।

एकत्रित सभी लोगों को अद्वैत आचार्य
के द्वारा स्थान और भोजन प्रदान—

जत लोक आइला महाप्रभुके देखिते।
नाना-ग्राम हैते, आर नवद्वीप हैते॥१५७॥

सबाकारे वासा दिल भक्ष्य अन्नपान।
बहुदिन आचार्य-गोसाञि कैल समाधान॥१५८॥

१५७-१५८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु का दर्शन करने के लिये जितने भी लोग नवद्वीप और अन्य-अन्य गाँव से आ रहे थे, श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ने इन सबके लिये बहुत दिनों तक रहने के स्थान तथा भोजन इत्यादि की व्यवस्था की।

अच्युत आचार्य का अच्युत भण्डार—
आचार्य-गोसाञिर भाण्डार—अक्षय, अव्यय।
जत द्रव्य व्यय करे, तत द्रव्य हय॥१५९॥

१५९। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य प्रभु का भण्डार अक्षय तथा अव्यय था वे जितना द्रव्य व्यवहार करते उतना ही फिर भर जाता।

शची माता के द्वारा बनाने गये अन्न के द्वारा महाप्रभु का भोजन—
सेइ दिन हैते शची करेन रन्धन।
भक्तगण लञा प्रभु करेन भोजन॥१६०॥

१६०। प० अनु०—जिस दिन से शची माता श्रीअद्वैताचार्य के घर आईं उस दिन से वे स्वयं भोजन बनाती थीं और सभी भक्तों को साथ लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु भोजन करते थे।

दिन के समय आचार्य का और रात के समय अन्य-अन्य लोगों को प्रभु का दर्शन—
दिने आचार्येर प्रीति—प्रभुर दर्शन।
रात्रे लोक देखे प्रभुर नर्तन-कीर्तन॥१६१॥

१६१। प० अनु०—दिन के समय जो समस्त लोग श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शन करने आते वे श्रीमन् महाप्रभु के दर्शन के साथ-साथ श्रीअद्वैताचार्य के उनके प्रति प्रीतिपूर्ण व्यवहार को देखते और रात के समय वे श्रीचैतन्य महाप्रभु के कीर्त्तन को सुनते तथा नृत्य के दर्शन करते।

कीर्त्तन के समय भावावेश में प्रभु का भूमि पर गिरना—
कीर्तन करिते प्रभुर सर्व भावोदय।
स्तम्भ, कम्प, पुलकाश्रु, गदगद, प्रलय॥१६२॥

१६२। प० अनु०—कीर्त्तन करते समय श्रीचैतन्य महाप्रभु में स्तम्भ, कम्प, पुलक, अश्रु, गदगद-वचन और प्रलय आदि सभी भावों का उदय हो जाता।

अनुभाष्य

१६२। पुलकाश्रु—भः रः सिः दः विः चतुर्थ लः—'हर्ष रोष विषादाद्यैरश्रुनेत्रे ज्लोद्‌गमः। हर्षजेहश्रुणि शीतत्व-मौष्णयं रोषादि सम्भवे। सर्वत्रनयनक्षोभरागसमार्जना-दयः॥" हर्ष, क्रोध और विषाद आदि से बिना किसी प्रयत्न के जो जल गिरता है, वही 'पुलकाश्रु' है। हर्ष से उत्पन्न अश्रुओं में शीतलता, क्रोध से उत्पन्न अश्रुओं में उष्णता तथा दोनों प्रकार के पुलक से नयनक्षोभ (नेत्रों में चञ्चलता) तथा राग समार्जनादि होता है।

प्रलय—भः रः सिः दः विः चतुर्थ लः—'प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टा ज्ञाननिराकृतिः। अत्रानुभावाः कथिता महीनिपतनादयः॥" सुख और दुःख—दोनों प्रकार की चेष्टा से ज्ञान दूर हो जाता है। इसी प्रकार प्रलय में भूमि पर गिरना आदि सभी अनुभाव दिखायी देते हैं।

सर्वभाव अर्थात् अष्ट सात्विक विकार। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, पुलकाश्रु और प्रलय।

स्नेह में सिक्त भय से विह्वल शची माता की पुत्र के स्वास्थ्य के लिए विष्णु से प्रार्थना—
क्षणे क्षणे पड़े प्रभु आछाड़ खाञा।
देखि शचीमाता कहे रोदन करिया॥१६३॥
चूर्ण हैल, हेन वासों निमाञि-कलेवर।
हाहा करि' विष्णु-पाशे मागे एइ वर॥१६४॥
बाल्यकाल हैते तोमार जे कैलूँ सेवन।
तार प्रतिफल मोरे देह, नारायण॥१६५॥
जे काले निमाञि पड़े धरणी-उपरे।
व्यथा जेन नाहि लागे निमाञि-शरीरे॥१६६॥

एइमत शचीदेवी वात्सल्ये विह्वल।
हर्ष-भय-दैन्यभावे हइल विकल॥१६७॥

१६३-१६७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु बार-बार पछाड़ खाकर गिर जाते, जिसे देखकर शची माता रोते हुए कहतीं—"मुझे ऐसे लगता है मानो इस प्रकार बार-बार पछाड़ खाकर गिरने से निमाई का शरीर चूर्ण-विचूर्ण हो जायेगा" हाय! हाय! करती हुई शची माता विष्णु से यही वर माँगती थी। "हे नारायण! बाल्यकाल से मैंने आपकी सेवा की है, उसके प्रतिफल (बदले में) मैं आपसे यही प्रार्थना करती हूँ कि जिस समय निमाई पृथ्वी पर गिरे, उसे किसी प्रकार की व्यथा न हो।" इस प्रकार शची माता श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रति वात्सल्य रस में विह्वल होकर हर्ष, भय और दैन्य आदि भावों से व्याकुल हो जातीं।

अनुभाष्य

१६५। बाल्यकाल हैते,—बालिका अवस्था से ही, आ-शैशव; नित्यसिद्धा मूर्त्तिमती वात्सल्य विग्रह, जो यशोदा स्वरूपिणी जन्म से ही कृष्ण सेवा परायण हैं,—वह कभी भी प्राकृत (साधारण) जीव नहीं हो सकती, यह इस स्थान पर उनके अपने ही मुख द्वारा कहा गया।

भक्तों की प्रभु को निमन्त्रण करने की इच्छा—

श्रीवासादि जत प्रभुर विप्र भक्तगण।
प्रभुके भिक्षा दिते हैल सबाकार मन॥१६८॥

१६८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्रीवासादि जितने ब्राह्मण भक्त थे उन सबकी श्रीचैतन्य महाप्रभु को भोजन कराने की इच्छा हुई।

शची माता का दुःख, भक्तों को निवारण
और स्वयं प्रभु को भिक्षा देने का प्रस्ताव—

शुनि' शची सबाकारे करिल मिनति।
निमाञिर दरशन आर मुञि पाब कति॥१६९॥
तोमा-सबा-सने हबे अन्यत्र मिलन।
मुञि अभागिनीर मात्र एइ दरशन॥१७०॥
यावत आचार्यगृहे निमाञिर अवस्थान।
मुञि भिक्षा दिब, सबाकारे मागों दान॥१७१॥

१६९-१७१। प० अनु०—भक्तों के प्रस्ताव को सुनकर शची माता ने सभी से प्रार्थना की—"मुझे और कहाँ निमाई का दर्शन प्राप्त होगा? तुम लोगों के साथ तो निमाई का दर्शन अन्यत्र कहीं ओर भी हो जायेगा परन्तु मुझ अभागिनी के लिये तो मात्र यहीं पर इसका मिलन है। इसलिये मैं आप सबसे यही भिक्षा माँगती हूँ कि जब तक निमाई अद्वैताचार्य के घर में रहे तब तक मैं ही इसे भोजन कराऊँ।"

अनुभाष्य

१६९। कति,—कहाँ।

भक्तों की सम्मति—

शुनि' भक्तगण कहे करि' नमस्कार।
मातार जे इच्छा, सेइ सम्मत सबार॥१७२॥

१७२। प० अनु०—शचीमाता के निवेदन को सुनकर सभी भक्तों ने उन्हें प्रणाम करके कहा कि—"आपकी जो इच्छा उसी में ही हम सबकी सम्मति है।"

माता की वाञ्छा पूर्ण करने के लिये
मातृभक्तशिरोमणि प्रभु का भक्तों के प्रति अनुरोध—

मातार व्यग्रता देखि' प्रभुर व्यग्र मन।
भक्तगण एकत्र करि' बलिला वचन॥१७३॥

१७३। प० अनु०—शची माता की व्याकुलता को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का मन भी विह्वल हो गया। तब श्रीचैतन्य महाप्रभु सभी भक्तों को एकत्रित करके कहने लगे।

प्रभु की भक्त वश्यता—

तोमा-सबार आज्ञा बिना चलिलाम वृन्दावन।
याइते नारिल, विघ्न कैल निवर्तन॥१७४॥

१७४। प० अनु०—"मैं आप सबकी आज्ञा के बिना ही वृन्दावन जा रहा था। परन्तु कुछ विघ्न उपस्थित होने

से मैं नहीं जा सका और वापिस लौट आया।"

प्रभु का भक्तों और माता के प्रति वात्सल्य—

यद्यपि सहसा आमि करियाछों संन्यास।
तथापि तोमा-सबा हैते नहिब उदास॥१७५॥
तोमा-सब ना छाड़िब, यावत आमि जीब'।
मातारे तावत आमि छाड़िते नारिब॥१७६॥

१७५-१७६। प० अनु०—यद्यपि मैंने अचानक संन्यास ग्रहण कर लिया है। फिर भी मैं आप सबके प्रति उदासीन नहीं रहूँगा। जब तक मैं जीवित रहूँगा, तब तक मैं कभी भी तुम्हें नहीं छोडूँगा; एवं तब तक अपनी माँ को भी नहीं छोड़ पाऊँगा।

अनुभाष्य

१७६। जीव',—बचूँगा, प्रकट रहूँगा।

वान्ताशी होना संन्यासी का कर्त्तव्य नहीं—

संन्यासीर धर्म,—नहे संन्यास करिञा।
निज जन्मस्थाने रहे कुटुम्ब लञा॥१७७॥

१७७। प० अनु०—किन्तु संन्यासी के लिये यह उचित नहीं है कि वह संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् अपने जन्मस्थान पर अपने कुटुम्ब के साथ वास करे।

फल्गु वैराग्य के कारण महाप्रभु की निन्दा न हो, इसलिये भक्तों के निकट उपाय हेतु प्रार्थना—

केह जेन एइ बलि' ना करे निन्दन।
सेइ युक्ति कह, जाते रहे दुइ धर्म॥१७८॥

१७८। प० अनु०—अतएव कोई ऐसी व्यवस्था करो जिससे मेरे दोनों धर्मो (संन्यास धर्म का और आप सभी को न छोड़कर भक्त-वात्सल्य रूपी धर्म) का पालन हो जाये।

शची माता के निकट अद्वैतादि की प्रार्थना—

शुनिया प्रभुर एइ मधुर वचन।
शचीपाश आचार्यादि करिल गमन॥१७९॥
प्रभुर निवेदन ताँरे सकल कहिल।
शुनि' शची जगन्माता कहिते लागिल॥१८०॥

१७९-१८०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के ऐसे मधुर वचनों को सुनकर श्रीअद्वैताचार्य आदि भक्त शची माता के पास गये और उन्हें श्रीचैतन्य महाप्रभु के इस निवेदन के विषय में बतलाया। यह सुनकर जगत् जननी श्रीशची माता कहने लगीं—

प्रभु के सुख में ही शची माता का सुख—

तेंहो यदि इँहा रहे, तबे मोर सुख।
ताँर निन्दा हय यदि, तबे मोर दुःख॥१८१॥

१८१। प० अनु०—"यदि निमाई यहाँ रहे तो बहुत सुख प्राप्त होगा। परन्तु यहाँ रहने से यदि उसकी निन्दा होगी तो मुझे बहुत दुःख लगेगा।

अनुभाष्य

१८१। पुत्र द्वारा कृष्ण को ढूँढने की चेष्टा का परित्याग करके घर में ही रहने पर, माता के इन्द्रिय तृप्ति रूपी सुख के होने पर भी पुत्र कृष्ण सेवा को त्यागने के कारण निन्दा का पात्र होगा, ऐसा सोचकर वास्तविक स्नेह रखने वाली माता को दुःख ही होगा। अतएव पुत्र दर्शन रूपी अपने सुख अर्थात् भोग की अपेक्षा पुत्र द्वारा की जाने वाली कृष्ण-सेवा में ही (पुत्र के) नित्य मङ्गल रूपी सुख की आकांक्षा रखने वाली वास्तविक माता को वास्तव में सुख होता है; नहीं तो, मा—'माया' शब्द वाच्या, (अर्थात् मा का अर्थ माया हो जायेगा)। इसी व्यवहार से मातृकुल की आदर्श जगन्माता शची ठाकुरानी समग्र मातृकुल को शिक्षा दे रही है। इस प्रसङ्ग में (भा. ५/५/१८ का)—'गुरुर्न स स्यात स्वजनो न स स्यात पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात। दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद् यः समुपेतमृत्युम्।।"—श्लोक आलोच्य है।

शची माता के द्वारा पुत्र की प्रसन्नता हेतु उसके पुरी में वास करने का अनुमोदन—

ताते एइ युक्ति भाल, मोर मने लय।

नीलाचले रहे यदि, दुइ कार्य हय॥१८२॥
नीलाचले-नवद्वीपे जेन दुइ घर।
लोक-गतागति-वार्त्ता पाब निरन्तर॥१८३॥
तुमि सब करिते पार गमनागमन।
गङ्गास्नाने कभु ताँर हबे आगमन॥१८४॥

१८२-१८४। प० अनु०—"इसलिये मेरे मन को तो यह युक्ति अच्छी लगती है कि यदि निमाई नीलाचल में रहे तो दोनों कार्य सम्पन्न हो जायेंगे। नीलाचल और नवद्वीप दोनों ही जैसे एक घर के समान हैं। दोनों स्थानों से लोगों का आना-जाना लगा रहता है और उनसे मुझे निमाई का समाचार भी प्राप्त होता रहेगा। तुम सब भी नीलाचल आना-जाना कर सकते हो और कभी निमाई भी गङ्गा स्नान के लिये यहाँ आ सकता है।

शची माता का शुद्ध गौरवात्सल्य-प्रेम—
आपनार दुःख-सुख ताहा नाहि गणि।
ताँर जेइ सुख, ताहा निज-सुख मानि॥१८५॥

१८५। प० अनु०—"मुझे अपने दुःख-सुख की चिन्ता नहीं है। निमाई के सुख में ही मैं अपना सुख मानती हूँ।"

भक्तों के द्वारा शची माता की स्तुति—
शुनि' भक्तगण ताँरे करिल स्तवन।
वेद-आज्ञा जैछे, माता, तोमार वचन॥१८६॥

१८६। प० अनु०—शची माता की इस बात को सुनकर भक्तों ने उनकी स्तुति करते हुए कहा—"हे माता! आपके वचन साक्षात् वेद की आज्ञा के समान शिरोधारण करने योग्य हैं।"

शची माता के अभिप्राय को जानकर प्रभु को आनन्द—
प्रभु-आगे भक्तगण कहिते लागिल।
शुनिया प्रभुर मने आनन्द हइल॥१८७॥

१८७। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु के पास आकर सभी भक्तों ने शची माता के विचार को सुनाया। जिसे सुनकर महाप्रभु बहुत आनन्दित हुए।

भक्तों के निकट प्रभु की प्रार्थना—
नवद्वीप-वासी आदि जत भक्तगण।
सबारे सम्मान करि' बलिला वचन॥१८८॥
तुमि-सब लोक—मोर परम बान्धव।
एइ भिक्षा मागोँ—मोरे देह तुमि-सब॥१८९॥

१८८-१८९। प० अनु०—नवद्वीप एवं अन्यान्य स्थानों से उपस्थित समस्त भक्तों को सम्मान देते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु कहने लगे—"आप सभी मेरे परम बान्धव हैं इसलिये मैं आप सबसे एक भिक्षा माँगता हूँ आप कृपा करके मुझे वह भिक्षा प्रदान कीजिए।"

सभी को कृष्ण-कीर्तन करने का आदेश—
घरे याञा कर सदा कृष्णसङ्कीर्तन।
कृष्णनाम, कृष्णकथा, कृष्ण-आराधन॥१९०॥

१९०। प० अनु०—(श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—) "आप सब घर जाकर सदैव कृष्ण सङ्कीर्त्तन करना, कृष्ण नाम करना, कृष्णकथा की आलोचना और कृष्ण की आराधना करना।

पुरी हेतु प्रस्थान करने के लिये प्रभु के द्वारा आज्ञा प्रार्थना—
आज्ञा देह नीलाचले करिये गमन।
मध्ये मध्ये आसि' तोमाय दिब दरशन॥१९१॥

१९१। प० अनु०—और मुझे भी नीलाचल जाने की आज्ञा प्रदान करें, मैं बीच-बीच में आकर आपसे मिलता रहूँगा।"

यथायोग्य सम्मान देकर सभी को विदाई देना—
एत बलि' सबाकारे ईषत् हासिञा।
विदाय करिल प्रभु सम्मान करिञा॥१९२॥

१९२। प० अनु०—इस प्रकार सभी भक्तों का सम्मान करने के उपरान्त श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मन्द-मन्द मुस्कराते हुये सभी को विदा किया।

हरिदास की दीनता और अकिंचन भाव—

सबा विदाय दिया प्रभु चलिते हैल मन।
हरिदास कान्दि' कहे करुण वचन॥१९३॥
नीलाचले जाबे तुमि, मोर कोन् गति।
नीलाचले जाइते मोर नाहिक शकति॥१९४॥
मुञि अधम तोमार ना पाब दरशन।
केमते धरिब एइ पापिष्ठ जीवन॥१९५॥
प्रभु कहे,—कर तुमि दैन्य सम्वरण।
तोमार दैन्येते मोर व्याकुल हय मन॥१९६॥

१९३-१९६। प० अनु०—सबको विदाई देकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भी नीलाचल जाने की इच्छा प्रकट की। ऐसा सुनकर श्रीहरिदास ठाकुर क्रन्दन करते हुए करुण वचन से कहने लगे—"आप तो नीलाचल चले जायेंगे, किन्तु मेरी क्या गति होगी? क्योंकि मुझमें तो नीलाचल जाने की शक्ति नहीं है। मुझ अधम को यदि आपके चरणों का दर्शन नहीं होगा तो मैं यह पापमय जीवन कैसे धारण करूँगा?" श्रीहरिदास के वचन सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"अपनी दीनता का सम्वरण करो। तुम्हारी दीनता को देखकर मेरा मन व्यथित हो रहा है।

अनुभाष्य

१९४। यह पद्य—कृष्ण के सेवकों के कृष्णेन्द्रियप्रीति वाञ्छा रूपी सेवा की सुन्दर व्याख्या है। आदि चतुर्थ परिच्छेद १७४-१७५, २०१, २०४, मध्य चतुर्थ परिच्छेद १८६ संख्या तथा "सेवा-सुख-दुःख—परम सम्पद"—(ठाकुर श्रीभक्तिविनोद रचित 'शरणागति') द्रष्टव्य है।

श्रीहरिदास ठाकुर ने शौक्र-यवनकुल में आविर्भूत होने पर भी दैक्ष्य-ब्राह्मणता को प्राप्त किया था। हरिदास ठाकुर ने नैसर्गिक दैन्य के कारण अपने को अत्यन्त हीन समझकर प्रभु के समक्ष आर्त्त स्वर से अपने शौक्र जाति के होने के कारण नीलाचल में प्रवेश नहीं कर पाने के वैद्य अधिकार की बात को कहा। विशेषतः नीलाद्रि में चारों वर्णों के अतिरिक्त श्रीजगन्नाथ मन्दिर की चार दीवारी में किसी और को प्रवेश करने का अधिकार नहीं है; अतएव श्रीमहाप्रभु यदि नीलाचल के श्रीमन्दिर के अन्दर वास करें, तो फिर वहाँ जाने का उनका (श्रील हरिदास ठाकुर का) अधिकार नहीं रहेगा। बाद में नीलाद्रि (नील समुद्र) के निकट बालु वाले स्थान पर रहने में कोई भी बाधा नहीं है, ऐसा जानकर ठाकुर हरिदास वहाँ रहे। वही स्थान ही आजकल 'सिद्ध बकुल मठ' के नाम से प्रसिद्ध है।

हरि से विमुख स्मार्त्त समाज को धिक्कार देकर अप्राकृत ब्राह्मण गुरु वैष्णवाचार्य हरिदास ठाकुर को पुरी में ले जाने की प्रतिज्ञा—

तोमार लागि' जगन्नाथे करिब निवेदन।
तोमा-लञा जाब आमि श्रीपुरुषोत्तम॥१९७॥

१९७। प० अनु०—मैं तुम्हारे लिये श्रीजगन्नाथदेव से निवेदन करूँगा और मैं तुम्हें पुरुषोत्तम (जगन्नाथ पुरी) में ले जाऊँगा।"

अद्वैत के द्वारा प्रभु को और कुछ दिन रहने की प्रार्थना—

तबे त' आचार्य कहे विनय करिञा।
दिन दुइ-चारि रह कृपा त' करिञा॥१९८॥

१९८। प० अनु०—तब श्रीअद्वैताचार्य दीनता पूर्वक श्रीचैतन्य महाप्रभु से अनुरोध करने लगे—"कृपा करके और दो-चार दिन यहाँ पर रह जायें।"

प्रभु के द्वारा अद्वैत की इच्छा पूर्त्ति—

आचार्येर वाक्य प्रभु ना करे लंघन।
रहिला अद्वैत-गृहे, ना कैल गमन॥१९९॥

१९९। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य के वचनों का श्रीचैतन्य महाप्रभु कभी लंघन नहीं करते, इसलिए वे तत्क्षणात् नीलाचल न जाकर और भी कुछ दिन श्रील अद्वैताचार्य प्रभु के घर में ही रहे।

प्रभु की कृपा के दर्शन से सभी को आनन्द—

आनन्दित हैल आचार्य, शची, भक्त, सब।
प्रतिदिन करे आचार्य महा-महोत्सव॥२००॥

२००। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की और दो-चार दिन रहने की स्वीकृति जानकर श्रीअद्वैताचार्य प्रभु, शची माता और सब भक्त आनन्दित हो गये तथा श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ने प्रतिदिन महा-महोत्सव का आयोजन किया।

दिन में इष्ट गोष्ठी और रात में सङ्कीर्त्तन—

दिने कृष्ण-कथा-रस भक्तगण-सङ्गे।
रात्रे महा-महोत्सव संकीर्तन-रङ्गे॥२०१॥

२०१। प॰ अनु॰—इस प्रकार श्रीअद्वैताचार्य के घर में रहते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु दिन में भक्तों के साथ कृष्ण कथा रस का आस्वादन करते और रात में सङ्कीर्त्तन करके महा-महोत्सव मनाते।

भक्तों के साथ प्रभु को अपने द्वारा बनाया गया भोजन करते देख माता को आनन्द—

आनन्दित हञा शची करेन रन्धन।
सुखे भोजन करे प्रभु लञा भक्तगण॥२०२॥

२०२। प॰ अनु॰—शची माता आनन्दित होकर रसोई बनाती और श्रीचैतन्य महाप्रभु सभी भक्तों के साथ सुखपूर्वक भोजन करते।

प्रभु की सेवा से अद्वैत के घर का सबकुछ धन्य—

आचार्येर श्रद्धा-भक्ति, गृह-सम्पद-धने।
सकल सफल हैल प्रभुर आगमने॥२०३॥

२०३। प॰ अनु॰—इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु के आगमन से श्रीअद्वैताचार्य की श्रद्धा, भक्ति, उनका घर, सम्पत्ति, धन इत्यादि सबकुछ सार्थक हो गया।

शची माता का सुख—

शचीर आनन्द बाड़े देखि' पुत्रमुख।
भोजन कराञा पूर्ण कैल निजसुख॥२०४॥

२०४। प॰ अनु॰—अपने पुत्र निमाई का मुख देखकर शची माता का आनन्द बढ़ता जाता और उसे भोजन कराके उन्होंने परम सुख को प्राप्त किया।

अद्वैत के घर कुछ दिन तक अप्राकृत आनन्द—

एइमत अद्वैत-गृहे भक्तगण मिले।
वञ्चिला कतदिन महा-कुतूहले॥२०५॥

२०५। प॰ अनु॰—इस प्रकार श्रीअद्वैताचार्य प्रभु के घर में सभी भक्तों ने मिलकर अत्यधिक आनन्दपूर्वक कुछेक दिन व्यतीत किये।

प्रभु के द्वारा भक्तों को विदाई देना—

आर दिन प्रभु कहे सब भक्तगणे।
निज-निज-गृहे सबे करह गमने॥२०६॥

२०६। प॰ अनु॰—तब एक दिन श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सभी भक्तों को कहा—"अब आप सब अपने-अपने घर जाइये।

प्रभु और भक्त—दोनों का परस्पर एक-दूसरे को पुनः मिलन के सुयोग का निर्देश—

घरे गिया कर सबे कृष्णसंकीर्तन।
पुनरपि आमा-सङ्गे हइबे मिलन॥२०७॥

२०७। प॰ अनु॰—"घर जाकर सभी कृष्ण-सङ्कीर्त्तन कीजिए। मेरे साथ आप सभी का पुनः मिलन होगा।

भक्तों के द्वारा नीलाचल जाने और प्रभु के द्वारा नवद्वीप में आने पर मिलन की सम्भावना—

कभु वा तोमरा करिबे नीलाद्रि गमन।
कभु वा आसिब आमि करिते गङ्गास्नान॥२०८॥

२०८। प॰ अनु॰—"कभी आप लोग नीलाद्रि (नीलाचल) में आना और कभी-कभी मैं भी गङ्गा स्नान करने आऊँगा।"

पुरी के मार्ग में प्रभु के साथ चलने वालों में निताई आदि प्रमुख चार भक्त तथा प्रभु के द्वारा शची माता की वन्दना और सान्तावना—

नित्यानन्द-गोसाञि, पण्डित जगदानन्द।
दामोदर पण्डित, आर दत्त मुकुन्द॥२०९॥

एइ चारिजन, आचार्य दिल प्रभु सने।
जननी प्रबोध करि' वन्दिल चरणे॥२१०॥

२०९। प॰ अनु॰—इस प्रकार सबसे विदाई लेने के उपरान्त जब श्रीचैतन्य महाप्रभु नीलाचल जाने के लिये प्रस्तुत हुए तो श्रील अद्वैताचार्य प्रभु ने श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीजगदानन्द पण्डित, श्रीदामोदर पण्डित और मुकुन्द दत्त—इन चार भक्तों को श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ भेजा तथा फिर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने शची माता को सान्तावना देकर उनके श्रीचरणकमलों की वन्दना की।

प्रभु की निरपेक्षता—

ताँरे प्रदक्षिण करि' करिल गमन।
एथा आचार्येर घरे उठिल क्रन्दन॥२११॥
निरपेक्ष हञा प्रभु शीघ्र चलिला।
कान्दिते कन्दिते आचार्य पश्चात् चलिला॥२१२॥

२११-२१२। प॰ अनु॰—माता की परिक्रमा करके श्रीचैतन्य महाप्रभु नीलाचल की ओर चल दिये। उस समय श्रीअद्वैताचार्य प्रभु के घर में जोर-जोर से क्रन्दन की आवाजें सुनाई देने लगी। परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु निरपेक्ष होकर अर्थात् बिना विचलित हुए शीघ्र वहाँ से चल दिये और श्रीअद्वैताचार्य भी रोते-रोते उनके पीछे-पीछे चलने लगे।

अनुभाष्य

२१२। निरपेक्ष—जड़ अथवा जड़ीय अपेक्षा रहित, अर्थात् स्वरूप अथवा भगवद् दास्य में अवस्थित; बाद में अपने कृष्णान्वेषण रूपी कार्य में बाधा उपस्थित हो, इसी भय से स्वजनों के रोने आदि को सुनकर महाप्रभु निरीश्वर नीतिवादियों के दृष्टि कोण से 'अत्यन्त निष्ठुर' के रूप में परिचित होने पर भी जीवों के लिये उनके सर्वोत्तम परम धर्म कृष्ण सेवा की चेष्टा ही एकमात्र प्रयोजनीय कार्य है, उसी की जगद्गुरु के रूप में शिक्षा प्रदान की,—बाहरी दृष्टि के कारण अचित् भोग के फलस्वरूप अचित् में ही आसक्ति अथवा माया होती है, उसमें बद्ध होने से कृष्ण सेवा नहीं होती, अतएव जगत् की दृष्टि में अत्यधिक प्रशंसित सुनीति भी कृष्ण सेवा की विरोधी होने पर चैतन्य का विरुद्ध पथ है। 'निरपेक्ष ना हइले धर्मरक्षणे ना जाय"—महाप्रभु के श्रीमुख से निकली वाणी आलोच्य है।

अद्वैताचार्य को सान्तावना देकर उनकी विदाई—

कतदूर गिया प्रभु करि' जोडहात।
आचार्ये प्रबोधि' कहे किछु मिष्ट बात॥२१३॥
जननी प्रबोधि', कर भक्त-समाधान।
तुमि व्यग्र हैले कारो ना रहिबे प्राण॥२१४॥
एत बलि' प्रभु ताँरे करि' आलिङ्गन।
निवृत्त करिया कैल स्वच्छन्द गमन॥२१५॥

२१३-२१५। प॰ अनु॰—कुछ दूर जाने के बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु ने हाथ जोड़कर श्रीअद्वैताचार्य प्रभु को सान्तावना देते हुए कुछ मधुर वचन कहे। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"आप घर लौटकर माता तथा भक्तों को सान्तावना प्रदान करो। यदि आप ही इस प्रकार व्याकुल हो जायेंगे तो किसी के भी लिये प्राण धारण करना सम्भव पर नहीं होगा।" इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रील अद्वैताचार्य प्रभु का आलिङ्गन किया और उन्हें अपने साथ चलने से रोकने में सफल हुए। उसके बाद उन्होंने स्वच्छन्द रूप से वहाँ से प्रस्थान किया।

छत्रभोग के मार्ग से प्रभु का पुरी में जाना—

गङ्गातीरे-तीरे प्रभु चारिजन-साथे।
नीलाद्रि चलिला प्रभु छत्रभोग-पथे॥२१६॥

२१६। प॰ अनु॰—इस प्रकार गङ्गा के तट पर चलते-चलते श्रीचैतन्य महाप्रभु चारों भक्तों को साथ लेकर छत्रभोग नामक मार्ग से होते हुए नीलाचल की ओर बढ़ने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

२१६। छत्रभोग-पथे (छत्रभोग के रास्ते),—गङ्गा के तट-तट से आटिसार, पानिहाटी, वराह नगर से होते हुए चलने लगे। उस समय गङ्गा कलिकत्ता के दक्षिण

से काली घाट होकर वारुईपुर प्रभृति स्थानों से होकर डायमण्ड हारबारके सबडिविजन 'मथुरापुर' नामक थाने से होकर सैकड़ों धाराओं के रूप में समुद्र में मिलती थी। महाप्रभु उसी रास्ते से ही मथुरापुर थाने के अन्तर्गत 'अम्बुलिङ्ग' स्थान पर छत्रभोग के रास्ते गये थे।

तृतीय परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

२१६। छत्रभोग,—चौबीस परगना जिले में ई.वी. आर लाइन पर दक्षिण शाखा में मग्राहाट-स्टेशन है। इस स्थान से पूर्व दक्षिण की ओर छह-सात कोस दूर जयनगर के दो-तीन कोस दक्षिण में यह गाँव अवस्थित है। इस गाँव को कोई-कोई 'खाड़ि' कहते हैं। यहाँ पर 'बेजुर्का-नाथ' नामक शिवलिङ्ग है। वहाँ चैत्रमास की शुक्ला प्रतिपदा के दिन 'नन्दा' नामक मेला होता है। अब यहाँ पर गङ्गा नहीं है। आटिसारा—यह रेलवे लाइन बारुईपुर स्टेशन के निकट है, ऐसा सुना जाता है। चै.भा. अन्त्य द्वितीय अध्याय द्रष्टव्य।

चैतन्यभागवत में विस्तृत रूप से वर्णन—

'चैतन्यमङ्गले' प्रभुर नीलाद्रि-गमन।
विस्तारि' वर्णियाछेन दास-वृन्दावन॥२१७॥
अद्वैत-गृहे प्रभुर विलास शुने जेइ जन।
अचिरे मिलये ताँरे कृष्णप्रेम-धन॥२१८॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे जार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥२१९॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्यखण्ड में संन्यास ग्रहण करने के बाद अद्वैत के गृह में भोजन-विलास-वर्णन नामक तृतीय परिच्छेद समाप्त।

२१७-२१९। प० अनु०—चैतन्यमङ्गल (श्रीचैतन्य भागवत) नामक ग्रन्थ में श्रीचैतन्य महाप्रभु के नीलाद्रि (जगन्नाथ पुरी) गमन के सम्बन्ध में श्रीवृन्दावन दास ठाकुर ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। श्रीचैतन्य महाप्रभु के द्वारा श्रीअद्वैताचार्य के घर में किये गये लीला-विलास का यदि कोई श्रवण करता है, तो उसे शीघ्र ही कृष्ण प्रेम रूपी धन की प्राप्ति होती है। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्य-चरितामृत का गान कर रहा है।

अनुभाष्य

२१७। बङ्गाल में आटिसारा गाँव, वराहनगर, अम्बुलिङ्ग-छत्रभोग, उत्कल में प्रयागघाट, सुवर्णरेखा, जलेश्वर, रेमुणा, जाजपुर, वैतरणी, दशाश्वमेघघाट, कटक, महानदी, भुवनेश्वर (बिन्दु-सरोवर), कमलपुर, आठरनाला प्रभृति स्थानों से होकर श्रीनीलाचल में प्रवेश किया।

तृतीय परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

❋ ❋ ❋

चतुर्थ परिच्छेद

कथासार—श्रीमन् महाप्रभु छत्रभोग के मार्ग से वृद्धमन्त्रेश्वर से होकर उत्कल राज्य की एक सीमा पर पहुँचे। मार्ग में अनेक प्रकार से आनन्दमय कीर्त्तन और भिक्षा आदि करते-करते रेमुणा नामक गाँव में श्रीगोपीनाथ के दर्शन किये तथा परम आनन्दित होकर उन्होंने अपने भक्तों को श्रीईश्वर पुरी द्वारा कही गयी श्रीमाधवेन्द्र पुरी से सम्बन्धित कथा का वर्णन किया। पूर्वकाल में श्रीमाधवेन्द्र पुरी जब वृन्दावन गये थे, तब उन्होंने गोवर्द्धन में रात के समय 'वन में गोपाल हैं'—यह स्वप्न देखा। उस स्वप्न को देखने के बाद उन्होंने अगले दिन प्रातःकाल में गोवर्द्धन वासियों को लेकर वन से श्रीगोपाल की मूर्त्ति को बाहर निकालकर पर्वत के ऊपर स्थापित किया। बहुत बड़े समारोह के बीच गोपाल जी की पूजा और अन्नकूट महोत्सव हुआ। इस बात का क्रमशः प्रचार होने से बहुत से गाँवों से अनेक लोग आकर गोपाल जी का महोत्सव करने लगे। गोपाल ने एक रात माधवेन्द्र पुरी को यह स्वप्न दिया कि, 'तुम बिना देरी किये नीलाचल जाकर मलयज चन्दन को संग्रह करके (यहाँ पर ले आओ और उसे घिसकर) मेरे शरीर पर लगाकर मेरा ताप दूर करो।' गोपाल जी की आज्ञा पाकर पुरी गोस्वामी बङ्गाल से होते हुए उत्कलदेश (उड़ीसा) के रेमुणा नामक गाँव में पहुँचे, वहाँ श्रीगोपीनाथ के द्वारा प्रदान किये गये खीर के प्रसाद को पाकर उन्होंने श्रीपुरुषोत्तम की ओर गमन किया। माधवेन्द्र पुरी को गोपीनाथ जी ने चोरी करके खीर प्रदान की थी, इसलिये उनका नाम 'क्षीरचोरा गोपीनाथ' हो गया है। नीलाचल पहुँचकर श्रीजगन्नाथ देव के सेवकों के द्वारा राजपात्रों से एक मन चन्दन और बीस तोले श्रीकर्पूर एकत्रित करके, दो व्यक्तियों के द्वारा इन दोनों वस्तुओं को लेकर जब वे रेमुणा तक आये तब गोवर्द्धनधारी गोपाल ने उन्हें पुनः स्वप्न में आज्ञा दी कि, इस चन्दन और कूर्पर को गोपीनाथ के अङ्गों में लगाने से मेरा ताप दूर हो जायेगा। माधवेन्द्र पुरी उनकी उस आज्ञा का पालन करके पुनः नीलाचल चले गये। महाप्रभु ने इस इतिहास को श्रीनित्यानन्द प्रभृति भक्तों को सुनाकर श्रीमाधवेन्द्र पुरी की विशुद्ध प्रेमभक्ति की अनेक प्रशंसा की। श्रीमाधवेन्द्र पुरी द्वारा रचित श्लोक का उच्चारण करने से श्रीमन् महाप्रभु में प्रेमोन्माद उपस्थित हुआ। लोगों की भीड़ को देखकर प्रभु को बाह्यज्ञान हुआ, तब उन्होंने खीर प्रसाद पाकर उस रात्रि को वहीं पर व्यतीत करके अगले दिन नीलाचल की यात्रा की।

(अ:प्र:भा:)

'क्षीरचोरा गोपीनाथ'—सेवक माधवेन्द्र पुरी को प्रणाम—

यस्मै दातुं चोरयन् क्षीरभाण्डं
गोपीनाथः क्षीरचोराभिधोऽभूत्।
श्रीगोपालः प्रादुरासीद्वशः सन्
यत्प्रेम्णा तं माधवेन्द्र नतोऽस्मि॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिनको खीर अर्पण करने के लिये खीर के भाण्ड (कुल्हड़ पात्र) को चोरी करके श्रीगोपीनाथ का 'क्षीरचोरा' नाम हुआ था एवं जिनकी भक्ति के वशीभूत होकर श्रीगोपाल देव प्रकाशित हुए थे, उन माधवेन्द्र पुरी को मैं नमस्कार करता हूँ।

अनुभाष्य

१। गोपीनाथः (रेमुणाग्रामस्थस्त नाम प्रसिद्धः विग्रहः) क्षीरभाण्डं (पायसान्नपूर्ण पात्र) चोरयन् (अपरहण) यस्मै (श्रीमाधवेन्द्राय) दातुं क्षीरचोराभिधः अभूत (क्षीर-

चोरागोपीनाथेति संज्ञां प्राप्तवान्); यत् (यस्य माधवेन्द्रस्य) प्रेमणा वशः (वशीभूतः सन) श्रीगोपालः (वज्र स्थापित विग्रहः गोवर्धनधारी) प्रादुरासीत् (प्रादुर्वभूव); तं माधवेन्द्रं (लक्ष्मीपतिशिष्यं माधवसम्प्रदाय गुरुं माधवेन्द्र पुरीं) नतोऽस्मि।

जय जय गौरचन्द्र जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प॰ अनु॰—श्रीगौरचन्द्र की जय हो जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, श्रीअद्वैताचार्य की जय हो और श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो।

चैतन्यभागवत में प्रभु के नीलाचल गमन के बाद
की अन्य-अन्य लीलाएँ मधुररूप से वर्णित—

नीलाद्रिगमन, जगन्नाथ-दरशन।
सार्वभौम भट्टाचार्य-प्रभुर मिलन॥३॥
ए सकल लीला श्रीदास वृन्दावन।
विस्तारि' वर्णियाछेन उत्तम वर्णन॥४॥
सहजे विचित्र मधुर चैतन्य-विहार।
वृन्दावनदास-मुखे अमृतेर धार॥५॥

३-५। प॰ अनु॰—(ग्रन्थकार श्रील कविराज गोस्वामी कह रहे हैं) श्रीचैतन्य महाप्रभु का नीलाचल में जाना, श्रीजगन्नाथ का दर्शन करना और श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के साथ उनका मिलन—इन सब लीलाओं को श्रीवृन्दावन दास ठाकुर ने उत्तम रूप से विस्तार पूर्वक अपने ग्रन्थ श्रीचैतन्यभागवत में वर्णन किया है। श्रीचैतन्य महाप्रभु की लीलाएँ स्वाभाविक रूप से विचित्र और मधुर हैं तथा जब उन लीलाओंको श्रीवृन्दावन दास ठाकुर ने वर्णन किया तो वे अमृत की धारा के समान सुशोभित होने लगी।

अमृतप्रवाह भाष्य

४। ए सकल लीला (ये सब लीलाएँ),—श्रीचैतन्य भागवत के अन्त्य खण्ड के द्वितीय और तृतीय अध्याय में द्रष्टव्य है।

पुनरुक्ति और दम्भ अथवा श्रौतपन्था के
विरोधके भय से ग्रन्थकार निवृत्त (मुक्त)—

अतएव ताहा वर्णिले हय पुनरुक्ति।
दम्भ करि' वर्णि यदि नाहि तैछे शक्ति॥६॥

६। प॰ अनु॰—अतएव उन लीलाओं का पुनः वर्णन करने से पुनरुक्ति (रूपी दोष) हो जायेगी और यदि ऐसा दम्भ करके (कि "मैं उनसे भी उत्तम रूप में उन लीलाओं का वर्णन करूँगा") वर्णन करने की शक्ति भी मुझमें नहीं है।

चैतन्यभागवत में विस्तृत रूप से जो वर्णन हुआ है,
उसका इस ग्रन्थ में संक्षेप में वर्णन और
चैतन्य-भागवत में जो संक्षेप में वर्णन हुआ है,
उसका इस ग्रन्थ में विस्तृत रूप से वर्णन—

चैतन्यमङ्गले जाहा करिल वर्णन।
सूत्ररूपे सेइ लीला करिये सूचन॥७॥
ताँर सूत्रे आछे, तेंह ना कैल वर्णन।
यथा-कथञ्चित करि' सेइ लीला-कथन॥८॥

७-८। प॰ अनु॰—श्रीवृन्दावन दास ठाकुर ने अपने ग्रन्थ श्रीचैतन्य मङ्गल (श्रीचैतन्यभागवत) में जिन लीलाओं का वर्णन किया है उन लीलाओं को मैं सूत्र रूप से वर्णन करूँगा और जिन लीलाओं को उन्होंने सूत्ररूप से वर्णन किया है किन्तु विस्तार पूर्वक नहीं, उन समस्त लीलाओं को मैं इस ग्रन्थ में अपने सामर्थ्यानुसार विस्तार से वर्णन करूँगा।

ग्रन्थकार का अतुलनीय
मानद-धर्म वृन्दावन दास
की वन्दना—

अतएव ताँर पाये करि नमस्कार।
ताँर पाय अपराध ना हउक आमार॥९॥

९। प॰ अनु॰—अतएव "मैं उनके (श्रीवृन्दावनदास ठाकुर) के श्रीचरणों में दीनतापूर्वक नमस्कार निवेदन करता हूँ, जिससे उनके श्रीचरणों में मेरा कोई अपराध न हो।"

श्रीनित्यानन्दादि चार भक्तों के
साथ प्रभु की पुरी के लिये यात्रा—

एइमत महाप्रभु चलिला नीलाचले।
चारिभक्त-सङ्गे कृष्णकीर्तन कुतूहले॥१०॥
भिक्षा लागि' एकदिन एक ग्राम गिया।
आपने अनेक अन्न आनिल मागिया॥११॥

१०-११। प० अनु०—इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने चार भक्तों के साथ नीलाचल की ओर प्रस्थान किया एवं वे आकुलता पूर्वक श्रीकृष्ण नाम का कीर्त्तन कर रहे थे। भिक्षा माँगने के उद्देश्य से एकदिन श्रीचैतन्य महाप्रभु एक ग्राम में गये तथा स्वयं ही बहुत सा अन्न माँगकर ले आये।

प्रभु की रेमुणा में उपस्थिति और गोपीनाथ का दर्शन—

पथे बड़ बड़ दानी विघ्न नाहि करे।
ता' सबारे कृपा करि' आइला रेमुणारे॥१२॥
रेमुणाते गोपीनाथ परम-मोहन।
भक्ति करि' कैल प्रभु ताँर दरशन॥१३॥
ताँर पादपद्म निकट प्रणाम करिते।
ताँर पुष्प-चूड़ा पड़िल प्रभुर माथाते॥१४॥

१२-१४। प० अनु०—नीलाचल के रास्ते में अनेक स्थानों पर बड़े बड़े दानी अर्थात् पथ से जाने का कर ग्रहण करने वाले व्यक्तियों ने भी श्रीचैतन्य महाप्रभु को बिना किसी बाधा के जाने दिया और श्रीमन् महाप्रभु ने उन सब पर कृपा की तथा अन्त में रेमुणा नामक ग्राम में आ गये। रेमुणा में आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने एकान्तिक भक्ति भाव से परम मनोहर श्रीगोपीनाथ का दर्शन किया। जिस समय श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीगोपीनाथजी के श्रीचरणकमलों के निकट प्रणाम किया, उसी समय श्रीगोपीनाथ के मस्तक से पुष्पों का बना चूड़ा (मुकुट) गिरकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के मस्तक पर जा पड़ा।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२। दानी,—घाट के माझि (शुल्क उगाही करने वाले)।

१३। रेमुणा—बालेश्वर के निकट (पाँच मील पश्चिम की ओर) रेमुणा नाम का एक गाँव है। वहाँ पर 'क्षीरचोरा गोपीनाथ' विराजमान है।

अनुभाष्य

१२। रेमुणा,—मध्य प्रथम परिच्छेद ९७ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य है। रेमुणा में 'गोपीनाथ' जी का विग्रह है एवं श्यामानन्द प्रभु के सेवक रसिकानन्द प्रभु की समाधि आज तक भी विद्यमान है।

प्रभु का नृत्य-कीर्त्तन और विग्रह के
सेवकों द्वारा प्रभु की पूजा—

चूड़ा पाञा महाप्रभुर आनन्दित मन।
बहु नृत्यगीत कैल लञा भक्तगण॥१५॥
प्रभुर प्रभाव देखि' प्रेमरूप-गुण।
विस्मित हइला गोपीनाथेर दासगण॥१६॥
नानारूपे प्रीत्ये कैल प्रभुर सेवन।
सेइ रात्रि ताँहा प्रभु करिला वञ्चन॥१७॥

१५-१७। प० अनु०—पुष्पों से बने मुकुट को पाकर श्रीचैतन्य महाप्रभु बहुत आनन्दित हुए तथा उन्होंने भक्तों के साथ मिलकर बहुत नृत्य-कीर्त्तन किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु के कृष्ण-प्रेम, उनके रूप और गुणों को देखकर श्रीगोपीनाथ के सेवकगण अत्यन्त विस्मित हुए। उन सेवकों ने प्रीतिपूर्वक अनेक प्रकार से श्रीचैतन्य महाप्रभु की सेवा की और उस रात श्रीमन् महाप्रभु ने गोपीनाथ मन्दिर में ही वास किया।

अनुभाष्य

१७। वञ्चन,—यापन (व्यतीत करना)।

गुरुमुख से सुने कृष्ण के भक्त-वात्सल्योद्दीपक
क्षीरप्रसाद के सम्मानार्थ प्रभु द्वारा अपेक्षा—

महाप्रसाद-क्षीर-लोभे रहिला प्रभु तथा।
पूर्वे ईश्वरपुरी ताँरे कहियाछेन कथा॥१८॥

१८। प० अनु०—क्षीर रूपी महाप्रसाद के लोभ से श्रीचैतन्य महाप्रभु वहीं रह गये क्योंकि एकबार उनके

गुरुदेव श्रील ईश्वरपुरी पाद ने अपने श्रीमुख से श्रीचैतन्य महाप्रभु को श्रीगोपीनाथजी के द्वारा श्रील माधवेन्द्र पुरी पाद के लिये खीर की चोरी के विषय में बतलाया था।

भक्तों के समक्ष श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा भक्त माधवेन्द्र पुरी के लिये गोपीनाथ का 'क्षीरचोरा' बनने के प्रसङ्ग का वर्णन—

'क्षीरचोरा गोपीनाथ' प्रसिद्ध ताँर नाम।
भक्तगणे कहे प्रभु सेइ त' आख्यान॥१९॥
पूर्वे माधवपुरी लागि' क्षीर कैल चूरि।
अतएव नाम हैल 'क्षीरचोरा हरि'॥२०॥
पूर्वे श्रीमाधव-पुरी आइला वृन्दावन।
भ्रमिते भ्रमिते गेला यथा गोवर्धन॥२१॥

१९-२१। प० अनु०—रेमुणा में विराजमान गोपीनाथ जी 'क्षीरचोरा गोपीनाथ' के नाम से क्यों प्रसिद्ध हैं, श्रीचैतन्य महाप्रभु ने गुरुमुख से सुने इस प्रसङ्ग का भक्तों के समक्ष वर्णन किया। पहले किसी समय श्रीगोपीनाथजी के इस श्रीविग्रह ने अपने भक्त श्रीमाधवेन्द्र पुरी के लिये खीर की चोरी की थी। इसलिये उनका नाम 'क्षीरचोर हरि' (गोपीनाथ) हो गया था। एक बार श्रीमाधवेन्द्र पुरी वृन्दावन गये थे और भ्रमण करते-करते वे गिरिराज गोवर्द्धन गये थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०। माधव पुरी,—माधवेन्द्र पुरी।

अनुक्षण कृष्ण प्रेम में प्रमत्त माधवेन्द्रपुरी—

प्रेमे मत्त,—नाहि ताँर रात्रिदिन-ज्ञान।
क्षणे उठे, क्षणे पड़े, नाहि स्थानास्थान॥२२॥
शैल परिक्रमा करि' गोविन्दकुण्डे आसि'।
स्नान करि' वृक्षतले आछे सन्ध्याय बसि'॥२३॥

२२-२३। प० अनु०—श्रीमाधवेन्द्र पुरी प्रेम में ऐसे विभोर रहते कि उनको दिन-रात का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता था, वे कभी तो उठकर खड़े हो जाते और कभी भूमि पर गिर पड़ते और भगवद्-प्रेम के कारण उन्हें स्थान-अस्थान का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता था। एक दिन गिरिराज श्रीगोवर्द्धन की परिक्रमा करने के उपरान्त श्रील माधवेन्द्र पुरी पाद ने गोविन्द कुण्ड में आकर स्नान किया तथा सन्ध्या के समय वे एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे।

अनुभाष्य

२३। शैल (पर्वत),—गोवर्द्धन पर्वत, मथुरा से ८ कोस दूर।

गोपबालक के वेश में कृष्ण के द्वारा अपने भक्त माधवेन्द्रपुरी को दुग्ध-दान—

गोप-बालक एक दुग्ध-भाण्ड लञा।
आसि' आगे धरि' किछु बलिल हासिया॥२४॥
पुरी, एइ दुग्ध लञा कर तुमि पान।
मागि' केने नाहि खाओ, किबा कर ध्यान॥२५॥
बालकेर सौन्दर्य पुरीर हइल सन्तोष।
ताहार मधुर-वाक्ये गेल भोग-शोष॥२६॥

२४-२६। प० अनु०—तभी एक गोपबालक ने आकर दूध से भरे हुए एक पात्र को उनके आगे रख दिया और मन्द-मन्द मुस्कराते हुए पुरी से कहा—"तुम इस दूध को लेकर पान करो। माँग कर कुछ खाते क्यों नहीं हो? क्या ध्यान करते हो।" उस बालक के सौन्दर्य को देखकर श्रीमाधवेन्द्र पुरी बहुत सन्तुष्ट हुये और उस बालक के मधुर वचनों को सुनकर उनकी भूख-प्यास स्वतः ही दूर हो गयी।

अमृतप्रवाह भाष्य

२६। भोग-शोष,—भोजन करने की वासना।

माधवेन्द्रपुरी के द्वारा बालक से उसका परिचय पूछना—

पुरी कहे,—के तुमि, काँहा तोमार वास।
केमते जानिले, आमि करि उपवास॥२७॥

२७। प० अनु०—बालक के मधुर वचनों को सुनकर श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने उससे पूछा—"तुम कौन हो? तुम कहाँ रहते हो? तुम कैसे जान गये कि मैंने उपवास किया है?

बालक के द्वारा आत्म-गोपन—

बालक कहे,—गोप आमि, एइ ग्रामे बसि।
आमार ग्रामेते केह ना रहे उपवासी॥२८॥
केह अन्न मागि' खाय, केह दुग्धाहार।
अयाचक-जने आमि दिये त' आहार॥२९॥
जल निते स्त्रीगण तोमारे देखि' गेल।
स्त्रीगण दुग्ध दिया आमारे पाठाइल॥३०॥
गोदोहन करिते चाहि, शीघ्र आमि जाब।
पुनः आसि' आमि एइ भाण्ड लइब॥३१॥

२८-३१। प० अनु—बालक ने उत्तर दिया—"मैं एक गोप हूँ। मैं इसी गाँव में ही रहता हूँ। मेरे इस गाँव में कोई भी उपवास (भूखा) नहीं रहता। यहाँ पर कोई तो अन्न माँगकर खा लेता है और कोई केवल दुग्ध माँगकर पान करता है और भिक्षा न माँगने वाले को मैं स्वयं ही आहार पहुँचा देता हूँ। कुछ स्त्रियाँ जल लेने के लिये इस कुण्ड पर आयी थीं वही तुम्हें देखकर गयी थी तथा अभी उन्होंने ही मुझे तुम्हारे लिये दूध देकर यहाँ भेजा है। अभी मुझे गाय-दोहने के लिये जल्दी जाना है। मैं फिर से आकर इस दूध के बर्त्तन को ले जाऊँगा।"

दुग्ध देकर बालक का अन्तर्ध्यान होना—

एत बलि' गेला बालक ना देखिये आर।
माधव-पुरीर चित्ते हइल चमत्कार॥३२॥

३२। प० अनु—इतना कहकर वे गोपबालक वहाँ से चला गया, वे फिर दिखायी नहीं दिया। ऐसे प्रतीत हुआ मानो अचानक अन्ध्यान हो गया हो। इसलिए श्रीमाधवेन्द्र पुरी पाद का चित्त चमत्कृत हो उठा अर्थात् एक अद्भुत अनुभूति से विस्मित-सा हो गया।

दुग्ध पान करने के बाद माधवेन्द्र पुरी की बालक के लिये प्रतीक्षा—

दुग्ध पान करि' भाण्ड धुञा राखिल।
बाट देखे, से बालक पुनः ना आइल॥३३॥

३३। प० अनु—तब श्रीमाधवेन्द्र पुरी पाद ने दूध पान करके उस बर्त्तन को धोकर रख दिया और उस बालक की बाट देखने लगे, परन्तु वे बालक फिर लौटकर नहीं आया।

अमृतप्रवाह भाष्य

३३। वाट,—पथ, उत्कल (उड़िया) भाषा का शब्द।

समाधि में बालक रूपी कृष्ण का दर्शन प्राप्त—

बसि' नाम लय पुरी, नाहि निद्रा हय।
शेष रात्रे तन्द्रा हैल,—बाह्यवृत्ति-लय॥३४॥

३४। प० अनु—व्याकुलता के कारण श्रीमाधवेन्द्र पुरी को नींद नहीं आयी, वे बैठकर नाम जप करने लगे। रात के अन्त में उन्हें कुछ तन्द्रा सी आ गयी और उनकी बाह्य चेतना लुप्त हो गयी।

अनुभाष्य

३४। नाम,—हरिनाम। बाह्यवृत्ति-लय,—भक्ति में समाहित (समाधिस्थ) हो गये।

स्वप्न में माधवेन्द्र पुरी को बालकरूपी कृष्ण के द्वारा एक कुञ्ज में लाना—

स्वप्न देखे, सेइ बालक सम्मुखे आसिञा।
एक कुञ्जे लञा गेल हातेते धरिञा॥३५॥

३५। प० अनु—स्वप्न में श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने देखा कि वही गोपबालक उनके सामने आया और उनका हाथ पकड़कर उन्हें एक कुञ्ज में ले गया।

सेवा में शिथिलता के कारण गिरिधारी के द्वारा दुःख प्रकट करना—

कुञ्ज देखाञा कहे,—आमि एइ कुञ्जे रइ।
शीत-वृष्टि-वाताग्निते महा-दुःख पाइ॥३६॥

३६। प० अनु—श्रीमाधवेन्द्र पुरी को कुञ्ज दिखाते हुए वे बालक कहने लगा—"मैं इस कुञ्ज में रहता हूँ और इसलिए बहुत अधिक सर्दी, वर्षा, गर्मी तथा आँधी-तुफान के कारण बहुत दुःख पाता हूँ।

गिरिराज के ऊपर एक मठ निर्माण करके
गिरिधारी गोपाल की प्रतिष्ठा करने का आदेश—

ग्रामेर लोक आनि' आमा काढ़' कुञ्ज हैते।
पर्वत-उपरि लञा राख भालमते॥३७॥
एक मठ करि' ताँहा करह स्थापन।
बहु शीतल जले कर श्रीअङ्ग मार्जन॥३८॥

३७-३८। प० अनु०—तुम गाँव के लोगों को लाकर मुझे इस कुञ्ज से निकालो और मुझे भलीभाँति गिरिराज के ऊपर स्थापित कर दो। उसी गिरिराज के ऊपर एक मन्दिर का निर्माण करके मुझे वहाँ स्थापित करो और फिर बहुत अधिक मात्रा में शीतल जल लाकर मेरे श्रीअङ्ग का मार्जन करो।

अमृतप्रवाह भाष्य

३७। काड़,—बाहर करो; मठ,—मन्दिर।

भक्त की प्रतीक्षा में भगवान—

बहुदिन तोमार पथ करि निरीक्षण।
कबे आसि' माधव आमा करिबे सेवन॥३९॥
तोमार प्रेमवशे करि' सेवा अङ्गीकार।
दर्शन दिया निस्तारिब सकल संसार॥४०॥

३९-४०। प० अनु०—मैं बहुत दिनों से तुम्हारी बाट जोह रहा था और मैं मन-ही-मन सोच रहा था कि कब माधवेन्द्र पुरी यहाँ आयेगा और मेरी सेवा करेगा। तुम्हारे प्रेम के वशीभूत होकर मैं तुम्हारी सेवा ग्रहण करूँगा और अपने दर्शन देकर संसार के समस्त लोगों का उद्धार करूँगा।

गिरिधारी के द्वारा अपना परिचय प्रदान—

'श्रीगोपाल' नाम मोर,—गोवर्धनधारी।
वज्रेर स्थापित, आमि इँहा अधिकारी॥४१॥
शैल-उपरि हैते आमा कुञ्जे लुकाञा।
म्लेच्छ-भये सेवक मोर गेल पलाञा॥४२॥
सेइ हैते रहि आमि एइ कुञ्ज-स्थाने।
भाल, आइला तुमि, आमा काढ़ सावधाने॥४३॥

४१-४३। प० अनु०—मेरा नाम श्रीगोपाल है और मैं गोवर्द्धन को धारण करने वाला हूँ। वज्रनाभ ने मुझे स्थापित किया था तथा मैं इस स्थान का अधिकारी हूँ अर्थात् इस स्थान पर मेरा अधिकार है। म्लेच्छों के भय से मेरे सेवक ने मुझे गिरिराज के ऊपर से लाकर इस कुञ्ज में छिपा दिया तथा वह स्वयं भय के कारण भाग गया। तभी से मैं इस कुञ्ज में रह रहा हूँ। अच्छा हुआ जो तुम आ गये, अब सावधानी से मुझे यहाँ से निकालो।

अमृतप्रवाह भाष्य

४१। वज्रेर स्थापित (वज्र के द्वारा स्थापित),—श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के पुत्र वज्र, जिन्हें पाण्डवों ने द्वारका से लाकर मथुरा का राजा बनाया था। वज्रनाभ ने कृष्ण की लीलाओं के सभी स्थानों का आविष्कार करके कुछेक श्रीमूर्त्तियों की स्थापना की। श्रीगोवर्द्धनधारी गोपाल उन्हीं मूर्त्तियों में से ही एक मूर्त्ति है।

गोपाल का अन्तर्ध्यान—

एत बलि', जेइ बालक अन्तर्धान हैल।
जागिया माधवपुरी विचार करिल॥४४॥

४४। प० अनु०—यह कहकर जैसे ही वे बालक वहाँ से अन्तर्धान हुआ, तभी श्रीमाधवेन्द्र पुरी जाग उठे तथा देखे गये विषय पर विचार करने लगे।

माधवेन्द्रपुरी का विचार—

श्रीकृष्णके देखिनु मुञि नारिनु चिनिते।
एत बलि, प्रेमावेशे पड़िला भूमिते॥४५॥

४५। प० अनु०—"श्रीकृष्ण को देखकर भी मैं उन्हें पहचान न सका।" ऐसा कहकर श्रीमाधवेन्द्र पुरी प्रेमाविष्ट होकर भूमि पर गिर पड़े।

गिरिधारी को प्रकट करने के लिये पुरी का यत्न—

क्षणेक रोदन करि' मन कैल स्थिर।
आज्ञा-पालन लागि' हइला सुस्थिर॥४६॥

४६। प० अनु०—तब कुछ समय तक श्रीमाधवेन्द्र

पुरी क्रन्दन करते रहे, बाद में मन में धैर्य धारण किया और श्रीगोपाल की आज्ञा का पालन करने के लिये सुस्थिर हो गये।

माधवेन्द्र पुरी का प्रेम-क्रन्दन—

प्रातः स्नान करि' पुरी ग्राममध्ये गेला।
सब लोक एकत्र करि' कहिते लागिला॥४७॥

४७। प० अनु०—प्रात:काल स्नान करने के पश्चात् श्रीमाधवेन्द्र पुरी गाँव में गये और सब लोगों को एकत्रित करके कहने लगे—

ग्रामवासियों को सहायता के लिये प्रेरित करना—

ग्रामेर ईश्वर तोमार—गोवर्धनधारी।
कुञ्जे आछे, चल, ताँरे बाहिर जे करि॥४८॥
कुठारि कोदाल लह द्वार करिते।
अत्यन्त निविड़ कुञ्ज,—नारि प्रवेशिते॥४९॥

४८-४९। प० अनु०—"तुम्हारे इस गाँव के ईश्वर, गोवर्द्धनधारी एक कुञ्ज में पड़े हुए हैं, चलो, हम वहाँ से उन्हें बाहर निकालें। वे कुञ्ज बहुत ही घना है, उसमें आसानी से प्रवेश नहीं किया जा सकता इसलिये उसे साफ करने के लिये अपने साथ कुल्हाड़ी और फावड़ा ले चलो।"

सभी ग्रामवासियों का मिलकर प्रयत्न—

शुनि' लोक ताँर सङ्गे चलिला हरिषे।
कुञ्ज काटि' द्वार करि' करिला प्रवेशे॥५०॥

५०। प० अनु०—श्रीमाधवेन्द्र पुरी की बात सुनकर सभी लोग अत्यधिक आनन्दित होकर उनके साथ चलने लगे और उन्हीं के निर्देशानुसार—कुञ्ज के वृक्ष, झाँड़ियों इत्यादि को काटकर रास्ता बनाकर उसमें प्रवेश कर गये।

सभी को छिपे हुए गिरिधारी का दर्शन और आनन्द—

ठाकुर देखिल माटी-तुणे आच्छादित।
देखि' सब लोक हैल आनन्दे विस्मित॥५१॥

५१। प० अनु०—जब उन्होंने देखा कि ठाकुर जी मिट्टी और तिनकों से ढ़के हुए हैं, तब वे आनन्द और विस्मय से भर गये।

विग्रह का अत्यधिक भार—

आवरण दूर करि' करिल चिह्निते।
महा-भारि ठाकुर—केह नारे चालाइते॥५२॥
महा-महा-बलिष्ठ लोक एकत्र करिञा।
पर्वत-उपरि गेल पुरी ठाकुर लञा॥५३॥

५२-५३। प० अनु०—मिटट्‌ी आदि के आवरण को हटाने के बाद उन्होंने देखा कि यह विग्रह तो बहुत अधिक भारी है, तथा कोई भी उसे हिला तक नहीं पा रहा है। तब महान् महान् बलिष्ट लोगों को एकत्रित करके श्रीमाधवेन्द्र पुरी उस विग्रह को पर्वत के ऊपर ले गये।

पर्वत के ऊपर विग्रह का अभिषेक आरम्भ—

पाथरेर सिंहासने ठाकुर बसाइल।
बड़ एक पाथर पृष्ठे अवलम्ब दिल॥५४॥

५४। प० अनु०—श्रीविग्रह को एक पत्थर के सिंहासन पर बैठाया गया और विग्रह को सहारा देने के लिये पीछे एक बड़ा पत्थर लगाया गया।

नैवेद्य और पूजा के उपकरण—

ग्रामेर ब्राह्मण सब नवघट लञा।
गोविन्द-कुण्डेर जल आनिल छानिञा॥५५॥
नवशतघट जल कैल उपनीत।
नाना वाद्य-भेरी बाजे, स्त्रीगणे गाय गीत॥५६॥
केह गाय, केह नाचे, महोत्सव हैल।
दधि, दुग्ध, घृत आइल ग्रामे जत छिल॥५७॥
भोग-सामग्री आइल सन्देशादि जत।
नाना उपहार, ताहा कहिते पारि कत॥५८॥
तुलसी आदि, पुष्प, वस्त्र आइल अनेक।
आपने माधवपुरी कैल अभिषेक॥५९॥
अङ्गमला दूर करि' कराइल स्नान।
बहु तैल दिया कैल श्रीअङ्ग चिक्कण॥६०॥

पञ्चगव्य, पञ्चामृते स्नान कराञा।
महास्नान कराइल शत घट दिञा॥६१॥
पुनः तैल दिया कैल श्रीअङ्ग चिक्कण।
शंख-गन्धोदके कैल स्नान समाधान॥६२॥
श्रीअङ्ग मार्जन करि' वस्त्र पराइल।
चन्दन, तुलसी, पुष्प-माला अङ्गे दिल॥६३॥

५५-६३। प० अनु—गाँव के समस्त ब्राह्मण नये-नये घड़ों में गोविन्द कुण्ड के जल को छान कर ले आये। इस प्रकार जब एक सौ नये घड़े जल आ गया तब अनेक प्रकार के भेरी आदि वाद्य यन्त्र बजने लगे और स्त्रियाँ मधुर स्वर से गीत गाने लगीं। कोई गीत गा रहा था तो कोई नाच रहा था। इस प्रकार वहाँ एक महोत्सव होने लगा। गाँव में जितना भी दही, दूध तथा घी था, सब वहीं लाया गया, भोग सामग्री के लिये जितने प्रकार के सन्देशादि मिष्ठान्न और उपहार लाये गये उनमें से मैं कितनों के नाम बतला सकता हूँ। गाँव के लोग तुलसी, पुष्प और अनेक प्रकार के वस्त्र ले गये और स्वयं श्रीमाधव पुरी ने श्रीगोपाल विग्रह का अभिषेक किया। श्रीविग्रह के ऊपर चढ़े मैल को दूर करने के बाद श्रीविग्रह को स्नान कराना आरम्भ किया। सबसे पहले बहुत मात्रा में तेल लगाकर विग्रह के श्रीअङ्गों को चमकाया। तब पञ्चगव्य (दूध, दही, घी, गोरोचना और गोमय) और पञ्चामृत (दधि, दूध, घी, शहद और चीनी) से स्नान कराके सौ घड़ों के जल द्वारा महास्नान कराया। महास्नान के बाद फिर से तेल देकर श्रीविग्रह के अङ्ग को चमकाया गया तथा शंख में सुगन्धित जल भरकर स्नान कराया गया। ठाकुर जी के श्रीअङ्ग को पोंछकर श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने उन्हें वस्त्र पहनाये तथा श्रीअङ्ग में चन्दन, तुलसी और पुष्प माला आदि अर्पण की।

अमृतप्रवाह भाष्य

६१। पञ्चगव्य,—दूध, दही, घी, गोमूत्र एवं गोबर; पञ्चामृत,—दही, दूध, घी, शहद एवं चीनी।

६२। शङ्ख-गन्धोदक,—शङ्खोदक अर्थात् शंख में रखा हुआ जल; गन्धोदक अर्थात् पुष्प चन्दन मिश्रित सुगन्धित जल।

अनुभाष्य

५९। हः भः विः षष्ठ विभाग ३०—"ततः शङ्खना-भिषेकं कुर्याद् घन्टादिनिःस्वनैः। मूलेनाष्टाक्षरेणपि धूप-यन्नन्तरान्तरा॥

६०। यवचूर्ण (जौ से बना चूर्ण), गोधूमचूर्ण (गेहूँ का चूर्ण), लोध्रचूर्ण, कुंकुमचूर्ण, मसूरचूर्ण अर्थात् माषचूर्ण द्वारा साफ करना। चने की दाल और हल्दी के चूर्ण (पाउडर) अर्थात् बेसन और हल्दी के उबटन द्वारा एवं उषीर (बेनामूल) आदि से तैयार, गाय की पूछ के बालों द्वारा बनी हुई कूची आदि से अङ्गों की मैल दूर होती है। यही हरिभक्तिविलास—"तत्र तु प्रथमं भक्त्या विदधीत सुगन्धिभिः। दिव्यैस्तेलादिभिद्रव्यैरभ्यङ्गं श्रीहरेः शनैः॥" अभ्यङ्गद्रव्यानि—"मालतीयूथिमादाय सुगन्धानास्तु वा पुनः। तथान्यपुष्पजातीनां गृहीत्वा भक्तितो नराः॥ यः पुनः पुष्पतैलेन दिव्योषधियुतेन हि। अभ्यङ्गं कुरुते विष्णोर्मध्ये क्षिप्त्वा तु कुंकुमम्। गन्ध-तैलानि दिव्यानि सुगन्धीनि शुचीनि च॥"

६१। हः भः विः षष्ठ विः—"ततः शङ्खभूतेनैव क्षीरेण स्नापयेत् क्रमात। दध्ना धृतेन मधुना खण्डेन च पृथक् पृथक्॥"

महास्नान—हः भः विः षष्ठ विः—"द्वे सहस्त्रे पलानान्तु महास्नाने च संख्यया।" देव प्रतिमा को घी से स्नान कराना होता है। महास्नान में घी और स्नान जल,—प्रत्येक का परिमाण दो हजार पल होता है। चार तोले में पल होने से महास्नान में आढ़ाई मन जल चाहिए।

६२। हः भः विः षष्ठ विः ५०—"ततः कोष्णेन संस्नाप्य संस्कृतेन सुगन्धिना। शीतलेनाम्बुना शङ्खभृतेन स्थापयेत् पुनः॥ चन्दनोषीर—कर्पूर-कुंकुमागुरुवासितैः। सलिलैः स्नापयेत् मन्त्री नित्यदा विभवे सती॥" जल का परिमाण—"स्नाने पलशतं देयं अभ्यङ्गे पञ्चविंशतिः। पलानां द्वे सहस्त्रे तु महास्नानं प्रकीर्तितम्॥"

भोग आरति—

धूप, दीप, करि' नाना भोग लागाइल।
दधि-दुग्ध-सन्देशादि जत किछु आइल॥६४॥
सुवासित जल नवपात्रे समर्पिल।
आचमन दिया से ताम्बूल निवेदिल॥६५॥
आरात्रिक करि' कैल बहुत स्तवन।
दण्डवत् करि' कैल आत्म-समर्पण॥६६॥

६४-६६। प० अनु०—शृङ्गार करने के बाद श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने धूप, दीप जलाये तथा—दही, दूध और जितने प्रकार की सन्देशादि भोग सामग्री थी, उन्होंने सब कुछ का भोग लगाया। उसके बाद नये पात्र में सुगन्धित जल को अर्पित किया तथा भोग लगने के बाद मुख धोने के लिये आचमन कराया तथा अन्त में ताम्बूल निवेदन किया। फिर आरती करने के बाद श्रीगोपाल की अनेक प्रकार की स्तव-स्तुति की और प्रभु के समक्ष दण्डवत् प्रणाम करके आत्म समर्पण किया।

पके हुए अन्न का भोग लगाना—अन्नकूट—

ग्रामेर जतेक तण्डुल, दालि, गोधूम-चूर्ण।
सकल आनिया दिल पर्वत हैल पूर्ण॥६७॥
कुम्भकार घरे छिल ये मृद्भाजन।
सब आनाइल प्राते, चड़िल रन्धन॥६८॥

६७-६८। प० अनु०—गाँव के लोगों के घर में जितना भी चावल, दाल एवं आटा आदि था, वे पूरा का पूरा उठाकर वहाँ ले आये, जिससे पर्वत पूरा भर गया। गाँव के कुम्हारों के घर में जितने भी मिटट्ी के बर्त्तन थे उन सभी बर्त्तनों को भी ले आये, तथा प्रात:काल से ही रसोई बननी शुरू हो गयी।

अनेक प्रकार की रसोई की वस्तुएँ—

दशविप्र अन्न रान्धि' करे एक स्तूप।
जना-पाँच रान्धे व्यञ्जनादि नाना सूप॥६९॥
वन्य शाक-फल-मूले विविध व्यञ्जन।
केह बड़ा-बड़ि-कडि करे विप्रगण॥७०॥
जना पाँच-सात रूटि करे राशि-राशि।
अन्न-व्यञ्जन सब रहे घृते भासि'॥७१॥
नववस्त्र पाति' ताहे पलाशेर पात।
रान्धि' रान्धि' तार ऊपर राशि कैल भात॥७२॥
तार पाशे रुटि-राशिर पर्वत हइल।
सूप-आदि-व्यञ्जन-भाण्ड चौदिके धरिल॥७३॥
तार पाशे दधि, दुग्ध, माठा, शिखरिणी।
पायस, मथनि, सर पाशे धरि' आनि'॥७४॥

६९-७४। प० अनु०—दस ब्राह्मणों ने मिलकर चावल और पाँच ब्राह्मण मिलकर दाल, रसा आदि अनेक प्रकार के व्यञ्जनादि बनाने लगे। वन के शाक, फल और फूल के द्वारा अनेक प्रकार के व्यञ्जन बनने लगे, कोई बड़ा, कोई बड़ि और कोई कढ़ी आदि बनाने लगा। पाँच-सात लोग मिलकर रोटी का पहाड़ तैयार करने लगे अर्थात् बहुत परिमाण में रोटी बनाने लगे तथा अन्न-व्यञ्जन इत्यादि में इतना घी डाला गया था कि जिसे देखकर लगता था, मानों वे सब घी में तैर रहे थे। एक नये वस्त्र को बिछाकर उस पर पलाश के पत्ते रखे गये और ढ़ेर के ढ़ेर चावल रसोई करके पर्वत के आकार में उनके ऊपर रखे गये। उसके पास ही अनेक प्रकार की रोटी आदि ढ़ेर से पर्वत सा हो गया तथा उसके चारो ओर दालादि व्यञ्जन के पात्र भरकर रखे गये। उनके निकट दही, दूध, मठ्ठा, शिखरिणी, खीर, मथनी और सर आदि के पात्रों को भी रखा गया।

अमृतप्रवाह भाष्य

७४। माठा,—घोल (मठ्ठा); शिखरिणी,—दही, दूध, चीनी, कर्पूर एवं मिर्च (काली मिर्च), ये पाँच वस्तुएँ मिलाने से 'शिखरिणी' बनती है; मथनि,—माखन और हेयङ्गव (मलाई से निकाला गया माखन)।

अनुभाष्य

६९-७५। यहाँ पर भी ग्रन्थकार श्रील कविराज गोस्वामी प्रभु का विविध प्रकार के पकवान बनाने का नैपुण्य प्रकाशित हो रहा है।

स्वयं पुरी-गोसोईं के द्वारा भोग-निवेदन—

हेनमते अन्नकूट करिल साजन।
पुरी-गोसाञि गोपालेरे कैल समर्पण॥७५॥
अनेक घट भरि' दिल सुवासित जल।
बहुदिनेर क्षुधाय गोपाल खाइल सकल॥७६॥

७५-७६। प० अनु०—इस प्रकार अन्नकूट को सजाकर और अनेक घड़ों में सुगन्धित जल को भरकर श्रीपुरी गोसाञि ने श्रीगोपाल को अर्पण किया। अनेक दिनों से भूखे होने के कारण श्रीगोपाल ने भी सब कुछ खा लिया।

अनुभाष्य

७५। अन्नकूट,—अन्न का पर्वत। कूट,—दुर्ग, गड़, पर्वत।

गोपाल के द्वारा भोग के सभी नैवेद्य खा लिये जाने पर भी हाथों के स्पर्श द्वारा पुनः पूर्ण—

यद्यपि गोपाल सब अन्न-व्यञ्जन खाइल।
ताँर हस्त-स्पर्शे पुनः तेमनि हइल॥७७॥

७७। प० अनु०—यद्यपि श्रीगोपाल ने सब अन्न-व्यञ्जन खा लिये परन्तु उनके हाथों के स्पर्श से पुनः सब कुछ जैसा था, वैसे-का-वैसे ही हो गया।

भगवद लीला भक्तों के ही गोचर—

इहा अनुभव कैल माधव-गोसाञि।
ताँर ठाञि गोपालेर लुकान किछु नाइ॥७८॥
एकदिनेर उद्योगे ऐछे महोत्सव कैल।
गोपाल-प्रभावे हय, अन्ये ना जानिल॥७९॥

७८-७९। प० अनु०—श्रीगोपाल की इस भोजन लीला का रहस्य केवल श्रीमाधव पुरी को ही अनुभव हुआ क्योंकि उनके जैसे भक्तों के समक्ष श्रीगोपाल का कोई भी रहस्य छिपा हुआ नहीं है। एक ही दिन के परिश्रम से इतना बड़ा महोत्सव केवल श्रीगोपाल के प्रभाव से ही सम्भव पर हो सका, भक्त के अतिरिक्त इसे और कोई भी नहीं जान पाया।

अनुभाष्य

७८। आदि, तृतीय परिच्छेद ८६-८९ संख्या द्रष्टव्य।

गोपाल की आरति—

आचमन दिया दिल बिड़क-सञ्चय।
आरति करिल लोके करे जय जय॥८०॥

८०। प० अनु०—तब श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने श्रीगोपाल का मुख धुलाने के लिये आचमन दिया एवं उसके बाद उन्हें पान अर्पित किया और आरती सम्पन्न की, जिसमें सभी लोग जय-जय कार करने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

८०। विड़क्—पान का बीड़ा; सञ्चय,—संग्रह।

ठाकुर के लिये शय्या तथा शयन की व्यवस्था—

शय्या कराइल, नूतन खाट आनाञा।
नववस्त्र आनि' तार उपरे पातिया॥८१॥
तृण-टाटि दिया चारिदिक् आवरिल।
उपरेते एक टाटि दिया आच्छादिल॥८२॥

८१-८२। प० अनु०—आरती करने के बाद श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने श्रीगोपाल के लिये एक नया पलङ्ग मँगवाया, जिस पर नया वस्त्र (चादर) बिछाकर उनको शयन कराया। चटाई के माध्यम से उस स्थान को चारों ओर से घेर दिया तथा ऊपर भी एक चटाई देकर उसको ढ़क दिया।

सभी के द्वारा अन्नकूट महाप्रसाद का सेवन—

पुरी-गोसाञि आज्ञा दिल सकल ब्राह्मणे।
आ-बाल-वृद्ध ग्रामेर लोक कराह भोजने॥८३॥
सबे वसि' क्रमे क्रमे भोजन करिल।
ब्राह्मण-ब्राह्मणीगणे आगे खाओयाइल॥८४॥

८३-८४। प० अनु०—श्रीपुरी गोसाञि ने सभी ब्राह्मणों को आज्ञा दी कि वे बालक-वृद्ध नर-नारी आदि गाँव के सभी लोगों को महाप्रसाद का भोजन करायें।

सभी ने बैठकर क्रम से भोजन किया। सबसे पहले ब्राह्मण-ब्राह्मणियों को भोजन कराया गया।

दर्शन मात्र से ही प्रसाद का सम्मान—

अन्य ग्रामेर लोक जत देखिते आइल।
गोपाल देखिया सेह प्रसाद पाइल॥८५॥

८५। प॰ अनु॰—केवल उसी गाँव के लोगों ने नहीं, बल्कि दूसरे-दूसरे गाँव के लोग भी, जो श्रीगोपाल का दर्शन करने आये थे उन्होंने भी श्रीगोपाल का दर्शनकर प्रसाद पाया।

माधवेन्द्र पुरी के प्रभाव के दर्शन से सभी को आश्चर्य तथा अन्नकूट के दर्शन से नन्दोत्सव का स्मरण—

देखिया पुरीर प्रभाव लोके चमत्कार।
पूर्व अन्नकूट जेन हैल साक्षात्कार॥८६॥

८६। प॰ अनु॰—श्रीमाधवेन्द्र पुरी के प्रभाव को देख सभी लोग चमत्कृत हो उठे। इस अन्नकूट महोत्सव को देखकर उन्हें ऐसा लगा, मानो वे द्वापर युग में भगवान् श्रीकृष्ण के कहने पर व्रजवासियों द्वारा आयोजित किये गये अन्नकूट महोत्सव को ही देख रहे हो।

अमृतप्रवाह भाष्य

८६। द्वापुर युग में व्रजवासी सभी गोप इन्द्र की पूजा करते थे। श्रीकृष्ण ने इन्द्र की पूजा को छुड़वाकर गिरि-गोवर्द्धन की पूजा और उन्हें (गिरिराज को) अन्नकूट भोजन कराने की व्यवस्था कर दी। उससे इन्द्र ने क्रोधित होकर सात दिन तक वर्षा करके गोकुल को विनष्ट करने की चेष्टा की। श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत को अपनी कनिष्ठ (सबसे छोटी, चीची) अंगुली पर छतरी के रूप में धारण करके गोकुल की रक्षा की। उस गोवर्द्धन पूजा में जैसा बहुत बड़ा अन्नकूट हुआ था, माधवेन्द्र पुरी ने भी उसी प्रकार से अन्नकूट किया था।

अनुभाष्य

८६। पूर्व अन्नकूट (अर्थात् पहले किया गया अन्न-कूट),—श्रीकृष्ण के परामर्श अनुसार गोपों ने द्वापुर के अन्त में इन्द्रपूजा को त्यागकर गो, ब्राह्मण और गिरिराज की पूजा की थी। श्रीकृष्ण ने और एक रूप धारण करके 'मैं ही पर्वत हूँ' ऐसा कहकर उन्होंने पर्वत को निवेदित अनेकानेक नैवेद्यों का भक्षण किया था। (भा. १०/२४/२६, ३१-३३)—'पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पयसादयः। संयावा-पूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम्॥ पोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साधवगृह्णन्ते तद्वचः। तथा च व्यदधुः सर्वं यदाह मधुसूदनः॥ वाचयिता स्वस्त्य-यनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान्॥ उपहृय बलीन् सम्यगादृता यवसं गवाम्॥"

माधवेन्द्र पुरी की कृपा से ब्राह्मणों का वैष्णव होना—

सकल ब्राह्मणे पुरी वैष्णव करिल।
सेइ सेइ सेवा-मध्ये सबा नियोजिल॥८७॥

८७। प॰ अनु॰—श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने सभी ब्राह्मणों को (वैदिक रीति अनुसार मन्त्र दीक्षा आदि के द्वारा) वैष्णव में परिणत कर दिया और सबको यथायोग्य सेवा में लगा दिया।

सन्ध्या के समय ठाकुर को उठाकर शीतल भोग प्रदान—

पुनः दिन-शेषे प्रभुर कराइल उत्थान।
किछु भोग लागाइल कराइल जलपान॥८८॥

८८। प॰ अनु॰—फिर दिन के अन्त में अर्थात् लगभग शाम ४:३०-५:०० बजे श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने श्रीगोपाल को शयन से उठाया और कुछ भोग लगाकर जल पान करवाया।

सर्वत्र गोपाल के प्राकट्य का प्रचार और अन्नकूट भोग—

गोपाल प्रकट हैल,—देशे शब्द हैल।
आश-पाश-ग्रामेर लोक देखिते आइल॥८९॥
एकेक दिन एकेक ग्रामे लइल मागिञा।
अन्नकूट करे सबे हरषित हञा॥९०॥

८९-९०। प॰ अनु॰—श्रीगोपाल के प्रकट होने का संवाद जब चारों ओर पहुँचने लगा, तो चारों ओर से आस-पास के गाँव के लोग उनके दर्शनों के लिये आने

लगे। एक-एक दिन एक-एक गाँव वालों ने अन्नकूट महोत्सव करने के लिये श्रीमाधवेन्द्र पुरी से आज्ञा माँग ली और इस प्रकार वे सभी आनन्दित होकर बारी-बारी अन्नकूट-महोत्सव करने लगे।

पुरी गोसाईं का
रात्रि-आहार—

रात्रिकाले ठाकुरेरे कराइया शयन।
पुरी गोसाञि कैल किछु गव्य भोजन॥९१॥

९१। प० अनु०—श्रील माधवेन्द्रपुरी पाद ने सारा दिन कुछ भी नहीं खाया, रात्रि के समय श्रीगोपाल को शयन देने के बाद उन्होंने थोड़ा-सा गव्य अर्थात् दूध भोजन के रूप में ग्रहण किया।

अनुभाष्य

९१। गव्य,—दूध।

अगले दिन प्रातःकाल भी
पहले दिनों के अनुसार सेवा—

प्रातःकाले पुनः तैछे करिल सेवन।
अन्न लञा एकग्रामेर आइल लोकगण॥९२॥
अन्न, घृत, दधि, दुग्ध,—ग्रामे जत छिल।
गोपालेर आगे लोक आनिञा धरिल॥९३॥
पूर्वदिन-प्राय ब्राह्मण करिल रन्धन।
तैछे अन्नकूट गोपाल करिल भोजन॥९४॥

९२-९४। प० अनु०—अगले दिन प्रातःकाल पुनः श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने श्रीगोपाल की उसी प्रकार सेवा की और इतने में ही एक गाँव के लोग भोग-साम्रगी लेकर आ गये। उनके गाँव में जितना भी अन्न, घी, दही, दूध आदि था, उस सबको लाकर उन्होंने श्रीगोपाल के आगे रख दिया। पहले दिन की भाँति आज भी ब्राह्मणों ने ही रसोई की और उसी प्रकार का ही अन्नकूट महोत्सव किया गया तथा पिछले दिन की भाँति आज भी श्रीगोपाल ने सबकुछ ग्रहण किया।

व्रजवासी और कृष्ण, दोनों की
दोनों के प्रति स्वाभाविक प्रीति—

व्रजवासी लोकेर कृष्णे सहज-प्रीति।
गोपालेर सहज-प्रीति व्रजवासी-प्रति॥९५॥

९५। प० अनु०—जिस प्रकार व्रजवासियों की श्रीकृष्ण में स्वाभाविक प्रीति है उसी प्रकार श्रीगोपाल की भी व्रजवासियों के प्रति स्वाभाविक प्रीति है।

सभी के द्वारा
महाप्रसाद का सेवन—

महाप्रसाद खाइल आसिया सब लोक।
गोपाल देखिया सबार खण्डे दुःख-शोक॥९६॥

९६। प० अनु०—अन्नकूट महोत्सव का अनुष्ठान करने वाले तथा अन्यान्य जितने भी व्यक्ति श्रीगोपालजी का दर्शन करने आये थे, उन सबने अन्नकूट- महाप्रसाद का सेवन किया तथा श्रीगोपाल के दर्शन से उन सबके दुःख-शोक दूर हो गये।

प्रतिदिन महोत्सव—

आश-पाश व्रजभूमेर जत लोक सब।
एक एक दिन सबे करे महोत्सव॥९७॥

९७। प० अनु०—व्रजभूमि के आस-पास के जितने भी गाँव हैं जैसे-जैसे सबके पास श्रीगोपाल के प्राकट्य और अन्नकूट महोत्सव का संवाद पहुँचा, उन सभी गाँवों के लोग—एक-एक दिन आकर अन्नकूट महोत्सव करने लगे।

नाना स्थानों से उपहार—

गोपाल-प्रकट शुनि' नाना देश हैते।
नाना द्रव्य लञा लोक लागिल आसिते॥९८॥

९८। प० अनु०—केवल आस-पास के गाँवों से ही नहीं, बल्कि श्रीगोपाल के प्राक्टय की बात सुनकर अनेक स्थानों से अनेक लोग अनेक प्रकार के द्रव्य लाने लगे।

मथुरा के धनी लोगों द्वारा उपहार—

मथुरार लोक सब बड़ बड़ धनी।
भक्ति करि' नाना द्रव्य भेट देय आनि'॥९९॥

९९। प० अनु०—मथुरा के सभी बड़े-बड़े धनी व्यक्ति भी श्रद्धापूर्वक अनेक द्रव्य लाकर भेंट चढ़ाने लगे।

बहुत से द्रव्यों का उपहार—

स्वर्ण, रौप्य, वस्त्र, गन्ध, भक्ष्य-उपहार।
असंख्य आइसे, नित्य बाड़िल भाण्डार॥१००॥

१००। प० अनु०—इस प्रकार असंख्य मात्रा में स्वर्ण, चाँदी, वस्त्र, गन्ध-द्रव्य और अन्य खाने की सामग्री आने लगी, जिससे श्रीगोपाल का भण्डार प्रतिदिन बढ़ता ही गया।

गोपाल के मन्दिर का निर्माण—

एक महाधनी क्षत्रिय कराइल मन्दिर।
केह पाक-भाण्डार कैल, केह त' प्राचीर॥१०१॥

१०१। प० अनु०—तब किसी एक बहुत धनी क्षत्रिय ने श्रीगोपाल के लिये मन्दिर बनवा दिया और किसी एक ने रसोई घर तथा अन्य किसी ने चारों ओर दीवार बनवा दी।

गोपाल की बहुत-सी गैयाएँ—

एक एक व्रजवासी एक एक गाभी दिल।
दश सहस्त्र गाभी गोपालेर हैल॥१०२॥

१०२। प० अनु०—एक-एक व्रजवासी ने एक-एक गाँय दी और इस प्रकार श्रीगोपाल की दस हजार गाँय हो गयीं।

दो वैरागी ब्राह्मणों पर कृपा और सेवा-समर्पण—

गौड़ हइते आइला दुइ वैरागी ब्राह्मण।
पुरी-गोसाञि राखिल तारे करिया यतन॥१०३॥
सेइ दुइ शिष्य करि' सेवा समर्पिल।
राज-सेवा हय,—पुरीर आनन्द बाड़िल॥१०४॥

१०३-१०४। प० अनु०—दैववश गौड़देश (बङ्गाल) से दो वैरागी ब्राह्मण वहाँ आ पहुँचे। श्रीपुरी गोसाञि ने उन्हें बड़े यत्न से वहीं रखा। इन दोनों ब्राह्मणों को श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने दीक्षा प्रदान करके अपने शिष्य के रूप में स्वीकार किया और उन्हें श्रीगोपाल की सेवा समर्पित कर दी। इस प्रकार श्रीगोपाल की नित्य राज सेवा होने लगी, जिसे देखकर श्रीमाधवेन्द्र पुरी के आनन्द की सीमा न रही।

दो वर्षों तक श्रीमाधवेन्द्र पुरी
के द्वारा गोपाल की सेवा—

एइमत वत्सर दुइ करिल सेवन।
एकदिन पुरी-गोसाञि देखिल स्वपन॥१०५॥

१०५। प० अनु०—इस प्रकार दो वर्षों तक श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने श्रीगोपाल की सेवा की। तब एक दिन श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने एक स्वप्न देखा।

स्वप्न में माधवेन्द्रपुरी के
समक्ष गोपाल के द्वारा
चन्दन की इच्छा प्रकाशित—

गोपाल कहे,—पुरी आमार ताप नाहि जाय।
मलयज-चन्दन लेप', तबे से जुड़ाय॥१०६॥
मलयज आन, याञा नीलाचल हैते।
अन्ये हैते नहे, तुमि चलह त्वरिते॥१०७॥
स्वप्न देखि' पुरी-गोसाञिर हैल प्रेमावेश।
प्रभु-आज्ञा पालिवारे गेला पूर्वदेश॥१०८॥

१०६-१०८। प० अनु०—स्वप्न में श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने देखा कि श्रीगोपाल उनसे कह रहे हैं—"पुरी! मेरे शरीर का ताप नहीं जा रहा है, मलयज चन्दन के लेप से ही वह दूर होगा। नीलाचल श्रीजगन्नाथ पुरी जाकर वहाँ से मलयज चन्दन ले आओ। अतएव तुम शीघ्र ही चले जाओ क्योंकि यह काम और किसी के द्वारा सम्भव पर नहीं है, स्वप्न देखकर श्रीमाधवेन्द्र पुरी प्रेम में आविष्ट हो गये और प्रभु की आज्ञा पालन करने के लिये पूर्व भारत अर्थात् नीलाचल की ओर चल दिये।

अनुभाष्य

१०६। मलयज,—मलय देश में उत्पन्न; इसको 'चन्दनगिरि' कहते हैं। मलयदेश अथवा मालावार देश 'पश्चिम घाट' नामक गिरिपुञ्ज के दक्षिण भाग में है। 'नीलगिरि' को कोई-कोई मलय पर्वत कहते हैं। मलयज शब्द का अर्थ चन्दन भी होता है।

श्रीजगन्नाथ पुरी के मार्ग में पुरीपाद का गौड़देश में आगमन—

सेवाय नियुक्त लोक करिल स्थापन।
आज्ञा मागि' गौड़-देशे करिल गमन॥१०९॥

१०९। प॰ अनु॰—श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने श्रीगोपाल की सुष्ठु सेवा के लिये लोगों को नियुक्त कर दिया और फिर श्रीगोपाल से आज्ञा प्राप्त कर गौड़देश के लिये चल दिये।

शान्तिपुर में अद्वैत के घर पर आगमन
और अद्वैत को दीक्षा प्रदान—

शान्तिपुर आइला अद्वैताचार्येर घरे।
पुरीर प्रेम देखि' आचार्य आनन्द अन्तरे॥११०॥

११०। प॰ अनु॰—नीलाचल के रास्ते चलते हुए श्रीमाधवेन्द्र पुरी जब शान्तिपुर पहुँचे तो वे श्रीअद्वैताचार्य के घर आये। श्रीअद्वैताचार्य श्रीमाधवेन्द्र पुरी के कृष्ण प्रेम को देखकर अत्यन्त आनन्दित हुये।

शान्तिपुर से श्रीजगन्नाथ की ओर यात्रा—

ताँर ठाञि मन्त्र लैल यत्न करिञा।
चलिला दक्षिणे पुरी ताँरे दीक्षा दिञा॥१११॥

१११। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ने श्रीमाधवेन्द्र पुरी से बहुत यत्नपूर्वक अर्थात् दीनतापूर्वक प्रार्थना करके मन्त्र ग्रहण किया। श्रीअद्वैताचार्य को दीक्षा प्रदान करने के बाद श्रीमाधवेन्द्र पुरी स्वयं गौड़देश के दक्षिण दिशा में स्थित नीलाचल की ओर चले गये।

अनुभाष्य

१११। श्रीमाधव सम्प्रदाय के गुरु यतिराज श्रीमाधवेन्द्र पुरी से श्रीअद्वैत प्रभु ने दीक्षा मन्त्र ग्रहण किया था। श्रीमहाप्रभु ने भी श्रीमाधवेन्द्र पुरी के अभिप्राय के अनुसार "किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय। जेई कृष्णतत्त्ववे त्ता सेई गुरु हय॥"—उपदेश दिया है। पञ्चरात्र के अनुसार,—गृहस्थ ब्राह्मण के अतिरिक्त दीक्षा देने का अधिकार और किसी को नहीं है, क्योंकि दीक्षित व्यक्ति दीक्षा प्राप्त करके दैक्ष-ब्राह्मणता प्राप्त करता है। अतएव अब्राह्मण में दूसरे में ब्रह्मण्य सञ्चार करने की क्षमता नहीं होती, इसलिये ब्राह्मणत्व स्वतः ही दीक्षा देने वाले का प्रयोजनीय गुण-विशेष और वैष्णवाचार्यत्व में अनुस्यूत अर्थात् ग्रथित है। वर्णाश्रम में रहने वाले गृहस्थ व्यक्ति अपने द्वारा अर्जित शुक्ल वित्त द्वारा अनेक प्रकार की सेवा योग्य वस्तुओं को संग्रह करके मन्त्र द्वारा भगवद् अर्चन करने में समर्थ हैं। वैसे अभिज्ञ गृहस्थ गुरु से प्राकृत-चेष्टा-परायण शिष्य यह जानकर कि भगवद् सेवा ही वर्णाश्रम का एकमात्र लक्ष्य है—वह अपनी गृहवासना से मुक्त होने के लिये मन्त्र दीक्षा की प्रार्थना करता है, इसलिये गुरु का वास्तविक वैष्णव-गृहस्थ होना आवश्यक है। संन्यासी गुरु के अर्चन में अनेक असुविधा हैं। पारमार्थिक गुरु करण में साधारण विधि उपेक्षित जैसी होने पर भी वास्तविकता में उपेक्षित नहीं हुई है। शौक्र-विप्रत्व अथवा शौक्र शूद्रत्व कुछ भी गुरु के विषय में ब्राह्मणता की लक्ष्यभूत योग्यता नहीं है, सावित्र और दैक्ष ब्राह्मणत्व ही उद्देश्य है, क्योंकि, श्रीमहाप्रभु ने जीव के हृदय और समाज की दुर्बलता को लक्ष्य करके ही शौक्र-जन्म में ही एकमात्र जन साधारण की जाति-विषयक अशुद्ध धारणा को पर्यवसित जानकर "किवा विप्र" पद्य में इस प्रकार की उक्ति की। उन्होंने शास्त्रीय तात्पर्य को केवलमात्र समझा दिया; क्योंकि कृष्णतत्त्ववेत्ता ही सावित्र्य अथवा दैक्ष्य ब्राह्मण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। "दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात कुर्यात् पापस्य संक्षयम। तस्मादीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तत्वकौविदैः॥" 'गृहस्थ गुरु' शब्द का अर्थ जिस प्रकार गृहव्रतधारी इन्द्रियदास नहीं होता, ठीक उसी प्रकार 'वैष्णव-संन्यासी' शब्द का अर्थ वर्णाश्रमाभिमान परायण व्यक्ति नहीं होता।

रेमुणा में गोपीनाथ का दर्शन और नृत्य-गीत—

रेमुणाते कैल गोपीनाथ दरशन।
ताँर रूप देखिञा हैल विह्वल-मन॥११२॥

११२। प॰ अनु॰—रेमुणा में आकर श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने श्रीगोपीनाथ का दर्शन किया और श्रीगोपीनाथ का रूप देखकर श्रीपुरी गोसाञि का मन विह्वल हो गया।

भोग की परिपाटी को सुनकर सुख का अनुभव—

नृत्यगीत करि' जगमोहने बसिला।
क्या क्या भोग लागे—ब्राह्मणे पुछिला॥११३॥
सेवार सौष्ठव देखि' आनन्दित मने।
उत्तम भोग लागे,—इहा कैल अनुमाने॥११४॥

११२-११४। प॰ अनु॰—फिर श्रीमाधवेन्द्र पुरी नृत्य-गीत करके जगमोहन (नाट्य-मन्दिर) में बैठ गये और उन्होंने एक (रसोई बनाने वाले पुजारी) ब्राह्मण से पूछा—श्रीगोपीनाथ को क्या-क्या भोग लगता है? (उन्होंने ऐसा प्रश्न क्यों किया, उसके विषय में ही आगे बतलाया जा रहा है कि) श्रीगोपीनाथ के सेवा-सौष्ठव को देखकर श्रीमाधवेन्द्र पुरी बहुत आनन्दित हुये और उन्होंने मन-ही-मन अनुमान लगाया कि यहाँ पर ठाकुरजी को उत्तम-उत्तम भोग लगाये जाते होंगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

११३। जगमोहन,—मन्दिर के सामने बने जिस बरामदे से भगवान् के दर्शन होते हैं, उसका नाम 'जगमोहन' कहलाता है।

क्या क्या,—पाठान्तरे काँहा काँहा; इसका मतलब है—"क्यों क्यों" (अर्थात् क्या, क्या) भोग लगता है।

गोपाल को इसी प्रकार भोग देने की इच्छा से पुजारी को पूछना और पुजारी के द्वारा गोपीनाथ को खीर भोग देने की प्रशंसा—

जेमन इहा भोग लागे, सकल शुनिब।
तेमन अनुमाने भोग गोपालके लागाइब॥११५॥
एइ लागि' पुछिलेन ब्राह्मणेर स्थाने।
ब्राह्मण कहिल सब भोग-विवरणे॥११६॥
सन्ध्याय भोग लागे क्षीर—'अमृतकेलि'-नाम।
द्वादश मृत्पात्रे भरि' अमृत-समान॥११७॥
'गोपीनाथेर क्षीर' बलि' प्रसिद्ध नाम जार।
पृथिवीते ऐछे भोग काहाँ नाहि आर॥११८॥

११५-११८। प॰ अनु॰—यहाँ जिस प्रकार के भोग लगाये जाते हैं, मैं उन सबके विषय में विस्तृत रूप से श्रवण करूँगा तथा गोवर्द्धन पहुँचकर उसी के अनुसार अनुमान पूर्वक सबकुछ बनाकर श्रीगोपालजी को भोग लगाऊँगा। इसी उद्देश्य से श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने ब्राह्मण से प्रश्न किया था। श्रीमाधवेन्द्र पुरी के प्रश्न को सुनकर ब्राह्मण ने भोग के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से सबकुछ बता दिया। ब्राह्मण ने विशेष रूप से बतलाया कि—"संन्ध्या के समय श्रीगोपीनाथ को द्वादश मिट्टी के पात्रों में खीर भोग लगती है। अमृत के समान स्वादिष्ट होने के कारण ही वह 'अमृतकेलि' के नाम से प्रसिद्ध है। 'श्रीगोपीनाथ की खीर' के नाम से भी वह प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण पृथ्वी में और कहीं भी ऐसा भोग निवेदन नहीं किया जाता।"

अमृतप्रवाह भाष्य

११७। क्षीर,—परमान्न (खीर)।

पुरी गोसाञि की
कृष्णप्रीति-वाञ्छा—

हेनकाले सेइ भोग ठाकुरे लागिल।
शुनि' पुरी-गोसाञि किछु मने विचारिल॥११९॥

११९। प॰ अनु॰—जिस समय श्रीमाधवेन्द्र पुरी ब्राह्मण से बातचीत कर रहे थे, उसी समय उन्हें ब्राह्मण ने बतलाया कि इस समय श्रीगोपीनाथ को उसी अमृत-केलि खीर का भोग लग रहा है।" यह सुनकर श्रीमाधवेन्द्र पुरी मन में विचार करने लगे—

गोपीनाथ के खीर के भोग के समान गोपाल
को भी ऐसे ही भोग देने की इच्छा—

अयाचित क्षीर-प्रसाद अल्प यदि पाइ।
स्वाद जानि' तैछे क्षीर गोपाले लागाइ॥'१२०॥

१२०। प० अनु०—"अयाचित रूप से बिना माँगे यदि थोड़ा-सा खीर प्रसाद मुझे मिल जाये तो उसका स्वाद जानकर मैं भी वैसा ही खीर का भोग बनाकर श्रीगोपाल को निवेदन करूँगा।"

अनुभाष्य

१२०। अयाचित—बिना माँगे।

पुनः उसे जिह्वा का लोभ समझकर
पुरी गोस्वामी का लज्जित होना—

एइ इच्छाय लज्जा पाञा विष्णुस्मरण कैल।
हेनकाले भोग सरि' आरति बाजिल॥१२१॥

१२१। प० अनु०—हृदय में इस प्रकार की इच्छा के उत्पन्न होने से श्रीमाधवेन्द्र पुरी मन-ही-मन बहुत लज्जित हुए एवं भगवान विष्णु का स्मरण करने लगे। इसी समय भोग समाप्त हुआ तथा आरती के लिये घण्टा बजने लगा।

अनुभाष्य

१२१। सरि'—सम्पूर्ण होकर।

श्रीगोपीनाथ की भोग-आरती के दर्शन के
बाद श्रीपुरी गोसाञि द्वारा स्थान-त्याग—

आरति देखिया पुरी कैल नमस्कार।
बाहिर हैला, कारे किछु ना कहिल आर॥१२२॥

१२२। प० अनु—आरती का दर्शन कर श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने श्रीगोपीनाथ को प्रणाम किया और मन्दिर से बाहर आ गये तथा उन्होंने किसी से कुछ नहीं कहा।

माधवेन्द्र पुरी का आचरण—

अयाचित-वृति-पुरी—विरक्त, उदास।
अयाचित पाइले खा'न, नहे उपवास॥१२३॥
प्रेमामृते तृप्ति, नाहि क्षुधा-तृष्णा बाधे।
क्षीर-इच्छा हैल, ताहे माने अपराधे॥१२४॥

१२३-१२४। प० अनु—श्रीमाधवेन्द्रपुरी अयाचित वृति का पालन करते अर्थात् भिक्षा माँगकर कुछ नहीं खाते थे, बल्कि यदि अपने आपसे कोई कुछ दे देता, तो उसी को ग्रहण करते थे। अन्यथा उपवासी रहते थे। वे सम्पूर्ण रूप से अनासक्त और जड़ विषयों के प्रति उदा-सीन थे। वे प्रेमामृत में ही तृप्त रहते थे, उन्हें कभी भी भूख-प्यास नहीं सताती थी। जब उन्हें थोड़ी खीर आस्वादन की इच्छा हुई तो उसे वे अपराध मानने लगे।

अनुभाष्य

१२३। श्रीमाधवेन्द्र पुरी प्रभु की स्वाभाविक पारमहंस्यो जैसी अवस्था—वे कृष्णनाम में सन्तुष्ट थे तथा जड़ीय वस्तुओं के प्रति उदास अर्थात् उदासीन थे।

१२४। नाहि क्षुधा—तृष्णा बाधे (अर्थात् भूख और प्यास कोई विघ्न उत्पन्न नहीं कर पाती थी),—वे भूख और प्यास से अतीत, विजित-षड़्गुण (जितेन्द्रिय) थे।

अकेले बैठकर निर्जन में कीर्त्तन—

ग्रामेर शून्यहट्टे बसि' करेन कीर्तन।
एथा पूजारी कराइल ठाकुरेर शयन॥१२५॥

१२५। प० अनु—मन्दिर से बाहर आकर वे गाँव में स्थित लोकजन शून्य हाट (बाजार) में निर्जन में बैठकर कीर्त्तन करने लगे। दूसरी ओर श्रीगोपीनाथ के पुजारी ने श्रीगोपीनाथ को शयन दे दिया।

पुजारी को स्वप्न में गोपीनाथ के द्वारा पुरी गोसाञि
को चोरी की गयी खीर देने का आदेश—

निज कृत्य करि' पूजारी करिल शयन।
स्वप्नकाले ठाकुर आसि' बलिला वचन॥१२६॥
उठह, पुजारी, कर द्वार विमोचन।
क्षीर एक राखियाछि संन्यासि-कारण॥१२७॥
धड़ार अञ्चले ढाका क्षीर एक हय।
तोमरा ना जानिला ताहा आमार मायाय॥१२८॥
माधव-पुरी संन्यासी आछे हाटेते वसिञा।
ताहाके त' एइ क्षीर शीघ्र देह लञा॥१२९॥

१२६-१२९। प० अनु—अपने कार्य को समाप्त कर पुजारी जब शयन करने गया तो उसके स्वप्न में

आकर श्रीगोपीनाथ कहने लगे—"पुजारी उठो! मन्दिर का द्वार खोलो, मैंने माधवेन्द्र पुरी नामक संन्यासी के लिये खीर का एक कसोरा रखा है। मैंने अपने वस्त्र की ओट में वह खीर का कसोरा छिपाया हुआ है, मेरी माया के प्रभाव के कारण तुम उसे नहीं जान पाये। संन्यासी माधवेन्द्र पुरी बाजार में बैठा हुआ है, तुम जाकर यह खीर प्रसाद शीघ्र ही उसे दे आओ"।

अनुभाष्य

१२७। कारण,—निमित्त।

१२८। घड़ा—वसन (वस्त्र)। एक—खीर से भरा हुआ एक कुल्हड़।

पुजारी की निद्रा भङ्ग और गोपीनाथ के
द्वारा चोरी की गई खीर की प्राप्ति—

स्वप्न देखि' पूजारी उठि' करिला विचार।
स्नान करि' कपाट खुलि' मुक्त कैल द्वार॥१३०॥
धड़ार आँचल-तले पाइल सेइ क्षीर।
स्थान लेपि' क्षीर लञा हइल बाहिर॥१३१॥

१३०-१३१। प० अनु०—स्वप्न देखने के बाद पुजारी की नींद खुल गयी। उसने उठकर गोपीनाथजी द्वारा दिये गये आदेश पर विचार करने के बाद कुछ स्थिर किया और स्नान करके मन्दिर का ताला खोलने के बाद द्वार खोल दिया। पुजारी को श्रीगोपीनाथ के वस्त्र के पीछे एक खीर का कसोरा मिला। तब पुजारी ने उस खीर के कसोरे को वहाँ से हटाकर उस स्थान को साफ कर दिया और खीर लेकर बाहर आ गया।

खीर को हाथ में लेकर पुजारी
के द्वारा माधवेन्द्र पुरी की खोज—

द्वार दिया ग्रामे गेला सेइ क्षीर लञा।
हाटे-हाटे बुले माधव पुरीके चाहिञा॥१३२॥
क्षीर लह एइ, जार नाम 'माधवपुरी'।
तोमा लागि' गोपीनाथ क्षीर कैल चुरि॥१३३॥
क्षीर लञा सुखे तुमि करह भक्षणे।
तोमा-सम भाग्यवान् नाहि त्रिभुवने॥१३४॥

१३२-१३४। प० अनु०—मन्दिर का द्वार बन्द करके पुजारी उस खीर को लेकर गाँव गया और हाट-हाट में जाकर श्रीमाधवेन्द्रपुरी को ढूँढ़ते हुए उच्चस्वर से पुकारने लगा—"जिनका नाम माधवेन्द्र पुरी है वे कृपा करके इस खीर को ग्रहण करें, आपके लिये श्रीगोपीनाथ ने यह खीर चोरी की है। आप इस खीर को ग्रहण करके आनन्दपूर्वक भक्षण करो। आपके समान भाग्यवान त्रिभुवन में और कोई नहीं है।"

अनुभाष्य

१३२। बुले,—इधर-उधर घूमना-फिरना।

पुरी द्वारा अपना परिचय प्रदान और
पुजारी द्वारा सम्भ्रम पूर्वक प्रणाम—

एत शुनि' पुरी-गोसाञि परिचय दिल।
क्षीर दिया पुजारी ताँरे दण्डवत हैल॥१३५॥

१३५। प० अनु०—पुजारी की पुकार को सुनकर श्रीपुरी गोसाईं ने उनके पास अपना परिचय दिया। पुजारी ने श्रीमाधवेन्द्र पुरी को खीर का पात्र दिया तथा उन्हें दण्डवत प्रणाम किया।

अनुभाष्य

१३५। दण्डवत्—दण्ड की भाँति प्रणत अर्थात् गिरकर।

पुजारी के मुख से गोपीनाथ की
चोरी को सुनकर माधवेन्द्र पुरी
में प्रेम भाव का उदय होना—

क्षीरेर वृत्तान्त ताँरे कहिल पूजारी।
शुनि' प्रेमाविष्ट हैला श्रीमाधवपुरी॥१३६॥

१३६। प० अनु०—पुजारी ने जब श्रीमाधवेन्द्रपुरी को गोपीनाथजी के द्वारा खीर की चोरी का सारा वृत्तान्त सुनाया, तो उसे सुनकर श्रीमाधवपुरी कृष्ण प्रेम में आविष्ट हो गये।

पुजारी के द्वारा माधवेन्द्र पुरी का
कृष्ण को वशीभूत करने वाले
भक्त के रूप में अनुमान—

प्रेम देखि' सेवक कहे हइया विस्मित।
कृष्ण जे ईँहार वश,—हय यथोचित॥१३७॥

१३७। प० अनु०—श्रीमाधवेन्द्रपुरी के कृष्ण-प्रेम को देखकर श्रीगोपीनाथजी का सेवक बहुत विस्मित हुआ। वे मन-मन में कहने लगा—श्रीगोपीनाथ जी का इनके प्रति वशीभूत होना उचित ही है।

अनुभाष्य

१३७। यथोचित,—उपयुक्त अथवा योग्य।

माधवेन्द्र पुरी के द्वारा खीर-प्रसाद
का सम्मान करना आत्मेन्द्रिय
तर्पण नहीं—

एत बलि' नमस्करि' करिला गमन।
आवेशे करिला पुरी से क्षीर भक्षण॥१३८॥
पात्र प्रक्षालन करि' खण्ड खण्ड कैल।
बहिर्वासे बान्धि' सेइ ठिकारि राखिल॥१३९॥
प्रतिदिन एकखानि करेन भक्षण।
खाइले प्रेमावेश हय,—अद्भुत कथन॥१४०॥

१३८। प० अनु०—इतना कहकर पुजारी श्रीमाधवेन्द्र पुरी को प्रणाम करके मन्दिर लौट गये और श्रीमाधवेन्द्रपुरी ने प्रेमाविष्ट होकर श्रीगोपीनाथ के द्वारा चुराये गये उस खीर प्रसाद का सेवन किया तथा उन्होंने उस खीर प्रसाद के पात्र को धोकर, उसके छोटे-छोटे टुकडे करके उन्हें अपने बहिर्वास की गाँठ में बाँधकर रख लिया। (रेमुणा से चले जाने के बाद) श्रीमाधवेन्द्रपुरी प्रतिदिन उस पात्र के एक टुकड़े को खाते तथा उसे खाने के साथ-ही-साथ प्रेम में आविष्ट हो जाते। यह सब सिद्धान्त बहुत ही अद्भुत है।

अनुभाष्य

१३९। ठिकारि,—मिट्टी का बना कुल्हड़।

माधवेन्द्र पुरी को प्रतिष्ठा का भय
और उनके द्वारा पुरी धाम की यात्रा—

'ठाकुर आमाके क्षीर दिल'—लोक सब शुनि'।
दिने लोक भिड़ हबे मोर प्रतिष्ठा जानि॥१४१॥
सेइ भये रात्रि-शेषे चलिला श्रीपुरी।
सेइखाने गोपीनाथे दण्डवत् करि॥१४२॥

१४१। प० अनु०—मिट्टी के पात्र के टुकड़ों को अपने आँचल में बाँधने के बाद श्रीमाधवेन्द्रपुरी विचार करने लगे—"कल जब पुजारी के मुख से लोग सुनेंगे कि गोपीनाथजी ने स्वयं चोरी करके खीर का एक पात्र मुझे प्रदान किया है, तो मेरी सुख्याति सुनकर बहुत से लोग आकर भीड़ करेंगे।" इस भय से श्रीमाधवेन्द्रपुरी रात के अन्त में ही श्रीगोपीनाथ को वहीं से ही दण्डवत् प्रणाम करके श्रीजगन्नाथ पुरी की ओर चल दिये।

पुरी धाम में जगन्नाथ के दर्शन से प्रेम—

चलि' चलि' आइला पुरी श्रीनीलाचल।
जगन्नाथ देखि' हैला प्रेमेते विह्वल॥१४३॥
प्रेमावेशे उठे, पड़े, हासे, नाचे, गाय।
जगन्नाथ-दरशने महासुख पाय॥१४४॥

१४३। प० अनु०—वहाँ से चलते-चलते अन्ततः श्रीमाधवेन्द्रपुरी नीलाचल में आ पहुँचे और श्रीजगन्नाथ के दर्शन कर प्रेम में विह्वल हो गये। श्रीजगन्नाथ का दर्शन करके वे अत्यधिक आनन्दित हुए और जगन्नाथ के दर्शन से अत्यधिक सुख प्राप्त करने के कारण प्रेम के आवेश में वे कभी तो उठकर खड़े हो जाते और कभी गिर पड़ते और कभी वे हँसने लगते तथा कभी नृत्य करने लगते और कभी उच्चस्वर से गान करने लगते।

सर्वत्र श्रीमाधवेन्द्र पुरी की आगमन वार्त्ता का प्रचार—

'माधवपुरी श्रीपाद आइल',—लोके हैल ख्याति।
सब लोक आसि' ताँरि करे बहु भक्ति॥१४५॥

१४५। प० अनु०—'श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी आये हैं।'

श्रीजगन्नाथ पुरी में यह बात सर्वत्र फैल गयी तथा सभी लोग आकर उनका बहुत अधिक आदर-सम्मान, सेवा करने लगे।

प्रतिष्ठा न चाहने पर भी पुरी को प्रतिष्ठा की प्राप्ति—

प्रतिष्ठार स्वभाव एइ जगते विदित।
जे ना वाञ्छे, तार हय विधाता-निर्मित॥१४६॥
प्रतिष्ठार भये पुरी रहे पलाञा।
कृष्ण-प्रेमे प्रतिष्ठा चले सङ्गे गड़ाञा॥१४७॥

१४६-१४७। प० अनु०—प्रतिष्ठा का यह स्वभाव जगत में प्रसिद्ध है कि जो इस प्रतिष्ठा को नहीं चाहता विधाता उसे ही प्रतिष्ठा प्रदान कर देते हैं। जिस प्रतिष्ठा के भय से श्रीमाधवेन्द्रपुरी रेमुणा से रात्रि में ही निकल पड़े थे, किन्तु वह प्रतिष्ठा कृष्ण प्रेम के साथ-साथ ही चलती रहती है अर्थात् श्रीमाधेवन्द्रपुरी के अपूर्व कृष्णप्रेम के कारण प्रतिष्ठा भी उनके साथ-साथ चल रही थी।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४६। जो प्रतिष्ठा की इच्छा न रखकर सत्कार्य करते हैं, उनके लिये ही प्रतिष्ठा विधाता द्वारा निर्मित हुई है; अर्थात् जो प्रतिष्ठा की आशा से सत् कर्म करते हैं, उसको प्रतिष्ठा की प्राप्ति नहीं होती—यही प्रतिष्ठा का रहस्य है।

अनुभाष्य

१४६-१४७। बद्धजीवों में से बहुत से जीव मत्सरता (ईर्ष्या) परायण होते हैं। जो सुख्याति प्राप्त करता है, उसके प्रति (ईर्ष्यालु) व्यक्तियों में स्वाभाविक रूप से विपक्षता पूर्ण आचरण करने की प्रवृत्ति होती है। इसलिये प्रतिष्ठा कामी व्यक्तियों का हिंसा पारायण व्यक्तियों द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के बदले हिंसित होना स्वाभाविक है, किन्तु जो दीनता के कारण प्रतिष्ठा की आकांक्षा नहीं करते, उन्हें ईर्ष्यालु समाज अत्यन्त असमर्थ और दीन समझकर दया करके प्रतिष्ठा मूलक उत्साह प्रदान करते हैं। वैष्णव जड़ जगत में वैसी प्रतिष्ठा के भिक्षुक नहीं है। बाद में जागतिक प्रतिष्ठा की प्राप्ति होगी, इसलिये वैष्णवराज श्रीमाधवेन्द्र ने लोगों की दृष्टि से अपने भगवद् प्रिय होने की घटना को छिपाने का प्रयत्न किया था। किन्तु उनकी अन्यान्य कृष्णप्रेममयी चेष्टाओं को देखकर जगत् के सभी लोग उन्हीं को श्रीभगवान् की अपने भक्तों के लिये उत्कण्ठा और चेष्टा का निदर्शन कहते हैं। वास्तविक रूप में सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठा ही श्रीपुरीपाद को स्वाभाविक रूप से प्राप्त है। किन्तु जो सब व्यक्ति उनका अनुकरण करके उनके भाव रूपी गृह के अन्तराल में छिपकर कपट दैन्य अवलम्बन करके अपने आपको प्रतिष्ठा वर्जित कहकर छलना करते हैं, उनका वैष्णवोचित दैन्य में प्रतिष्ठित होना असम्भव है।

प्रतिष्ठा प्राप्ति के स्थान पर न रहने की इच्छा होने पर भी प्रभु की सेवा हेतु अवस्थान—

यद्यपि उद्वेग हइल पलाइते मन।
ठाकुरेर चन्दन-साधन हइल बन्धन॥१४८॥

१४८। प० अनु०—स्थानीय सभी लोगों के द्वारा इतना अधिक सम्मान मिलने के कारण यद्यपि श्रीमाधवेन्द्र पुरी को उद्वेग की प्राप्ति हो रही थी और उनकी वहाँ से भाग जाने की इच्छा हो रही थी। परन्तु श्रीगोपाल के लिये चन्दन को संग्रह करने हेतु वह वहीं पर रहने के लिये बाध्य हुये।

अनुभाष्य

१४८। यद्यपि श्रीमाधवेन्द्र पुरी प्रतिष्ठा के चंगुल से मुक्त होने के उद्देश्य से पुरी से भाग निकलने के उपाय की चिन्ता करने लगे, तथापि गोपाल के लिये चन्दन-संग्रह रूपी सेवा ने उन्हें उनके बन्धन के कारण स्वरूप प्रतिष्ठा से व्याप्त नीलाचल में रहने के लिये मजबूर किया।

जगन्नाथ के सेवकों के समक्ष गोपाल की इच्छा व्यक्त करना—

जगन्नाथेर सेवक जत, जतेक महान्त।
सबाके कहिल सब गोपाल वृत्तान्त॥१४९॥

१४९। प० अनु०—श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने श्रीजगन्नाथदेव के सभी सेवकों और महन्तों को श्रीगोपालजी के जगन्नाथ

पुरी से चन्दन लाने का वृत्तान्त कह सुनाया।

भक्तों द्वारा अनेक प्रकार से चन्दन इकट्ठा करने का यत्न—

गोपाल चन्दन मागे,—शुनि' भक्तगण।
आनन्दे चन्दन लागि' करिल यतन॥१५०॥
राजपात्र-सने जार जार परिचय।
तारे मागि कर्पूर-चन्दन करिला सञ्चय॥१५१॥

१५०-१५१। प० अनु०—'श्रीगोपालजी ने चन्दन मँगवाया है, इस बात को सुनकर श्रीजगन्नाथजी के सभी भक्त अत्यधिक आनन्दपूर्वक चन्दन संग्रह करने का प्रयत्न करने लगे। राज-कर्मचारियों के साथ जिन-जिन का परिचय था, उन्होंने उनसे भी माँगकर कर्पूर-चन्दन एकत्रित किया।

चन्दन देकर लोगों सहित माधवेन्द्र पुरी की विदाई—

एक विप्र, एक सेवक, चन्दन बहिते।
पुरी-गोसाञिर सङ्गे दिल सम्बल-सहिते॥१५२॥

१५२। प० अनु०—चन्दन उठाने के लिये श्रीमाधवेन्द्र पुरी के साथ एक ब्राह्मण और एक सेवक दिया गया तथा मार्ग में कर इत्यादि देने तथा अन्यान्य कार्यों के लिये उन्होंने कुछ अर्थ भी भेंट दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५१-१५२। कर्पूर—श्रीकर्पूर, जिससे श्रीजगन्नाथ देव की आरती होती है। उसी श्रीकर्पूर और मलयज चन्दन को श्रीजगन्नाथ के सेवकों ने राजा के व्यक्तियों से संग्रह किया तथा पुरी गोसाईं के साथ एक ब्राह्मण और एक सेवक साथ भेजा एवं उनके रास्ते का खर्च भी दिया।

अनुभाष्य

१५२। सम्बल,—रास्ते में होने वाला खर्चा।

बिना किसी प्रकार के विघ्न से जाने के लिये छाड़(प्रमाण)-पत्र देना—

घाटी-दानी छाड़ाइते राजपात्र-द्वारे।
राजलेखा करि' दिल पुरी-गोसाञिर करे॥१५३॥

१५३। प० अनु०—मार्ग में कर संग्रह कारियों के चंगुल से छुड़ाने के लिये राजकर्मचारियों ने राजा का अनुमति-पत्र भी श्रीमाधवेन्द्र पुरी के हाथ में दिया। जिससे वे बिना किसी विघ्न के चन्दन ले जा सकें।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५३। घाटी,—जो पथ का शुल्क (कर) लेता है। दानी,—जो पार कराने का पैसा लेता है। उन सभी को छुड़ाने के लिये अर्थात् उनको पैसा दिये बिना ही जाने के लिये राजा के द्वारा लिखे गये राजपत्र को अर्थात् फरमान को पुरी गोसाञि के हाथ में दे दिया।

रेमुणा में पहुँचना और गोपीनाथ के दर्शन से नृत्य-गीत—

चलिल माधवपुरी चन्दन लञा।
कतदिने रेमुणाते उतरिल गिया॥१५४॥
गोपीनाथ-चरणे कैल बहु नमस्कार।
प्रेमावेशे नृत्य-गीत करिला अपार॥१५५॥
पुरी देखि' सेवक सब सम्मान करिल।
क्षीरप्रसाद दिया ताँरे भिक्षा कराइल॥१५६॥

१५४-१५६। प० अनु०—इस प्रकार श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने नीलाचल से चन्दन लेकर गोवर्धन की ओर यात्रा की तथा कुछ ही दिनों में वे रेमुणा स्थित श्रीगोपीनाथ मन्दिर में पहुँचे। श्रीगोपीनाथ के श्रीचरणों में उन्होंने अनेक बार प्रणाम किया तथा प्रेमाविष्ट होने के कारण उन्होंने बहुत देर तक नृत्य किया तथा गीत गाये। श्रीमाधवेन्द्र पुरी को मन्दिर में उपस्थित देखकर श्रीगोपीनाथ के सभी सेवकों ने उनका बहुत अधिक सम्मान किया तथा श्रीगोपीनाथजी का खीर प्रसाद देकर उन्हें भोजन कराया।

स्वप्न में माधवेन्द्र पुरी को गोपाल के द्वारा गोपीनाथ के श्रीअङ्ग में चन्दन लेपन करने का आदेश—

सेइ रात्रे देवालये करिल शयन।

शेषरात्रि हैले पुरी देखिल स्वपन॥१५७॥
गोपाल आसिया कहे,—शुनह, माधव।
कर्पूर-चन्दन आमि पाइलाम सब॥१५८॥
कर्पूर सहित घषि, एसब चन्दन।
गोपीनाथेर अङ्गे सब करह लेपन॥१५९॥
गोपीनाथ आमार से एकइ अङ्ग हय।
इँहाके चन्दन दिले, आमार ताप-क्षय॥१६०॥
द्विधा ना भाविह, ना करिह किछु मने।
विश्वास करि' चन्दन देह आमार वचने॥१६१॥

१५७-१६१। प॰ अनु॰—उस रात श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में ही शयन किया और रात के अन्त में उन्होंने एक स्वप्न देखा। उन्होंने देखा, स्वप्न में श्रीगोपालजी उनसे कह रहे हैं—"सुनो माधव! मैंने तुम्हारा कर्पूर-चन्दन सब प्राप्त कर लिया है। अब कर्पूर-चन्दन को तुम घिसकर उसे नित्य श्रीगोपीनाथ के अङ्गों पर लेप कर दो। मेरा और गोपीनाथ का एक ही कलेवर है, उन्हें चन्दन लेपन करने से मेरे अङ्गों का ताप समाप्त हो जायेगा। मेरे निर्देशानुसार आचरण करने में द्विधा मत करो और न ही मन में कुछ और विचार करो, मेरी बात पर विश्वास करके श्रीगोपीनाथ के अङ्गों में चन्दन को लेपन कर दो।"

अनुभाष्य

१५९-१६०। गोपाल के नहीं लगाने तथा गोपीनाथ के चन्दन लगाने का तात्पर्य यह है कि,गोपाल के रहने का स्थान वृन्दावन—रेमुणा से बहुत योजन दूरी पर है, विशेषतः वहाँ जाने के लिये विधर्मी म्लेच्छों के द्वारा शासित प्रदेश को पार करके जाना होता है; उसमें बहुत बाधा-विघ्न हैं, अतएव प्रियतम भक्त श्रेष्ठ पुरी गोस्वामी को कष्ट होगा, ऐसा जानकर भक्त वत्सल भक्तप्रेम वश गोपाल ने अपने से अभिन्न श्रीगोपीनाथ के श्रीअङ्ग में ही चन्दन का लेप करने के लिये कहकर भक्त के श्रम को सफल और कम किया। आगे आने वाली १७६-१७७ संख्या द्रष्टव्य है।

सेवकों को गोपाल की आज्ञा बताना—

एत बलि' गोपाल गेल, गोसाञि जागिला।
गोपीनाथेर सेवकगणे डाकिया आनिला॥१६२॥
प्रभुर आज्ञा हैल,—एइ कर्पूर-चन्दन।
गोपीनाथेर अङ्गे नित्य करह लेपन॥१६३॥
इँहाके चन्दन दिले, गोपाल हइबे शीतल।
स्वतन्त्र ईश्वर,—ताँर आज्ञा से प्रबल॥१६४॥
ग्रीष्मकाले गोपीनाथ परिबे चन्दन।
शुनि' आनन्दित हैल सेवकेर मन॥१६५॥

१६२-१६५। प॰ अनु॰—इतना कहकर श्रीगोपाल जी अन्तर्ध्यान हो गये और श्रीमाधवेन्द्र पुरी उठकर श्रीगोपीनाथजी के सेवकों को बुलाकर कहने लगे—"प्रभु की आज्ञा हुई है कि इस कूर्पर-चन्दन को श्रीगोपीनाथजी के अङ्ग पर नित्य लेपन किया जाये। क्योंकि श्रीगोपीनाथ-जी के श्रीअङ्गों में चन्दन देने से ही श्रीगोपाल का अङ्ग स्वतः ही शीतल हो जायेगा, प्रभु स्वतन्त्र ईश्वर हैं, और उनकी आज्ञा ही प्रबल है।" ग्रीष्मकाल अर्थात् अत्यधिक गर्मी के दिनों में श्रीगोपीनाथजी के श्रीअङ्ग पर चन्दन लगेगा। यह सुनकर सभी सेवकों का मन आनन्दित हो गया।

अनुभाष्य

१६४। स्वतन्त्र,—स्वेच्छामय।

साथ में आये दोनों सेवकों को चन्दन-घिसने में लगाना—

पुरी कहे,—एइ दुइ घषिबे चन्दन।
आर जना-दुइ देह, दिब जे वेतन॥१६६॥

१६६। प॰ अनु॰—श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने कहा—"मेरे साथ आये दोनों व्यक्ति चन्दन घिसेंगे। आप लोग चन्दन घिसने के लिये अन्य दो व्यक्तियों की भी व्यवस्था कर दीजिए। उनका जो भी वेतन होगा, वह मैं उन्हें दे दूँगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६६। ऐई दुई (ये दो),—पुरी गोस्वामी के साथ जो आये हैं।

माधवेन्द्र पुरी के वचन अनुसार सेवकों
के द्वारा आनन्दित होकर चन्दन लगाना—

एइ मत चन्दन देय प्रत्यह घषिया।
पराय सेवक सब आनन्द करिया॥१६७॥

१६७। प० अनु०—इस प्रकार चार लोग प्रतिदिन चन्दन घिसकर देने लगे और सेवक आनन्दित होकर श्रीगोपीनाथजी के श्रीअङ्गों में उस चन्दन का लेप करने लगे।

सम्पूर्ण ग्रीष्मकाल में चन्दन होने के अन्त
तक माधवेन्द्र पुरी का रेमुणा में अवस्थान—

प्रत्यह चन्दन पराय, यावत् हैल अन्त।
तथाय रहिल पुरी तावत पर्यन्त॥१६८॥

१६८। प० अनु०—इस प्रकार जब तक वह चन्दन घिसकर समाप्त नहीं हुआ तब तक प्रतिदिन श्रीगोपीनाथ के अङ्गों पर उसका लेपन किया जाता, जब तक लेपन होता रहा, तब तक श्रीमाधवेन्द्र पुरी रेमुणा में ही रहे।

ग्रीष्म काल के अन्त में माधवेन्द्र पुरी
द्वारा नीलाचल में चातुर्मास्य का पालन—

ग्रीष्मकाल अन्ते पुनः नीलाचले गेला।
नीलाचले चातुर्मास्य आनन्दे रहिला॥१६९॥

१६९। प० अनु०—ग्रीष्मकाल के समाप्त होने पर श्रीमाधवेन्द्र पुरी फिर से नीलाचल चले गये और वर्षा के चार मास वे अत्यधिक आनन्दित होकर वहीं रहे।

अनुभाष्य

१६९। चातुर्मास्य,—आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष में शयन एकादशी से आरम्भ करके कार्त्तिक शुक्लपक्ष की उत्थान-एकादशी तक चान्द्रमास-चतुष्टय; अथवा आषाढ़ी पूर्णिमा से कार्त्तिकी पूर्णिमा तक चान्द्रमास चतुष्टय; अथवा श्रावण से कार्त्तिक तक सौरमास-चतुष्टय का समय—चातुर्मास्य-वर्षाकाल। इन चार महीनों में किया जाने वाला व्रत—चारों आश्रमों के सभी व्यक्तियों के लिये पालनीय है; उद्देश्य,—सब प्रकार के भोगों का त्याग। श्रावण में साग, भाद्र में दही, आश्विन में दूध और कार्तिक में आमिष का त्याग करना चाहिए। जड़ भोग योग्य विषयों का त्याग ही इस चातुर्मास्य की शिक्षा का तात्पर्य है।

प्रभु का माधवेन्द्र पुरी के चरित्र को वर्णन करने में आनन्द—

श्रीमुखे माधवपुरीर अमृत-चरित।
भक्तगणे शुनाञा प्रभु करे आस्वादित॥१७०॥

१७०। प० अनु०—इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं श्रीमाधवेन्द्र पुरी के अमृतमय चरित को अपने श्रीमुख से गान कर भक्तों को सुना रहे थे और स्वयं भी उसका आस्वादन कर रहे थे।

प्रभु के द्वारा निताई को माधवेन्द्र पुरी
के प्रेम की महिमा का वर्णन—

प्रभु कहे,—नित्यानन्द, करह विचार।
पुरी-सम भाग्यवान् जगते नाहि आर॥१७१॥
दुग्धदान-छले कृष्ण जाँरे देखा दिल।
तिनबारे स्वप्ने आसि' जाँरे आज्ञा कैल॥१७२॥
जाँर प्रेमे वश हञा प्रकट हैला।
सेवा अङ्गीकार करि' जगत तारिला॥१७३॥
जाँर लागि' गोपीनाथ क्षीर कैल चुरि।
अतएव नाम हैल 'क्षीरचोरा' करि'॥१७४॥
कर्पूर-चन्दन जाँर अङ्गे चड़ाइल।
आनन्दे पुरी-गोसाञिर प्रेम उथलिल॥१७५॥

१७१-१७५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने नित्यानन्द प्रभु की ओर देखते हुए कहा—"नित्यानन्द! विचार करो, क्या जगत में श्रीमाधवेन्द्र पुरी के समान और कोई भाग्यवान है? दूध देने के बहाने श्रीकृष्ण ने जिनको दर्शन दिया और तीन बार उनके स्वप्न में आकर आदेश प्रदान किया। उनके प्रेम के वशीभूत होकर श्रीगोपाल विग्रह के रूप में प्रकटित हुये और उनकी सेवा स्वीकार कर भगवान् ने समस्त जगतवासियों का उद्धार किया था। जिनके लिये श्रीगोपीनाथ ने खीर की चोरी की तथा जिससे उनका नाम 'क्षीरचोरा' हो गया। जिन्होंने श्रीगोपीनाथ के अङ्गों में कर्पूर-चन्दन का लेपन

किया था तथा उसके फलस्वरूप वे प्रेमानन्द में भर उठे थे।

गोपाल के स्थान पर गोपीनाथ के द्वारा चन्दन लगवाने का तात्पर्य—

म्लेच्छदेशे कर्पूर-चन्दन आनिते जञ्जाल।
पुरी दुःख पाबे, इहा जानिया गोपाल॥१७६॥
महा-दयामय प्रभु—भकतवत्सल।
चन्दन परि' भक्तश्रम करिल सफल॥१७७॥

१७६-१७७। प० अनु०—म्लेच्छों के द्वारा शासित प्रदेश से होकर कर्पूर-चन्दन को लेकर आना अपने आपमें एक जञ्जाल है, जिससे श्रीमाधवेन्द्र पुरी को चन्दन लाने में बहुत कष्ट होगा। यह जानकर परम दयालु श्रीगोपाल ने जो कि भक्तवत्सल हैं, उन्होंने श्रीगोपीनाथ के रूप में ही चन्दन सेवा को ग्रहण कर अपने भक्त के परिश्रम को सार्थक किया।"

अमृतप्रवाह भाष्य

१७६-१७७। म्लेच्छ देशे (म्लेच्छ देश में),—मेदिनीपुर जिले के अनेक स्थान तक उत्कल राजा का राज्य था; वह हिन्दु राजा का देश था। उसके बाद प्रायः सभी प्रदेश ही म्लेच्छ राजा के अधीन थे। स्थान-स्थान पर म्लेच्छ राजा के अनुचर पथिकों की अच्छी वस्तुओं को निकाल लेते थे। गौड़देश में कर्पूर और चन्दन दुर्लभ है। इसलिये कोई जञ्जाल ही खड़ा हो जायेगा, (गोपाल ने) इसी आशङ्का से ही, कि पुरी गोसाईं को वृन्दावन तक जाते हुए बहुत कष्ट अनुभव होगा, पुरी गोस्वामी के उसी कष्ट को दूर करने के लिये ही उन्होंने रेमुणा में विराजमान श्रीगोपीनाथ को चन्दन लगाने की आज्ञा प्रदान की थी।

माधवेन्द्र पुरी के प्रेम और चरित्र की महिमा—

पुरीर प्रेम-पराकाष्ठा करह विचार।
अलौकिक प्रेम चित्ते लागे चमत्कार॥१७८॥
परम-विरक्त, मौनी, सर्वत्र उदासीन।
ग्राम्यवार्ता-भये द्वितीय-सङ्ग-हीन॥१७९॥

१७८-१७९। प० अनु०—(श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द प्रभु से कहा—) "श्रीमाधवेन्द्र पुरी के प्रेम की पराकाष्ठा का विचार करो। उनके ऐसे अलौकिक प्रेम को विचार करने पर चित्त चमत्करित हो जाता है। श्रीमाधवेन्द्र पुरी परम विरक्त, कृष्ण कथा को छोड़कर और कुछ भी नहीं बोलने वाले मौनी तथा जड़ीय विषयों के प्रति सदैव उदासीन रहने वाले थे। इसलिए ग्राम्यवार्ता अर्थात् विषयों की चर्चा के भय से वे किसी से सम्बन्ध नहीं रखते थे।

अनुभाष्य

१७८। कृष्ण विरह अर्थात् चिद् (चिन्मय) विप्रलम्भ ही जीवों का एकमात्र साधन है। जड़ विरह से उत्पन्न निर्वेद जड़ की ही आसक्ति प्रकाशित करता है, किन्तु कृष्ण विरह से उत्पन्न निर्वेद कृष्णेन्द्रिय प्रीति वाञ्छा का श्रेष्ठ निदर्शन है। यहाँ पर मुख्य महाजन श्रीपाद माधवेन्द्र पुरी पाद अपूर्व कृष्णेन्द्रिय प्रीति वाञ्छा कृष्ण सेवा की अभिलाषा रखने वाले जीवों के लिये एकमात्र आदर्श और विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य विषय हैं—यही श्रीमन् महाप्रभु और बाद में उनकी अन्तरङ्ग शक्तियों ने आचरण करके दिखाया है।

१७९। ग्राम्यवार्त्ता,—स्त्री-पुरुष में होने वाली बात, ग्राम सम्बन्धीय सब प्रकार की बातें, ग्राम,—भागवत के ११/२५/२५ श्लोक में—"ग्रामो राजस उच्यते"; भागवत के ही ११/२५, २८ और २९ श्लोक में—"राजसञ्चेन्द्रिय-प्रेष्ठं", "विषयोयन्तु राजसम्"— अपनी इन्द्रियों की तृप्ति करने वाला अथवा विषय भोगों को उत्पन्न करने वाला अर्थात् जागतिक कामोद्दीपक व्यापार मात्र ही राजस अर्थात् ग्राम्य है।

सेव्य की आज्ञा पालन करने में असहाय पुरी का अपूर्व उद्यम—

हेन-जन गोपालेर आज्ञामृत पाञा।
सहस्र क्रोश आसि' बुले चन्दन मागिञा॥१८०॥
भोके रहे, तबु अन्न मागिञा ना खाय।

हेन-जन चन्दन-भार बहि' लञा जाय॥१८१॥

१८०-१८१। प० अनु०—श्रीगोपालदेव जी के आज्ञा रूपी अमृत को पाकर श्रीमाधवेन्द्र पुरी हजारों कोस चलकर चन्दन की भिक्षा माँगने गये थे। जो व्यक्ति भूखे रहते हुए भी किसी से अन्न माँगकर नहीं खाते थे, ऐसे व्यक्ति स्वयं ही (दूसरों से माँगकर) चन्दन का भार उठाकर ले जा रहे थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१८१। भोके रहे,—भूखे रहकर।

व्यक्तिगत दुःख को सहन करने पर भी प्रभु की सेवा में ही माधवेन्द्र पुरी का आनन्द—

मणेक चन्दन, तोला-बिशेक कर्पूर।
गोपाले पराइब—एइ आनन्द प्रचुर॥१८२॥
उत्कलेर दानी राखे चन्दन देखिञा।
ताँहा एड़ाइल राजपत्र देखाञा॥१८३॥
म्लेच्छदेशे दूर पथ, जगाति अपार।
केमते चन्दन निब, नाहि ए विचार॥१८४॥
सङ्गे एक वट नाहि घाटीदान दिते।
तथापि उत्साह बड़, चन्दन लञा जाइते॥१८५॥

१८२। प० अनु—श्रीमाधवेन्द्र पुरी एक मण चन्दन और बीस तोला कर्पूर को लेकर जा रहे थे, 'इसका श्रीगोपाल के अङ्गों पर लेपन करूँगा'—यही सोच-सोचकर ही वे परम आनन्दित हो रहे थे। उत्कल प्रदेश में कर लेने वाले व्यक्तियों ने चन्दन को देखने मात्र से ही उसे उतरवाकर रख लिया, वे चन्दन को अपने प्रदेश से बाहर नहीं ले जाने देना चाहते थे, किन्तु श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने उन्हें राजपत्र दिखाकर उनसे छुटकारा पाया। म्लेच्छ देश से होते हुए तथा बहुत दूर तक चन्दन को ले जाना है', इन सब विषयों पर कुछ भी विचार न करते हुए श्रीमाधवेन्द्र पुरी चन्दन ले जा रहे थे। यद्यपि उनके पास घाटी पार करने का कर देने के लिये एक कौड़ी भी नहीं थी, फिर भी श्रीगोपालदेव के लिए चन्दन लेकर जाने का उनमें प्रबल उत्साह था।

अनुभाष्य

१८३। राखे,—रोका था।

अमृतप्रवाह भाष्य

१८४। जगाति,—जगाता था, जो प्रहरी के छल से रास्ते में (लूट-पाट करने के उद्देश्य से) जागते रहते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१८५। वट,—एक कौड़ी भी, कपर्द्दक

कृष्ण के प्रेमी का लक्षण—

प्रगाढ़-प्रेमेर एइ स्वभाव-आचार।
निज-दुःख-विघ्नादिर ना करे विचार॥१८६॥

१८६। प० अनु—"प्रगाढ़ कृष्ण प्रेम का स्वाभाविक आचरण ही ऐसा है कि भक्त अपने व्यक्तिगत दुःख और विघ्नादि का कुछ भी विचार नहीं करता।

अनुभाष्य

१८६। अत्यधिक प्रेम करने वाले के नैसर्गिक (स्वाभाविक) आचरण में यही देखा जाता है कि अपनी कामनाओं की परितृप्ति के विपरीत भाव दुःख-विघ्न आदि उनके बाधक नहीं होते; परन्तु सैकड़ों-हजारों विघ्नों और निरन्तर दुःख में ही वे पूर्ण मात्रा में प्रीति का परिचय देते हैं। इस जड़ जगत् की बद्धानुभूति और द्वितीयाभिनिवेश से मुक्त होने के योग्य पात्र की विवेचना के लिये, "ततेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाण" इस भागवतीय श्लोक की अवतारणा है। भगवान् के अत्यधिक प्रणयि व्यक्ति बाह्य जगत् के किसी अभाव, विघ्न और दुःख आदि को नहीं गिनते। "जत देखो वैष्णवेर व्यवहार दुःख। निश्चय जानिह सेई परानन्द सुख।" श्रीमन् महाप्रभु के "आश्लिष्य वा पादरतां" वचन में इसी चरम शिक्षा को ही हम लक्ष्य करते हैं।

कृष्ण के द्वारा अपने भक्त की महिमा का प्रदर्शन—

एइ तार गाढ़ प्रेमा लोके देखाइते।
गोपाल ताँरे आज्ञा दिल चन्दन आनिते॥१८७॥

बहु परिश्रमे चन्दन रेमुणा आनिल।
आनन्द बाड़िल मने, दुःख ना गणिल॥१८८॥

१८७। प० अनु०—'मेरे प्रति श्रीमाधवेन्द्र पुरी का कैसा गाढ़ प्रेम है'—इसी को जगत्वासियों को दिखाने के लिये ही श्रीगोपालजी ने उन्हें चन्दन लाने की आज्ञा प्रदान की थी। श्रीमाधवेन्द्र पुरी बहुत परिश्रम से चन्दन को रेमुणा तक लेकर पहुँचे। इन परिस्थितियों में भी, उनके मन में आनन्द बढ़ता ही रहा, उन्होंने इसमें किसी प्रकार का कोई दुःख नहीं माना।

गोपाल द्वारा भक्त की परीक्षा और
भक्त द्वारा परीक्षा में सफल होना—

परीक्षा करिते गोपाल कैल आज्ञा दान।
परीक्षा करिया शेषे हैल दयावान्॥१८९॥

१८९। प० अनु०—"अपने भक्त श्रीमाधवेन्द्र पुरी की परीक्षा लेने के लिये ही श्रीगोपाल ने उन्हें ऐसा आदेश दिया था एवं परीक्षा लेने के बाद अन्त में वे श्रीमाधवेन्द्र पुरी के प्रति अत्यधिक दयावान् हुए।

भक्त और भगवान, दोनों की
परस्पर अलौकिक रति (आसक्ति)—

एइ भक्ति, भक्तप्रिय-कृष्ण-व्यवहार।
बुझितेओ आमा-सबार नाहि अधिकार॥१९०॥

१९०। प० अनु०—"श्रीमाधवेन्द्र पुरी जैसी भक्ति और भक्त प्रिय श्रीकृष्ण के व्यवहार को समझने में भी हम सबका अधिकार नहीं है।"

प्रभु के द्वारा माधवेन्द्र पुरी कृत श्लोक का
उच्चारण, श्लोक की अतुलनीय महिमा—

एत बलि' पड़े प्रभु ताँर कृत श्लोक।
जेइ श्लोक-चन्द्रे जगत् करेछे आलोक॥१९१॥
घषिते घषिते जैछे मलयज-सार।
गन्ध बाड़े, तैछे एइ श्लोकेर विचार॥१९२॥
रत्नगण-मध्ये जैछे कौस्तुभमणि।
रसकाव्य-मध्ये तैछे एइ श्लोक गणि॥१९३॥
एइ श्लोक कहियाछेन राधा-ठाकुराणी।
ताँर कृपाय स्फुरियाछे माधवेन्द्र-वाणी॥१९४॥

१९१-१९४। प० अनु०—यह कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीमाधवेन्द्र पुरी द्वारा रचित वह श्लोक पढ़ा जो चन्द्र की भाँति जगत् को प्रकाश प्रदान करने वाला है। जिस प्रकार मलयज वृक्ष के सार अर्थात् चन्दन को जितना अधिक घिसा जाये उतनी ही उसकी सुगन्धि बढ़ती है, उसी प्रकार इस श्लोक का जितना ही विचार किया जाये, उतना ही इसका माधुर्य वर्द्धित होता है अर्थात् इसके भावों की गहरायी बढ़ती जाती है। जिस प्रकार समस्त रत्नों में कौस्तुभमणि सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार समस्त रसकाव्यों में यह श्लोक सर्वश्रेष्ठ है। वास्तव में यह श्लोक सर्वप्रथम स्वयं श्रीराधा ठाकुराणी के श्रीमुख से प्रकाशित हुआ था अर्थात् यह उन्हीं की ही उक्ति है और उन्हीं की कृपा से ही यह श्रीमाधवेन्द्र पुरी की वाणी के रूप में स्फुरित हुई है।

श्रीराधा, श्रीमाधवेन्द्र पुरी और श्रीगौर—केवल इन तीनों
की ही इस श्लोक को आस्वादन करने की योग्यता—

किबा गौरचन्द्र इहा करे आस्वादन।
इहा आस्वादिते आर नाहि चौठजन॥१९५॥
शेषकाले एइ श्लोक पठिते पठिते।
सिद्धिप्राप्ति हैल पुरीर श्लोकेर सहिते॥१९६॥

१९५-१९६। प० अनु०—श्रीमती राधारानी, श्रीमाधवेन्द्र पुरी या फिर श्रीगौरचन्द्र ने ही इस श्लोक का आस्वादन किया। इनके अतिरिक्त किसी चौथे व्यक्ति में इस श्लोक का आस्वादन करने का सामर्थ्य नहीं है। अपने प्रकटकाल के अन्तिम समय में श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने इसी श्लोक का पाठ करते-करते सिद्धि प्राप्त की थी।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९५। चौठजन,—चौथा व्यक्ति; अर्थात् राधा ठाकुरानी, माधवेन्द्रपुरी और महाप्रभु,—इन तीनों ने ही इस श्लोक का आस्वादन किया है; अन्य कोई चौथा

व्यक्ति इसको आस्वादन करने योग्य नहीं था।

तथाहि पद्यावली में चतुःशताङ्क में उद्धत
श्रीमाधवेन्द्र पुरीपाद के वचन—

अयि दीनदयार्द्र नाथ हे
मथुरानाथ कदावलोक्यसे।
हृदयं त्वदलोककातरं दयित
भ्राम्यति किंकरोम्यहम्॥१९७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९७। ओहे दीनदयार्द्रनाथ! ओहे मथुरानाथ! कब तुम्हारे दर्शन करूँगी! तुम्हारे दर्शन के अभाव में मेरा कातर हृदय अस्थिर हो गया है। हे दयित! अब मैं क्या करूँ?

तात्पर्य,—शुद्धभक्तिवादी वेदान्तमूलक वैष्णवगण चार सम्प्रदायों में विभक्त हैं; उनमें से श्रीमाधवाचार्य सम्प्रदाय को स्वीकार करके श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने वैष्णव संन्यास ग्रहण किया था। मध्वाचार्य से माधवेन्द्र पुरी के गुरु लक्ष्मीपति तक इस सम्प्रदाय में शृङ्गार-रसमयी भक्ति नहीं थी। उनकी जैसी भक्ति थी, वह महाप्रभु के दक्षिण देश में भ्रमण के समय तत्त्ववादियों के साथ हुए विचार से जानी जाती है। श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने इस अपूर्व श्लोक की रचना द्वारा शृङ्गार रसमयी भक्ति के बीज को बोया। इसमें भाव यह है कि, मथुरा राज्य में गये हुए श्रीकृष्ण के विच्छेद में श्रीमती राधिका के अत्यधिक प्रेम का जो उच्छवास हुआ था, उस भाव के अनुगत होकर जो कृष्ण भजन किया जाता है, वही सर्वोत्तम है। इस रस के भक्त अपने आपको अत्यन्त दीन मानकर दीनदयार्द्रनाथ को इस भाव से पुकारेंगे। **जीव** के लिये कृष्ण का विच्छेदगत भाव ही स्वाभाविक भजन है। कृष्ण मथुरा चले गये हैं, उनके दर्शन के बिना श्रीमती का हृदय अत्यन्त कातर होकर उनके दर्शन की लालसा से कह रहा है,—"हे कान्त, तुम्हारे दर्शन के अभाव में मेरा हृदय अत्यन्त व्याकुल है; बताओ, मेरे क्या करने पर तुम्हारे दर्शन प्राप्त होंगे? मुझे दीन समझकर तुम दयार्द्र होओ।" श्रीमाधवेन्द्र पुरी के इस भाव के साथ श्रीमहाप्रभु में प्रकाशित श्रीमती के उद्धव-दर्शन से जिस भाव वैचित्र्य का वर्णन हुआ है, उसका सादृश्य (एक समानता) अनायास ही दिखायी देता है। इसलिये महाजनों ने कहा है, शृङ्गार-रस रूपी वृक्ष के मूल—माधवेन्द्र पुरी है, ईश्वर पुरी उनके प्ररोह [वट वृक्ष के ऊपर से नीचे की ओर आने वाला वह स्कन्ध, जिसमें से बाद में पुनः ओर एक वृक्ष निकलता है] हैं। श्रीमन् महाप्रभु—उसके मूल स्कन्ध, प्रभु के अनुगत भक्तगण—उसके शाखा-उपशाखा है।

चतुर्थ परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

१९७। अयि (श्रीवृषभानुराजनन्दिन्याः स्वरमणं प्रति मधुरसम्बोधन) हे दीनदयार्द्र, (दीनानां कृष्णविरहकातराणां गोपीनां स्वजनानां सम्बन्धे या दया तासां विप्रलम्भापनोदिनी साक्षाद्रूपगुणलीला-स्फूर्त्ति-विधायिनी कृपा, तया आर्द्र, सरस हृदय,—उत्कट विरहतापार्त्त-गोपीकृपा-परकोमल-चित) हे नाथ, (मादृशगोपीजनैकवल्लभ,) हे मथुरानाथ, (माथुर-जनेश्वर, चेत् गोपीजनवल्लभाभिमानस्तव वर्त्तते, तदा अस्मान् गोपीः विस्मृत्य कथम् ऐश्वर्य वासनया माथुरसाधारणीकान्तामोदार्थं तत्रावस्थितिः अतः गोपीकृपा-रहित कठिन हृदय,) कदा त्वं (विरह कातरया गोप्या तद्भवाश्रितेन मया) अवलोक्यसे? हे दयित, (हे प्राणेभ्योऽपि प्रियतम,) त्वदलोककातरं हृदयं (तव दर्शनाय कातरं व्याकुलं उद्घूर्णाचित्रजल्पादिमयं गोपीजनहृदयं) भ्रामयति (उन्मदयति), किं करोमि, (तत् कथय)।

प्रभु की मूर्च्छा—

एइ श्लोक पड़िते प्रभु हइला मूर्च्छिते।
प्रेमेते विवश हञा पड़िल भूमिते॥१९८॥

१९८। प० अनु०—इस श्लोक का उच्चारण करते ही श्रीचैतन्य महाप्रभु मूर्च्छित हो गये और प्रेम में विवश होकर पृथ्वी पर गिर पड़े।

निताई की गोद में गौर—

आस्ते-व्यस्ते कोले करि' निल नित्यानन्द।
क्रन्दन करिया तबे उठे गौरचन्द्र॥१९९॥

१९९। प० अनु०—जब श्रीचैतन्य महाप्रभु भूमि पर गिरे, उसी समय तत्क्षणात् श्रीनित्यानन्द प्रभु ने व्यस्त होते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपनी गोद में ले लिया और श्रीगौरचन्द्र क्रन्दन करते हुए उठ बैठे।

प्रभु का विप्रलम्भमय-
भावोन्माद—

प्रेमोन्माद हैल, उठि' इति-उति धाय।
हुङ्कार करये, हासे, कान्दे, नाचे, गाय॥२००॥
'अयि दीन', 'अयि दीन', बले बार-बार।
कण्ठे ना निःसरे वाणी, नेत्रे अश्रुधार॥२०१॥
कम्प, स्वेद, पुलकाश्रु, स्तम्भ, वैवर्ण्य।
निर्वेद, विषाद, जाड्य, गर्व, हर्ष, दैन्य॥२०२॥

१९९-२०२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु कृष्ण-प्रेम में उन्मत्त होकर हुँकार करते हुए, हँसते हुए, रोते हुए, नाचते हुए और गाते हुए इधर-उधर दौड़ने लगते। वे बार-बार 'अयि दीन' 'अयि दीन' से प्रारम्भ करके पूरे श्लोक का उच्चारण करना चाहते, किन्तु 'अयि दीन' उच्चारण करने के बाद उनके कण्ठ से वाणी ही निकलती और उनके नेत्रों से अश्रुओं की धाराएँ बहने लगती। उनके श्रीअङ्ग में कम्प, स्वेद, पुलक, अश्रु, स्तम्भ, वैवर्ण्य, निर्वेद, विषाद, जाड्य, गर्व, हर्ष और दैन्य आदि अष्ट सात्विक भाव प्रकाशित होने लगे।

अनुभाष्य

२०२। जाड्य,—(भः रः सिः दः विः चतुर्थ लः)—"जाड्यप्रतिपतिः स्यादिष्टानिष्टश्रुतिक्षणैः। विरहाद्यैश्च तन्मोहत् पूर्वावस्था परापि च।" अर्थात् इष्ट और अनिष्ट के श्रवण, दर्शन और विरह आदि द्वारा जो विचारशून्यता (उपस्थित होती है), उसको 'जाड्य' कहते हैं। यह मोह के पहले और बाद की अवस्था है।

प्रभु की बाह्य-दशा—

एइ श्लोके उघाड़िला प्रेमेर कपाट।
गोपीनाथ-सेवक देखे प्रभुर प्रेमनाट॥२०३॥

२०३। प० अनु०—इस श्लोक के द्वारा मानो श्रीचैतन्य महाप्रभु ने प्रेम के द्वार को खोल दिया। श्रीगोपीनाथ के सेवकों ने महाप्रभुजी के प्रेम से भरे नृत्य का दर्शन किया।

अनुभाष्य

२०३। प्रेमानाट—प्रेम के वशीभूत होकर किया जाने वाला नृत्य।

गोपीनाथ की भोग-आरती—

लोकेर संघट्ट देखि' प्रभुर बाह्य हइल।
ठाकुरेर भोग सरि' आरति बाजिल॥२०४॥

२०४। प० अनु०—लोगों को अपने चारों ओर एकत्रित देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु की बाह्य चेतना लौट आयी और उसी समय श्रीगोपीनाथजी का भोग लगना समाप्त हुआ तथा आरती का घण्टा बजने लगा।

पुजारी के द्वारा प्रभु के निकट १२ पात्रों में खीर लाना—

ठाकुरे शयन कराञा पुजारी हैल बाहिर।
प्रभुर आगे आनि' दिल प्रसाद बार क्षीर॥२०५॥

२०५। प० अनु०—तब श्रीगोपीनाथजी को शयन कराकर पुजारी बाहर आ गया और उसने बारह के बारह खीर के पात्र श्रीचैतन्य महाप्रभु के सामने रख दिये।

अनुभाष्य

२०५। बार,—पूरे बारह कुल्हड़।

खीर को देखने से प्रभु को आनन्द और पाँच पात्रों को ग्रहण करके सात पात्रों को वापिस देना—

क्षीर देखि' महाप्रभुर आनन्द बाड़िल॥
भक्तगणे खाओयाइते पञ्च क्षीर लैल॥२०६॥

२०६। प० अनु०—श्रीगोपीनाथजी के खीर प्रसाद को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का आनन्द बहुत अधिक बढ़ गया और उन्होंने बारह पात्रों में से भक्तों को खिलाने

के उद्देश्य से केवल खीर के केवल पाँच पात्र ही लिये।

श्रीनित्यानन्द आदि चार भक्तों एवं
महाप्रभु द्वारा प्रसाद का सम्मान—

सात क्षीर पूजारीके बाहुड़िया दिल।
पञ्च क्षीर पञ्चजने बाँटिया खाइल॥२०७॥
गोपीनाथ-रूपे यदि करियाछेन भोजन।
भक्ति देखाइते कैल प्रसाद भक्षण॥२०८॥

२०७-२०८। प० अनु०—बचे हुये सात पात्रों को श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पुजारी को लौटा दिया तथा अन्य पाँच खीर के पात्रों को पाँचों ने बाँटकर खा लिया। यद्यपि श्रीगोपीनाथजी विग्रह के रूप में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पहले से ही खीर का भोजन किया था, परन्तु लोगों को भक्ति का आचरण दिखाने के लिये उन्होंने भक्त रूप में फिर से प्रसाद-भक्षण का आचरण करके दिखया।

अनुभाष्य

२०७। बाहुड़िया—आगे बढ़कर लौटाना।

अनुभाष्य

२०८। यद्यपि श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीगोपीनाथ विग्रह के रूप में पहले इसी खीर को ही पाया था, तथापि लोकशिक्षक के रूप में उन्होंने कृष्ण भजन प्रदर्शित करने के लिये खीर रूपी महाप्रसाद का सम्मान किया।

प्रभात होने पर पुरी की ओर यात्रा—

नाम-संकीर्तने सेइ रात्रि गोङाइला।
मङ्गल-आरति देखि' प्रभाते चलिला॥२०९॥

२०९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने नाम-संकीर्त्तन करते ही उस सारी रात को व्यतीत किया तथा प्रभात होने पर मङ्गल आरती का दर्शन करके पुरी की ओर चल दिये।

अनुभाष्य

२०९। गोवाइल,—व्यतीत की।

इस आख्यान के द्वारा प्रभु और उनके भक्तों की
अपूर्व प्रीति और गुणों की महिमा का वर्णन—

एइ त' आख्याने कहिला दोंहार महिमा।
प्रभुर भक्तवात्सल्य, आर भक्तप्रेम-सीमा॥२११॥
भक्त-सङ्गे श्रीमुखे प्रभु कैला आस्वादन।
गोपाल-गोपीनाथ-पुरीगोसाञिर गुण॥२१०॥
श्रद्धायुक्त हञा इहा शुने जेइ जन।
श्रीकृष्ण-चरणे सेइ पाय प्रेमधन॥२१२॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे जार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥२१३॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्यखण्ड में श्रीमाधवेन्द्र पुरी-चरितास्वादन नामक चतुर्थ परिच्छेद समाप्त।

२११-२१३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस आख्यान का वर्णन करते हुये 'भगवान् के भक्तवात्सल्य और उनके भक्तों के प्रेम की सीमा'—इन दोनों की महिमा का वर्णन किया है, इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भक्तों के साथ श्रीगोपाल, श्रीगोपीनाथ और श्रीमाधवेन्द्र पुरी के गुणों का आस्वादन किया। जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक इस आख्यान को सुनता है उसे श्रीकृष्ण के चरणों में प्रेमधन की प्राप्ति होती है। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

अनुभाष्य

२१०। प्रभु और भक्तों का, दोनों का एक-दूसरे के प्रति जो प्रेम है, वह अतुलनीय है।

चतुर्थ परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

❋❋❋

पञ्चम परिच्छेद

कथासार—महाप्रभु याजपुर से होते हुए कटक नगर में पहुँचे तथा वहाँ पर श्रीसाक्षी गोपाल के दर्शन करते हुए नित्यानन्द प्रभु के मुख से गोपाल के प्रसङ्ग को श्रवण किया। विद्यानगर के निवासी दो ब्राह्मण (जिनमें से एक वृद्ध तथा दूसरे युवक थे, वे) बहुत से तीर्थों में भ्रमण करके श्रीवृन्दावन पहुँचे, वृद्ध ब्राह्मण ने युवा ब्राह्मण की सेवा से सन्तुष्ट होकर उसको अपनी कन्या देने की प्रतिज्ञा की। युवक ब्राह्मण ने वृद्ध ब्राह्मण को वृन्दावन के गोपाल विग्रह के सामने इस वचन को स्वीकार कराया तथा गोपाल को बीच में साक्षी रखा। विद्यानगर लौट आने पर युवक ब्राह्मण ने जब विवाह का प्रस्ताव रखा तब वृद्ध ब्राह्मण ने अपने पुत्र-पत्नी आदि के अनुरोध करने पर कहा,—'मुझे तो स्मरण नहीं है कि मैंने ऐसी कोई प्रतिज्ञा की थी।' उस वृद्ध ब्राह्मण की बात सुनकर युवक ब्राह्मण पुनः गोपाल के पास गये तथा उसने गोपाल को पूरी बात कह सुनाई, तथा अपनी भक्ति द्वारा गोपाल को मजबूर करके दक्षिण देश (विद्या-नगर) ले आया। गोपाल युवक ब्राह्मण के पीछे- पीछे नूपुर की ध्वनि करते-करते विद्यानगर के निकट पहुँचकर रुक गये। युवक ब्राह्मण विद्यानगर के सज्जन व्यक्तियों को, वृद्ध ब्राह्मण और उसके पुत्रों को वहाँ ले आये तथा जब युवक ब्राह्मण ने गोपाल की साक्षी दिलाई, तब वे सब बहुत ही आश्चर्य चकित हो गये तथा उन्होंने वृद्ध ब्राह्मण की कन्या के साथ युवक विप्र का विवाह कार्य सम्पन्न किया। विद्यानगर के राजा ने गोपाल के लिये भक्तिपूर्वक मन्दिर आदि का निर्माण करवा दिया। बहुत दिनों के बाद उत्कल (उड़ीसा) के राजा पुरुषोत्तम देव को विद्यानगर के राजा ने जगन्नाथ का झाड़ूदार कहकर घृणापूर्वक अपनी कन्या देने से मना किया, राजा पुरुषोत्तम देव ने श्रीजगन्नाथ की सहायता से उस राजा से युद्ध किया तथा उसको पराजित करके उसकी कन्या और राज्य को ग्रहण किया। उस समय से वैष्णव राज पुरुषोत्तम देव की भक्ति की डोर से बन्धकर गोपाल कटक नगर में लाये गये। इस प्रसङ्ग को सुनकर महाप्रभु ने महाप्रेम पूर्वक गोपाल का दर्शन किया। कटक से भुवनेश्वर शिव के दर्शन करके कमलपुर में भार्गी नदी के तट पर कपोतेश्वर शिव के दर्शन के छल से महाप्रभु नित्यानन्द प्रभु के हाथ में अपने संन्यास का दण्ड देकर गये। नित्यानन्द प्रभु ने दण्ड के तीन टुकड़े करके उसे भार्गी नदी में फैंक दिया। 'आठारनाला' के पास पहुँचकर जब महाप्रभु को अपना दण्ड नहीं मिला, तब वे अपने साथियों को छोड़कर अकेले ही श्रीजगन्नाथ मन्दिर गये।

(अ:प्र:भा:)

भक्तवश साक्षिगोपाल को प्रणाम—

पद्भ्यां चलन् यः प्रतिमा-स्वरूपो
ब्रह्मण्य देवो हि शताहगम्यम्।
देशं ययौ विप्रकृतेहद्भुतेहहं
तं साक्षिगोपालमहं नतोऽस्मि॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जो ब्रह्मण्यदेव विग्रह के रूप में होने पर भी ब्राह्मण के उपकार के लिये उस स्थान पर पैदल चलते-चलते पहुँचे, जहाँ पहुँचने में सौ दिन लग जाते हैं। उन्हीं अद्भुत चेष्टा करने वाले साक्षी गोपाल को मैं प्रणाम करता हूँ।

अनुभाष्य

१। यः (गोपालः) प्रतिमास्वरूपः (अर्च्चाश्रित विग्रहः) ब्रह्मण्यदेवः पद्भ्यां चलन् विप्रकृते (ब्राह्मण्यस्योपकाराय) हि शताहगम्यं (शतदिवसप्राप्यं) देशं (माथुरमण्डलात्

विद्यानगर) ययौ, अहं तम् अद्भुतेऽहं (अपूर्वचेष्टा-समन्वित) साक्षिगोपालं नतोऽस्मि (प्रणमामि)।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो तथा श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो।

प्रभु के द्वारा याजपुर में
वराहदेव का दर्शन—

चलिते चलिते आइला याजपुर-ग्राम।
वराह-ठाकुर देखि' करिला प्रणाम॥३॥

३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा अन्यान्य सङ्गी भक्त चलते-चलते याजपुर नामक ग्राम में पहुँचे तथा वहाँ वराह भगवान् के विग्रह को देखकर उन्होंने प्रणाम किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

३। याजपुरग्राम,—उड़ीसा में वैतरणी नदी के तट पर स्थित विरजाक्षेत्र में नाभिगया रूपी एक विशेष तीर्थ स्थान है।

अनुभाष्य

३। याजपुर,—कटक जिले का एक महकमा; उसको 'नाभिगया कहते हैं। यहाँ पर 'ब्राह्मण नगर'—पल्ली में वराहदेव विराजमान हैं।

प्रभु के द्वारा नृत्य-गीत और वहीं रात्रि वास—

नृत्यगीत कैल प्रेमे बहुत स्तवन।
याजपुरे से रात्रि रहि' करिला गमन॥४॥

४। प० अनु०—भगवान् वराहदेव के मन्दिर में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने नृत्य-गीत करते हुए प्रेमपूर्वक बहुत स्तव किया और उस रात याजपुर में ही निवास करने के बाद प्रातः ही वे वहाँ से चल दिये।

कटक में साक्षिगोपाल का दर्शन—

कटके आइला साक्षिगोपाल देखिते।
गोपाल-सौन्दर्य देखि' हैला आनन्दिते॥५॥

५। प० अनु०—तदुपरान्त, श्रीचैतन्य महाप्रभु कटक में श्रीसाक्षीगोपाल का दर्शन करने आये और श्रीसाक्षी गोपाल का सौन्दर्य देखकर वे बड़े आनन्दित हुये।

प्रभु का प्रेम में आविष्ट होकर नृत्य करना—

प्रेमावेशे नृत्यगीत कैल कतक्षण।
आविष्ट हञा कैल गोपाल स्तवन॥६॥

६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने वहाँ प्रेम में आविष्ट होकर कुछ देर तक नृत्य-गीत किया और आविष्ट होकर उन्होंने श्रीगोपाल का स्तव किया।

उस रात्रि मन्दिर में रहकर प्रभु के द्वारा नित्यानन्द
के मुख से साक्षिगोपाल के वृत्तान्त का श्रवण—

सेइ रात्रि ताँहा रहि' भक्तगण-सङ्गे।
गोपालेर पूर्वकथा शुने प्रभु रङ्गे॥७॥

७। प० अनु०—उस रात श्रीचैतन्य महाप्रभु भक्तों के साथ वहीं रहे और उन्होंने बड़े आनन्द से गोपालजी की पूर्व कथा का श्रवण किया।

पहले तीर्थ भ्रमण करते-करते
निताई के द्वारा श्रवण का सुयोग—

नित्यानन्द-गोसाञि जबे तीर्थ भ्रमिला।
साक्षिगोपाल देखिबारे कटक आइला॥८॥
साक्षिगोपालेर कथा शुनि' लोकमुखे।
सेइ कथा कहेन, प्रभु शुने महासुखे॥९॥

८-९। प० अनु०—पहले जब श्रीनित्यानन्द गोसाईं ने तीर्थों में भ्रमण किया था। तब वे श्रीसाक्षीगोपाल का दर्शन करने कटक में आये थे। उस समय उन्होंने लोगों से श्रीसाक्षीगोपाल के सम्बन्ध में जिस कथा को सुना था, आज उसी कथा को वे सुनाने लगे तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु उसे परम आनन्दित होकर सुनने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

८। साक्षिगोपाल—महानदी के तट पर एक बड़ा नगर है—कटक; वहाँ पर उस अर्थात् श्रीमन् महाप्रभु के समय साक्षी गोपाल विराजमान थे। साक्षी गोपाल जब दक्षिण भारत से लाये गये थे, तब सबसे पहले वह कुछ दिनों तक कटक में थे तथा उसके बाद कुछ दिनों तक वे श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र में श्रीजगन्नाथ मन्दिर में रहे। वहाँ पर (उनका श्रीजगन्नाथ देव से) किसी प्रकार का प्रेम कलह उपस्थित हुआ, जिसके कारण उड़ीसा के राजा ने पुरुषोत्तम से तीन कोस दूर 'सत्यवादी' नाम के एक गाँव को बसाकर वहीं गोपाल को रखा। अब उसी गाँव में एक पक्के मन्दिर में श्रीसाक्षी गोपाल विराजमान हैं।

साक्षिगोपाल का वृत्तान्त; दो ब्राह्मणों की कथा—

पूर्वे विद्यानगरेर दुइ त' ब्राह्मण।
तीर्थ करिबारे दुँहे करिला गमन॥१०॥
गया, वाराणसी, प्रयाग—सकल करिया।
मथुराते आइला दुँहे आनन्दित हञा॥११॥
वनयात्राय वन देखि' देखे गोवर्धन।
द्वादश-वन देखि' शेषे गेला वृन्दावन॥१२॥
वृन्दावने गोविन्द-स्थाने महादेवालय।
से मन्दिरे गोपालेर महा-सेवा हय॥१३॥

१०-१३। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु बतलाने लगे—पूर्व काल में एक समय विद्यानगर के दो ब्राह्मण तीर्थ यात्रा करने के उद्देश्य से चल दिये। वे गया, वाराणसी, प्रयाग आदि सभी तीर्थों में भ्रमण करने के बाद आनन्दपूर्वक मथुरा में आ पहुँचे। वन यात्रा (व्रज यात्रा) करते हुये उन दोनों ने गोवर्द्धन तथा द्वादश वन आदि का दर्शन किया और अन्त में वृन्दावन आ पहुँचे। वृन्दावन में श्रीगोविन्दजी के स्थान (गोविन्द घेरा) में एक विशाल मन्दिर था जिसमें श्रीगोपालजी की राज-सेवा होती थी।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२। द्वादशवन,—यथा, भद्र, बेल, लौह, भाण्डीर और महावन, ये पाँच वन—यमुना के पूर्व में; मधु, ताल, कुमुद, बहुला, काम्य, खदीर और वृन्दावन, ये सात वन—यमुना के पश्चिम में हैं। इन द्वादश वनों को देखकर अन्त में 'पाँच कोस वाले वृन्दावन'—नामक स्थान पर गये। तात्पर्य यह है कि द्वादश वनों में जो वृन्दावन है, वह इस वृन्दावन से आरम्भ होकर नन्दगाँव, बरसाना पर्यन्त सोलह कोस विस्तृत है; उसमें 'पाँच कोस का वृन्दावन' नामक एक गाँव है।

केशीतीर्थ, कालीय-ह्रदादिके कैल स्नान।
श्रीगोपाल देखि' ताँहा करिला विश्राम॥१४॥
गोपाल-सौन्दर्य दुँहार मन निल हरि'।
सुख पाञा रहे ताँहा दिन दुइ-चारि॥१५॥

१४-१५। प० अनु०— दोनों ब्राह्मणों ने केशीघाट तथा कालीय ह्रद आदि तीर्थों में स्नान किया और तब श्रीगोपालजी का दर्शन कर उन्होंने वहीं मन्दिर में ही विश्राम किया। श्रीगोपालजी के सौन्दर्य ने उन दोनों के मन को हर लिया, अत्यधिक आनन्दित होकर वे सुखपूर्वक दो-चार दिन वहीं रह गये।

दुइविप्र-मध्ये एक विप्र—वृद्धप्राय।
आर विप्र—युवा, ताँर करेन सहाय॥१६॥
छोटविप्र करे सदा ताँहार सेवन।
ताँहार सेवाय विप्रेर तुष्ट हैल मन॥१७॥

१६-१७। प० अनु०—उन दोनों ब्राह्मणों में से एक ब्राह्मण वृद्ध थे और दूसरे युवक। युवा ब्राह्मण वृद्ध ब्राह्मण की तीर्थ यात्रा करने में सहायता करते थे। छोटे विप्र सदैव वृद्ध ब्राह्मण की सेवा करते। उसकी सेवा से वृद्ध ब्राह्मण का मन बहुत सन्तुष्ट हुआ।

विप्र बले,—"तुमि मोर बहु सेवा कैला।
सहाय हञा मोरे तीर्थ कराइला॥१८॥
पुत्रेओ पितार ऐछे ना करे सेवन।
तोमार प्रसादे आमि ना पाइलाम श्रम॥१९॥

कृतघ्नता हय तोमाय ना कैले सम्मान।
अतएव तोमाय आमि दिब कन्यादान॥"२०॥

१८-२०। प० अनु०—एकदिन वृद्ध ब्राह्मण ने छोटे ब्राह्मण से कहा—तुमने मेरी बहुत सेवा की है। मेरे सहायक बनकर तुमने मुझे तीर्थ यात्रा करायी है। कोई पुत्र भी पिता की ऐसी सेवा नहीं करता जैसे तुमने मेरी की है, तुम्हारी कृपा से मुझे तीर्थ भ्रमण में कोई भी परिश्रम नहीं हुआ। इसलिये यदि मैं तुम्हारा सम्मान नहीं करूँ तो यह मेरी कृतघ्नता होगी। अतः मैं तुम्हें अपनी कन्या का दान करूँगा।"

छोटविप्र कहे,—"शुन, विप्र-महाशय।
असम्भव कह केने, जेइ नाहि हय॥२१॥
महाकुलीन तुमि—विद्या-धनादि-प्रवीण।
आमि अकुलीन, आर धन-विद्या-हीन॥२२॥
कन्यादान-पात्र आमि ना हइ तोमार।
कृष्णप्रीत्ये करि तोमार सेवा-व्यवहार॥२३॥
ब्राह्मण-सेवाय कृष्णेर प्रीति बड़ हय।
ताँहार सन्तोषे भक्ति-सम्पद बाड़य॥"२४॥

२१-२४। प० अनु०—बड़े विप्र की बात सुनकर छोटे विप्र ने कहा—"हे विप्र महाशय! आप ऐसी असम्भव सी बात क्यों कर रहे हैं, जो कभी हो ही नहीं सकती। कहाँ तो आप महाकुलीन और धन, विद्या आदि में प्रवीण और कहाँ मैं अकुलीन तथा उस पर भी धन और विद्या से भी हीन। इसलिये मैं आपके कन्या दान का उपयुक्त पात्र नहीं हूँ। मैंने तो केवल श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के उद्देश्य से ही आपकी सेवा की है। क्योंकि ब्राह्मण की सेवा करने से श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न होते हैं तथा भगवान् श्रीकृष्ण के सन्तुष्ट होने से भवगद् भक्ति रूपी सम्पत्ति की वृद्धि होती है।

अनुभाष्य

२३-२४। कृष्ण की प्रीति के उद्देश्य से छोटे ब्राह्मण ने भगवद् भक्त बड़े ब्राह्मण की सेवा की थी, उसी के फलस्वरूप अपने भक्त के सम्मान की रक्षा करने के लिये श्रीगोपाल नामक ठाकुरजी ने साक्षी दी थी। नहीं तो, छोटे ब्राह्मण द्वारा की गयी बड़े ब्राह्मण की सेवा और उसकी कन्या के विवाह आदि की सम्मति रूपी इन्द्रिय तर्पणमय क्रिया जागतिक कर्मकाण्ड कहलाती तथा श्रीमन्महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु कभी भी उसका आदर न करते।

बड़विप्र कहे,—"तुमि ना कर संशय।
तोमाके कन्या दिब आमि, इथे कि विस्मय॥"२५॥

२५। प० अनु०—यह सुनकर बड़े विप्र ने कहा—"तुम मेरी बात में संशय मत करो। मैं तुम्हें अवश्य ही अपनी कन्या का दान करूँगा, इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

छोटविप्र बले,—"तोमार स्त्रीपुत्र सब।
बहु ज्ञाति-गोष्ठी तोमार बहुत बान्धव॥२६॥
ता'-सबार सम्मति बिना नहे कन्यादान।
रुक्मिणीर पिता भीष्मक ताहाते प्रमाण॥२७॥
भीष्मकेर इच्छा,—कृष्णे कन्या समर्पिते।
पुत्रेर विरोधे कन्या नारिल अर्पिते॥"२८॥

२६-२८। प० अनु०—छोटा विप्र कहने लगा—"आपके लिये अपनी स्त्री, पुत्र, सब जाति वाले और सब बन्धु-बान्धव की सम्मति के बिना कन्यादान करना सम्भव पर नहीं होगा। रुक्मिणी के पिता भीष्मक इसके प्रमाण हैं। जैसे रुक्मिणी के पिता भीष्मक की इच्छा थी कि वे अपनी कन्या को श्रीकृष्ण को समर्पित करेंगे परन्तु उपने पुत्र रुक्मी के विरोध के कारण वे अपनी कन्या को श्रीकृष्ण को अर्पण न करे सके।"

अनुभाष्य

२८। (भा: १०/५२/२१)—"राजासीद्भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिर्महान्। तस्य पञ्चाभवन् पुत्राः कन्येका रुचिरानना॥ बन्धुनामिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप। ततो निवार्य कृष्णद्विट् रुक्मी चैद्यममन्यत॥" (भा: १०/५३/२)—"श्रीभगवानुवाच—तथाहमपि तच्चित्तो

निद्राञ्च न लभे निशि। वेदाहं रुक्मिणिा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः॥"

विदर्भराज भीष्मक के ज्येष्ठपुत्र रुक्मी ने अपनी बहन रुक्मिणी के हरण के समय कृष्ण को कोई बुरी बात (गाली) कही, जिससे उसका कृष्ण के साथ युद्ध हुआ, जिसके फलस्वरूप (यद्यपि उसी मृत्यु निश्चित थी, तब भी) विनष्ट होने के बदले रुक्मिणी के अनुरोध के कारण उसको जीवन की प्राप्ति हुई। कृष्ण ने खड्ग द्वारा उसके दाड़ी के केशों को काटकर तथा उसका मुण्डन करके उसको कुरूप बनाकर छोड़ दिया।

बड़विप्र कहे,—"कन्या मोर निज-धन।
निज-धन दिते निषेधिबे कोन् जन॥२९॥
तोमाके कन्या दिब, सबाके करि' तिरस्कार।
संशय ना कर तुमि, करह स्वीकार॥"३०॥

२९-३०। प० अनु०—बड़े विप्र ने कहा—"कन्या मेरी अपनी सम्पत्ति है, मुझे मेरी अपनी सम्पत्ति किसी को देने से कौन रोक सकता है? मैं तुम्हें ही अपनी कन्या दूँगा, और जो उसमें बाधा देगा, मैं उन सबका तिरस्कार करूँगा, तुम मेरी इस बात में संशय मत करो, अतः तुम मेरे इस प्रस्ताव को स्वीकार करो।"

छोटविप्र कहे,—"यदि कन्या दिते मन।
गोपालेर आगे कह ए सत्यवचन॥"३१॥

३१। प० अनु०—छोटे विप्र ने कहा—"यदि आपका मुझे अपनी कन्या देने का इतना आग्रह है तो आप गोपालजी के श्रीविग्रह के समक्ष अपने सत्य वचन कहिए।"

गोपालेर आगे विप्र कहिते लागिल।
"तुमि जान, निज-कन्या इहारे आमि दिल॥"३२॥
छोटविप्र बले,—"ठाकुर, तुमि मोर साक्षी।
तोमा साक्षी बोलाइमु, यदि अन्यथा देखि॥"३३॥

३२-३३। प० अनु०—तब गोपालजी के सामने आकर बड़े विप्र ने कहा—"हे प्रभु! आप इसे सुनकर रखिये कि मैं वाक् दान के माध्यम से इस ब्राह्मण को आज अपनी कन्या का दान करता हूँ।" और छोटे विप्र ने गोपालजी की ओर देखते हुए कहा—"हे ठाकुर! आप मेरे साक्षी हो, यदि इन ब्राह्मण के व्यवहार में कही गयी बात से कुछ विपरीत देखूँगा तो मैं आपको ही साक्षी देने के लिये बुलाऊँगा।"

एत बलि' दुइजने चलिला देशेरे।
गुरुबुद्ध्ये छोट-विप्र बहु सेवा करे॥३४॥

३४। प० अनु०—इतना कहकर दोनों ब्राह्मण अपने वास स्थान की ओर चल दिये। पहले की ही भाँति छोटा विप्र गुरु (पूज्य) बुद्धि से बड़े विप्र की बहुत सेवा करते।

देशे आसि' दुइजने गेला निज-घरे।
कतदिने बड़-विप्र चिन्तित अन्तरे॥३५॥
'तीर्थे विप्र वाक्य दिलूँ,—केमते सत्य हय।
स्त्री, पुत्र, ज्ञाति, बन्धु जानिबे निश्चय॥'३६॥

३५-३६। प० अनु०—विद्यानगर आकर दोनों ब्राह्मण अपने-अपने घर चले गये और कुछ दिनों के बाद बड़े विप्र अपने मन में चिन्तित होकर विचार करने लगे—"मैंने तीर्थ यात्रा करते समय विप्र को जो वचन दिया था, वह कैसे सत्य हो? यदि मैं उस ब्राह्मण को अपनी कन्या का दान करता हूँ तो स्त्री, पुत्र तथा सङ्गे-सम्बन्धियों को अवश्य ही इस बात का पता चलेगा ही चलेगा।"

एकदिन निज-लोक एकत्र करिल।
ता-सबार आगे सब वृत्तान्त कहिल॥३७॥
शुनि, सब गोष्ठी तार करे हाहाकार।
'ऐछे बात् मुखे तुमि ना आनिबे आर॥३८॥
नीचे कन्या दिले कुल जाइबेक नाश।
शुनिञा सकल लोक करिबे उपहास॥'३९॥

३७-३९। प० अनु०—वृद्ध ब्राह्मण ने एक दिन अपने सङ्गे-सम्बन्धियों को बुला करके उन्हें सब वृत्तान्त सुनाया। वृद्ध ब्राह्मण की बात सुनकर सब लोग हा-हाकार करने लगे और कहने लगे—"ऐसी बात फिर कभी अपने मुँह में भी मत लाना। यदि आप नीच जाति में अपनी कन्या का दान करेंगे, तो हमारे कुल की मर्यादा नष्ट हो जायेगी और इस बात को सुनकर सभी लोग हमारा उपहास करेंगे।

विप्र बले,—"तीर्थ-वाक्य केमने करि आन।
ये हउक्, से हउक्, आमि दिब कन्यादान॥"४०॥

४०। प० अनु—वृद्ध ब्राह्मण ने कहा—"तीर्थ यात्रा के समय मैंने जो वचन दिया है, मैं उसका कैसे उल्लंघन कर सकता हूँ? उसके फलस्वरूप जो होना सो हो जाये परन्तु मैं तो उसे ही अपनी कन्या दान करूँगा।"

ज्ञाति लोक कहे,—'मोरा तोमाके छाड़िब।'
स्त्री-पुत्र कहे,—'विष खाइया मरिब॥'४१॥

४१। प० अनु०—बड़े विप्र का ऐसा दृढ़ संकल्प सुनकर सभी सगे-सम्बन्धी लोग कहने लगे—"यदि तुम ऐसा करोगे तो हम तुम्हें जाति से बाहर कर देंगे।" तथा उनके स्त्री-पुत्र ने कहा—"यदि आप उसे कन्या दान करोगे तो हम विष खाकर मर जायेंगे।"

विप्र बले,—"साक्षी बोलाञा करिबेक न्याय।
जिति' कन्या लबे, मोर व्यर्थ धर्म हय॥"४२॥

४२। प० अनु०—अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

अनुभाष्य

४२। बड़े ब्राह्मण ने कहा, मैं अपनी प्रतिज्ञानुसार छोटे ब्राह्मण को यदि कन्या प्रदान नहीं करूँगा, तो छोटा ब्राह्मण श्रीगोपाल के विग्रह को साक्षी मानकर बलपूर्वक मेरी कन्या को जय कर ही लेगा; तब तो मेरा धर्म निष्फल हो जायेगा (अर्थात् अभी राजी-राजी अपनी प्रतिज्ञानुसार कन्या दे दूँगा, तो मेरे धर्म की रक्षा हो जायेगी, किन्तु यदि अभी ऐसा नहीं करता हूँ तो बाद में कन्या तो देनी ही पड़ेगी, किन्तु वचन को पूरा न करने के कारण मेरा धर्म भी निष्फल हो ही जायेगा)

पुत्र बले,—"प्रतिमा साक्षी, सेह दूर देशे।
के तोमार साक्षी दिबे, चिन्ता कर किसे॥४३॥
नाहि कहि,—ना कहि ए मिथ्या-वचन।
सबे कहिबे, 'मोर किछु नाहिक स्मरण॥'४४॥
तुमि यदि कह,—'आमि किछुइ ना जानि'।
तबे आमि न्याय करि' ब्राह्मणेरे जिनि॥४५॥

४३-४५। प० अनु०—तब उनके पुत्र ने कहा—'पहली बात तो साक्षी प्रतिमा है, और उस पर भी बहुत दूर में अवस्थित है। कौन तुम्हारी साक्षी देंगे? आप किसलिए व्यर्थ की चिन्ता कर रहे हैं। 'मैंने ऐसा नहीं कहा था'—आपको ऐसा झूठ बोलने की कोई आवश्यकता नहीं है। आप केवल इतना ही कहना कि 'मुझे कुछ स्मरण ही नहीं है।' यदि आप केवल इतना ही कह दें कि 'मुझे इस विषय में कुछ भी नहीं पता' तब तो मैं न्याय के द्वारा उस छोटे विप्र को जय कर लूँगा।'

अमृतप्रवाह भाष्य

४४। 'मैं कन्या दूँगा, मैंने ऐसा बोला ही नहीं'—ऐसे झूठे वचन मत कहना, केवल इतना ही कहना, 'मुझे तो ऐसा स्मरण नहीं।'

अनुभाष्य

४३-४५। बड़े ब्राह्मण का नास्तिक, स्मार्त्त, विषयों में चतुर, किन्तु मूर्ख पुत्र ने श्रीविग्रह के चेतनत्व और विभुत्व में विश्वास न करके पौत्तालिक (विग्रह को बुत समझने वाले व्यक्ति) की भाँति श्रीविग्रह में शिला-काष्ठ बुद्धि करते हुए पिता से कहा—पहली बात तो यह कि साक्षी प्रतिमा है, अतएव वह चेतन वस्तु की भाँति बात करेंगे, यह विश्वास करने की बात नहीं है; दूसरा वह बहुत दूर में है, अतएव बहुत दूर से यहाँ पर आकर साक्षी देना उनके लिये सम्भव नहीं होगा; अतएव आप किसी प्रकार की चिन्ता मत कीजिए। आप स्पष्ट रूप

से झूठ बोलकर अपनी प्रतिज्ञा को सम्पूर्ण रूप से अस्वीकार ना करके राजा युधिष्ठिर के "अश्वत्थामा हत इति गजः" अर्थात् "अश्वथामा मारा गया, नर नहीं कुंजर" इन वाक्यों की भाँति, केवल इतना ही कहना तथा ऐसे ही हाव-भाव दिखाना कि, आपको कुछ भी स्मरण नहीं आ रहा है, अर्थात् आप इस विषय में कुछ नहीं जानते; तब फिर मैं छोटे ब्राह्मण को कूट (अत्यधिक शक्तिशाली) तर्क में फँसाकर उसको हरा दूँगा, और आपको भी कन्यादान रूपी विपत्ति से सबके सामने उद्धार करके आपकी प्रतिज्ञा को भी नहीं टूटने दूँगा और साथ ही कुल के सम्मान की रक्षा भी करूँगा। न्याय—तर्क।

एत शुनि' विप्रेर चिन्तित हैल मन।
एकान्तभावे चिन्ते विप्र गोपाल-चरण॥४६॥
'मोर धर्म रक्षा पाय, ना मरे निज-जन।
दुइ रक्षा कर, गोपाल, लइनु शरण॥'४७॥
एइमत विप्र चित्ते चिन्तिते लागिल।
आर दिन लघु विप्र ताँर घरे आइल॥४८॥
आसिञा परम-भक्तये नमस्कार करि'।
विनय करिञा कहे कर दुइ जूडि'॥४९॥

४६-४९। प० अनु०—यह सब सुनकर बड़ा विप्र मन-ही-मन बहुत चिन्तित हो गया और वे एकान्त भाव से श्रीगोपालजी के श्रीचरणों को स्मरण करते हुए कहने लगे—'हे गोपाल! मैं आपके श्रीचरणों में शरण ग्रहण करता हूँ। आप कृपया मेरे धर्म के साथ-साथ मेरे स्त्री-पुत्र आदि की मरने से रक्षा करो।' इस प्रकार अगले दिन जब वे बड़े विप्र इस प्रकार चिन्ता कर रहे थे, तब वे छोटा विप्र उनके घर पर आये। छोटे विप्र ने बड़े विप्र को बहुत श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और हाथ जोड़कर दीनता पूर्वक कहने लगा—

"तुमि मोरे कन्या दिते करयाछ अङ्गीकार।
एबे किछु नाहि कह, कि तोमार व्यवहार॥"५०॥

एत शुनि' सेइ विप्र रहे मौन धरि'।
ताँर पुत्र मारिते आइल हाते ठेङ्गा करि'॥५१॥
"अरे अधम! मोर भग्नी चाह विवाहिते।
वामन हञा चन्द्रे जेन चाह त' धरिते॥"५२॥
ठेङ्गा देखि' सेइ विप्र पलाञा गेल।
आर दिन ग्रामेर लोक एकत्र करिल॥५३॥

५०-५३। प० अनु०—तीर्थयात्रा के समय "आपने मुझे अपनी कन्या देने का वचन दिया था, परन्तु अब लौटकर आप उस विषय में कुछ नहीं कहते। यह आपका कैसा व्यवहार है?" छोटे विप्र की बात सुनकर बड़े विप्र मौन रह गये, किन्तु उनका पुत्र उस छोटे विप्र को मारने के लिये हाथ में लाठी लेकर आया और कहने लगा—"अरे अधम! तू मेरी बहन से विवाह करना चाहता है? बौना होकर तू चाँद पकड़ना चाहता है?" उस दिन तो छोटा विप्र लाठी देखकर वहाँ से भाग गया परन्तु अगले दिन उसने गाँव के सभी लोगों को इकट्ठा कर लिया।

सब लोक बड़विप्रे डाकिया आनिल।
तबे सेइ लघुविप्र कहिते लागिल॥५४॥
"इँहो मोरे कन्या दिते करयाछे अङ्गीकार।
एबे जे ना देन, पूछ इँहार व्यवहार॥"५५॥

५४-५५। प० अनु०—तब गाँव के लोग बड़े विप्र को बुलाकर ले आये और छोटा विप्र सब गाँव वालों के समक्ष कहने लगा—"इन्होंने मुझे अपनी कन्या देने का वचन दिया था, परन्तु अभी तक इन्होंने मुझे अपनी कन्या का दान नहीं दिया, आप सभी इनसे ऐसा करने का कारण पूछिये।"

तबे सेइ विप्रेरे पूछिल सर्वजन।
'कन्या केने ना देह, यदि दियाछ वचन॥'५६॥
विप्र कहे,—"शुन, लोक, मोर निवेदन।
कबे कि बलियाछि, मोर नाहिक स्मरण॥"५७॥
एत शुनि' ताँर पुत्र वाक्य-छल पाञा।
प्रगल्भ हइया कहे सम्मुखे आसिञा॥५८॥

"तीर्थयात्राय पितार सङ्गे छिल बहु धन।
धन देखि' एइ दुष्टेर लैते हैल मन॥५९॥
आर केह सङ्गे नाहि, एइ सङ्गे एकल।
धुतुरा खाओयाञा बापे करिल पागल॥६०॥
सब धन लञा कहे 'चोरे लइल धन।'
'कन्या दिते चाहियाछे' उठाइल वचन॥६१॥
तोमरा सकल लोक करह विचारे।
मोर पितार कन्या दिते योग्य कि इहारे'॥६२॥

५६-६२। प० अनु०—तब सभी लोगों ने बड़े विप्र से पूछा—"यदि तुमने इसे अपनी कन्या देने का वचन दिया था तो तुम इसे कन्यादान क्यों नहीं कर रहे?" बड़े विप्र ने कहा—"आप लोग मेरी प्रार्थना सुनिये। मैंने इसे किस समय क्या कहा था मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है।" बड़े विप्र का पुत्र सुयोग पाकर चतुरता से सबके सामने आकर कहने लगा—"तीर्थ यात्रा के समय मेरे पिता के पास बहुत धन था। उस धन को देखकर इस दुष्ट को उसे लेने की इच्छा हुई। मेरे पिता के साथ उस समय और कोई भी नहीं था केवल यही अकेला था। इसने धतूरा खिलाकर मेरे पिता को पागल कर दिया और उनका सारा धन चुराकर कहने लगा कि 'चोर सब धन ले गया है' और अब ये एक नयी बात उठा रहा है कि मेरे पिता ने इसे कन्या दान करने का वचन दिया था। अब आप सब लोग विचार करो कि क्या ये मेरे पिता के द्वारा किये जाने वाले कन्या दान को ग्रहण करने योग्य है?"

अनुभाष्य

५८। छल,—वक्ता जो शब्द जिस अर्थ के लिये प्रयोग करता है, उस शब्द के उस अर्थ को ग्रहण न करके उसके विपरीत अर्थ की कल्पना करके प्रतिवादी जो मिथ्या दोषारोपण करता है, वही 'छल' है।

एत शुनि' लोकेर मने हइल संशय।
'सम्भवे,—धनलोभे लोक छाड़े धर्मभय॥'६३॥
तबे छोटविप्र कहे,—"शुन, महाजन।
न्याय जिनिबारे कहे असत्य-वचन॥६४॥

६३-६४। प० अनु०—बड़े विप्र की बात सुनकर लोगों के मन में भी संशय हो गया कि 'हो भी सकता है कि ऐसा ही हो। क्योंकि धन के लोभ के कारण लोग धर्म के भय को भी छोड़ देते हैं।' तब छोटे विप्र ने कहा—"सुनो महाजन! युक्ति-तर्क के माध्यम से मुझसे जीतने के लिये ही बड़े विप्र का पुत्र असत्य कह रहा है।

अनुभाष्य

६३। अर्थ के लोभ से लोगों के धर्म और अधर्म का विवेक लुप्त हो जाता है, अतएव छोटा ब्राह्मण उस समय अर्थ की लालसा से बड़े-विप्र के ऊपर अत्याचार कर भी सकता है,—लोगों ने ऐसा सन्देह किया।

एइ विप्र मोर सेवाय तुष्ट जबे हैला।
'तोरे आमि कन्या दिब' आपने कहिला॥६५॥
तबे मुञि निषेधिनु,—'शुन, द्विजवर।
तोमार कन्यार योग्य नहि मुञि वर॥६६॥
काहाँ तुमि पण्डित, धनी, परम-कुलीन।
काहाँ मुञि दरिद्र, मूर्ख, नीच, कुलहीन'॥६७॥

६५-६७। प० अनु०—"वास्तव में मेरी सेवा से सन्तुष्ट होकर इन्होंने स्वयं ही कहा था कि 'मैं तुम्हें अपनी कन्या का दान करूँगा'। तब मैंने इन्हें निषेध करते हुए कहा था—'सुनो द्विजवर! मैं आपकी कन्या के लिये योग्य पात्र नहीं हूँ। कहाँ तो आप पण्डित, धनवान और परम कुलीन और कहाँ मैं दरिद्र, मूर्ख, नीच और कुलहीन हूँ।'

तबु एइ विप्र मोरे कहे बार बार।
'तोरे कन्या दिब, तुमि करह स्वीकार'॥६८॥
तबे आमि कहिलाङ,—'शुन, महामति।
तोमार स्त्री-पुत्र-ज्ञातिर ना हबे सम्मति॥६९॥

कन्या दिते नारिबे, हबे असत्य-वचन।
पुनरपि कहे विप्र करिया यतन॥७०॥
'कन्या तोरे दिब, द्विधा ना करिह चिते।
आत्मकन्या दिब, केबा पारे निषेधिते'॥७१॥

६८-७१। प० अनु०—किन्तु तब भी इन विप्र ने मुझे बार-बार कहा था—'मैं तुम्हें अवश्य ही अपनी कन्या दूँगा, तुम उसे स्वीकार करो।' तब मैंने कहा था—'सुनो महामति! आपके स्त्री, पुत्र और सगे-सम्बन्धी इस बात से सहमत नहीं होंगे। आप अपनी कन्या मुझे नहीं दे पायेंगे और आपका वचन झूठा हो जायेगा। परन्तु फिर भी इन्होंने दृढ़ होकर कहा था कि "मैं तुम्हें अपनी कन्या का दान करूँगा। इस विषय में तुम कुछ भी संशय मत करो। मैं अपनी ही कन्या तुम्हें दूँगा। मुझे ऐसा करने से कौन रोक सकता है?"

तबे आमि कहिलाङ, दृढ़ करि' मन।
'गोपालेर आगे कह ए-सत्य वचन'॥७२॥
तबे इँहो गोपालेर आगेते कहिल।
'तुमि जान, एइ विप्र कन्या आमि दिल'॥७३॥
तबे आमि गोपालेरे साक्षी करिञा।
कहिलाङ ताँर पदे प्रणत हञा॥७४॥
'यदि एइ विप्र मोरे ना दिबे कन्यादान।
साक्षि बोलाइमु तोमाय, हइओ सावधान'॥७५॥

७२-७५। प० अनु—तब मैंने मन को दृढ़ करके कहा—'यदि आपके वचन सत्य हैं तो आप गोपालजी के सामने इन सत्य वचनों को कहो।' मेरी बात सुनकर इन्होंने भी गोपालजी के सामने कहा था—'हे प्रभु! आप मेरी बात सुनकर रखिये, कि मैं इस विप्र को अपनी कन्या का दान करता हूँ'। तब मैंने भी गोपालजी को साक्षी बनाकर उनके चरणों में प्रणत होकर कहा था—'यदि इन विप्र ने मुझे अपनी कन्या दान नहीं की तो मैं आपको साक्षी देने के लिये बुलाऊँगा, कृपया इस विषय में सावधान रहना।'

एइ वाक्ये साक्षि मोर आछे महाजन।
जाँर वाक्य सत्य करि' माने त्रिभुवन"॥७६॥
तबे बड़विप्र कहे,—"एइ सत्य कथा।
गोपाल यदि साक्षि देन, आपने आसि' एथा॥७७॥
तबे कन्या दिब आमि, जानिह निश्चय।'
ताँर पुत्र कहे,—'एइ भाल बात हय'॥७८॥

७६-७८। प० अनु—"अतएव मेरे इन वचनों के साक्षी देवता (भगवान्) है, जिनके वचनों को त्रिभुवन सत्य मानता है।" यह सुनकर बड़े विप्र ने कहा—"यह बात ठीक है! गोपालजी स्वयं यहाँ आकर यदि साक्षी देंगे। तब मैं अवश्य ही इस ब्राह्मण को अपनी कन्या का दान दूँगा।" बड़े विप्र के पुत्र ने भी अपने पिता की बात को सम्मति देते हुए कहा—यही बात ही ठीक है।"

अनुभाष्य

७६। महाजन,—देवता।

बड़विप्रेर मने,—'कृष्ण बड़ दयावान्।
अवश्य मोर वाक्य तिंहो करिबे प्रमाण'॥७९॥
पुत्रेर मने,—'प्रतिमा ना आसिबे साक्षी दिते'।
एइ बुद्धये दुइजन हइला सम्मते॥८०॥

७९-८०। प० अनु—बड़ा विप्र मन में विचार कर रहा था कि—'कृष्ण बड़े दयावान् हैं, वे आकर अवश्य ही साक्षी देकर मेरे वाक्यों की सत्यता को प्रमाणित करेंगे।' बड़े विप्र के (नास्तिक) पुत्र के मन में विचार था कि—'विग्रह कभी भी साक्षी देने के लिये यहाँ नहीं आयेगा।" इस प्रकार मन-ही-मन विचार करके बड़ा विप्र और उनका पुत्र—दोनों ही इस बात पर सहमत हो गये।

छोटविप्र बले,—"पत्र करह लिखन।
पुनः जेन नाहि चले एसब वचन"॥८१॥
तबे सब लोक मेलि' पत्र त' लिखिल।
दुँहार सम्मति लञा मध्यस्थ राखिल॥८२॥

८१-८२। प० अनु०—छोटे विप्र ने कहा—"आप अपने वचन को लिखकर दें ताकि आप फिर अपने वचनों से विचलित न हो सकें।" तब एकत्रित सभी लोगों ने मिलकर एक पत्र प्रस्तुत किया तथा उन दोनों की सम्मति से गाँव के सभी लोग मध्यस्थ (बिचोलिये) बन गये।

तबे छोटविप्र कहे,—"शुन, सर्वजन।
एइ विप्र—सत्य-वाक्, धर्म-परायण॥८३॥
स्ववाक्य छाड़िते इँहार नाहि कभु मन।
स्वजन-मृत्यु-भये कहे असत्य-वचन॥८४॥
इँहार पुण्ये कृष्णे आनि' साक्षी बोलाइब।
तबे एइ विप्रेर सत्य-प्रतिज्ञा राखिब"॥८५॥

८४-८५। प० अनु०—तब छोटे विप्र ने कहा—"समागत सज्जनों, सुनिये! यह विप्र सत्य वाक्य कहने वाले तथा धर्मपरायण हैं। अपने वचनों को छोड़ने अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ने के लिये इनका कभी भी मन नहीं था किन्तु अपने परिवार वालों की मृत्यु के भय से ही इन्होंने असत्य वचन कहे हैं। मैं इनके पुण्य के प्रभाव से कृष्ण को साक्षी देने के लिये यहाँ लाऊँगा तथा इस प्रकार इन विप्र की प्रतिज्ञा की सत्यता की रक्षा करूँगा।"

एत शुनि' नास्तिक लोक उपहास करे।
केह बले, ईश्वर—दयालु, आसितेह पारे॥८६॥
तबे सेइ छोटविप्र गेला वृन्दावन।
दण्डवत् करि' कहे सब विवरण॥८७॥
"ब्रह्मण्य-देव तुमि—बड़ दयामय।
दुइ विप्रेर धर्म राख हञा सदय॥८८॥
कन्या पाब,—मोर मने इहा नाहि सुख।
ब्राह्मणेर प्रतिज्ञा जाय,—एइ बड़ दुःख॥८९॥
एत जानि' तुमि साक्षि देह, दयामय।
जानि' साक्षी नाहि देय, तार पाप हय॥"९०॥

८६-९०। प० अनु०—छोटे विप्र की बात को सुनकर नास्तिक लोग उपहास करने लगे। परन्तु कुछ लोगों ने कहा—'ईश्वर बहुत दयालु हैं, वे आ भी सकते हैं।' तब छोटा विप्र वृन्दावन चला गया और गोपालजी के सामने दण्डवत प्रणाम करके वह सब वृत्तान्त कहने लगा। छोटे विप्र ने कहा—"आप ब्राह्मणों के देवता हैं तथा परम दयालु हैं, कृपा करके हम दोनों ब्राह्मणों के धर्म की आप ही रक्षा कीजिये। मुझे उनकी कन्या की प्राप्ति होगी, इस बात की मुझे कोई प्रसन्नता नहीं है। परन्तु ब्राह्मण की प्रतिज्ञा भङ्ग होगी यही मेरे लिये सबसे बड़े दुःख की बात है। यह जानकर हे दयामय! आप चलकर साक्षी दीजिये। क्योंकि मैं जानता हूँ कि यदि आप साक्षी नहीं देंगे तो उन्हें पाप लगेगा अथवा क्योंकि जो सत्य बात को जानने पर भी साक्षी बनने के बाद समय आने पर जानकर साक्षी नहीं देता, उसे पाप लगता है।"

अनुभाष्य

८६। नास्तिक,—क्योंकि, वह कृष्ण के परमेश्वरत्व और भक्त वात्सल्य के ऊपर विश्वास ना करके उनके अर्च्चाविग्रह में भौम-बुद्धि करने वाला था।

८९। बड़े ब्राह्मण की कन्या से विवाह करके अपने भोग सुख वर्द्धन रूपी अपनी इन्द्रियों का तर्पण करने के लिये आपको साक्षी देने के लिये नहीं कह रहा हूँ,—तुम्हारे भक्त बड़े-ब्राह्मण का उसकी प्रतिज्ञा के भङ्ग होने से लगने वाले पाप से उद्धार करके उनके वाक्यों की रक्षा करने के लिये ही आपसे कह रहा हूँ।

कृष्ण कहे,—"विप्र, तुमि जाह स्व-भवने।
सभा करि' मोरे तुमि करिह स्मरणे॥९१॥
आविर्भाव हञा आमि ताँहा साक्षि दिब।
तबे दुइ विप्रेर सत्य-प्रतिज्ञा राखिब"॥९२॥

९१-९२। प० अनु०—छोटे विप्र की बात को सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा—"हे विप्र! तुम अपने घर लौट जाओ और वहाँ सभा को बुलाकर तुम मेरा स्मरण करना। मैं वहाँ सबके सामने आविर्भूत होऊँगा तथा साक्षी देकर तुम दोनों विप्रों की प्रतिज्ञा की रक्षा करूँगा।"

विप्र बले,—"यदि हओ चतुर्भुज-मूर्ति।
तबु तोमार वाक्य कारू ना हबे प्रतीति॥९३॥
एइ मूर्ति गिया, यदि एइ श्रीवदने।
साक्षि देह यदि,—तबे सर्वलोक शुने॥"९४॥

९३-९४। प० अनु०—छोटे विप्र ने कहा—"यदि आप चतुर्भुज रूप से प्रकट होकर भी साक्षी देंगे तो भी आपके वाक्यों पर किसी को विश्वास न होगा। परन्तु यदि आप अपने इसी श्रीगोपाल रूप से वहाँ जाये तथा अपने इसी श्रीमुख से साक्षी दे तभी सब लोग विश्वास करेंगे, अन्यथा नहीं।"

कृष्ण कहे,—'प्रतिमा चले, कोथाह ना शुनि।'
विप्र बले,—"प्रतिमा हञा कह केने वाणी॥९५॥
प्रतिमा नह तुमि,—साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन।
विप्र लागि' कर तुमि अकार्य-करण॥"९६॥

९५-९६। प० अनु—श्रीकृष्ण कहने लगे—"विग्रह एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलकर जाता है, यह कहीं भी सुना नहीं जाता।" विप्र ने उत्तर देते हुए कहा—"यदि ऐसी ही बात है तो फिर विग्रह होकर आप बोल भी क्यों रहे हैं। हे प्रभु! मुझे दृढ़ विश्वास है कि आप प्रतिमा के रूप में दिखायी देने पर भी केवल जड़मय प्रतिमा नहीं, बल्कि साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन हैं। उस वृद्ध विप्र के वचनों की सत्यता को प्रमाणित करने के लिये आप असम्भव को भी सम्भव कर दीजिये, अर्थात् कृपा करके साक्षी देने के लिये मेरे साथ चलिये।"

अमृतप्रवाह भाष्य

९६। विप्र के उपकार के लिये तुम अपने द्वारा न करने योग्य कार्यों को भी करते हो।

अनुभाष्य

९५-९६। छोटे ब्राह्मण को जिससे कोई विष्णु के विग्रह में शिला काष्ठ बुद्धि करने वाला अक्षज ज्ञान में रत देहारामी 'पौत्तालिक' न समझे, इसलिये उसकी परीक्षा करके उसे ऐसे अपवाद से मुक्त करने के लिये भगवान् की यह प्रश्नमयी भङ्गी है एवं ब्राह्मण का भी सर्वेश्वरेश्वर विष्णु के ईश्वरत्व में विश्वास करने वाले वास्तविक भक्त के समान ही उत्तर प्रदान करना है।

हासिञा गोपाल कहे,—"शुनह, ब्राह्मण।
तोमार पाछे पाछे आमि करिब गमन॥९७॥
उलटिया आमा ना करिह दरशने।
आमाके देखिले, आमि रहिब सेइ स्थाने॥९८॥
नूपुरेर ध्वनिमात्र आमार शुनिबा।
सेइ शब्दे आमार गमन प्रतीति करिबा॥९९॥
एक सेर अन्न रान्धि' करिह समर्पण।
ताहा खाञा तोमार सङ्गे करिब गमन॥"१००॥

९७-१००। प० अनु०—छोटे विप्र की बात को सुनकर गोपाल ने मुस्कराते हुये कहा—"सुनो ब्राह्मण! मैं तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगा। तुम कभी भी मुझे मुड़कर मत देखना। यदि तुमने मुझे पीछे मुड़कर देखा तो मैं उसी स्थान पर ही रह जाऊँगा। तुम केवल मेरे नूपुर की ध्वनि सुनते रहना तथा उसी से जानते रहना कि मैं तुम्हारे पीछे-पीछे चल रहा हूँ। प्रतिदिन एक सेर अन्न बना करके मुझे भोग लगाना जिसे खाकर मैं तुम्हारे पीछे-पीछे चलता रहूँगा।"

आर दिन आज्ञा मागि' चलिला ब्राह्मण।
तार पाछे-पाछे गोपाल करिला गमन॥१०१॥
नूपुरेर ध्वनि शुनि' आनन्दित मन।
उत्तमान्न पाक करि' कराय भोजन॥१०२॥

१०१-१०२। प० अनु०—दूसरे दिन गोपाल की अनुमति लेकर विप्र ने अपने घर की ओर यात्रा की तथा गोपालजी भी उसके पीछे-पीछे चलने लगे। गोपालजी के नूपुर की ध्वनि को सुनकर विप्र का मन आनन्दित हो रहा था और वे प्रतिदिन उत्तम चावल बनाकर गोपालजी को भोग लगा रहा था।

एइमते चलि' विप्र निज-देशे आइला।
ग्रामेर निकट आसि' मनेते चिन्तिला॥१०३॥

'एबे मुञि ग्रामे आइनु, जाइमु भवन।
लोकेरे कहिब गिया साक्षिर आगमन॥१०४॥
साक्षाते ना देखिले मने प्रतीति ना हय।
इँहा यदि रहेन, तबु नाहि भय'॥१०५॥
एत भावि' सेइ विप्र फिरिया चाहिल।
हासिञा गोपाल-देव तथाय रहिल॥१०६॥

१०३-१०६। प० अनु०—इस प्रकार चलते-चलते छोटा विप्र अपने गाँव में आ पहुँचा और अपने गाँव के निकट आकर उसने मन-ही-मन में चिन्ता की—'अब मैं अपने गाँव में आ गया हूँ और अब मैं अपने घर में जाऊँगा तथा सभी लोगों को जाकर साक्षी के आने की बात को कहूँगा। परन्तु गोपालजी को साक्षात् रूप में नहीं देखकर मन में स्थिरता नहीं आ रही है, और यदि मेरे मुड़कर देखने पर यदि गोपालजी यहाँ स्थिर भी हो जायें तो भी किसी प्रकार का भय नहीं है।' ऐसा विचार कर विप्र ने घूमकर पीछे देखा, तो श्रीगोपालजी मुस्कराने लगे और वहीं खड़े हो गये।

ब्राह्मणेरे कहे,—'तुमि जाह निज-घर।
एथाय रहिब आमि, ना जाब अतःपर'॥१०७॥
तबे सेइ विप्र जाइ, नगरे कहिल।
शुनिञा सकल लोक चमत्कार हैल॥१०८॥
आइल सकल लोक साक्षि देखिबारे।
गोपाल देखिञा लोक दण्डवत् करे॥१०९॥
गोपाल-सौन्दर्य देखि' लोके आनन्दित।
प्रतिमा चलिञा आइला,—शुनिया विस्मित॥११०॥

१०७-११०। प० अनु०—गोपालजी ने ब्राह्मण को कहा—"अब तुम अपने घर जाओ, मैं यहीं पर ही रहूँगा इससे आगे नहीं जाऊँगा।" तब उस विप्र ने जाकर गाँव में सबको गोपालजी के आगमन के विषय में बतलाया, जिसे सुनकर सभी लोग चमत्करित हो गये। सभी लोग साक्षी गोपाल को देखने आ गये और गोपालजी को देखकर दण्डवत प्रणाम करने लगे। गोपालजी के सौन्दर्य को देखकर सभी लोग बहुत आनन्दित हुए और जब उन्होंने सुना कि वास्तव में विग्रह चलकर यहाँ पहुँचे हैं, तब उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ।

तबे सेइ बड़-विप्र आनन्दित हञा।
गोपालेर आगे पड़े दण्डवत् हञा॥१११॥
सकल लोकेर आगे गोपाल साक्षि दिल।
बड़विप्र छोटविप्रे कन्यादान कैल॥११२॥
तबे सेइ दुइ विप्रे कहिल ईश्वर।
"तुमि-दुइ—जन्मे-जन्मे आमार किङ्कर॥११३॥
दुँहार सत्ये तुष्ट हइलाङ, दुँहे माग' वर"।
दुइ विप्र वर मागे आनन्द-अन्तर॥११४॥
"यदि वर दिबे, तबे रह एइ स्थाने।
किङ्करेरे दया तव सर्वलोके जाने"॥११५॥

१११-११५। प० अनु०—गोपालजी के आगमन की बात को सुनकर बड़ा विप्र आनन्दित हुआ और वह गोपालजी के आगे गिरकर दण्ड्वत प्रणाम करने लगा। तब सभी लोगों के सामने गोपालजी ने साक्षी दी कि बड़े विप्र ने छोटे विप्र को कन्या दान की थी। फिर श्रीगोपालजी ने उन दोनों ब्राह्मणों को कहा—"तुम दोनों जन्म-जन्मान्तर से मेरे सेवक हो। मैं तुम दोनों के सत्य से बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ अतः तुम दोनों मुझसे कोई वर माँगो।" श्रीगोपालजी के कहने पर दोनों ब्राह्मणों ने हृदय में अत्यधिक आनन्दित होते हुए यही वर माँगा कि—"यदि आप हमें वर देना चाहते हैं तो हमें यही वर दीजिये कि अब आप यहीं पर रहिये, जिससे सभी लोग यह जान सकें कि आपकी अपने सेवकों के प्रति कितनी दया है।"

गोपाल रहिला, दुँहे करेन सेवन।
देखिते आइला सब देशेर लोक-जन॥११६॥

११६। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु कहने लगे—तब श्रीगोपालजी वहीं रह गये और वे दोनों ब्राह्मण उनकी सेवा करने लगे। इस घटना के विषय में सुनकर

बहुत से स्थानों के लोग श्रीगोपालजी के दर्शन करने के लिये वहाँ आने लगे।

श्रीगोपाल और उत्कल के राजा पुरुषोत्तम की कथा—

से देशेर राजा आइल आश्चर्य शुनिञा।
परम सन्तोष पाइल गोपाले देखिञा॥११७॥
मन्दिर करिया राजा सेवा चालाइल।
'साक्षिगोपाल' बलि' ताँर नाम ख्याति हैल॥११८॥

११७-११८। प॰ अनु॰—उस देश का राजा भी इस आश्चर्यमय घटना को सुनकर गोपाल के दर्शन हेतु चला आया और उन्हें देखकर अत्यधिक सन्तुष्ट हुआ। तब राजा ने एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराके श्रीगोपालजी की सेवा चलाने की सुव्यवथा कर दी और तभी से ठाकुर श्रीगोपालदेवजी श्रीसाक्षीगोपाल के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

एइ मत विद्यानगरे साक्षिगोपाल।
सेवा अङ्गीकार करि' आछेन चिरकाल॥११९॥
उत्कलेर राजा—श्रीपुरुषोत्तम-नाम।
सेइ देश जिनि' निल करिया संग्राम॥१२०॥
सेइ राजा जिनि' निल ताँर सिंहासन।
'माणिक्य-सिंहासन' नाम अनेक रतन॥१२१॥

११९-१२१। प॰ अनु॰—इस प्रकार विद्यानगर में श्रीसाक्षीगोपालजी ने चिरकाल तक सेवा ग्रहण की। तब एक समय उत्कल देश के राजा श्रीपुरुषोत्तम देव ने विद्यानगर देश पर चढ़ाई कर दी और उसने उस देश पर विजय प्राप्त कर ली, महाराज पुरुषोत्तम ने विद्यानगर के राजा के सिंहासन को भी जीत लिया। उस सिंहासन में बहुत से रत्न आदि जड़े हुये थे इसलिए उसका नाम 'माणिक्य-सिंहासन' था।

अनुभाष्य

११९। विद्यानगर—त्रैलङ्गदेश में गोदावरी नदी पूर्व समुद्र में बङ्गोप सागर में जहाँ मिलित हुई है, वह 'कोटदेश' के नाम से प्रसिद्ध है। उड़ीसा राज्य के उस प्रदेश में एक प्रादेशिक राजधानी थी, उसका नाम 'विद्यानगर' है। यह नगर गोदावरी नदी के दक्षिण की ओर स्थित था। उत्कल के राजा पूर्व पुरुषोत्तम उस स्थान को अपने अधिकार में लेकर प्रादेशिक शासन कर्त्ता द्वारा राज्य पर शासन करते थे। वर्त्तमान गोदावरी के उत्तर तट पर स्थित राजमहेन्द्री से विद्यानगर २०।२५ मील पूर्व-दक्षिण के उस पार अवस्थित है। प्रतापरुद्र महाराज के समय रामानन्द राय वहाँ के शासनकर्त्ता थे। भिजियानगरम्, भिजियाना या फिर विजय नगर—यह विद्यानगर नहीं है।

पुरुषोत्तम-देव सेइ बड़ भक्तआर्य।
गोपाल-चरणे मागे,—'चल मोर राज्य॥'१२२॥
ताँर भक्तिवशे गोपाल ताँरे आज्ञा दिल।
गोपाल लइया सेइ कटके आइल॥१२३॥
जगन्नाथे आनि' दिल माणिक्य-सिंहासन।
कटके गोपाल-सेवा करिल स्थापन॥१२४॥

१२२-१२४। प॰ अनु॰—महाराज पुरुषोत्तमदेव निष्कपट श्रेष्ठ भक्त थे। उन्होंने श्रीगोपालजी के चरणों में गिरकर प्रार्थना की—"आप कृपया मेरे राज्य में चलिये।" श्रीपुरुषोत्तम देव की भक्ति के वशीभूत होकर श्रीगोपालजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और राजा श्रीगोपालजी को लेकर कटक आ गये। राजा ने रत्नों से जड़ित माणिक्य-सिंहासन श्रीजगन्नाथदेव जी को भेंट किया और कट्टक में श्रीगोपालजी को स्थापित करके उनकी सेवा की व्यवस्था कर दी।

अनुभाष्य

१२२। राज,—राज्य में।

श्रीगोपाल और रानी की कथा—

ताँहार महिषी आइला गोपाल-दर्शने।
भक्ति करि' बहु अलङ्कार कैल समर्पणे॥१२५॥
ताँहार नासाते बहुमूल्य मुक्ता हय।
ताहा दिते इच्छा हैल, मनेते चिन्तय॥१२६॥

ठाकुरेर नासाते यदि छिद्र थाकित।
तबे एइ दासी मुक्ता नासाय पराइत॥१२७॥
एत चिन्ति' नमस्करि' गेला स्वभवने।
रात्रिशेषे गोपाल ताँरि कहेन स्वपने॥१२८॥
"बाल्यकाले माता मोर नासा छिद्र करि'।
मुक्ता पराञाछिल बहु यत्न करि'॥१२९॥
सेइ छिद्र अद्यापिह' आछये नासाते।
सेइ मुक्ता पराह, याहा चाहियाछ दिते"॥१३०॥

१२५-१३०। प० अनु०—एक समय महाराज पुरुषोत्तम देव की महिषी भी श्रीगोपालजी का दर्शन करने आयी और उसने भक्तिपूर्वक श्रीगोपालजी को बहुत से अलङ्कार भेंट दिये। उस रानी के नाक में एक बहुत मुल्यवान मुक्ता था एवं वे उस मुक्ता को भी गोपाल को देने की इच्छा करते हुए मन में विचार करने लगी—यदि ठाकुरजी के नाक में छिद्र होता तब यह दासी श्रीगोपालजी के नाक में इस मुक्ता को पहनाती। ऐसा विचार कर रानी श्रीगोपालजी को प्रणाम करके चली गयी। उस रात श्रीगोपालजी ने उसे स्वप्न में आकर कहा—"बाल्यकाल में मेरी माता ने मेरे नाक में छिद्र किया था और बहुत यत्न से उसमें मुक्ता पहनाया था। वह छिद्र आज भी मेरे नाक में विद्यमान है। अतएव तुम जिस मुक्ता को मेरे नाक में पहनाना चाहती थी, तुम उसे मेरे नाक में पहना सकती हो।"

स्वप्ने देखि' सेइ वाणी राजाके कहिल।
राजासह मुक्ता लञा मन्दिरे आइल॥१३१॥
पराइल मुक्ता नासाय छिद्र देखिञा।
महामहोत्सव कैल आनन्दित हञा॥१३२॥
सेइ हैते गोपालेर कटकेते स्थिति।
एइ लागि' 'साक्षिगोपाल' नाम हैल ख्याति॥१३३॥

१३१-१३३। प० अनु०—रानी ने स्वप्न देखने के उपरान्त स्वप्न की बात राजा को सुनायी तथा राजा के साथ मुक्ता लेकर मन्दिर में आ गयी। तब उन्होंने श्रीगोपालजी के नाक में छिद्र देखकर उन्हें मुक्ता पहना दिया और परम आनन्दित होकर उन्होंने एक महामहोत्सव किया। तभी से ही श्रीगोपालजी कटक में विराजमान हैं और वे श्रीसाक्षीगोपाल के नाम से प्रसिद्ध हैं।

निताई के मुख से साक्षिगोपाल के वृतान्त
को सुनकर सगण प्रभु का आनन्द—

नित्यानन्द-मुखे शुनि' गोपाल-चरित।
तुष्ट हैला महाप्रभु स्वभक्त-सहित॥१३४॥

१३४। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु के मुख से श्रीगोपालजी के लीला-चरित्र को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं उनके अन्य साथी भक्त परम सन्तुष्ट हुये।

महाप्रभु को गोपाल के निकट खड़े
देखकर भक्तों का अभेद-दर्शन—

गोपालेर आगे जबे प्रभुर हय स्थिति।
भक्तगणे देखे,—जेन दुँहे एकमूर्ति॥१३५॥
दुँहे—एक वर्ण, दुँहे—प्रकाण्ड-शरीर।
दुँहे—रक्ताम्बर, दुँहार स्वभाव—गम्भीर॥१३६॥
महा-तेजोमय दुँहे कमल-नयन।
दुँहार भावावेश, दुँहे—चन्द्रवदन॥१३७॥

१३५-१३७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु जब श्रीसाक्षी गोपालजी के सामने बैठे थे, तब सभी भक्तों को उन दोनों के अभिन्न स्वरूप के दर्शन प्राप्त हुए। उन दोनों के श्रीअङ्ग का वर्ण एक जैसा ही था तथा दोनों का शरीर विशाल था, दोनों ने ही गेरूएँ रंग के वस्त्र पहने हुये थे और दोनों का ही स्वभाव अत्यन्त गम्भीर था। दोनों ही अत्यधिक तेजवान थे तथा दोनों के नेत्र कमल के समान थे। दोनों ही भाव में आविष्ट थे एवं दोनों का मुख ही पूर्ण चन्द्र के समान उज्ज्वल था।

उनके दर्शनों से भक्त के साथ निताई का हास्य करना—

दुँहा देखि' नित्यानन्दप्रभु महारङ्गे।
ठाराठारि करि' हासे भक्तगण-सङ्गे॥१३८॥

१३८। प० अनु०—श्रीसाक्षीगोपाल और श्रीचैतन्य महाप्रभु के अभिन्न स्वरूप को देखकर श्रीनित्यानन्द

प्रभु बहुत आनन्दित हुये और नेत्र भङ्गी के द्वारा इङ्गित करते हुए भक्तों को हँसाने के साथ-साथ स्वयं भी हँसने लगे।

प्रात:काल सभी की पुरी
के मार्ग की ओर यात्रा—

एइमत महारङ्गे से रात्रि वञ्चिया॥
प्रभाते चलिला मङ्गल-आरति देखिञा॥१३९॥

१३९। प० अनु०—इस प्रकार अत्यधिक आनन्द-पूर्वक उस रात्रि को व्यतीत करके तथा प्रातः श्रीगोपालजी की मङ्गल आरती का दर्शन करके सभी श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ पुरी की ओर चल दिये।

चैतन्यभागवत में भुवनेश्वर-दर्शन आदि का वर्णन—

भुवनेश्वर-पथे जैछे कैल दरशन।
विस्तारि' वर्णियाछेन दास-वृन्दावन॥१४०॥

१४०। प० अनु०—भुवनेश्वर के मार्ग में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने जिन-जिन स्थानों का दर्शन किया था, उसका श्रीवृन्दावनदास ठाकुर ने अपने श्रीचैतन्य भागवत में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४०। चैतन्यभागवत अन्त्यलीला का द्वितीय अध्याय द्रष्टव्य है। कटक से राजमार्ग पर आकर बलि-हस्ता अथवा बालकाटिटिटि से भुवनेश्वर—दो-तीन कोस है।

अनुभाष्य

१४०। चैः भाः अन्त्य, द्वितीय अध्याय—"तबे प्रभु आइलेन श्रीभुवनेश्वर। गुप्तकाशीवास यथा करेन शङ्कर॥ सर्वतीर्थ-जल यथा बिन्दु-बिन्दु आनि'। 'बिन्दु सरोवर' शिव सृजिला आपनि॥ शिवप्रिय सरोवर जानि' श्रीचैतन्य। स्नान करि' विशेषे करिला अति धन्य॥"

स्कन्ध पुराण में, शिवजी के एकाम्रकानन को प्राप्त करने के इतिहास का वर्णन है। 'काशीराज' नामक एक राजा पूजा करके शिव को सन्तुष्ट करके कृष्ण के साथ युद्ध करने में प्रवृत्त हुआ; शिव ने उसकी सहायता की। बाद में काशीराज विनष्ट हुआ तथा शिव का पाशुपात-अस्त्र विफल हुआ, कृष्ण ने काशी को दग्ध कर दिया। शिव ने कृष्ण के माहात्म्य को जानकर अपने द्वारा किये गये अपराध के लिये क्षमा-याचना की तथा उन्होंने नीलाचल के निकट एकाम्रकानन को प्राप्त किया। यहाँ पर केशरी वंशीय राजाओं ने राजधानी स्थापन करके कुछेक शताब्दियों तब उत्कलदेश पर राज्य किया।

कमलपुर में भागीनदी में स्नान—

कमलपुरे आसि' भागीनदी-स्नान कैल।
नित्यानन्द-हाते प्रभु दण्ड धरिल॥१४१॥

१४१। प० अनु०—कमलपुर में आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भागीनदी में स्नान किया और तब श्रीनित्यानन्द प्रभु के हाथों में उन्होंने अपने संन्यास के दण्ड को पकड़ा दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४१। भार्गी नदी,—आजकल 'दण्डभाङ्गा' नदी के नाम से विख्यात; यह नदी पुरी से तीन कोस उत्तर की ओर है।

प्रभु द्वारा कपोतेश्वर-दर्शन और श्रीचैतन्य महाप्रभु
के पीछे से निताई के द्वारा प्रभु के दण्ड को तोड़ना—

कपोतेश्वर देखिते गेला भक्तगण सङ्गे।
एथा नित्यानन्दप्रभु कैल दण्ड-भङ्गे॥१४२॥
तिन खण्ड करि' दण्ड दिल भासाञा।
भक्त-सङ्गे आइला प्रभु महेश देखिञा॥१४३॥

१४२-१४३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु जब श्रीनित्यानन्द प्रभु को अपने संन्यास का दण्ड पकड़ाकर कुछ भक्तों के साथ कपोतेश्वर श्रीशिव का दर्शन करने गये तब श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के दण्ड को तोड़कर उसके तीन टुकड़े करके उसे भागी नदी में बहा दिया। इतने में श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों के साथ महेश श्रीशिव का दर्शन करके आ गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४२। कपोतेश्वर,—दण्डभाङ्गा नदी के निकट में है।

१४३। दण्ड,—संन्यास के समय महाप्रभु को जिस दण्ड की प्राप्ति हुई थी, उसे श्रीनित्यानन्द प्रभु के हाथ में देकर वे कपोतेश्वर (शिवलिङ्ग) के दर्शन करने गये, नित्यानन्द प्रभु ने उस दण्ड के तीन टुकड़े करके उसी भार्गी नदी के जल में बहा दिया, इसलिये तब से भार्गी नदी का नाम 'दण्डभाङ्गा' पड़ गया। काय, वाक् और मन को दण्डित करने के लिये संन्यासी त्रिदण्ड धारण करते हैं। शङ्कराचार्य की एकदण्ड धारण करने की विधि है। श्रीमन्महाप्रभु को उस प्रकार के दण्ड को धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा विचार करके श्रीनित्यानन्द प्रभु ने उस दण्ड को तोड़ दिया।

अनुभाष्य

१४२। कपोतेश्वर,—शिवलिङ्ग।

१४३। दण्ड,—श्रीगौरसुन्दर ने काटोया में शाङ्कर-भारती सम्प्रदाय में एकदण्ड-संन्यास ग्रहण किया। श्रीनित्यानन्द प्रभु ने उस संन्यास दण्ड के तीन टुकड़े करके भार्गी (वर्त्तमान में 'दण्डभाङ्गा') नदी में फैंक दिया। संन्यास आश्रम में 'कुटीचक और बहूदक' अवस्था में दण्ड की रक्षा करने की आवश्यकता है, किन्तु 'हंस और परमहंस' अवस्था में दण्ड को त्याग करना ही विधि है। चौदह भुवनों के पति श्रीगौरहरि को अन्यान्य संन्यासियों की भाँति न्यूनाधिकार प्रदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा जानकर श्रीनित्यानन्द- स्वरूप ने उसे तोड़कर फैंक दिया।

पुरी के मन्दिर को देखकर कृष्ण विरह
में आतुर प्रभु का नृत्य और आवेश—

जगन्नाथेर देउल देखि' आविष्ट हैला।
दण्डवत् करि प्रेमे नाचिते लागिल॥१४४॥
भक्तगण आविष्ट हञा, सबे नाचे गाय।
प्रेमावेशे प्रभु-सङ्गे राजमार्गे जाय॥१४५॥
हासे, कान्दे, नाचे प्रभु हुङ्कार गर्जन।
तिन क्रोश पथ हैल—सहस्र-योजन॥१४६॥

१४४-१४६। प० अनु०—दूर से श्रीजगन्नाथ देव के मन्दिर को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रेम में आविष्ट हो गये और वहीं से दण्डवत् प्रणाम करके वे भगवद् प्रेम में नृत्य करने लगे। भक्तगण भी प्रेमाविष्ट होकर नाचने और गाने लगे तथा प्रेम में आविष्ट होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ राजमार्ग पर चलने लगे। मार्ग में चलते हुये श्रीचैतन्य महाप्रभु कभी हँसते, कभी क्रन्दन करते, कभी नृत्य करते और कभी हुँकार-गर्जन करते। मन्दिर की तीन कोस की दूरी उन्हें हजार योजन की लगने लगी।

अनुभाष्य

१४४। देउल, देवालय—अनङ्गभीम नामक राजा द्वारा निर्मित वर्त्तमान श्रीजगन्नाथ जी का मन्दिर। उपलभोग वाला मन्दिर, भोगवर्द्धन खण्ड एवं बाहर बना हुआ ऊँचा चबूतरा उस समय तक नहीं बना था।

१४५। राजमार्ग,—जगन्नाथ-दर्शन के लिये यात्री बङ्गाल से जिस रास्ते से होते हुए पुरुषोत्तम आते थे।

१४६। श्रीमहाप्रभु तीन कोस दूर से श्रीजगन्नाथ मन्दिर के दर्शन करके अत्यधिक विरह के कारण सात्विक विकार को प्राप्त करके भगवान् के दर्शन के लिये अत्यधिक व्याकुल और उत्कण्ठित हो उठे। बहुत तीव्र विप्रलम्भ (विरह) की अवस्था में जिस प्रकार क्षण भर का विरह भी युग के समान प्रतीत होता है, नेत्रों पर पलकें होने के कारण गोपियाँ जिस प्रकार विधि (सृष्टिकर्त्ता) की मूर्खता का निर्देश करती हैं, उसी प्रकार तीन कोस का रास्ता महाप्रभु को बहुत अधिक दूर सैकड़ों योजन का लगने लगा।

आठारनाला में आगमन—

चलिते चलिते प्रभु आइला 'आठारनाला'।
ताँहा आसि' प्रभु किछु बाह्य प्रकाशिला॥१४७॥

१४७। प० अनु०—इस प्रकार चलते-चलते

श्रीचैतन्य महाप्रभु 'आठारनाला' नामक स्थान पर आ पहुँचे तथा वहाँ आकर उन्होंने कुछ बाहरी-ज्ञान प्रकाशित किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४७। आठारनाला,—पुरी में प्रवेश करने के लिये जो पुल है, उसका नाम 'आठारनाला' है; उस पुल के नीचे अठारह डाँठ (।तंबी) हैं।

पञ्चम परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

प्रभु की बाह्य-दशा और निताई से
अपने संन्यास-दण्ड की याचना—

नित्यानन्दे कहे प्रभु,—देह मोर दण्ड।
नित्यानन्द बले,—दण्ड हैल तिन खण्ड॥१४८॥

१४८। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द प्रभु से कहा—"अब मेरा संन्यास दण्ड मुझे लौटा दो"। यह सुनकर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"उस दण्ड के तो तीन टुकड़े हो गये हैं।"

निताई की चतुरता और दण्ड भङ्ग की कथा का निवेदन—

प्रेमावेशे पड़िला तुमि, तोमारे धरिनु।
तोमा-सह तेरछे दण्ड-उपरे पड़िनु॥१४९॥
दुइजनार भरे दण्ड खण्ड खण्ड हैल।
सेइ दण्ड काँहा पड़िल, किछु ना जानिल॥१५०॥

१४९-१५०। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु ने और कहा—"प्रेम के आवेश में जब आप गिर रहे थे, तब मैं आपको पकड़कर सम्भालने का प्रयास करने लगा, किन्तु आपके साथ मैं भी गिरकर दण्ड के ऊपर जा पड़ा। हम दोनों के भार के कारण दण्ड टुकड़े-टुकड़े हो गया। अब वह दण्ड के टुकड़े कहाँ हैं, उनके विषय में मैं अब कुछ भी नहीं जानता।

दण्ड-भङ्ग हेतु निताई द्वारा प्रभु
से दण्डित होने की कामना—

मोर अपराधे तोमार दण्ड हइल खण्ड।
जे उचित हय, मोर कर तार दण्ड॥१५१॥

१५१। प० अनु०— मेरे अपराध के कारण ही आपका दण्ड टूट गया है, इसलिये अब आप मेरे द्वारा किये गये उस अपराध के लिये मुझे जो भी उचित दण्ड देना चाहें, दे सकते हैं।

प्रभु का दुःख और ईषत् क्रोध—

शुनि' किछु महाप्रभु दुःख प्रकाशिला।
ईषत् क्रोध करि' किछु कहिते लागिला॥१५२॥

१५२। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु की बात सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने थोड़ा दुःख प्रकाशित किया और कुछ क्रोध करते हुये कहने लगे—

अनुभाष्य

१५२। नित्यानन्द प्रभु ने महाप्रभु के वैद्य संन्यास-योग्य एकदण्ड की अकर्मण्यता जानकर वैद्य संन्यास के दण्ड को छेने से महाप्रभु को छुटटी दी; ऐसा देखकर महाप्रभु ने विचार किया कि मेरे दण्ड त्याग रूपी कार्य को देखकर विवित्सा-संन्यासपर अयोग्य संन्यासी योग्यता प्राप्त करने से पहले ही (अपने दण्ड को तोड़ देंगे, जिससे) वैदिक-विधि शिथिल हो जायेगी, इसलिये वे श्रीनित्यानन्द प्रभु के प्रति क्रोधित हुए। श्रेष्ठ व्यक्ति के आचरण को जगत् के अन्यान्य लोग वर्त्तन करते हैं, इसलिये श्रुति स्मृति पुराणादि में कहे गये भक्ति के अनुकूल वैद्य मार्ग की अवहेलना करने से उसके तात्पर्य को नहीं समझ पाने के कारण जो विशृंखल मार्ग को अनुराग का मार्ग अथवा अवधूताचार मानते हैं, उस प्रकार के भ्रान्त चित्त वाले व्यक्तियों के लिये असुवि धा उत्पन्न होगी, इसी कारण से महाप्रभु की यह क्रोध-प्रदर्शन-लीला है।

प्रभु का अनुयोग—

नीलाचले आसि' मोर सबे हित कैला।
सबे दण्डधन छिल, ताहा ना राखिला॥१५३॥

१५३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मेरे साथ नीलाचल तक आकर आप सबने मेरा बहुत उपकार

किया है। मेरा एकमात्र धन था, मेरे संन्यास का दण्ड— उसे भी तुमने सम्भालकर नहीं रखा।

बिना किसी को साथ लिये जगन्नाथ
के दर्शन की इच्छा का प्रकाश—

तुमि-सब आगे जाह ईश्वर देखिते।
किबा आमि आगे जाइ, ना जाब सहिते॥१५४॥

१५४। प॰ अनु॰—अब आप सब आगे चलकर श्रीजगन्नाथ का दर्शन करो अथवा मुझे आगे जाने दो, क्योंकि मैं अब और आप सबके साथ नहीं जाऊँगा।"

मुकुन्द के कथनानुसार प्रभु का
अकेले ही पहले पुरी की ओर गमन—

मुकुन्द दत्त कहे,—प्रभु, तुमि जाह आगे।
आमि-सब पाछे जाब, ना जाब तोमार सङ्गे॥१५५॥

१५५। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की बात सुनकर मुकुन्द दत्त ने कहा—"प्रभु आप ही हमसे आगे जाइये। हम सब आपके पीछे-पीछे चलेंगे, आपके साथ नहीं जायेंगे।

दोनों प्रभुओं का
भाव—अचिन्त्य—

एत शुनि' प्रभु आगे चलिला शीघ्रगति।
बुझिते ना पारे केह दुइ प्रभुर मति॥१५६॥
इँहो केने दण्ड भाङ्गे, तेँहो केने भाङ्गाय।
भाङ्गाञा क्रोधे तेँहो इँहाके दोषाय॥१५७॥

१५६-१५७। प॰ अनु॰—यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु तीव्र गति से भक्तों के आगे-आगे चलने लगे। श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीनित्यानन्द प्रभु—इन दोनों प्रभुओं की भावना को कोई नहीं जान सकता। (और-तो-और साथ में चल रहे अन्यान्य भक्त भी नहीं जान पाये कि—) श्रीनित्यानन्द प्रभु ने दण्ड को क्यों तोड़ा और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने ही उनसे दण्ड क्यों तुड़वाया? पहले तो स्वयं तुड़वाया और फिर क्रोध करके श्रीनित्यानन्द प्रभु को दोष क्यों दे रहे हैं।

दोनों में अभेद-दर्शनकारी भक्त ही
इस लीला को समझने में समर्थ—

दण्डभङ्ग-लीला एइ—परम गम्भीर।
सेइ बुझे, दुँहार पदे जाँर भक्ति धीर॥१५८॥

१५८। प॰ अनु॰—दण्ड-भङ्ग की यह लीला अत्यन्त गम्भीर है। इस लीला को केवल वही समझ सकता है जिसकी श्रीश्रीगौर-नित्यानन्द प्रभु के चरणों में अचला भक्ति है।

अनुभाष्य

१५८। श्रीचैतन्य और नित्यानन्द को वास्तविकता में धीर-स्थिर होकर जिन्होंने समझा है, उन्हें ही दोनों (श्रीचैतन्य और नित्यानन्द) प्रभुओं के स्वरूप और इस दण्ड भङ्ग की लीला के तात्पर्य की धारणा होगी (अर्थात् केवल वही व्यक्ति ही इस लीला को समझ पायेंगे।) पूर्व-पूर्व महाजन गणों ने कृष्णपद सेवा द्वारा गृहीत दण्ड अर्थात् संन्यासी होकर संसार के अभिनिवेश को त्याग किया। साधक रूप से महाजनों के मार्ग का अनुगमन करके वैद्य संन्यास की जो आवश्यकता है, उसको महाप्रभु ने भी स्वीकार किया। विद्वत-संन्यासियों के लिये दण्ड की आवश्यकता नहीं रहने पर भी विवित्सा-संन्यास अथवा विषय-त्याग की क्रम पन्था रूपी भक्त्यानुकूल अनुष्ठान—लोक शिक्षा हेतु साधक जीवन में आवश्यक है,—यही महाप्रभु का अभिप्राय है। दास-नित्यानन्द ने—प्रभु गौरचन्द्र के लिये संन्यास के प्रारम्भ रूपी दण्डवहन-कार्य वास्तव में उच्च परमहंस के अधिकार में आवश्यक नहीं है,—ऐसा जानकर, अन्यान्य जड़बुद्धि वाले व्यक्ति श्रीमन्महाप्रभु को 'कुटीचक' और 'बहुदक' अवस्था में स्थित समझकर भ्रम पूर्वक अपराध ना करें, इसलिये परम उच्चतम अवस्था का आदर्श दिखाने के लिये दण्ड का त्याग कराया।

वक्ता और श्रोता, दोनों के ही भगवान होने के
कारण श्रीसाक्षिगोपाल का वृत्तान्त—अलौकिक—

ब्रह्मण्यदेव-गोपालेर महिमा एइ धन्य।
नित्यानन्द—वक्ता जार, श्रोता—श्रीचैतन्य॥१५९॥

१५९। प॰ अनु॰—ब्रह्मण्यदेव श्रीगोपालजी की ऐसी महिमा धन्य है, जिसके वक्ता श्रीनित्यानन्द प्रभु और श्रोता श्रीचैतन्य महाप्रभु हैं।

अनुभाष्य

१५९। १।श्रीगोपाल मूर्त्ति नित्य सेव्य विग्रह; २। स्वयं सत्य-विग्रह—जड़जगत् की लौकिक विधि को लाँघकर सदैव सत्य की मर्यादा स्थापित करते हैं; ३। ब्राह्मण जीवन में सत्य की विद्यमानता—विशेष रूप से आवश्यक है; ४। ब्रह्मण्यता के स्थापन-कर्त्ता तथा ब्रह्मण्य के वशीभूत स्वयं कृष्ण हैं, अतएव कृष्णाश्रित ब्रह्मण्य केवल मायिक नहीं है।

पञ्चम परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

श्रद्धावान श्रोता को श्रीकृष्ण के चरणकमलों की प्राप्ति—

श्रद्धायुक्त हञा इहा शुने जेइ जन।
अचिरे मिलये तारे गोपाल-चरण॥१६०॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे जार आश।
चैतन्य-चरितामृत कहे कृष्णदास॥१६१॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्यखण्ड में साक्षिगोपाल-चरित्र-वर्णन नामक पञ्चम परिच्छेद समाप्त।

१६०-१६१। प॰ अनु॰—जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक श्रीसाक्षीगोपालजी के इस प्रसङ्ग का श्रवण करता है, उसे शीघ्र ही श्रीगोपालजी के चरणकमलों की प्राप्ति होती है।श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

षष्ठ परिच्छेद

कथासार—श्रीमन्महाप्रभु श्रीजगन्नाथ के दर्शन करके महाप्रेम में महाभाव रूपी सात्विक विकार को प्राप्त हो गये, (उनकी ऐसी अवस्था देखकर) सार्वभौम उन्हें उठाकर अपने घर ले गये। सार्वभौम की बहन के पति (बहनोई) गोपीनाथ आचार्य ने मुकुन्द को देखकर पूर्व परिचित होने के कारण श्रीमन्महाप्रभु के संन्यास-ग्रहण और नीलाचल में आगमन की बात को सुना। लोक परम्परा अर्थात् लोगों से महाप्रभु के महाभाव की बात को सुनकर सभी सार्वभौम के घर पर गये। नित्यानन्द आदि सभी जब सार्वभौम के पुत्र चन्दनेश्वर के साथ श्रीजगन्नाथ के दर्शन करके आये, तब तृतीय प्रहर में महाप्रभु को चैतन्य अर्थात् बाह्यदशा की प्राप्ति हुई। सार्वभौम ने यत्नपूर्वक सभी को महाप्रसाद सेवन करवाया। सार्वभौम के साथ महाप्रभु का परिचय होने पर सार्वभौम ने उनको अपनी सास मौसी के घर पर रहने योग्य स्थान दे दिया।

गोपीनाथ आचार्य ने जब महाप्रभु को 'ईश्वर' कहकर स्थापित किया, तब सार्वभौम और उनके शिष्यों के साथ गोपीनाथ आचार्य का बहुत तर्क-वितर्क हुआ। परमेश्वर की कृपा के बिना परमेश्वर के तत्त्व को नहीं जाना जा सकता एवं पाण्डित्य से भी ईश्वर को जाना नहीं जा सकता,—ये सब बातें गोपीनाथ ने बहुत अच्छी तरह से समझा दी। महाप्रभु भगवान् ही हैं, इसे भागवत और महाभारत के आधार पर प्रमाणित किया; तब भी जब सार्वभौम भट्टाचार्य ने उन बातों (पर विश्वास न करके उन) का मजाक उड़ाया, तब उनकी सब बातें महाप्रभु के कानों में पहुँची। महाप्रभु ने कहा, भट्टाचार्य हमारे गुरु हैं, स्नेह पूर्वक वे जो कुछ बोलते हैं, वह हमारे कल्याण के लिये है। भट्टाचार्य के साथ जब महाप्रभु की भेंट हुई, तब भट्टाचार्य ने उन्हें वेदान्त श्रवण करने की आज्ञा दी। महाप्रभु ने उसे स्वीकार करके सात दिन तक मौन भाव से वेदान्त श्रवण किया। भट्टाचार्य ने कहा,—हे कृष्ण चैतन्य, तुम वेदान्त समझ रहे हो ना? महाप्रभु ने उत्तर दिया,—आपने श्रवण करने के लिये कहा है, मैं श्रवण कर रहा हूँ; व्यास द्वारा लिखे गये सूत्रों को तो मैं बहुत अच्छी तरह से समझ पा रहा हूँ, बस केवल आप जिस मायावादी भाष्य को पड़ रहे हैं, उसको नहीं समझ पा रहा हूँ। भट्टाचार्य द्वारा किये गये प्रश्नों के उत्तर में महाप्रभु ने उपनिषद् और वेदान्त की व्याख्या करते हुए 'सविशेष-वाद' को स्थापित किया। उन्होंने कहा—"मायावादियों के मतानुसार, ब्रह्म—निराकार और शक्तिहीन है। माया-वादियों के यह दो महाभ्रम हैं। वेद में सर्वत्र ब्रह्म की शक्ति को स्वीकार किया गया है एवं वेद में उनके सच्चिदानन्दमय अप्राकृत विग्रह को स्वीकार किया गया है। वेद के मतानुसार—ईश्वर और जीव—युगपत् (एक ही साथ) स्वरूपतः और स्वभावतः नित्य भिन्न और नित्य अभिन्न है। फलस्वरूप अचिन्त्य- भेदाभेद-सिद्धान्त ही वेद और वेदान्त का मत है। मायावादी वास्तव में नास्तिक हैं।" भट्टाचार्य बहुत विचार करके हार गये। (उसके बाद प्रभु ने) भट्टाचार्य के प्रार्थना करने पर 'आत्मराम' श्लोक के अठारह प्रकार के अर्थ किये अर्थात् उसकी अठारह प्रकार से व्याख्या की। भट्टाचार्य में जब ज्ञान का उदय हुआ, तब प्रभु ने उन्हें अपना रूप दिखाया। भट्टाचार्य ने एक सौ श्लोक उच्चारण करने के बाद उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। प्रभु की अलौकिक कृपा को देखकर गोपीनाथ आदि सभी बहुत प्रसन्न हुए। बाद में किसी एक दिन महाप्रभु ने अरुणोदय के समय (श्रीजगन्नाथजी के) शय्योत्थान लीला (मङ्गल आरती) के दर्शन करने के बाद 'पाकाल' नामक प्रसाद को लाकर भट्टाचार्य को दिया। भट्टाचार्य ने तब मतवाद

जनित जाडय शून्य अर्थात् मायावाद जनित जाड्य रहित होकर अत्यधिक आनन्द से 'महा-प्रसाद' को प्राप्त किया। और किसी दिन जब भट्टाचार्य ने भक्ति के श्रेष्ठ साधनाङ्ग को जानने की इच्छा की, तब महाप्रभु ने उन्हें 'नाम-सङ्कीर्त्तन' करने का उपदेश दिया। और एक दिन सार्वभौम ने 'तत्तेऽनुकम्पां' श्लोक के अन्तिम अंश में 'मुक्ति पद' के स्थान पर 'भक्ति पद' शब्द लगाकर महाप्रभु को सुनाया। प्रभु ने कहा,—श्रीमद्भागवत के (किसी भी श्लोक में) पाठ-परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'मुक्तिपद' शब्द का अर्थ कृष्ण है। भट्टाचार्य ने उस समय शुद्ध भक्ति का पात्र बनकर कहा,—यद्यपि 'मुक्तिपद' शब्द का अर्थ 'कृष्ण' होता है, तथापि आश्लिष्य दोष के कारण 'मुक्ति-पद' शब्द को प्रयोग करने की रुचि नहीं होती; 'भक्तिपद' कहने से भक्तों को बहुत सुख होता है। भट्टाचार्य के मायावाद के चंगुल से छूटने की बात को सुनकर नीलाचलवासी पण्डित प्रभु के शरणागत हुए।

(अ:प्र:भा)

सार्वभौम-विजयी श्रीगौर को प्रणाम—

नौमि तं गौरचन्द्रं यः कुतर्क-कर्कशाशयम्।
सार्वभौमं सर्वभूमा भक्तिभूमानमाचरत्॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिन सर्वभूमा पुरुष (परमपरमात्मा श्रीगौरचन्द्र) ने कुतर्क-कर्कश हृदय वाले सार्वभौम भट्टाचार्य के (हृदय को) भक्ति से पूर्ण कर दिया था, उन्हीं गौरचन्द्र को मैं प्रणाम करता हूँ।

अनुभाष्य

१। यः सर्वभूमा (सर्वेभ्यः देवीधामान्तर्गतसर्वोपाधि-धारिभ्यः देवनरेभ्यः ब्रह्मलोक-वैकुण्ठगोलोकाद्यवस्थि-तेभ्यः कृष्णेत्तर-सर्ववस्तुभ्यः भूमा महत्त्वं यस्य सः परम-परमात्मा गौरचन्द्रः) कुतर्क कर्कशाशयं (कुतर्केन स्वरूप-स्ववृत्यादिभ्रान्त्या कृष्णसेवनेतरचेष्टया कुज्ञाना-श्रितेन कर्कशः जड़ाभिमान पूर्णः आशयः चितं यस्य तं) सार्वभौमं (वासुदेवाख्यं पण्डित-राजं) भक्तिभूमानं (शुद्ध-भक्ति पूर्ण पात्रम्) आचरत् (कारयामास, स्वपद सेवकं-चकार इत्यर्थः) तं (गौरचन्द्र) नौमि।

जय जय गौरचन्द्र जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

१-२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो और श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो।

प्रेम के आवेश में श्रीजगन्नाथ को आलिङ्गन करने के लिये जाते हुये प्रभु की मूर्च्छा—

आवेशे चलिला प्रभु जगन्नाथ-मन्दिरे।
जगन्नाथ देखि' प्रेमे हइला अस्थिरे॥३॥
जगन्नाथ आलिङ्गिते चलिला धाञा।
मन्दिरे पड़िला प्रेमे आविष्ट हञा॥४॥

३-४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु भगवद्-प्रेम में आविष्ट होकर आठारनाला से श्रीजगन्नाथ मन्दिर की ओर चल पड़े और भगवान् श्रीजगन्नाथ का दर्शन करके वे प्रेम में अस्थिर हो उठे। श्रीचैतन्य महाप्रभु भगवान् श्रीजगन्नाथ को आलिङ्गन करने के लिये दौड़ पड़े, परन्तु प्रेम में आविष्ट होकर वे मन्दिर में गिर पड़े।

दैववशतः सार्वभौम द्वारा प्रभु का दर्शन और प्रभु को चोट लगने से रक्षा करना—

दैवे सार्वभौम ताँहाके करे दरशन।
पड़िछा मारिते तेंहो कैल निवारण॥५॥

५। प० अनु०—जब श्रीचैतन्य महाप्रभु मूर्च्छित होकर भूमि पर पड़े हुए थे, उस समय अज्ञ पड़िछा (मन्दिर की रक्षा करने वाले व्यक्ति) उन्हें मारने के लिये उद्यत हो रहे थे, किन्तु दैववशतः श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य की दृष्टि श्रीमन् महाप्रभु पर पड़ी और उन्होंने पड़िछा लोगों को ऐसा करने से मना किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

५। पड़िछा—श्रीमन्दिर का दारोगा जैसा कर्मचारी। वह कर्मचारी सार्वभौम के शिक्षा-शिष्य थे।

सार्वभौम का आश्चर्य—

प्रभुर सौन्दर्य आर प्रेमेर विकार।
देखि' सार्वभौम हैला विस्मित अपार॥६॥

६। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के सौन्दर्य और उनके दिव्य प्रेम के विकारों को देखकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य अत्यन्त विस्मित हुए।

प्रभु की चेतनता आने में विलम्ब देखकर
सार्वभौम द्वारा प्रभु को अपने घर में लाना—

बहुक्षणे चैतन्य नहे, भोगेर काल हैल।
सार्वभौम मने तबे उपाय चिन्तिल॥७॥
शिष्य पड़िछा-द्वारा निल बहाञा।
घरे आनि' पवित्र-स्थाने राखिल शोयाञा॥८॥

७-८। प॰ अनु॰—बहुत देर तक भी श्रीचैतन्य महाप्रभु बाह्य दशा में नहीं आये और उधर श्रीजगन्नाथ देव को भोग लगाने का समय भी हो गया, तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने मन-ही-मन में एक उपाय सोचा—उन्होंने अपने पड़िछा शिष्यों के द्वारा श्रीचैतन्य महाप्रभु को वहन कराके अपने घर में ले गये और उन्हें एक पवित्र स्थान पर सुला दिया।

अनुभाष्य

८। घरे,—श्रीवासुदेव सार्वभौम उस समय श्रीमन्दिर के दक्षिण की ओर स्थित बालु के खण्ड पर मार्कण्डेय-सरोवर के तट पर वास करते थे। उसके बाद आजकल उनका वह घर 'गङ्गामाता मठ' के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रभु को मृत की भाँति अचेतन
देखकर भट्टाचार्य को आशंका—

श्वास-प्रश्वास नाहि उदर-स्पन्दन।
देखिया चिन्तित हैल भट्टाचार्येर मन॥९॥

९। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्वास-प्रश्वास को न चलता देखकर और उनके उदर में भी किसी प्रकार के स्पन्दन को न देखकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य बहुत चिन्तित हो गये।

प्रभु की चेतनता की परीक्षा और
भट्टाचार्य को कुछ धैर्य की प्राप्ति—

सूक्ष्म तुला आनि' नासा-अग्रेते धरिल।
ईषत् चलये तुला देखि' धैर्य हैल॥१०॥

१०। प॰ अनु॰—तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने थोड़ी-सी सूक्ष्म रुई को श्रीचैतन्य महाप्रभु के नाक के आगे रखकर परीक्षा की और उस रुई को हल्का-सा हिलता हुआ देखकर वे थोड़े आश्वस्त हुए।

भट्टाचार्य को प्रभु के देह में महाप्रेम के विकार का ज्ञान—

बसि' भट्टाचार्य मने करेन विचार।
एइ कृष्ण-महाप्रेमेर सात्त्विक विकार॥११॥

११। प॰ अनु॰—तब वहीं पर ही बैठकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने मन-ही-मन विचार किया कि "यह कोई साधारण मूर्च्छा नहीं, बल्कि यह तो कृष्ण-महाप्रेम के सात्त्विक विकार स्वरूप है।

अनुभाष्य

११। मध्य, तृतीय परिच्छेद की १६२ संख्या द्रष्टव्य है।

'सुद्दीप्त भाव'—

'सुद्दीप्त सात्त्विक' एइ नाम ये 'प्रणय'।
नित्यसिद्ध-भक्ते से 'सुद्दीप्त भाव' हय॥१२॥

१२। प॰ अनु॰—"ऐसी मूर्च्छा—यह तो कृष्णप्रेम जनित सुद्दीप्त सात्त्विक भाव है तथा इसका नाम 'प्रणय' है। यह भाव तो केवल भगवान् के नित्यसिद्ध भक्तों में ही पाया जाता है।

अनुभाष्य

१२। सुद्दीप्त—(भः रः सिः दः विः तृतीय लहरी)—अष्ट सात्त्विक विकारों को गोपन करने की चेष्टा दो

प्रकार की है,—'धूमायिता' और 'ज्वलिता'। धूमायिता—'अद्वितीया अमीभावा: अथवा सद्वितीयका:। ईषद् व्यक्ता अपह्नोतुं शक्या धूमायिता मता:॥" एक अथवा दो भाव सहज भावुक के शरीर में ईषत (थोड़ी मात्रा में) प्रकाशित होने पर जिस भाव को छिपाना सम्भव पर होता है, उस भाव को 'धूमायिता' कहते हैं। ज्वलिता—"द्वौ वा त्रयो वा युगपद् यान्त: सुप्रकटां दशाम्। शक्या: कृच्छ्रेन निर्होतुं ज्वलिता इति कीर्तिता॥" एक ही समय दो अथवा तीन सात्विक भाव प्रकाशित हो जायें तथा बहुत कष्ट से उनको छिपाना सम्भव पर हो, तब उस भाव को 'ज्वलिता' कहते हैं। दीप्ता—"प्रौढ़ास्त्रिचतुरा व्यक्तिं पञ्च वा युगपद्गता:। सम्वरितुम शक्यास्ते दीप्ता धीरैरुदाहृता॥" तीन-चार या फिर पाँच प्रौढ़भावों के एक ही समय में उदित होने पर यदि उनको छिपाने की चेष्टा विफल हो जाती है, तब भावज्ञ धीरगण उसे 'दीप्ता' कहते हैं। उद्दीप्ता—"एकदा व्यक्तिमापन्ना: पञ्चषा: सर्व एव वा। आरुढ़ा: परमोत्कर्ष-मुद्दीप्ता इति कीर्तिता:॥" एक ही समय में पाँच-छह अथवा सभी भाव प्रकाशित होकर यदि प्रेम की परमोत्कर्षता पर आरोहण करते हैं, तब उसे 'उद्दीप्ता' कहते हैं। (उ: नी:) 'उद्दीप्तानां-भिदा एव सुदीप्ता: सन्ति कुत्रचित्। सात्विका: परमोत्कर्षकोटीमत्रैव विभ्रति॥" उद्दीप्त भाव समूह का प्रकार भेद ही किसी-किसी स्थान पर 'सुद्दीप्त' के नाम से कहा जाता है। सात्विक भाव समूह करोड़ो गुणा होकर परमोत्कर्षता प्राप्त करने पर जब प्रेम की पराकाष्ठा के रूप में सुन्दर रूप से प्रकाशित होते हैं, तब वे 'सुद्दीप्त' संज्ञा प्राप्त करते हैं।

नित्यसिद्धभक्त—पार्षदभक्त, दिव्यसूरि; मध्य २४ परिच्छेद २८९ संख्या—"विधिभक्ते नित्यसिद्ध—'पारिषद दास'। 'सखा', 'गुरु', 'कान्तागण'—चारिविध प्रकाश॥"

प्रभु की देह में लोकातीत महाभाव—

'अधिरुढ़-महाभाव' जाँर, ताँर ए विकार।
मनुष्येर देहे देखि,—बड़ चमत्कार॥१३॥

१३। प० अनु०—"ऐसा विचार तो केवल उसी में हो सकता है, जिसमें 'अधिरुढ़ महाभाव हो—'किन्तु यह भाव एक मनुष्य के शरीर में दिखायी दे रहा है—यह तो बहुत ही आश्‍चर्य की बात है।

अनुभाष्य

१३। अधिरूढ़-महाभाव,—उज्ज्वलनीलमणौ—'अनुराग'—"सदानुभूतमपि य: कुर्यान्नवनवं प्रियम। रागो भवन्नवनव: सोऽनुराग इतीर्यते॥" अर्थात् प्रीति के पात्र नायक के रूप-गुण-माधुर्य का पहले नित्य आस्वादन करने पर भी अनास्वादित लगने के कारण नायिका के अनुभव के अनुसार नायिका का जो राग नायक को नया-नया बोध कराता है, वह राग नया-नया होकर 'अनुराग' कहलाता है। 'भाव'—"अनुरागं स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशित:। यावदाश्रयवृत्तिश्‍चेत् भाव इत्याभिधीयते॥" अर्थात् अपने अनुराग द्वारा अनुराग की सम्वेदन योग्य दशा को प्राप्त करके प्रकाशित होने पर यदि अनुराग पराकाष्ठा को प्राप्त करता है, तब उसे 'भाव' कहते हैं। जो प्रकाशित न होने पर यावदाश्रय वृत्ति के अभाव अवस्थावशत: अपने द्वारा सम्वेदन योग्य दशा में केवल मात्र 'अनुराग' रहता है, उसे 'भाव' नहीं कहा जा सकता। 'महाभाव'—"मुकुन्द-महिषीवृन्दैरप्यसावित दुर्लभ:। व्रजदेव्यैकसवेद्यो महाभावाख्योच्यते॥" रुढ़ और अधिरुढ़ के भेद से महाभाव—'वरामृतस्वरूपश्री: स्वं स्वरूपं मनो नयेत्। स रुढ़श्‍चाधिरुढ़श्‍चेत्युच्यते द्विविधो बुधै:॥" रुढ़-महाभाव—उद्दीप्ता सात्विका यत्र स रुढ़ इति भण्यते॥" अधिरुढ़-महाभाव—"रुढ़ोक्तेभ्योऽनुभावेज्ञय: कामप्याप्ता विशिष्टताम्। यत्रानुभावा: दृशयन्ते सोऽधिरुढ़ो निगद्यते॥" यह भाव श्रीकृष्ण की महिषियों के लिये अत्यन्त दुष्प्राप्य है; केवल व्रजगोपियों में ही यह महाभाव एकमात्र सम्वेद्य है; अर्थात् गोपियों के अतिरिक्त अन्य ललनाओं में महाभाव लक्षित नहीं होता। लौकिक आस्वादनीय वस्तुओं में से अमृत की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं है। अमृत के समान 'महाभाव'—प्रेम की विशेष अवस्था है, उससे पृथक रूप में मन की

स्थिति नहीं होती अर्थात् मन महाभावात्मक होता है। इन्द्रियसमूह की मनोवृत्तिरूपा गोपियों का मन प्रभृति सर्वेन्द्रियों का महाभाव रूपत्व निबन्धन उस-उस कार्य में सभी का ही श्रीकृष्ण का अत्यधिक वश्यत्व युक्ति सिद्ध है। पट्ट महिषियों की सम्भोग की इच्छा वशतः पृथक् अवस्थित होने के कारण मन सम्पूर्ण रूप से प्रेमात्मिक नहीं है, अतएव उनमें महाभाव की सम्भावना नहीं है। महाभाव—'रुढ़' और 'अधिरुढ़' के भेद से दो प्रकार का है। जिस महाभाव में सात्विक भाव समूह उद्दीप्त होते हैं, वही 'रुढ़' भाव है; रुढ़भाव में कहे गये अनुभाव समूह से सात्विक भाव समूह किसी प्रकार की विशिष्टता प्राप्त करने पर जो अनुभाव लक्षित होते हैं, वही 'अधिरुढ़' महाभाव है। वह 'सुद्दीप्त' भाव नहीं है। अधिरुढ़ भाव में 'मोदन' और 'मादन' नामक भेद हैं। राधाकृष्ण के सात्त्विक भाव समूह जिस महाभाव में उद्दीप्त होकर सुष्ठुता प्राप्त करते हैं, वही 'मोदन' हैं; ह्लादिनी का सार प्रेम यदि सभी भावों के उद्गमन से उल्लासशील होता है, तब उसे 'मादन' कहते हैं। यह परात्पर अर्थात् मोहन आदि भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट है; यह केवल श्रीराधिका में ही सब समय सम्भव पर है।

भट्टाचार्य की चिन्ता—

एत चिन्ति' भट्टाचार्य आछेन बसिया।
नित्यानन्दादि सिंहद्वारे उत्तरिल गिया॥१४॥

१४। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य जब इस प्रकार की चिन्ता कर रहे थे, तब श्रीनित्यानन्द प्रभु आदि भक्त, जो श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ न आकर उनके पीछे-पीछे आये थे, वे सब श्रीजगन्नाथ मन्दिर के सिंहद्वार पर आ पहुँचे।

नित्यानन्दादि भक्तों के आठारनाला से पुरी में आने पर लोगों के मुख से प्रभु का भट्टाचार्य के घर में होने के विषय में सुनना—

ताँहा शुनि' लोके कहे अन्योन्ये बात।
एक संन्यासी आसि' देखि' जगन्नाथ॥१५॥
मूर्च्छित हैल, चेतन ना हय शरीरे।
सार्वभौम लञा गेला आपनार घरे॥'१६॥

१५-१६। प० अनु०—सिंहद्वार पर पहुँचकर श्रीनित्यानन्द प्रभु आदि भक्तों ने लोगों को कहते हुये सुना कि—'एक संन्यासी श्रीजगन्नाथ के दर्शन के लिये आये थे, वे जगन्नाथ देव के दर्शन करके मूर्च्छित हो गये जिससे उनके शरीर में चेतना तक नहीं रही एवं श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य उन्हें अपने घर में ले गये हैं।'

सार्वभौम के बहनोई गोपीनाथ का वहाँ पर आना—

शुनि' सबे जानिला महाप्रभुर कार्य।
हेनकाले आइला ताँहा गोपीनाथाचार्य॥१७॥
नदीया-निवासी, विशारदेर जामाता।
महाप्रभुर भक्त तेंहो प्रभुर तत्त्वज्ञाता॥१८॥

१७-१८। प० अनु०—लोगों की बात सुनकर सब भक्त समझ गये कि ये लोग श्रीचैतन्य महाप्रभु की ही बात कर रहे हैं। उसी समय श्रीगोपीनाथाचार्य भी वहाँ आ गये। श्रीगोपीनाथाचार्य नदीया के रहने वाले, महेश्वर विशारद के जमाई तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्त हैं तथा वे श्रीचैतन्य महाप्रभु के तत्त्व को जानते थे।

अनुभाष्य

१७। विशारद,—नीलाम्बर चक्रवर्ती के सहपाठी महेश्वर विशारद समुद्रगढ़ के निकट स्थित 'विद्यानगर' में वास करते थे। उनके दो पुत्र—मधुसूदन वाचस्पति और वासुदेव सार्वभौम एवं जमाता—गोपीनाथ आचार्य थे।

पूर्व परिचय के अनुसार मुकुन्दादि के साथ बातचीत करने पर प्रभु के संवाद का श्रवण—

मुकुन्द-सहित पूर्वे आछे परिचय।
मुकुन्द देखिया ताँर हइल विस्मय॥१९॥
मुकुन्द ताँहारे देखि' कैल नमस्कार।
तेंहो आलिङ्गिया पूछे प्रभुर समाचार॥२०॥
मुकुन्द कहे,—"प्रभुर इँहा हैल आगमने।
आमि-सब आसियाछि महाप्रभुर सने॥"२१॥

नित्यानन्द-गोसाञिके आचार्य कैल नमस्कार।
सबे मेलि' पूछे प्रभुर वार्ता बार बार॥२२॥
मुकुन्द कहे,—"महाप्रभु संन्यास करिया।
नीलाचले आइला सङ्गे आमा-सबा लञा॥२३॥
आमा-सबा छाड़ि' आगे गेला दरशने।
आमि-सब पाछे आइलाङ् ताँर अन्वेषणे॥२४॥
अन्योन्ये लोकेर मुखे जे कथा शुनिल।
सार्वभौम-गृहे प्रभु,—अनुमान कैल॥२५॥
ईश्वर-दर्शने प्रभु प्रेमे अचेतन।
सार्वभौम लञा गेला आपन-भवन॥२६॥
तोमार मिलने जबे आमार हैल मन।
दैवे सेइ क्षणे पाइलुँ तोमार दरशन॥२७॥

१९-२७। प० अनु०—श्रीगोपीनाथ आचार्य का श्रीमुकुन्द दत्त के साथ पहले से ही परिचय था, इसलिये आज श्रीमुकुन्द दत्त को जगन्नाथ पुरी में देखकर वे आश्चर्यान्वित हुए। श्रीमुकुन्द दत्त ने श्रीगोपीनाथ आचार्य को देखकर प्रणाम किया और श्रीगोपीनाथ आचार्य ने भी श्रीमुकुन्द दत्त को आलिङ्गन करके उनसे श्रीचैतन्य महाप्रभु का समाचार पूछा। श्रीमुकुन्द दत्त ने कहा—"श्रीचैतन्य महाप्रभु यहाँ नीलाचल में आये हैं और हम सब भी महाप्रभु के साथ यहाँ आयें हैं। श्रीगोपीनाथ आचार्य ने श्रीनित्यानन्द प्रभु को प्रणाम किया और फिर सबसे मिलने के उपरान्त वे बार-बार श्रीचैतन्य महाप्रभु के सम्बन्ध में पूछने लगे कि जब वे आपके साथ नीलाचल आये हैं, तो अब कहाँ हैं? श्रीमुकुन्द ने उत्तर देते हुए कहा—"श्रीचैतन्य महाप्रभु संन्यास लेकर नीलाचल में आयें हैं और वे हम सबको भी अपने साथ लाये हैं। वे हम सबको पीछे छोड़कर हमसे पहले ही श्रीजगन्नाथ का दर्शन करने आये थे और हम सब उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आ रहे हैं। अन्यान्य लोगों के मुख से हमनें जो सुना है, उससे तो यह अनुमान लग रहा है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के घर में हैं। भगवान् श्रीजगन्नाथ के दर्शन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रेमाविष्ट होने के कारण अचेतन हो गये और श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य उन्हें अपने घर ले गये। (इस श्रीजगन्नाथ पुरी में श्रीचैतन्य महाप्रभु को ढूँढ़ने में आप ही हमारी सहायता कर सकते हैं, ऐसी बात सोचकर) आपसे मिलने का जब मेरा मन हुआ उसी समय ही दैवयोग से मुझे आपका दर्शन प्राप्त हुआ है।"

जगन्नाथ की अपेक्षा प्रभु के प्रति अधिक प्रेम—

चल, सबे जाइ सार्वभौमेर भवन।
प्रभु देखि' पाछे करिब ईश्वर-दर्शन॥२८॥

२८। प० अनु०—श्रीमुकुन्द दत्त ने कहा,—"चलो, हम सब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के घर जाकर पहले श्रीचैतन्य महाप्रभु का दर्शन करें। बाद में श्रीजगन्नाथ देव का दर्शन करेंगे।"

सभी भक्तों का सार्वभौम के घर में आगमन—

एत शुनि' गोपीनाथ सबारे लञा।
सार्वभौम-घरे गेला हरषित हञा॥२९॥

२९। प० अनु०—यह सुनकर श्रीगोपीनाथ आचार्य अत्यधिक आनन्दित होकर आनन्दपूर्वक सब भक्तों को अपने साथ लेकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के घर चले गये।

वहाँ प्रभु का दर्शन, गोपीनाथ में प्रभु के
दर्शन से एकसाथ हर्ष और विषाद—

सार्वभौम-स्थाने गिया प्रभुके देखिल।
प्रभु देखि' आचार्येर दुःख-हर्ष हैल॥३०॥

३०। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के घर जाकर सभी ने श्रीचैतन्य महाप्रभु का दर्शन किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु को ऐसी अवस्था में देखकर श्रीगोपीनाथ आचार्य को बहुत दुःख हुआ तथा साथ ही श्रीचैतन्य महाप्रभु को श्रीजगन्नाथ पुरी में देखकर वे बहुत प्रसन्न भी हुए।

सभी भक्तों को घर के अन्दर भेजना
और सबके साथ यथायोग्य सम्भाषण—

सार्वभौमे जानाञा सबा निल अभ्यन्तरे।

नित्यानन्द-गोसाञिरे तेंहो कैल नमस्कारे॥३१॥
सबा-सहित यथायोग्य करिल मिलन।
प्रभु देखि' सबार हैल हरषित मन॥३२॥

३१-३२। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को सभी भक्तों के विषय में बतलाकर श्रीगोपीनाथ आचार्य सभी भक्तों को घर के भीतर ले गये। श्रीनित्यानन्द प्रभु को देखकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने उन्हें प्रणाम किया। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने सभी भक्तों के साथ यथायोग्य व्यवहार करते हुए भेंट की। श्रीचैतन्य महाप्रभु को देखकर सबका मन आनन्दित हो गया।

पुत्र चन्दनेश्वर के साथ सभी को
जगन्नाथ दर्शन के लिये भेजना—

सार्वभौम पाठाइल सबा दर्शन करिते।
'चन्दनेश्वर' निजपुत्र दिल सबार साथे॥३३॥

३३। प० अनु०—तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने उन सभी भक्तों को अपने पुत्र 'चन्दनेश्वर' के साथ श्रीजगन्नाथ देव के दर्शन करने के लिये भेज दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

३३। दर्शन करिते,—जगन्नाथदेव के दर्शन करने के लिये।

जगन्नाथ के दर्शन से निताई में प्रेम का आवेश—

जगन्नाथ देखि' सबार हैल आनन्द।
भावेते आविष्ट हैला प्रभु नित्यानन्द॥३४॥
सबे' मेलि' धरि' ताँरे सुस्थिर करिल।
ईश्वर-सेवक माला-प्रसाद आनि' दिल॥३५॥
प्रसाद पाञा सबे हैला आनन्दित मने।
पुनरपि आइला सबे महाप्रभुर स्थाने॥३६॥

३५-३६। प० अनु०—भगवान् श्रीजगन्नाथ का दर्शन करके सभी को बहुत आनन्द हुआ तथा श्रीनित्यानन्द प्रभु तो भावाविष्ट हो गये। सभी भक्तों ने मिलकर श्रीनित्यानन्द प्रभु को पकड़ा तथा उन्हें शान्त किया। इतने में ही श्रीजगन्नाथ देव के सेवक ने उन्हें भगवान् श्रीजगन्नाथ की प्रसादी माला लाकर दी। श्रीजगन्नाथ देव का प्रसाद पाकर सभी का मन बहुत प्रसन्न हुआ। इसके बाद वे सब फिर से श्रीचैतन्य महाप्रभु के पास श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के घर पर आ गये।

प्रभु के निकट सभी भक्तों के द्वारा उच्च-स्वर
से कीर्त्तन और प्रभु को बाह्य-दशा की प्राप्ति—

उच्च करि' करे सबे नाम-संकीर्तन।
तृतीय प्रहरे हैल प्रभुर चेतन॥३७॥

३७। प० अनु०—सभी भक्त उच्चस्वर से नाम-संकीर्त्तन करने लगे, जिसके फलस्वरूप तीसरे प्रहर में श्रीचैतन्य महाप्रभु की बाह्य-चेतनता लौट आयी।

सार्वभौम का शिष्टाचार—

हुङ्कार करिया उठे 'हरि' 'हरि' बलि'।
आनन्दे सार्वभौम ताँर लैल पदधूलि॥३८॥

३८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने 'हरि-हरि' बोलते हुए हुँकार की तथा उठकर खड़े हो गये। तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने अत्यधिक आनन्दित होकर प्रभु के श्रीचरणों की धूलि को ग्रहण किया।

सार्वभौम का निमन्त्रण—

सार्वभौम कहे,—शीघ्र करह मध्याह्न।
मुञि भिक्षा दिमु आजि महा-प्रसादान्न॥३९॥

३९। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से कहा—"आप शीघ्र ही अपना मध्याह्न अर्थात् स्नान आदि कर लीजिये। आज मैं आप सबको भगवान् श्रीजगन्नाथ का महाप्रसाद लाकर भोजन कराऊँगा।"

अनुभाष्य

३९। मध्याह्न कर—दिन के समय किये जाने वाले स्नान और आहार को करो।

स्नान के उपरान्त भक्तों के साथ प्रभु का प्रसाद-सम्मान—

समुद्रस्नान करि' प्रभु शीघ्र आइला।
चरण पाखालि, प्रभु आसने बसिला॥४०॥

बहुत प्रसाद सार्वभौम आनाइल।
तबे महाप्रभु सुखे भोजन करिल॥४१॥
सुवर्ण-थालाते अन्न उत्तम व्यञ्जन।
भक्तगण-सङ्गे प्रभु करेन भोजन॥४२॥

४०-४२। प० अनु०—समुद्र में स्नान करके अपने भक्तों सहित श्रीचैतन्य महाप्रभु तुरन्त ही लौट आये और चरणों को धोने के बाद वे प्रसाद पाने के लिये आसन पर बैठ गये। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने बहुत प्रकार का प्रसाद मँगवाकर रखा था, अत्यधिक आनन्दित होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने महाप्रसाद भोजन किया। स्वर्ण की थाली में श्रीजगन्नाथ को जो अन्न आदि उत्तम व्यञ्जन भोग लगाये जाते हैं। अपने भक्तों के साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु ने वही प्रसाद ग्रहण किया।

सार्वभौम के द्वारा महाप्रसाद परोसना—

सार्वभौम परिवेशन करेन आपने।
प्रभु कहे,—मोरे देह लाफ्रा-व्यञ्जने॥४३॥
पीठा-पाना देह तुमि इँहा-सबाकारे।
सबे भट्टाचार्य कहे जुड़ि' दुइ करे॥४४॥
जगन्नाथ कैछे करियाछेन भोजन।
आजि सब महाप्रसाद कर आस्वादन॥४५॥
एत बलि' पीठा-पाना सब खाओयाइला।
भिक्षा कराञा आचमन कराइला॥४६॥

४३-४६। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य स्वयं ही परिवेशन कर रहे थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनसे कहा—"आप मुझे केवल लाफरा-व्यञ्जन (पाँच-सात सब्जियों को मिलाकर बनाया गया व्यञ्जन) दीजिये और पीठा-पाना सभी भक्तों को दीजिये। श्रीचैतन्य महाप्रभु की बात सुनकर श्रीभट्टाचार्य ने हाथ जोड़कर कहा—"आज श्रीजगन्नाथ देव ने क्या-क्या भोजन किया है, उसका आप स्वयं महाप्रसाद के रूप में आस्वादन करें।" इतना कहकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को पीठा-पाना आदि सबकुछ खिलाया और भोजन कराने के बाद आचमन कराया।

अनुभाष्य

४३। लाफरा-व्यञ्जन—बहुत-सी सब्जियों को एक साथ मिलाकर जीरा, मिर्च ओर सरसों आदि (का तड़का लगाकर) जो सब्जी बनायी जाती है।

गोपीनाथ के साथ सार्वभौम का प्रभु के निकट आना—

आज्ञा मागि' गोपीनाथ आचार्यके लञा।
प्रभुर निकट आइला भोजन करिया॥४७॥

४७। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके भक्तों से आज्ञा लेकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीगोपीनाथ आचार्य को अपने साथ लेकर भोजन किया और भोजन करने के बाद वे श्रीचैतन्य महाप्रभु के पास आ गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

४७। प्रभु के भोजन के बाद सार्वभौम ने उनकी आज्ञा लेकर गोपीनाथ आचार्य के साथ बैठकर भोजन किया तथा बाद में पुनः प्रभु के पास आये।

सार्वभौम के द्वारा प्रभु को प्रणाम
और प्रभु द्वारा आशीर्वाद प्रदान—

'नमो नारायणाय' बलि' नमस्कार कैल।
'कृष्णे मतिरस्तु' बलि' गोसाञि कहिल॥४८॥

४८। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने 'नमो नारायण' कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को प्रणाम किया। उसके उत्तर में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—'कृष्ण में तुम्हारी मति रहे।'

अनुभाष्य

४८। चतुर्थ आश्रमी संन्यासियों को 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर सम्बोधन करने की प्रथा है। संन्यासियों के लिये 'निराशीर्निर्नमष्क्रियः' (नमस्कार भी नहीं करेगा तथा आशीर्वाद भी नहीं देगा, ऐसी) विधि स्मृति शास्त्रों में कही गयी है; किन्तु वैष्णव-संन्यासिगण अपने आपको कृष्णदास और कृष्ण की सेवा को ही सर्वोत्तम जानकर सभी जगत्वासियों को 'कृष्ण के चरणकमलों में तुम्हारी मति हो' ऐसा करुणामय आशीर्वाद देते हैं।

प्रभु को वैष्णव-सम्प्रदाय का
जानकर सार्वभौम का हर्षित होना—

'शुनि' सार्वभौम मने विचार करिल।
वैष्णव-संन्यासी इँहो, वचने जानिल॥४९॥

४९। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के वचन सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने मन में विचार किया कि इनके वचनों से लगता है कि ये वैष्णव-संन्यासी हैं।

गोपीनाथ से प्रभु के पूर्व आश्रम के सम्बन्ध में पूछना—

गोपीनाथ आचार्येरे कहे सार्वभौम।
गोसाञिर जानिते चाहि काँहा पूर्वाश्रम॥५०॥

५०। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीगोपीनाथ आचार्य से कहा—"मैं इन संन्यासी के पूर्वाश्रम के सम्बन्ध में जानना चाहता हूँ।"

अनुभाष्य

५०। पूर्वाश्रम,—संन्यास आश्रम ग्रहण करने से पहले गृह में रहते समय किस नाम से परिचित थे और किस स्थान पर वास करते थे।

गोपीनाथ द्वारा परिचय-प्रदान—

गोपीनाथाचार्य कहे,—नवद्वीपे घर।
'जगन्नाथ'—नाम, पदवी—'मिश्र पुरन्दर'॥५१॥
'विश्वम्भर'—नाम इँहार, ताँर इँहो पुत्र।
नीलाम्बर चक्रवर्तीर हयेन दौहित्र॥५२॥
सार्वभौम कहे,—नीलाम्बर चक्रवर्ती।
विशारदेर समाध्यायी,—एइ ताँर ख्याति॥५३॥
'मिश्र पुरन्दर' ताँर मान्य, हेन जानि।
पितार सम्बन्धे दोंहाके पूज्य करि' मानि॥५४॥

५१-५४। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम के द्वारा पूछने पर श्रीगोपीनाथाचार्य ने कहा—"नवद्वीप निवासी 'श्रीजगन्नाथ' जिनकी पदवी—'मिश्र पुरन्दर' है, ये उन्हीं के ही पुत्र हैं, इनका नाम 'विश्वम्भर' था तथा ये श्रीनीलाम्बर चक्रवर्ती के दौहित्र (नाती) हैं।" श्रीचैतन्य महाप्रभु का परिचय सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा "नीलाम्बर चक्रवर्ती तो मेरे पिता श्रीमहेश्वर विशारद के सहपाठी थे, उनके विषय में यही बात ही प्रसिद्ध है। 'श्रीजगन्नाथ मिश्र पुरन्दर का भी मेरे पिता बहुत सम्मान करते थे। इसलिये पिता के सम्बन्ध से मैं श्रीनीलाम्बर चक्रवर्ती तथा श्रीजगन्नाथ मिश्र दोनों को ही अपना पूजनीय मानता हूँ।"

प्रभु के परिचय को सुनने से सार्वभौम को आनन्द—

नदीया-सम्बन्धे सार्वभौम हृष्ट हैला।
प्रीत हञा गोसाञिरे कहिते लागिला॥५५॥

५५। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के नदीया से सम्बन्धित परिचय को सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य बहुत प्रसन्न हुये और वे श्रीचैतन्य महाप्रभु से कहने लगे—

सार्वभौम का दैन्य-विनय—

'सहजेइ पूज्य तुमि, आरे त' संन्यास।
अतएव हउ तोमार आमि निज-दास॥' ५६॥

५६। प॰ अनु॰—"आप तो सहज ही हमारे पूज्य हैं और उस पर भी आप संन्यासी हैं—अतएव मैं आपका अपना दास हूँ।"

अनुभाष्य

५६। तुम्हारी नैसर्गिक (स्वाभाविक) वृत्ति के उत्कर्ष का विचार करने पर तुम मेरे पूजनीय हो; और बाह्य आश्रम के विचार से भी तुम संन्यास ग्रहण करने के कारण हमारे जैसे गृहस्थों के पूजनीय हो। अतएव मैं—तुम्हारा दास हूँ तथा तुम—मेरे सेव्य (प्रभु) हो।

प्रभु का मानद (दूसरों को सम्मान देना) धर्म—

शुनि' महाप्रभु कैल श्रीविष्णु-स्मरण।
भट्टाचार्ये कहे किछु विनय-वचन॥५७॥
"तुमि जगद्गुरु—सर्वलोक-हितकर्ता।
वेदान्त पड़ाओ, संन्यासीर उपकर्ता॥५८॥

५७-५८। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के वचनों को सुनने के साथ-ही-साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीविष्णु का स्मरण किया। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को

दीनतापूर्वक इस प्रकार कहने लगे—"आप तो जगत् के गुरु हैं एवं सब लोगों के हितकारी हैं। आप तो मुझे वेदान्त पढ़ाओ क्योंकि आप तो संन्यासियों का भी उपकार करने वाले हैं।

अनुभाष्य

५८। आप तो जगद्गुरु के पद पर आसीन (बैठे) हैं, वेदान्त के अध्यापक हैं, अज्ञानी छात्रों को शिक्षा प्रदान करने वाले हैं, संन्यासियों के कल्याण की कामना रखने वाले हैं; उन्हें वेदान्त के अर्थों का श्रवण कराके वैराग्य का उपदेश देकर उनके अज्ञान को दूर करने वाले हैं एवं भिक्षुओं को अपने घर में भिक्षा (भोजन) कराके उनका उपकार करने वाले हैं।

प्रभु द्वारा अपने को पाल्य
और सार्वभौम को पालक-ज्ञान—

आमि बालक-संन्यासी—भाल-मन्द नाहि जानि।
तोमार आश्रय निलुँ, गुरु करि' मानि॥५९॥
तोमार सङ्ग लागि' मोर इँहा आगमन।
सर्वप्रकारे करिबे आमाय पालन॥६०॥

५९-६०। प० अनु०—"मैं तो एक नया संन्यासी हूँ। भले-बुरे के विषय में कुछ भी नहीं जानता हूँ, इसलिये मैं आपको अपना गुरु मानकर आपका आश्रय ग्रहण करता हूँ। आपके संग को प्राप्त करने के लिये ही मैं यहाँ आया हूँ, कृपया आप सब प्रकार से मेरा पालन कीजिये।

प्रभु के द्वारा कृतज्ञता-ज्ञापन—

आजि जे हैल आमार बड़इ विपत्ति।
ताहा हैते कैले तुमि आमार अव्याहति॥"६१॥

६१। प० अनु०—आज जो मुझ पर इतनी बड़ी विपत्ति आ पड़ी थी, उससे आपने ही मेरी रक्षा की।"

अनुभाष्य

६१। श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन करते समय मैं मूर्च्छित होकर संज्ञाहीन हो गया था, आपने मेरी सेवा के भार को ग्रहण करके मेरे अज्ञान को दूर करके चेतन किया है अर्थात् मुझे अन्तर्दशा से बहिर्दशा में पहुँचा दिया है।

भट्टाचार्य द्वारा प्रभु के प्रति स्नेह पूर्ण उपदेश—

भट्टाचार्य कहे,—एकले तुमि ना जाइह दर्शने।
आमार सङ्गे जाबे, किम्बा आमार लोक-सने॥६२॥

६२। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"अब आप अकेले भगवान् श्रीजगन्नाथ देव के दर्शन के लिये मत जाना, या तो आप मेरे साथ जाना अन्यथा मेरे किसी आदमी के साथ जाना।"

प्रभु की सम्मति सूचक उक्ति—

प्रभु कहे,—'मन्दिर भितरे ना जाइब।
गरुड़ेर पाशे रहि' दर्शन करिब॥' ६३॥

६३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"अब मैं कभी भी मन्दिर के अन्दर नहीं जाऊँगा। गरुड़-स्तम्भ के पास खड़े होकर ही श्रीजगन्नाथ देव के दर्शन करूँगा।"

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा अपने बहनोई (गोपीनाथाचार्य) को प्रभु की देखरेख करने की प्रार्थना—

गोपीनाथाचार्यके कहे सार्वभौम।
'तुमि गोसाञिरे लञा कराइह दर्शन॥६४॥
आमार मातृस्वसा-गृह—निर्जन स्थान।
ताँहा वासा देह, कर सर्व समाधान॥' ६५॥
गोपीनाथ प्रभु लञा ताँहा वासा दिल।
जलपात्र आदि सर्व समाधान कैल॥६६॥

६४-६६। प० अनु०—तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने अपने बहनोई श्रीगोपीनाथाचार्य को कहा—"आप गोसाईं जी को अपने साथ ले जाकर इन्हें श्रीजगन्नाथ जी के दर्शन कराना और मेरी मौसी का घर बिल्कुल एकान्त स्थान है, इसलिये आप इनके रहने की व्यवस्था वहीं पर ही कर दीजिए तथा इनके लिये जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, उनकी भी व्यवस्था कर दीजिए।" तब श्रीगोपीनाथ आचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु को वहाँ ले गये तथा उन्हें उनके रहने का स्थान दिखाया। उन्होंने जलपात्र आदि सभी प्रयोजनीय वस्तुओं की भी व्यवस्था दी।

गोपीनाथ द्वारा प्रभु को जगन्नाथ की सेवा का प्रदर्शन—

आर दिन गोपीनाथ प्रभु स्थाने गिया।
शय्योत्थान दरशन कराइल लञा॥६७॥

६७। प० अनु०—अगले दिन श्रीगोपीनाथ आचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु के स्थान पर गये और उन्हें श्रीजगन्नाथ देव के शय्योत्थान अर्थात् शय्या से उठने के समय होने वाले दर्शन कराकर उन्हें पुनः उनके वास स्थान पर छोड़ गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

६७। शय्योत्थान,—जगन्नाथ देव का शय्या से उठना।

मुकुन्द के साथ सार्वभौम के घर में आगमन—

मुकुन्ददत्त लञा आइला सार्वभौम स्थाने।
सार्वभौम किछु ताँरे बलिला वचने॥६८॥

६८। प० अनु०—उसके बाद श्रीगोपीनाथ आचार्य श्रीमुकुन्द दत्त को अपने साथ लेकर श्रीसार्वभौम के घर आये और जब वे लोग वहाँ पहुँचे, तो श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीमुकुन्द दत्त से कहने लगे—

स्नेहप्रीति भाव के द्वारा सार्वभौम की प्रभु के संन्यास के सम्बन्ध में जिज्ञासा—

'प्रकृति—विनीत, संन्यासी देखिते सुन्दर।
आमार बहुप्रीति बाड़े इँहार उपर॥६९॥
कोन् सम्प्रदाये संन्यास करयाछेन ग्रहण।
कि नाम इँहार, शुनिते हय मन॥'७०॥

६९-७०। प० अनु०—"यह संन्यासी बहुत नम्र स्वभाव के हैं तथा देखने में भी बहुत सुन्दर हैं। उनके प्रति मेरी प्रीति तो बढ़ती ही जा रही है। मुझे यह सुनने की बहुत इच्छा हो रही है कि इन्होंने किस सम्प्रदाय से संन्यास ग्रहण किया है तथा इनका नाम क्या है?"

अनुभाष्य

६९। महाप्रभु ने वास्तविक संन्यासी के अधिकार को ग्रहण करने पर भी दैन्यपूर्वक संन्यासी के शिष्य 'ब्रह्मचारी' के नाम से ही अपना परिचय देना उचित समझा। वास्तविक रूप में संन्यासी होने पर भी 'ब्रह्मचारी' वाला परिचय प्रदान करना—नैसर्गिक (स्वाभाविक) दीनता का आदर्श है।

गोपीनाथ के द्वारा परिचय-प्रदान—

गोपीनाथ कहे,—'इँहार नाम श्रीकृष्णचैतन्य।
गुरु इँहार केशव-भारती महाधन्य'॥७१॥

७१। प० अनु०—श्रीगोपीनाथ आचार्य ने उत्तर दिया—"उनका नाम श्रीकृष्णचैतन्य है और परम भाग्यवान् श्रीकेशव भारती इनके संन्यास-गुरु हैं।"

सार्वभौम के द्वारा सम्प्रदाय की समालोचना—

सार्वभौम कहे,—'इँहार नाम सर्वोत्तम।
भारती-सम्प्रदाय एइ,—हयेन मध्यम॥' ७२॥

७२। प० अनु—यह सुनकर श्रीसार्वभौम ने कहा—इनका 'श्रीकृष्ण चैतन्य' नाम तो सर्वोत्तम है परन्तु भारती सम्प्रदाय से संन्यास ग्रहण करने के कारण ये मध्यम श्रेणी के संन्यासी हुए हैं।

गोपीनाथ द्वारा प्रभु के सम्प्रदाय का समर्थन—

गोपीनाथ कहे,—'इँहार नाहि बाह्यापेक्षा।
अतएव बड़ सम्प्रदायेर नाहिक अपेक्षा'॥७३॥

७३। प० अनु—श्रीगोपीनाथ आचार्य ने कहा—"श्रीकृष्णचैतन्य बाहरी मान-सम्मान आदि की अपेक्षा नहीं रखते। इसलिये इन्हें उत्तम सम्प्रदाय की भी कोई अपेक्षा नहीं है।

अनुभाष्य

७२-७३। शङ्कराचार्य द्वारा प्रवर्त्तित दशनामी संन्यासियों में 'तीर्थ', 'आश्रम', और 'सरस्वती'—सर्वोच्च है। शृङ्गेरी मठ में 'सरस्वती'—उत्तम, 'भारती'—मध्यम, 'पुरी'—कनिष्ठ, यह तीन संन्यासियों की उपाधियाँ हैं।

श्रीशङ्कर-सम्प्रदाय की जिस प्रकार तीर्थ आदि दशनामी संन्यासियों की व्याख्या प्रकाशित है, वह यह है—

जो त्रिवेणी सङ्गम तीर्थ में 'तत्त्वमसि' आदि लक्षणों से युक्त वाक्य के अनुसार तत्त्वार्थ समझकर स्नान करते हैं, वे 'तीर्थ' नाम से जाने जाते हैं। जो संन्यास आश्रम में आग्रह विशिष्ट है अथवा समावर्त्तने वीतस्पृह (गृहस्थ आश्रम में जाने के अनिच्छुक) एवं आशाबन्ध हीन एवं योनिभ्रमण मुक्त हैं, वे 'आश्रम' नाम से परिचित होते हैं। जो मनोहर निर्जन वन में वास करते हैं एवं आशाबन्ध से मुक्त हैं, वे 'वन' नाम से परिचित हैं। जो नित्यकाल अरण्य में रहकर आनन्दरूपी नन्दनकानन में वास करने के लिये इस विश्व के समस्त संस्रव (मेल-जोल) त्याग करते हैं, वे 'अरण्य' हैं, जो पर्वत पर कानन में वास करके सदैव गीता के अध्ययन में रत हैं, जिसकी बुद्धि पर्वत के समान गम्भीर हैं, वह 'गिरि' हैं। जिसने पर्वतवासी प्राणियों में वास करके अत्यन्त गूढ़ ज्ञान लाभ करके संसार के सार एवं असार वस्तुओं के भेद को जान लिया है, वह 'पर्वत' है। तो तत्वसागर से ज्ञान रूपी रत्न एकत्रित करके कभी भी मर्यादा का उल्लघंन नहीं करते, वे 'सागर' हैं। जो उदातादि अथवा षड़ज-ऋषभ आदि स्वरज्ञान की चर्चा में रत हैं, स्वर-आलाप आदि में निपुण एवं अपार-संसार विनाशकारी हैं, वे 'सरस्वती' कहलाते हैं। जिन्होंने विद्या में पूर्णता लाभ करके अविद्या के सम्पूर्ण भार का परित्याग कर दिया है एवं जो किसी भी प्रकार के दुःख से दुःखी नहीं होते, वे 'भारती' हैं। जो तत्त्वज्ञान में पारङ्गत एवं पूर्णतत्त्व पद में अवस्थित होकर सब समय परब्रह्म की चर्चा में रत हैं, वे 'पुरी' नाम से प्रसिद्ध हैं।

श्रीशङ्कर सम्प्रदाय में 'ब्रह्मचारी' के नामों का अर्थ जिस प्रकार से प्रदान किया जाता है, वह यह है—

जो अपने स्वरूप को भलीभाँति जानते हैं, स्वधर्म परिचालन करते हैं एवं नित्यकाल अपने आनन्द में मग्न हैं, वह 'स्वरूप' नामक ब्रह्मचारी हैं। जो स्वयं ज्योतिर्ब्रह्म को विशेष रूप से जानता है एवं तत्त्वज्ञान के प्रकाश द्वारा विशेष रूप से योग युक्त है, वह 'प्रकाश' नाम से जाना जाता है। जो त त्त्वज्ञान प्राप्त करके सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म का सदैव ध्यान करते हैं एवं अपने आनन्द में ही विहार करते हैं, वे 'आनन्द' के नाम से प्रसिद्ध हैं। जो अचिन्मिश्रभावातीत चिन्मात्र (अचिद् वस्तु से सम्बन्धित सब प्रकार के भावों से अतीत केवल चिन्मात्र) अचिद् वस्तु के जड़प्रतिफलित चितविकार रहित, अनन्त, अजर एवं मङ्गलमय ब्रह्म को जानते हैं। वे 'विद्वान' एवं 'चैतन्य' के नाम से अभिहित होते हैं (मञ्जुषा-द्वितीय संख्या)

सार्वभौम ने कहा, "श्रीमहाप्रभु का नाम—'श्रीकृष्ण' एवं ब्रह्मचारी उपाधि—'चैतन्य' है। अतएव श्रीकृष्ण नाम—सभी नामों की अपेक्षा उत्तम हैं, किन्तु श्रीमहाप्रभु सर्वोच्च सरस्वती सम्प्रदाय में प्रवेश न करके मध्यम सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुए हैं।" इसके उत्तर में गोपीनाथ ने कहा कि, इनके मध्यम सम्प्रदाय में प्रविष्ट होने का कारण यह है कि इनकी किसी प्रकार की कोई बाह्य अपेक्षा नहीं है। अन्दर में मर्यादा का अहङ्कार रहने से मनुष्य मर्यादा-विशिष्ट होने का प्रयास करता है। अकिंचन होकर दीनभाव से हरिभजन करने की इच्छा होने पर भारती सम्प्रदाय की उपेक्षा करके सरस्वती सम्प्रदाय का अनुसन्धान करके उसमें प्रवेश करने की आकांक्षा नहीं होती।

जागतिक युवा समझकर प्रभु के प्रति भट्टाचार्य की गुरु की भाँति उपदेश मूलक उक्ति—

भट्टाचार्य कहे,—'इँहार प्रौढ़ यौवन।
केमने संन्यास-धर्म हबेक रक्षण॥७४॥
निरन्तर इँहाके वेदान्त शुनाइब।
वैराग्य-अद्वैत-मार्गे प्रवेश कराइब॥७५॥
कहेन यदि, पुनरपि योगपट्ट दिया।
संस्कार करिये उत्तम-सम्प्रदाये आनिया॥' ७६॥

७४-७६। प० अनु०—श्रीभट्टाचार्य ने कहा—"श्रीकृष्णचैतन्य पूर्ण यौवन सम्पन्न हैं, अतः वे अपने संन्यास धर्म की रक्षा कैसे करेंगे? मैं इन्हें निरन्तर वेदान्त सुनाऊँगा और वैराग्यमय—अदैत मार्ग में प्रवेश कराऊँगा।

यदि श्रीकृष्णचैतन्य इच्छा करें तो मैं उन्हें फिर से योग-पट्ट अर्थात् साम्प्रदायिक चिह्न स्वरूप वस्त्र विशेष देकर, संशोधन करके उत्तम सम्प्राय में ला सकता हूँ।"

अमृतप्रवाह भाष्य

७५। इस मायिक जगत् को कौवें की विष्ठा (मल) के समान तुच्छ ज्ञान कराने वाले केवल-अद्वैत पथ में प्रवेश करा दूँगा।

७६। योगपट्ट,—संन्यासियों का एक प्रकार का वेष। उत्तम सम्प्रदाय के योग्य योगपट्ट अर्थात् संन्यासियों द्वारा व्यवहार किये जाने वाले वस्त्रों को देकर पुनः संस्कार कर दूँगा।

अनुभाष्य

७४-७५। संन्यासिगण सदैव वेदान्त वाक्य अनुशीलन करके विषयों के प्रति विराग (वैराग्य) उत्पन्न करते हैं एवं कौपीनाश्रित होकर कौपीन की मर्यादा की रक्षा करते हैं। सदैव शम-दम आदि छह प्रकार के साधनों में पारदर्शी होने के लिये भक्ति से रहित विचारकों की युक्ति के अनुसार ज्ञान और वैराग्य की उपासना आवश्यक है। द्वितीय अभिनिवेश से ही मायिक वस्तुओं के पराक्रम के लिये आशङ्का होती है, अतएव ज्ञान-वैराग्य में अभिनिवेश कराके अद्वैत-पथ में प्रवेश कर देने से यौवन-वयसोचित काम से उत्पन्न चेष्टाएँ बलवान् नहीं हो पायेगी।

अनुभाष्य

७६। महाप्रभु यदि उच्च सरस्वती-सम्प्रदाय में प्रवेशाधिकार की इच्छा करे, तो फिर पुनः सरस्वती सम्प्रदाय के संन्यासी द्वारा उनको योगपट्ट आदि त्यागियों के उपकरणिक विधान समूह प्रदान करके उन्नत करा सकता हूँ। शौक्र ब्राह्मण के अतिरिक्त कोई भी वर्ण उच्च 'सरस्वती' सम्प्रदाय में प्रवेश नहीं कर सकता; अतएव 'भारती' आदि सम्प्रदाय में विधि की शिथिलता रहने से 'सरस्वती' संन्यासियों की भाँति उच्च सम्प्रदाय के विचार से 'भारती' संन्यासियों की मध्यमता और 'पुरी' संन्यासियों की कनिष्ठता सिद्ध है।

प्रभु के प्रति शासन युक्त वाणी को
सुनकर दोनों भक्तों को दुःख—

शुनि' गोपीनाथ मुकुन्द, दुँहे, दुःखी हैला।
गोपीनाथाचार्य किछु कहिते लागिला॥७७॥

७७। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के वचन सुनकर श्रीगोपीनाथ आचार्य और श्रीमुकुन्द दत्त बहुत दुःखी हुए। श्रीगोपीनाथ आचार्य श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को कहने लगे—

सार्वभौम के अज्ञान को देखकर गोपीनाथ
के द्वारा प्रभु की महिमा का कीर्त्तन—

'भट्टाचार्य' तुमि इँहार ना जान महिमा।
भगवत्ता-लक्षणेर इँहातेइ सीमा॥७८॥
ताहाते विख्यात इँहो परम-ईश्वर।
अज्ञ-स्थाने किछु नहे विज्ञेर गोचर'॥७९॥

७९। प॰ अनु॰—"भट्टाचार्य! आप श्रीकृष्णचैतन्य की महिमा नहीं जानते। इनमें भगवान् की भगवत्ता के समस्त लक्षणों की परम सीमा विराजमान हैं अर्थात् इनमें भगवान् के समस्त लक्षण परिपूर्ण मात्रा में विराजमान हैं। इसलिये ये परम ईश्वर अर्थात् स्वयं भगवान् के नाम से विख्यात हैं। जो भगवद्-तत्त्व के विषय में अज्ञ हैं, उनके लिये ये कुछ भी नहीं, बल्कि साधारण मनुष्य हैं, उनके लिये इनके तत्त्व को जानना बहुत कठिन है। किन्तु विज्ञ व्यक्ति इनके वास्तविक तत्त्व को जान सकते हैं।"

तर्कपन्थी और श्रौतपन्थी का विचार; तर्कपन्था के द्वारा
भगवान् अलभ्य और श्रौतपन्था के द्वारा सुलभ—

शिष्यगण कहे,—'ईश्वर कह कोन् प्रमाणे'।
अचार्य कहे,—'विज्ञमत ईश्वर-लक्षणे॥'८०॥
शिष्य कहे,—'ईश्वर-तत्त्व साधि अनुमाने'।
आचार्य कहे,—'अनुमाने नहे ईश्वरज्ञाने॥८१॥
अनुमान प्रमाण नहे ईश्वरतत्त्व-ज्ञाने।
कृपा बिना ईश्वरेरे केह नाहि जाने॥८२॥
ईश्वरेर कृपा-लेश हय त' जाहारे।
सेइ त' ईश्वर-तत्त्व जानिबारे पारे॥८३॥

८०-८३। प० अनु०—श्रीगोपीनाथ आचार्य की बात को सुनकर श्रीसार्वभौम के शिष्य उनसे पूछने लगे—"आप किस प्रमाण के आधार पर इन्हें ईश्वर कह रहे हैं।" श्रीगोपीनाथ आचार्य ने उत्तर दिया—"ईश्वर के लक्षण के सम्बन्ध में विज्ञ व्यक्तियों का मत ही प्रमाण है। मैं उन्हीं लक्षणों के आधार पर इन्हें ईश्वर कह रहा हूँ। शिष्य कहने लगे—"ईश्वर तत्त्व अनुमान के द्वारा ही प्रमाणित होता है।" श्रीगोपीनाथ आचार्य ने कहा—"अनुमान के द्वारा ईश्वर तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता।" ईश्वर तत्त्व को जानने के लिये अनुमान प्रमाण नहीं है। ईश्वर की कृपा के बिना ईश्वर को कोई भी नहीं जान सकता। जिन पर ईश्वर की लेशमात्र भी कृपा होती है, वही ईश्वर तत्त्व को जान सकता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

७८-८३। विज्ञ को जो तत्त्व दिखायी देता है, वह अज्ञ व्यक्तियों के लिये कुछ भी नहीं है,—इसी कारण से ही तुम इनको 'सामान्य मनुष्य' मान रहे हो; वास्तव में इनमें भगवत्ता के लक्षणों की सीमा है। सार्वभौम के शिष्यों ने गोपीनाथ को कहा,—तुम किस प्रमाण के द्वारा इनको 'ईश्वर' कह रहे हो?' गोपीनाथ ने उत्तर दिया,—विज्ञ व्यक्ति जिन लक्षणों के आधार पर ईश्वर को स्थापित करते हैं, मैं उन्हीं लक्षणों के आधार पर ही इनको ईश्वर कहता हूँ। शिष्यों ने कहा,—ईश्वर-तत्त्व अनुमान द्वारा जाना जाता है। व्याप्ति ज्ञान लक्षण ही अनुमान है; जैसे, 'पर्वतो बह्निमान् धूमात' अर्थात् 'जहाँ पर धुआँ देखा जायेगा, वहाँ अग्नि है, ऐसा जानना होगा; 'धुआँ दिखाई दे रहा है, अतएव पर्वत पर अग्नि है,' यही बात यहाँ वाद प्रमाणित होती है। ईश्वर के विषय में अनुमान ऐसा कार्य करता है;—यथा, जितनी वस्तुएँ देखी जाती हैं, सभी का ही कारण है; यह परिदृश्यमान् जगत् भी एक वस्तु है; अतएव इसका कोई कारण न हो, ऐसा हो नहीं सकता। अतएव 'ईश्वर'—विश्व के कारण हैं', यह तत्त्व प्रमाणित हुआ। हम इसी प्रणाली से ईश्वर तत्त्व का निरुपण करते हैं। आप यदि दिखा पाये कि यह संन्यासी इस युक्ति के अनुसार ईश्वर हो सकते हैं, तब हम मान सकते हैं। गोपीनाथ ने उत्तर दिया,—ईश्वर तत्त्व को जानने के लिये अनुमान प्रमाण के रूप में कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि, ईश्वर की कृपा के बिना कोई भी उनको नहीं जान सकता।

कृपा के बिना केवल ज्ञानमार्ग
से भगवान् अगोचर—
श्रीमद्भागवत (१०/१४/२९)—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-
प्रसाद-लेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥८४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८४। हे देव, आपके श्रीचरणकमलों की कृपा के लेशमात्र को प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही केवल आपकी महिमा के तत्त्व को जान सकता है, किन्तु जो चिरदिन अनुमान द्वारा शास्त्रों का विचार करते हुए अन्वेषण करते हैं, उनमें से कोई भी उस तत्त्व को नहीं जान पाता।

अनुभाष्य

८४। कृष्ण द्वारा ब्रह्मा का अहङ्कार चूर्ण होने पर कृष्ण के परम ऐश्वर्य के दर्शन से उनके माहात्म्य को जानकर ब्रह्मा ने इस प्रकार स्तव किया—

हे देव (तव महिमा सर्वत्र व्याप्तः), तथापि ते (तव) पदाम्बुजद्वय प्रसादलेशानुगृहीतः (चरणकमलद्वयानु-कम्पा-कणया-सुभगन्वितः) एव हि जनः भगवन्महिम्नः (भगवत स्तव महिम्नः ऐश्वर्यस्य) तत्त्वं जानाति; अन्यः (कृष्णप्रसादरहितः) एकः (कश्चित्) अपि चिरं (दीर्घ काल) विचिन्वन् (विचारयन्) अपि न च जानाति।

भट्टाचार्य की नास्तिकता को देखकर मानद
होते हुये भी गोपीनाथ द्वारा उनका अनादर—

यद्यपि जगद्‌गुरु तुमि—शास्त्र-ज्ञानवान्।
पृथिवीते नाहि पण्डित तोमार समान॥८५॥

ईश्वरेर कृपा-लेश नाहिक तोमाते।
अतएव ईश्वरतत्त्व ना पार जानिते॥८६॥
तोमार नाहिक दोष, शास्त्रे एइ कहे।
पाण्डित्याद्ये ईश्वरतत्त्व-ज्ञान कभु नहे॥८७॥

८५-८७। प॰ अनु॰—श्रीगोपीनाथ आचार्य ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य से कहा—"यद्यपि आप जगद्गुरु हो तथा सभी शास्त्रों का आपको ज्ञान हैं और वास्तव में पृथ्वी पर आपके समान और कोई पण्डित नहीं है। परन्तु तब भी आप पर ईश्वर की लेशमात्र कृपा भी नहीं है। इसलिये आप ईश्वर के तत्त्व को नहीं जान पर रहे हैं। इसमें आपका कोई दोष नहीं है बल्कि शास्त्र ही इस बात को कहते हैं कि—पाण्डित्य के द्वारा भगवान् के तत्त्व को कभी नहीं जाना जा सकता।

अनुभाष्य

८७। कठोपनिषद के प्रथम अध्याय, द्वितीय व: २३ संख्यक मन्त्र—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥" ९ संख्यक मन्त्र—"नैषा तर्केण मतिरापनेया" अर्थात् परमात्म भगवद् वस्तु व्याख्यान द्वारा प्राप्त नहीं होती; अपनी बुद्धि के बल पर भी प्राप्त नहीं होती; श्रुतिपरम्परा को छोड़कर बहुत अधिक श्रवण द्वारा भी प्राप्त नहीं होती। किन्तु भगवान् जिसको स्वीकार करते हैं, अर्थात् जिसके प्रति प्रसन्न होते हैं, उसके द्वारा अर्थात् उस प्रसन्नता के कारण वे दिखाई देते हैं अथवा प्राप्त होते हैं। भक्त ही भगवान् की कृपा के पात्र हैं, इसलिये उनको ही कृपा करके वे भगवान् अपने (अप्राकृत) देह के प्रदर्शन कराते हैं। इस ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली मति को तर्क द्वारा लाना अथवा अपनयन अर्थात् खण्डन करना कर्त्तव्य नहीं है।

सार्वभौम का कुतर्क—

सार्वभौम कहे,—"आचार्य, कह सावधाने।
तोमाते ईश्वर-कृपा इथे कि प्रमाणे॥"८८॥

८८। प॰ अनु—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य कहने लगे—"आचार्य! थोड़ा सावधानी पूर्वक बात कीजिए। आपने भगवान् की कृपा प्राप्त की है, इसका क्या प्रमाण है?"

गोपीनाथ के द्वारा उनकी
बात का खण्डन—

आचार्य कहे,—"वस्तु-विषये हय वस्तुज्ञान।
वस्तुतत्त्व-ज्ञान हय कृपाते,—प्रमाण॥८९॥

८९। प॰ अनु॰—श्रीगोपीनाथ आचार्य ने कहा—"परम तत्त्व वस्तु के विषय में जो ज्ञान है, उसे 'वस्तु-ज्ञान' कहते हैं एवं वस्तु तत्त्व ज्ञान ही ईश्वर की कृपा का प्रमाण है।

अनुभाष्य

८९। सार्वभौम ने तर्क का सहारा लेकर अपनी बहन के पति गोपीनाथ को कहा,—'मेरे प्रति ईश्वर की कृपा नहीं हुई है, यह बात तो सत्य है; किन्तु तुम्हारे प्रति भगवान् की कृपा किस प्रकार हुई है, मुझे समझा दो।' उसके उत्तर में आचार्य गोपीनाथ ने कहा,—वस्तु और वस्तु शक्ति 'एक' होने के कारण वस्तु विषय से ही वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तु—अखण्ड-ज्ञानमय, अद्वितीय है, किन्तु शक्ति—बहुत प्रकार की है। अखण्ड अद्वय-ज्ञानमय वस्तु खण्ड ज्ञान (वाले व्यक्तियों) के लिये ज्ञेय नहीं है, किन्तु वस्तु विषयक अनुभूति से ही वस्तु का ज्ञान होता है। दाहिका-शक्ति के ज्ञान से ही अग्नि का ज्ञान होता है। अद्वय ज्ञान तत्त्व वस्तु की उपलब्धि का निदर्शन—केवलमात्र भगवान् की कृपा (से ही सम्भवपर है)। (८७ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य)। वे जिसको अपनी कृपा द्वारा अपने स्वरूप का दर्शन करायेंगे, वही उसको समझ पायेंगे। वस्तु विषय के अतिरिक्त अन्य विषयों का सहारा लेने से वस्तु के ज्ञान की सम्भावना नहीं है। कृपा के बिना उनका दर्शन अर्थात् वस्तुज्ञान नहीं होता। जिन्होंने उनकी कृपा को प्राप्त किया है, वही उनके स्वरूप को समझकर कृपा माँगने वाले बने हैं एवं वे किसी भी और प्रकार के ज्ञान की सहायता से उनको समझने की चेष्टा नहीं करते।

प्रत्यक्ष ईश्वर-लक्षण देख करके भी ईश्वर
के प्रति अविश्वास—माया का खेल—

इँहार शरीरे सब ईश्वर-लक्षण।
महा-प्रेमावेश तुमि पाञाछ दर्शन॥९०॥
तबु त' ईश्वर-ज्ञान ना हय तोमार।
ईश्वरेर माया,—एइ बलि व्यवहार॥९१॥

९०-९१। प० अनु०—श्रीगोपीनाथ ने कहा—"परमेश्वर भगवान् के सब लक्षण महाप्रेमाविष्ट अवस्था में श्रीचैतन्य महाप्रभु के शरीर में आपने दर्शन किये थे। किन्तु तब भी आप श्रीचैतन्य महाप्रभु को ईश्वर के रूप में नहीं पहचान पाये। मैं तो इसमें ईश्वर की माया ही समझता हूँ अर्थात् आपका ज्ञान ईश्वर की माया के कारण आच्छादित हो गया है।

अनुभाष्य

९१। आपने भगवान् के प्रेमावेश को देखा है। उन अलौकिक प्रेममय पुरुष को 'ईश्वर' के रूप में नहीं जान पाकर भगवान् की वैसी लीला को भी मायिक अर्थात् व्यवहारिक मात्र समझ रहे हो।

बहिर्मुखता रूपी आवरण से ढ़के हुये दर्शन
के कारण भगवद दर्शन का अभाव—

देखिले ना देखे तारे बहिर्मुख जन।"
शुनि' हासि' सार्वभौम बलिल वचन॥९२॥

९२। प० अनु०—जो बहिर्मुख लोग हैं, वे ईश्वर को देखकर भी उन्हें नहीं देख पाते।" श्रीगोपीनाथ आचार्य के वचन सुनने के बाद श्रीसार्वभौम मुस्कराते हुए कहने लगे—

अनुभाष्य

९२। जिनके हृदय में माया से अतीत कृष्ण-सेवा की प्रवृत्ति जागृत नहीं हुई है, वे अपनी भोगमय कर्म बुद्धि के द्वारा (मन-ही-मन सोच सकता है कि मैं) वस्तुविषय का अनुभव कर रहा है अथवा मैंने किया है,—किन्तु ऐसा मानने पर भी, वास्तविकता में प्रेममय भगवत् स्वरूप बाह्य विषय ज्ञान द्वारा दिखायी नहीं देता।

सार्वभौम की भ्रम से
परिपूर्ण शास्त्र युक्ति—

"इष्टगोष्ठी विचार करि, ना करिह रोष।
शास्त्रदृष्टये कहि, किछु ना लइह दोष॥९३॥

९३। प० अनु०—"हम कुतर्क छोड़कर तत्त्वनिर्णय करने के लिये आपस में आलोचना कर रहे हैं, अतएव आप क्रोध मत करना। जो कहना है, मैं शास्त्रों के आधार पर ही कह रहा हूँ, यदि मेरी कोई बात तुम्हें अच्छी न लगे, तो मेरी प्रार्थना है कि उसमें मेरा कोई दोष मत लेना।

अनुभाष्य

९३। इष्टगोष्ठी—अभीष्ट लोग अर्थात् अभिलषित वस्तु को प्राप्त करने के उद्देश्य से एकत्रित मण्डली के बीच में।

प्रभु के प्रति महाभागवत ज्ञान होने
पर भी 'ईश्वर' मानने में अविश्वास—

महा-भागवत हय चैतन्य-गोसाञि।
एइ कलिकाले विष्णुर अवतार नाइ॥९४॥
अतएव 'त्रियुग' करि' कहि विष्णुनाम।
कलियुगे अवतार नाहि,—शास्त्रज्ञान॥"९५॥

९४-९५। प० अनु०—यद्यपि श्रीचैतन्य गोसाईं महाभागवत हैं परन्तु वे ईश्वर नहीं हैं क्योंकि शास्त्रों के अनुसार कलियुग में विष्णु का अवतार नहीं होता। क्योंकि कलियुग में विष्णु का अवतार नहीं होता, इसलिये उनका एक नाम 'त्रियुग' है।

अनुभाष्य

९५। त्रियुग—(भा: ७/९/३८)—"इत्थं नृतिर्यगृषि-देवझषावतारैर्लोकान् विभावयसि हंसि जगत् प्रतीपान्। धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत छन्नः कलौ यदभवस्त्रि-युगोहथ स त्वम्॥" श्रीधर स्वामिपाद की टीका—"कलौ तु (वधरक्षणादिक) न करोषि, यतस्तदा त्वं छन्नोहभवः, अतस्त्रिष्वेव युगेष्वाविर्भावात् स एवम्भूतस्त्वं त्रियुग इति प्रसिद्ध॥"

गोपीनाथ के द्वारा सार्वभौम के भ्रान्त सिद्धान्त का खण्डन और यथार्थ शास्त्र सिद्धान्त का प्रदर्शन—

शुनिया आचार्य कहे दुःखी हञा मने।
"शास्त्रज्ञ हञा तुमि कर अभिमाने॥९६॥

९६। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के वचनों को सुनकर श्रीगोपीनाथ आचार्य मन में दुखी होकर कहने लगे—"आप शास्त्रज्ञ होने का अभिमान करते हो।

महाभारत और भारतार्थविनिर्णय श्रीमद्भागवत ही एकमात्र मुख्य प्रमाण—

भागवत-भारत, दुइ—शास्त्रेर प्रधान।
सेइ दुइग्रन्थ-वाक्ये नाहि अवधान॥९७॥

९७। प० अनु०—यद्यपि श्रीमद्भागवत और महाभारत—ये, दो अन्यान्य सभी शास्त्रों में प्रधान शास्त्र हैं। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें जो कहा गया है, आप उससे अवगत नहीं है।

अनुभाष्य

९७। आदि तृतीय परिच्छेद ८९ संख्या का अनुभाष्य एवं ५१ संख्या का अमृतप्रवाह भाष्य द्रष्टव्य।

इस कलियुग में लीलावतार के नहीं रहने पर भी स्वयंरूप अवतारी का आविर्भाव—

सेइ दुइ कहे कलिते साक्षात् अवतार।
तुमि कह,—'कलिते नाहि विष्णुर प्रचार॥'९८॥

९८। प० अनु०—इन दोनों ग्रन्थों में कहा गया है कि कलियुग में भगवान् साक्षात् अवतरित होते हैं। परन्तु आप कह रहे हो कि—'कलियुग में विष्णु का अवतार नहीं होता है।'

कलियुग में लीला अवतार के नहीं होने पर भी युग अवतार का आविर्भाव—

कलिकाले लीलावतार ना करे भगवान्।
अतएव 'त्रियुग' करि' कहि तार नाम॥९९॥
प्रतियुगे करेन कृष्ण युग-अवतार।
तर्कनिष्ठ हृदय तोमार नाहिक विचार॥१००॥

९९-१००। प० अनु०—कलियुग में भगवान् लीला अवतार ग्रहण नहीं करते, इसलिये उनका एक नाम 'त्रियुग' है (ना कि जैसा आपने कहा है)। श्रीकृष्ण प्रत्येक युग में ही युगावतार ग्रहण करते हैं। क्योंकि आपका हृदय तर्कनिष्ठ है, इसलिए वह यह विचार नहीं कर पा रहा है।

अमृतप्रवाह भाष्य

८७-१००। गोपीनाथ ने कहा,—'शास्त्रों में यही निरूपण (स्थापित) किया गया है कि पाण्डित्य आदि गुणों से ईश्वर तत्त्व नहीं जाना जा सकता, अतएव इसमें तुम्हारा क्या दोष है? इस सिद्धान्त को सुनकर सार्वभौम ने कहा,—'आचार्य, आप थोड़ा-सा सावधान होकर कुछ कहिए; तुम्हारे प्रति ईश्वर की कृपा हुई है, इसका क्या प्रमाण है?' गोपीनाथ ने उत्तर दिया,—'परमतत्त्व वस्तु के विषय में जो ज्ञान, उसको ही 'वस्तुज्ञान' कहते हैं एवं वस्तु तत्त्व ज्ञान ही ईश्वर की कृपा का प्रमाण है। आपने इनके महाप्रेमावेश रूपी ईश्वर के लक्षण देखे हैं, तब भी ईश्वर की माया के द्वारा आच्छन्न (ढ़के) होकर इनको 'ईश्वर' नहीं जान पाये। बहिर्मुख व्यक्ति उनको देखकर भी नहीं देखते हैं। ईश्वर की कृपा का स्वभाव ही इसका एकमात्र कारण है।' सार्वभौम ने हास्य करते हुए कहा—'केवल वितर्क छोड़कर अभिलषित सत्य-विचार करने वालों के मतानुसार, शास्त्र दृष्टि पूर्वक विचार करके कह रहा हूँ, सुनो;—यह चैतन्य गोसाञि यद्यपि परम भागवत है, क्योंकि, कलियुग में विष्णु का अवतार नहीं होता; इसलिये विष्णु का एक नाम 'त्रियुग' है।' गोपीनाथ ने उत्तर दिया,—आप अपने आपको 'शास्त्रज्ञ' मानकर अभिमान कर रहे हो, किन्तु शास्त्रों में प्रधान (मुख्य) जो 'भागवत' और 'महाभारत' हैं, उन दोनों ग्रन्थों के वचनों में तुम्हारा मनोयोग नहीं है। उन दोनों ग्रन्थों में, कलियुग में साक्षात् अवतार होते हैं,—ऐसा सिद्धान्त स्थापित हुआ है। कलियुग में भगवान् का कोई लीलावतार नहीं होता, यह सत्य है; इसलिये उनको 'त्रियुग' कहा गया है। प्रत्येक युग में कृष्ण का जो

'युगावतार' होता है, उसको तुम अपने तर्क में निष्ठ हृदय में नहीं समझ पा रहे हो।

अनुभाष्य

९९। लीलावतार—विविध प्रकार की विचित्रताओं से युक्त, चेष्टा-रहित, नित्य नयी-नयी उल्लासमयी तरङ्गों से उद्वेलित, अपनी इच्छा के परतन्त्र लीला विशिष्ट अवतार को 'लीलावतार' कहते हैं। श्रीसनातन शिक्षा में—मध्य, बीस परिच्छेद २९७-२९८ संख्या में—'लीलावतार कृष्णेर ना जाय गणन। प्रधान करिया कहि दिग्दर्शन। मत्स्यकूर्मरघुनाथ-नृसिंह-वामन। वराहादि लेखा जाँर, ना जाय गणन॥" इसका अनुभाष्य एवं भाः १०/२/४० श्लोक द्रष्टव्य। लघुभागवतामृत में पच्चीस लीलावतार कहे गये हैं—(१) चतुःसन, (२) नारद, (३) वराह, (४) मत्स्य, (५) यज्ञ, (६) नर-नारायण, (७) कपिल, (८) दत्तात्रेय, (९) हरशीर्ष (हयग्रीव), (१०) हंस, (११) पृश्निगर्भ, (१२) ऋषभ, (१३) पृथु, (१४) नृसिंह, (१५) कूर्म, (१६) धन्वन्तरि, (१७) मोहिनी, (१८) वामन, (१९) परशुराम, (२०) राघवेन्द्र, (२१) व्यास, (२२) बलराम, (२३) कृष्ण, (२४) बुद्ध, (२५) कल्की।

चार युगों में चार वर्णों का अवतार—
श्रीमद्भागवत (१०/८/१३)—

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनुः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥१०१॥

१०१। श्लोकानुवाद—आपका यह पुत्र अन्य तीन युगों में शुक्ल, रक्त एवं पीतवर्ण धारण करता है परन्तु वर्तमान द्वापर युग में इसने कृष्णवर्ण धारण किया है।

अनुभाष्य

१०१। आदि तृतीय परिच्छेद ३६ संख्या द्रष्टव्य।

श्रीमद्भागवत (११/५/३१-३२)—

इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम्।
नानातन्त्रविधानेन कलावपि तथा शृणु॥१०२॥

१०२। श्लोकानुवाद—राजन्! इस प्रकार लोग द्वापरयुग में भगवान् जगदीश्वरकी स्तुति करते हैं, अब कलियुग में अनेक तन्त्रोंके विधि-विधानसे भगवान्‌की जैसी पूजा की जाती है, उसका वर्णन सुनो—

अनुभाष्य

१०२। विदेहराज निमि के प्रश्न के उत्तर में श्रीकरभाजन मुनि कलिकाल के अवतार और उनके भजन की प्रणाली का वर्णन कर रहे हैं—

हे उर्वीश (पृथ्वीपते निमे) द्वापरे जगदीश्वरं (भक्ताः पञ्चरात्रादि-कथितेन अर्चनविधिना वासुदेवादिचतुष्टयम्) इति (एव) स्तुवन्ति (पूजां कुर्वन्ति) तथा, कलौ अपि नानातन्त्रविधानेन (येन येन पञ्चरात्रादिसात्वत-तन्त्राधुक्त-विधिना) स्तुवन्ति, तत् मतः शृणु।

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥१०३॥

१०३। श्लोकानुवाद—जिनके मुख में सदैव कृष्ण-वर्ण (कृष्णकथा, कृष्णमहिमा-वर्णन) है, जिनकी कान्ति अकृष्ण अर्थात् गौर है, उन्हीं अङ्ग, उपाङ्ग, अस्त्र एवं पार्षद से परिवेष्टित महापुरुष का सुबुद्धिमान् जन संकीर्त्तन-प्राय यज्ञ के द्वारा यजन करते हैं।

अनुभाष्य

१०३। आदि, तृतीय परिच्छेद ५१ संख्या द्रष्टव्य।

महाभारत दानधर्म (१४९),
विष्णुसहस्त्रनाम-स्त्रोत (९२, ७५)—

सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी।
संन्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठा-शान्ति-परायणः॥१०४॥

१०४। श्लोकानुवाद—सुवर्णवर्ण, गलित-हेम जैसा अङ्ग, सर्वांगसुन्दर गठन, चन्दनमाला शोभित—ये चार गृहस्थलीला में लक्षित हैं। संन्यासाश्रमी, हरि-रहस्यालोचनरूप शमगुण विशिष्ट, हरिकीर्तन-रूप महायज्ञ में दृढ़निष्ठ, केवलाद्वैतवादी अभक्त-निवृत्ति कारिणी शान्तिलब्ध महाभावपरायण—(ये चार संन्यास-लीला में लक्षित हैं।)

अनुभाष्य

१०४। आदि, तृतीय परिच्छेद ४९ संख्या द्रष्टव्य।

गोपीनाथ के द्वारा भट्टाचार्य के प्रति उपेक्षा और उपहास—

तोमार आगे एत कथार नाहि प्रयोजन।
ऊषर-भूमिते जेन बीजेर रोपण॥१०५॥

१०५। प० अनु०—श्रीगोपीनाथ आचार्य ने कहा—"भट्टाचार्य! आपके सामने इन सब प्रमाणों को कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इन सबको कहने पर भी उनका उसी प्रकार कोई भी लाभ नहीं होने वाला, जिस प्रकार बंजर भूमि में बीज बोने से कोई लाभ नहीं होता।

भगवद् कृपा से ही भगवान् की महिमा का ज्ञान—

तोमार उपरे ताँर कृपा जबे हबे।
एसब सिद्धान्त तबे तुमिह कहिबे॥१०६॥

१०६। प० अनु०—जब आप पर भगवान् की कृपा होगी, तब आप स्वयं इन सब सिद्धान्तों का अपने मुख से वर्णन करेंगे।

अप्राकृत वस्तु के विषय में कुर्तक—माया जनित—

तोमार जे शिष्य कहे कुतर्क, नानावाद।
इहार कि दोष—एइ मायार प्रसाद॥१०७॥

१०७। प० अनु०—आपके शिष्य जो अनेक प्रकार के कुतर्क कर रहे हैं तथा अनेक प्रकार के अपसिद्धान्त स्थापित कर रहे हैं, इसमें इनका कोई दोष नहीं—यह तो माया देवी की ही कृपा है।

कृष्ण की अचिन्त्यशक्ति ही अक्षज
विचारकों में मोह उत्पन्न करने वाली—
श्रीमद्भागवत (६/४/३१)—

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै,
विवाद-संवाद-भुवो-भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं,
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥१०८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१०८। प्रजापति दक्ष ने कहा,—वादियों के सम्बन्ध में जिनकी सब शक्तियाँ विवाद और संवाद उत्पन्न करती है एवं उनमें मुहुर्मुहु (पुनः पुनः) आत्म मोह उत्पन्न कर देती है, उन अनन्त गुण स्वरूप भूमा पुरुष को मैं प्रणाम करता हूँ।

अनुभाष्य

१०८। भगवान् श्रीहरि के प्रति प्रजापति दक्ष का हंसगुह्य स्तव—

यच्छक्तयः (यस्य बहिरङ्गा-मायाविद्याः शक्तयः) वदतां वादिनां (पूर्वोत्तर पक्षाश्रितानां) विवाद-संवाद भूवः (विवादस्य क्वचित् संवादस्य च भुवः उत्पतिहेतरः) भवन्ति; एषां (विवादशीलानां) मुहुः पुनः पुनः आत्ममोहं कुर्वन्ति, तस्मै अनन्त गुणाय (सर्वशक्तिविशिष्टाय) भूमेन् (परमात्मने) नमः।

अधोक्षज सेवक ब्राह्मण ही युक्त,
अक्षज-ज्ञानी मायादास अयुक्त—
श्रीमद्भागवत (११/२२/४)—

युक्तञ्च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयमुदगृह्य वदतां किं नु दुर्घटम्॥"१०९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१०९। ब्राह्मणों ने जो कहा है, वह सर्वत्र युक्त हुआ है; क्योंकि मेरी माया का सहारा लेकर जो बोलते हैं, उनके लिये दुर्घट कुछ भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि भगवान् की माया अघटनघटनपटीयसी शक्ति है; अतएव अनेक स्थानों पर सत्य को गोपन करके मिथ्या को स्थापित कर सकती है। उसी माया के आश्रय में कपिल, गौतम, जैमिनी और कणाद आदि ब्राह्मणों ने बहुत से असार (व्यर्थ के) वाक्यों (को सार वाक्यों की भाँति प्रकाशित किया है।)

अनुभाष्य

१०९। तत्त्व संख्या के विषय में उद्धव के द्वारा की गयी जिज्ञासा के उत्तर में श्रीकृष्ण की उक्ति—

यथा ब्राह्मणाः भाषन्ते (निर्णीत वस्तुः), (तत्) च सर्वत्र युक्तं सन्ति, मदीयां मायाम् उद्गृह्य (स्वीकृत्य) वदतां (जनाना) किम् (अपि) दुर्घटं नु (भवति)।

गोपीनाथ का उपदेश, भट्टाचार्य के द्वारा अनसुना करना—

तबे भट्टाचार्य कहे,—"जाह गोसाञिर स्थाने।
आमार नामे गण-सहित कर निमन्त्रणे॥११०॥
प्रसाद आनि' ताँरे कराह आगे भिक्षा।
पश्चात् आसि' आमारे कराइह शिक्षा॥"१११॥

११०-१११। प० अनु०—श्रीगोपीनाथ आचार्य के वचन सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"श्रीचैतन्य गोसाईं जहाँ वास कर रहे हैं, आप अब वहाँ जाओ तथा मेरी ओर से उन्हें पार्षदों सहित मेरे घर पर प्रसाद पाने के लिये निमन्त्रण दीजिये और फिर भगवान् श्रीजगन्नाथ का प्रसाद लाकर पहले उन्हें भोजन कराइये और फिर उसके बाद में मुझे शिक्षा दीजिये।"

गोपीनाथ की अनेक प्रकार से भट्टाचार्य के उपकार करने की चेष्टा—

आचार्य—भगिनीपति, श्यालक—भट्टाचार्य।
निन्दा-स्तुति-हास्य शिक्षा करा'न आचार्य॥११२॥

११२। प० अनु०—श्रीगोपीनाथ आचार्य श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के बहनोई थे तथा श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य उनके साले थे। ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण श्रीगोपीनाथ आचार्य कभी निन्दा के द्वारा, कभी स्तुति के द्वारा एवं कभी हास-परिहास के द्वारा श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को शिक्षा प्रदान कर रहे थे।

भट्टाचार्य के मायावाद-वाक्य को सुनकर मुकुन्द का क्रोध करना ही उनकी भट्टाचार्य के प्रति कृपा—

आचार्येर सिद्धान्ते मुकुन्देर हैल सन्तोष।
भट्टाचार्येर वाक्ये मने हैल दुःख-रोष॥११३॥

११३। प० अनु०—श्रीगोपीनाथ आचार्य के सिद्धान्त को सुनकर श्रीमुकुन्द दत्त बहुत सन्तुष्ट हुए, परन्तु श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के वचनों को सुनकर वे मन-ही-मन बहुत दुःखी हुए तथा उनमें कुछ रोष भी भर आया।

प्रभु को निमन्त्रण—

गोसाञिर स्थाने आचार्य कैल आगमन।
भट्टाचार्येर नामे ताँरे कैल निमन्त्रण॥११४॥

११४। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के अनुरोधानुसार श्रीगोपीनाथ आचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु के पास गये और उन्हें श्रीभट्टाचार्य की ओर से निमन्त्रण दिया।

मुकुन्द और गोपीनाथ की भट्टाचार्य के विरुद्ध शिकायत—

मुकुन्द-सहित कहे भट्टाचार्येर कथा।
भट्टाचार्ये निन्दा करे, मने पाञा व्यथा॥११५॥

११५। प० अनु०—श्रीगोपीनाथ आचार्य ने श्रीमुकुन्द दत्त के साथ मिलकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के समक्ष श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के द्वारा कही गयी सभी बातों की आलोचना की तथा हृदय व्यथित होने के कारण उन्होंने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य की निन्दा भी की।

प्रभु द्वारा भट्टाचार्य को सम्मान प्रदान—

शुनि' महाप्रभु कहे—"ऐछे मत कह।
आमा प्रति भट्टाचार्येर हय अनुग्रह॥११६॥
आमार संन्यास-धर्म चाहेन राखिते।
वात्सल्य करुणा करेन, कि दोष इहाते॥"११७॥

११६-११७। प० अनु०—उनकी बात सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"ऐसा मत कहो। मेरे प्रति तो श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य का बहुत अनुग्रह है। मेरे प्रति उनके हृदय में वात्सल्यमय करुणा है, इसलिए वे मेरे संन्यास धर्म की रक्षा करना चाहते हैं। यदि वे ऐसा चाहते हैं, तो इसमें क्या दोष है?"

प्रभु द्वारा सार्वभौम के साथ जगन्नाथ दर्शन करने के बाद, उनके घर में जाना—

आर दिन महाप्रभु भट्टाचार्य-सने।
आनन्दे करिला जगन्नाथ-दरशने॥११८॥

भट्टाचार्य-सङ्गे ताँर मन्दिरे आइला।
प्रभुरे आसन दिया आपने बसिला॥११९॥

११८-११९। प॰ अनु॰—अगले दिन श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के साथ मन्दिर जाकर आनन्दपूर्वक भगवान् श्रीजगन्नाथ का दर्शन किया और दर्शन के उपरान्त वे श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के साथ उनके घर पर आये। तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को बैठने के लिये आसन प्रदान किया और स्वयं भी बैठ गये।

सार्वभौम के द्वारा प्रभु को वेदान्त का अध्यापन और उपदेश प्रदान—

वेदान्त पड़ाइते तबे आरम्भ करिला।
स्नेह-भक्ति करि' किछु प्रभुरे कहिला॥१२०॥
"वेदान्त-श्रवण,—एइ संन्यासीर धर्म।
निरन्तर कर तुमि वेदान्त श्रवण॥"१२१॥

१२०-१२१। प॰ अनु॰—तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु को वेदान्त पढ़ाने लगे। और स्नेह तथा भक्तिपूर्वक वे श्रीचैतन्य महाप्रभु से कहने लगे—"वेदान्त का श्रवण करना ही संन्यासी का मुख्य धर्म है इसलिये आप निरन्तर वेदान्त का श्रवण कीजिए।"

अनुभाष्य

१२१। वेदान्त,—यहाँ वेदान्त का तात्पर्य शङ्कर द्वारा रचित ब्रह्म सूत्र के निर्विशेष-ब्रह्म-प्रतिपादक शरीरक भाष्य है। 'वेदान्त वाक्येषु सदा रमन्तं' प्रभृति संन्यासियों का धर्म है।

प्रभु का दैन्य—

प्रभु कहे,—"मोरे तुमि कर अनुग्रह।
सेइ से कर्तव्य, तुमि जेइ मोरे कह॥"१२२॥

१२२। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उत्तर दिया—"आप मेरे प्रति अत्यधिक कृपालु हैं, इसलिए आप मुझे जो कुछ भी करने के लिये कहेंगे, उसे करना ही मेरा कर्त्तव्य है।"

सार्वभौम के मुख से प्रभु का सात दिन तक वेदान्त श्रवण और मायावाद-भाष्य के श्रवण में अनादर होने के कारण मौनवृत्ति—

सप्तदिन पर्यन्त ऐछे करेन श्रवणे।
भाल-मन्द नाहि कहे, बसि' मात्र शुने॥१२३॥

१२३। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य वेदान्त का पाठ करने लगे तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु उसका श्रवण करने लगे। इस प्रकार सात दिन तक श्रीचैतन्य महाप्रभु ने वेदान्त श्रवण किया। परन्तु प्रभु अच्छा, बुरा कुछ भी न कहकर मात्र उसे श्रवण ही करते रहे।

आठवें दिन सार्वभौम के द्वारा, प्रभु के मौन रहने के कारण की जिज्ञासा—

अष्टम-दिवसे ताँरे पुछे सार्वभौम।
"सातदिन कर तुमि वेदान्त-श्रवण॥१२४॥
भालमन्द नाहि कह, रह मौन धरि'।
बुझ, कि ना बुझ—इहा जानिते ना पारि॥"१२५॥

१२४-१२५। प॰ अनु॰—तब आठवें दिन श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से पूछा—"सात दिन से आप वेदान्त का श्रवण कर रहे हो। अच्छा, बुरा कुछ भी न कहकर केवल मौन धारण करके ही श्रवण किये जा रहे हो। इसलिए मैं यह जान नहीं पा रहा हूँ कि आप कुछ समझ भी रहे हैं या नहीं"।

प्रभु द्वारा दीनतापूर्वक मायावाद-भाष्य की उपेक्षा—

प्रभु कहे,—"मूर्ख आमि, नाहि अध्ययन।
तोमार आज्ञाते मात्र करिये श्रवण॥१२६॥
संन्यासीर धर्म लागि' श्रवण मात्र करि।
तुमि जेइ अर्थ कर, बुझिते ना पारि॥"१२७॥

१२६-१२७। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य की बात सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उत्तर दिया—"मैं मूर्ख हूँ, इसलिए मेरा अध्ययन नहीं है अर्थात् मुझमें विद्या नहीं है। केवल आपकी आज्ञा का पालन करने के लिये ही मैं बैठकर सुन रहा हूँ। आपने कहा कि वेदान्त का श्रवण करना ही संन्यासी का धर्म है, इसलिए संन्यासी

का धर्म पालन करने के लिये मैं श्रवण मात्र ही करने का प्रयास कर रहा हूँ। किन्तु तब भी आप वेदान्त-सूत्रों का जो अर्थ बतला रहे हैं, वह मुझे समझ नहीं आ रहा।"

भट्टाचार्य ने प्रभु को अज्ञ समझकर उन्हें मौन को त्याग कर परिप्रश्न करने का आदेश—

भट्टाचार्य कहे,—"ना बुझि', हेन-ज्ञान जार।
बुझिबार लागि' सेह पुछे पुनर्बार॥१२८॥
तुमि शुनि' शुनि' रह मौन-मात्र धरि'।
हृदये कि आछे तोमार, बुझिते ना पारि॥"१२९॥

१२८-१२९। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"मैं नहीं समझ पा रहा हूँ,' जिसे यह ज्ञान होता है, वे समझने के लिये फिर से प्रश्न तो करता है। परन्तु आप सुनते ही जा रहे हो, सुनते ही जा रहे हो। कुछ कह भी नहीं रहे, आपने केवल मौन ही धारण कर रखा है। आपके हृदय में न जाने क्या है, मैं तो उसे समझ नहीं पा रहा हूँ?"

प्रभु के द्वारा सार्वभौम के मायावाद-भाष्य-व्याख्या का खण्डन—

प्रभु कहे,—"सूत्रेर अर्थ बुझिये निर्मल।
तोमार व्याख्या शुनि' मन हय त' विकल॥१३०॥

१३०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"सूत्रों के अर्थ को तो मैं भलीभाँति समझ पा रहा हूँ, परन्तु आपकी व्याख्या को सुनकर मेरा मन दुःखित हो जाता है।

मुख्य अभिधा-वृत्ति से ब्रह्मसूत्र का अर्थ सहज, परन्तु गौण लक्षणा रूपी कल्पनाके आश्रय के द्वारा वह आवृत्त—

सूत्रेर अर्थ भाष्य कहे प्रकाशिया।
तुमि, भाष्य कह—सूत्रेर अर्थ आच्छादिया॥१३१॥
सूत्रेर मुख्य अर्थ ना करह व्याख्यान।
कल्पनार्थे तुमि ताहा कर आच्छादन॥१३२॥

१३१-१३२। प० अनु०—"भाष्य तो सूत्रों के अर्थ को प्रकाशित करता है परन्तु आपके द्वारा कहे हुये भाष्य से तो सूत्रों का अर्थ आच्छादित हो गया है। आपने सूत्रों के मुख्य अर्थों को न कहकर अपने कल्पित अर्थों के द्वारा उनको आच्छादित कर दिया है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३१। सूत्र का जो वास्तविक भाष्य होता है, वह सूत्र के अर्थ को प्रकाशित (स्पष्ट) करके बोलता है, किन्तु आप जो भाष्य कर रहे हैं, वह तो सूत्र के अर्थ को ढ़क रहा है।

अनुभाष्य

१३२। व्यास द्वारा रचित ब्रह्म सूत्रों की अभिधा-वृत्ति का आश्रय लेकर जो मुख्य अर्थ (प्रकट) होता है, उसकी व्याख्या न करके सूत्र के अर्थ को छिपाकर लक्षणा-वृत्ति द्वारा कल्पित अर्थ कर रहे हो।

उपनिषद् प्रतिपाद्य अर्थ ही सूत्राकार में वेदान्त में निबद्ध—

उपनिषद्-शब्दे जेइ मुख्य अर्थ हय।
सेइ अर्थ मुख्य,—व्याससूत्रे सब कय॥१३३॥
मुख्यार्थ छाड़िया कर गौणार्थ कल्पना।
'अभिधा'-वृत्ति छाड़ि' कर शब्देर 'लक्षणा'॥१३४॥

शब्द अथवा वेद ही मुख्य प्रमाण—

प्रमाणेर मध्ये श्रुति-प्रमाण—प्रधान।
श्रुति जे मुख्यार्थ कहे, सेइ से प्रमाण॥१३५॥

दृष्टान्त—

जीवेर आस्थि-विष्ठा दुइ—शंख-गोमय।
श्रुति-वाक्ये सेइ दुइ महापवित्र हय॥१३६॥

अक्षजज्ञान के द्वारा अश्रौतपन्था के बल पर वेद को जानना असम्भव दुर्बोध—

स्वतःप्रमाण वेद सत्य जेइ कय।
'लक्षणा' करिते स्वतःप्रामाण्य-हानि हय॥१३७॥

शंकर भाष्य—वेदान्त-विरुद्ध—
व्यास-सूत्रेर अर्थ—जेछ सूर्येर किरण।
स्वकल्पित भाष्य-मेघे करे आच्छादन॥१३८॥

वेद और सात्वत पुराण में सविशेष
ब्रह्म अथवा श्रीभगवान ही उद्दिष्ट—
वेद-पुराणे कहे ब्रह्म निरूपण।
सेइ ब्रह्म—बृहद्वस्तु, ईश्वर-लक्षण॥१३९॥

सच्चिदानन्दविग्रह निर्विशेष नहीं—
सर्वैश्वर्यपरिपूर्ण स्वयं भगवान्।
ताँरे निराकार करि' करह व्याख्यान॥१४०॥

'निर्विशेष' अर्थ में प्राकृत-विशेष
अथवा वैचित्र्य का निरास—
'निर्विशेष' ताँरे कहे जेइ श्रुतिगण।
'प्राकृत' निषेधि करे 'अप्राकृत' स्थापन॥१४१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१३३-१४१। उपनिषद के वाक्यों का जो मुख्य अर्थ है, उसी को ही वेदव्यास ने अपने द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र में उल्लेख किया है; अर्थात् वही मुख्य अर्थ ही ज्ञातव्य (जानना चाहिए) है। उसको छोड़कर जिस गौण अर्थ की कल्पना की जाती है एवं शब्द की 'अभिधा-वृत्ति' को छोड़कर 'लक्षणावृत्ति' द्वारा जो अर्थ किया जाता है, वह अमङ्गल जनक होता है। 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'ऐतिह्य' और 'शब्द'—इन चारों प्रकार के प्रमाणों में से, 'श्रुतिप्रमाण' अर्थात् शब्द-प्रमाण ही सबसे प्रधान है। श्रुति वाक्यों का जो मुख्य अर्थ है, वही प्रमाण है। देखो, पशुओं की हड्डी और मल—बहुत ही अपवित्र है; किन्तु 'शङ्ख' और 'गोबर' उनमें गिने जाने पर भी श्रुतिवाक्यों के बल से महापवित्र माने जाते हैं। वैदिक वाक्यों का अर्थ लक्षणा-वृत्ति द्वारा करने पर, उनको 'अनुमान' के अधीन बनाकर उनके स्वतःप्रमाणत्व को नष्ट करना हो जाता है। व्यासजी के द्वारा रचित सूत्रों का अर्थ सूर्य की किरणों के समान देदीप्यमान है। मायावादियों ने अपने द्वारा कल्पित भाष्य रूपी मेघों द्वारा उस (सूर्य) को आच्छादित (ढ़क) दिया है। वेद एवं उसके अनुगत पुराण समूह ने एकमात्र ब्रह्म का ही निरूपण किया है। वह ब्रह्म अपने बृहत्व धर्मवशतः ईश्वर के लक्षणों से लक्षित होते हैं। पुनः उस ईश्वर को उनके सर्व ऐश्वर्य परिपूर्णता के साथ देखने पर, वही बृहद् ब्रह्म वस्तु ही स्वयं भगवान् कहलाते हैं। अतएव 'ब्रह्म' और 'ईश्वर'—यह भगवद् तत्त्व के अन्तर्गत व्यापार विशेष है। षड्-ऐश्वर्यपूर्ण भगवान् सदैव परिपूर्ण श्री से संयुक्त हैं, अतएव वे नित्य सविशेष हैं, उनको 'निराकार' कहकर व्याख्या करने से वेदों का अर्थ विकृत हो जाता है। जो सब श्रुतियाँ उन्हें 'निर्विशेष' कहकर व्याख्या करती है, वह केवल 'प्राकृत विशेष' का निषेध करके 'अप्राकृत विशेष' की स्थापना करती है। "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्य चक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्तिः वेद्यं न च तस्यास्ति वेता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥" (श्वेताश्वतर उपनिषद ३/१९) इत्यादि बहुत सी श्रुतियों में अप्राकृत-साकार-सच्चिदानन्द तत्त्व का वर्णन है।

अनुभाष्य

१३३-१३४। उपनिषद,—आदि, द्वितीय परिच्छेद पञ्चम संख्या के अनुभाष्य का अन्वय और आदि सप्तम परिच्छेद १०६ संख्या का अनुभाष्य एवं १०८ संख्या का अमृतप्रवाह भाष्य और अनुभाष्य द्रष्टव्य।

१३५। श्रील जीव गोस्वामी ने तत्त्व सन्दर्भ की १०-११ संख्या और श्रीबलदेव विद्याभूषण द्वारा रचित टीका एवं "शास्त्र योनित्वात्" (ब्रह्म सूत्र १/१/३), "तर्काप्रतिष्ठानात्" (ब्रह्मसूत्र २/१/११) एवं "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" (ब्रह्मसूत्र २/१/२७) प्रभृति सूत्रों के श्रीभाष्य, श्रीमाधवभाष्य, श्रीनिम्बार्कभाष्य और श्रीबलदेव कृत गोविन्द भाष्य द्रष्टव्य है। श्रीजीव प्रभु ने "सर्वसम्वा-दिनी में लिखा है,—"तथापि भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटव-दोष रहित वचनात्मकः शब्द एव मूलं प्रमाणम्। अन्येषां प्रायः पुरुष भ्रमादि-दोषमयतयान्यथा-प्रतीति-दर्शनेन् प्रमाणं वा तदाभासो वेति पुरुषैनिर्णेतुम-

शक्यत्वात्; तस्य तदभावात्॥" अर्थात् प्रत्यक्ष आदि दस प्रकार के प्रमाणों के विद्यमान रहने पर भी भ्रम आदि चार प्रकार के दोषों से रहित वचनात्मक 'शब्द' अर्थात् श्रुति ही मूल प्रमाण है; अन्यान्य प्रमाणों के विषय में मनुष्यों के वाक्य आदि प्रायः ही भ्रम आदि दोषों से युक्त होने के कारण उनके द्वारा अन्य प्रकार की प्रतीति देखी जाती है, अतएव अन्य नौ प्रमाण वास्तव में प्रमाण है या फिर प्रमाणाभास, उसका निर्णय नहीं किया जा सकता, किन्तु वास्तव-दर्शन मूलक होने के कारण शब्द प्रमाण में इस प्रकार की आशङ्का का अभाव है।

१३७। (ब्रह्म सूत्र २/१/५)—'दृश्यते तु' इस सूत्र के भाष्य में श्रीमन् माधवाचार्य पाद ने इस 'भविष्य पुराण' के वचनों को उद्धृत किया है—'ऋगयजुः-सामाथर्वाश्च भारतं पञ्चरात्रकम्। मूल रामायणञ्चैव 'वेद' इत्येव शब्दितः॥ पुराणनि च यानीह वैष्णवानि विदो विदुः। स्वतः प्रामाण्यमेतेषां नात्र किञ्चित् विचार्य ते॥'

सविशेष श्रीभगवान ही श्रुति का उद्दिष्ट विषय—
(श्रीचैतन्यचन्द्रोदय-नाटक ६/६१ में उधृत
हयशीर्ष-पञ्चरात्रवचन)—

या या श्रुतिर्जल्पति निर्विशेषं
सा साभिधत्ते सविशेषमेव।
विचारयोगे सति हन्त तासां
प्रायो बलीयः सविशेषमेव॥१४२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१४२। जो-जो श्रुति तत्त्व वस्तु को पहले 'निर्विशेष' कहकर कल्पना करती है, वही-वही श्रुति अन्त में सविशेष-तत्त्व को ही प्रतिपादित करती है। 'निर्विशेष' और 'सविशेष'—भगवान् के ये दोनों गुण ही नित्य है,—इसका विचार करने पर सविशेष-तत्त्व ही प्रबल होता है; क्योंकि जगत में सविशेष-तत्त्व ही अनुभूत होता है, निर्विशेष-तत्त्व अनुभूत नहीं होता।

अनुभाष्य

१४२। या या श्रुतिः (वेदमन्त्रः) निर्विशेषं (ब्रह्मनः विशेषरहितभावं केवलचिन्मात्रं) जल्पति (प्रकाशयति), सा सा श्रुतिः सविशेषं (नामरूपगुण लीलादि रूपम्) एव अभिद्यत्ते (मुख्यया अभिधया वृत्त्या वदति); हन्त तासां (श्रुतीनां) विचारयोगे सति (सूक्ष्मानुशीलनेन) प्रायः (सर्वतोभावेन) सविशेषं एव वलीयः (वेदवचनानां मुख्यतात्पर्यम्)।

श्रीभगवान् ही सभी कारकों की उद्दिष्ट-वस्तु—

ब्रह्म हैते जन्मे विश्व, ब्रह्मेते जीवय।
सेइ ब्रह्मे पुनरपि हये जाय लय॥१४३॥
'अपादान,' 'करण' 'अधिकरण'-कारक तिन।
भगवानेर सविशेष एइ तिन चिह्न॥१४४॥

१४३-१४४। प० अनु०—ब्रह्म से ही इस विश्व की सृष्टि होती है, ब्रह्म से ही इस विश्व की स्थिति रहती है और इसी ब्रह्म में यह विश्व प्रलय के समय लीन हो जाता है। 'अपादान', 'करण' तथा 'अधिकरण'—आदि कारक ही भगवान् के सविशेष रूप के तीन चिह्न हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४३-१४८। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"—(तैः धृः १) इत्यादि श्रुतिवाक्य में यह पाया जाता है कि, 'यह चराचर विश्व ब्रह्म से ही जन्म लेता है, ब्रह्म द्वारा ही जीवित रहता है एवं उसी ब्रह्म में ही पुनः लीन हो जाता है।' इन सब वेदवाक्यों द्वारा परब्रह्म के 'अपादान', 'करण' और 'अधिकरण' कारकत्व रूपी तीन प्रकार के लक्षण हैं। इन तीन प्रकार के नित्य लक्षणों द्वारा भगवान् नित्य सविशेष रूप में प्रतीयमान हो रहे हैं। "बहु स्याम्" (तैः उः व्रः ६ अः) इत्यादि श्रुति के मतानुसार भगवान् ने जब अनेक होने की इच्छा की, तब "स ऐक्षत" (एतः उः—१/१) इस वाक्य के मतानुसार प्राकृत-शक्ति की ओर उन्होंने दृष्टिपात किया। उस समय प्राकृत मन और नेत्रों की सृष्टि नहीं हुई थी; अतएव, भगवान् ने जिस मन में चिन्ता की जिस नयन से प्रकृति के प्रति ईक्षण (दृष्टिपात) किया, वह मन और नेत्र

प्राकृत सृष्टि के पहले ही थे। अतएव परब्रह्म के स्वरूपगत अप्राकृत नेत्र और मन थे, यह सभी वेदों द्वारा सम्मत है। उपनिषद वाक्यों में प्रायः सर्वत्र ही 'ब्रह्म' शब्द पाया जाता है। वही ब्रह्म ही अपनी पूर्ण अवस्था में स्वयं भगवान् है—यही वेदसम्मत है एवं शास्त्र प्रमाण द्वारा भी यही सिद्ध हो रहा है कि श्रीकृष्ण ही भगवान् है। यदि कहो कि वेदों में ऐसे स्पष्ट वाक्य नहीं है (या फिर दिखाई नहीं देते), तब विचार करके देखो,—वेद वाक्यों के अर्थ समूह—अत्यन्त निगूढ़ है। महर्षियों ने वेदवाक्यों के तात्पर्य को जगत् में समझाने के लिये पुराण वाक्यों के द्वारा वेदों के तात्पर्य का निर्णय किया है।

अनुभाष्य

१४३-१४४। (एतेः उः १/१/१-२)—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चनमीषत। स ईमान् लोकान्-सृजत।" (श्वेः उः ४/९)—"छन्दासि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति। यस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥" (तैः उः भृः—१ अः)—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्तत्यभिसं विशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।"—वारुणि भृगु द्वारा पिता वरुण से ब्रह्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर उसके उत्तर में वरुण के यह वचन है। इस मन्त्र में 'यतः' (जिस ब्रह्म से विश्व का उदय हुआ है)—अपादान-कारक; 'येन' (जिस ब्रह्म द्वारा विश्व पालित है)—करण कारण; 'यत' अर्थात् 'यस्मिन्' (जिस ब्रह्म में विश्व प्रवेश करता है)—अधिकरण कारक; श्रीराघवेन्द्र यति कृत टीका—"अन्नमयं प्राणमय चक्षुर्मयं श्रोत्रमयं मनोमयं वाङमयं विज्ञानमयं आनन्दमयञ्च इत्येवं नामैकदेशे नाम ग्रहण-न्यायेन अयं निर्देशोध्येयः। विज्ञानमयानन्दमय एवाप्युपलक्ष्यौ, एतेन ब्रह्मवल्लयां पञ्चरूपोक्तिरूपलक्षणम्। चक्षुर्मय-वाङ्मय श्रोतमया अपि ग्राह्या भवति। तथा ह्युक्तं 'वाधूल'—शाखायाम् "तस्माद्वा एमस्मात् अन्नरसमयात् अन्योऽन्तर आत्मा वाङमयः। तस्माद्वा एतस्माद्वाङ्मयात् अन्योऽन्तर आत्मा चक्षुर्मयः। तस्माद्वा एतस्माचक्षुर्मयात् अन्योऽन्तर आत्मा श्रोतमयः। चक्षुर्मयत्वादस्ते पूर्णदर्शन-शक्तित्वा चक्षुर्मय इतीरितः।" इति ऐतरेयभाष्योक्त रीत्या पूर्णदर्शन शक्तित्व-पूर्णश्रवण-शक्तित्व-पूर्णवक्तृत्व शक्ति-स्वरूपा वा यत्प्रयन्ति प्रलये। यदभि—स्वेच्छया-सत् विशन्ति मुक्ताः, तद्विजिज्ञासस्व।" (भाः १/५/२०)—"इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत् स्थाननिरोधसम्भवाः।"

१४४। भागवत के ६/४/३० श्लोक की श्रीधर स्वामी की टीका द्रष्टव्य।

अद्वयज्ञान (एक) कृष्ण से बहुत से प्रकाश ही प्रतयक् अथवा श्रौत सिद्धान्त हैं, बहुत से एक का सिद्धान्त-अश्रौत—

भगवान् अनेक हैते जबे कैल मन।
प्राकृत-शक्तिते तबे कैल विलोकन॥१४५॥

१४५। प० अनु०—भगवान् ने जब एक से अनेक होने की इच्छा की, तब उन्होंने प्राकृत शक्ति अर्थात् जड़ा-प्रकृति के प्रति दृष्टिपात किया।

अनुभाष्य

१४५। (छाः उः ६ प्रः द्वितीय खण्ड-३)—"तदैक्षत बहु स्यां प्रजयेयेति।" (तैः उः ब्रः ६ अः)—"सोऽकामयत् बहु स्यां प्रजायेयेति।

पहले माया के प्रति दृष्टि-निक्षेप, बाद में उसके फलस्वरूप सृष्टि, अतएव भगवान् का दृक-दर्शनादि—अप्राकृत—

से काले नाहि जन्मे 'प्राकृत' मन-नयन।
अतएव 'अप्राकृत' ब्रह्मेर नेत्र-मन॥१४६॥

१४६। प० अनु०—सृष्टि से पहले प्राकृत मन और नेत्रों की उत्पत्ति भी नहीं हुयी थी। अतएव इससे यह प्रमाणित होता है कि जिस समय ब्रह्म ने प्रकृति पर दृष्टिपात करने की इच्छा की थी वे अप्राकृत नेत्र और मन के द्वारा ही की गयी थी।

अनुभाष्य

१४६। सृष्टि करने के उद्देश्य से प्राकृत शक्ति की ओर दृष्टिपात करने से पहले उन्होंने अप्राकृत चक्षु द्वारा दृष्टिपात किया था। उस दर्शन के समय प्राकृत चक्षु

की सृष्टि नहीं हुई, क्योंकि प्राकृत-सृष्टि यदि उससे पहले हुई होती, तो फिर उनके द्वारा सृष्टि में प्रवृत्त होने के उल्लेख की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। तब सविशेष ब्रह्म का नित्य अप्राकृत मन था, जिसके द्वारा उन्होंने प्राकृत सृष्टि का मनन किया था एवं नित्य अप्राकृत चक्षु भी थे, जिसके द्वारा उन्होंने प्रकृति शक्ति की ओर देखा था।

विभुचित या विष्णु-परतत्त्व श्रीकृष्ण ही भगवान्—

ब्रह्म-शब्दे कहे पूर्ण स्वयं भगवान्।
स्वयं भगवान् कृष्ण,—शास्त्रेर प्रमाण॥१४७॥

१४७। प॰ अनु॰—'ब्रह्म'—शब्द का अर्थ पूर्ण भगवान् है और स्वयं भगवान्—श्रीकृष्ण है, यह शास्त्रिक प्रमाण है।

अनुभाष्य

१४७। "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्रः सूः १/१/३) इस सूत्र के भाष्य में श्रीमन्मध्वाचार्य पाद (ने कहा है)— "ऋगयजुः सामाथर्वश्च भारतं पञ्चरात्रकम्। मूलरामायणञ्चैव शास्त्रमित्यभिधीयते॥ यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम्। अतोऽन्यग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत्॥—इति स्कान्धे।" अर्थात् ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद, महाभारत (पुराण सहित) सात्वततन्त्र पञ्चरात्र और मूल रामायण—यही 'शास्त्र' शब्द द्वारा कहे जाते हैं तथा इनके अनुकूल ग्रन्थ भी शास्त्रों में गिने जाते हैं; इनके अतिरिक्त और जो सब ग्रन्थ हैं, वह शास्त्र ही नहीं है, परन्तु 'कुवर्त्म' शब्द वाच्य है अर्थात् वे कुमार्ग दिखाने वाले हैं। आदि, द्वितीय परिच्छेद द्रष्टव्य है।

वेद के अर्थ को पूर्ण करने वाले और प्रागबन्धयुग में प्रकाशित होने के कारण ही पुराण अर्थात् प्राचीन नाम—

वेदेर निगूढ़ अर्थ बुझन ना हय।
पुराण-वाक्ये सेइ अर्थ करय निश्चय॥१४८॥

१४८। प॰ अनु॰—वेद के गूढ़ अर्थ सरलता से समझ में नहीं आते इसलिये उन अर्थों को पुराण वाक्य के द्वारा ठीक रूप से समझा जा सकता है।

अनुभाष्य

१४८। श्रीजीव प्रभु कृत तत्त्व सन्दर्भ की १२-१७ संख्या और श्रीबलदेव कृत टीका द्रष्टव्य।

श्रीमद्भागवत (१०/१४/३२)—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रः परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥१४९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१४९। नन्द गोप और व्रजवासियों के भाग्य की कोई सीमा नहीं है, क्योंकि परमानन्द-स्वरूप पूर्ण ब्रह्म सनातन उनके मित्र के रूप में प्रकट हुए हैं।

अनुभाष्य

१४९। श्रीकृष्ण के द्वारा ब्रह्माका अभिमान चूर्ण-विचूर्ण होनेपर ब्रह्मा एकान्त शरणागत होकर श्रीकृष्ण का स्तव करते-करते कृष्ण प्रिय व्रजवासियों के अत्यधिक प्रेम सौभाग्य की प्रंशसा कर रहे हैं—

नन्द-गोपव्रजौकसां (नन्दराज प्रमुख-पञ्चरसावस्थितानां व्रजवासिनाम्) अहो भाग्यं; यत् (येषां व्रजवासिनां) मित्रं सनातनं (नित्यकालप्रकटित) पूर्णम् (अखण्ड) परमानन्दं (सच्चिदानन्दघन), ब्रह्म।

श्रुतिमन्त्र में जड़विशेष निरास पूर्वक अप्राकृत सच्चिदानन्द-विग्रहत्व ही उद्दिष्ट—

'अपाणि-पाद'—श्रुति वर्जे 'प्राकृत' पाणि-चरण।
पुनः कहे,—शीघ्र चले, करे सर्व ग्रहण॥१५०॥

१५०। प॰ अनु॰—जो श्रुतियाँ ब्रह्म को 'अपाणि-पाद' (अर्थात् ब्रह्म के हाथ-पाँव नहीं है ऐसा) कहती हैं उनका वास्तविक तात्पर्य है कि ब्रह्म के हाथ-पाँव तो हैं परन्तु वे 'प्राकृत' हाथ-पाँव नहीं है। फिर वही श्रुतियाँ और भी कहती हैं कि—ब्रह्म शीघ्र चलते हैं तथा सब वस्तुओं को ग्रहण करते हैं।

अनुभाष्य

१५०। (श्वेः उः तृतीय अ-१९)—"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श‍ृणोत्यकर्णः। स वेत्ति

वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।।"

मुख्यवृत्ति में सविशेषत्व और गौणवृत्ति में निर्विशेषत्व—

अतएव श्रुति कहे, ब्रह्म—सविशेष।
'मुख्य' छाड़ि' 'लक्षणा' ते माने निर्विशेष॥१५१॥

१५१। प॰ अनु॰—अतएव श्रुतियाँ यही कहतीं हैं कि ब्रह्म सविशेष स्वरूप हैं। परन्तु मायावादी मुख्य अर्थ को छोड़कर लक्षणावृत्ति के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप को निर्विशेष रूप में ही स्वीकार करते हैं।

अनुभाष्य

१५१। पूर्व उल्लिखित श्रुति के वचनों ने ब्रह्म के विशेषत्व का ही निरूपण किया है; किन्तु मुख्य अभिधा वृत्ति का त्याग करके लक्षणा द्वारा मायावादी निर्विशेष मतवाद की स्थापना करते हैं। लक्षणा द्वारा सिद्ध निर्विशेषत्व भी विशेष वाद के अन्तर्गत (आने वाले अनेक प्रकार के परिचयों में से) एक परिचय मात्र है; उसका उद्देश्य जड़विशेष से पार्थक्य स्थापन करना मात्र है।

चिदविलास को निर्विलास के
रूप में स्थापन ही मायावाद—

षड़ैश्वर्यपूर्णानन्द-विग्रह जाँहार।
हेन-भगवाने तुमि कह निराकार॥१५२॥
स्वाभाविक तिन शक्ति जेइ ब्रह्मे हय।
'निःशक्तिक' करि' ताँरे करह निश्चय॥१५३॥

१५२-१५३। प॰ अनु॰—जो भगवान् षड़ैश्वर्यपूर्ण तथा जिनका विग्रह आनन्द स्वरूप हैं, उन्हें आप निराकार कह रहे हैं। जिन ब्रह्म की तीन स्वाभाविक शक्तियाँ हैं उन्हें आप 'निःशक्तिक' कहकर स्थापित करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५०-१५३। "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" (श्वेः उः ३/१९)—यह श्रुति वाक्य है। पहले ब्रह्म के 'प्राकृत (जागतिक) हाथ और पैर नहीं है' ऐसा कहकर बाद में 'शीघ्र चलते हैं एवं सभी वस्तुओं को ग्रहण करते हैं' इस वाक्य द्वारा 'अप्राकृत हाथ और पैर हैं' कहकर ब्रह्म को सविशेष बता रहे हैं। (मायावादी) श्रुति के मुख्य अर्थ को छोड़कर लक्षणा वृत्ति से ब्रह्म के सविशेषत्व का निषेध करने वाले निर्विशेषत्व का अन्याय पूर्वक अर्थात् जोर-जबरदस्ती स्थापन कर रहे हैं। मायावादी ब्रह्म को 'नित्य निराकार' कहकर स्थापित करते हैं, परन्तु शास्त्र के मतानुसार वह ब्रह्म षड़ैश्वर्य पूर्णानन्द विग्रह वाले भगवान् स्वरूप में नित्य विराजमान हैं। मायावादी ब्रह्म को 'निःशक्तिक' कहकर स्थापित करते हैं, किन्तु "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" (श्वेः उः ६/८)—इस वेदवाक्य-मूलक बहुत से शास्त्र वाक्यों में उन ब्रह्म की तीन स्वाभाविक शक्तियाँ स्वीकृत हुई है।

अनुभाष्य

१५३। केवलाद्वैतवादी शक्ति को अज्ञान द्वारा उत्पन्न अनित्य अवस्था-विशेष मानने के कारण निःशक्तित्व को ही ब्रह्म का लक्ष्यीभूत विषय समझते हैं। किन्तु ब्रह्म में तीन शक्तियों के नित्य विराजमान रहने पर भी अध्यारोपवाद (आरोपित करना) प्रभृति विचार की सहायता से ब्रह्म को शक्ति हीन कहकर निश्चय करने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

विष्णुपुराण (६/७/६१-६३)—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥१५४॥

१५४। श्लोकानुवाद—"विष्णु शक्ति तीन प्रकार की है—परा, क्षेत्रज्ञ और अविद्या। पराशक्ति है 'चित्त-शक्ति'; क्षेत्रज्ञ शक्ति है 'जीव शक्ति' अथवा पराशक्ति के सम्भूत (उत्पन्न) होने पर भी अविद्या के द्वारा आच्छन्न हो सकती है तथा तीसरी शक्ति ही कर्म संज्ञा-रूपा अविद्याशक्ति अर्थात् 'मायाशक्ति' है।

यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्ठिता नृप सर्वगा।
संसारतापानखिलानवाप्नोत्यत्र सन्ततान्॥१५५॥
तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता।
सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन वर्तते॥१५६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५५-१५६। क्षेत्रज्ञ शक्ति ही जीव शक्ति है; वह जीवशक्ति सर्वज्ञ होने पर भी माया वृत्तिरूप अविद्या द्वारा आवृत्त होकर संसारगत अखिल ताप को नित्य भोग करती है। और, वही 'क्षेत्रज्ञ'-नाम्नी शक्ति अविद्या कुण्ठा से आवृत्त होकर, हे भूपाल, सभी जीवों में तारतम्य सहित वर्त्तमान रहती है। तात्पर्य यह है कि भगवान् की चिच्छक्ति—सर्वश्रेष्ठ, जीवशक्ति-मध्यम और अविद्या कर्म संज्ञिता माया शक्ति—अधम है। जीवशक्ति माया द्वारा आवृत्त होकर अर्थात् चित् शक्ति की वृत्ति से दूर होकर संसार ताप प्राप्त करती है। उस प्रकार (चिच्छक्ति से) दूर रहते समय (अपने द्वारा) आविष्कृत कर्म के चक्र में प्रवेश करके ऊँची-नीची अवस्था प्राप्त करती है।

अनुभाष्य

१५४। आदि, प्रथम परिच्छेद ११९ संख्या द्रष्टव्य।

१५५। हे नृप, सर्वगा, (चिज्जड़ोभयगमिनी) सा क्षेत्रज्ञ शक्तिः (जीवाख्यशक्तिः) यया (अविद्यया-भगवद्विमुखया मायया) वेष्टिता (आवृता); अत्र (देवी-धामनि संसारे) सा सन्ततान् (नानाकर्म फल भोग जन्यान्) अखिलान् (नानाविधान्) तापान् अवाप्नोति (लभते)।

१५६। हे भूपाल, तया (अविद्याया) तिरोहितत्वात् (गुणमायासङ्गहीनात्) क्षेत्रज्ञ-संज्ञिता शक्तिः (जीवशक्तिः भगवद्वैमुख्यविधायिनाविद्या-वर्त्तमानत्वात्) सर्वभूतेषु तारतम्येन् वर्त्तते (अविद्याया वरावरा च मन्यते)।

विष्णुपुराण (१/१२/६९)—

ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् त्वय्येका सर्वसंश्रये।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुण-वर्जिते॥१५७॥

१५७। श्लोकानुवाद—हे भगवन्, आप जो सर्वाश्रय, निर्गुणस्वरूप हैं, आपमें 'ह्लादिनी', 'सन्धिनी' एवं 'संवित्' तीनों विषय ही चिन्मय हैं। मायावश-योग्य चित्कण जीव मायाविष्ट होकर, माया के त्रिगुणों का आश्रय करके जिस अवस्था को प्राप्त हुआ है, उससे शक्ति 'ह्लादकरी', 'तापकरी' एवं 'मिश्रा'—इन तीन प्रकार के भावों को प्राप्त हुयी है। किन्तु आप जो सर्वगुणातीत हैं, आप में वही शक्ति निर्मल एवं निर्गुण स्वरूप में एकाकार है।

अनुभाष्य

१५७। आदि, चतुर्थ परिच्छेद ६३ संख्या द्रष्टव्य।

शक्तिमान भगवान् की तीन शक्तियाँ—

सच्चिदानन्दमय हय ईश्वर-स्वरूप।
तिन अंशे चिच्छक्ति हय तिन रूप॥१५८॥
आनन्दांशे 'ह्लादिनी' सदंशे 'सन्धिनी'।
चिदंशे 'सम्वित्', जारे कृष्णज्ञान मानि॥१५९॥
अन्तरङ्गा—चिच्छक्ति, तटस्था—जीवशक्ति।
बहिरङ्गा—माया,—तिने करे प्रेमभक्ति॥१६०॥

चिद्‌विलास की निर्विशेषरूप में धारणा—दम्भमात्र—

षड्‌विध ऐश्वर्य—प्रभुर चिच्छक्ति-विलास।
हेन शक्ति नाहि मान,—परम साहस॥१६१॥

भगवान् और जीव का नित्य भेद,
केवल-अभेदवाद—नास्तिकता—

'मायाधीश'-'मायावश'—ईश्वरे-जीवे भेद।
हेन-जीवे ईश्वर-सह कह त' अभेद॥१६२॥

गीता में 'जीव'—भगवदच्छक्ति—

गीताशास्त्रे जीवरूप 'शक्ति' करि' माने।
हेन जीवे 'अभेद' कह-ईश्वरेर सने॥१६३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५८-१६३। वेद-वेदान्त के मतानुसार,—ईश्वर, जीव और माया, इन तीन तत्त्वों का स्वरूप और सम्बन्ध जानना (अत्यन्त) आवश्यक है। सर्वप्रथम ईश्वर के स्वरूप को जानना आवश्यक है। सच्चिदानन्दमयत्व ही ईश्वर का स्वरूप है। भगवान् की एक चिच्छक्ति ही 'सत', 'चित्त' और 'आनन्द'—इन तीन अंशों में तीन रूपों में प्रकाशित होती है। आनन्द अंश से 'ह्लादिनी',

सद् अंश से 'सन्धिनी' एवं चिद् अंश से 'सम्विद्'। वही सम्विद् ही कृष्ण-सम्बन्धीय ज्ञान है। ईश्वर की स्वरूप शक्ति तीन स्वरूपों में प्रकाशित होती है—'अन्तरङ्गा' अर्थात् चिच्छक्ति स्वयं, 'तटस्था' अर्थात् जीवशक्ति, 'बहिरङ्गा' अर्थात् मायाशक्ति। इन तीन प्रकाशों में ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्वित् की क्रियानुसार तीन-तीन भाव समझने चाहिए। चिच्छक्ति अपने ह्लादिनी और सम्वित्-समवेतसार जीव को प्रदान करने के बाद, जीवशक्ति यदि उसको ग्रहण करती है तब मायाशक्ति का निष्कपट-चिच्छक्ति के भाव से (आवरण-विक्षेपात्मक अचित् विक्रम) दूर होकर जीव को कृष्ण प्रेमभक्ति का अधिकारी बना देती है। परमेश्वर का षड्विध ऐश्वर्य ही उनका ऐश्वर्य विलास है; उनको 'निराकार' 'निःशक्तिक' कहने से अत्यन्त अवैदिक वाक्य का प्रयोग होता है। ईश्वर—स्वभाव से ही माया के अधीश्वर है; जीव—स्वभाव से ही अणु-चैतन्य होने के कारण मायावश योग्य है। मुण्डकोपनिषद् (३/१/१-२) में कहा गया है,—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-नश्नन्न न्योहभिचाकशीति॥ समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोह-नीशया शोचित मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यनामी शमस्य महिमानमेति वीतशोकः॥" अर्थात् ईश्वर को भूलने से जीव दण्ड का भागीदार होता है, ईश्वर की काराकर्त्री (ईश्वर के द्वारा बनाये गये कारागार की मालकिन) माया उस अपराध के कारण जीव को कारागार में बन्द करके दण्ड देती है।' यहाँ पर ईश्वर के स्वभाव में माया की अधीश्वरता ही प्रतिपादित (स्थापित) होती है, मायावश्यता नहीं।

जीव के स्वभाव में निर्मायिक (माया से रहित) सत्ता होने पर भी मायावश्यता रूपी एक धर्म है, उसी का नाम ही 'तटस्थत्व' है। जब ऐसा स्वभावगत और स्वरूपगत नित्य-भेद है, तब किसी भी अवस्था में जीवों का ईश्वर से अभेद है, ऐसा नहीं कह सकते। और फिर, गीता शास्त्र में जीवों को 'शक्ति' बताया है, तब "शक्ति-शक्तिमतोरभेदः" इस वेदान्त वाक्य के मतानुसार ईश्वर के साथ जीव का जो अभेद बतलाया गया है, उसे भी स्वीकार करने के लिये बाध्य है। ईश्वर और जीव तत्त्व का यही अचिन्त्यभेदाभेद ही रहस्य है।

अनुभाष्य

१५८-१५९। आदि चतुर्थ परिच्छेद ६१-६२ संख्या द्रष्टव्य।

भगवान् की गुणमाया और जीवमाया—

श्रीमद्भगवदगीता (७/४-५)—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्न प्रकृतिरष्टधा॥१६४॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥१६५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१६४-१६५। भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार,—यह आठ मेरी ही अपरा शक्ति की वृत्तिविशेष है; जीवतत्त्व इससे पृथक है।

अनुभाष्य

१६४। अर्जुन के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण की उक्ति—भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खं, मनः, बुद्धिः, अहङ्कारः च एव इति अष्टधा मे (मम) भिन्ना प्रकृतिः (बहिरङ्गाख्या शक्तिः)। (भूम्यादि-शब्दैः पञ्च महा-भूतानि, सूक्ष्मभूतैः रूपरसगन्धशब्दस्पर्शादिभिः सहैकीकृत्य संगृह्यन्ते; अहङ्कार-शब्देन तउत् कार्य भूतानीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादवायुपस्थानि तउत् कारण भूतमहतत्त्वमपि गृह्यन्ते। बुद्धिमनसोः पृथगुक्तिस्तत्वेषु तयोः प्राधान्यात)।

१६५। आदि लीला सप्तम परिच्छेद ११८ संख्या द्रष्टव्य।

भगवद्विग्रह—सच्चिदानन्दमय—

ईश्वरेर श्रीविग्रह सच्चिदानन्दाकार।
से-विग्रहे कह सत्त्वगुणेर विकार॥१६६॥

१६६। प० अनु—भगवान् का श्रीविग्रह सच्चिदा-

नन्दमय है किन्तु आप उस विग्रह को सत्त्वगुण का विकार कह रहे हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६६। वेद रूपी शास्त्र के मतानुसार ईश्वर का सच्चिदानन्द विग्रह—नित्य है। निराकार-धर्म—प्राकृत (जागतिक) सत्वगुण के विपरीत विकार विशेष, अर्थात् जड़ीय सत्त्व गुण में जो आकार है, उसका निषेध करने वाला भाव-विशेष। प्रकृति से अतीत जो चिन्मय विग्रह है, उसका आकार भी चिन्मय है। मायिक सत्त्व का निराकारत्व उनको स्पर्श नहीं कर पाता। ऐसे श्रीविग्रह को जो नहीं मानता, उसकी गिनती 'पाषण्ड़ों' में होती है।

अनुभाष्य

१६६। आदि लीला सप्तम परिच्छेद ११३ संख्या द्रष्टव्य।

नित्यचिद्विलास अस्वीकार पाषण्डता-मात्र—

श्रीविग्रह जे ना माने, सेइ त' पाषण्ड।
अस्पृश्य, अदृश्य, सेइ हय यमदण्डय॥१६७॥

१६७। प॰ अनु॰—भगवान् के श्रीविग्रह को जो नहीं मानता वह पाषण्डी है। वे व्यक्ति स्पर्श करने योग्य नहीं, देखने योग्य नहीं। वे तो यम के द्वारा दण्डित होने योग्य है।

अनुभाष्य

१६७। जो भगवान् के नित्य रूप-गुण-लीलामय विग्रह को जागतिक सत्त्व गुणों का विकार, अथवा अज्ञान-समष्टि का आधारमात्र समझकर अप्राकृत विग्रह की नित्य सेवा करने में तत्पर नहीं होता, वे पाषण्डी अर्थात् अनित्य काल्पनिक पञ्च देवताओं की मिथ्या उपासना के साथ भक्ति को एक समान मानने के कारण कृष्ण के नित्य दास के पद से च्युत (खारिज) हो जाता है। भक्त उसे स्पर्श नहीं करते और उसको देखते भी नहीं है, क्योंकि वह न्याय और अन्याय मय कर्म राज्य में भ्रमण करके जड़भोग के लिये अथवा भोग त्याग करने के लिये अनात्मा को आत्मा मानकर वरण करने के कारण भगवान् के नित्य विग्रह और लीला को अपने भोगतात्पर्यमय विषय के समान ही समझता है। भक्ति विरोधी जड़ीय भोग त्याग का फल यमदण्ड उसके भाग्य में अव्यर्थ होगा अर्थात् उसे यमदण्ड भोगना ही पड़ेगा। केवलमात्र भक्त ही पाषण्ड और यम दण्ड के भागीदार नहीं है।

मायावादी मुख से वैदिक होने पर भी प्रच्छन्न-बौद्ध—

वेद ना मानिया बौद्ध हय त' नास्तिक।
वेदाश्रय नास्तिक्य-वाद बौद्धके अधिक॥१६८॥

१६८। प॰ अनु॰—बौद्ध वेदों को नहीं मानते इसलिये वे नास्तिक हैं। परन्तु जो वेदों का आश्रय लेकर भी नास्तिक्यवाद को ग्रहण करते हैं, वे मायावादी बौद्धों से भी अधिक नास्तिक हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६८। क्योंकि बौद्ध शाक्य सिंह ने वेद विधि को नहीं माना, इसलिये वैदिक आर्यगण उसको 'नास्तिक' कहकर उसकी निन्दा करते हैं, किन्तु मायावादियों ने वेदों का आश्रय लेकर जिस नास्तिक्य-वाद को प्रकाशित किया है, वह बौद्धमत की अपेक्षा और अधिक निन्दनीय है। क्योंकि, स्पष्ट शत्रु की अपेक्षा मित्र के रूप में व्यवहार करने वाला प्रच्छन्न (पीठ-पीछे, छिपा हुआ) शत्रु अत्यधिक भयंकर होता है।

अनुभाष्य

१६८। वेदाश्रय नास्तिक्यवाद—केवलाद्वैतवाद; वेद त्याग करके शक्यसिंह ने वैदिक-कर्मों के अनुष्ठानों के हाथ से मुक्ति पाई एवं उसने जागतिक नैष्कर्म्य (निष्का-मता) की स्थापना की। उसके मतानुसार, परलोक में सच्चिदानन्द-रहित विग्रह विराजमान है। मायावादी मुँह-मुँह में (अर्थात् केवल कहने अथवा दिखाने के लिये) वेदों को ग्रहण करके अथवा मानकर अपने भोग पर अज्ञान कहलाने योग्य वैदिक कर्मों के अनुष्ठान के फल से कर्म के हाथ से मुक्त होते हैं, ऐसा मानते हैं तथा

नैष्कर्म्य की स्थापना करते हैं। (वे ऐसा मानते हैं कि) उनका परलोक में निर्बोध सच्चिदानन्द विग्रह अर्थात् निर्विशेष केवल चिन्मात्र विराजमान है। अज्ञान में स्थित मुमुक्षु ज्ञानवादी सच्चिदानन्द ज्ञान को 'खण्डज्ञान' अथवा 'अज्ञान का प्रतिफलन' मानकर उनके सम्बन्ध में किसी सम्विद् वृत्ति के अनुशीलन को अपने अज्ञान का ही एक प्रकार का भेदमात्र मानने के कारण भगवद्सेवा से परित्यक्त होते हैं। अतएव शुद्ध सच्चिदानन्द की अनुभूति अज्ञान के विग्रह ज्ञानवादियों के अधिगम्य (प्रवेश) का विषय नहीं है। क्योंकि उनके सिद्धान्त में निःशक्तिक ब्रह्म—जड़मय है अर्थात् 'ज्ञान', 'ज्ञेय', 'ज्ञाता',—इन तीनों अवस्थाओं से रहित एवं उनका जड़ाभिमान ग्रस्त विचार-निपुणता रूपी अज्ञान प्रबल होने के कारण सच्चिदानन्दत्व चिन्मय 'ज्ञान', 'ज्ञेय', 'ज्ञातृ'—धर्म-विशिष्ट भी नहीं है, वास्तव में वह अज्ञानमय अवस्था की उक्ति मात्र है। इसलिये मायावादियों की वास्तविक वस्तु के ज्ञान के सम्बन्ध में अनस्तित्व-बुद्धि है।

ब्रह्मसूत्र में ही जीव का परम कल्याण,
शंकरभाष्य में जीव का सर्वनाश निहित—

जीवेर निस्तार लागि' सूत्र कैल व्यास।
मायावादि-भाष्य शुनिले हय सर्वनाश॥१६९॥

१६९। प० अनु०—जीवों का उद्धार करने के लिये श्रील व्यासदेव ने ब्रह्मसूत्र की रचना की परन्तु जो इन सूत्रों के मायावादी भाष्य को सुनता है तो उसका सर्वनाश होता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६९। व्यासजी के सूत्र में शुद्ध भक्तिवाद (की स्थापना की गयी) है। मायावादियों ने उस वेदान्त-सूत्र का जो भाष्य लिखे हैं, उसमें परब्रह्म का चिन्मय विग्रह अस्वीकृत एवं जीवों की ब्रह्म से पृथक् सत्ता भी अस्वीकृत हुई है, इसलिये वह शुद्ध भक्ति के तत्त्व के अत्यन्त विरुद्ध है; अतएव मायावादियों के भाष्य सुनने से जीवों का सर्वनाश होता है, क्योंकि, ब्रह्म के साथ अभेद वाञ्छा रूपी दुराशा से उत्पन्न अभिमान द्वारा शुद्ध भक्ति नष्ट होती है एवं वास्तव में ईश्वर को मानना भी नहीं होता।

शक्तिपरिणामवाद ही ब्रह्मसूत्र में उद्दिष्ट—

'परिणाम-वाद'—व्याससूत्रेर सम्मत।
अचिन्त्यशक्ति ईश्वर जगद्रूपे परिणत॥१७०॥

१७०। प० अनु०—श्रील व्यासदेव ने स्वरचित ब्रह्मसूत्र में परिणामवाद का अनुमोदन किया है। परिणाम-वाद का मुख्य अर्थ है कि भगवान् की अचिन्त्य शक्ति जड़-जगत् के रूप में परिणत हुई हैं।

अनुभाष्य

१७०-१७५। आदि सप्तम परिच्छेद १२१-१३३ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य।

प्राकृत चिन्तामणि के द्वारा बहुत से स्वर्ण को प्रसव करने का दृष्टान्त के अनुसार सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपनी शक्ति द्वारा जगत् को प्रकाशित करने पर भी अविकृत—

मणि जैछे अविकृते प्रसवे हेमभार।
जगद्रूप हय ईश्वर, तबु अविकार॥१७१॥

१७१। प० अनु०—मणि जैसे स्वर्ण का प्रसव करने पर भी स्वयं अविकृत ही रहती है, अर्थात् वह स्वर्ण प्रसव करने से पहले जैसे होती है, बाद में भी वैसी ही रहती है। उसी प्रकार सच्चिदानन्द ईश्वर (अपनी शक्ति को विकार योग्य) गुणमय जगत् के रूप में परिणत करने पर भी अपने स्वरूप को विकार-रहित रख सकते हैं—यह नित्यशक्ति उनमें विराजमान है।

अनुभाष्य

१७१। शक्तिपरिमाणवाद ही 'जन्माद्यस्य'—सूत्र द्वारा सम्मत है। असंख्य, अनन्त नित्यशक्ति जिनसे उत्पन्न और जिनमें स्थित और अव्यक्त रहती है, तथा शक्ति समूह जिनके अधीन है, ऐसी शक्तियों के समूह के प्रभु ही 'ईश्वर' हैं। अनन्त रूप में विराजमान नित्य-अनित्य शक्ति, आत्म-अनात्म शक्ति प्रभृति का युगपत् (एक ही साथ) ईश्वर में अवस्थिति किस प्रकार से सम्भव है,

उसको जीव वर्त्तमान जड़ बद्धावस्था में माया शक्ति के अधीन रहते समय समझ नहीं सकता; इसलिये मनुष्य के ज्ञानानुसार इस प्रकार के परस्पर विरुद्ध गुणों का समाश्रय—अचिन्त्य होने पर भी ईश्वर में नित्य अवस्थित है। मानव जड़ज्ञान अहङ्कार के कारण अपने क्षुद्र अज्ञान रूपी सामर्थ्य को मिथ्या कल्पना द्वारा विपुल (बहुत) समझकर, जिस शक्ति-राहित्य रूपी एक अवस्था की 'ब्रह्म' के रूप में कल्पना करता है, वह चिन्त्य शक्ति का प्रकार भेद मात्र है। उसके द्वारा जगत् को ईश्वर का 'परिणाम' समझने से 'विवर्त्तवाद' को अवश्य ही ग्रहण करना पड़ता है, किन्तु ईश्वरत्व में जो अचिन्त्य नित्य शक्ति मता निहित है, उसको समझने से, ईश्वर की बहिरङ्गा मायाशक्ति द्वारा परिणत खण्डज्ञान गम्य राज्य में भी वे प्रकाशित अथवा अवतीर्ण हो सकते हैं, ऐसा समझ आता है, किसी मणि में ऐसी शक्ति स्थापित होती है, कि मणि सोने की सृष्टि करके भी अपने मणि वाले स्वरूप को किसी अन्य रूप में परिणत अथवा परिवर्तित नहीं करती, सोने की सृष्टि करने से पहले मणि जिस प्रकार की थी, सोने को उत्पन्न करने के बाद भी उसी रूप में ही रहती है। जिस प्रकार वास्तव में अपने अन्दर स्थापित शक्ति के प्रभाव से मणि स्वयं विकृत न होकर एवं अपने से भिन्न किसी और वस्तु (सोने) को उत्पन्न करके भी अपने मणि वाले स्वरूप में अवस्थित रह सकती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द ईश्वर अपनी मायाशक्ति को परिचालित करके, वैसी शक्ति को विकार योग्य गुणमय जगत् के रूप में परिणत कर सकते हैं। ईश्वर अपनी किसी अन्य शक्ति को विकारमय जगत् के रूप में परिणत करके भी अपने स्वरूप को विकार-रहित रख सकते हैं,—यह नित्यशक्ति उनमें विद्यमान है।

गुरु-व्यासदेव को भ्रान्त कहने के कारण मायावादी—विवर्त्तवादी हैं, अतएव वे—श्रौतपथ-विरोधी नास्तिक—

व्यास—भ्रान्त बलि' सेइ सूत्रे दोष दिया।
'विवर्तवाद' स्थापियाछे कल्पना करिया॥१७२॥

१७२। प० अनु—परन्तु शंकराचार्य ने श्रीव्यासदेव को ही भ्रान्त बताकर उनके सूत्र में दोष निकाल दिया और अपनी कल्पना के अनुसार सूत्र पर भाष्य लिखकर विवर्तवाद को स्थापित किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७२। 'परिणाम-वाद' मानने से ईश्वर 'विकारी' हो जायेंगे, अतएव व्यासदेव को 'भ्रान्त' कहना होगा,—ऐसा कहकर सूत्र के मुख्य अर्थ के प्रति दोषोरोपण करके गौण अर्थ द्वारा 'विवर्त्तवाद' को स्थापित किया है।

अनुभाष्य

१७२। उस सूत्र में,—ब्रह्म सूत्र के प्रारम्भ में "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" सूत्र के उत्तर में सर्वप्रथम "जन्माद्यस्य यतः" सूत्र है। यह सूत्र परिणाम वाद के उद्देश्य से ही लिखा गया है, यथा,—"यतो वा इमानि भूतानि"—इस तैतिरीय वाक्य में, "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च"—इस मुण्डक वाक्य तथा श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में कहे गये सभी श्लोकों का तात्पर्य ही 'परिणामवाद' है। किन्तु शङ्कराचार्य यदि 'परिणामवाद' ग्रहण करें, तो फिर बाद में 'जन्माद्यस्य यतः'—सूत्र को 'दुष्टसूत्र' और उसके लेखक श्रीव्यासदेव को 'भ्रान्त' कहकर काल्पनिक-लक्षणावृत्ति-वादियों के आक्रमण के पात्र बनेंगे, उसके निषेध करने एवं अपने गुरु व्यास को और 'जन्माद्यस्य' सूत्र को यथाक्रम परिणामवादी और परिणामवाद कहकर निन्दा न करके, उसके उद्देश्य से काल्पनिक युक्ति को विस्तार करके वेद के किसी अंश विशेष में लिखे अन्य तात्पर्य ज्ञापक 'विवर्त्तवाद' को ही सत्य कहकर स्थापित किया।

विवर्त्तबुद्धि की उत्पत्ति; वह मिथ्या है;
जगत—सत्य, किन्तु नश्वर—

जीवेर देहे आत्मबुद्धि,—सेइ मिथ्या हय।
जगत् जे मिथ्या नहे, नश्वर मात्र हय॥१७३॥

१७३। प० अनु—जीव की जो देह में आत्म बुद्धि है वह मिथ्या है। किन्तु जगत् मिथ्या नहीं, वह तो नश्वरमात्र है।

अनुभाष्य

१७३। नित्य-कृष्णदास निर्मल जीव, कर्मफल भोगमय स्थूल और सूक्ष्म—दोनों प्रकार के शरीरों को भ्रमपूर्वक जो 'मैं' समझता हूँ, ऐसी बुद्धि—मिथ्या है; वही 'विवर्त्तवाद' का स्थल है। जीवात्मा अनित्य काल वश योग्य ब्रह्म के अज्ञान के कारण तात्कालिक स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर नहीं है। विश्व वास्तव में मिथ्या नहीं है, तो भी काल द्वारा परिवर्तन योग्य है। विश्व-भोग बुद्धि में जीव का 'विवर्त्त' है। इस अचित् विश्व का स्वरूप—शक्ति-परिणत है। मायावादी जीव के स्वरूप और विश्व के स्वरूप में 'विवर्त्त' का विचार करते हैं, किन्तु दोनों ही शक्ति के परिणाम है।

ऊँकार ही आदि-महावाक्य और
ईश्वर-मूर्त्ति एवं वेद-कल्पतरु का बीज—

'प्रणव' ये महावाक्य—ईश्वरेर मूर्त्ति।
प्रणव हैते सर्ववेद, जगते उत्पत्ति॥१७४॥

१७४। प० अनु—महावाक्य 'प्रणव' शब्द के रूप में साक्षात भगवान् की मूर्त्ति स्वरूप है। उसी प्रणव से ही सभी वेदों की और जगत् की उत्पत्ति हुई है।

अनुभाष्य

१७४। 'प्रणव'—ईश्वर का नाम रूपी विग्रह है; वही महावाक्य है। नाम स्वरूप 'ओंकार' से इस नश्वर जगत् में रहते समय भी विवर्त्त बुद्धि को छोड़ने से अप्राकृत स्वरूप का उदय होता है।

तत्त्वमसि वाक्य—वेद का एकदेश-सूचक—

'तत्त्वमसि'—जीव-हेतु प्रादेशिक वाक्य।
प्रणव ना मानि' तारे कहे महावाक्य॥"१७५॥

१७५। प० अनु—'तत्त्वमसि' वेद का यह वाक्य जीव के लिये एक प्रादेशिक वाक्य है अर्थात् उसे एक स्थल पर ही कहा गया है। प्रणव को महावाक्य न मानकर शंकराचार्य ने तत्त्वमसि को महावाक्य कहा है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७५। (यद्यपि) जीव की चिन्मय सत्ता को समझाने के लिये 'तत्त्वमसि' वाक्य वेद के एक स्थान पर पाया जाता है, (तथापि) वह महावाक्य नहीं है।

अनुभाष्य

१७५। ईश्वर, जीव और जगत् के स्वरूप को विवर्त्तवाद का विषय बनाकर ओंकार रूपी नामाश्रय के स्थान पर 'तत्त्वमसि' महावाक्य की प्रवृत्ति है; किन्तु जीव की देह में आत्मबुद्धि होकर कहीं मिथ्या भ्रम को उदित ना कर दे, इसलिये वह वस्तुत: केवल भ्रान्त जीवों के उद्देश्य से कहा गया प्रादेशिक वाक्य है; पक्षान्तर में ब्रह्म स्वरूप वेदजीवन 'प्रणव' नाम का ही अनादर किया है।

सार्वभौम के अनेक पूर्वपक्ष और
प्रभु द्वारा उन सबका खण्डन—

एइमते कल्पित भाष्ये शत दोष दिल।
भट्टाचार्य पूर्वपक्ष अपार करिल॥१७६॥
वितण्डा, छल, निग्रहादि अनेक उठाइल।
सब खण्डि' प्रभु निज-मत से स्थापिल॥१७७॥

१७६-१७७। प० अनु—इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने शंकराचार्य के कल्पित भाष्य में सैंकड़ो दोष प्रदर्शित किये तथा श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने भी शंकराचार्य के 'शरीरक भाष्य' का पक्ष लेकर अनेक पूर्वपक्ष उठाये और वितण्डावाद, छल, निग्रहादि के द्वारा अनेक प्रकार की बातें उठायीं। परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन सबका खण्डन करके अपने मत की स्थापना की।

अनुभाष्य

१७७। वितण्डा,—अपने मत की स्थापना ना करके केवल दूसरे के मत का खण्डन। छल,—शब्द के वास्तविक तात्पर्य को, किसी अन्य काल्पनिक विषय के रूप में आरोप करके किया गया खण्डन। निग्रह,—दूसरे पक्ष की पराजय।

अनुभाष्य

१३१-१७६। आदि, प्रथम परिच्छेद १०६-१४७ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु द्वारा यथार्थ वेदमत की स्थापना—

भगवान्—'सम्बन्ध', भक्ति—'अभिधेय' हय।
प्रेमा—'प्रयोजन', वेदे तिन वस्तु कय॥१७८॥

१७८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"वेद तीन वस्तुओं को ही प्रतिपादित करते हैं—भगवान् ही 'सम्बन्ध' हैं, भक्ति ही 'अभिधेय' है और भगवद् प्रेम ही 'प्रयोजन' है।

इस सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन के निर्देश के अतिरिक्त सभी मतवाद ही काल्पनिक—

आर जे जे-किछु कहे, सकलेइ कल्पना।
स्वतःप्रमाण वेद-वाक्ये न करिये लक्षणा॥१७९॥

१७९। प० अनु०—और कोई यदि अन्य किसी प्रकार से वेदों की व्याख्या करने की चेष्टा करता है, तो वह उसकी कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्वतः प्रमाण स्वरूप वेद वाक्य में लक्षणावृत्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अनुभाष्य

१७९। मायाबद्ध भाव से अतीत निर्मल जीव ही भगवद् भक्त है; उसका सम्बन्ध—भगवान्, अभिधेय—भक्ति एवं प्रयोजन—प्रेमा—यही वेद शास्त्र में कहा गया है। किन्तु किसी-किसी मतवाद में देखा जाता है, जीव का सम्बन्ध—निःशक्तिक ब्रह्म, अभिधेय—ज्ञान वैराग्य, प्रयोजन—मुक्ति; यह बद्धजीव की कल्पना-मात्र है। वेद स्वयं ही प्रमाण है; उसमें 'लक्षणा' का प्रयोग करना कल्पना करना होता है।

ईश्वर के आदेश से शंकर द्वारा असुर-मोहन—

आचार्येर दोष नाहि, ईश्वर-आज्ञा हैल।
अतएव कल्पना करि' नास्तिक-शास्त्र कैल॥१८०॥

१८०। प० अनु०—वास्तव में श्रीशंकराचार्य का दोष नहीं है क्योंकि उन्होंने तो केवल भगवान् की आज्ञा का ही पालन किया है। इसलिए उन्होंने अपनी कल्पना के अनुसार नास्तिक शास्त्रों की रचना की है।

अनुभाष्य

१८०। कूर्मपुराण के पूर्वभाग में १६/११५-११७ संख्या में श्रीभगवद् वाक्य—"तस्माद् हि वेदवाह्यानां रक्षणार्थाय पापिनाम्। विमोहनाय शास्त्राणि करिष्यसि वृषधवज॥ एवं सञ्चोदितो रुद्रो माधवेनासुरारिणा। चकार मोह शास्त्राणि केशवोऽपि शिवे स्थितः॥ कापालं नाकुलं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमम्। पाञ्चरात्र-पाशुपतं तथान्यानि सहस्त्रशः॥"

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में सहस्त्रनाम का वाक्य (६२/३१)—

स्वागमैः कल्पितैस्तृञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु।
मां च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा॥१८१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१८१। भगवान् ने श्रीमहादेव को कहा,—कल्पित स्वागम (स्वयं द्वारा रचित आगम) द्वारा मनुष्यों को मुझसे विमुख करो; मुझे ऐसे गोपन करो, जिससे बहिर्मुख-जीवों की जीवबुद्धि रूपी कार्य से विरक्ति (वैराग्य) उत्पन्न न हो।

अनुभाष्य

१८१। हे शिव, त्वं कल्पितैः (सत्याद्भ्रष्टैः मिथ्या-निर्मितैः) स्वागमैः (निजतन्त्रादिकैः) जनान् (जड़ विषयर-तान् लोकान्) मद्विमुखान् (हरिजनविमुखान् कर्म-ज्ञान-निरतान्) कुरु; मां गोपय च, येन (भगवद्-गोपनकार्येण) उत्तरोत्तरा एषा सृष्टिः (संसार-प्रवृत्तिः) स्यात्।

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड (२५/७) में—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते।
मयैव विहितं देवि कलौ ब्राह्मण-मूर्तिना॥१८२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१८२। महादेव ने कहा,—मैं कलियुग में ब्राह्मण मूर्त्ति धारण करके असत् शास्त्र द्वारा मायावाद रूपी प्रच्छन्न बौद्धमत का विधान करूँगा।

अनुभाष्य

१८२। मूल रूप से देहात्म बुद्धि होने के कारण केवल शौक्र-विचार की प्रबलता वशतः संसार भोग प्रवृत्ति के समक्ष शुद्ध भक्ति गुप्त रहती है।

मायावादम् (ईश्वर-जीव-विश्व-स्वरूपत्रयं माया कल्पित-मिथ्या-विकार मात्रं ब्रह्मणः भिन्नमिति विचार परम्) असच्छास्त्रं (नित्य-भगवद्बहिर्मुखकर्मज्ञानपरम् अनित्योपदेशमयं ग्रन्थ) प्रच्छन्नं (कपट-वेदविचारपरं-श्रौतपथविरुद्ध) बौद्धं (नास्तिक बौद्धमतानुगतम्) उच्यते। हे देवि, मया ब्राह्मण मूर्तिना (मालवरदेशोद्भूतेन शङ्करा-ख्येन देहेन) कलौ विवाद युगारम्भे मायावादमतम् एव) विहितं (स्थापितम्)।

विलासहीन केवल चिद् साहित्य वाद और चिद् राहित्य वाद, दोनों ही जागतिक विचार से उत्पन्न मनोधर्म के अन्तर्गत है।

प्रभु की व्याख्या सुनकर भट्टाचार्य विस्मित—

शुनि' भट्टाचार्य हैल परम विस्मित।
मुखे ना निःसरे वाणी, हइला स्तम्भित॥१८३॥

१८३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के वचनों को सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य बहुत विस्मित हुये। उनके मुख से वाणी नहीं निकल रही थी और वे स्तम्भित से हो गये।

कृष्णभक्ति ही जीव का परम पुरुषार्थ—

प्रभु कहे,—भट्टाचार्य, ना कर विस्मय।
भगवाने भक्ति—परम-पुरुषार्थ हय॥१८४॥

१८४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"सार्वभौम भट्टाचार्य! आश्चर्यचकित मत होओ। भगवान् के प्रति की जाने वाली भक्ति ही परम पुरुषार्थ है।

दिव्यसूरिगण भी कृष्ण चरणों के प्रति आकृष्ट—

'आत्माराम' पर्यन्त करे ईश्वर भजन।
ऐछे अचिन्त्य भगवानेर गुणगण॥१८५॥

१८५। प० अनु—भगवान् के गुण इतने अलौकिक हैं कि आत्माराम अर्थात् आत्मा में रमण करने वाले मुक्त पुरुष भी भगवान् का भजन करते हैं।

श्रीमद्भागवत (१/७/१०)—

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥१८६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१८६। आत्मा में ही जिनकी रति हैं, ऐसे वासना रूपी ग्रन्थियों से शून्य मुनिगण भी बृहद्कर्मा श्रीकृष्ण के प्रति अहैतुकी भक्ति करते हैं; क्योंकि, जगत् के चित का हरण करनेवाले हरि का एक ऐसा ही (अद्भुत) गुण है।

अनुभाष्य

१८६। स्वभावतः ब्रह्मानन्द में निमग्न परमहंस श्रीशुकदेव ने किसलिये कृष्ण-नाम-रूप-गुण-लीला और कथा से परिपूर्ण श्रीमद्भागवत का अभ्यास, किया—शौनक आदि ऋषियों के इस प्रश्न के उत्तर में श्रीसूतजी की उक्ति—

आत्मारामाः (आत्मनि भगवति रमन्ते ये ते कृष्ण-क्रीड़नशीलाः) मुनयः (भोगपर-जड़-विषय-रहिताः) निर्ग्रन्थाः (हृदयजकाम ग्रन्थि हीनाः ब्रह्मभूताः) अपि उरुक्रमे (अजिते कृष्णेन) अहैतुकीम् (अन्याभिलाषशून्यं कर्मज्ञानाद्यनावृत्तां शुद्धां कृष्णानुशीलनमयीं) भक्तिं (सेवा) कुर्वन्ति। हरिः ईथम्भूतगुणः (मुक्तामुक्त-सर्वास्थजीवा-कर्षण-धर्मयुतः)। (अलौकिक-गुणाधारः हरिर्मायावाद निरतानां जनानां तउन्मतवादात् मोचयित्वा कृपया तेभ्यः स्वचरणं प्रयच्छति)।

सार्वभौम की श्लोक की व्याख्या सुनने की इच्छा—

शुनि' भट्टाचार्य कहे,—'शुन, महाशय।
एइ श्लोकेर अर्थ शुनिते वाञ्छा हय॥'१८७॥

१८७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के मुख से उपरोक्त श्लोक को सुनकर श्रीभट्टाचार्य ने उनसे कहा—"हे महाशय! इस श्लोक के अर्थ सुनने की मेरी बहुत इच्छा हो रही है।"

प्रभु के अनुरोध से सार्वभौम के द्वारा व्याख्या करते समय अपने पाण्डित्य का प्रकाश—

प्रभु कहे,—'तुमि कि अर्थ कर, ताहा शुनि'।
पाछे आमि करिब अर्थ, जेबा किछु जानि॥१८८॥
शुनि' भट्टाचार्य श्लोक करिल व्याख्यान।
तर्कशास्त्र-मत उठाय विविध विधान॥१८९॥

१८८-१८९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"आप इस श्लोक का क्या अर्थ करते हैं पहले मैं उसे सुनना चाहता हूँ और बाद में मैं जो कुछ भी जानता हूँ उसके अनुसार अर्थ करूँगा।" यह सुनकर श्रीभट्टाचार्य ने 'आत्माराम श्लोक' की व्याख्या करनी आरम्भ की तथा तर्कशास्त्र के मतानुसार उन्होंने अनेक प्रकार के अर्थों की व्याख्या की।

सार्वभौम के द्वारा यथासम्भव नौ प्रकार की व्याख्या—

नवविध अर्थ कैल शास्त्रमत लञा।
शुनि' प्रभु कहे किछु ईषत हासिया॥१९०॥

१९०। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने शास्त्रों के विभिन्न मतानुसार 'आत्माराम श्लोक' के नौ प्रकार के अर्थ किये। जिसे सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कुछ हँसते हुये कहा—

प्रभु का मानद धर्म—सार्वभौम की प्रशंसा—

'भट्टाचार्य', जानि—तुमि साक्षात् बृहस्पति।
शास्त्रव्याख्या करिते ऐछे कारो नाहि शक्ति॥१९१॥
किन्तु तुमि अर्थ कैले पाण्डित्य-प्रतिभाय।
इहा वइ श्लोकेर आछे आरो अभिप्राय॥"१९२॥

१९१-१९२। प० अनु०—'भट्टाचार्य! आप तो साक्षात् देवगुरु बृहस्पति हैं। शास्त्रों की ऐसी व्याख्या करने की शक्ति इस जगत् में और किसी में नहीं है। किन्तु आपने पाण्डित्य प्रतिभा से जो अर्थ प्रकाशित किया है, उसके अतिरिक्त इस श्लोक के और भी अनेक अर्थ हैं।"

भट्टाचार्य की प्रार्थना से प्रभु की अपनी स्वतन्त्र व्याख्या—

भट्टाचार्य प्रार्थनाते प्रभु व्याख्या कैल।
ताँर नव अर्थ-मध्ये एक ना छुँइल॥१९३॥

१९३। प० अनु—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के प्रार्थना करने पर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस श्लोक की व्याख्या की, परन्तु भट्टाचार्य के किये हुये नौ प्रकार के अर्थों में से श्रीचैतन्य महाप्रभु ने किसी एक अर्थ को स्पर्श तक भी नहीं किया।

अनुभाष्य

१९३-१९८। मध्य चौबीसवें परिच्छेद की ३-३०८ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु के द्वारा अठारह प्रकार से व्याख्या—

आत्मारामाश्च-श्लोके 'एकादश' पद हय।
पृथक् पृथक् कैले पदेर अर्थ निश्चय॥१९४॥
तत्तत्पद-प्राधान्ये 'आत्माराम' मिलाञा।
अष्टादश अर्थ कैल अभिप्राय लञा॥१९५॥

१९४-१९५। प० अनु०—आत्मारामाश्च श्लोक में ग्यारह पद हैं, श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अलग-अलग करके एक-एक पद का अर्थ किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इन सभी पदों के साथ 'आत्माराम' पद को जोड़कर अठारह भिन्न-भिन्न अर्थों की व्याख्या की।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९४-१९५। श्लोक के ग्यारह शब्दों के ग्यारह अर्थ एवं श्लोक में 'मुनयः', 'निर्ग्रन्था', 'उरुक्रम', 'अहैतुकी', 'भक्ति', 'गुण' और 'हरि'—इन सात मुख्य पदों में 'आत्माराम' पद का योग करके सात अर्थ,—कुल मिलाकर अठारह अर्थ है।

अनुभाष्य

१९४। एकादशपद,—१) आत्मारामाः, २) च, ३) मुनयः, ४) निर्ग्रन्थाः, ५) अपि, ६) उरुक्रमे, ७) कुर्वन्ति, ८) अहैतुकीं, ९) भक्ति, १०) ईथम्भूत गुणः, ११) हरिः।

भगवान् की गुण शक्ति अचिन्त्य और
आत्माराम को भी आकर्षित करने वाली—

भगवान्, ताँर शक्ति, ताँर गुणगण।
अचिन्त्य प्रभाव तिनेर ना जाय कथन॥१९६॥
अन्य जत साध्य-साधन करि' आच्छादन।
एइ तिने हरे सिद्ध-साधकेर मन॥१९७॥
सनकादि-शुकदेव ताहाते प्रमाण।
एइमत नाना अर्थ करेन व्याख्यान॥१९८॥

१९६-१९८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—श्रीभगवान्, उनकी शक्ति तथा उनके गुणगान—इन तीनों का ही प्रभाव अचिन्त्य है तथा उसे सम्पूर्ण रूप से वर्णन नहीं किया जा सकता। अन्यान्य समस्त साध्य-साधन आदि क्रिया-कलापों को आच्छादन करके ये तीन तत्त्व, सिद्ध-साधकों के भी मन का हरण करते हैं। श्रीसनकादि और श्रीशुकदेव गोस्वामी ही इसका प्रमाण हैं।" इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अनेक प्रकार के अर्थों की व्याख्या की।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९७। तिने (तीन),—भगवान्, भगवद् शक्ति और भगवद् गुण।

अनुभाष्य

१९७। ज्ञानी, कर्मी और अन्याभिलाषियों के दलों में जितने प्रकार के सम्बन्ध और अभिधेय कल्पित होते हैं, उनको आच्छादित करके ये अचिन्त्य प्रभाव वाले भगवान्, उनकी शक्ति और उनके गुण—यह तीन वस्तुएँ साधक जीव और सिद्धों के मन का हरण करते हैं।

१९८। सनक आदि और शुकदेव प्रभृति मुक्त मनीषियों का कृष्ण के प्रति आकर्षित होना ही इसका उदाहरण है। मध्य, चौबीसवें परिच्छेद की ११२-११६—"मुक्ता-अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते।" "जन्म हैते शुक-शनकादि 'ब्रह्ममय'। कृष्णगुणाकृष्ट हइया कृष्णेरे भजय॥ सनकाद्येर कृष्ण कृपाय सौरभे हरे मन। गुणाकृष्ट हइया करे निर्मल भजन॥ व्यास-कृपाय शुकदेवेर लीलादि-स्मरण। कृष्ण गुणाकृष्ट हइया करेन भजन॥" मध्य, सप्तदश परिच्छेद १३९—"ब्रह्मानन्द हइते पूर्णानन्द कृष्णगुण। अतएव आकर्षये आत्मारामेर मन॥" इस प्रसङ्ग में भाः ३/१५/४३ द्रष्टव्य है।

सार्वभौम की आत्मग्लानि—

शुनि' भट्टाचार्येर मने हैल चमत्कार।
प्रभुके कृष्ण जानि' करे आपना धिक्कार॥१९९॥
'इँहो त' साक्षात् कृष्ण,—मुञि ना जानिया।
महा-अपराध कैनु गर्वित हइया॥'२००॥

१९९-२००। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के मुख से 'आत्माराम श्लोक की व्याख्या सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य का मन चमत्करित हो उठा। वे समझ गये कि श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं कृष्ण हैं। इसलिए वे अब स्वयं को धिक्कार देते हुए कहने लगे—'इन्हें साक्षात् श्रीकृष्ण नहीं जानने के कारण—मैंने गर्वित होकर महा अपराध किया है।'

सार्वभौम की प्रभु के चरणों में शरणागति
और सार्वभौम पर प्रभु की कृपा—

आत्मनिन्दा करि' लैल प्रभुर शरण।
कृपा करिवारे तबे प्रभुर हैल मन॥२०१॥

२०१। प० अनु०—तब श्रीसार्वभौम ने अपनी निन्दा करते हुये श्रीचैतन्य महाप्रभु की शरण ग्रहण की और श्रीमन् महाप्रभु का मन भी श्रीसार्वभौम पर कृपा करने के लिये उत्कण्ठित हो गया।

प्रभु द्वारा पहले चतुर्भुज रूप और
बाद में द्विभुज-रूप का प्रदर्शन—

निज-रूप प्रभु ताँरे कराइल दर्शन।
चतुर्भुज-रूप प्रभु हइला तखन॥२०२॥

देखाइल ताँरे आगे चतुर्भुज-रूप।
पाछे श्याम-वंशीमुख स्वकीय स्वरूप॥२०३॥

२०२-२०३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पहले श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को अपना चतुर्भुज रूप दिखाया तथा बाद में अपना श्यामसुन्दर, वंशीधारी श्रीकृष्ण स्वरूप प्रदर्शित किया।

सार्वभौम द्वारा स्तव—

देखि' सार्वभौम दण्डवत् करि' पड़ि'।
पुनः उठि' स्तुति करे दुइ कर जुड़ि'॥२०४॥

२०४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के रूप का दर्शन कर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने पहले दण्डवत् प्रणाम किया तथा पुनः उठकर हाथ जोड़कर उनकी स्तव-स्तुति करने लगे।

प्रभु की कृपा से सार्वभौम के चित्त में तत्त्व की स्फूर्त्ति—

प्रभुर-कृपाय ताँर स्फुरिल सब तत्त्व।
नाम-प्रेमदान-आदि वर्णेन महत्व॥२०५॥

२०५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा से श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के हृदय में समस्त तत्त्व स्फुरित हो गये और श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य भी भगवान् के नाम की महिमा तथा भगवद्-प्रेमदान आदि की महिमा का वर्णन करने लगे।

अतिशीघ्र रचना करने की शक्ति—

शत श्लोक कैल एक दण्ड ना जाइते।
बृहस्पति तैछे श्लोक ना पारे करिते॥२०६॥

२०६। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने एक दण्ड (चौबीस मिनट) से भी कम समय में ही सौ श्लोकों के द्वारा श्रीचैतन्य महाप्रभु की स्तुति की। देवगुरु बृहस्पति भी इतने कम समय में इतने श्लोकों की रचना नहीं कर सकते।

अनुभाष्य

२०६। श्रील सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा रचित 'सुश्लोक-शतक' ग्रन्थ।

प्रभु के आलिङ्गन से सार्वभौम में सात्त्विकभाव—

शुनि' सुखे प्रभु ताँरे कैल आलिङ्गन।
भट्टाचार्य प्रेमावेशे हैल अचेतन॥२०७॥
अश्रु, स्तम्भ, पुलक, स्वेद, कम्प थरहरि।
नाचे, गाय, कान्दे, पड़े प्रभु-पद धरि'॥२०८॥

२०७-२०८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के द्वारा की गयी स्तुति को सुनकर श्रीसार्वभौम को आनन्दपूर्वक आलिङ्गन प्रदान किया। जिसके फलस्वरूप श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य प्रेमावेश में आविष्ट होकर अचेतन हो गये। उनके शरीर में अश्रु, स्तम्भ, पुलक, स्वेद, कम्प आदि अष्ट सात्त्विक भाव उमड़ने लगे तथा वे प्रेमानन्द में मग्न होकर कभी तो नाचने लगे, कभी गाने लगे, कभी रोने लगे तथा कभी श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों का आलिङ्गन करने के लिये भूमि पर गिर पड़ते। कभी नाचने, गाने और कभी रोने लगे।

गोपीनाथ की प्रसन्नता—

देखि' गोपीनाथाचार्य हरषित-मन।
भट्टाचार्येर नृत्य देखि' हासे प्रभुर गण॥२०९॥

२०९। प० अनु०—इस दृश्य को देखकर श्रीगोपी-नाथाचार्य का मन अत्यन्त हर्षित हो उठा एवं श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के नृत्य को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्तगण भी हँसने लगे।

सार्वभौम की दशा का दर्शन करने से गोपीनाथ के द्वारा प्रभु की महिमा का कीर्त्तन—

गोपीनाथाचार्य कहे महाप्रभुर प्रति।
'सेइ भट्टाचार्येर तुमि कैले एइ गति॥' २१०॥

२१०। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के नृत्य को देखकर श्रीगोपीनाथाचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से कहा—"प्रभु! आपने अपनी कृपा के द्वारा सार्वभौम भट्टाचार्य की ऐसी स्थिति कर दी।"

प्रभु के द्वारा भक्त का सम्मान—

प्रभु कहे,—'तुमि भक्त, तोमार सङ्ग हैते।
जगन्नाथ इँहारे कृपा कैल भालमते'॥२११॥

२११। प॰ अनु॰—यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीगोपीनाथाचार्य से कहा—"आप भक्त हैं, इसलिए आपके सङ्ग के कारण ही श्रीजगन्नाथ देव ने इन पर पूर्ण कृपा की है।"

प्रकृतिस्थ होकर भट्टाचार्य के द्वारा प्रभु की स्तुति—

तबे भट्टाचार्य प्रभु सुस्थिर करिल।
स्थिर हञा भट्टाचार्य बहु स्तुति कैल॥२१२॥
'जगत् निस्तारिले तुमि,—सेह अल्पकार्य।
आमा उद्धारिले तुमि,—ए शक्ति आश्चर्य॥२१३॥
तर्क-शास्त्र जड़ आमि, जैछे लौहपिण्ड।
आमा द्रवाइले तुमि, प्रताप प्रचण्ड॥'२१४॥

२१२-२१४। प॰ अनु॰—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को स्थिर किया। तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु की बहुत स्तुति करते हुए कहने लगे—"हे प्रभु! जगत् का उद्धार करना तो आपका छोटा-सा काम है परन्तु आपने जो मेरा उद्धार किया है यह वास्तव में आपकी आश्चर्यमय शक्ति का प्रदर्शन है। तर्क-शास्त्र के पाठ तथा उसकी आलोचना के कारण मेरा हृदय लोहे के पिण्ड की भाँति कठोर हो गया था, परन्तु आपने अपने प्रचण्ड प्रताप के द्वारा मेरे जैसे लौहपिण्ड हृदय को भी द्रवीभूत कर दिया है।"

प्रभु का अपने स्थान पर आगमन—

स्तुति शुनि' महाप्रभु निज-वासा आइला।
भट्टाचार्य आचार्य-द्वारे भिक्षा कराइला॥२१५॥

२१५। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य की स्तुति सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने वास स्थान पर लौट आये और श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीगोपीनाथाचार्य के द्वारा श्रीमन् महाप्रभु को निमन्त्रण कराके अपने घर में श्रीमन् महाप्रभु को भोजन करवाया।

एक दिन प्रातःकाल प्रभु द्वारा प्रसाद अन्न का संग्रह—

आर दिन प्रभु गेला जगन्नाथ-दरशने।
दर्शन करिला जगन्नाथ-शय्योत्थाने॥२१६॥
पुजारी आनिया माला-प्रसादान्न दिला।
प्रसादान्न-माला पाञा प्रभु हर्ष हैला॥२१७॥

२१६-२१७। प॰ अनु॰—अगले दिन श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीजगन्नाथ के दर्शन करने गये। वहाँ उन्होंने श्रीजगन्नाथ देव के शय्या से उठने के अर्थात् मङ्गल आरती के दर्शन किये। तब पुजारी ने श्रीजगन्नाथ देव की प्रसादी-माला और प्रसाद लाकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को दिया और प्रभु भी प्रसाद एवं माला को प्राप्त करके अत्यन्त प्रसन्न हुए।

भट्टाचार्य के घर में आगमन—

सेइ प्रसादान्न-माला अञ्चले बाँधिया।
भट्टाचार्येर घरे आइला त्वरायुक्त हञा॥२१८॥

२१८। प॰ अनु॰—उसी प्रसाद और माला को अपने अञ्चल में बाँधकर श्रीचैतन्य महाप्रभु द्रुतगति से श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के घर गये।

भट्टाचार्य के द्वारा प्रातःकृत्य से पहले ही
प्रभु द्वारा दिये गये प्रसाद का सम्मान—

अरुणोदय-काले हैल प्रभुर आगमन।
सेइकाले भट्टाचार्येर हैल जागरण॥२१९॥
'कृष्ण' 'कृष्ण' स्फुट कहि' भट्टाचार्य जागिला।
कृष्णनाम शुनि' प्रभुर आनन्द बाड़िला॥२२०॥
बाहिरे प्रभुर तेंहो पाइल दरशन।
आस्ते-व्यस्ते आसि' कैल चरण वन्दन॥२२१॥
बसिते आसन दिया दुँहे ते' बसिला।
प्रसादान्न खुलि' प्रभु ताँर हाते दिला॥२२२॥
प्रसादान्न पाञा भट्टाचार्येर आनन्द हैल।
स्नान, सन्ध्या, दन्तधावन यद्यपि ना कैल॥२२३॥

२१९-२२३। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु अरुणोदय के समय ही श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के घर आ

गये, उस समय श्रीभट्टाचार्य अभी नींद से जागे ही थे और जागते हुये वे 'कृष्ण' 'कृष्ण' उच्चारण कर रहे थे। उनके मुख से 'कृष्ण' नाम सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का आनन्द बहुत बढ़ गया। जैसे-तैसे बाहर आकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु का दर्शन किया और व्यस्त होकर उनके श्रीचरणकमलों की वन्दना की। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को बैठने के लिये आसन दिया तथा वे स्वयं भी बैठ गये। तब श्रीमन् महाप्रभु ने अपने आञ्चल को खोलकर उसमें से श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के हाथ में प्रसाद दिया। यद्यपि अभी तक श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने स्नान, सन्ध्या तथा दन्त धावन आदि कुछ भी नहीं किया था, परन्तु तब भी श्रीजगन्नाथ के प्रसाद को पाकर श्रीभट्टाचार्य बहुत आनन्दित हुए।

अनुभाष्य

२१९। अरुणोदय-काल,—सूर्य उदय होने से पहले के चारदण्ड वाले समय को 'अरुणोदय-काल' कहते हैं।

कृष्णचैतन्य प्रभु की कृपा से जाड्य का नाश—

चैतन्य-प्रसादे मनेर सब जाड्य गेल।
एइ श्लोक पड़ि' अन्न भक्षण करिल॥२२४॥

२२४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा से श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के मन की जड़ता दूर हो गयी तथा वे निम्नोक्त श्लोक का उच्चारण करते-करते प्रसाद ग्रहण करने लगे।

अप्राकृत-प्रसाद के सम्मान में कालाकाल का विचार नहीं—पद्मपुराण—

शुष्कं पर्युषितं वापि नीतं वा दूरदेशतः।
प्राप्तिमात्रेण भोक्तव्यं नात्र कालविचारणा॥२२५॥
न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा।
प्राप्तमन्नं द्रुतं शिष्टैर्भोक्तव्यं हरिरब्रवीत॥२२६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२२५-२२६। महाप्रसाद भले ही सूखा हुआ हो, भले ही सड़ गया हो अथवा किसी दूर स्थित स्थान से ही लाया गया हो, प्राप्त करने के साथ-ही-साथ भक्षण करने की विधि है; इसमें समय का विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीकृष्ण के अन्न प्रसाद की प्राप्ति मात्र होने पर ही सज्जन व्यक्ति भोजन करेंगे, इसमें देश और काल कोई नियम नहीं है;—भगवान् ने ही ऐसी आज्ञा दी है।

अनुभाष्य

२२५। शुष्कं (रसरहित) पर्युषितं (पूर्वपूर्वदिनपक्व) दूरदेशतः (सुदूरविदेशात्) नीतम् (आनीत) वा कृष्ण प्रसादान्नं प्राप्तिमात्रेण (लाभ मात्रेण) भोक्तव्यं (सादरेण गृहीतव्यं सेव्य) अत्र (प्रसाद ग्रहण विषये) काल विचारणा न (नास्ति)।

२२६। तत्र (प्रसाद ग्रहण विषये) देशनियमः न, तथा काल नियमः न, प्राप्तमन्नं (कृष्णप्रसादान्न) द्रुतं (तत्क्षण मेव) शिष्टैः (वैष्णवेः) भोक्तव्यं (प्रसादार्चने स्थान-काल-व्यवधानादिकं न ग्राह्यम्) इति हरिः अब्रवीत्।

सार्वभौम द्वारा प्रसाद को सम्मान करते हुये देखकर प्रभु को परम आनन्द की प्राप्ति और प्रेमपूर्वक दोनों का नृत्य—

देखिया आनन्द हैल महाप्रभुर मन।
प्रेमाविष्ट हञा प्रभु कैला आलिङ्गन॥२२७॥
दुइजने धरि' दुँहे करेन नर्तन।
प्रभु-भृत्य दुँहा स्पर्शे, दोंहार फूले मन॥२२८॥
स्वेद-कम्प-अश्रु दुँहे आनन्दे भासिला।
प्रेमाविष्ट हञा प्रभु कहिते लागिला॥२२९॥

२२७-२२९। प० अनु०—सार्वभौम भट्टाचार्य की प्रसाद में इस प्रकार की श्रद्धा को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का मन आनन्दित हो गया और उन्होंने प्रेमाविष्ट होकर सार्वभौम भट्टाचार्य का आलिङ्गन किया। दोनों ही

दोनों को पकड़कर नृत्य करने लगे तथा प्रभु और दास—दोनों ही एक-दूसरे को स्पर्श करके प्रफुल्लित होने लगे। दोनों के अङ्गों में स्वेद, कम्प, अश्रु आदि आनन्द के विकार समूह दिखायी देने लगे तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रेमाविष्ट होकर कहने लगे—

सार्वभौम के उद्धार से
प्रभु का आत्म-गौरव—

"आजि मुञि अनायासे जिनिनु त्रिभुवन।
आजि मुञि करिनु वैकुण्ठ आरोहण॥२३०॥
आजि मोर पूर्ण हैल सर्व अभिलाष।
सार्वभौमेर हैल महाप्रसादे विश्वास॥२३१॥

२३०-२३१। प० अनु०—"आज मैंने अनायास ही त्रिभुवन पर विजय प्राप्त कर ली है तथा आज मैंने वैकुण्ठ में आरोहण किया है। आज मेरी सभी अभिलाषाएँ पूर्ण हो गयी हैं क्योंकि आज मैंने देखा कि सार्वभौम भट्टाचार्य को महाप्रसाद में विश्वास उत्पन्न हुआ है।"

सार्वभौम को प्रभु का आर्शीवाद—

आजि तुमि निष्कपटे हैला कृष्णाश्रय।
कृष्ण आजि निष्कपटे तोमा हैइया सदय॥२३२॥
आजि से खण्डिल तोमार देहादि-बन्धन।
आजि तुमि छिन्न कैले मायार बन्धन॥२३३॥
आजि कृष्णप्राप्ति-योग्य हैल तोमार मन।
वेद-धर्म लङ्घि' कैले प्रसाद भक्षण॥"२३४॥

२३२-२३४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"आज आपने निष्कपट होकर श्रीकृष्ण का आश्रय लिया है और श्रीकृष्ण ने भी निष्कपट होकर आप पर कृपा की है। आज श्रीकृष्ण ने आपको देहादि बन्धन से मुक्त कर दिया है एवं आज आपने माया के बन्धन को भी तोड़ दिया है। आज आपका मन श्रीकृष्ण को प्राप्त करने के योग्य हुआ है क्योंकि आज आपने वेद-धर्म का उल्लंघन करके प्रसाद भक्षण किया है।

कृष्ण के प्रति निष्कपट शरणागत
भक्तों की ही माया से मुक्ति—
श्रीमद्भागवत (२/७/४२)—

येषां स एष भगवान् दययेदनन्तः
सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां
नेषां ममाहमितिधीः श्वशृगालभक्ष्ये॥२३५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२३५। सब प्रकार से उनके श्रीचरणकमलों का आश्रय लेने से अनन्त स्वरूप भगवान् जिनके प्रति अकपट दया अर्थात् कपटरहित दया करते हैं, वही इस दुष्पार दैवी माया को पार करते हैं। सियाल और कुत्ते के द्वारा भक्ष्य इस प्राकृत (जड़) शरीर में जिनकी 'मैं' और 'मेरे' की बुद्धि है, उन पर भगवान् दया नहीं करते।

अनुभाष्य

२३५। श्रीनारदजी के निकट भगवान् के लीलावतार समूह के कर्म, प्रयोजन और विभूति का वर्णन करके ब्रह्मा जी भगवान् की माया और भक्तों के माहात्म्य को बता रहे हैं—

स एष अनन्तः भगवान् येषां (एकान्तप्रपन्नानां) दययेत् (अनुकम्पां कुर्यात्) ते यदि निर्व्यलीकं (निष्कपटं यथा स्यात् तथा) सर्वात्मना (सर्वतोभावेन, न तु अंशेन) आश्रितपदः (कृष्णपादैकप्रपन्नाः), श्व-शृंगाल-भक्ष्ये (पशु भोजन योगय देहे) अहं-मम इति-धीः (बुद्धिः) न (नास्ति)।

भट्टाचार्य द्वारा जड़
अभिमान का त्याग—

एत कहि' महाप्रभु आइला निज-स्थाने।
सेइ हैते भट्टाचार्येर खण्डिल अभिमाने॥२३६॥

२३६। प० अनु०—इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने वास स्थान पर आ गये और उसी दिन से ही श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य का अभिमान भी दूर हो गया।

सार्वभौम का सब प्रकार से भक्ति मार्ग का आश्रय—

चैतन्य-चरण बिना नाहि जाने आन।
भक्ति बिना शास्त्रेर अन्य ना करे व्याख्यान॥२३७॥

२३७। प० अनु०—तब से श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों के बिना और कुछ नहीं जानते थे और तब से भक्ति के अतिरिक्त शास्त्रों की अन्य प्रकार से व्याख्या भी नहीं करते थे।

गोपीनाथ का प्रसन्नता-पूर्वक नृत्य—

गोपीनाथाचार्य ताँर वैष्णवता देखिया।
'हरि' 'हरि' बलि' नाचे हाते तालि दिया॥२३८॥

२३८। प० अनु०—श्रीगोपीनाथाचार्य श्रीसार्वभौम की वैष्णवता को देखकर 'हरि' 'हरि' बोलकर ताली बजाते हुये नाचने लगे।

भट्टाचार्य की जगन्नाथ की अपेक्षा
प्रभु के प्रति अधिक प्रीति—

आर दिन भट्टाचार्य आइला दर्शने।
जगन्नाथ ना देखि' आइला प्रभु-स्थाने॥२३९॥

२३९। प० अनु०—अगले दिन श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीजगन्नाथ देव के पहले दर्शन न करके श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शन हेतु उनके वास स्थान पर आ गये।

सार्वभौम की दीनता—

दण्डवत् करि' कैल बहुविध स्तुति।
दैन्य करि' कहे निज-पूर्वदुर्मति॥२४०॥

२४०। प० अनु०—सार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को दण्डवत कर उनकी बहुत प्रकार से स्तुति की और अत्यधिक दीनता पूर्वक अपनी पहले की दुर्मति की बात कही।

सार्वभौम के द्वारा पूछने पर कि सर्वश्रेष्ठ साधन क्या है?
प्रभु द्वारा नामसङ्कीर्त्तन की महिमा का वर्णन—

भक्तिसाधन-श्रेष्ठ शुनिते हैल मन।
प्रभु उपदेश कैल नाम-संकीर्तन॥२४१॥

२४१। प० अनु०—जब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से भक्ति-साधन में सर्वश्रेष्ठ साधन को जानने की इच्छा प्रकट की तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनको सर्वश्रेष्ठ साधन श्रीनाम-संकीर्त्तन का उपदेश प्रदान किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

२४१। चौंसठ प्रकार की साधन भक्ति में से कौन सा अङ्ग सर्वश्रेष्ठ है—सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा ऐसा प्रश्न करने पर महाप्रभु ने कहा,—नाम सङ्कीर्त्तन ही एकमात्र सर्वश्रेष्ठ है।

वृहदनारदीय-पुराण (३८/१२६)—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥२४२॥

२४२। प० अनु०—कलियुग में भगवान् के नाम कीर्त्तन को छोड़कर और अन्य कोई गति नहीं है, और अन्य कोई गति नहीं है, और अन्य कोई गति नहीं है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२४२। "कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेत्रायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥"

अनुभाष्य

२४२। आदि, सप्तम परिच्छेद ७६ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु के द्वारा श्लोक की व्याख्या
को सुनकर भट्टाचार्य विस्मित—

एइ श्लोकेर अर्थ शुनाइल करिया विस्तार।
शुनि' भट्टाचार्य-मने हैल चमत्कार॥२४३॥

२४३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उपरोक्त श्लोक का अर्थ विस्तार पूर्वक सुनाया, जिसे सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य का मन चमत्करित हो गया।

गोपीनाथ की भविष्यवाणी की सफलता—

गोपीनाथाचार्य बले,—"आमि पूर्वे जे कहिल।
शुन, भट्टाचार्य, तोमार सेइ त' हइल॥"२४४॥

२४४। प० अनु०—तब श्रीगोपीनाथाचार्य श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य से कहने लगे—"भट्टाचार्य! मैंने तुम्हें पहले जो कहा था, अब तुम्हारे साथ वही हुआ।"

गोपीनाथ के साथ सम्बन्ध होने के कारण सार्वभौम को प्रभु की कृपा की प्राप्ति—

भट्टाचार्य कहे ताँरे करि' नमस्कारे।
"तोमार सम्बन्धे प्रभु कृपा कैल मोरे॥२४५॥
तुमि—महा-भागवत, आमि—तर्क-अन्धे।
प्रभु कृपा कैल मोरे तोमार सम्बन्धे॥"२४६॥

२४५-२४६। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीगोपीनाथाचार्य को प्रणाम करने के उपरान्त कहा—"आपके साथ सम्बन्ध होने के कारण ही श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मुझ पर कृपा की है। आप महाभागवत हैं और मैं तर्क-परायण अन्धा। आपके साथ सम्बन्ध के कारण ही श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मुझ पर इस प्रकार की कृपा की है।"

प्रभु द्वारा भट्टाचार्य को जगन्नाथ के दर्शन की अनुमति प्रदान—

विनय शुनि' तुष्टये प्रभु कैल आलिङ्गन।
कहिल,—"याञा करह ईश्वर दरशन॥"२४७॥

२४७। प० अनु०—सार्वभौम भट्टाचार्य के ऐसे दीनतापूर्वक वचनों को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु अत्यधिक सन्तुष्ट हुए तथा उन्हें आलिङ्गन कर कहने लगे—"जाओ जाकर मन्दिर में श्रीजगन्नाथ देव का दर्शन करो।"

घर आकर प्रसाद और प्रभु की महिमा सूचक श्लोक-प्रेरण—

जगदानन्द-दामोदर,—दुइ सङ्गे लञा।
घरे आइल भट्टाचार्य जगन्नाथ देखिया॥२४८॥
उत्तम उत्तम प्रसाद बहुत आनिला।
निजविप्र-हाते दुइ जना सङ्गे दिला॥२४९॥

२४८-२४९। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ देव का दर्शन करने के उपरान्त सार्वभौम भट्टाचार्य श्रीजगदानन्द और श्रीदामोदर को साथ लेकर अपने घर लौट आये। वे अपने साथ उत्तम उत्तम प्रसाद को ले आये और अपने ब्राह्मण सेवक के हाथ उन्होंने उस प्रसाद को श्रीजगदानन्द तथा श्रीदामोदर के साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु के लिये भेज दिया।

निज-कृत दुइ श्लोक लिखिया तालपाते।
'प्रभुके दिह' बलि' दिल जगदानन्द-हाते॥२५०॥

२५०। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने स्वरचित दो श्लोकों को तालपत्र पर लिखकर श्रीजगदानन्द पण्डित के हाथ में देकर कहा, "इसे श्रीचैतन्य महाप्रभु को दे देना।"

प्रभु के द्वारा पत्र की प्राप्ति से पहले ही मुकुन्द द्वारा दोनों श्लोकों की नकल द्वारा रक्षा—

प्रभु-स्थाने आइला दुँहे प्रसाद-पत्री लञा।
मुकुन्द दत्त पत्री निल ताँर हाते पाञा॥२५१॥

२५१। प० अनु०—श्रीजगदानन्द और श्रीदामोदर दोनों ही प्रसाद और श्रीसार्वभौम की पत्री को लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के पास आ गये और उनके वहाँ पहुँचने पर श्रीमुकुन्द दत्त ने श्रीजगदानन्द के हाथ से ताल पत्र ले लिया।

जगदानन्द का प्रभु को भट्टाचार्य के श्लोक के साथ पत्र देना—

दुइ श्लोक बाहिर-भिते लिखिया राखिल।
तबे जगदानन्द पत्री प्रभुके लञा दिल॥२५२॥
प्रभु श्लोक पड़ि' पत्र छिण्डिया फेलिल।
भित्ये देखि' भक्त सब श्लोक कण्ठे कैल॥२५३॥

२५२-२५३। प० अनु०—श्रीमुकुन्द दत्त ने उन श्लोकों को बाहर दीवार पर लिख दिया और तब श्रीजगदानन्द ने जाकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को वह पत्री प्रदान की। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के द्वारा रचित श्लोकों को पढ़ने के साथ-ही पत्री को फाड़कर फेंक दिया। परन्तु भक्तों ने उन श्लोकों को दीवार पर देखकर कण्ठस्थ कर लिया। वे दो श्लोक इस प्रकार हैं—

ज्ञान-वैराग्य-भक्ति को वितरण करने वाले गौर को प्रणाम—
[श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक में ६अध्याय ७४ अंक में सार्वभौम भट्टाचार्य-कृत श्लोकद्वय]

वैराग्य-विद्या-निजभक्तियोग-
शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः।
श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी
कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये॥२५४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२५४। वैराग्य, विद्या और निजभक्तियोग की शिक्षा देने के लिये श्रीकृष्णचैतन्य रूपधारी एक सनातन पुरुष—सर्वदा कृपा समुद्र (हैं), मैं उनके प्रति प्रपन्न (शरणागत) होता हूँ।

अनुभाष्य

२५४। वैराग्यविद्यानिजभक्तियोगशिक्षार्थं (कृष्णेतरवस्तुविरक्तिपरेशानुभूति-निज नाम-रूप-गुणलीला-सेवन-योग्योपदेशार्थम्) एकः (अद्वितीयः) पुराणः (सनातनः) कृपाम्बुधिः (जड़ासक्तजनेष्वपि परमोत्तम मुक्त जनोचित-व्रजप्रेमदान रूपदयार्णवः) पुरुषः श्रीकृष्णचैतन्य-शरीरधारी (श्रीकृष्णचैतन्य एव शरीरं धर्त्तुं शीलमस्य सः); अहं तं प्रपद्ये (आश्रयामि)।

गुप्तभक्ति को व्यक्त करने वाले गौर के प्रति निष्ठा—

कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः
प्रादुष्कर्तुं कृष्णचैतन्यनामा।
आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे
गाढं गाढं लीयतां चित्तभृङ्गः॥२५५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२५५। काल के फेर से निजभक्तियोग को विनष्ट प्राय देखकर जो 'कृष्णचैतन्य' नामक पुरुष उसका पुनः प्रचार करने के लिये आविर्भूत हुए हैं, उनके श्रीचरण-कमलों में मेरा चित्त रूपी भवरा गाढ़ रूप से लीन हो जाये।

अनुभाष्य

२५५। कालात् (अन्याभिलाष कर्म ज्ञान जड़ासक्ति-प्राबल्यात् कालधर्म वशेन) नष्टं (लुप्त) निजं (कृष्ण-नामरूपगुणलीलामय) भक्तियोगं प्रादुष्कर्त्तुं (पुनः प्रकटयितु) कृष्णचैतन्यनामा (सन्) यः आविर्भूतः (प्रकाशितः); तस्य पादारविन्दे (चरणकमले) चित्तभृङ्गः (चञ्चल मनोभ्रमरः) गाढ़ं गाढ़ं लीयतां (निमज्जतु)।

दोनों श्लोकों के द्वारा सार्वभौम की महिमा का विस्तार—

एइ दुइ श्लोक—भक्तकण्ठे मणिहार।
सार्वभौमेर कीर्ति घोषे ढक्कावाद्याकार॥२५६॥

२५६। प० अनु—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा रचित दोनों श्लोक भक्तों के कण्ठ के मणिमय हार स्वरूप हैं। जिससे श्रीसार्वभौम की कीर्ति सब समय के लिये उच्च स्वर से घोषित होती रहेगी।

गौरगत प्राण सार्वभौम—

सार्वभौम हैला प्रभुर भक्त एकजन।
महाप्रभुर सेवा-बिना नाहि अन्य मन॥२५७॥
'श्रीकृष्णचैतन्य शचीसूत गुणधाम'।
एइ ध्यान, एइ जप, लय एइ नाम॥२५८॥

२५७-२५८। प० अनु०—अब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु के अनन्य भक्त बन गये तथा वे श्रीमन् महाप्रभु की सेवा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानते थे। शची माता के पुत्र, समस्त गुणों के आधार श्रीकृष्णचैतन्य का ही ध्यान, जप एवं नाम लेने लगे।

सार्वभौम के द्वारा प्रभु के निकट ब्रह्मस्तुति के एक श्लोक का पाठान्तर पूर्वक पाठ करना—

एकदिन सार्वभौम प्रभु-आगे आइला।
नमस्कार करि' श्लोक पड़िते लागिला॥२५९॥
भागवतेर 'ब्रह्मस्तवे'र श्लोक पड़िला।
श्लोक-शेषे दुइ अक्षर-पाठ फिराइला॥२६०॥

२५९-२६०। प० अनु०—एक दिन श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के समक्ष आकर प्रणाम

करने के उपरान्त श्रीमद्भागवत में वर्णित ब्रह्मा के द्वारा की गयी स्तुति का एक श्लोक उच्चारण करते समय उसके अन्तिम दो अक्षरों का पाठ बदल दिया।

श्रीमद्भागवत (१०/१४/८)—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत
यो भक्तिपदे स दायभाक्॥२६१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२६१। जो आपकी कृपा प्राप्ति की आशा से अपने कर्मों के मन्द फलों को भोग करते-करते मन, वाक्य और शरीर के द्वारा आपके प्रति भक्ति विधान करके जीवन यापन करते हैं, वे भक्तिपदे दायभाक् अर्थात् भक्तिपद को प्राप्त करते हैं। इस श्लोक को पाठ करते समय सार्वभौम ने "मुक्तिपदे स दायभाक" के स्थान पर "भक्तिपदे स दायभाक्" ऐसा उच्चारण किया था।

अनुभाष्य

२६१। श्रीकृष्ण द्वारा ब्रह्मा का गर्व चूर्ण-विचूर्ण होने पर ब्रह्मा एकान्त शरणागत होकर श्रीकृष्ण का स्तव कर रहे हैं—

तत् (तस्मात्) ते अनुकम्पां (कृपा) सुसमीक्ष्यमाणः (सम्यक् मन्यमानः) आत्मकृतं (निजानुष्ठित) विपाकं (कर्मफल) भुञ्जानः एव हृदवाग्वपुभिः (कायमनोवाक्यैः) ते (तुभ्य) नमः विदधत् (जड़ीयाहङ्कारं त्यक्त्वा आत्मसमर्पणं कुर्वन्) यः जीवेत्, सः भक्तिपदे दायभाक् (योग्यपात्रः) भवति।

प्रभु द्वारा भागवत के पाठ
का समर्थन और संरक्षण—

प्रभु कहे, 'मुक्तिपदे'—इहा पाठ हय।
'भक्तिपदे' केने पड़, कि तोमार आशय॥२६२॥

२६२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सार्वभौम भट्टाचार्य से कहा—"श्लोक में तो 'मुक्तिपदे' पाठ है। आप उसे 'भक्तिपदे' क्यों कह रहे हैं? आपके ऐसा कहने का क्या कारण है?"

भट्टाचार्य की मुक्ति के स्थान पर
भक्ति-पाठ-रक्षा करने की इच्छा—

भट्टाचार्य कहे,—'भक्ति'-सम नहे मुक्ति-फल।
भगवद्भक्ति विमुखेर हय दण्ड केवल॥२६३॥

२६३। प० अनु०—यह सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"मुक्ति का फल भक्ति के समान नहीं है। मुक्ति तो भगवद्भक्ति से विमुख लोगों के लिये केवल दण्ड मात्र है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२६३। भट्टाचार्य ने कहा,—(प्रेम) भक्ति ही भक्ति का सर्वोत्तम फल है, मुक्ति भक्ति का फल नहीं है। भगवद्भक्ति विमुख व्यक्ति के लिये सायुज्य मुक्ति एक प्रकार का दण्ड है।

पाषण्ड, मायावादी और विष्णुविद्वेषी
दैत्यगण को सायुज्य मुक्ति—

कृष्णेर विग्रह जेइ सत्य नाहि माने।
जेइ निन्दा-युद्धादिक करे ताँर सने॥२६४॥
सेइ दुइर दण्ड—हय 'ब्रह्मसायुज्य-मुक्ति'।
तार मुक्ति फल नहे, जेइ करे भक्ति॥२६५॥

२४६-२६५। प० अनु०—सार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—जो लोग श्रीकृष्ण के विग्रह को सत्य नहीं मानते तथा जो दैत्य भगवान् की निन्दा या भगवान् से युद्धादि करते हैं। इन दोनों प्रकार के लोगों को दण्ड स्वरूप 'ब्रह्मसायुज्य-मुक्ति' की प्राप्ति होती है। परन्तु जो भक्ति करते हैं, उन्हें इस प्रकार की मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है।

अनुभाष्य

२६३-२६५। श्रीरूप गोस्वामी द्वारा रचित लघुभागवतामृत में ब्रह्मलोक के वर्णन के प्रसङ्ग में उनके द्वारा रचित कारिका—"भक्तेरव्यभिचारायाः प्रेम सेवैव यत्-

फलम्। केवलं ब्रह्मभावस्तु विद्वेषेणापि लभ्यते॥" श्रीबलदेवविद्याभूषण द्वारा रचित टीका—"ननु चित्परमाणोर्जीवस्य चिद्राशौ तस्मिन् ब्रह्मणि लयनैव भाव्यम्, न पुनस्ततो निःसृत्य तदाश्रयस्य कृष्णस्य सेवनं सम्भवेदिति चेत्? तत्राह—भक्तेरिति। तस्मिन् ब्रह्मणि विलीनतया स्थितिस्तु भगवता कृष्णेन् निहतानां विद्वेषिनामपि भवेत्, "सिद्धलोकस्तु तमसः पारे यत्र वसन्ति हि। सिद्धा ब्रह्मसुखे मग्ना दैत्याश्च हरिणा हताः॥" (ब्रह्माण्ड-पुराणे) इति स्मरणात्। तस्मात् तल्लीनत्वमात्रं भक्तेः फलं न भवतीति। तमसः (अष्टमावरणात् प्रकृतिमण्डलात्), पारे ब्रह्मलोकः (चयस्तिूषाम् इति न्यायेन निराकारचित्-पुञ्जरूपं स्थानमित्यर्थः। सिद्धाः—(अनवज्ञातभगवद्ऽघ्र-यस्तद्ग ब्रह्मचिन्तकाः तच्चिन्तनात् विधवस्तलिङ्गाः) तत्र, वसन्ति—(लीयन्ते); तच्चरणावज्ञातृणान्तु ज्ञानलवदग्धा-नामधःपातो भवति, "येऽन्येऽरविन्दाक्ष! विमुक्तमानिनस्त्व-च्स्तुभावादविशद्ध- बुद्धयः। आरुह्य कृच्छ्रेन परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृत- युष्मदऽघ्रयः॥" (भाः १०/२/३२) इति श्रीभागवतात्।

यदि चित् परमाणु स्वरूप जीव का चित् पुञ्ज ब्रह्म में ही लय हो गया तब तो फिर ब्रह्म से निकलकर जीव के लिये पुनः उनका आश्रय श्रीकृष्णसेवा सम्भव नहीं होती? इसी आशङ्का के उत्तर में उल्लिखित श्लोक कहा गया है। ब्रह्म में लीन होकर अवस्थान करना तो बहुत तुच्छ है,—(ब्रह्म में लीनता प्राप्त करना तो) कृष्ण के हाथों मरे विद्वेषी दैत्यों को भी प्राप्त होता है; क्योंकि, ब्रह्माण्ड पुराण में ही उसका प्रमाण मिलता है। (आदि, पञ्चम परिच्छेद ३९ संख्या द्रष्टव्य);—वहाँ पर, 'ब्रह्म अथवा सिद्धलोक' शब्द से "चयस्तिषाम्" इस न्याय के अनुसार निराकार चित् पुञ्ज रूपी स्थान विशेष को समझना चाहिए; 'सिद्धाः'—शब्द (का अर्थ है कि) जिन सब जीवों ने भगवान् के चरणकमलों की अवज्ञा नहीं की, किन्तु इस प्रकार की ब्रह्म चिन्ता द्वारा जिनके लिङ्ग देह का आवरण दूर हो गया है—वे 'वसन्ति' अर्थात् लय प्राप्त करते हैं। किन्तु जो भगवान् के श्रीचरणों की अवज्ञा करने वाले हैं, उनका भाः १०/२/३२—"येऽन्योरविन्दाक्ष" श्लोक के अनुसार जो सामान्य ज्ञान पहले सहारा था, वह भी भगवान् की अवज्ञा करने के फलस्वरूप सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है, अतएव उनको अधःपतन (नरक की प्राप्ति) होती है।

पाँच प्रकार की मुक्ति—

यद्यपि मुक्ति हय
एइ पञ्च-प्रकार।
सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य-
सार्ष्टि-सायुज्य आर॥२६६॥

२६६। प० अनु—यद्यपि मुक्ति—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य पाँच प्रकार की होती है।

सायुज्य मुक्ति के अतिरिक्त अन्य चार
प्रकार की मुक्तियाँ भक्ति की आनुषङ्गिक—

'सालोक्यादि' चारि यदि हय सेवा-द्वार।
तबु कदाचित् भक्त करे अङ्गीकार॥२६७॥

२६७। प० अनु—सालोक्य आदि चार प्रकार की मुक्तियों को भगवत् सेवा के द्वार स्वरूप मानकर कभी-कभी भक्त उन्हें स्वीकार करते हैं।

नरक-सदृश सायुज्य 'भक्ति विनाशक'
होने के कारण सदैव परित्याज्य—

'सायुज्य' शुनिते भक्तेर हय घृणा-भय।
नरक वाञ्छये, तबु सायुज्य ना लय॥२६८॥

२६८। प० अनु—'सायुज्य' मुक्ति का नाम सुनने मात्र से ही भक्तों में घृणा और भय उदित होता है। भगवान् के भक्त नरक जाने की तो फिर भी इच्छा कर सकते हैं, किन्तु सायुज्य मुक्ति को वे कभी स्वीकार नहीं करते।

अमृतप्रवाह भाष्य

२६७-२६८। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य,—इन पाँच प्रकार की मुक्तियों में से पहली चार इतनी निन्दनीय नहीं है, क्योंकि वह भगवद् सेवा के

द्वार-स्वरूप हैं। तथापि कृष्ण भक्त उपरोक्त चार प्रकार की मुक्ति को भी स्वीकार नहीं करते क्योंकि वे जन्म-जन्मान्तर कृष्ण भक्ति की ही अभिलाषा करते हैं। 'सायुज्य' शब्द सुनने मात्र से ही भक्त में उसको तुच्छ समझकर घृणा एवं भक्तिविरोधकारी 'अपराध' जानकर भय होता है।

दो प्रकार के सायुज्य—

ब्रह्मे, ईश्वरे सायुज्य दुइ त' प्रकार।
ब्रह्म-सायुज्य हैते ईश्वर-सायुज्य धिक्कार॥२६९॥

२६९। प० अनु०—सायुज्य मुक्ति दो प्रकार की होती है। एक ब्रह्म-सायुज्य और दूसरा ईश्वर-सायुज्य। परन्तु ब्रह्म-सायुज्य से ईश्वर-सायुज्य और अधिक धिक्कार के योग्य है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२६९। सायुज्य दो प्रकार का होता है—ब्रह्म सायुज्य और ईश्वर सायुज्य। मायावादी वेदान्तिकों के मतानुसार, जीव का चरम फल—ब्रह्म सायुज्य है; पातञ्जल के मतानुसार, कैवल्य अवस्था में ईश्वर सायुज्य है। इन दोनों प्रकार के सायुज्यों में से ईश्वर सायुज्य ही अत्यधिक घृणित है। ब्रह्म सायुज्य में निर्विशेष ज्ञान द्वारा निर्विशेष गति प्राप्त होती है; किन्तु सविशेष ईश्वर का ही ध्यान करके जो कैवल्य रूपी ईश्वर सायुज्य प्राप्त होता है, वही वासना रूपी दोष के कारण और अधिक पतन रूपी फल है। "क्लेशकर्मविपाकाशयैर परामृष्टः पुरुष-विशेष ईश्वरः।" "स पूर्वेषामपि गुरुः कालानवच्छेदात्।" इसके द्वारा सविशेष ईश्वर का नित्यत्व देखा जाता है। पुनः इस पातञ्जल के कैवल्य पद में "पुरुषार्थ शून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति" इस सूत्र द्वारा साधक की सिद्धावस्था में अन्य पुरुष ईश्वर के अवस्थान का अभाव है। सविशेष तत्त्व के आश्रय के छल से योग मार्ग अत्यन्त अकिञ्चितकर है। तात्पर्य यह है कि (योगपन्था में) सविशेष तत्त्व की उपासना में सविशेष फल ना होकर अत्यन्त सुदूरवर्ती धिक्कार योग्य फल प्राप्त हुआ।

सेव्य की निष्काम-सेवा के अतिरिक्त सेवक के लिये किसी प्रकार की मुक्ति ही काम्य नहीं—
श्रीमद्भागवत (३/२९/१३)—

सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः॥२७०॥

२७०। श्लोकानुवाद—सालोक्य (वैकुण्ठवास), सार्ष्टि (ऐश्वर्य-सम्पदा), सामीप्य (निकट वास), सारूप्य (चतुर्भुजा-कार), एकत्व (सायुज्य अथवा अभेद गति) देने पर भी भक्तवृन्द उन्हें ग्रहण नहीं करते, क्योंकि मेरी अप्राकृतसेवा को छोड़कर उनके लिये और कुछ भी प्रार्थनीय नहीं है।

अनुभाष्य

२७०। आदि चतुर्थ परिच्छेद २०७ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु के द्वारा मुक्तिपद की व्याख्या—

प्रभु कहे,—'मुक्तिपदे'र आर अर्थ हय।
मुक्तिपद-शब्दे 'साक्षात् ईश्वर' कहय॥२७१॥
मुक्ति पदे जाँर, सेइ 'मुक्तिपद' हय।
किम्बा नवम पदार्थ 'मुक्तिर' समाश्रय॥२७२॥
दुइ अर्थे 'कृष्ण' कहि, केने पाठ फिरि।
सार्वभौम कहे,—'ओ-पाठ कहिते ना पारि॥'२७३॥

२७१-२७३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मुक्तिपद का और भी एक अर्थ है। 'मुक्तिपद' शब्द साक्षात् ईश्वर को लक्षित करता है। जिनके चरणों के आश्रय में मुक्ति रहती है वे 'मुक्तिपद' हैं। अथवा नवम पदार्थ मुक्ति जिनका आश्रय ग्रहण करती है, वह 'दशम' वस्तु है श्रीभगवान्। अतः जब इन दोनों अर्थों से 'मुक्तिपद' श्रीकृष्ण की ओर ही इङ्गित करता है, तब उसे परिवर्तित करने की क्या आवश्यकता है? श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"मैं वह पाठ (मुक्ति) उच्चारण नहीं कर सकता।

अमृतप्रवाह भाष्य

२७२। जिनके चरणों में मुक्ति है, वे—'मुक्तिपद' अर्थात् 'दशम' पदार्थ श्रीकृष्ण; अथवा नवम पदार्थ जो मुक्ति है, वह जिनको आश्रय करके रहती है, वे—श्रीकृष्ण।

अनुभाष्य

२७२। आदि द्वितीय परिच्छेद ९१-९२ संख्या द्रष्टव्य।

तथापि सार्वभौम के द्वारा मुक्ति-शब्द के 'सायुज्य' अर्थ का अनादर और 'भक्ति'-शब्द का आदर—

यद्यपि तोमार अर्थ एइ शब्दे कय।
तथापि 'आश्लिष्य-दोषे' कहन ना जाय॥२७४॥
यद्यपि 'मुक्ति'-शब्देर हय पञ्चवृत्ति।
रूढ़िवृत्त्ये कहे तबु 'सायुज्ये' प्रतीति॥२७५॥
मुक्ति-शब्द कहिते मने हय घृणा-त्रास।
भक्ति-शब्द कहिते मने हय त' उल्लास॥"२७६॥

२७४-२७६। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"यद्यपि आपके अर्थ में 'मुक्तिपद' के द्वारा भगवान् ही अभिप्रेत हैं तथापि 'आश्लिष्य दोष' के कारण मैं 'मुक्तिपद' शब्द व्यवहार नहीं कर पा रहा हूँ। यद्यपि मुक्ति शब्द की पाँच प्रकार की वृत्तियाँ हैं। फिर भी रूढ़िवृत्ति के द्वारा मुक्ति शब्द का अर्थ सायुज्य मुक्ति ही होता है। अतः 'मुक्ति' शब्द उच्चारण करने मात्र से मन में घृणा होती है और भय लगता है। परन्तु 'भक्ति' शब्द का उच्चारण करने मात्र से मन में उल्लास उदित होता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२७४। आश्लिष्य-दोष,—जिसका दो प्रकार से अर्थ हो सकता है; उसमें मुख्य अर्थ की कुछ हानि होती है, यह दोष।

२७५। रुढ़ि वृत्ति—मुख्य वृत्ति।

षष्ठ परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

सार्वभौम की निष्काम भक्ति को देखकर प्रभु को प्रसन्नता—

शुनिया हासेन प्रभु आनन्दित-मने।
भट्टाचार्य कैल प्रभु दृढ़ आलिङ्गने॥२७७॥

२७७। प० अनु—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के वचनों को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु परम आनन्दित होकर हँसने लगे तथा उन्होंने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को आलिङ्गन प्रदान किया।

ग्रन्थकार के द्वारा कृष्णचैतन्य की कृपा की महिमा का कीर्त्तन—

जेइ भट्टाचार्य पड़े पड़ाय मायावादे।
ताँर ऐछे वाक्य स्फुरे चैतन्य-प्रसादे॥२७८॥

'फल के द्वारा परिचय'—

लोहाके यावत् स्पर्शि' हेम नाहि करे।
तावत् स्पर्शमणि केह चिनिते ना पारे॥२७९॥

२७८-२७९। प० अनु०—श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कह रहे हैं—जो सार्वभौम भट्टाचार्य मायावाद को पढ़ते और पढ़ाते थे आज उनके मुख से भक्ति परक जो वचन निकल रहे हैं, वह श्रीचैतन्य महाप्रभु की ही विशेष कृपा है। स्पर्शमणि जब तक अपने स्पर्श के प्रभाव से लोहे को स्वर्ण नहीं बनाती तब तक उस स्पर्शमणि को कोई पहचान नहीं पाता।

प्रभु का 'परमेश्वर श्रीकृष्ण' होने में सभी का विश्वास—

भट्टाचार्येर वैष्णवता देखि' सर्वजन।
प्रभुके जानिल—'साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन'॥२८०॥

२८०। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य की वैष्णवता को देखकर सभी समझ गये कि श्रीचैतन्य महाप्रभु साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं।

काशीमिश्र की प्रभु के चरणों में शरणागति—

काशीमिश्र-आदि जत नीलाचलवासी।
शरण लइल सबे प्रभु-पदे आसि'॥२८१॥

२८१। प० अनु०—काशीमिश्र आदि जितने नीलाचल वासी थे सभी ने आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्रीचरण-कमलों में शरण ग्रहण की।

इसके बाद प्रभु का दक्षिण भारत में भ्रमण—

सेइ सब कथा आगे करिब वर्णन।
एबे कहि प्रभुर दक्षिण-यात्रा-विवरण॥२८२॥

२८२। प० अनु०—(श्रील कविराज गोस्वामी कह रहे हैं—) इन सब कथाओं को मैं आगे वर्णन करूँगा, अब पहले मैं श्रीचैतन्य महाप्रभु की दक्षिण यात्रा का वर्णन करता हूँ।

सार्वभौम के द्वारा की गयी प्रभु की सेवा बाद में वर्णित—

सार्वभौम करे जेछै प्रभुर सेवन।
जैछे परिपाटी करे भिक्षा-निर्वाहन॥२८३॥
विस्तारिया आगे ताहा करिब वर्णन।
एइ महाप्रभु लीला, सार्वभौम-मिलन॥२८४॥

२८३-२८४। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने जिस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु की सेवा की और भिक्षा निर्वाह के द्वारा जिस परिपाटी को प्रदर्शन किया—इन सब लीलाओं का मैं विस्तार पूर्वक बाद में वर्णन करूँगा। इस प्रकार यह लीला श्रीचैतन्य महाप्रभु की एवं श्रीसार्वभौम के मिलन की लीला है।

अनुभाष्य

२८४। मध्य पञ्चदश परिच्छेद द्रष्टव्य।

षष्ठ परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

सार्वभौम और चैतन्य महाप्रभु के संवाद को श्रवण करने से निष्काम भक्ति की प्राप्ति—यह कर्मकाण्डीय फलश्रुति मात्र नहीं—

इहा जेइ श्रद्धा करि' करये श्रवण।
ज्ञान-कर्मपाश हैते हय विमोचन॥२८४॥
श्रद्धाय चैतन्यलीला शुने जेइ जन।
अचिरे मिलये ताँरे चैतन्यचरण॥२८५॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे जार आश।
चैतन्य-चरितामृत कहे कृष्णदास॥२८६॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्यखण्ड में सार्वभौम उद्धार नामक षष्ठ परिच्छेद समाप्त।

२८४-२८६। प० अनु०—श्रीमन् महाप्रभु और सार्वभौम भट्टाचार्य के मिलन की इस लीला को जो श्रद्धापूर्वक सुनते हैं, वे ज्ञान और कर्म के बन्धन से छूट जाते हैं। जो श्रद्धापूर्वक श्रीचैतन्य महाप्रभु की लीला को सुनता है उन्हें शीघ्र ही श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की प्राप्ति होती है। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

❋ ❋ ❋

सप्तम परिच्छेद

कथासार—माघ मास के शुक्ल पक्ष में महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण करके फाल्गुन मास में नीलाचल में वास किया। फाल्गुन मास में दोल यात्रा (होली) के दर्शन करके चैत्रमास में सार्वभौम का उद्धार किया। वैशाख मास में दक्षिण की ओर यात्रा की। अकेले ही दक्षिण में भ्रमण करेंगे,—ऐसा प्रस्ताव रखने पर, नित्यानन्द प्रभु ने उनके साथ 'कृष्णदास' नामक एक ब्राह्मण को भेजा। जाने के समय सार्वभौम ने प्रभु को साथ ले जाने के लिये चार कौपीन और बहिर्वास दिया तथा रामानन्द राय के साथ गोदावरी के तट पर साक्षात्कार करने के लिये अनुरोध किया। आलालनाथ तक श्रीनित्यानन्द प्रभु प्रभृति कुछेक भक्त महाप्रभु के साथ गये थे। उन सबको वहीं छोड़कर केवल कृष्णदास को साथ ले जाना स्वीकार करके महाप्रभु 'कृष्ण' 'कृष्ण' बोलते हुए चलने लगे। जिस गाँव में उन्होंने रात्रि में वास किया, वहाँ शरणागत व्यक्तियों में शक्ति सञ्चार करके पूरे देश (स्थान) को ही 'वैष्णव' बनाने की आज्ञा दी। वे सब पुनः अन्यान्य लोगों को भक्ति की शिक्षा देकर अन्यान्य गाँवों में भक्तों की संख्या में वृद्धि करने लगे। इस प्रकार कूर्म स्थान उपस्थित होने पर, वहाँ 'कूर्म' नामक ब्राह्मण पर कृपा की, एवं 'वासुदेव' नामक ब्राह्मण का गलितकुष्ठ (ऐसा कुष्ठ, जिसमें कीड़े पड़ गये हो उसको) रोग से उद्धार किया। वासुदेव का उद्धार करके 'वासुदेवामृतप्रद' नामक प्रभु का एक नाम प्रसिद्ध हुआ।

(अ:प्र:भा:)

'वासुदेवामृत प्रद'-प्रभु को प्रणाम—

धन्यं तं नौमि चैतन्यं वासुदेवं दयार्द्रःधी।
नष्टकुष्ठं रूपपुष्टं भक्तितुष्टं चकार यः॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिन्होंने दयार्द्रचित्त होकर 'वासुदेव' नामक भक्त को कुष्ठ रोग से मुक्त करके सुन्दर रूप में पुष्ट करने के उपरान्त भक्ति से सन्तुष्ट किया था, उन्हीं धन्य श्रीचैतन्यदेव को मैं प्रणाम करता हूँ।

अनुभाष्य

१। यः दयार्द्रधीः (दयया आर्द्रा धीर्यस्य सः) (कुष्ठ रोगाक्रान्तं) वासुदेवं नष्टकुष्ठं (विगत कुष्ठरोग) रूपपुष्टं (सौन्दर्यमय) भक्तितुष्टं चकार, तं धन्यं चैतन्यं नौमि।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प० अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो और श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो।

दक्षिण-प्रदेश के उद्धार की इच्छा—

एइमते सार्वभौमेर निस्तार करिल।
दक्षिण-गमने प्रभुर इच्छा उपजिल॥३॥

३। प० अनु॰—इस प्रकार श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य का उद्धार करने के उपरान्त श्रीचैतन्य महाप्रभु के दक्षिण भारत जाने की इच्छा जागृत हुई।

माघ मास में संन्यास, फाल्गुन मास में पुरी धाम में वास, चैत्र मास में सार्वभौम का उद्धार, वैशाख मास में दक्षिण भारत जाने की इच्छा—

माघ-शुक्लपक्षे प्रभु करिल संन्यास।
फाल्गुने आसिया कैल नीलाचले वास॥४॥
फाल्गुनेर शेषे दोलयात्रा से देखिल।
प्रेमावेशे बहुविध नृत्यगीत कैल॥५॥
चैत्रे रहि' कैल सार्वभौम-विमोचन।
वैशाखेर प्रथमे दक्षिण जाइते हैल मन॥६॥

४-६। प० अनु०—माघ मास के शुक्ल पक्ष में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण किया और उन्होंने फाल्गुन मास में नीलाचल में आकर वहीं वास किया था। फाल्गुन मास के अन्त में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने दोलयात्रा (होली उत्सव) का दर्शन किया और प्रेम में आविष्ट होकर अनेक प्रकार से नृत्य-गीत किया। चैत्र मास में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य का उद्धार किया तथा वैशाख मास के आरम्भ में उन्होंने दक्षिण भारत जाने की इच्छा की।

भक्तों के निकट कृतज्ञता-ज्ञापन
और विदाई-माँगना—

निजगण आनि' कहे विनय करिया।
आलिङ्गन करि' सबाय श्रीहस्ते धरिया॥७॥
तोमा-सबा जानि आमि प्राणाधिक करि'।
प्राण छाड़ा जाय, तोमा-सबा छाड़िते ना पारि॥८॥
तुमि-सब बन्धु मोर बन्धुकृत्य कैले।
इँहा आनि' मोरे जगन्नाथ देखाइले॥९॥
एबे सबा-स्थाने मुञि मागों एक दाने।
सबे मेलि' आज्ञा देह, जाइब दक्षिणे॥१०॥

७-१०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने सभी भक्तों को बुलाकर आलिङ्गन किया और उनके हाथों को पकड़कर विनीत भाव से कहने लगे—"आप सब मुझे मेरे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। प्राणों को तो छोड़ा जा सकता है परन्तु आप सबको नहीं। आप सब मेरे बन्धु हैं एवं आपने मुझे यहाँ लाकर श्रीजगन्नाथ के दर्शन कराके वास्तव में बन्धु का कार्य ही किया है। अब मैं आप सबसे एक दान माँगता हूँ, वह यह कि आप सभी मुझे दक्षिण भारत जाने की अनुमति प्रदान करो।

ज्येष्ठ भ्राता विश्वरूप को ढूँढ़ने के छल से
दाक्षिणात्य (दक्षिण भारत के लोगों) के
उद्धार के लिये अकेले जाने की इच्छा—

विश्वरूप-उद्देशे अवश्य आमि जाब।
एकाकी जाइब, काहो सङ्गे ना लइब॥११॥
सेतुबन्ध हैते आमि ना आसि यावत्।
नीलाचले तुमि-सब रहिबे तावत्॥१२॥
विश्वरूप-सिद्धि-प्राप्ति जानेन सकल।
दक्षिण-देश उद्धारिते करेन एइ छल॥१३॥

११-१३। प० अनु०—मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीविश्वरूप को ढूँढ़ने के लिये अवश्य ही जाऊँगा। किन्तु अकेले ही जाऊँगा किसी को साथ नहीं लूँगा। जब तक मैं सेतुबन्ध (रामेश्वरम्) से लौटकर नहीं आ जाता तब तक आप सब नीलाचल में ही रहना।" यद्यपि श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीविश्वरूप प्रभु के प्रकट लीला के संम्वरण आदि की सभी बातों को जानते हैं, तथापि दक्षिण भारत का उद्धार करने के लिये उन्होंने छलपूर्वक ऐसा कहा।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३। महाप्रभु—सर्वज्ञ; विश्वरूप की उससे पहले ही सिद्धि प्राप्ति हो चुकी है, उसके विषय में वे पहले से ही सब कुछ जानते थे, परन्तु दक्षिण भारत का उद्धार करने के लिये उन्होंने यह छल किया कि मैं विश्वरूप को ढूँढूगा।

अनुभाष्य

१३। मध्य नवम परिच्छेद २९९-३०० संख्या द्रष्टव्य।

भक्तों का दुःख—

शुनिया सबार मने हैल महादुःख।
निःशब्द हइला सबे, शुकाइल मुख॥१४॥

१४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की बात को सुनने मात्र से ही सभी का मन अत्यन्त दुःखी हो गया, वे सब निःशब्द हो गये तथा उन सब का मुख सूख गया।

साथ में जाने हेतु नित्यानन्द प्रभु की प्रार्थना—

नित्यानन्दप्रभु कहे,—'ऐछे कैछे हय?
एकाकी जाइबे तुमि, के इहा सहय॥१५॥
दुइ-एक सङ्गे चलुक, ना पड़ हठ-रङ्गे।
जारे कह, सेइ-दुइ चलुक् तोमार सङ्गे॥१६॥

दक्षिणेर तीर्थपथ आमि सब जानि।
आमि सङ्गे जाइ, प्रभु, आज्ञा देह तुमि॥' १७॥

१५-१७। प॰ अनु॰—श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"यह कैसे सम्भव है? आप अकेले जायेंगे, इसे कौन सहन कर सकता है? हमारे में से अन्ततः दो-एक व्यक्तियों को अपने साथ लेकर चलो, अन्यथा किसी ठग के हाथ में पड़ जाओगे। आपके साथ जायेंगे, आप जिसे कहेंगे, वही दो व्यक्ति ही आपके साथ जायेंगे। दक्षिण भारत के सभी तीर्थों का मार्ग मैं जानता हूँ , अतः प्रभु! आप मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपके साथ जाऊँगा।"

अनुभाष्य

१६। हठ-रङ्गे,—ठग अथवा ठगी करने वालों के चङ्गुल से।

प्रभु के द्वारा नित्यानन्द-जगदानन्द-दामोदर आदि भक्तों की कृत्रिम निन्दा के छल से गुणगान—

प्रभु कहे, "आमि—नर्तक, तुमि—सूत्रधार।
तुमि जैछे नाचाओ, तैछे नर्तन आमार॥१८॥
संन्यास करिया आमि चलिलाङ् वृन्दावन।
तुमि आमा लञा आइले अद्वैत-भवन॥१९॥
नीलाचल आसिते पथे भाङ्गिला मोर दण्ड।
तोमा-सबार गाढ़-स्नेहे आमार कार्य-भङ्ग॥२०॥
जगदानन्द चाहे आमा विषय भुञ्जाइते।
जेइ कहे, सेइ भये चाहिये करिते॥२१॥
कभु यदि इँहार वाक्य करिये अन्यथा।
क्रोधे तिन दिन मोरे नाहि कहे कथा॥२२॥
मुकुन्द हयेन दुःखी देखि' संन्यास-धर्म।
तिनबारे शीते स्नान, भूमिते शयन॥२३॥
अन्तरे दुःखी मुकुन्द, नाहि कहे मुखे।
इहार दुःख देखि' मोर द्विगुण हये दुःखे॥२४॥

१८-२४। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मैं नर्तक हूँ और आप (श्रीनित्यानन्द) सूत्रधार हो, मुझे आप जैसे नचाते हो मैं वैसे ही नाचता हूँ। संन्यास लेकर जब मैं वृन्दावन जाना चाहता था तब आप मुझे श्रीअद्वैताचार्य के घर शान्तिपुर ले आये और नीलाचल आते समय मार्ग में आपने मेरा संन्यास दण्ड तोड़ दिया था। यद्यपि मैं जानता हूँ कि आप सभी मेरे प्रति अत्यन्त स्नेह-परायण हैं, तथापि आप सबके गाढ़ स्नेह के कारण मेरे बहुत से कार्य बिगड़ रहे हैं। जगदानन्द तो मुझे विषय-भोग करवाना चाहता है। वे जो भी कहे, मुझे वह भयभीत होकर करना ही पड़ता है। यदि कभी मैं इसकी बात नहीं मानता हूँ तो ये क्रोधित होकर तीन दिन तक मुझसे बात नहीं करता। मैंने संन्यास-धर्म स्वीकार किया है, इसलिए मुझे सर्दी के समय में भी तीन बार स्नान एवं भूमि पर शयन करना पड़ता है, किन्तु इसे देखकर मुकुन्द बहुत दुःखी हो जाता है। दुःखी होने पर भी मुकुन्द अपने मुख से कुछ नहीं कहता परन्तु इसके दुःख को देखकर मुझे इससे भी दो गुणा अधिक दुःख होता है।

अनुभाष्य

२४। संन्यास धर्म का पालन करने के लिये मैं शीतकाल में भी तीन बार स्नान एवं बिना शय्या के भूमि पर शयन करता हूँ, ऐसा देखकर मुकुन्द दुःखी होता है। मेरे लिये मुकुन्द के मन में दुःख होता है, ऐसा जानकर उसके लिये मैं दोगुना दुःखित होता हूँ।

दामोदर-ब्रह्मचारी की निरपेक्षता पर प्रभु का कटाक्ष—

आमि त'—संन्यासी, दामोदर—ब्रह्मचारी।
सदा रहे आमार उपर शिक्षा-दण्ड धरि'॥२५॥
इँहार आगे आमि ना जानि व्यवहार।
इँहारे ना भाय स्वतन्त्र चरित्र आमार॥२६॥
लोकापेक्षा नाहि इँहार कृष्णकृपा हैते।
आमि लोकापेक्षा कभु ना पारि छाड़िते॥२७॥

२५-२७। प॰ अनु॰—यद्यपि मैं संन्यासी हूँ और दामोदर ब्रह्मचारी है, तथापि वह सदा ही मुझे शिक्षा देने के लिये हाथ में डंडा पकड़े रहता है। ये सोचता है कि किसके साथ कैसा व्यवहार करना है यह मैं नहीं जानता और इसे मेरा स्वतन्त्र व्यवहार भी अच्छा नहीं लगता।

इस पर श्रीकृष्ण की बहुत कृपा है इसलिये ये लोकापेक्षा नहीं रखता परन्तु मैं कभी भी लोकापेक्षा नहीं छोड़ सकता।

अमृतप्रवाह भाष्य

२५-२६। दामोदर (ब्रह्मचारी) मुझे सदैव ऐसा शिक्षा रूपी दण्ड देता है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि, जैसे मैं इसके समक्ष एक व्यवहार ज्ञान शून्य (व्यवहार को बिल्कुल भी नहीं जानने वाला) व्यक्ति हूँ।

२७। दामोदर पण्डित आदि के प्रति कृष्ण कृपा अधिक होने के कारण, ये लोगों की अपेक्षा न करके मुझे अनेक प्रकार के विषयों का भोग कराना चाहते हैं, किन्तु मैं दीन संन्यासी हूँ, लोकापेक्षा को नहीं छोड़ पाने के कारण, यथाधर्म (अपने संन्यास धर्म के अनुसार) व्यवहार करता हूँ।

अनुभाष्य

२५। संन्यासी—ब्रह्मचारी के गुरु; इसलिये 'ब्रह्मचारी' होकर संन्यासी को उपदेश देना असङ्गत है।

२६। ना भाय,—मन में अच्छा नहीं लगता, अच्छा नहीं लगता।

प्रभु द्वारा सभी को अपने वापिस
लौटने तक पुरी में रहने का अनुरोध—

अतएव तुमि-सब रह नीलाचले।
दिनकत आमि तीर्थ भ्रमिब एकले॥"२८॥

२८। प० अनु०—इसलिये तुम सब नीलाचल में रहो और मैं कुछ दिन अकेले ही तीर्थ भ्रमण करता हूँ।"

अपने भक्तों के दोष को प्रदर्शन
करने के छल से उनका गुण वर्णन—

इहाँ-सबार वश प्रभु हये जे-जे-गुणे।
दोषारोप-छले करे गुण आस्वादने॥२९॥

२९। प० अनु०—वास्तव में जिस-जिस गुण के कारण श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने इन सब भक्तों के वशीभूत थे, उनके उन सभी गुणों का प्रभु ने दोषारोप के छल से आस्वादन किया।

अनुभाष्य

२९। पूर्व कथित भक्तों के जिन-जिन गुणों के कारण प्रभु बाध्य हुए थे, उन्हीं को ही छलपूर्वक 'दोष' कहकर उल्लेख करके उन्होंने भक्तों की महिमा बतलायी।

प्रभु का अनुपम भक्तवात्सल्य—

चैतन्येर भक्त-वात्सल्य—अकथ्य-कथन।
आपने वैराग्य-दुःख करेन सहन॥३०॥

३०। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्तवात्सल्य को कोई भी ठीक से वर्णन नहीं कर सकता। उन्होंने संन्यास-आश्रम के वैराग्य दुःख को स्वयं ही सहन किया था।

भक्तों के लिये प्रभु का कष्ट-स्वीकार,
भक्तों का उसमें दुःख—

सेइ दुःख देखि' जेइ भक्त दुःख पाय।
सेइ दुःख ताँर शक्त्ये सहन ना जाय॥३१॥
गुणे दोषोद्गार छले सबा निषेधिया।
एकाकी भ्रमिबेन तीर्थ वैराग्य करिया॥३२॥

३१-३२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के उस वैराग्य दुःख को देखकर भक्त बहुत दुःख भोग करते। संन्यास आश्रम के वैराग्य-दुःख को तो श्रीचैतन्य महाप्रभु सहन कर लेते थे, किन्तु वे अपने भक्तों के दुःख को सहन नहीं कर पाते थे। इसलिए उन्होंने भक्तों के गुणों को भी दोषोद्गार के छल से सबको अपने साथ जाने के लिये निषेध किया, ताकि वे स्वयं वैराग्य अवलम्बन करके तीर्थ भ्रमण कर सके।

स्वतन्त्र ईश्वर प्रभु अपने संकल्प पर अटल—

तबे चारिजन बहु मिनति करिल।
स्वतन्त्र ईश्वर प्रभु कभु ना मानिल॥३३॥

३३। प० अनु—तब श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीजगदानन्द, श्रीमुकुन्द और श्रीदामोदर ने मिलकर बहुत प्रार्थना की, परन्तु प्रभु तो स्वतन्त्र ईश्वर हैं, उन्होंने किसी की भी बात नहीं मानी।

निताई की अन्तिम प्रार्थना—

तबे नित्यानन्द कहे,—जे आज्ञा तोमार।
दुःख-सुख जे हउक् कर्तव्य आमार॥३४॥
किन्तु एक निवेदन करों आर बार।
विचार करिया ताहा कर अङ्गीकार॥३५॥

३४-३५। प० अनु०—तब श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"प्रभु! आपकी जैसी आज्ञा, उसमें हमें दुःख या सुख हो उसे पालन करना ही हमारा कर्त्तव्य है। परन्तु एक बार मैं फिर से कुछ निवेदन करना चाहता हूँ, कृपया उस पर विचार करके उसे अङ्गीकार कीजिये।

कौपीन-बहिर्वास और जल के पात्र को उठाने के लिये अपने साथ किसी को ले जाने की प्रार्थना—

कौपीन, बहिर्वास आर जलपात्र।
आर किछु नाहि जाबे, सबे एइ मात्र॥३६॥

३६। प० अनु०—यदि और कुछ आपके साथ न भी जाये परन्तु कौपीन, बहिर्वास और जलपात्र तो आपके साथ जायेगा।

प्रभु द्वारा संख्या नाम-जप—

तोमार दुइ हस्त बद्ध नाम-गणने।
जलपात्र-बहिर्वास बहिबे केमने॥३७॥
प्रेमावेशे पथे तुमि हबे अचेतन।
ए-सब सामग्री तोमार के करे रक्षण॥३८॥

३७-३८। प० अनु०—आपके दोनों हाथ तो नाम करने और संख्या गिनने में व्यस्त रहेंगे फिर आप जलपात्र और बहिर्वास कैसे उठायेंगे? प्रेमाविष्ट होकर जब आप मार्ग में अचेतन हो जायेंगे तब आपकी इन समस्त साम्रगियों की रक्षा कौन करेगा?

अनुभाष्य

३७-३८। संख्या-नाम को गिनने के लिये प्रभु के दोनों हाथ आबद्ध (व्यस्त) रहते, अतएव यदि कोई दूसरा व्यक्ति कमण्डलु और बहिर्वास (धोती-कौपीन) आदि को नहीं उठायेगा, तो आवश्यकता के समय प्रभु को इन वस्तुओं की रक्षा के लिये किसी व्यक्ति की आवश्यकता है।

श्रीमन्महाप्रभु द्वारा किये गये संख्या-नाम की गणना के सम्बन्ध में श्रीचैतन्यचन्द्रामृत में (कहा गया है)—'व धन्न प्रेमभरकम्पितकरो ग्रन्थीन कटीडोरकैः सख्यातुं निजलोकमङ्गल-हरे-कृष्णोति नाम्नां जपन्' इत्यादि वाक्य, स्तवमाला में—"हरे कृष्णेत्युच्चैः स्फुरित रसनो-नामगणना-कृत-ग्रन्थिश्रेणी-सुभगकटीसूत्रोज्ज्वलकरः" इत्यादि चैतन्याष्टक का श्लोक आलोच्य है।

कृष्णदास नामक विप्र को साथ लेने के लिये अनुरोध—

'कृष्णदास'-नामे एइ सरल ब्राह्मण।
इँहो सङ्गे करि' लह, धर निवेदन॥३९॥
जलपात्र-वस्त्र बहि' तोमा-सङ्गे जाबे।
जे तोमार इच्छा, कर, किछु ना बलिबे॥"४०॥

३९-४०। प० अनु०—कृष्णदास नामक इस एक सरल ब्राह्मण को अपने साथ ले जाइये, यही मेरी प्रार्थना है। ये आपके जलपात्र और बहिर्वास को लेकर आपके साथ जायेगा। आप अपनी इच्छानुसार जो करना चाहो, करना, ये आपको कुछ भी नहीं कहेगा।"

अनुभाष्य

३९। यह कालाकृष्णदास नामक ब्राह्मण नित्यसिद्ध व्रज के सखा द्वादश गोपालों में से एक नित्यानन्द प्रभु के प्राण कालाकृष्ण दास (आदि, एकादश परिच्छेद ३७ संख्या) से पृथक् व्यक्ति है। पूर्वोक्त ब्राह्मण बाद में गौड़देश (बङ्गाल में) गये थे—मध्य दशम परिच्छेद ६२-७४।

प्रभु द्वारा स्वीकार—

तबे ताँर वाक्य प्रभु करि' अङ्गीकारे।
ताहा-सबा लञा गेला सार्वभौम-घरे॥४१॥

४१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द प्रभु की बात को मान लिया और सब भक्तों को अपने साथ लेकर वे श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के घर गये।

सार्वभौम के घर में गमन—

नमस्करि' सार्वभौम आसन निवेदिल।
सबाकारे मिलि' तबे आसने बसिल॥४२॥

४२। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने प्रणाम करके श्रीचैतन्य महाप्रभु को बैठने के लिये आसन प्रदान किया और फिर सबसे मिलकर उन सबको आसन देकर वे स्वयं भी बैठ गये।

भट्टाचार्य से विदाई की याचना—

नाना कृष्णवार्ता प्रभु कहिल ताँहारे।
"तोमार ठाञि आइलाङ् आज्ञा मागिबारे॥४३॥

४३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीकृष्ण सम्बन्धीय बहुत से विषयों की आलोचना करने के बाद श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य से कहा—"मैं आपके पास एक आज्ञा माँगने आया हूँ।

विश्वरूप को ढूँढ़ने का छल—

संन्यास करि' विश्वरूप गियाछे दक्षिणे।
अवश्य करिब आमि ताँर अन्वेषणे॥४४॥
आज्ञा देह, अवश्य आमि दक्षिणे चलिब।
तोमार आज्ञाते शुभे लेउटि' आसिब॥"४५॥

४४-४५। प० अनु०—मेरे ज्येष्ठ भ्राता विश्वरूप संन्यास लेकर दक्षिण भारत में गये थे, मैं अब अवश्य ही उन्हें ढूँढ़ने जाऊँगा। अतः आप मुझे आज्ञा दीजिये मैं अवश्य ही दक्षिण जाऊँगा और आपकी आज्ञा से सकुशल लौट आऊँगा।"

अनुभाष्य

४५। लेउटि,—पश्चिम भारतीय (हिन्दी भाषा का) शब्द 'लौट' कर, वापिस आना।

भट्टाचार्य की विरह के कारण दुःख पूर्ण उक्ति—

शुनि' सार्वभौम हैला अत्यन्त कातर।
चरणे धरिया कहे विषाद-उत्तर॥४६॥
"बहुजन्मेर पुण्यफले पाइनु तोमार सङ्ग।
हेन-सङ्ग विधि मोर करिलेक भङ्ग॥४७॥
शिरे वज्र पड़े यदि, पुत्र मरि' जाय।
ताहा सहि, तोमार विच्छेद सहन ना जाय॥४८॥

४६-४८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की बात सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य अत्यन्त दुःखी हुये और श्रीमन्महाप्रभु के चरण पकड़कर दुःख पूर्वक कहने लगे—"बहुत जन्मों के पुण्य फल के कारण मुझे आपका सङ्ग प्राप्त हुआ है परन्तु इस सङ्ग को विधाता अब भङ्ग करना चाहता है। यदि मेरे मस्तक पर वज्रपात हो अथवा मेरा पुत्र मर जाये तब भी उसे मैं सहन कर सकता हूँ परन्तु आपका वियोग सहन नहीं कर पाऊँगा।

प्रभु को कुछेक दिन के लिये
अपेक्षा करने के लिये अनुरोध—

स्वतन्त्र-ईश्वर तुमि करिबे गमन।
दिन-कथो रह, देखि तोमार चरण॥"४९॥

४९। प० अनु०—आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं इसलिये आप अवश्य ही जायेंगे। परन्तु मेरी प्रार्थना है कि आप और कुछ दिन यहाँ रहें ताकि मैं आपके चरणों का दर्शन कर सकूँ।"

प्रभु की सम्मति—

ताहार विनये प्रभुर शिथिल हैल मन।
रहिल दिवस-कथो, ना कैल गमन॥५०॥

५०। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य की प्रार्थना सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का मन शिथिल हो गया और वे कुछ दिनों तक वहीं रह गये, जाना स्थगित कर दिया।

भट्टाचार्य के द्वारा प्रभु को निमन्त्रण
और उनकी गृहिणी के द्वारा रन्धन—

भट्टाचार्य आग्रह करि' करेन निमन्त्रण।
गृहे पाक करि' प्रभुके करा'न भोजन॥५१॥
ताँहार ब्राह्मणी, ताँर नाम—'षाठीर माता'।
रान्धि' भिक्षा देन तिंहो, आश्चर्य ताँर कथा॥५२॥
आगे त' कहिब ताहा करिया विस्तार।
एबे कहि प्रभुर दक्षिण-यात्रा-समाचार॥५३॥

५१-५३। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य आग्रह पूर्वक श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपने घर पर निमन्त्रण करते और अपने घर में ही रन्धन करके प्रभु को भोजन कराते। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य की पत्नी जो कि 'षाठी की माता' के नाम से प्रसिद्ध थी, वही रन्धन कार्य करती थी। उनका भी श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रति अगाध निष्ठापूर्ण आश्चर्यमय चरित्र है, जिसका मैं बाद में विस्तारपूर्वक वर्णन करूँगा। अब मैं पहले श्रीचैतन्य महाप्रभु की दक्षिण यात्रा के विषय में वर्णन करता हूँ।

पाँच दिन के बाद पुन: विदाई की प्रार्थना—

दिन पाँच रहि' प्रभु भट्टाचार्य-स्थाने।
चलिबार लागि' आज्ञा मागिला आपने॥५४॥

५४। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के कहने पर पाँच दिन और पुरी में रहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनसे दक्षिण भारत की ओर जाने के लिये स्वयं आज्ञा माँगी।

भट्टाचार्य की सम्मति—

प्रभुर आग्रहे भट्ट सम्मत हइला।
प्रभु ताँरे लञा जगन्नाथ-मन्दिरे गेला॥५५॥

५५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु का अत्यधिक आग्रह देखकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य सहमत हो गये। तब श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को साथ लेकर श्रीजगन्नाथ मन्दिर गये।

प्रभु द्वारा जगन्नाथ मन्दिर में जाकर जगन्नाथ देव से यात्रा की आज्ञा की याचना और जगन्नाथ की प्रसादी माला प्राप्त कर मन्दिर की परिक्रमा कर यात्रा आरम्भ—

दर्शन करि' ठाकुर-पाश आज्ञा मागिला।
पुजारी प्रभुरे माला-प्रसाद आनि' दिला॥५६॥
आज्ञा-माला-पाञा हर्षे नमस्कार करि'।
आनन्दे दक्षिण-देशे चले गौरहरि॥५७॥
भट्टाचार्य-सङ्गे आर जत निज जन।
जगन्नाथ प्रदक्षिण करि, करिला गमन॥५८॥

५६-५८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीजगन्नाथ देव का दर्शन कर उनसे भी जाने के लिये आज्ञा माँगी और तब पुजारी ने श्रीजगन्नाथ देव की प्रसादी माला लाकर उन्हें प्रदान की। इस प्रकार माला के रूप में श्रीजगन्नाथ की आज्ञा पाकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने हर्षित होकर उन्हें प्रणाम किया और आनन्द पूर्वक दक्षिण देश की ओर यात्रा प्रारम्भ की। सर्वप्रथम श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य और उनके साथ जितने भक्त थे, सबके साथ मिलकर श्रीजगन्नाथ की प्रदक्षिण करके यात्रा प्रारम्भ की।

प्रभु की अलालनाथ के रास्ते से होते हुये दक्षिण की यात्रा—

समुद्र-तीरे-तीरे आलालनाथ-पथे।
सार्वभौम कहिलेन आचार्य-गोपीनाथे॥५९॥

५९। प० अनु०—समुद्र के तट पर चलते हुये वे आलालनाथ के मार्ग पर आ गये। तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीगोपीनाथ आचार्य से कहा—

अमृतप्रवाह भाष्य

५९। समुद्र के तट से होते हुए दक्षिण की ओर जाने में पुरी से छह कोस की दूरी पर 'आलालनाथ' नामक गाँव है। वहाँ पर 'आलालनाथ'—चतुर्भुज-वासुदेव-विग्रह है। वन के बीच में एक छोटे से गाँव में उनका मन्दिर है, वहाँ पर बहुत ही उत्तम खीर का भोग होता है। वहाँ के पण्डे अभी तक भी (ठाकुरजी के अङ्गों में पड़े) गर्म खीर के चिह्न विग्रह में दिखाते हैं।

गोपीनाथ द्वारा सार्वभौम का ४ कौपीन-बहिर्वास को घर से मँगवाकर प्रभु को प्रदान करना—

चारि कोपीन-बहिर्वास राखियाछि घरे।
ताहा, प्रसादान्न, लञा आइस विप्रद्वारे॥६०॥

६०। प० अनु०—"मैंने घर में चार कौपीन और बहिर्वास रखे हैं उसे एवं प्रसाद अन्न को किसी ब्राह्मण की सहायता से ले आइये।"

रायरामानन्द के साथ मिलने के लिये
सार्वभौम का प्रभु से अनुरोध—

तबे सार्वभौम कहे प्रभुर चरणे।
अवश्य पालिबे, प्रभु, मोर निवेदने॥६१॥
'रामानन्द राय' आछे गोदावरी-तीरे।
अधिकारी हयेन तिंहो विद्यानगरे॥६२॥
शूद्र विषयी-ज्ञाने उपेक्षा ना करिबे।
आमार वचने ताँरे अवश्य मिलिबे॥६३॥

६०-६३। प० अनु०—जब श्रीचैतन्य महाप्रभु जा रहे थे, तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने उनसे कहा—"मैं आपसे एक निवेदन करना चाहता हूँ, हे प्रभु! आप मेरी प्रार्थना को अवश्य मानना, 'रामानन्द राय' नामक एक व्यक्ति गोदावरी के तट पर स्थित विद्यानगर के राज-कर्मचारी हैं। उन्हें शुद्र तथा विषयी जानकर आप उनकी उपेक्षा मत करना। मेरी बात मानकर आप उनसे अवश्य ही मिलना।

अमृतप्रवाह भाष्य

६२। अधिकारी,—राजा का प्रधान कर्मचारी। विद्या-नगर को आजकल 'पोरबन्दर' कहते हैं।

अनुभाष्य

६३। शूद्र—उत्कल देश (उड़ीसा) के समाज में करण-जाति 'शौक्र-शूद्र' के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीरामानन्द करण-जाति में आविर्भूत हुए थे; इसलिये लौकिक दृष्टि में वे शौक्र शूद्र होने पर भी वास्तव में ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणों के गुरु परमहंस-वैष्णव थे।

विषयी,—स्त्री-पुरुष आदि की कथा में रत अथवा बाह्य-रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श प्रभृति विषयों में ज्ञानेन्द्रियों को लगाकर उन्हीं में प्रमत रहने वाला। श्रीरामानन्द बाहरी दृष्टिकोण से कौपीनधारी संन्यासी नहीं थे, इसलिये लौकिक दृष्टि कोण से वे राजा के दास होने के कारण विषयी थे, किन्तु वास्तव में वे विद्वत् अथवा नरोत्तम-संन्यासी थे।

सार्वभौम भट्टाचार्य ने पहले वैष्णव नहीं होने पर भी रामानन्द राय की नैसर्गिक (स्वाभाविक) वैष्णवता की उपलब्धि की थी। और फिर, प्रभु की कृपा से भक्त बनने के बाद रामानन्द की आलोचना करके उनको 'अधिकारी रसिकभक्त' के रूपमें पहचाना था।

राय-रामानन्द की प्रशंसा—

तोमार सङ्गेर योग्य तिंहो एकजन।
पृथिवीते रसिक भक्त नाहि ताँर सम॥६४॥
पाण्डित्य आर भक्तिरस,—दुँहेर तिंहो सीमा।
सम्भाषिले जानिबे तुमि ताँहार महिमा॥६५॥

६४-६५। प० अनु०—रामानन्द राय आपके सङ्ग करने योग्य हैं, उनके समान पृथ्वी पर और कोई भी रसिक भक्त नहीं है। वे पाण्डित्य और भक्तिरस की चरम सीमा है। उनसे आलोचना करने पर आप स्वयं ही उनकी महिमा जान पायेंगे।

पहले वैष्णवों को स्मार्त्त व्यक्तियों की अपेक्षा
छोटा मानने के कारण भट्ट द्वारा उनका उपहास—

अलौकिक वाक्य चेष्टा ताँर ना बुझिया।
परिहास करियाछि ताँरे 'वैष्णव' जानिया॥६६॥

६६। प० अनु०—मैं उनके अलौकिक वचनों तथा उनके क्रिया-कलापों को समझ नहीं पाता था तथा मैं उन्हें 'वैष्णव' जानकर उनका परिहास करता था।

अनुभाष्य

६६। चैतन्य विमुख प्रकृति-वादी ज्ञानी और कर्मी चैतन्याश्रित वैष्णवों के प्रति ऐसे ही व्यङ्ग किया करते हैं। पहले वाला दल—प्रत्यक्ष-अनुमान को ही सर्वस्व मानने वाला अक्षज-ज्ञानमत तर्कपन्थी; बाद में कहा गया व्यक्ति शब्द प्रमाण को सम्बल बनाने वाला अधोक्षज भगवान् का सेवक और श्रौतपन्थी।

बाद में श्रीचैतन्य की कृपा से चिन्मय
वैष्णव की महिमा की उपलब्धि—

तोमार प्रसादे एबे जानिनु ताँर तत्त्व।
सम्भाषिले जानिबे ताँर जेमन महत्त्व॥"६७॥

६७। प० अनु०—परन्तु अब आपकी कृपा से मैं राय रामानन्द की महिमा को जान सका हूँ। उनके साथ वार्त्तालाप करके आप भी उनके महत्त्व को जान पायेंगे।"

प्रभु द्वारा सार्वभौम के वाक्यों
को पालन करने की सम्मति—

अङ्गीकार करि' प्रभु ताँहार वचन।
ताँरे विदाय दिते ताँरे कैल आलिङ्गन॥६८॥

६८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के वचनों को स्वीकार किया और उन्हें विदाई देने के लिये प्रभु ने उनका आलिङ्गन किया।

प्रभु द्वारा गृहस्थ
वैष्णव को सम्मान—

"घरे कृष्ण भजि' मोरे करिह आशीर्वादे।
नीलाचले आसि' जेन तोमार प्रसादे॥"६९॥

६९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य से कहा—"घर में श्रीकृष्ण का भजन करते समय आप मुझे आशीर्वाद प्रदान करते रहना, जिससे मैं आपकी कृपा से पुनः नीलाचल लौट पाऊँ।"

अनुभाष्य

६९। कृष्ण सेवक बाहरी दृष्टिकोण से गृहस्थ आश्रम को अलंकृत करने पर भी, वास्तविकता में, साधारण गो (अर्थात् इन्द्रियों के) दास गृहव्रत धारण करने वाले अथवा गृहमेधी व्यक्तियों के समान नहीं है। "जे दिन गृहे भजन देखि, गृहेते गोलोक भाय" (ठाकुर श्रील भक्तिविनोद द्वारा रचित शरणागति का कीर्त्तन)—इस बात का काय-मन और वचन से कीर्त्तन करने के लिये गृहस्थ-वैष्णव ही एकमात्र अधिकारी है; इसलिये श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों में आश्रित वास्तविक शुद्ध-गृहस्थ वैष्णव संन्यासियों के भी प्रणम्य और गुरु हैं, इसी (आदर्श) को ही प्रभु ने कृष्ण भजन की महिमा को नहीं जानने वाले जीवों को शिक्षा देने के लिये सार्वभौम भट्टाचार्य से आशीर्वाद की भिक्षा माँगकर दिखाया।

प्रभु की यात्रा और सार्वभौम की मूर्च्छा—

एत बलि' महाप्रभु करिला गमन।
मूर्च्छित हञा ताँहा पड़िला सार्वभौम॥७०॥

७०। प० अनु०—इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु आगे बढ़ गये तथा श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़े।

निरपेक्ष प्रभु—

ताँरे उपेक्षिया कैल शीघ्र गमन।
के बुझिते पारे महाप्रभुर चित्त-मन॥७१॥
महानुभावेर चित्तेर स्वभाव एइ हय।
पुष्प-सम कोमल, कठिन वज्रमय॥७२॥

७१-७२। प० अनु०—यद्यपि श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य मूर्च्छित होकर गिर पड़े तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु ने देखा भी, तब भी श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य की उपेक्षा करके तुरन्त चले गये। श्रीचैतन्य महाप्रभु के चित्त और मन को कौन जान सकता है? महानुभाव व्यक्ति के चित्त का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे पुष्प के समान कोमल और वज्र के समान कठोर होते हैं।

अनुभाष्य

७१-७२। प्रभु की निरपेक्षता—मध्य तृतीय परिच्छेद २१२ संख्या द्रष्टव्य।

परस्पर विरुद्ध-धर्म के समाश्रय भगवान की भाँति
भगवदभक्त भी कोमल और कठोर—(भवभूतिकृत
'उत्तर-रामचरित्र' के तृतीय अंक का २७ संख्यक श्लोक)

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमीश्वरः॥७३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७३। अलौकिक पुरुषों का चित्त वज्र से भी कठोर, और कुसुम (पुष्प) से भी कोमल (होता है); दूसरे लोग उसको समझने के योग्य नहीं होते।

अनुभाष्य

७३। वज्रात अपि कठोराणि, कुसुमात् (पुष्पात्)

अपि मृदूनि (कोमलानि); लोकोत्तराणां (असाधारण लौकिकाना) चेतांसि (अन्तःकरणनि) विज्ञातुं (बोद्धुं) कः नु ईश्वरः (समर्थः)?

निताई द्वारा सार्वभौम
को घर भेजना—

नित्यानन्दप्रभु भट्टाचार्य्ये उठाइल।
ताँर लोकसङ्गे ताँरि घरे पाठाइल॥७४॥

७४। प॰ अनु॰—श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को उठाया और उनके सेवकों के साथ उन्हें घर भेज दिया।

भक्तों के साथ आलालनाथ
में आगमन—

भक्तगण शीघ्र आसि' लैल प्रभुर साथ।
वस्त्र-प्रसाद लञा तबे आइला गोपीनाथ॥७५॥
सबा-सङ्गे प्रभु तबे आलालनाथ आइला।
नमस्कार करि' तारे बुहुस्तुति कैला॥७६॥

७५-७६। प॰ अनु॰—भक्तगण भी शीघ्र आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ आ मिले और वस्त्र और प्रसाद लेकर श्रीगोपीनाथ आचार्य भी आ पहुँचे। तब सब भक्तों के साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु आलालनाथ आ गये और वहाँ भगवान् श्रीआलालनाथ को प्रणाम करके बहुत स्तव स्तुति करने लगे।

अनुभाष्य

७५। साथ—सङ्ग में।

आलालनाथ नारायण का दर्शन कर
प्रभु द्वारा स्तव और नृत्य-गीत—

प्रेमावेशे नृत्यगीत कैल कतक्षण।
देखिते आइला ताँहा बैसे जत जन॥७७॥

७७। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने प्रेमाविष्ट होकर बहुत देर तक नृत्य-गीत किया और वहाँ रहने वाले समस्त लोग उन्हें देखने के लिये आये।

प्रभु के दर्शनों के लिये बहुत लोगों
का आगमन और हरि-संकीर्त्तन—

चौदिकेते सब लोक बले 'हरि' 'हरि'।
प्रेमावेशे मध्ये नृत्य करे गौरहरि॥७८॥
काञ्चन-सदृश देह, अरुण वसन।
पुलकाश्रु-कम्प-स्वेद ताहाते भूषण॥७९॥
देखिया लोकेर मने हैल चमत्कार।
जत लोक आइसे, केह नाहि जाय घर॥८०॥
केह नाचे, केह गाय 'श्रीकृष्ण' 'गोपाल'।
प्रेमेते भासिल लोक,—स्त्री-वृद्ध-आबाल॥८१॥
देखि' नित्यानन्द प्रभु कहे भक्तगणे।
एइरूपे आगे नृत्य हबे ग्रामे ग्रामे॥८२॥

७८-८२। प॰ अनु॰—चारों ओर सब लोग एकत्रित होकर 'हरि' 'हरि' कहने लगे और बीच में श्रीगौरहरि प्रेमाविष्ट होकर नृत्य कर रहे थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु की देह स्वर्ण के समान और उनके वस्त्र अरुण वर्ण के थे। उनका रूप पुलक, अश्रु, कम्प और स्वेदादि विकारों से भूषित हो रहा था। श्रीचैतन्य महाप्रभु के अपूर्व रूप तथा सात्त्विक विकारों को देखकर लोगों का मन चमत्करित हो रहा था, जो भी वहाँ आ रहा था उनमें से कोई भी अपने घर लौटकर नहीं जा रहा था। उन लोगों में से कोई नृत्य कर रहा था, कोई 'श्रीकृष्ण' 'श्रीगोपाल' कहता हुआ गान कर रहा था। इस प्रकार बालक से लेकर स्त्री तथा वृद्ध आदि सभी प्रेम में डूब रहे थे। इस दृश्य को देखकर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने भक्तों से कहा—"आगे भी गाँव-गाँव में इसी प्रकार का नृत्य होगा।"

अनुभाष्य

८१। आदि सप्तम परिच्छेद २५ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु को छोड़ने की लोगों में अनिच्छा
देखकर प्रसाद प्रदान करने के छल से
प्रभु को वहाँ से हटाना—

अतिकाल हैल, लोक छाड़िया ना जाय।
तबे नित्यानन्द-गोसाञि सृजिला उपाय॥८३॥

मध्याह्न करिते गेला प्रभुके लञा।
ताहा देखि' लोक आइसे चौदिके धाञा॥८४॥

८३-८४। प० अनु०—बहुत समय हो जाने पर भी जब लोग श्रीचैतन्य महाप्रभु को छोड़कर जा नहीं रहे थे। तब श्रीनित्यानन्द गोसाञि ने एक उपाय निकाला। वे श्रीचैतन्य महाप्रभु को मध्याह्न (दोपहर का भोजन, स्नान इत्यादि) कराने के लिये ले जाने लगे, ऐसा देखकर लोग भी चारों ओर से दौड़कर उसी ओर आने लगे।

अनुभाष्य

८३। अतिकाल,—समय के व्यतीत हो जाने पर।

भक्तों का मन्दिर के भीतर प्रवेश—

मध्याह्न करिते आइला देवता-मन्दिरे।
निजगण प्रवेशि' कपाट दिल बहिर्द्वारे॥८५॥

८५। प० अनु—मध्याह्न करने के लिये श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ श्रीआलालनाथ मन्दिर के भीतर आ गये तथा श्रीनित्यानन्द प्रभु ने अपने गण को प्रवेश कराके द्वार बन्द कर दिया।

गोपीनाथ के द्वारा प्रभु को भिक्षा प्रदान
और भक्तों को प्रभु के अवशेष की प्राप्ति—

तबे दुइ प्रभुरे गोपीनाथ भिक्षा कराइल।
प्रभुर शेष प्रसादान्न सबे बाँटि' खाइल॥८६॥

८६। प० अनु—तब श्रीगोपीनाथ आचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु को भोजन कराया और उनके अवशेष अन्न प्रसाद को सब भक्तों ने बाँटकर खा लिया।

मन्दिर के बाहर प्रभु के दर्शनों के
लिये अनेक लोगों का समागम—

शुनि' शुनि' लोक-सब आसि' बहिर्द्वारे।
'हरि' 'हरि' बलि' लोक कलरव करे॥८७॥

८७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के आगमन की बात को लोगों के मुख से सुन-सुनकर बहुत से लोग श्रीआलालनाथ के द्वार पर एकत्रित हो गये और सभी 'हरि' 'हरि' बोलकर कोलाहल करने लगे।

मन्दिर के द्वार का खुलना और
सभी को प्रभु का दर्शन प्राप्त—

तबे महाप्रभु द्वार कराइल मोचन।
आनन्दे आसिया लोक पाइल दरशन॥८८॥

८८। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मन्दिर का द्वार खुलवा दिया और सभी लोग आकर आनन्दपूर्वक प्रभु का दर्शन करने लगे।

सारा दिन लोगों को प्रभु के दर्शन
के फल से वैष्णवता की प्राप्ति—

एइमत सन्ध्या पर्यन्त लोक आसे, जाय।
'वैष्णव' हइल लोक, सबे नाचे, गाय॥८९॥

८९। प० अनु०—इस प्रकार सायंकाल तक लोग आते-जाते रहे और सभी वैष्णव बनकर नृत्य-गान करने लगे।

आलालनाथ में भक्तों के साथ रात्रि वास—

एइरूपे सेइ ठाञि भक्तगण-सङ्गे।
सेइ रात्रि गोङाइल कृष्णकथा-रङ्गे॥९०॥

९०। प० अनु०—इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने वह रात भक्तों के साथ कृष्ण कथा की आलोचना में ही व्यतीत कर दी।

प्रातः पुनः यात्रा—

प्रातःकाले स्नान करि' करिला गमन।
भक्तगणे विदाय दिला करि' आलिङ्गन॥९१॥

९१। प० अनु—अगले दिन सुबह होते ही श्रीचैतन्य महाप्रभु ने स्नान किया और भक्तों को आलिङ्गन करके विदाई देने के उपरान्त दक्षिण-भारत की ओर चल दिये।

प्रभु की निरपेक्षता—

मूर्च्छित हञा सबे भूमिते पड़िला।
ताँहा-सबा पाने प्रभु फिरि' ना चाहिला॥९२॥

९२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के चले जाने से सब भक्त मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर गये। परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें मुड़कर देखा तक भी नहीं।

अनुभाष्य

९२। मध्य तृतीय परिच्छेद २१२ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य।

प्रभु के पीछे-पीछे जल-पात्रादि वाहक कृष्णदास—

विच्छेदे व्याकुल प्रभु चलिला दुःखी हञा।
पाछे कृष्णदास जाय जलपात्र लञा॥९३॥

९३। प० अनु०—कृष्ण विरह में व्याकुल होकर दुःखी अन्तःकरण से श्रीचैतन्य महाप्रभु चले जा रहे थे और उनके पीछे-पीछे कृष्णदास जलपात्र को हाथ में लेकर चल रहे थे।

उसी दिन भक्तों का उपवास करते हुये पुरी में गमन—

भक्तगण उपवासी ताँहाइ रहिला।
आर दिने दुःखी हञा नीलाचले आइला॥९४॥
मत्तसिंह-प्राय प्रभु करिला गमन।
प्रेमावेशे जाय करि' नाम-संकीर्तन॥९५॥

९४-९५। प० अनु०—उस दिन भक्तों ने उपवास किया तथा वहीं पर ही रहे और फिर दूसरे दिन दुःखी होकर नीलाचल लौट आये। दूसरी ओर, श्रीचैतन्य महाप्रभु मत्तसिंह की भाँति प्रेमाविष्ट होकर चलते समय श्रीनाम- संकीर्त्तन कर रहे थे।

श्रीमुख कीर्त्तित-श्लोक—

कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण!
कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! हे।
कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण!
कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! हे॥
कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण!
कृष्ण! कृष्ण! रक्ष माम्।
कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण!
कृष्ण! कृष्ण! पाहि माम्॥
राम! राघव! राम! राघव!
राम! राघव! रक्ष माम्।
कृष्ण! केशव! कृष्ण! केशव!
कृष्ण! केशव! पाहि माम्॥९६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९६। रक्ष मां,—मेरी रक्षा कीजिए; पाहि मां,—मेरा पालन कीजिए।

लोगों को हरिनाम दान—

एइ श्लोक पड़ि' पथे चलिला गौरहरि।
लोक देखि' पथे कहे,—बल 'हरि' 'हरि'॥९७॥

९७। प० अनु०—उपरोक्त श्लोक का उच्चारण करते-करते श्रीगौरहरि मार्ग पर चले जा रहे थे और उन्होंने मार्ग में किसी व्यक्ति को देखकर उसे भी 'हरि' 'हरि' बोलने के लिये कहा।

प्रभु के मुख से नाम-श्रवण करने से लोगों द्वारा हरिनाम-ग्रहण—

सेइ लोक प्रेममत्त हञा बले 'हरि' 'कृष्ण'।
प्रभुर पाछे सङ्गे जाय दर्शन-सतृष्ण॥९८॥

९८। प० अनु—वह व्यक्ति भी प्रेम में उन्मत्त होकर 'हरि' 'कृष्ण' बोलने लगा और श्रीचैतन्य महाप्रभु के निरन्तर दर्शन करने के लिये उत्कण्ठित होकर उनके पीछे-पीछे चलने लगा।

प्रभु की शक्ति के सञ्चार से उस वैष्णव के द्वारा उसके ग्राम में सभी को वैष्णवता की प्राप्ति—

कतक्षणे रहि' प्रभु तारे आलिङ्गिया।
विदाय करिल तारे शक्ति सञ्चारिया॥९९॥
सेइजन निज-ग्रामे करिया गमन।
'कृष्ण' बलि' हासे, कान्दे, नाचे अनुक्षण॥१००॥
जारे देखे, तारे कहे,—कह कृष्णनाम।
एइमत 'वैष्णव' कैल सब निज-ग्राम॥१०१॥

९९-१०१। प० अनु०—कुछ समय के बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उसे आलिङ्गन किया और उसमें शक्ति सञ्चारित करके उसे विदा किया। वे व्यक्ति अपने ग्राम में जाकर अनुक्षण 'कृष्ण' का नाम उच्चारण करते हुए कभी तो हँसता, कभी रोता, तो कभी नृत्य करने लगता। वे जिसको भी देखता उसे कृष्णनाम करने को कहता। इस प्रकार उसने अपने सारे ग्रामवासियों को ही वैष्णव बना दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

९९। शक्ति सञ्चारिया (शक्ति सञ्चार करके),—ह्लादिनी-शक्ति के सारभाग और सम्विद्-शक्ति के सारभाग,—दोनों मिलकर 'भक्ति-शक्ति' बनते हैं। कृष्ण अथवा भक्त कृपा करके उस शक्ति का जिसमें सञ्चार करते हैं, वह 'परमभक्त' बन जाता है। महाप्रभु जिस पर कृपा करते थे, उसमें वैसी शक्ति सञ्चार करके वैष्णव धर्म के प्रचार का भार अर्पण करते थे।

अन्य ग्रामवासियों की भी उस वैष्णव के दर्शन
के कृपारूपी फल से वैष्णवता की प्राप्ति—

ग्रामान्तर हैते देखिते आइल जत जन।
ताँर दर्शन-कृपाय हय ताँर सम॥१०२॥

१०२। प० अनु०—दूसरे ग्राम से भी जो कोई व्यक्ति इन वैष्णव का दर्शन करने आता वे भी इनके दर्शन रूपी कृपा से उन्हीं के समान वैष्णव बन जाता।

इस प्रकार सभी दक्षिणवासियों का
उद्धार और वैष्णवता की प्राप्ति—

सेइ जाइ' ग्रामेर लोक वैष्णव करय।
अन्यग्रामी आसि' ताँरे देखि' वैष्णव हय॥१०३॥
सेइ जाइ' अन्य ग्रामे करे उपदेश।
एइमत 'वैष्णव' हैल सब दक्षिण-देश॥१०४॥

१०३-१०४। प० अनु०—जब ये वैष्णव अपने ग्राम जाता तो वे भी अपने ग्राम के सभी लोगों को वैष्णव बना देता और जब अन्य ग्राम के लोग इनका दर्शन करने आते तो वे भी वैष्णव बन जाते। इस प्रकार वैष्णव बन जाने के बाद वे दूसरे ग्राम में जाकर श्रीकृष्णनाम करने का उपदेश प्रदान करने लगे। ऐसे करते-करते समस्त दक्षिण-वासी वैष्णव बन गये।

प्रभु के द्वारा बहुत भाग्यवान्
जीवों का उद्धार—

एइमत पथे जाइते शत शत जन।
'वैष्णव' करेन ताँरे करि' आलिङ्गन॥१०५॥

१०५। प० अनु०—इस प्रकार मार्ग पर चलते-चलते श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सैकड़ो लोगों को आलिङ्गन करके वैष्णव बना दिया था।

प्रभु को भिक्षा देने वाले दाताओं तथा दर्शन करने
वालों को भी वैष्णवता की प्राप्ति और बाद में
उनके आचार्य बनने पर बहुत लोगों का उद्धार—

जेइ ग्रामे रहि' भिक्षा करेन जाँर घरे।
सेइ ग्रामेर जत लोक आइसे देखिबारे॥१०६॥
प्रभुर कृपाय हय महाभागवत।
सेइसब आचार्य हञा तारिल जगत्॥१०७॥

१०६-१०७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु जिस ग्राम में रहकर भिक्षा ग्रहण करते, उस ग्राम के सभी लोग श्रीचैतन्य महाप्रभु का दर्शन करने आते। श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा से वे सब महाभागवत बन गये और बाद में उन्होंने आचार्य बनकर जगत का उद्धार किया।

इस प्रकार समस्त
दक्षिणदेश का उद्धार—

एइमत कैला यावत् गेला सेतुबन्धे।
सर्वदेश 'वैष्णव' हैल प्रभुर सम्बन्धे॥१०८॥

१०८। प० अनु०—इस प्रकार लोगों का उद्धार करते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु सेतुबन्ध तक गये एवं उनके प्रभाव से सम्पूर्ण दक्षिण-देशवासी वैष्णव बन गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०८। सेतुबन्ध,—सेतुबन्ध-रामेश्वर समुद्र के तट पर, 'रामनद' की दूसरी ओर; भारतवर्ष के दक्षिण प्रान्त में।

प्रभु की कृपा-महिमा नवद्वीप से
दक्षिणदेश में अधिक प्रकाशित—

नवद्वीपे जेइ शक्ति ना कैला प्रकाशे।
सेइ शक्ति प्रकाशि' निस्तारिल दक्षिणदेशे॥१०९॥

१०९। प० अनु०—जिस शक्ति को श्रीचैतन्य महाप्रभु ने नवद्वीप में भी प्रकाशित नहीं किया था उस शक्ति को प्रकाशित करके उन्होंने दक्षिणदेश का उद्धार किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०९। नवद्वीप धाम होने पर भी वहाँ उस समय न्याय और स्मृति शास्त्रों की विशेष प्रबलता होने के कारण, उन-उन शास्त्रों के अध्यापकों में से अनेक लोग तो बहिर्मुख थे, उनका उद्धार करने के लिये प्रभु ने किसी विशेष शक्ति का प्रकाश नहीं किया, इसलिये ग्रन्थकार ने ऐसा कहा है।

श्रीचैतन्य के भक्तों को ही भगवान
की कृपा शक्ति में विश्वास—

प्रभुके जे भजे, तारे ताँर कृपा हय।
जेइ से ए-सब लीला सत्य करि' लय॥११०॥

११०। प० अनु०—जो व्यक्ति श्रीचैतन्य महाप्रभु का भजन करता है उसी पर महाप्रभु की कृपा होती है और वे ही उनकी इन सब लीलाओं को सत्य मानता है।

अप्राकृत-लीला में विश्वास के फलस्वरूप
ही नित्यकल्याण की प्राप्ति, अन्यथा अक्षज-
ज्ञान के द्वारा सर्वनाश—

अलौकिक-लीलाय जार ना हय विश्वास।
इहलोक, परलोक तार हय नाश॥१११॥
प्रथमे कहिल प्रभुर जेरूपे गमन।
एइमत जानिह यावत् दक्षिण-भ्रमण॥११२॥

१११-११२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की इन अलौकिक लीलाओं पर जिन्हें विश्वास नहीं होता, उनका इहलोक और परलोक—दोनों का नाश हो जाता है। मैंने पहले जिस प्रकार से श्रीचैतन्य महाप्रभु के दक्षिण-भारत के भ्रमण का वर्णन किया है, उसी प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण दक्षिण-भारत का भ्रमण किया था।

अनुभाष्य

१११। श्रीकृष्णचैतन्य की अलौकिक लीला—प्रोझितकैतव, निरस्तकूहक, अप्राकृत चिद्ऐश्वर्यमयी—जीवों के नित्य चरम कल्याण को प्रदान करने वाली, अतएव वास्तव वस्तु; वह मायाबद्ध वञ्चक और वञ्चित जीवों के गुणमय धारणा से उत्पन्न हिंसामूलक अतिशयोक्ति (बढ़ा-चढ़ा कर कही गयी बात) नहीं है। अतिशयोक्ति अथवा कुहक के द्वारा, वञ्चक और वञ्चित दोनों का ही सेवा से विक्षेप होने के फलस्वरूप सर्वनाश होता है।

श्रीकूर्म स्थान में जाना और विग्रह दर्शन कर नत्य-गीत—

एइमत जाइते जाइते गेला कूर्मस्थाने।
कूर्म देखि' कैल ताँरै स्तवन-प्रणामे॥११३॥

११३। प० अनु०—इस प्रकार भ्रमण करते-करते श्रीचैतन्य महाप्रभु कूर्मस्थान पहुँचे तथा वहाँ उन्होंने कूर्मदेव के श्रीविग्रह का दर्शन करके भगवान् को प्रणाम करने के बाद उनका स्तव किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

११३। कूर्मस्थान,—तीर्थ; वहाँ पर कूर्म भगवान् का मन्दिर है। 'प्रपन्नामृत' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि, श्रीजगन्नाथ देव ने श्रीपुरुषोत्तम से श्रीरामानुज-स्वामी को कूर्मतीर्थ में रात के समय खींचकर फैंक दिया था।

अनुभाष्य

११३। कूर्मस्थान,—वि, एन, आर लाइन पर गञ्जाम जिले में 'चिकाकोल रोड़' स्टेशन से आठ मील पूर्व की ओर 'कूर्माचल' अथवा 'श्रीकूर्मम्' हैं; यह तेलगु भाषी लोगों का सबसे अधिक श्रेष्ठ तीर्थ है ('गञ्जाम म्यानुयेल')। वहाँ पर कूर्म भगवान् की मूर्त्ति विरामान है; श्रीरामानुज जिस समय एकादश-शत- शताब्दी में कूर्माचल में श्रीजगन्नाथ देव द्वारा फैंके गये, तब कूर्ममूर्त्ति को शिव समझकर उन्होंने उपवास किया, बाद में उसे विष्णु-मूर्त्ति जानकर कूर्मदेव की सेवा का प्रकाश किया;

यथा, प्रपन्नामृत के छतीसवें अध्याय में,—"तद्रात्रावेव योगीन्द्रं प्रापयामास सत्वरम्। श्रीकूर्मे लक्ष्मणाचार्यं श्रीहरिर्योगमायया॥ प्रभातायां तु शर्वर्यां तस्यां लक्ष्मण-देशिकः। उत्थाय सहसा धीयान् हरिर्हरिरितीरयन॥ दृष्ट्वा दश दिशः सम्यक् चिन्ता-व्याकुलमानसः। श्रीकूर्ममिति तत्क्षेत्रं ज्ञात्वा विस्मयागतः। श्रीकूर्म नायकं मत्वा शिवलिङ्गमितीरितम्। उपवासेन तत्रैकं वासरं स्थितवान् गुरुः॥ *** स्वप्ने प्रसन्नो भगवान् तस्य श्रीकूर्मनाथकः। व्याजहार शुभं वाक्यं कृपया यति-भूपतिम्। यतीन्द्राज्ञान-दोषेण शिवलिङ्गं जना हति। मां वदन्ति मृषा सर्वे मायान्धीकृत लोचनाः॥ वत्स्याम्यत्र स्वरूपेण शङ्खचक्र-गदाधरः। लक्ष्मणार्याधुना शीघ्रं त्वं मां सम्यग् विलोकय॥ *** अत्रैव पूजयन् मां त्वं दिनानि कतिचिद् वस॥ ततः स्वप्नात् समुत्थाय सन्तुष्टो विस्मयान्वितः। तथा विधाय योगीन्द्रस्तेनोक्तैनैव वर्त्मना॥ कूर्मनाथं समाराध्य तन्निवेदित भोजनम्। विधाय तस्य पादाग्रे सुखं तत्राव-सतदा॥ तदा प्रभृति सर्वत्र यतीन्द्रागम-वैभवात्। विष्णु-स्थलमिति ह्यासीत् श्रीकूर्मं विदितं महत्॥"

बाद में यह मन्दिर श्रीमाधव मठ की देख-रेख में विजय नगर के राजा के अधिकार में था। १२०३ शक के श्रीमाधव सम्प्रदाय के गुरु श्रीनरहरि तीर्थ की कथा के अनुसार जो नौ श्लोक पत्थर के ऊपर लिखे पाये गये हैं, उनका बङ्गाली (से हिन्दी) में अनुवाद यह है—

प्रथम श्लोक। पुण्यश्लोक यति ने पुरुषोत्तम विज्ञ के उपदेष्टा के रूप में जन्म ग्रहण किया। वे भगवान् विष्णु को बहुत प्रिय थे।

द्वितीय श्लोक। उनकी वाक्यावली जगत् में सब प्रकार से ग्रहण की गयी थी। हाथी के विध्वंस होने के समान विवाद आदि करने वालों की सभी युक्तियाँ पराजित हो गयी थी।

तृतीय श्लोक। आनन्दतीर्थ ने उनसे संस्कार प्राप्त किया। वे व्यास के विपथगामी मूर्ख शिष्यों को अपने द्वारा ग्रहण किये गये संन्यास दण्ड द्वारा सुपथ पर लाये थे।

चतुर्थ श्लोक। उनकी कथा रूपी माला विष्णु को बहुत प्रिय एवं वैकुण्ठसिद्धि-प्रदान करने में समर्थ थी।

पञ्चम श्लोक। उनकी भक्ति मूलक शिक्षायें मनुष्यों को हरि पादपद्म प्रदान करने में समर्थ है।

षष्ठ श्लोक। नरहरितीर्थ उनके निकट ही दीक्षित हुए एवं उन्होंने कलिङ्ग प्रदेश पर राज्य किया।

सप्तम श्लोक। नरहरितीर्थ ने शबरों के साथ युद्ध करके श्रीकूर्म मन्दिर की रक्षा की।

अष्टम श्लोक। नरहरितीर्थ का असीम साहस था।

नवम श्लोक। शुभ १२०३ शकाब्द के वैशाख मास की शुक्ल पक्षीय एकादशी तिथि पर बुधवार कामतदेव के सम्मुख श्रीमन्दिर निर्माण पूर्वक अशेष कल्याण करने वाले योगानन्द नृसिंहदेव के उद्देश्य से स्वानन्दपूर्वक उत्सर्गीकृत हुए। इति (अध्यापक किल् हर्ण कहते हैं) १२८१ खृष्टाब्द के २९ मार्च शनिवार।

प्रभु के नृत्य-गीत का दर्शन करने से लोगों में चमत्कार—

प्रेमावेशे हासि' कान्दि' नृत्य-गीत कैल।
देखि' सर्व लोकेर चित्ते चमत्कार हैल॥११४॥
आश्चर्य शुनिया लोक आइल देखिबारे।
प्रभुर रूप-प्रेम देखि' हैला चमत्कारे॥११५॥

११४-११५। प० अनु०—प्रेम में आविष्ट होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु कभी हँसने लगे, तो कभी रोने तथा इस प्रकार नृत्य करते हुए गीत गाने लगे, जिसे देखकर उपस्थित सब लोगों के अन्तःकरण चमत्कृत हो उठे। आश्चर्यपूर्ण घटना को सुनकर लोग प्रभु के दर्शन करने के लिये आये तथा प्रभु के रूप और उनके कृष्ण प्रेम को देखकर चमत्कृत हुए।

प्रभु के दर्शनों से लोगों को वैष्णवता की प्राप्ति—

दर्शने 'वैष्णव' हैल, बले 'कृष्ण' 'हरि'।
प्रेमावेशे नाचे लोक ऊर्ध्वबाहु करि'॥११६॥

११६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु का दर्शनकर लोग वैष्णव बन गये और 'कृष्ण' 'हरि' नाम का कीर्त्तन

करते-करते प्रेमाविष्ट होकर अपनी भुजाओं को ऊपर उठाकर नृत्य करने लगे।

उन्हीं लोगों के द्वारा उस देश का उद्धार—

कृष्णनाम लोकमुखे शुनि' अविराम।
सेइ लोक 'वैष्णव' कैल अन्य सब ग्राम॥११७॥

११७। प० अनु०—इन लोगों के मुख से निरन्तर कृष्णनाम को सुनने वाले व्यक्ति भी 'वैष्णव' बन गये तथा उनके मुख से नाम सुनने वाले व्यक्तियों ने भी अन्यान्य सब ग्राम के लोगों को भी वैष्णव बना दिया।

इस प्रकार समस्त देश का उद्धार—

एइमत परम्पराय देश 'वैष्णव' हैल।
कृष्णनामामृत-वन्याय देश भासाइल॥११८॥

११८। प० अनु०—इस प्रकार परम्परा क्रम से सम्पूर्ण दक्षिण भारत वैष्णव हो गया और कृष्णनाम रूपी अमृत की बाढ़ से सारा दक्षिण प्लावित हो गया।

विग्रह के सेवकों के द्वारा प्रभु का सम्मान—

कतक्षणे प्रभु यदि बाह्य प्रकाशिला।
कूर्मेर सेवक बहु सम्मान करिला॥११९॥

११९। प० अनु०—कुछ समय के बाद जब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपनी बाहरी चेतना को प्रकाशित किया, तब भगवान् कूर्म के सेवक ने उनका बहुत सम्मान किया।

सभी ग्रामों में जाकर प्रभु
द्वारा लोगों का उद्धार—

जेइ ग्रामे जाय ताँहा एइ व्यवहार।
एक ठाञि कहिल, ना कहिब आर बार॥१२०॥

१२०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु जिस-जिस ग्राम में जाते वहीं पर ही वे तथा उनके दर्शनकारी लोग ऐसा ही करते। [इसलिये कविराज गोस्वामी कह रहे हैं कि] एकबार तो मैंने इसका वर्णन कर दिया है, किन्तु बार-बार पुनः इसकी आवृत्ति नहीं करूँगा।

'कूर्म' नामक ब्राह्मण
के द्वारा प्रभु की पूजा—

'कूर्म'—नामे सेइ ग्रामे वैदिक ब्राह्मण।
बहु श्रद्धा-भक्त्ये कैल प्रभुर निमन्त्रण॥१२१॥
घरे आनि' प्रभुर कैल पाद प्रक्षालन।
सेइ जल वंश-सहित करिल भक्षण॥१२२॥
अनेक प्रकार स्नेहे भिक्षा कराइल।
गोसाञिर प्रसादान्न सवंशे खाइल॥१२३॥
जेइ पादपद्म तोमार ब्रह्मा ध्यान करे।
सेइ पादपद्म साक्षात् आइल मोर घरे॥१२४॥
मोर भाग्येर सीमा ना जाय कहन।
आजि मोर श्लाघ्य हैल जन्म-कुल-धन॥१२५॥

१२१-१२५। प० अनु०—कूर्मक्षेत्र में कूर्म नाम का एक वैदिक ब्राह्मण रहता था, उसने बहुत श्रद्धा और भक्तिपूर्वक श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपने घर पर निमन्त्रण किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपने घर लाकर उस ब्राह्मण ने उनके श्रीचरणों को धोया और उसने अपने वंश सहित श्रीमन् महाप्रभु के चरणामृत का पान किया। उस ब्राह्मण ने बहुत स्नेह से श्रीचैतन्य महाप्रभु को अनेक प्रकार का भोजन कराया और बाद में महाप्रभु के अवशिष्ट प्रसाद को अपने वंश सहित ग्रहण किया। श्रीमन् महाप्रभु की वन्दना करते हुए वे ब्राह्मण कहने लगा—"आपके जिन श्रीचरणकमलों का ब्रह्मा भी ध्यान करते हैं वे आज मेरे घर पर आये हैं। मेरे भाग्य की सीमा का शब्दों के माध्यम से वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि आज मेरा जन्म, कुल एवं धन इत्यादि सब धन्य हो गया।

प्रभु के साथ जाने के लिये
कूर्म विप्र की प्रार्थना—

कृपा कर, प्रभु, मोरे, याउ तोमा-सङ्गे।
सहिते नारिमु तोमार विरह-तरङ्गे॥"१२६॥

१२६। प० अनु०—हे प्रभो! कृपा करके आप मुझे अपने साथ ले जाइये। मैं आपके विरह ताप की तरङ्ग को सहन नहीं कर पाऊँगा।"

प्रभु के द्वारा सभी को ही आचार्य रूप से
कृष्णनाम-भक्ति प्रचार करने का आदेश—

प्रभु कहे,—"ऐछे बात कभु ना कहिबा।
गृहे रहि' कृष्ण-नाम निरन्तर लैबा॥१२७॥
जारे देख, तारे कह 'कृष्ण'-उपदेश।
आमार आज्ञाय गुरु हञा तार' एइ देश॥१२८॥
कभु ना बाधिबे तोमार विषय-तरङ्ग।
पुनरपि एइ ठाञि पाबे मोर सङ्ग॥"१२९॥
एइमत जाँर घरे करे प्रभु भिक्षा।
सेइ ऐछे कहे, ताँरे कराय एइ शिक्षा॥१३०॥

१२७-१३०। प० अनु०—यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"ऐसी बात फिर कभी भी मत कहना। घर में रहकर ही निरन्तर कृष्ण नाम ग्रहण करो। तुम जिसे देखो, उसे ही कृष्ण के उपदेश का श्रवण कराओ, इस प्रकार मेरी आज्ञा से गुरु बनकर तुम इस देश का उद्धार करो। विषय की तरङ्ग तुम्हें कभी भी बाँध नहीं पायेगी और तुम इसी स्थान पर पुनः मेरा सङ्ग प्राप्त करोगे।" इस प्रकार जिस किसी के घर में श्रीचैतन्य महाप्रभु भिक्षा ग्रहण करते, वही इस प्रकार उनके साथ जाना चाहता तथा महाप्रभु भी उसे इसी प्रकार की शिक्षा प्रदान करते।

अनुभाष्य

१३०। जिन्होंने अपना सर्वस्व त्याग करके एकान्तिक रूप से श्रीमन्महाप्रभु का आश्रय लेकर सेवा करने का सङ्कल्प किया, भगवान् श्रीगौरसुन्दर ने उनके भजन को स्वीकार करके यह शिक्षा दी है कि, गृह में रहकर अर्थात् (मैं) 'उत्कट भजन परायण' (हूँ), ऐसे अभिमान को त्याग करके गृहवास रूपी दैन्य के साथ निरन्तर कृष्णनाम ग्रहण रूपी आचरण करके शुद्ध कृष्णनाम-भजन का प्रचार करो। 'मैं सबसे श्रेष्ठ वैष्णव हूँ, शिष्य करने से गर्व रूपी भजन नष्ट होता है'—ऐसे उत्कट (प्रबल) भक्ताभिमान को त्याग करके दैन्य के साथ शुद्ध नाम ग्रहण का आचरण और शुद्धनाम प्रचार रूपी गुरु का कार्य करने से जड़ प्रतिष्ठा रूपी विषय की तरङ्ग प्रबल नहीं हो पाती। श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीजीव और श्रीरघुनाथ दास प्रभृति पार्षद महात्माओं द्वारा ग्रन्थ लिखकर उपदेश-प्रदान करने एवं श्रीमन् नरोत्तम, श्रीमाधव, रामानुज आदि द्वारा बहुत से शिष्यों को ग्रहण करने को भक्ति के अङ्ग का बाधक और विषय-तरङ्ग समझकर कल्पना करके अनेक निर्बोध (मूर्ख) लोग वास्तविक अकिञ्चन भक्तों के चरणों में अपराधी होते हैं। वे प्रभु के इस आदेश की भलीभाँति आलोचना करके अपने क्षुद्र गर्वपूर्ण दीन अभिमान को परित्याग करके हरि-विमुख व्यक्तियों के प्रति प्रतिशोध नहीं दिखाने जाकर गौर आनुगत्य पूर्वक जिससे अपने भजन की वृद्धि करें, इसलिये ही जगद् गुरु आचार्य के रूप में श्रीगौराङ्ग द्वारा यही शिक्षा प्रदान की गयी है।

पुरी में आने से पहले तक प्रभु द्वारा सभी को
आचार्य रूप में भक्ति-प्रचार करने का आदेश—

पथे जाइते देवालये रहे जेइ ग्रामे।
जाँर घरे भिक्षा करे, सेइ महाजने॥१३१॥
कूर्मे जैछे रीति, तैछे कैल सर्वठाञि।
नीलाचले पुनः यावत ना आइला गोसाञि॥१३२॥
अतएव इँहा कहिलाङ करिया विस्तार।
एइमत जानिबे प्रभुर सर्वत्र व्यवहार॥१३३॥

१३१-१३३। प० अनु०—भ्रमण के समय श्री चैतन्य महाप्रभु ग्राम के देवालय में रात्रि व्यतीत करते तथा जिस किसी के घर में भिक्षा ग्रहण करते, उस महाजन को, कूर्म विप्र की भाँति ही उपदेश प्रदान करते। नीलाचल लौटकर नहीं आने पर्यन्त उन्होंने सर्वत्र यही उपदेश दिया। इसलिए मैंने (श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने) विस्तारपूर्वक श्रीकूर्म विप्र की कथा का उल्लेख किया है, अतएव यह निश्चित जानो कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने दक्षिण भारत भ्रमण करते समय सर्वत्र ऐसा ही आचरण किया था।

उस रात कूर्मगृह में वास—

एइमत सेइ रात्रि ताँहाइ रहिला।
प्रातःकाले प्रभु स्नान करिया चलिला॥१३४॥

१३४। प० अनु०—इस प्रकार उस रात श्रीचैतन्य महाप्रभु वहीं पर रह गये और अगले दिन प्रातःकाल स्नान करके वहाँ से चल दिये।

सुबह फिर से यात्रा—

प्रभुर अनुव्रजि' कूर्म बहु दूर आइला।
प्रभु ताँरे यत्न करि' घरे पाठाइला॥१३५॥

१३५। प० अनु०—कूर्मक्षेत्र के कूर्म नामक ब्राह्मण बहुत दूर तक श्रीचैतन्य महाप्रभु की अनुव्रज्या की अर्थात् उनके पीछे तक गये। अन्त में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें यत्नपूर्वक घर भेजा।

कुष्ठरोगी वासुदेव-विप्र का प्रभु के दर्शनों के लिये कूर्मविप्र के गृह में आगमन—

'वासुदेव'-नाम एक द्विज महाशय।
सर्वाङ्गे गलित कुष्ठ, ताते कीड़ामय॥१३६॥
अङ्ग हैते जेइ कीड़ा खसिया पड़य।
उठाञा सेइ कीड़ा राखे सेइ ठाञ॥१३७॥
रात्रिते शुनिला तिंहो गोसाञिर आगमन।
देखिबारे आइला प्रभाते कूर्मेर भवन॥१३८॥

१३६-१३८। प० अनु०—वासुदेव नामक महान् आशय वाले एक ब्राह्मण थे। उनके शरीर के सभी अङ्गों में गलित कुष्ठ रोग हो गया था, जिसके फलस्वरूप उनके सारे शरीर में घाव हो गये थे तथा उन घावों में भी कीड़े पड़ गये थे। इतने पर भी, यदि उनके किसी अङ्ग से कोई कीड़ा नीचे गिर जाता तो वे उसे उठाकर फिर उसी अङ्ग में रख देते। उन्हीं 'वासुदेव' नामक ब्राह्मण ने रात को सुना कि श्रीचैतन्य महाप्रभु का आगमन हुआ है, इसलिये सुबह होते ही वे कूर्म ब्राह्मण के घर प्रभु का दर्शन करने आ गये।

प्रभु के कूर्मक्षेत्र को छोड़कर चले जाने के संवाद को सुनकर वासुदेव का दुःख और विलाप—

प्रभुर गमन कूर्म-मुखेते शुनिञा।
भूमिते पड़िला दुःखे मूर्च्छित हञा॥१३९॥
अनेक प्रकार विलाप करिते लागिला।
सेइक्षणे आसि' प्रभु ताँरे आलिङ्गिला॥१४०॥

१४०। प० अनु०—वहाँ पहुँचने पर उसने कूर्म विप्र के मुख से जैसे ही सुना कि श्रीचैतन्य महाप्रभु तो वहाँ से चले गये हैं, वैसे ही वे दुःख से मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। [थोड़ी देर बाद जब उन्हें बाह्य चेतना आ गयी, तब] वे बहुत प्रकार से विलाप करने लगे तथा उस समय श्रीचैतन्य महाप्रभु ने वहाँ आकर उन्हें आलिङ्गन किया।

प्रभु द्वारा वासुदेव विप्र को आलिङ्गन प्रदान, जिसके फलस्वरूप विप्र की कुष्ठरोग से मुक्ति और सौन्दर्य की प्राप्ति—

प्रभु-स्पर्शे दुःख-सङ्गे कुष्ठ दूरे गेल।
आनन्द सहिते अङ्ग सुन्दर हइल॥१४१॥

१४१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु का स्पर्श पाते ही उनके दुःख के साथ-साथ उनका कुष्ठ रोग भी दूर हो गया और उनके हृदय में आनन्द के सञ्चार के साथ-साथ उनके सभी अङ्ग भी सुन्दर हो गये।

प्रभु की दया का दर्शन कर वासुदेव का स्तव—

प्रभुर कृपा देखि' ताँर विस्मय हैल मन।
श्लोक पड़ि' पाये धरि', करये स्तवन॥१४२॥

१४२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की ऐसी कृपा को देखकर वासुदेव विप्र को अत्यधिक आश्चर्य हुआ और वे श्रीमन्महाप्रभु के चरणकमलों को स्पर्श करके एक श्लोक के माध्यम से उनका स्तव करने लगे।

श्रीमद्भागवत (१०/८१/१६) में—

क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः॥१४३॥

१४३। कहाँ मैं अत्यधिक पापी और दरिद्र तथा कहाँ लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण! अयोग्य ब्राह्मण-सन्तान जानकर उन्होंने मुझे आलिङ्गन किया,—यह अत्यधिक आश्चर्य का विषय है।

अनुभाष्य

१४३। आदि लीला सप्तदश परिच्छेद ७८ द्रष्टव्य।

बहु स्तुति करि' कहे,—शुन, दयामय।
जीवे एइ गुण नाहि, तोमाते एइ हय॥१४४॥
मोरे देखि' मोर गन्धे पलाय पामर।
हेन-मोरे स्पर्श' तुमि,—स्वतन्त्र-ईश्वर॥१४५॥
किन्तु आच्छिलाङ्ग भाल अधम हञा।
एबे अहङ्कार मोर जन्मिबे आसिया॥१४६॥

१४४-१४६। प० अनु०—वासुदेव विप्र बहुत स्तुति करते हुये कहने लगे—"हे दयामय! जीवों में ऐसी कृपा का गुण नहीं हो सकता यह एकमात्र आप में ही सम्भव पर है। मुझे देखकर, मेरे शरीर की दुर्गन्ध से अत्यन्त पापी व्यक्ति भी मुझसे दूर भागते हैं और आपने मेरे जैसे व्यक्ति को स्पर्श किया! आप सचमुच स्वतन्त्र ईश्वर हैं। किन्तु हे प्रभु! मैं उस अधम अवस्था में ही अच्छा था क्योंकि अब मुझमें सौन्दर्य का अहंकार आ जायेगा।"

प्रभु द्वारा विप्र को आचार्य होकर कृष्णनाम का
उपदेश करते हुये जीवों को उद्धार करने का आदेश—

प्रभु कहे,—"कभु तोमार ना हबे अभिमान।
निरन्तर कह तुमि 'कृष्ण' 'कृष्ण' नाम॥१४७॥
कृष्ण उपदेशि' कर जीवेर निस्तार।
अचिराते कृष्ण तोमा करिबेन अङ्गीकार॥"१४८॥

१४७-१४८। प० अनु०—उसके वचन सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"तुम निरन्तर 'कृष्ण' 'कृष्ण' नाम करो, तुम्हें कभी भी अभिमान नहीं होगा। जीवों को कृष्ण के उपदेश का श्रवण कराके तुम उनका उद्धार करो, इससे श्रीकृष्ण तुम्हें भी शीघ्र ही अङ्गीकार करेंगे।

प्रभु की कृपा को स्मरण करके
कूर्म और वासुदेव का क्रन्दन—

एतेक कहिया प्रभु कैल अन्तर्ध्याने।
दुइ विप्र गलागलि कान्दे प्रभुर गुणे॥१४९॥

१४९। प० अनु०—श्रीवासुदेव विप्र को इस प्रकार उपदेश प्रदान करके श्रीचैतन्य महाप्रभु वहाँ से अन्तर्ध्यान हो गये। तब कूर्म एवं वासुदेव विप्र परस्पर का आलिङ्गन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु के गुणों का गान करते हुए क्रन्दन करने लगे।

इस आख्यान का नाम—वासुदेव का उद्धार,
प्रभु का नाम—'वासुदेवामृतप्रद'—

'वासुदेवोद्धार' एइ कहिल आख्यान।
'वासुदेवामृतप्रद' हैल प्रभुर नाम॥१५०॥
एइ त' कहिल प्रभुर प्रथम गमन।
कूर्म-दरशन, वासुदेव-विमोचन॥१५१॥

१५०-१५१। प० अनु०—इस प्रकार मैंने (श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने) 'वासुदेव का उद्धार नामक उपाख्यान का वर्णन किया है। वासुदेव विप्र का उद्धार करने के कारण ही श्रीचैतन्य महाप्रभु का नाम 'वासुदेवामृतप्रद' हो गया। इस प्रकार मैंने श्रीचैतन्य महाप्रभु के द्वारा प्रथम यात्रा के समय किये गये कूर्मदेव के दर्शन और वासुदेव के उद्धार का वर्णन किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५०। श्रीसार्वभौम द्वारा रचित श्रीचैतन्य महाप्रभु के सौ नामों में यह नाम भी है।

सप्तम परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

चैतन्य लीला को श्रवण करने से
अचैतन्य-सेवक को चैतन्य की प्राप्ति—

श्रद्धा करि' एइ लीला जे करे श्रवण।
अचिराते मिलये तारे चैतन्य-चरण॥१५२॥

१५२। प॰ अनु॰—जो श्रद्धापूर्वक श्रीचैतन्य महाप्रभु की इस लीला का श्रवण करता है उसे शीघ्र ही श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों की प्राप्ति होती है।

अनुभाष्य

१५२। ऐई लीला (यह लीला),—श्रीकृष्ण चैतन्य द्वारा अचैतन्य जीवों में चैतन्य सम्पादित होने के बाद वे सब जीव, जो चेतना को प्राप्त करके कृष्ण सेवोन्मुख हुए हैं, पुनः आचार्य के रूप में दूसरे-दूसरे अचैतन्य जीवों में चेतनता सम्पादन करके उन्हें कृष्ण सेवा में उन्मुख कराते रहते हैं। इस प्रकार अच्युत-गोत्र की वृद्धि अर्थात् श्रौत-पन्था के प्रसार द्वारा श्रीगौरसुन्दर की अवतार-वाद-माहात्म्य-प्रदर्शन-लीला।

सप्तम परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

गुरुमुख से श्रवण के फलस्वरूप
अथवा श्रौतपन्था से ही चैतन्य-सेवा—

चैतन्यलीलार आदि-अन्त नाहि जानि।
सेइ लिखि, जेइ महान्तेर मुखे शुनि॥१५३॥

१५३। प॰ अनु॰—मैं (कृष्णदास कविराज) चैतन्य लीला के आदि और अन्त को नहीं जानता हूँ। मैं केवल वही लिख रहा हूँ जो मैंने महाजनों के मुख से श्रवण किया है।

शुद्धभक्त के चरणों से शरणागति
ही चैतन्य की प्राप्ति का उपाय—

इथे अपराध मोर ना लइओ, भक्तगण।
तोमा-सबार चरण-मोर एकान्त शरण॥१५४॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे जार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥१५५॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्यखण्ड के अन्तर्गत दक्षिण यात्रा में 'वासुदेव उद्धार' नामक सप्तम परिच्छेद समाप्त।

१५४-१५५। प॰ अनु॰—हे भक्तगण! इसलिये मेरा अपराध मत लेना, आप सभी के चरण ही मेरे एकमात्र आश्रय हैं। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

❋❋❋

अष्टम परिच्छेद

कथासार—महाप्रभु ने जियड़-नृसिंह दर्शन करने के बाद गोदावरी के तट पर विद्यानगर में स्नान करने के उद्देश्य से आये राय रामानन्द के साथ भेंट की। परिचित होकर रामानन्द ने उन्हें उसी गाँव में कुछेक दिन रहने के लिये अनुरोध किया। उनके अनुरोध से किसी वैदिक-वैष्णव ब्राह्मण के घर पर महाप्रभु ने अवस्थान किया। सन्ध्या के समय जब रामानन्द राय ने दीन-हीन वेश में महाप्रभु के निकट आकर दण्ड्वत प्रणाम किया, तब महाप्रभु ने उन्हें साध्य का निर्णय करने के लिये श्लोक उच्चारण करने की आज्ञा दी। रामानन्द राय ने सबसे पहले वर्णाश्रम धर्म रूपी सज्जन के प्राथमिक धर्म का उल्लेख करके 'कर्मार्पण', बाद में 'आसक्ति रहित कर्म', उसके बाद 'ज्ञानमिश्राभक्ति' और अन्त में 'ज्ञान शून्य शुद्धभक्ति' के सम्बन्ध में जब उन्होंने कुछेक श्लोकों का उच्चारण किया, तब महाप्रभु ने अन्तिम (ज्ञान शून्य शुद्ध भक्ति) को 'साध्य वस्तु' के रूप में स्वीकार किया। पुनः भक्ति के सम्बन्ध में (महाप्रभु ने रामानन्द राय को) उच्च अधिकार का वर्णन करने के लिये कहा, राय ने सबसे पहले 'शुद्ध कृष्ण रति रूपा प्रेम भक्ति', बाद में 'दास्यप्रेम', उसके बाद 'सख्यप्रेम' और फिर 'वात्सल्य प्रेम' एवं अन्त में 'कान्त भागवत प्रेम' को 'साध्य सार' कहकर वर्णन किया। कान्तप्रेम किस प्रकार साध्यसार होता है, उसका भी राय रामानन्द ने विविध रूप से वर्णन किया। प्रभु ने जब उसे साध्यावधि के रूप में स्वीकार किया, तब राय रामानन्द द्वारा राधिका का प्रेम वर्णित हुआ; बाद में राय ने कृष्ण के स्वरूप, राधा के स्वरूप, रसतत्त्व के स्वरूप और प्रेमतत्त्व का वर्णन किया। उसके बाद महाप्रभु द्वारा जिज्ञासा करने पर, रामानन्द राय ने प्रेमविलास-विवर्त्त रूप विप्रलम्भगत-अधिरूढ़ भावमय स्वरचित एक गीत का वर्णन किया। अन्त में उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम सेवा रूपी परम साध्य वस्तु को प्राप्त करने के उपाय स्वरूप व्रजसखियों के आनुगत्य का विशेष रूप से विवरण प्रदान किया। कुछेक दिनों तक प्रत्येक रात्रि में अनेक प्रकार से कृष्ण की आलोचना करने के बाद, महाप्रभु के मूलतत्त्व और उनके स्वरूप को देखकर रामानन्द मूर्च्छित हो गये। कुछेक दिनों के बाद, रामानन्द को राजकार्य परित्याग करके पुरुषोत्तम जाने की आज्ञा देकर प्रभु ने दक्षिण की यात्रा की। इस समस्त विवरण को स्वरूप दामोदर के कड़चा के अनुसार कविराज गोस्वामी ने लिखा है।

(अ:प्र:भा:)

रामानन्द के द्वारा प्रभु के निज भक्तिसिद्धान्त का प्रचार—

सञ्चार्य रामाभिध-भक्तमेघे
स्वभक्तिसिद्धान्तचयामृतानि।
गौराब्धिरेतैरमुना वितीर्णै-
स्तज्ज्ञत्व-रत्नालयतां प्रयाति॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। सिद्धान्त रूपी अमृत के समुद्र स्वरूप श्रीगौराङ्ग ने रामानन्द नामक भक्तमेघ में अपनी भक्ति रूपी सिद्धान्तमृत का सञ्चारण करके, उनके द्वारा विस्तृत रूप से वर्णन किये गये उस भक्ति सिद्धान्त द्वारा पुनः स्वयं भक्तितत्त्वज्ञान-रूपी समुद्रता प्राप्त की।

अनुभाष्य

१। गौराब्धिः (श्रीगौराङ्गः एव अब्धिः सिद्धान्तमृत-समुद्रः) रामाभिध-भक्तमेघे (रामानन्दनामा) एव सिद्धान्त-मृतवर्षकमेघः तस्मिन्) स्वभक्तिसिद्धान्तचयामृतानि सञ्चार्य अमुना (रामानन्द-मेघेन) एतैः (स्व भक्ति-सिद्धान्तामृतैः) वितीर्णैः (व्याप्तैः निविड़ैः) तज्ज्ञत्व-

रत्नालयतां (तानि सिद्धान्तामृतानि जानाति यः सः एव तज्ज्ञः, तस्य भावः तज्ज्ञत्वम् एव रत्नं तस्य आलयतां सिद्धान्तामृताभिज्ञत्वरूपसमुद्रता) प्रयाति (प्राप्नोति)।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प० अनु०—श्रीकृष्णचैतन्य की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो एवं श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो।

जियड़नृसिंह का दर्शन और नृत्य-स्तुति एवं गीत—

पूर्व-रीते प्रभु आगे गमन करिला।
'जियड़नृसिंह-क्षेत्रे कतदिने गेला॥३॥
नृसिंह देखिया कैल दण्डवत्-प्रणति।
प्रेमावेशे कैल बहु नृत्य-गीत-स्तुति॥४॥
"श्रीनृसिंह, जय नृसिंह, जय जय नृसिंह।
प्रह्लादेश जय पद्मामुखपद्मभृङ्ग॥"५॥

३-५। प० अनु०—पहले की भाँति श्रीचैतन्य महाप्रभु सभी को वैष्णव करते हुये आगे चले और कुछ दिनों में ही 'जियड़ नृसिंह' क्षेत्र में आ पहुँचे। श्रीनृसिंह भगवान् का दर्शन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और प्रेमाविष्ट होकर उन्होंने बहुत नृत्य, गीत एवं स्तव किया।श्रीचैतन्य महाप्रभु ने स्तव करते हुए कहा—"श्रीनृसिंहदेव की जय हो, जय हो। प्रह्लाद महाराज के ईश्वर श्रीनृसिंहदेव की जय हो। श्रीलक्ष्मी के मुखकमल के मधुकर की जय हो।"

अनुभाष्य

३। जियड़-नृसिंहक्षेत्र—वि, एन, आर लाइन पर भिजागापटम अथवा विशाखापटनम् से पाँच मील उत्तर की ओर 'सिंहाचलम्' नामक स्थान है। 'सिंहाचल' नामक रेल स्टेशन भी है। श्रीनृसिंह देव का मन्दिर पर्वत की चोटी पर है। भिजागापटम में यह मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है एवं समृद्धि सम्पन्न और स्थापत्य कार्य (शिल्प) के श्रेष्ठ निदर्शन रूप में विराजमान है। एक पत्थर के टुकड़े पर लिखा हुआ देखा जाता है कि, राजा तृतीय गोङ्कार की एक भक्तिमती रानी ने श्रीविग्रह को स्वर्ण मण्डित करा दिया था—(भिजागापटम् गेजेटियार)। मन्दिर के निकट श्रीनृसिंहदेव के सेवक वृन्द और अन्यान्य अधिवासी वास करते हैं। आजकल पर्वत के ऊपर यात्रियों के ठहरने के लिये श्रीमन्दिर से लगे अनेक स्थान (धर्मशालाएँ) तथा बहुत से घर हैं। विजयमूर्त्ति आलोकमय स्थान पर एवं मूल नृसिंह मूर्त्ति बहुत अन्दर विराजमान है। कुछेक रामानुजीय श्रीवैष्णव-गण विजय नगर के राजा के अधीन श्रीमूर्त्ति की सेवा करते हैं।

५। पद्मामुखपद्मभृङ्ग, पद्मार अर्थात् अपने वक्ष पर विलास करने वाली लक्ष्मीदेवी के कान्त। भाः १/१/१ एवं १०/८७/१ श्लोक की टीका में श्रीधर स्वामि द्वारा रचित श्लोक—"प्रह्लाद-हृदयाह्लादं भक्त्याविद्याविदार-णम्। शरदिन्दुरुचिं वन्दे पारीन्द्रवदनं हरिम्॥" "वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि। यस्यास्ते हृदये सम्वित् तं नृसिंहमहं भजे॥"

श्रीनृसिंह अभक्तों के निकट कठोर
और भक्तों के निकट कोमल—
[श्रीमद्भागवत (७/९/१) की टीका
में श्रीधर स्वामि के द्वारा उद्धृत आगमवचन—]

उग्रोहप्यनुग्र एवायं स्वभक्तानां नृकेशरी।
केशरीव स्वपोतानामन्येषामुग्रविक्रमः॥६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६। केशरी (सिंह) जिस प्रकार उग्र विक्रम (खुंखार) होने पर भी अपनी सन्तान के प्रति उग्र (खुंखार) नहीं होता, उसी प्रकार श्रीनृसिंह देव हिरण्यकशिपु प्रभृति असुरों के प्रति उग्र होने पर भी प्रह्लाद आदि अपने भक्तों के प्रति स्नेह से पूर्ण होते हैं।

अनुभाष्य

६। अन्येषां (स्वपाल्यशावकभिन्नानां गजव्याघ्रादीनां सम्बन्धे) उग्रविक्रमः (प्रचण्ड पराक्रमः) स्वपोतानां

(निजशावकानां सम्बन्धे) शान्तः केशरी (सिंह) इव अयं नृकेशरी (नृसिंहदेव) उग्रः (प्रचण्डविक्रमः) अपि स्वभक्तानां (निजपाल्यदासना सम्बन्धे) अनुग्रः (शान्तः कोमलः वत्सलः)।

एइमत नाना श्लोक पड़ि' स्तुति कैल।
नृसिंह-सेवक माला-प्रसाद आनि' दिल॥७॥

७। प० अनु०—इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अनेक श्लोक पढ़कर नृसिंह भगवान् की स्तुति की और नृसिंह भगवान् के सेवक ने उन्हें प्रसादी माला लाकर दी।

सिंहाचल में रात्रिवास—

पूर्ववत् कोन विप्रे कैल निमन्त्रण।
सेइ रात्रि ताहाँ रहि' करिला गमन॥८॥

८। प० अनु०—पहले की भाँति किसी ब्राह्मण ने आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को निमन्त्रण दिया और उस रात श्रीचैतन्य महाप्रभु वहीं रह गये तथा अगले दिन पुनः यात्रा आरम्भ की।

प्रातकाल पुनः यात्रा—

प्रभाते उठिया प्रभु चलिला प्रेमावेशे।
दिग्‌विदिक् नाहि ज्ञान रात्रि-दिवसे॥९॥

९। प० अनु०—सुबह होते ही श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रेमाविष्ट होकर चलने लगे। उन्हें दिशा-विदिशा एवं रात और दिन का भी ज्ञान नहीं था।

गोदावरी के तट पर आगमन और गोदावरी को देखकर यमुना का उद्दीपन—

पूर्ववत् 'वैष्णव' करि' सर्व लोकगणे।
गोदावरी-तीरे प्रभु आइला कतदिने॥१०॥
गोदावरी देखि' हइल 'यमुना'-स्मरण।
तीरे वन देखि' स्मृति हैल वृन्दावन॥११॥
सेइ वने कतक्षण करि' नृत्य-गान।
गोदावरी पार हआ ताँहा कैल स्नान॥१२॥
घाट छाड़ि' कतदूरे जल-सन्निधाने।
बसि' प्रभु करे कृष्णनाम-सङ्कीर्तने॥१३॥

१०-१३। प० अनु०—पहले की भाँति सभी लोगों को वैष्णव बनाते हुये श्रीचैतन्य महाप्रभु कुछ दिनों में गोदावरी नदी के तट पर आ गये। गोदावरी को देखकर उन्हें यमुना का स्मरण हो आया और गोदावरी के तट पर स्थित वन को देखकर उन्हें वृन्दावन का स्मरण हो गया। उस वन में कुछ समय तक नृत्य-गान करने के बाद उन्होंने गोदावरी को पार करके उसमें स्नान किया। स्नान करने के बाद घाट से कुछ दूर जल के किनारे बैठकर श्रीचैतन्य महाप्रभु कृष्णनाम का सङ्कीर्तन करने लगे।

स्नान करने के लिये राय-रामानन्द का वहाँ पर आगमन—

हेनकाले दोलाय चड़ि' रामानन्द राय।
स्नान करिबारे आइला, बाजना बाजाय॥१४॥
ताँर सङ्गे बहु आइला वैदिक ब्राह्मण।
विधिमते कैल तिंहो स्नानादि-तर्पण॥१५॥

१४-१५। प० अनु०—उसी समय वाद्य यन्त्रों की ध्वनि के साथ पालकी पर चढ़कर, स्नान करने के उद्देश्य से श्रीरामानन्द-राय का वहाँ आगमन हुआ। उनके साथ बहुत से वैदिक ब्राह्मण भी आये थे, उन्होंने भी विधिवत तर्पण-स्नानादि किया।

रामानन्द के साथ मिलन के लिये प्रभु की व्यग्रता—

प्रभु ताँरे देखि' जानिल,—एइ रामराय।
ताँहारे मिलिते प्रभुर मन उठि' धाय॥१६॥

१६। प० अनु०—उन्हें देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु जान गये कि यह रामानन्द-राय हैं। उनसे मिलने के लिये प्रभु का मन उनकी ओर भागने लगा।

प्रभु के पास रामानन्द का आना—

तथापि धैर्य धरि' प्रभु रहिला बसिया।
रामानन्द आइला अपूर्व संन्यासी देखिया॥१७॥

१७। प० अनु—वे फिर भी वही धैर्य धारण करके

बैठे रहे। तब एक अपूर्व संन्यासी को वहाँ बैठे देख श्रीरामानन्द उनसे मिलने के लिये आये।

प्रभु के रूप दर्शन से राय का
विस्मय और दण्ड्वत प्रणाम—

सूर्यशत-सम कान्ति, अरुण वसन।
सुवलित प्रकाण्ड देह, कमल-लोचन॥१८॥
देखिया ताँहार मने हैल चमत्कार।
आसिया करिल दण्डवत् नमस्कार॥१९॥

१८-१९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की सौ सूर्यों के समान कान्ति थी और लाल रंग के वस्त्र थे तथा उनकी सुवलित प्रकाण्ड देह और कमल के समान नेत्रों को देखकर श्रीरामानन्द-राय का मन चमत्करित हो गया और उन्होंने आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को दण्डवत् प्रणाम किया।

आलिङ्गन के लिये उत्सुक प्रभु का धैर्य,
राय को उठाना और नाम जिज्ञासा—

उठि' प्रभु कहे,—उठ, कह 'कृष्ण' 'कृष्ण'।
ताँरे आलिङ्गिते प्रभुर हृदय सतृष्ण॥२०॥
तथापि पूछिल,—तुमि राय रामानन्द?
तिंहो कहे,—"हउ मुञि दास शूद्र मन्द॥२१॥

२०-२१। प० अनु०—यह देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु उठ खड़े हुये और उन्होंने श्रीरामानन्द राय से कहा—"उठिये 'कृष्ण' 'कृष्ण' कहिये।" श्रीरामानन्द-राय को आलिङ्गन करने के लिये श्रीचैतन्य महाप्रभु का हृदय आतुर हो रहा था। फिर भी उन्होंने स्थिर होकर केवल उनसे यही पूछा—"क्या तुम राय रामानन्द हो?" रामानन्द-राय ने उत्तर दिया—"हाँ, मैं आपका शूद्र मन्दभाग्य दास हूँ।

परिचय सुनने मात्र से प्रभु के द्वारा
राय का आलिङ्गन और दोनों का प्रेम—

तबे तारे कैल प्रभु दृढ़ आलिङ्गन।
प्रेमावेशे प्रभु-भृत्य, दोंहे अचेतन॥२२॥
स्वाभाविक प्रेम दोंहार उदय करिला।
दुँहा आलिङ्गिया दुँहे भूमिते पड़िला॥२३॥
स्तम्भ, स्वेद, अश्रु, कम्प, पुलक, वैवर्ण्य।
दुँहार मुखेते शुनि' गदगद 'कृष्ण' वर्ण॥२४॥

२२-२४। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरामानन्द-राय को गाढ़ आलिङ्गन किया। प्रेमावेश में प्रभु और दास—दोनों ही मूर्च्छित हो गये। [चेतनता आने पर] दोनों के हृदय में स्वाभाविक प्रेम का उदय हुआ और दोनों ही एक-दूसरे को आलिङ्गन करके पृथ्वी पर गिर पड़े। दोनों के अङ्गों में स्तम्भ, स्वेद, अश्रु, कम्प, पुलक और वैवर्ण्य आदि अष्ट सात्विक भाव आविर्भूत होने लगे और दोनों के मुख से गद्गद् वाणी से 'कृष्ण' नाम उच्चारित होने लगा।

उनके दर्शन से ब्राह्मणों
का विस्मित होना और
उनका विचार—

देखिया ब्राह्मणगणेर हैल चमत्कार।
वैदिक ब्राह्मण सब करेन विचार॥२५॥
एइ त' संन्यासीर तेज देखि ब्रह्मसम।
शूद्रे आलिङ्गिया केने करेन क्रन्दन॥२६॥
एइ महाराज—महापण्डित, गम्भीर।
संन्यासीर स्पर्शे मत्त हइला अस्थिर॥२७॥

२५-२७। प० अनु०—इस दृश्य को देखकर वैदिक ब्राह्मणगण चमत्करित हो गये और वे विचार करने लगे। इन संन्यासी का तेज तो ब्रह्म के समान है परन्तु ये एक शूद्र को आलिङ्गन करके क्रन्दन क्यों कर रहे हैं? और दूसरी ओर ये महाराज (रामानन्द-राय) महापण्डित एवं गम्भीर होने पर भी संन्यासी के स्पर्श से उन्मत्त होकर अस्थिर हो गये हैं!

अमृतप्रवाह भाष्य

२५। राधाकृष्ण का विशाखा-सखी के प्रति और विशाखा सखी का राधाकृष्ण के प्रति जो स्वाभाविक प्रेम हैं, वही उदित हुआ।

प्रभु के द्वारा भाव
वेग सम्वरण—

एइमत विप्रगण भावे मने मन।
विजातीय लोक देखि' प्रभु कैल सम्वरण॥२८॥

२८। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु और रामानन्द राय के विषय में जब वे वैदिक ब्राह्मण इस प्रकार मन-ही-मन विचार कर रहे थे तब ऐसे विजातीय लोगों को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने प्रेम-भाव का सम्वरण कर (छिपा) लिया।

अनुभाष्य

२८। विजातीय लोक,—स्व-जातिय आश्रय विशिष्ट रामानन्द—अन्तरङ्ग भक्त; रामानन्द के साथ आये हुए ब्राह्मण आदि कर्म में निष्ठा रखने वाले व्यक्ति अन्तरङ्ग भक्त होने की बात तो दूर, शुद्ध भक्त भी नहीं है, इसलिये वे विजातीय अर्थात् अभक्त हैं। परस्पर की प्रीति प्रकाशित होने पर भी कर्मियों को बहिर्मुख जानकर उन्होंने उसे गोपन कर लिया।

प्रभु के द्वारा अपने आने
के कारण का वर्णन—

सुस्थ हञा दुँहे सेइ स्थानेते बसिला।
तबे हासि' महाप्रभु कहिते लागिला॥२९॥
"सार्वभौम भट्टाचार्य कहिल तोमार गुणे।
तोमारे मिलिते मोरे करिल यतने॥३०॥
तोमा मिलिबारे मोर एथा आगमन।
भाल हैल, अनायासे पाइलुँ दरशन॥"३१॥

२९-३१। प॰ अनु॰—दोनों ही स्थिर होकर उसी स्थान पर बैठ गये, तब श्रीचैतन्य महाप्रभु मुस्कराते हुए कहने लगे—"सार्वभौम भट्टाचार्य ने मुझे आपके गुणों के विषय में बतलाया था और आपसे मिलने के लिये उन्होंने बहुत आग्रह किया था। आपसे मिलने के लिये ही मैं यहाँ पर आया हूँ, अच्छा हुआ, अनायास ही आपका दर्शन प्राप्त हो गया।"

रामानन्द की दीनता और उनके द्वारा प्रभु की स्तुति—

राय कहे,—"सार्वभौम करे भृत्य-ज्ञान।
परोक्षेह मोर हिते हय सावधान॥३२॥
ताँर कृपाय पाइनु तोमार दरशन।
आजि सफल हैल मोर मनुष्यजन्म॥३३॥
सार्वभौमे तोमार कृपा,—तार एइ चिह्न।
अस्पृश्य स्पर्शिले हञा ताँर प्रेमाधीन॥३४॥
काँहा तुमि—साक्षात् ईश्वर नारायण।
काँहा मुञि—राजसेवक विषयी शूद्राधम॥३५॥
मोर स्पर्शे ना करिले घृणा, वेदभय।
मोर दर्शन तोमा वेदे निषेधय॥३६॥
तोमार कृपाय तोमाय कराय निन्दयकर्म।
साक्षात् ईश्वर तुमि, के जाने तोमार मर्म॥३७॥
आमा निस्तारिते तोमार ईँहा आगमन।
परम-दयालु तुमि पतित-पावन॥३८॥
महान्त-स्वभाव एइ तारिते पामर।
निज-कार्य नाहि तबु जान तार घर॥३९॥

३२-३९। प॰ अनु॰—श्रीरामानन्द-राय ने कहा—"श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य मुझे अपना एक दास मानते हैं और दूर रहते हुये भी अर्थात् मेरी अनुपस्थिति में भी मेरे हित की चिन्ता में व्यस्त रहते हैं। उन्हीं की कृपा से मुझे आपका दर्शन प्राप्त हुआ है, आज मेरा मनुष्य जन्म सफल हो गया। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य पर आपकी कितनी कृपा है, यह उसी का ही चिह्न है—उनके प्रेम के वशीभूत होकर आपने मुझ जैसे अस्पृश्य का भी स्पर्श किया है। कहाँ तो आप साक्षात् ईश्वर नारायण हैं और कहाँ मैं राजसेवक विषयों में पड़ा हुआ अधम शूद्र हूँ। मेरे जैसे व्यक्ति के तो दर्शन के लिये भी वेद आपको निषेध करते है परन्तु आपने मुझे स्पर्श करने में कोई घृणा नहीं की तथा न ही वेद की आज्ञा को भङ्ग करने का भय किया। आपकी कृपा ही आपसे ऐसा निन्दित कार्य करवाती है, आप साक्षात् ईश्वर हैं, आपके मर्म को कौन जान सकता है? आप परम-दयालु तथा पतित-पावन हैं इसलिये

मेरा उद्धार करने के लिये ही आपका यहाँ पर आगमन हुआ है। महान्त व्यक्ति का स्वभाव ही पामर (पतितों) का उद्धार करना होता है। इसलिये उनका अपना कोई कार्य नहीं रहने पर भी वे पतितों के घर में जाते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

३२। रामानन्द राय ने कहा,—सार्वभौम मुझे अपना दास समझकर परोक्ष में भी अर्थात् मेरी अनुपस्थिति में भी मेरे कल्याण की चेष्टा करते हैं।

अनुभाष्य

३२। सावधान—उद्योगी (चेष्टा करने वाले)।

३५-३६। श्रील राय रामानन्द के द्वारा स्वाभाविक दीनतावशतः 'विषयी', 'शुद्राधम' प्रभृति निकृष्ट विशेषणों सहित अपना उल्लेख करने पर भी एवं शौक्र विप्र कुल में आविर्भूत न होने पर भी, वे प्रकट लीला में निष्किंचन शुद्ध भागवत परमहंस थे। अतएव उन्हें वैदिक-एकायन-शाखा स्थित अप्राकृत दैक्ष्य-ब्राह्मण कहने से उनकी सामान्य महिमा ही व्यक्त होगी। महाकुल जात, सब प्रकार के यज्ञों में दीक्षित, सहस्त्र-वैदिक शाखाध्यायी व्यक्ति भी उनमें जाति (शूद्र) बुद्धि करके उन्हें दूसरे-दूसरे शूद्रकुल में जन्में व्यक्तियों के समान मानकर निश्चय ही नरक प्राप्त करेंगे—"वीक्ष्यते जाति-सामान्यात् स याति नरकं ध्रुवम्"—(पद्मपुराण)। परमार्थ के अभिलाषी जीवों का उनेक दास होने के अभिमान में ही चिर कल्याण निहित है।

३७। निन्द्यकर्म,—संन्यासी के लिये विषयी का दर्शन और शूद्र का सङ्ग अविधेय (अर्थात् करना मना) है, अतएव निन्दनीय है; तथापि आपने अपनी असीम कृपा के कारण मेरे लिये उसे (अर्थात् निन्दा को) भी स्वीकार किया है।

अहैतुकी कृपा करना ही भगवान् और भक्तों का धर्म—
श्रीमद्भागवत (१०/८/४)—

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निःश्रेयसाय भगवन्नान्यथा कल्पते क्वचित्॥४०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४०। हे भगवन्! दीन चेता गृहस्थ लोगों का नित्य मङ्गल करने के लिये श्रेष्ठ व्यक्ति उनके घर में जाते हैं, अन्य किसी कारण से नहीं जाते।

अनुभाष्य

४०। वसुदेव द्वारा भेजे गये, घर में उपस्थित महर्षि गर्ग के प्रति नन्द महाराज की उक्ति—

हे भगवन्, (मुने,) महद्विचलनं (महतां निरहस्तम्भानां सर्वमर्दैमुक्तानां निजाश्रमात कुत्रापि विचलनं गमनं न स्यात, यदि क्वचित् विचलनं भवति, तदा) दीनचेतसां (कृपाणाना) गृहिणां (गृहतापक्लिष्टानां गृहव्रतानां, गृहं त्यक्तुमशक्नुवता) नृणां निःश्रेयसाय (चरम कल्याणाप्तये) एव, क्वचित्, अन्यथा न कल्पते (निजस्वार्थाय न घटते)।

प्रभु के रूप दर्शन और आचरण के
फलस्वरूप अपने साथियों में कृष्णप्रेम
को देखकर राय का प्रभु के प्रति कृष्ण-ज्ञान—

आमार सङ्गे ब्राह्मणादि सहस्रेक जन।
तोमार दर्शने सबार द्रवीभूत मन॥४१॥
'कृष्ण' 'हरि' नाम शुनि' सबार वदने।
सबार अङ्ग—पुलकित, अश्रु—नयने॥४२॥
आकृत्ये-प्रकृत्ये तोमार ईश्वर-लक्षण।
जीवे ना सम्भवे एइ अप्राकृत गुण॥"४३॥

४१-४३। प० अनु०—श्रीरामानन्द-राय ने कहा—"मेरे साथ हजारों ब्राह्मण आदि लोग हैं तथा मैं देख रहा हूँ आपके दर्शनों से सभी का हृदय द्रवीभूत हो रहा है। सभी के मुख से 'कृष्ण' 'हरि' नाम सुनाई दे रहा है और सबके अङ्ग पुलकित हो रहे हैं तथा उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित हो रहे हैं। आपकी आकृति और प्रकृति में ईश्वर के समस्त लक्षण प्रकाशित हैं, साधारण जीवों में इन समस्त गुणों का विद्यमान होना सम्भवपर नहीं है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

४३। 'आकृति' ते (आकृति में) अर्थात् न्यग्रोध-

परिमण्डलं*-आकार वाले तथा प्रकृतिते (प्रकृति में) अर्थात् परम दयालु स्वभाव के कारण, आपमें 'ईश्वर' के लक्षण लक्षित हो रहे हैं।

प्रभु का दैन्य और राय की प्रंशसा के छल से आत्म गोपन की चेष्टा—

प्रभु कहे,—"तुमि महा-भागवतोत्तम।
तोमार दर्शने सबार द्रव हैल मन॥४४॥
अन्येर कि कथा, आमि—'मायावादी संन्यासी'।
आमिह तोमार स्पर्शे कृष्ण-प्रेमे भासि॥४५॥
एइ जानि' कठिन मोर हृदय शोधिते।
सार्वभौम कहिलेन तोमारे मिलिते॥"४६॥

४४-४६। प० अनु०—श्रीरामानन्द-राय की स्तुति को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"आप उत्तम महाभागवत हैं। आपके दर्शन से ही सबका हृदय द्रवीभूत हो रहा है। दूसरों की तो बात ही क्या? एक मायावादी संन्यासी होने पर भी मैं आपके स्पर्श से कृष्ण-प्रेम में निमग्न हो रहा हूँ। आपकी महिमा को जानने के कारण ही सार्वभौम भट्टाचार्य ने मेरे कठोर हृदय को शोधन करने के लिये ही मुझे आपसे मिलने को कहा था।"

अनुभाष्य

४४। महाभागवत के लक्षण,—(अर्चन मार्ग में) यथा, पद्मपुराण में—"तापादिपञ्चसंस्कारी नवेज्या-कर्म-कारकः। अर्थपञ्चकविद्कविप्रः महाभागवतोत्तमः॥" (भाव मार्ग में) यथा, भागवत में—"सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥"

प्रभु और भक्त के द्वारा दोनों की परस्पर स्तुति—

एइमत दुँहे स्तुति करे दुँहार गुण।
दुँहे दुँहार दरशने आनन्दित मन॥४७॥

४७। प० अनु०—इस प्रकार दोनों ही एक-दूसरे के गुणों का वर्णन करने लगे और दोनों का मन एक-दूसरे के दर्शनों से अत्यन्त आनन्दित हुआ।

वैष्णव-ब्राह्मण के घर में प्रभु द्वारा भिक्षा और प्रभु के निमन्त्रण में अवैष्णव-ब्राह्मण ब्रुव का अनधिकार—

हेनकाले वैदिक एक वैष्णव ब्राह्मण।
दण्डवत् करि' कैल प्रभुरे निमन्त्रण॥४८॥
निमन्त्रण मानिल ताँरे वैष्णव जानिया।
रामानन्दे कहे प्रभु ईषत् हासिया॥४९॥

४८-४९। प० अनु०—उसी समय एक वैदिक वैष्णव ब्राह्मण ने आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को दण्डवत् प्रणाम किया और उन्हें अपने घर पर भोजन के लिये निमन्त्रण दिया। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उस ब्राह्मण को वैष्णव जानकर उसका निमन्त्रण स्वीकार किया और थोड़ा मुस्कराते हुए रामानन्द-राय से कहने लगे—।

राय के साथ प्रभु की पुनः साक्षात्कार की इच्छा—

तोमार मुखे कृष्णकथा शुनिते हय मन।
पुनरपि पाइ जेन तोमार दरशन॥५०॥

५०। प० अनु०—आपके मुख से कृष्णकथा सुनने की इच्छा हो रही है, यही प्रार्थना है जिससे पुनः आपका दर्शन प्राप्त करूँ।

रामानन्द की दीनता और सम्भ्रम पूर्वक प्रभु से उपेदश की आकांक्षा—

राय कहे,—आइला यदि पामर शोधिते।
दर्शनमात्रे शुद्ध नहे मोर दुष्ट चित्ते॥५१॥
दिन पाँच-सात रहि' करह मार्जन।
तबे शुद्ध हय मोर एइ दुष्ट मन॥५२॥

५१-५२। प० अनु०—यह सुनकर श्रीरामानन्द-राय ने कहा—"जब आप मेरे जैसे पतित का उद्धार करने ही आये हैं तो फिर मेरा कहना है कि आपके दर्शनमात्र से ही मेरे जैसे दुष्ट व्यक्ति का चित्त शुद्ध नहीं होगा। आप

* लम्बाई एवं दोनों हाथ खोलकर होने वाली चौड़ाई का एक समान होना।

कृपापूर्वक पाँच-सात दिन तक यहाँ रहकर मेरे दुष्ट चित्त का मार्जन कीजिये, तभी मेरे चित्त का शुद्धिकरण सम्भवपर है।

विदाई के समय भक्त और भगवान् दोनों के लिये परस्पर का विरह असहनीय—

यद्यपि विच्छेद दोंहार सहन ना जाय।
तथापि दण्डवत् करि' चलिला रामराय॥५३॥
प्रभु जाइ' सेइ विप्रघरे भिक्षा कैल।
दुइ जनार उत्कण्ठाय आसि' सन्ध्या हैल॥५४॥

५३-५४। प॰ अनु॰—यद्यपि दोनों एक-दूसरे के विरह को सहन नहीं कर पा रहे थे, फिर भी रामानन्द-राय श्रीचैतन्य महाप्रभु को दण्डवत् प्रणाम करके चल दिये और श्रीचैतन्य महाप्रभु भी उस ब्राह्मण के साथ उसके घर में भिक्षा ग्रहण करने अर्थात् भोजन करने के लिये चल दिये। दोनों ही एक-दूसरे को मिलने के लिये उत्कण्ठित होकर जैसे-तैसे समय व्यतीत कर रहे थे। इसी प्रकार करते-करते सन्ध्या का समय उपस्थित हुआ।

प्रभु के द्वारा प्रतिदिन तीन बार स्नान और सन्ध्या के समय प्रभु का राय के साथ मिलन—

प्रभु स्नान-कृत्य करि' आछेन बसिया।
एक भृत्य-सङ्गे राय मिलिला आसिया॥५५॥

५५। प॰ अनु॰—सन्ध्या के समय श्रीचैतन्य महाप्रभु स्नान आदि कार्य को करके बैठ गये और इतने में ही एक सेवक को साथ लेकर श्रीरामानन्द-राय भी वहाँ आकर उनसे मिले।

अमृतप्रवाह भाष्य

५५। संन्यासी तीनों सन्ध्याओं में स्नान करते हैं। उसी विधि के अनुसार महाप्रभु सन्ध्या के समय स्नान करके बैठे थे।

राय का प्रणाम और प्रभु के द्वारा आलिङ्गन—

नमस्कार कैल राय, प्रभु कैल आलिङ्गने।
दुइ जने कृष्ण-कथा कय सेइ स्थाने॥५६॥

५६। प॰ अनु॰—श्रीरामानन्द-राय ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को प्रणाम किया और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें आलिङ्गन दान दिया। इस प्रकार दोनों ही उस स्थान पर बैठकर कृष्ण कथा आलोचना करने लगे।

प्रभु-रामानन्द संवाद; प्रभु के द्वारा साध्य-साधन जिज्ञासा; राय का उत्तर—(क) साधन (अभिधेय) स्तर—(१) सर्वप्रथम दैववर्णाश्रम रूप स्वधर्म के पालन से सेश्वर-नैतिक अथवा धर्मजीवन-आरम्भ—

प्रभु कहे—"पड़ श्लोक साध्येर निर्णय।"
राय कहे,—"स्वधर्माचरणे विष्णुभक्ति हय॥"५७॥

५७। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"साध्य तत्त्व का निर्णय करने वाले शास्त्र के श्लोक का उच्चारण कीजिए।' श्रीरामानन्द-राय ने कहा—"स्वधर्म के आचरण से विष्णुभक्ति होती है।

अमृतप्रवाह भाष्य

५७। प्रभु ने कहा,—'हे रामानन्द राय, साध्य तत्त्व का निर्णय करने वाले शास्त्रीय श्लोक का उच्चारण करो।' राय ने कहा,—'मनुष्यों की स्वधर्म के आचरण से विष्णुभक्ति होती है।'

अनुभाष्य

५७। श्रीरामानुजपाद ने 'वेदार्थ संग्रह' में कहा है—"एवं विध परभक्ति रूप-ज्ञानविशेषस्योत्पादकः पूर्वोक्ता हरहरुपचीयमानज्ञानपूर्वक-कर्मानुगृहीत भक्तियोग एव; यथोक्तं भगवता पराशरेन—"वर्णाश्रम" इति। निखिलजगदुद्धारणायावनितलेहवत्तीर्णः परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमः स्वयमेतदुक्तवान्—"स्वकर्म निरतः सिद्धिः यथा विन्दति तच्छ्रुणु। यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥" (गी. १८/४५-४६) इति यथोदितक्रमपरिणतभक्त्येकलभ्य एव, भगवद्बो धयन-टङ्क-द्रमिड़-गुहदेव-कपर्द्दि-भारुचि-प्रभृत्य-विगीत-शिष्ट परिगृहीत-पुरातन-वेद-वेदान्त-व्याख्यानसुव्यक्तार्थ श्रुतिनिकर निदर्शितोऽयं पन्थाः॥"

भक्ति ही अत्यधिक प्रिय और एकमात्र प्रयोजनीय

अन्यान्य सभी वस्तुओं में वितृष्णा उत्पन्न कराने वाला ज्ञान विशेष है। उस भक्ति से युक्त आत्मा द्वारा ही भगवान् वरणीय एवं भक्तों को प्राप्त होते हैं। पूर्व कथित निरन्तर समृद्धि विशिष्ट ज्ञानपूर्वक-कर्मानुगृहीत भक्तियोग ही इस प्रकार परमभक्ति रूपी ज्ञान विशेष का उत्पादक है। भगवान् पराशर ने "वर्णाश्रमाचारवता" श्लोक में इस प्रकार कहा है। समस्त जगत् का उद्धार करने के उद्देश्य से पृथिवी पर अवतीर्ण होकर परब्रह्मभूत पुरुषोत्तम ने स्वयं ही कहा है कि,—मनुष्य अपने-अपने कर्मानुष्ठान में लगे रहने से जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त करेंगे, उसे श्रवण करो,—"जिन भगवान् से प्राणी उत्पन्न हुए हैं, जिन भगवान् के द्वारा यह जगत् विस्तृत हुआ है, मानव अपने कर्म के द्वारा उनका ही विशेष रूप से अर्चन करके सिद्धि प्राप्त करेंगे।" यह सिद्धि का पथ कर्मानुगृहीत है, यथोचित-क्रम-परिणत-भक्त्यैकलभ्य एवं भगवान् बोधयन, टङ्क, द्रमिड़, गुहदेव, कपर्द्दि, भारुचि आदि सज्जनों ने भी इस अनिन्दनीय (अर्थात् प्रशंसनीय) पथ का ही अनुमोदन करते हैं, पुरातन वेद वेदान्त-व्याख्या एवं सुन्दर रूप से प्रकाशित (सुस्पष्ट) अर्थ विशिष्ट श्रुतियों द्वारा भी यही निर्दिष्ट पन्था है। रामानुजीय साम्प्रदायिक आचार्यगण कहते हैं, "ब्रह्मप्राप्त्युपायश्च शास्त्राधिगत-तत्त्व ज्ञान पूर्वक स्व कर्मानुगृहीत भक्ति निष्ठा साध्यान वधिकातिशय-प्रियविशदतम-प्रत्यक्ष-तापन्नानुध्यानरूप-परभक्तिरेव। वर्णाश्रमाचारवतेत्युक्त-रीत्या न संन्यास नियता, नापि यत् किञ्चिदेकवर्ण-नियता; किन्तु स्व-स्व-वर्णाश्रमनियता। कर्माङ्गकं ज्ञानमेव ज्ञानं, न तु नैष्कर्म्यं, नापि ज्ञान कर्मणोः सम-समुच्चयः।" साध्य,—जिसके द्वारा सिद्धि होती है, साधन द्वारा प्राप्त—भाः १/२/१३ श्लोक दृष्टव्य।

दैववर्णाश्रम रूप स्वधर्म के पालन से विष्णु की सन्तुष्टि—विष्णुपुराण (३/८/९) में पराशर की उक्ति—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥५८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५८। परमेश्वर विष्णु वर्णधर्म और आश्रम धर्म के आचरण से युक्त व्यक्ति द्वारा आराधित होते हैं। वर्ण और आश्रम के आचरण के बिना उन्हें परितुष्ट (सन्तुष्ट) करने का अन्य कोई कारण (उपाय) नहीं है।

तात्पर्य यह है कि भगवान् को परितुष्ट करना ही साध्यतत्त्व है। मनुष्य द्वारा अपने-अपने स्वभाव के अनुसार निर्णीत वर्ण-धर्म और अवस्था के अनुसार निर्णीत आश्रम धर्म का पालन करने से भगवान् विष्णु सन्तुष्ट होते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र,—यह चार वर्ण है। प्रत्येक वर्ण के लिये जो धर्म शास्त्रों में कहा गया है, उसी का ही आचरण करके मनुष्य जीवन यात्रा निर्वाह करें। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास,—यह चार आश्रम हैं। अपने-अपने आश्रम के लिये कहे गये धर्म का आचरण करके भगवान् को सन्तुष्ट करना। इसमें व्यभिचार होने अर्थात् ठीक-ठीक पालन न करने से मनुष्य को प्रत्यवाय (दोष) लगता है तथा नरक की प्राप्ति होती है। परमार्थ पथ पर चलने के लिये सर्वप्रथम धर्ममय जीवन की आवश्यकता है। जीवन निर्वाहकारी धर्म भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले व्यक्तियों के लिये स्वभाविक रूप से भिन्न-भिन्न है।

मनुष्य के जन्म, संसर्ग (सङ्ग) और शिक्षा से स्वभाव उदित होता है। स्वभाव के अनुसार वर्ण स्वीकार ना करने से कोई भी जीवन-यात्रा में चतुर नहीं हो सकता। स्वभाव बहुत प्रकार के होने पर भी मूल रूप से चार प्रकार के हैं,—(१) ईश्वर और विद्या ही जिनका स्वभाविक विषय है, वे—'ब्राह्मण'; (२) शौर्य और राज्य शासन में ही जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वे—'क्षत्रिय'; (३) कृषि, पशुपालन और वाणिज्य (व्यापार) क्रिया आदि ही जिनका स्वभावगत कर्म है, वे—'वैश्य'; (४) तीनों वर्णों की सेवा करना मात्र ही जिनका स्वभाव है, वे—'शूद्र' है। अपने-अपने वर्णधर्म एवं अवस्था क्रम से आराधना करते-करते मनुष्यों की नैसर्गिक (स्वाभाविक) उन्नति होती है; विपरीत आचरण

करने से नैसर्गिक (स्वाभाविक) पतन होता है। अतएव धर्म जीवन ही मानव के सभी उत्कर्षों (श्रेष्ठताओं) का मूल है।

अनुभाष्य

५८। वर्णाश्रमाचारवता (ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्र-वर्णाचार-पालनरतेन ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थभिक्षाश्रमा-चारपालनपरेण च स्व-स्व-वर्णाश्रमधर्माचारवता) पुरुषेण परः पुमान् (पुरुषोत्तमः विष्णुः) आराध्यते, तत् (तस्य विष्णोः) अन्य (वर्णाश्रमधर्मविनाशी कोऽपि) पन्थाः (मार्गः) तोषकारणं (प्रीत्यर्थं) न भवति।

(२) भगवान में कर्मार्पण रूपी
कर्ममिश्रा भक्ति शुद्धभक्ति नहीं—

प्रभु कहे,—"एहो बाह्य, आगे कह आर।"
राय कहे "कृष्णे-कर्मार्पण—सर्वसाध्यसार॥"५९॥

५९। प० अनु०—यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"आपने जो कहा, वह बाह्य है इससे आगे की बात कहो।" श्रीरामानन्द ने उत्तर दिया—"श्रीकृष्ण के प्रति कर्मों को अर्पण करना ही सभी साध्यों का सार है।"

भोगों में लिप्त कर्मी को कृष्ण के
प्रति कर्मार्पण करने का आदेश—
श्रीमद्भगवद्गीता (९/२७)—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तप्स्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥६०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

५९-६०। गीता में कहा गया है,—हे कौन्तेय, जो कुछ भी भक्षण करो, जो कोई भी यज्ञ करो, जो कुछ भी दान करो एवं जो कोई भी तपस्या करो, वह सब मुझ कृष्ण में अर्पण करो।

राय के प्रथम उत्तर में वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत की जाने वाली कृष्णाराधना के 'साध्य' निर्दिष्ट होने के कारण प्रभु ने उसको 'बाह्य' कहकर अपने प्रश्न के वास्तविक उत्तर को प्रदान करने के लिये सामान्य वर्णाश्रम धर्म की अपेक्षा जो श्रेष्ठ है, उसे बोलने की आज्ञा दी। उसे सुनकर राय ने उत्तर दिया, उस वर्णाश्रम के अन्तर्गत किये जाने वाले सभी कर्मों को कृष्ण में अर्पण करना ही 'सभी साध्यों का सार' कहा गया है।

अनुभाष्य

५९। साध्य अर्थात् साधन योग्य अथवा साधनीय भक्ति का निर्णय करने में प्रवृत्त होकर श्रीरामानन्द ने सबसे पहले ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत अवस्थित साधकों जैसी बुद्धि धारण करके अन्याभिलाषिता का खण्डन करके नीतिवादियों के पक्ष का अवलम्बन करके वर्णधर्म और आश्रम धर्म का पालन करने से ही विष्णु की प्रसन्नता होती है,—उन्होंने साध्य का यहीं प्रमाण बतलाया। निर्णयकारी को अपनी अस्मिता (अहङ्कार) के कारण जिस सम्बन्ध की उपलब्धि होती है, वह ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत है। अतएव वैसी अस्मिता की वृत्ति भी ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत है, इसलिये बाह्य है। श्रीभगवान् गौरहरि ने अपने धाम वैकुण्ठ अथवा गोलोक के बाहरी स्थानों पर रहने वाले व्यक्तियों की बाह्य अनुभूति को 'बाह्य साध्य' कहकर परित्याग करते हुए अग्रसर होने के लिये कहा। पूर्वोक्त साध्य विषयक प्रमाण में विष्णु के विशेषत्व की स्वतन्त्रता का निर्देश नहीं किया, इसलिये इस श्रेणी के साधक कर्म मार्ग में 'निर्विशेष' और 'सविशेष'—दोनों प्रकार के विष्णु की आराधना को लक्ष्य कर सकते हैं—(श्रील रामानन्द राय इस बात को) समझ गये, इसलिये उन्होंने निर्विशेषतत्त्वपरता का त्याग करके सविशेष तत्त्व ही कर्मोद्देश का तात्पर्य-ज्ञापक है, उसके अनुरूप प्रमाण दिया।

अनुभाष्य

६०। अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण के वचन—

हे कौन्तेय, (अर्जुन) यत् कर्म करोषि, यत् अश्नासि, यत् ददासि, यत् जुहोसि, यत् तपस्यसि, तत् सर्वं मदर्पणं कुरुष्व। भाः ११/२/३६ श्लोक द्रष्टव्य।

(३) केवल फलभोग अथवा त्याग नैष्कर्म्य शुद्धभक्ति नहीं;स्वधर्म-त्याग-पूर्वक शरणागत होकर श्रीहरिभजन ही शुद्धभक्ति का प्रथम-सोपान—

प्रभु कहे,—"एहो बाह्य, आगे कह आर।"
राय कहे, "स्वधर्म-त्याग,—एइ साध्य-सार॥"६१॥

६१। प० अनु०—यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"यह भी बाह्य है, इससे आगे कुछ कहो।" श्रीरामानन्द-राय ने उत्तर दिया—"स्वधर्म का त्याग ही सभी साध्यों का सार है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

६१। यह बात सुनकर भी प्रभु ने कहा,—यह भी बाह्य है, मेरे प्रश्न का उत्तर इसको अतिक्रम करके वर्त्तमान है, उसे बोलो। उसके उत्तर में राय ने कहा,—अपने धर्म का त्याग ही साध्य सार है, अर्थात् चारों वर्णों में से ब्राह्मण अपने (गृह) धर्म को त्याग करके संन्यास ग्रहण करता है एवं अन्यान्य सब वर्ण उनके अनुसार वैराग्य-लक्षण ग्रहण करके गृह त्याग करते हैं। इस संन्यास का नाम स्वधर्म त्याग अथवा कर्म त्याग है। त्याग धर्म से हरि को प्रसन्ता प्राप्त होती है।

अनुभाष्य

६१। 'मर्दपण' शब्द से यद्यपि जड़-निर्विशेष का खण्डन करके स्वतन्त्र सविशेषतत्त्व स्वरूप कृष्ण को ही अर्पण करना समझाता है, तथापि साधक की अपने अभिमानवशतः उपलब्धि—ब्रह्माण्ड़ान्तर्गत है एवं साधनीया वृत्ति भी ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत है, इसलिये यह भी बाह्य है; अर्थात् कर्म करने वाले जीव बाह्य अनुभूति में बाह्य कर्म समूह कर्म के अतिरिक्त स्वतन्त्र वस्तु को प्रदान करने का उपदेश-मात्र प्राप्त कर रहे हैं। तब रामानन्द इस भाव को शोधन करके कर्मोन्नत जीव को जिस प्रकार की उन्नति करनी होती है, उसी भाव विशिष्ट होकर स्वधर्म त्याग के द्वारा जो साध्य प्राप्त होता है, ऐसा प्रमाण कहने लगे।

वर्णाश्रमरूप स्वधर्म-त्याग करके हरिभजन—
श्रीमद्भागवत (११/११/३२)—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः॥६२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६२। धर्मशास्त्र में मुझ भगवान् ने जिसको 'धर्म' कहकर (पालन करने हेतु) आदेश किया है, उनके गुण-दोष का विचार करके, उन सभी प्रकार के धर्मों की प्रवृत्ति को छोड़कर जो मेरा भजन करते हैं, वही सबसे श्रेष्ठ (साधु) है।

अनुभाष्य

६२। भगवान् के प्रिय साधुओं के लक्षण जानने के अभिलाषी उद्धव के प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् की उक्ति—

यः (साधकः) गुणान दोषान् (प्राकृत-सदसद्भावादीन्) आज्ञाय (सम्यक् ज्ञात्वा) अपि मया (वैदिक कर्मोपदेशकेन कर्मरतान्) आदिष्टान् (उपदिष्टान्) सर्वान् स्वकान् धर्मान् (लौकिक विप्र क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्ण धर्मान् ब्रह्मचारिगृहस्थ-वानप्रस्थसन्यासाद्याश्रमधर्मांश्च) संत्यज्य (दूरे सम्यक् विहाय) मां (विशेषतत्वाश्रयं स्वतन्त्रं भगवन्तं कृष्णं) भजेत्, स तु सत्तमः (साधुनां श्रेष्ठः)।

श्रीमद्भगवद्गीता (१८/६६)—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥६३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६३। समस्त धर्म परित्याग करके एकमात्र, मैं जो कि भगवान् हूँ, मेरे शरणागत होओ। वैसा होने पर मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त करूँगा। तुम शोक मत करना।

अनुभाष्य

६३। अर्जुन के प्रति श्रीभगवान् का गुह्य उपदेश—

सर्वधर्मान् (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रादि-ब्रह्माण्डान्तर्गत-वर्णधर्मान् ब्रह्मचारि-गृहस्थ-वानप्रस्थतुर्याश्रमादि ब्रह्माण्डान्तर्गत-आश्रम-धर्मांश्च) परित्यज्य (दूरे विहाय) एकं (तदतीतम् अद्वय ज्ञानम् अव्यभिचारिया मत्या) मां (सविशेषतत्त्वं भगवन्तं कृष्णं) शरणं व्रज (गच्छ); अहं त्वां सर्वपापेभ्यः (ब्रह्माण्डान्तर्गतेभ्यः प्राकृत-नित्य वैदिक-कर्मानुष्ठान परित्यागजनिता धर्मेभ्यः) मोक्षयिष्यामि (उद्धार-यामि)। मा शुचः (अनित्यधर्म जन्यशोकं ना कुरु)।

श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी प्रभु ने स्वरचित 'मनः शिक्षा में'—"न धर्मं ना धर्मं श्रुतिगण निरुक्तं किल करु, व्रजे राधाकृष्ण-प्रचुर-परिचर्यामिह तनु" इत्यादि कहा है। भाः ४/२९/४६—"यदा यमगह्णाति भगवानात्म भावितः। स जहति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठताम्॥" इस प्रसङ्ग के लिये भाः १/५/१७ श्लोक द्रष्टव्य।

(४) ज्ञानमिश्रा भक्ति शुद्धभक्ति नहीं—

प्रभु कहे,—"एहो, बाह्य, आगे कह आर।"
राय कहे, "ज्ञानमिश्रा भक्ति—साध्यसार॥"६४॥

६४। प० अनु०—श्रीरामानन्द-राय के उत्तर को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"यह भी बाह्य है, इससे आगे कुछ कहो।" श्रीरामानन्द-राय ने कहा—"ज्ञानमिश्रा भक्ति सभी साध्यों का सार है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

६४। प्रभु ने इस उत्तर को सुनकर इसे भी बाह्य कहकर, इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ कथा कहने की आज्ञा दी। उसके उत्तर में राय ने कहा,—ज्ञानमिश्रा भक्ति को 'साध्य-सार' कहा जाता है।

अनुभाष्य

६४। कर्मोन्नत जीवोपलब्धि में 'अस्मिता' (अहङ्कार-वशतः ज्ञान)—ब्रह्माण्ड से अतीत विरजा नदी में, वहाँ तीनों गुणों की प्रबलता का अभाव, साम्य अथवा अव्यक्त मात्र है। अन्तरङ्गा शक्ति द्वारा प्रकटित वैकुण्ठ और बहिरङ्गा शक्ति द्वारा प्रकटित ब्रह्माण्ड, इन दोनों के बीच ब्रह्मलोक और विरजा नदी है। ये दोनों स्थान—जड़ से विरक्त और जड़ निर्विशेष जीवों की उपलब्धि का आश्रय हैं; अतएव वैकुण्ठ ना होने के कारण, उससे बाहर स्थित होने के कारण बाह्य है। ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत (आने वाले) सब प्रकार के धर्मों का त्याग करने वाले साधक की अनुभूति में वैकुण्ठ अथवा गोलोक की अनुभूति नहीं होने से वैसी साध्य वृत्ति जड़भोगत्यक्त होने पर भी अचित् निर्विशेषत्व की प्रतिपादक है, इसलिये वह भी बाह्य है। रामानन्द ने उस समय उस भाव को बाह्य साध्य भाव जानकर ज्ञानमिश्रा भक्ति ही उससे उन्नत साध्य है, उस विषय में प्रमाण बोला।

सम्बन्धज्ञानलब्ध ब्राह्मण ही
कृष्णभजन के फल से वैष्णव—
श्रीमद्भगवद्गीता (१७/५४)—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥६५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६५। गीता में कहा गया है,—अभेद ब्रह्मवाद रूपी ज्ञान चर्चा द्वारा स्वयं प्रसन्नात्मा, शोक और वांछा रहित तथा सभी जीवों में समभाव युक्त ब्रह्मणता प्राप्त करने के बाद मेरी पराभक्ति की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि, पहले कर्ममिश्रा भक्ति का उल्लेख हुआ था, उसकी अपेक्षा ज्ञानमिश्रा भक्ति श्रेष्ठ है।

अनुभाष्य

६५। अर्जुन के प्रति श्रीभगवान् के वचन—

ब्रह्मभूतः (ब्रह्माण्डान्तर्गतबोधमुक्तः निर्विशेषानुभव-परः) प्रसन्नात्मा (अभाव धर्म रहितः) शोचति न, (जड़ाभावे तस्य शोकः नास्ति), काङ्क्षति न (तस्य जड़भोगे आकांक्षा च न वर्त्तते), सर्वेषु भूतेषु (मत् सेवा सम्बन्ध योगं ज्ञात्वा) समः सन्, परां (परमां शुद्धां) मद्भक्ति लभते।

(५) ज्ञानशून्य भक्ति ही
शुद्धभक्ति-शब्दवाच्य—

प्रभु कहे,—"एहो बाह्य, आगे कह आर।"
राय कहे, "ज्ञानशून्याभक्ति—साध्यसार॥"६६॥

६६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"यह भी बाह्य है, इससे आगे जो कुछ है, उसे कहो।" श्रीरामानन्द-राय ने कहा—"ज्ञानशून्यभक्ति साध्य-सार है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

६६। यह बात सुनकर प्रभु ने कहा,—यह भी बाह्य है; इसके बाद जो है, उसे बोलो। राय ने कहा कि ज्ञानशून्या भक्ति ही साध्यों का सार है।

अनुभाष्य

६६। इस अवस्था में भी अस्मिता और उसकी वृत्ति शुद्ध वैकुण्ठवाली अथवा वैकुण्ठ को उद्देश्य नहीं करने वाली होने के कारण, वह भी बाह्य है। जड़ की बाध्यता नहीं रहने पर ही अथवा जड़ से अतिरिक्त निर्मल अनुभवपरता में भी वास्तव सत्य-वस्तु की स्वतन्त्र और विशेष उपलब्धि ना होने से, अपनी अनुभूति और अपने मन की वृत्ति—बहिर्मुखिनी है। वास्तविकता में, यह भी शुद्धजीव का साध्य नहीं है। निर्विशेषत्व की कल्पना में सच्चिदानन्द-विशेष-समूह सुप्त रहता है। उससे पहले काल्पनिक विचारमय वाक्यसमूह भी निर्विशेषध्यान-मात्र-तात्पर्य विशिष्ट है, अतएव वैसी भगवान् की सेवा की वृत्ति से रहित काल्पनिक निर्विशेषपर मुक्त अवस्था भी बाह्य है।

कृष्ण के प्रति सम्पूर्ण शरणागत व्यक्ति
ही कृष्णवशकारी शुद्धभक्त—
श्रीमद्भागवत (१०/१४/३)—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥६७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६७। भागवत में ब्रह्मा ने भगवान् को कहा,—"हे भगवन्! निर्भेद-ब्रह्मचिन्ता रूपी ज्ञान-चेष्टा को सम्पूर्ण रूप से दूर करके जो भक्त साधु के मुख से निकली आपकी कथा का श्रवण करते हैं और काय-मन और वाक्य से साधु-पथ (सन्मार्ग) में स्थित होकर जीवन-यात्रा का निर्वाह करते हैं, त्रिलोकी में आप दुर्लभ होने पर भी उनके लिये सुलभ हो जाते हैं।

अनुभाष्य

६७। गैयाओं और बछड़ों को हरण आदि करने के फलस्वरूप श्रीकृष्ण द्वारा ब्रह्मा का गर्व चूर्ण होने के बाद, ब्रह्मा ने श्रीकृष्ण के एकान्त शरणागत होकर स्तव किया—

ज्ञाने (ज्ञानार्थं)प्रयासं (चेष्टाजन्य-क्लेशदिकम्) उद्पास्य (दूरे विहाय) सन्मुखरितां (सद्भिः महाभागवतैः मुखरितां निसर्गप्रकटिता) श्रुतिगतां (कर्णकुहर प्राप्ता) भवदीयवार्त्ता (हरि-नाम रूप गुण लीला मयीं कथा) ये स्थाने स्थिताः (स्व स्थाने साधुमार्गे स्थिताः सन्तः) तनुवाङ्मनोभिः (कायमनोवाक्यैः) नमन्तः (सर्वतोभावेन आत्मनिवेदनं कुर्वन्तः) एव जीवन्ति, हे अजित, (अधोक्षज-त्वात् अभक्तैः अनभिभाव्य, अपराधीन, अपरिमेय) त्रिलोक्यं तैः (त्वद् भक्तैरेव)प्रायशः (त्वं) जितः (वशीकृतः) अपि असि।

(ख) साधन की सिद्धि—प्रेमभक्ति
(भाव—प्रेम का अंकुर)—

प्रभु कहे,—"एहो हय, आगे कह आर।"
राय कहे, "प्रेमभक्ति—सर्वसाध्यसार॥"६८॥

६८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"यद्यपि अब साध्य निर्णीत हुआ है, परन्तु इससे आगे जो कुछ है, उसे कहो।" श्रीरामानन्द-राय ने कहा—"प्रेमभक्ति सभी साध्यों का सार है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

६८। यह बात सुनकर प्रभु ने कहा,—यद्यपि अब

साध्य निर्णीत हुआ है, तथापि इसकी अपेक्षा जो श्रेष्ठ है, उसे कहो। तात्पर्य यह है कि केवल वर्णाश्रम धर्म के पालन की अपेक्षा कर्मार्पण-श्रेष्ठ हैं, केवल कर्मार्पण की अपेक्षा स्वधर्मत्याग अर्थात् अपने वर्ण धर्म को त्याग करके संन्यास ग्रहण—श्रेष्ठ है, उसकी अपेक्षा ब्रह्मानुशीलन रूपी ज्ञानमिश्रा भक्ति श्रेष्ठ होने पर भी वह सबकुछ ही बाह्य है; क्योंकि, साध्यवस्तु जो शुद्धभक्ति है, वह उन चारों प्रकार के सिद्धान्तों में नहीं है। 'आरोपसिद्धा' और 'सङ्ग सिद्धा' भक्ति कभी भी 'शुद्धभक्ति' कहकर परिचित नहीं होती। 'स्वरूपसिद्धा भक्ति'—एक पृथक् तत्त्व है। वह—कर्म, कर्मार्पण, कर्मत्यागरूपी संन्यास और ज्ञानमिश्रा भक्ति से नित्य पृथक् है। उस शुद्धभक्ति का लक्षण यह है कि, वह—अन्याभिलषिता-शून्य, ज्ञान कर्म आदि से अनावृत्त, आनुकूल्य भाव से कृष्ण का अनुशीलन। वही साध्य वस्तु है; क्योंकि, साध्य-अवस्था में इसको देख पाने पर भी सिद्धावस्था में ही यह निर्मल रूप में लक्षित होती है। प्रभु के अन्तिम-प्रश्न के उत्तर में राय ने कहा,—प्रेम भक्ति ही सभी साध्यों का सार है। शुद्धभक्ति प्रथम अवस्था में शान्त भक्ति के रूप में प्रतीत होती है; उसमें कृष्ण के प्रति ममता-बुद्धि नहीं रहती।

अनुभाष्य

६८। "ज्ञाने प्रयासे" श्लोक में साध्य का निर्णय होने पर महाप्रभु ने इस वृत्ति को साध्य-वृत्ति कहकर स्वीकार किया। यही 'साधन भक्ति' के नाम से जानी जाती है। बाद में और भी अग्रसर होने का आदेश करने पर रामानन्द राय ने साधन भक्ति के बाद भाव भक्ति—प्रेम भक्ति की अंकुरावस्था एवं शान्त रस में निरपेक्षता रूपी धर्म प्रधान होने के कारण चार प्रकार के रसों से युक्त प्रेमभक्ति को ही साध्य कहा। 'साधन भक्ति' कहने से 'श्रद्धा', 'साधुसङ्ग', 'भजनानुष्ठान', 'अनर्थनिवृत्ति', 'निष्ठा', 'रुचि' और 'आसक्ति' समझना चाहिए।

भक्त के प्रेम से ही कृष्णवशीभूत—
पद्यावली ११श अंक में उद्धृत
रामानन्द राय कृत श्लोक—

नानोपचार-कृतपूजनमार्तबन्धोः
प्रेम्णैव भक्तहृदयं सुखविद्रुतं स्यात्।
यावत् क्षुदस्ति जठरे जरठा पिपासा
तावत् सुखाय भवतो ननु भक्ष्य-पेये॥६९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

६९। जैसे पेट में जब तक बहुत जोर की भूख और प्यास रहती है, तब तक ही खाने योग्य और पीने योग्य वस्तुएँ सुखदायक होती है, उसी प्रकार आर्त्तबन्धु (दीननाथ श्रीकृष्ण) की नाना उपचार से पूजा होने पर भी उससे प्रेमयुक्त होने पर ही भक्तों का हृदय आनन्द में गलित (गद्गद्) हो उठता है।

अनुभाष्य

६९। यावत् जठरे (उदरे) जरठा (अतिशयिनी) क्षुत् अस्ति पिपासा (च अस्ति) तावत् भक्ष्य-पेये (यथा) सुखाय (आनन्दमय) भवतः, तथा आर्त्तबन्धोः (दीननाथस्य श्रीकृष्णस्य) नानोपचारकृत पूजनं (विविध षोड़शोपचारस-मन्वितार्चनादिकम्) भक्तहृदयं प्रेमणा (कृष्णेन्द्रिय-तोषणमया भक्त्या) एव सुखविद्रुतम् (आनन्देन द्रवीभूत) स्यात्।

राग मार्ग के द्वारा ही कृष्ण प्रेम की प्राप्ति,
सुकृति से उत्पन्न वैधभक्ति से दुर्लभ—
(पद्यावली १४ श अंक में उद्धृत रामानन्दराय-कृत श्लोक—)

कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः
क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलं
जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते॥७०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७०। करोड़ों जन्मों में की गयी सुकृति द्वारा जो प्राप्त नहीं किया जा सकता, और दूसरी ओर, लोभ रूपी

केवल एक ही मूल्य देकर जिसे प्राप्त किया जा सकता है, ऐसी कृष्णभक्ति रस भावित मति जहाँ कहीं से भी पाओ, खरीद डालो। उक्त दो कविताओं (श्लोकों) में, पहली श्रद्धामूलक वैधी भक्ति की सूचना दे रही है तथा दूसरी लोभमूलक रागानुगा भक्ति की सूचना दे रही है। इसके बाद इसी रागानुगा भक्ति का अवलम्बन करके ही राय रामानन्द द्वारा कहे जाने वाले वचन व्यवहृत होंगे, अर्थात् अब यहाँ से वे रागभक्ति के सिद्धान्त को अवलम्बन रहे हैं एवं उन्होंने वैधी-भक्ति की कथा का परित्याग कर दिया है।

अनुभाष्य

७०। कृष्ण भक्ति रस भाविता (कृष्णसेवा रस भावनामयी) मतिः (बुद्धिः) यदि कुतः (यत्र क्वापि देशकाल पात्रतः अनुष्ठानात् वा) लभ्यते, तदा (युष्माभिः तादृशी मतिः) क्रीयतां (मूल्यप्रदानेन अवश्यमेव ग्रहणीया)। तत्र (मतिक्रयवाणिज्ये) एकलं लौल्यं (लोभः) एव (हि) मूल्यं (यतः तन्मतिः) जन्मकोटिसुकृतैः (बहु-जन्मजन्मान्तरसञ्चितभाग्यैः) न लभ्यते, (सा परमदुर्लभा एवेत्यर्थः)।

(१) 'दास्य-प्रेम' उत्तम—

प्रभु कहे,—"एहो हय, आगे कह आर।"
राय कहे, "दास्य-प्रेम—सर्वसाध्यसार॥"७१॥

७१। प॰ अनु॰—इतना सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"यह ठीक है, परन्तु इससे आगे जो कुछ है, उसे कहो।" श्रीरामानन्द-राय ने उत्तर दिया—"दास्य-प्रेम सब साध्यों का सार है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

७१। यहाँ तक सुनकर प्रभु ने कहा,—यद्यपि यही हैं; तथापि इसके बाद जो है, उसको बोलो। उसके उत्तर में राय ने कहा,—दास्य प्रेम ही सभी साध्यों का सार है। 'प्रेमलक्षण-भक्ति' में 'ममता' जुड़ जाने से 'दास्य प्रेम' होता है। साधारण प्रेम में भगवान् और भक्त में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। भगवान् ही मेरे प्रभु हैं',—इस प्रकार का ममतामय भाव उसमें जुड़ने से साधारण प्रेम 'दास्य प्रेम' हो जाता है, यह साधारण प्रेम की अपेक्षा उच्च (श्रेष्ठ) है।

अनुभाष्य

७१। उपरलिखित दो श्लोकों में प्रेमभक्ति को साधारणतः 'साध्य' निर्णय करने पर श्रीमहाप्रभु ने रामानन्द को और भी अग्रसर होकर इस 'साध्य' को विशेष रूप से धारावाहिक की भाँति व्याख्या करने के लिये कहा। तब 'दास्य प्रेम भक्ति' को 'साध्य' कहकर प्रमाणित कर रहे हैं।

कृष्ण के दास ही कृष्ण के
सर्व-ऐश्वर्य के अधिकारी—
श्रीमद्भागवत (९/५/१६)—

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते॥७२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७२। श्रीभागवत में कहा गया है—जिनके नाम के श्रवण मात्र से जीव निर्मल होता है, उन तीर्थपद भगवान् के जो दास है, उनके लिये और क्या वस्तु प्राप्त करनी बाकी रहती है?

अनुभाष्य

७२। अक्षज कुदर्शनकारी वैष्णव विरोध रूपी दुर्वासना परायण ब्राह्मणभिमानी दुर्वासा को जो वैष्णव अस्त्र सुदर्शन पीड़ित कर रहा था, वह महाभागवत अम्बरीष की प्रार्थना के फल से निवृत्त हुआ; ऐसा देखकर दुर्वासा की जाति बुद्धि दूर हुई, तब उनके द्वारा की गयी शुद्धभक्त और भगवान् की ऐसी स्तुति—

यन्नामश्रुतिमात्रेण (यस्य भगवतः नामश्रवणेनैव) पुमान् (जीवः) निर्मलः (शुद्धः) भवति, तस्य तीर्थपदः (तीर्थं पदे यस्य सः तस्य भगवतः) दासनां (किङ्कराणां) किं वा अवशिष्यते? (न किञ्चिदेवेत्यर्थः)।

भगवान् के दास की दीनता—
(यामुन मुनि विरचित स्तोत्ररत्न ४६—)

भवन्तमेवानुचरन्निरन्तरः
प्रशान्तनिःशेषमनोरथान्तरः।
कदाहमैकान्तिकनित्यकिङ्करः
प्रहर्षयिष्यामि सनाथ जीवितम्॥७३॥

७३। श्लोकानुवाद—आपकी निरन्तर सेवा द्वारा अन्य मनोरथों से छूटकर कब मैं प्रशान्त भाव से अपने आपको आपका नित्य किङ्कर जानकर दास जीवन के साथ आनन्द से प्रफुल्ल होऊँगा।

अनुभाष्य

७३। मध्यलीला प्रथम परिच्छेद २०६ संख्या अमृत-प्रवाह भाष्य द्रष्टव्य है।

(२) 'सख्यप्रेम'—दास्य
की अपेक्षा उत्तम—

प्रभु कहे,—"एहो हय, किछु आगे आर।"
राय कहे, "सख्य-प्रेम—सर्वसाध्यसार॥"७४॥

७४। प॰ अनु॰—यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"यह भी ठीक है और कुछ आगे जाने पर सर्वसाध्य सार मिलेगा।" श्रीरामानन्द-राय ने कहा—"श्रीकृष्ण के प्रति सख्य-प्रेम ही सभी साध्यों का सार है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

७४। यह बात सुनकर प्रभु ने कहा,—और कुछ आगे बढ़ पाने पर ही सबका सार प्राप्त होगा। राय ने उत्तर दिया,—श्रीकृष्ण का 'सख्य प्रेम' ही सभी साध्यों का सार है। राय के कहने का तात्पर्य यह है कि दास्यप्रेम में 'ममता' रहने पर भी उसमें 'भगवान्—प्रभु' हैं, इस प्रकार की भावना के कारण एक प्रकार का 'भय' और 'सम्भ्रम' सहज ही उदित होता है, उस 'भय' और 'सम्भ्रम' का परित्याग करके 'विश्रम्भ' अर्थात् 'एकान्त विश्वास' को वरण कर पाने पर वही प्रेम ही 'सख्य प्रेम' होता है। इस प्रेम में कृष्ण में एवं उनके सखाओं के बीच में 'समता भाव' उदित होता है।

व्रज के गोपालगणों की कृष्ण के प्रति सख्य की महिमा—
श्रीमद्भागवत (१०/१२/११)—

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
सार्धं विजहरुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥७५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७५। श्रीभागवत में कहा गया है,—जो ज्ञान मार्ग में ब्रह्मसुखानुभूति स्वरूप में, दास्यरस के भक्तों के निकट परदेवता के रूप में एवं मायाश्रित व्यक्तियों के निकट नरबालक के रूप में प्रकाशित होते हैं, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण के साथ व्रज के गोपबालकों ने बहुत सुकृति के फलस्वरूप सख्य रस में विहार किया था।

अनुभाष्य

७५। शुकदेव परीक्षित के निकट वन-भोजन के लिये निकले कृष्ण के साथ विश्रम्भ प्रेम के सूत्र में बन्धे सखा व्रज के गोपबालकों के अत्यधिक सौभाग्य का वर्णन कर रहे हैं—

ईथम् (एवम्प्रकारेण) कृतपुण्यपुञ्जाः (कृतः अनुष्ठितः पुण्यानां पुञ्जः समूहः यैः ते गोपबालकाः) सतां (निर्विशेषज्ञानिनां ब्रह्मानन्दानुभवैक-स्वरूपेण) दास्यं गतानां (लब्धभजनानां भक्तानामिति यावत्) परदैवतेन (परमेश्वर स्वरूपेण), मायाश्रितानां (भगवन्मायामोहितानां) नरदारकेण (नरबालक रूपेण) भगवता सार्द्धं (सख्येन) विजह्रुः (विहारान्) च, अहो भाग्यं कृष्ण सखनामिति भावः)।

(३) 'वात्सल्य-प्रेम' सख्य की अपेक्षा उत्तम—

प्रभु कहे,—"एहो उत्तम, आगे कह आर।"
राय कहे, "वात्सल्य-प्रेम—सर्वसाध्यसार॥"७६॥

७६। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—'सख्य रस', 'दास्य रस' से उत्तम है, थोड़ा आगे जाने पर साध्य सार मिलेगा।" इसके उत्तर में श्रीरामानन्द-राय ने कहा—"वात्सल्य-प्रेम ही सब साध्यों का सार है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

७६। प्रभु ने कहा,—'सख्य रस' यद्यपि 'दास्यरस' की अपेक्षा उत्तम है, तथापि और थोड़ा अग्रसर होने से ही साध्यसार प्राप्त होगा। राय ने उसके उत्तर में कहा,—वात्सल्य भाव का प्रेम ही सर्वसाध्य सार है। सख्य रस का जो विश्रम्भात्मक प्रेम है, उसमें अधिकतर स्नेह युक्त होने से 'वात्सल्य रस' का उदय होता है।

अनुभाष्य

७६। रामानन्द के 'सख्य प्रेम' के साध्य निर्णय को सुनकर महाप्रभु ने उसे 'दास्यप्रेम' की अपेक्षा 'उत्तम' कहा एवं और भी अग्रसर होने के लिये अनुरोध करने पर रामानन्द ने तब 'वात्सल्य प्रेम' को साध्य बताया।

नन्द-यशोदा के वात्सल्य की महिमा—
श्रीमद्भागवत (१०/८/४६)—

नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम्।
यशोदा वा महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः॥७७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७७। श्रीमद्भागवत में कहा गया है, हे ब्रह्मन, नन्द ने ऐसी क्या सुकृति की थी कि, कृष्ण उनके पुत्र के रूप में आविर्भूत हुए थे? यशोदा ने ही ऐसी क्या सुकृति की थी, कि साक्षात् परब्रह्म कृष्ण ने उनको 'माँ' कहकर उनका स्तनपान किया था?

अनुभाष्य

७७। शुकदेव द्वारा यशोदा के कृष्ण वात्सल्य के वर्णन का श्रवण करके विस्मित परीक्षित की उक्ति—

हे ब्रह्मन, नन्दः एवं महोदयं (महान् श्रेष्ठः उदयः उत्कर्षः तत् अपूर्वफलोदय) किं श्रेयः (मङ्गलप्रद कर्म) अकरोत्, महाभागा (अतिशय सौभाग्यशलिनी) यशोदा वा किम् अकरोत्, हरिः यस्याः (यशोदायाः) स्तनं पपौ?

यशोदा के यश का गान—श्रीमद्भागवत (१०/९/२०)—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥७८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७८। यशोदा गोपी ने साधारण व्यक्तियों को मुक्ति देने वाले श्रीकृष्ण से जिस प्रसाद (कृपा) को प्राप्त किया था, वह ब्रह्मा, शिव अथवा विष्णु के वक्षःस्थल पर आश्रित लक्ष्मी को भी प्राप्त नहीं हुआ।

अनुभाष्य

७८। कृष्ण, रस्सी द्वारा बाँधने के लिये उद्यत माता को असमर्थ और थकी हुई देखकर स्वयं ही बँध गये; यशोदा के इस कृष्ण-वशकारिता के गुण के दर्शन से परीक्षित के प्रति शुकदेव की उक्ति—

गोपी (यशोदा) विमुक्तिदात् (श्रीहरेः सान्निध्यात्) यं प्रसादं प्राप, तत् इमं प्रसादं विरिञ्चिः (पुत्रो ब्रह्मापि) न, भवः (आत्मतुल्यः शम्भुः) न, अङ्गसंश्रया (पत्नी) श्रीः (लक्ष्मीः) अपि न लेभिरे।

(४) 'कान्तभाव' ही सर्वश्रेष्ठ प्रेमभक्ति—

प्रभु कहे,—"एहो उत्तम, आगे कह आर।"
राय कहे, "कान्तभाव—सर्वसाध्यसार॥"७९॥

७९। प अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"यद्यपि आपके द्वारा वर्णन किया गया साध्य उत्तरोत्तर उत्तम हुआ है, तथापि इसे भी अतिक्रम करके और जो है, उसे कहो।" श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—"श्रीकृष्ण के प्रति कान्तभाव ही सब साध्यों का सार है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

७९। प्रभु ने कहा,—यद्यपि यह उत्तरोत्तर उत्तम हुआ है, तथापि इसको अतिक्रम (पार) करके और एक रस है, जिसको 'साध्यसार' कह सकते हो! राय ने उत्तर दिया,—श्रीकृष्ण के प्रति 'कान्तभाव' ही प्रेम की परा-काष्ठा रूप साध्यों का सार है। तात्पर्य यह है,— साधारण प्रेम में 'ममता' का अभाव, दास्य रस में 'विश्रम्भ' अथवा 'विश्वास' का अभाव, सख्य रस में 'स्नेहाधिक्य' का अभाव एवं वात्सल्य रस में 'निःसङ्कोच-भाव' का अभाव होने के कारण साध्य प्रेम की पूर्णता उन-उन रसों में हुई नहीं। कृष्ण के प्रति जब कान्त भाव उदित

होता है, तभी सभी अभावों से शून्य, सभी साध्यों के सार एक अखण्ड प्रेम तत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है।

अनुभाष्य

७९। सख्य प्रेम की अपेक्षा 'वात्सल्य प्रेम' उत्तम है, किन्तु जब प्रभु ने राय को और भी आगे बढ़ने के लिये कहा, तब रामानन्द ने 'कान्त भाव' को ही प्रेम का 'साध्यत्व' कहकर उल्लेख किया।

व्रजगोपियों का माहात्म्य—
श्रीमद्भागवत (१०/४७/६०)—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः।
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम॥८०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८०। श्रीवृन्दावन में रासोत्सव के समय श्रीकृष्ण के भुजदण्ड द्वारा गृहीत कण्ठ व्रजसुन्दरियों के प्रति जो-कृपा उदित हुई थी, वह वक्षः स्थल पर स्थित लक्ष्मी आदि परव्योम की अत्यधिक अनुगत शक्तियों को भी प्राप्त नहीं हुई थी, कमल की गन्ध के प्रभाव वाली स्वर्ग की रमणियों को भी उस प्रकार की कृपा की प्राप्ति नहीं हुई, तब अन्य स्त्रियों के विषय में तो क्या कहुँ?

अनुभाष्य

८०। उद्धव व्रज में आकर कुछेक महीनों तक रहकर कृष्णकथा के कीर्त्तन द्वारा हर्षोत्पादन करने पर भी कृष्ण-विरह से तप्त गोपियों के कृष्णैगतचित्त की विकलता के दर्शन कर उनके परम सौभाग्य की प्रशंसा कर रहे हैं—

रासोत्सवे (रासक्रीड़ाकाले) अस्य (श्रीकृष्णस्य) भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां (भुजदण्डाभ्यां बाहुभ्यां गृहीतः आश्लिष्टः कण्ठः गलेदशः येन तेन लब्धाः प्राप्ताः आशिषाः कल्याणमनोरथाः याभिर्गोपीभिस्तासा) व्रज-सुन्दरीणां (गोपललनाना) यः अयं (प्रसादः) आविर्भूव, नलिनगन्धरुचां (नलिनस्य पद्मस्य इव गन्धो रुक् कान्तिश्च यासां तासा) स्वर्योषितां (देव-रामाणा) न अभूत्; उ (अहो) अङ्गे (वक्षसि) नितान्तरतेः (अनन्यात्यन्ताश्रिताया:) श्रियः (लक्ष्म्याः) अपि अयं प्रसादः न अभूत्; अन्याः स्त्रियस्तु कुतः (एवं कृष्णा-नुग्रहविषयाः) भवन्ति?

व्रजगोपियों का ही मदनमोहन-
विग्रह-दर्शन करने का अधिकार—
श्रीमद्भागवत (१०/३२/२)—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥८१॥

८१। श्लोकानुवाद—श्रीरासलीला में गोपियों के विच्छेद-विलापों के पश्चात् अचानक पीताम्बरधारी, वनमाली, हँसमुख, साक्षात् श्रीमदनमोहन उन सबके मध्य आविर्भूत हुये।

अनुभाष्य

८१। आदिलीला पञ्चम परिच्छेद २१४ संख्या का अमृतप्रवाह भाष्य दृष्टव्य है।

कृष्ण-प्राप्तिर उपाय बहुविध हय।
कृष्णप्राप्ति-तारतम्य बहुत आछय॥८२॥

८२। प॰ अनु॰—कृष्ण की प्राप्ति के अनेक प्रकार के उपाय हैं तथा कृष्ण प्राप्ति में बहुत प्रकार के तारतम्य भी हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

८२-८६। प्रभो, मैंने एक-एक करके पहले साध्य अर्थात् कृष्ण प्राप्ति के बहुत से उपाय बतलाये हैं, उनमें केवलमात्र यही भेद है कि किसी विशेष उपाय के अनुसार कृष्ण प्राप्ति के तारतम्य का विचार करना चाहिए। मनुष्य जिन-जिन उपायों को अवलम्बन करने का अधिकारी है, उन-उन उपायों को अवलम्बन करके ही अपनी अवस्था के योग्य साध्यवस्तु जो कृष्ण प्राप्ति है, वही उनके लिये श्रेयः (अर्थात् कल्याणकारी) है। विशेष करके रस को प्राप्त करने के अधिकारियों के 'दास्य', 'सख्य', 'वात्सल्य' और 'मधुर'—ये चार प्रकार के रस

ही उत्तम है। जो जिस रस के अधिकारी है, उनके लिये वही रस ही सर्वोत्तम है। रस के विषय में जिस राग का उदय होता है, उसमें आविष्ट होकर चारों रसों का तारतम्य दिखायी नहीं देता; किन्तु तटस्थ अर्थात् निरपेक्ष होकर देखने से इन रसों में तारतम्य है। 'शान्त', 'दास्य', 'सख्य', 'वात्सल्य' और 'मधुर'—इन पाँचों रसों में क्रमशः तारतम्य है। 'शान्तरस' का कृष्णैकनिष्ठता रूपी गुण दास्य रस में ममता युक्त होकर अधिक समृद्ध; पुनः सख्य रस में कृष्णैकनिष्ठता और ममता विश्रम्भ के साथ युक्त होकर अधिक प्रफुल्लित हुई है; वात्सल्यरस में फिर से शान्त-दास्य और सख्य के तीनों गुण स्नेहाधिक्य ये युक्त होकर प्रतीत होते हैं। कान्तभाव रूपी मधुर रस में यह चारों गुण सङ्कोचशून्य होकर अत्यधिक मधुरता प्राप्त करते हैं। इसमें गुणों की अधिकता के कारण स्वादाधिक्य की वृद्धि होती है। अतएव तटस्थ विचार से मधुर-रस-सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ है।

प्रत्येक रस के श्रेष्ठ होने पर
भी परस्पर में तारतम्य वर्तमान—

किन्तु जाँर जेइ रस, सेइ सर्वोत्तम।
तटस्थ हञा विचारिले, आछे तर-तम॥८३॥

८३। प० अनु०—किन्तु जिसका जो रस है वही सर्वोत्तम है। तटस्थ होकर विचार करने से इनमें तारतम्य पाया जाता है।

अनुभाष्य

८२-८३। इस वाक्य द्वारा यह नहीं समझना चाहिए कि, जिसका जैसा भी मन का धर्म होगा अर्थात् जैसा उसका मन करेगा अथवा उसका जैसा ख्याल होगा, वह सर्वोत्तम है; उच्छ्रृंखलता कभी भी सर्वोत्तम नहीं हो सकती।

'श्रुति स्मृतिपुराणादि-पञ्चरात्रविधिं बिना। एकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव केवलम्॥" गृहस्थधर्म का पालन करना, उसके लिये शास्त्रों में निन्दनीय कहा गया अपराधमय भागवत-व्यवसाय, मन्त्र-व्यवसाय, शिष्य-व्यवसाय, कीर्त्तन-व्यवसाय, बहिर्मुख-सामाजिकता, लौकिकता आदि अपेक्षाओं से युक्त मनोधर्म के साथ शुद्धभक्ति का समन्वय (एक-समानता) यहाँ उद्दिष्ट नहीं हुआ एवं आउल, बाउल, कर्त्ताभजा, नेड़ा, दरबेश, साँई, अतिबाड़ि, चूड़ाधारी, गौराङ्ग नागरी, गोस्वामियों के नये मत अथवा जाति गोस्वामियों के मत का प्रचार करने वाले एवं इन जाति गोस्वामियों के मत को ही 'षड़ गोस्वामियों का मत' कहकर लोगों की वञ्चना करने वाले, कृष्ण के अभक्त, गौरमन्त्र और गौरनाम के विरोधी, नये-नये छड़ा (सिद्धान्त विरुद्ध कीर्त्तनों) की रचना करने वाले, विग्रह-व्यवसायी, भृतक-पाठक आदि, नीच जाति के सङ्ग से उत्पन्न वर्णब्रह्मणता को ही 'वैदिक ब्राह्मणता' कहकर प्रचार करने वाले, स्मार्त्त, सात्त्वत पञ्चरात्र विरोधी, मायावादी, स्त्रीसङ्गी प्रभृति कभी भी निष्किञ्चन, कृष्ण के लिये अखिल चेष्टा करने वाला, अनुक्षण हरि सेवा में रत सर्वस्व त्यागी, श्रीगुरु गौराङ्ग के प्रति अपने आपको बेच देन वाला, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, संयत गृहस्थ, वानप्रस्थ और त्रिदण्ड धारण करने वालों के साथ एक अथवा समान नहीं हो सकता।

जिस प्रसङ्ग अर्थात् कारण से श्रील कविराज गोस्वामी ने इस वाक्य की अवतारणा की है, वह, सिद्ध भाव पञ्चक की कथा है। अर्थात् शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर,—इन पाँच प्रकार के भावों में इन पाँच रसों के रसिक सेवा किया करते हैं, अनर्थ निवृत्ति के बाद इन सब सिद्ध भावों में से जो कोई किसी के नित्यसिद्ध स्वरूप के स्वभाव के अनुसार उदित क्यों न हो, यद्यपि वह उस रस के अधिकारी व्यक्ति के लिये सर्वोत्तम है, क्योंकि सभी के विषय श्रीकृष्ण ही है, श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य-अन्य कोई प्राकृत (जागतिक) देवादि नहीं। और दूसरी तरफ तटस्थ अर्थात् म ध्यस्थ होकर विचार करने पर उस पाँच प्रकार के भावों के रसास्वादन में तारतम्य अनुभूत होता है;—जैसे, दास्य रस शान्तरस की अपेक्षा श्रेष्ठ है। दूसरी ओर, सख्य रस में शान्त और दास्य वर्त्तमान है; अतएव वह शान्त और दास्य से और भी उन्नत है। पुनः, वात्सल्य

रस में शान्त, दास्य एवं सख्य अन्तर्भुक्त (क्रोड़ीभूत) होने के कारण उसमें उक्त पूर्ववर्ती तीनों प्रकार के रसों से अधिक चमत्कारिता वर्त्तमान है। पुनः, मधुर-रस में पूर्ववर्ती चार प्रकार के रस विराजित होने से उसकी चमत्कारिता और माधुर्य सर्वश्रेष्ठ है। वैष्णव और भक्ति सिद्धान्त में निपुण महाजनों ने इस प्रकार के उत्तरोत्तर क्रम से स्वरूप की उपलब्धि का सूक्ष्मति सूक्ष्म तत्त्व समूह का विचार किया है। दुर्भाग्यवशतः दैव-माया द्वारा विमूढ़ असत् सिद्धान्त में निपुण व्यक्ति इन सब सिद्धान्तों की कुछ भी उपलब्धि नहीं कर पाने के कारण शुद्ध वैष्णव सिद्धान्तों पर दोषारोपण करते हैं,—उनका ऐसा करना उन सभी बालभाषी व्यक्तियों के दुर्भाग्य का ही परिचय देता है।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (२/५/३८)—

यथोत्तसो स्वादविशेषोल्लासमयरमपि।
रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते कापि कस्यचित्॥८४॥

८४। श्लोकानुवाद—यह उल्लासमयी रति उत्तरोत्तर विशेष आस्वादन-मयी प्रतीत होती है। उस रति का स्थलविशेष में वासनानुसार परमास्वादन-विशेष होकर मधुर-रस के रूप में प्रकाशित होता है।

अनुभाष्य

८४। आदिलीला चतुर्थ परिच्छेद ४५ संख्या द्रष्टव्य।

मधुर-रस में ही शान्तादि चारों रस विद्यमान—

पूर्व-पूर्व-रसेर गुण—परे-परे हय।
एक-दुइ गणने पञ्च पर्यन्त बाड़य॥८५॥
गुणाधिक्ये स्वादाधिक्य बाड़े प्रति-रसे।
शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्येर गुण मधुरेते वैसे॥८६॥

८५-८६। प० अनु०—पूर्व-पूर्व रस का गुण परवर्ती रसों में विद्यमान है। एक, फिर दो, इस प्रकार गणना करने पर पाँच पर्यन्त रस वर्धित होता है। गुण की अधिकता के क्रम से रस के आस्वादन में भी अधिकता की वृद्धि होती है। शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य रस के समस्त गुण मधुर रस में विद्यमान रहते हैं।

जड़ीय दृष्टान्त; पञ्चम महाभूत 'भूमि' में ही अन्य चार भूत विद्यमान—

आकाशादिर गुण जेन पर-पर-भूते।
दुइ-तिन गणने बाड़े पञ्च पृथिवीते॥८७॥

८७। प० अनु०—आकाशादि पञ्चमहाभूतों के गुण जैसे एक, दो, तीन करके क्रमशः वर्धित होते हुए भूमि में जिस प्रकार पाँचों गुण ही पूर्णमात्रा में पाये जाते हैं ठीक उसी प्रकार।

शृङ्गार-रस का लक्षण प्रेम के वशीभूत कृष्ण—

परिपूर्ण-कृष्णप्राप्ति एइ 'प्रेमा' हैते।
एइ प्रेमार वश कृष्ण,—कहे भागवते॥८८॥

८८। प० अनु०—परिपूर्ण रूप से श्रीकृष्ण की प्राप्ति इसी 'कान्ताप्रेम' से होती है और श्रीकृष्ण भी इसी कान्ताप्रेम के वशीभूत होते हैं—श्रीमद्भागवत में ऐसा कहा गया है।

अमृतप्रवाह भाष्य

८७-८८। रसों का तारतम्य समझाने के लिये एक जागतिक उदाहरण दिया जा रहा है;—'आकाश', 'वायु', 'अग्नि', 'जल', और 'पृथ्वी'—यह पाँच महाभूत है। आकाश में 'शब्द' नामक एक गुण है; वायु में 'शब्द' और 'स्पर्श',—दो गुण है; अग्नि में 'शब्द', 'स्पर्श' और 'रूप',—यह तीन गुण है; जल में 'शब्द', 'स्पर्श', 'रूप' और 'रस',—यह चार गुण हैं; मिट्टी में 'शब्द', 'स्पर्श', 'रूप', 'रस' और 'गन्ध',—यह पाँच गुण है। अब देखिये, आकाश आदि एक-के-बाद एक भूत में क्रमशः गुणों की संख्या में वृद्धि हुई है,—पाँचों गुण ही पृथ्वी में लक्षित होते हैं। उसी प्रकार शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुर में क्रमशः गुणों की वृद्धि होकर मधुर रस में पाँचों गुण ही परिपूर्ण मात्रा में पाये जाते हैं; अतएव परिपूर्ण कृष्ण की प्राप्ति 'मधुर' अथवा शृंगार रस रूपी प्रेम में ही होती है। भागवत कहती है,—मधुर रस से उत्फुल्ल प्रेम द्वारा कृष्ण अत्यधिक वशीभूत होते हैं।

कृष्ण के प्रति की गयी
प्रेमभक्ति ही कृष्णप्रदा—
श्रीमद्भागवत (१०/८२/४४)—

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत् स्नेहो भवतीनां मदापनः॥८९॥

८९। श्लोकानुवाद—मेरे प्रति भक्ति ही जीवों के लिये अमृत है। हे गोपियों! मेरे प्रति तुम्हारा जो स्नेह है, उसी के कारण तुम सबने मुझे प्राप्त किया है।

अनुभाष्य

८९। आदि लीला चतुर्थ परिच्छेद २३ संख्या द्रष्टव्य।

भक्त के भजन की गाढ़ता के तारतम्य
से ही कृष्णभक्ति की प्राप्ति में तारतम्य—

कृष्णेर प्रतिज्ञा दृढ़ सर्वकाले आछे।
जे जैछे भजे, कृष्ण तारे भजे तैछे॥९०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९०-९१। कृष्ण की यह साधारण प्रतिज्ञा है कि, जो उनका जिस रूप में भजन करेगा, कृष्ण भी उनका उस रूप में भजन करेंगे। अन्यान्य रसों के भक्तों के भजन के अनुरूप प्रतिभजन करने में कृष्ण समर्थ होते हैं; किन्तु मधुर रस से उत्फुल्ल प्रेम में भजन के अनुरूप प्रतिभाजन ना देख पाने के कारण कृष्ण ने कहा,—हे व्रजसुन्दिरयों! मैं तुम्हारे ऋण को शोध नहीं कर पाया अर्थात् चुका नहीं पाया।

गोपियों के द्वारा की गयी मधुर-रस में
सेवा के बदले कृष्ण के द्वारा स्वयं को
प्रदान करने की असमर्थता हेतु ऋण—

एइ 'प्रेमे'र अनुरूप ना पारे भजिते।
अतएव 'ऋणी' हय,—कहे भागवते॥९१॥

९१। प० अनु०—माधुर्य रस में जो कृष्णप्रेम है, उसका प्रतिदान श्रीकृष्ण यथायथ रूप से नहीं दे पाते, इसलिए वे माधुर्य रस के भक्तों के निकट ऋणी हो जाते हैं—ऐसा श्रीमद्भागवत में कहा गया है।

अनुभाष्य

९०। जागतिक लोगों का विचार—"जो जिस भाव से ही भजन क्यों न करें, वे भगवान् को ही प्राप्त करते हैं। कर्म, ज्ञान, योग, तपस्या, जिस किसी भी उपाय से भगवान् का भजन किया जाये, उससे कुछ लेना-देना नहीं है। जैसे, किसी स्थान पर पहुँचने के लिये अनेक मार्ग है, उसी प्रकार भगवान् के निकट जाने के भी विभिन्न मार्ग है, भगवान् को काली, दुर्गा, शिव, गणेश, राम, हरि, ब्रह्म, जिस किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाये, एक ही बात है; अथवा जैसे एक ही व्यक्ति के अलग-अलग नाम होते हैं एवं उनमें से जिस किसी भी नाम से पुकारने पर वह उत्तर देता है, उसी प्रकार भगवान् के विषय में भी ऐसा ही है।"

किन्तु यह सब बातें बालोचित मनोधर्मी व्यक्तियों के लिये मनोरञ्जक होने पर भी सार को ग्रहण करने वाले व्यक्ति उसे कुसिद्धान्तपूर्ण के रूप में ही मानते हैं। जो स्वर्ग आदि की कामना से आधिकारिक (भगवान् द्वारा अधिकार प्राप्त करने वाले) देवताओं की उपासना करेंगे, भगवान् से विमुख करने वाली माया शक्ति उनको इन सभी आधिकारिक देवताओं में ही श्रद्धा रूपी फल प्रदान करके उन्हें सर्वोत्तम मङ्गल रूपी फल से वञ्चित कर देंगी एवं जन्म-मरण रूपी माला के कर्मचक्र में कभी स्वर्ग तो कभी मर्त्यलोक में भ्रमण करायेगी। और जो नित्य भगवान् की सेवा के लिये प्रार्थना करेंगे, भगवान् उन्हें अपनी नित्य-सेवा प्रदान करेंगे। अतएव जो जिस प्रकार से भी भजन क्यों न करें, उन्हें अपने भजन के अनुरूप ही फल प्राप्त होगा, ये बात तो सत्य है; किन्तु यह विशेष रूप से लक्ष्य करना उचित है कि, सब फल समान नहीं है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष कामी व्यक्तियों का फल एवं नित्य-अहैतुकी कृष्ण सेवा की प्रार्थना करने वाले व्यक्तियों को प्राप्त होने वाला फल एक नहीं है। धर्म-अर्थ आदि का फल-नश्वर स्वर्ग आदि, सायुज्य-मोक्ष आदि का फल-आत्म-विनाश आदि,

अहैतुकी-हरि सेवा का उत्तम फल-नित्य-नवनवायमान हरिसेवा की प्राप्ति अथवा भगवद्-प्रेम। अतएव धर्म-अर्थ कामी, निर्विशेष-मुक्तिकामी और हरिसेवा में तत्पर व्यक्ति के फल में 'आकाश-पाताल' का भेद है, इसमें कोई सन्देह की बात नहीं।

जड़ जगत की अधिष्ठात्री जगत्-जननी महामाया और अन्यान्य आधिकारिक देवता—श्रीभगवान् की बहिरङ्गा शक्ति और विरूप वैभव है, वे भगवान् के आदेश से जगत् सृष्टि रूपी कार्यों के विभिन्न अंशों की देख-रेख कर रहे हैं। जगत्-सृष्टि के कार्य में भगवान् की अन्तरङ्गा-शक्ति का कोई हाथ नहीं है। चिद्धाम में जो सब कार्य होते हैं, वहीं अन्तरङ्गा शक्ति के कार्य हैं, वह योगमाया द्वारा साधित होते है। योगमाया—भगवान् की अन्तरङ्गा शक्ति अथवा चिच्छक्ति; जो चिद् धाम में भगवान् की सेवा प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं, वे योगमाया की निष्कपट कृष्ण सेवोन्मुखी कृपा प्राप्त करते हैं। और जो जड़-ब्रह्माण्ड में अभ्युदयकमूल (चतुर्दश ब्रह्माण्ड की उन्नति के लिये) धर्म, अर्थ, काम आदि अन्याभिलाष की इच्छा करते हैं अथवा भगवद् सेवा-विमुखिनी निर्विशेष गति की इच्छा करते हैं, वे महामाया अथवा रुद्र आदि देवताओं की उपासना करते हैं। इसलिये देखा जाता है,—व्रजललनाओं ने नन्द गोप के पुत्र को पति के रूप में प्राप्त करने के लिये अर्थात् चिद् धाम में उनकी नित्य-सेवा प्राप्ति के लिये चिच्छक्ति योगमाया की आराधना की थी। और सातवीं शताब्दी में भी देखा जाता है कि, राजा सुरथ एवं समाधि-नामक वैश्य अपने आपको वर्णाश्रम के अन्तर्गत कोई अभाव ग्रस्त जीव मानकर जड़ जगत् की अधिष्ठात्री महामाया की आराधना करने में तत्पर हुए थे। अतएव जहाँ 'योगमाया' और 'जड़माया' को एक ही मानकर 'मूड़ि और मिश्री' को एक ही भाव में चलाने का प्रयास करने वालों के समान 'समन्वयवाद' प्रचार किया जाता है, वहाँ अज्ञानता, मूर्खता और भगवान् के स्वरूप की उपलब्धि का अभाव ही समझना चाहिए।

दूसरा, इस जगत् में देखा जाता है—'एक आँख से काणे पुत्र का नाम 'पद्मलोचन' होता है, किन्तु भगवान् के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। भगवान् के नाम और नामी में कोई भेद नहीं है,—भगवान का कोई भी नाम निरर्थक अथवा भगवान् की वास्तविक सत्ता से अलग नहीं है। श्रीभगवान् के नाम—बहुत प्रकार के हैं; यथा, परमात्मा, ब्रह्म, सृष्टिकर्त्ता, नारायण, रुक्मिणीरमण, गोपीनाथ, कृष्ण आदि। किन्तु जो भगवान् को सृष्टिकर्त्ता कहकर पुकारेंगे, वे नारायण का रसास्वादन नहीं कर पायेंगे; क्योंकि सृष्टिकर्त्ता इत्यादि नाम समूह जगत् के बहिर्मुख जीवों के द्वारा बनाया गया अक्षजज्ञान दत्त नाम है। 'सृष्टिकर्त्ता' कहने से भगवान् की परिपूर्ण सत्ता की उपलब्धि नहीं होती; क्योंकि सृष्टि कार्य करना भगवान् की स्वरूप शक्ति का कार्य नहीं है, वह—उनकी बहिर्मुखिनी शक्ति का परिचायक है। और, 'ब्रह्म' कहने से भगवान् के छह प्रकार के ऐश्वर्यों का परिचय नहीं पाया जाता; क्योंकि, भगवान् का निर्विशेष भाव ही 'ब्रह्म' के नाम से प्रसिद्ध है, अतएव वह भगवान् के सम्पूर्ण सच्चिदानन्द विग्रह का द्योतक नहीं है। 'परमात्मा' कहने से भी भगवान् का सम्पूर्ण परिचय नहीं होता; क्योंकि, व्यष्टि जीवों के अन्तर (हृदय) में अन्तर्यामी के रूप में भगवान् का आंशिक परिचय ही 'परमात्मा' के नाम से प्रसिद्ध है। और, नारायण का भजन करनेवाले व्यक्ति भी कृष्ण के माधुर्य की उपलब्धि नहीं कर पाते। कृष्ण भक्त भी पुनः एक ही कृष्ण में माधुर्य द्वारा नारायण का ऐश्वर्य आच्छादित होकर (किस प्रकार) सम्पूर्ण परम-चमत्कारिता (प्राप्त हैं, ऐसा) देखकर नारायण का भजन करने की स्पृहा नहीं करते,—गोपियाँ श्रीकृष्ण को कभी भी 'रुक्मिणी रमण' कहकर सम्बोधन नहीं करती। 'रुक्मिणीरमण' और 'श्रीकृष्ण' जागतिक अभिधान (क्पबजपवदंतल) में प्रतिशब्द अथवा समानार्थक शब्द होने पर भी, एक के स्थान पर दूसरा व्यवहृत नहीं हो सकता। यदि मूर्खतावशतः कोई (उन्हें एक ही समझकर) उनका उच्चारण करते हैं, तो फिर 'रसाभास' नामक दोष होता

है। जिन्होंने भगवान् के स्वरूप की उपलब्धि की है, वह अनजान लोगों की भाँति ऐसा रसाभास अथवा सिद्धान्त विरोध नहीं करते। किन्तु तब भी कलि की प्रबलता के कारण उच्छृङ्खलता पूर्ण कुसिद्धान्त ही उदारता अथवा महासमन्वयवाद के नाम से एवं सत् सिद्धान्त ही मूर्ख लोगों के द्वारा गौड़ामी (किसी विचार को पकड़कर उसके प्रति जिद्द करना) अथवा सङ्कीर्णता के नाम से प्रचारित हो रहे हैं।

गोपियों के प्रेम का ऋण कृष्ण के
द्वारा नहीं चुकाया जा सकता—
श्रीमद्भागवत (१०/३२/२२)—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जय-गेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥९२॥

९२। श्लोकानुवाद—हे गोपीगण, मेरे साथ तुम सबका संयोग निर्मल है, अनेक जन्मों में भी मैं निज-सत्कार के द्वारा तुम सबके प्रति कर्त्तव्य का अनुष्ठान नहीं कर पाऊँगा; क्योंकि, तुम सबने अति कठिन संसार श्रृंखला का सम्पूर्ण रूप से छेदन करके मेरा अन्वेषण किया है। मैं तुम सबका ऋण चुकाने में असमर्थ हूँ। अतएव तुम सब निज कार्यों के द्वारा ही परितुष्ट हो।

अनुभाष्य

९०-९२। आदि चतुर्थ परिच्छेद १७७-१८० संख्या द्रष्टव्य।

गोपियों के मधुर-प्रेम में ही कृष्ण
का माधुर्य-विलास प्रकटित—

यद्यपि कृष्ण सौन्दर्य—माधूर्येर धूर्य।
व्रजदेवीर सङ्गे ताँर बाड़ये माधुर्य॥९३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९३। यद्यपि कृष्ण का असमोर्द्धव-सौन्दर्य ही कृष्ण के माधुर्य की पराकाष्ठा है, तथापि व्रजदेवियों का सङ्ग होने से वह माधुर्य अनन्तगुणा वृद्धि प्राप्त करता है; अतएव गोपीजन-वल्लभ-प्रेम ही सभी भक्तों के लिये साध्य सार है। इसमें भक्त को जिस प्रकार (परिपूर्णमाधुर्यमय) कृष्ण की प्राप्ति होती है, ऐसे और-और रसों की किसी भी अवस्था में नहीं होता।

गोपी के मध्य कृष्ण—जैसे मणि के बीच में मरकत—
श्रीमद्भागवत (१०/३३/६)—

तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः।
मध्ये मणीनां हेमानां महामारकतो यथा॥९४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९४। देवकीसुत भगवान् यद्यपि सभी प्रकार के सौन्दर्यों के सार हैं, तथापि व्रजदेवियों के साथ वे सोने की बनी हुयी मणियों के बीच महा-मरकत मणि के समान अत्यधिक शोभायमान हुए थे।

अनुभाष्य

९४। श्रीशुकदेव द्वारा परीक्षित के निकट रासलीला करने वाली गोपियों के बीच में (रास करने वाले) श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन—

तत्र (वृन्दावने रासमण्डले) हेमानां (सुवर्ण-खचितानां मणिना) मध्ये महामारकतः यथा, (तथा) ताभिः (व्रज-देवीभिः वेष्टितः सन्) भगवान् देवकीसुतः अतिशुशुभते।

(ग) गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम, साध्य की
सीमा होने पर भी श्रीमन्महाप्रभु के द्वारा पुनः प्रश्न—

प्रभु कहे, एइ—'साध्यावधि' सुनिश्चय।
कृपा करि' कह, यदि आगे किछु हय॥९५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९५। यहाँ तक का सिद्धान्त श्रवण करके महाप्रभु ने कहा,—यद्यपि श्रीगोपीजनवल्लभ प्रेम ही साध्यतत्त्व की अवधि (सीमा) है, तथापि यदि और भी कुछ हो, तो बोलो।

प्रश्नकर्त्ता महाप्रभु का 'असमोर्द्धत्व' के रूप में ज्ञान—

राय कहे,—"इहार आगे पूछे हेन जने।
एतदिन नाहि जानि, आछये भुवने॥९६॥

९६। प० अनु०—श्रीरामानन्द-राय ने कहा—"इससे भी आगे और कुछ है या नहीं, ऐसी बात पूछने वाला कोई व्यक्ति इस पृथ्वी पर है, मैं अब तक नहीं जानता था।"

(घ) श्रीराधा का कृष्ण के प्रति प्रेम ही साध्यशिरोमणि—

इँहार मध्ये राधार प्रेम—'साध्यशिरोमणि'।
जाँहार महिमा सर्वशास्त्रेते बाखानि॥९७॥

९७। प० अनु०—व्रजगोपियों के प्रेम के बीच में श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा का प्रेम ही 'साध्य शिरोमणि' है। जिसकी महिमा सभी शास्त्रों में वर्णन की गयी है।

अमृतप्रवाह भाष्य

९७। साधारण गोपियों का जो श्रीकृष्णप्रेम है, उनमें से श्रीराधाजी का कृष्ण प्रेम ही साध्य शिरोमणि तत्त्व है। साधारण जीवों के लिये इस भाव जैसे भाव को ग्रहण करने का उपदेश नहीं है; किन्तु उस भाव के अनुगत अर्थात् उसके अनुरूप कृष्णप्रेम के अति-उच्च भाव ग्रहण करने में सिद्धावस्था में जीवों की योग्यता हो सकती है। साधन अवस्था में राधिका की सखी और परिचारि-काओं (दासियों) का भाव ही अनुसरणीय है। उद्धव के दर्शन से राधिका के जो भाव (उदित हुए थे, वही के वही भाव) महाप्रभु में भी लक्षित होते थे, वह भाव जीवों के लिये साध्य नहीं है, किन्तु थोड़ा से अन्य प्रकार से अनुसरणीय है।

अनुभाष्य

९७-११५। आदि चतुर्थ परिच्छेद ६८-९७ एवं १२२-१४३, २१४-२१९, २३९-२६२ संख्या द्रष्टव्य।

श्रीराधा के समान श्रीराधाकुण्ड भी कृष्ण को प्रिय—
लघुभागवतामृत—(२/४५), पद्मपुराण वाक्य—

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा॥९८॥

९८। श्लोकानुवाद—श्रीराधा जिस प्रकार श्रीकृष्ण की प्रिया हैं, राधाकुण्ड भी उसी प्रकार उनका प्रिय स्थान है; सभी गोपियों में श्रीराधा ही श्रीकृष्ण की अत्यन्त वल्लभा हैं।

अनुभाष्य

९८। आदिलीला चतुर्थ परिच्छेद २१५ संख्या द्रष्टव्य।

भागवत में श्रीराधा का इङ्गित और अद्वितीयत्व—
श्रीमद्भागवत (१०/३०/२८)—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥"९९॥

८८। श्लोकानुवाद—हे सहचरि, हम सबको छोड़कर श्रीकृष्ण जिन्हें निभृत में ले गये हैं, उन्होंने ईश्वर हरि की अवश्य ही अधिक आराधना की है। इसका गूढ़ अर्थ यही है कि, कृष्णकान्ताओं की शिरोमणि होने के कारण उनका नाम 'राधिका' है।

अनुभाष्य

९९। आदिलीला चतुर्थ परिच्छेद ८८ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु का उल्लास और राय की प्रशंसा का कीर्त्तन—

प्रभु कहे,—आगे कह, शुनिते पाइ सुखे।
अपूर्वामृत-नदी बहे तोमार मुखे॥१००॥

१००। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"और भी आगे कहो, यह सब सुनकर मुझे बहुत आनन्द की प्राप्ति हो रही है। ऐसा लगता है मानो आपके मुख से अपूर्व अमृत की नदी प्रवाहित हो रही है।

अद्वितीया श्रीराधा के प्रति
कृष्ण का निरपेक्ष प्रेम—

चुरि करि' राधाके निल गोपीगणेर डरे।
अन्यापेक्षा हैले प्रेमेर गाढ़ता ना स्फुरे॥१०१॥

१०१। प० अनु०—श्रीकृष्ण गोपियों के डर से श्रीराधा को चोरी करके ले गये। जहाँ अन्यापेक्षा है वहाँ प्रेम की गाढ़ता की स्फूर्त्ति नहीं होती।

श्रीराधा में कृष्ण का एकनिष्ठ प्रेम—

राधा लागि' गोपीरे यदि साक्षात् करे त्याग।
तबे जानि,—राधाय कृष्णेर गाढ़-अनुराग॥१०२॥

१०२। प० अनु०—श्रीराधा के लिये यदि श्रीकृष्ण गोपियों का साक्षात् रूप से त्याग करे तब जाना जा सकता कि श्रीकृष्ण का श्रीराधा के प्रति गाढ़-अनुराग है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०१-१०२। रासलीला में श्रीकृष्ण ने देखा,—अन्य समस्त गोपियों के साथ एकसाथ (रास करने के कारण) राधिका के साथ निरपेक्ष प्रेम नहीं हुआ, अन्यापेक्षा-वशतः प्रेम की गाढ़ता की स्फूर्त्ति नहीं हुयी; इसी कारण श्रीकृष्ण गोपियों के भय से राधिका को रासस्थली से चोरी करके अन्य गोपियों से अलग हो गये। "कंसारिरपि" श्लोक (१०५ संख्या) यहाँ पर उदाहरणीय है।

श्रीराधा की कृष्ण प्रीति का निरुपमत्व—

राय कहे,—तबे शुन प्रेमेर महिमा।
त्रिजगते राधा प्रेमेर नाहिक उपमा॥१०३॥

१०३। प० अनु—श्रीरामानन्द राय ने कहा—"तब राधारानी के श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम की महिमा को सुनो, क्योंकि तीनों लोकों में श्रीमती राधारानी के प्रेम की कोई उपमा नहीं है।

सेवक की सेवा ग्रहण करने के लिये
उसके दर्शन न होने से सेव्य का विलाप—

गोपीगणेर रास-नृत्य-मण्डली छाड़िया।
राधा चाहि' वने फिरे विलाप करिया॥१०४॥

१०४। प० अनु०—[एकबार श्रीमती राधारानी रासमण्डली को छोड़कर चली गयी थी, तब अन्यान्य] गोपियों की रास-नृत्य-मण्डली को छोड़कर श्रीकृष्ण विलाप करते हुये वन में श्रीराधा को ढूँढ़ने लगे थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०४। श्रीराधिका रास-मण्डली में गोपियों की साधारण प्रेम-सुलभ ममता को देखकर कौटिल्य वामता से युक्त रासमण्डली को छोड़कर चली गयी। कृष्ण की इच्छा,—श्रीमती रासलीला में रस की पुष्टि करें, किन्तु उनके भाव में श्रीकृष्ण खिन्न होकर विलाप करते-करते श्रीमती को ढूँढ़ने के लिये वन में घूमने लगे।

श्रीराधा ही कृष्ण प्रीति की सेवा की मूर्त्ति—
श्रीगीतगोविन्द (३/१-२)—

कंसारिरपि संसारवासनाबद्धशृङ्खलाम।
राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः॥१०५॥

१०५। श्लोकानुवाद—कंसारि श्रीकृष्ण सम्पूर्ण-साररूप रास-लीला की वासना को दृढ़ रूप से बाँधने वाली श्रीराधा को हृदय में धारण कर अन्यान्य व्रज-सुन्दरियों को छोड़कर चले गये।

अनुभाष्य

१०५। आदिलीला चतुर्थ परिच्छेद २१९ संख्या द्रष्टव्य है।

इतस्ततस्तामनुसृत्य राधिका-
मनङ्गबाणव्रणखिन्नमानसः।
कृतानुतापः स कलिन्दनन्दिनी-
तटान्तकुञ्जे विषसाद माधवः॥१०६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१०६। अनङ्ग बाणों के घावों द्वारा दुःखी मन वाले और अपने द्वारा किये गये कार्य के लिये अनुताप करते हुए, माधव कलिन्द नन्दिनी (यमुना) के तट पर स्थित वन में इधर-उधर राधिका को ढूँढ़ने पर भी नहीं प्राप्त कर पाने पर कुञ्ज में प्रवेश करके विषाद करने लगे।

अनुभाष्य

१०६। अनङ्गबाणव्रणखिन्नमानसः (कामशरव्रणेन खिन्नं मानसं यस्य सः) माधवः इतस्ततः तां राधिकाम् अनुसृत्य (अन्विष्य) कृतानुतापः (कृतः अनुष्ठितः अनु पश्चात् तापो येन सः राधिकानादररूपनिजाचरित-

कर्मजन्य-शोकवशः सन्) कलिन्दनन्दिनीतटानत-कुञ्जे (यमुनातटप्रान्तस्थ-कुञ्जे) विषसाद (विपन्नः अभूत्)।

उपरोक्त दोनों श्लोकों का विचार—

एइ दुइ-श्लोकेर अर्थ विचारिले जानि।
विचारिते उठे जेन अमृतेर खनि॥१०७॥

१०७। प॰ अनु॰—ऊपर वर्णित दोनों श्लोकों का अर्थ विचार करने पर ही राधा-प्रेम की महिमा जानी जा सकती है कि राधा प्रेम अमृत की खान है।

रास का वर्णन—

शतकोटि गोपी-सङ्गे-रास-विलास।
तार मध्ये एक-मूर्त्ये रहे राधा-पाश॥१०८॥

१०८। प॰ अनु॰—सौ-करोड़ गोपियों के साथ रास-विलास करते समय श्रीकृष्ण जिस प्रकार अपनी एक-एक मूर्त्ति से अर्थात् सौ करोड़ मूर्त्तियों को प्रकाशित करके प्रत्येक गोपी के साथ विराज रहे थे, उसी प्रकार उन सबके बीच में एक मूर्त्ति से श्रीराधा के साथ भी विराज रहे थे।

श्रीराधिका के कृष्णप्रेम में वामता भाव का प्राधान्य—

साधारण-प्रेमे देखि सर्वत्र 'समता'।
राधार कुटिल-प्रेमे हइल 'वामता'॥१०९॥

१०९। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण सभी गोपियों के साथ जिस प्रकार प्रेम कर रहे थे, सभी गोपियों के प्रति जैसा व्यवहार कर रहे थे, अपने प्रति भी श्रीकृष्ण के ठीक वैसे समतापूर्ण व्यवहार को देखकर श्रीमती राधारानी के कुटिल-प्रेम में 'वामता' अर्थात् वाम्य भाव उत्पन्न हो गया।

कृष्णप्रेम का कौटिल्य—
उज्ज्वलनीलमणि के शृङ्गारभेद के कथन में (१०२)—

अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत्।
अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति॥११०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१०९-११०। रासमण्डल में दो-दो गोपियों के बीच एक कृष्ण एवं श्रीराधिका के पार्श्व में एक कृष्ण,—इस प्रकार से प्रकाशित हुए थे। राधिका ने उसमें अपने कुटिल-प्रेम की 'वामता' प्रकाशित की।

उज्ज्वलनीलमणि में कहा गया है—सर्प के समान प्रेम की भी स्वाभाविक कुटिल गति होती है; इसी कारण से युवक और युवती में 'अहेतु' (बिना किसी कारण से) और 'सहेतु' (किसी कारण से)—इन दो प्रकार का मान उदित होता है।

अनुभाष्य

११०। अहेः (सर्पस्य) इव प्रेमणः गतिः स्वभाव कुटिला (निसर्गतः वक्रा) भवेत्; अतः (अस्मात् कारणात्) हेतोः (कारणोदयात्) अहेतोः च (कारणाभावदपि) यूनोः (कान्ताकान्त्योः) मानः उदञ्चति (उदेति)।

श्रीराधा के द्वारा रास के परित्याग करने पर कृष्ण द्वारा राधा को ढूँढ़ना—

क्रोध करि' रास छाड़ि' गेला मान करि'।
ताँरे ना देखिया व्याकुल हैल श्रीहरि॥१११॥
सम्यक् वासना कृष्णेर इच्छा रासलीला।
रासलीला-वासनाते राधिका शृङ्खला॥११२॥
ताँहा बिना रासलीला नाहि भाय चित्ते।
मण्डली छाड़िया गेला राधा अन्वेषिते॥११३॥
इतस्ततः भ्रमिया काँहा राधा ना पाञा।
विषाद करेन कामबाणे खिन्न हञा॥११४॥

१११-११४। प॰ अनु॰—श्रीराधा जब क्रोधपूर्वक रास छोड़कर मान करके वहाँ से चली गयीं। तब उन्हें न देख श्रीहरि बहुत व्याकुल हो गये। श्रीकृष्ण की सम्यक् रूप से सारभूत वासना रासलीला ही है और उस रासलीला की वासना को आबद्ध करने के लिये श्रीराधा शृङ्खला स्वरूप है। श्रीराधा के बिना श्रीकृष्ण के चित्त को रासलीला अच्छी नहीं लगती इसलिये श्रीकृष्ण रास

मण्डली को छोड़कर श्रीराधा को ढूँढ़ने चले गये। इधर-उधर भ्रमण करने पर भी जब श्रीकृष्ण को श्रीराधा नहीं मिली तो वे कामबाण से खिन्न होकर विषाद करने लगे।

अनुभाष्य

११२-११३। पूर्ववर्ती १०४ संख्या का अमृतप्रवाह भाष्य द्रष्टव्य।

कृष्णकामपूर्त्ति विग्रह श्रीराधा का असमोर्द्धत्व—

शतकोटि-गोपीते नहे काम-निर्वापण।
ताहातेइ अनुमानि श्रीराधिकार गुण॥"११५॥

११५। प० अनु०—शतकोटि (सौ करोड़) गोपियों से भी श्रीकृष्ण के काम की पूर्त्ति नहीं हुई, इसी से ही श्रीराधिका के गुण का अनुमान किया जा सकता है।

वक्ता रामानन्द राय के समक्ष श्रोता रूपी महाप्रभु का शिष्यत्व अभिमान—

प्रभु कहे,—जे लागि' आइलाम तोमा-स्थाने।
सेइ सब तत्त्ववस्तु हैल मोर ज्ञाने॥११६॥

११६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने राय रामानन्द से कहा—"जिस कारण से मैं आपके पास आया था, उन सब तत्त्ववस्तु का ज्ञान मुझे प्राप्त हो गया।"

अनुभाष्य

११६। मध्य, अष्टम परिच्छेद प्रथम श्लोक द्रष्टव्य।

अब प्रभु का कृष्णभजन के क्रम का श्रवण—

एबे जानिलूँ सेव्य-साधन-निर्णय।
आगे आर आछे किछु, शुनिते मन हय॥११७॥

११७। प० अनु०—अब मैं सेव्य वस्तु और उन्हें प्राप्त करने के साधन के विषय में जान चुका हूँ। परन्तु तब भी, इससे आगे यदि कुछ है तो मेरा मन उसे सुनना चाहता है।

अनुभाष्य

११७। पाठान्तरे,—'साध्य-साधन-निर्णय'।

महाप्रभु के द्वारा (१) कृष्ण, (२) राधा, (३) रस और (४) प्रेम के स्वरूप के तत्त्व का वर्णन करने के लिये राय से अनुरोध—

'कृष्णेर-स्वरूप' कह 'राधार स्वरूप'।
'रस'—कोन् तत्त्व, 'प्रेम'—कोन् तत्त्वरूप॥११८॥
कृपा करि' एइ तत्त्व कह त' आमारे।
तोमा-बिना केह इहा निरूपिते नारे॥११९॥

११८-११९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरामाननन्द राय से कहा—"अब आप मेरे समक्ष श्रीकृष्ण के स्वरूप एवं श्रीराधा के स्वरूप का वर्णन करो। रस क्या तत्त्व है, प्रेम तत्त्व का क्या स्वरूप है? कृपा करके आप यह सब तत्त्व मुझे सुनाइये, आपके बिना इन तत्त्वों का और कोई भी वर्णन नहीं कर सकता।

राय का अपने को 'यन्त्र' और प्रभु को 'यन्त्री' ज्ञान—

राय कहे,—"इहा आमि किछुइ ना जानि।
तुमि जेइ कहाओ, सेइ कहि वाणी॥१२०॥
तोमार शिक्षाय पड़ि जेन शुक-पाठ।
साक्षात् ईश्वर तुमि, के बुझे तोमार नाट॥१२१॥
हृदये प्रेरण कर, जिह्वाय कहाओ वाणी।
कि कहिये भाल-मन्द, किछुइ ना जानि॥१२२॥

१२०-१२२ प० अनु०—श्रीरामानन्द राय ने कहा—"मैं इन तत्त्वों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता हूँ। आप मुझसे जो कहलवाते हैं मैं वही कह रहा हूँ। शुक पक्षी की भाँति आप के द्वारा सिखाये गये विषयों को ही दोहरा रहा हूँ। आप साक्षात् ईश्वर हैं, आपके नाट्याभिनय को कौन समझ सकता है? क्या अच्छा है, क्या बुरा है मैं कुछ नहीं जानता हूँ, आप ही हृदय में प्रेरणा दे रहे हैं और आप ही उसे वाणी के द्वारा कहलवा रहे हैं।

अपने को 'कृष्ण-विमुख' और 'दीन' बतलाकर प्रभु के द्वारा राय को छलने की चेष्टा—

प्रभु कहे,—मायावादी आमि त' संन्यासी।
भक्तितत्व नाहि जानि, मायावादे भासि॥१२३॥

१२३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मैं

तो एक मायावादी संन्यासी हूँ, मैं भक्ति के तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता हूँ। मैं तो सदैव मायावाद में ही डूबा रहता हूँ।

प्रभु के द्वारा सार्वभौम और रामानन्द के वैशिष्ट्य और तारतम्य का वर्णन; सार्वभौम—ब्राह्मण और मुक्तिदाता; रामानन्द—कृष्ण-तत्त्वज्ञ और कीर्त्तनकारी आचार्य अथवा वैष्णव—

सार्वभौम-सङ्गे मोर मन निर्मल हैल।
'कृष्णभक्ति-तत्त्व कह', ताँहारे पुछिल॥१२४॥
तिंहो कहे,—आमि नाहि जानि कृष्णकथा।
सबे रामानन्द जाने, तिंहो नाहि एथा॥'१२५॥

१२४-१२५। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के सङ्ग से मेरा मन निर्मल हुआ था। 'कृष्णभक्ति के तत्त्व के सम्बन्ध में कहिए'—मेरे ऐसे पूछने पर उन्होंने कहा—'मैं कृष्णकथा नहीं जानता हूँ, उसे केवल रामानन्द राय ही जानते हैं। परन्तु वे तो इस समय यहाँ पर नहीं है।'

'वञ्चक'-लीलाभिनयकारी वैष्णव—

तोमार ठाञि आइलाङ तोमार महिमा शुनिया।
तुमि मोरे स्तुति कर 'संन्यासी' जानिया॥१२६॥

१२६। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने आगे कहा—"आपकी महिमा सुनकर ही मैं आपके पास आया हूँ और आप मुझे संन्यासी जानकर मेरी ही स्तुति कर रहे हैं।

अनुभाष्य

१२६। अप्राकृत (अलौकिक) कृष्णप्रेम रूपी धन में धनी गुरु-वैष्णवों के निकट जड़ीय-सम्पत्ति का मूल्य अत्यन्त तुच्छ होता है, इसलिये गुरु-वैष्णवों के सामने निःश्रेयसार्थी (अपना वास्तविक कल्याण चाहने वाले) शिष्य बनने का प्रयास करने वाले व्यक्ति के लिये इन सब जागतिक वस्तुओं के दम्भ को प्रदर्शित करना कभी भी कर्त्तव्य नहीं है। जन्म, ऐश्वर्य, श्रुत (बुद्धिमता) और श्री (सौन्दर्य) के अभिमान का सहारा लेकर कोई यदि गुरु-वैष्णवों के निकट बाहरी दृष्टिकोण से उपस्थित होकर भी वास्तव में प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा के साथ ना आये, तो फिर वैष्णव भी उसको उसके द्वारा वाञ्छित बाह्य-सम्मान देकर विदा करते हैं, अब्राह्मण अथवा शूद्र समझकर उसको कभी भी दिव्यज्ञान अर्थात् अप्राकृत कृष्ण सम्बन्धानुभूति प्रदान नहीं करते; जिसके फलस्वरूप वह व्यक्ति परमार्थ से वञ्चित होकर नरक के पथ पर ही अग्रसर होता है,—यही श्रीगौरसुन्दर ने जागतिक लोगों की दृष्टि में स्वयं वर्णाश्रम धर्म की सर्वोत्कृष्ट अवस्था (ब्राह्मण वर्ण और संन्यास आश्रम) में स्थित होने पर भी एवं श्रीरामानन्द प्रभु को अपनी अपेक्षा निम्नतर अवस्था (शूद्रवर्ण और गृहस्थ आश्रम) में अवस्थापित दिखाकर कलि के द्वारा हत अक्षज (जागतिक) ज्ञान को ही सर्वस्व समझने वाले निर्बोध जीवों को इस प्रकार की दुर्बुद्धि से सतर्क करने के लिये जगद्गुरु आचार्य के रूप में शिक्षा प्रदान की।

जिस किसी भी अवस्था में क्यों न रहे, कृष्ण तत्त्व को जानने वाला ही दिव्यज्ञानदाता—

किबा विप्र, किबा न्यासी, शूद्र केने नय।
जेइ कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेइ 'गुरु' हय॥१२७॥

१२७। प॰ अनु॰—जो कृष्ण के तत्त्व को जानता है, वही गुरु है भले ही वह ब्राह्मण हो या संन्यासी अथवा शुद्र ही क्यों न हो।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२७। प्रभु ने कहा,—मैंने ब्राह्मण घर में जन्म ग्रहण करके संन्यास ग्रहण किया है। अतएव शूद्र व्यक्ति से धर्म की शिक्षा ग्रहण करना मेरे लिये अनुचित है, ऐसा मत सोचना। क्योंकि वर्णाश्रम रूपी धर्म शिक्षा और दीक्षा में ही ब्राह्मण-गुरु की आवश्यकता होती है। किन्तु कृष्ण-तत्त्व-ज्ञान—सभी जीवों का परमार्थ है। इस तत्त्वज्ञान के गुरु होने के अधिकार के विचार में केवल मात्र यही सिद्धान्त है कि, ब्राह्मण ही हो अथवा शूद्र

जाति ही हो, गृहस्थ ही हो अथवा संन्यासी ही हो, कृष्णतत्त्व को जानने वाला ही 'गुरु' हो सकता है। श्रीहरि-भक्तिविलास में उच्चवर्ण में योग्य पुरुष के होने पर, हीन वर्ण के व्यक्ति से कृष्णमन्त्र लेना उचित नहीं है—ऐसी जो बात है, वह लोकापेक्षि-वैष्णपर है; अर्थात् संसार में जो प्रचलित-विधि के मतानुसार थोड़ा-बहुत परमार्थ को भी जोड़ना चाहते हैं, उनके लिये ही है। परन्तु जो वैधी और रागानुगा भक्ति के तात्पर्य को जानकर विशुद्ध कृष्णभक्ति प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, उनके लिये उपयुक्त कृष्णतत्त्व वेत्ता जिस किसी भी वर्ण अथवा जिस किसी भी आश्रम में क्यों न पाया जाएँ, उसी को ही 'गुरु' के रूप में वरण करना ही विधि है। श्रीहरिभक्ति-विलास में उद्धृत पद्मपुराण के वचन,—"न शूद्रः भगवद्-भक्तास्तेऽपि भागवतोत्तमाः। सर्ववर्णेषु ते शूद्र ये न भक्ता जनाद्दने। षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः। अवैष्णवो गुरुर्नस्याद्वैष्णवः श्वपचो गुरुः॥ महाकुल प्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषुः दीक्षितः। सहस्त्रशाखाध्यायी च न गुरुस्यादवैष्णवः॥ विप्रक्षत्रियवैश्याश्च गुरवः शूद्रजन्म-नाम्। शूद्राश्च गुरवस्तेषां त्रयाणां भगवत् प्रियाः॥"

अनुभाष्य

१२७। वर्ण में ब्राह्मण ही हो अथवा क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ही हो, आश्रम में संन्यासी हो अथवा ब्रह्मचारी-वानप्रस्थ-गृहस्थ ही हो, जिस किसी वर्ण में अथवा जिस किसी आश्रम में अवस्थित हो, कृष्णतत्त्व वेत्ता ही गुरु अर्थात् वर्त्मप्रदर्शक, दीक्षागुरु अथवा शिक्षागुरु हो सकते हैं। गुरु की योग्यता केवलमात्र कृष्णतत्त्वज्ञता पर ही निर्भर करती है,—वर्ण अथवा आश्रम के ऊपर निर्भर नहीं करती। श्रीमहाप्रभु का यह आदेश शास्त्रीय आदेश के विरुद्ध नहीं है। इस तात्पर्य के अनुसार श्रीविश्वम्भर महाप्रभु श्रीईश्वरपुरी नामक संन्यासी के निकट, श्रीनित्यानन्द प्रभु माधवेन्द्र पुरी गोस्वामी (मतान्तर में श्रीमद्लक्ष्मी पति तीर्थ) नामक संन्यासी के निकट, श्रीअद्वैताचार्य भी उन्हीं श्रीमाधवेन्द्र पुरी संन्यासी के द्वारा दीक्षित हुए थे। श्रीरसिकानन्द ने शौक्रब्राह्मण कुल के अतिरिक्त किसी अन्य कुल में आविर्भूत श्रीश्यामानन्द प्रभु से, श्रीगंगा नारायण चक्रवर्ती और श्रीरामकृष्ण भट्टाचार्य ने भी शौक्र ब्राह्मण कुल के अतिरिक्त अन्य किसी कुल में आविर्भूत श्रील नरोत्तम ठाकुर से, काटोया के श्रीयदुनन्दन चक्रवर्ती श्रीदास गदाधर से पाञ्चरात्रिक दीक्षा में दीक्षित हुए थे। धर्म-व्याध आदि अनेकानेक व्यक्तियों के शिक्षा-गुरु होने में कोई बाधा कोई थी। महाभारत के स्पष्ट आदेश समूह एवं श्रीमद्भागवत में सप्तम स्कन्ध के एकादश अध्याय के बत्तीसवें श्लोक में—"यस्य यल्लक्षणां प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्। यदन्यत्रापि दृश्येत् तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥" इस वाक्य में विधिलिङ्ग के प्रयोग से वैष्णवों के विश्वास के अनुगमन में कृष्णतत्त्ववेता की वृत्तब्राह्मणता ही स्वाभाविक है; अतएव कलि द्वारा प्रचलित शौक्र सम्बन्ध के बिना ब्राह्मणता जहाँ हो ही नहीं सकती, वहाँ पर कृष्णतत्त्ववित् होने पर शौक्रशूद्र भी शास्त्रीय ब्राह्मणता प्राप्त करके गुरु हो सकते हैं—यही श्रीमन् महाप्रभु ने सूक्ष्मरूप से समझा दिया। जो सब कृष्णतत्त्ववित् वैदिक राजसनेय शाखा के अन्तर्गत कात्यायन गुह्यसूत्र में कहे गये सावित्र्य-संस्कार को ग्रहण नहीं करते, वे—एकायन-शाखी दैक्ष-ब्राह्मण-मात्र है। किन्तु निर्बोध लोग उन्हें बहुत बार 'अच्युत ब्राह्मण' न समझ पाने के कारण नरकगामी होते हैं; इसलिये रसिकानन्द प्रभु के वंश में, श्रीखण्ड के श्रीमुकुन्द दास के वंश में, नवनीहोड़ के वंश में सावित्र्य ब्राह्मण-संस्कार एवं शौक्र विप्र शिष्य-सम्प्रदाय के आचार्य का कार्य बहुत समय से चलता हुआ आ रहा है। भजनानन्दी वैष्णवों ने सावित्र्य-संस्कार ग्रहण नहीं किया, इसलिये वहीं एकमात्र विधि होगी, ऐसा नहीं। वैष्णवगण लक्षणों के द्वारा वर्ण का निर्णय करते हैं, किन्तु क्योंकि निर्बोध व्यक्ति वैसे लक्षणों द्वारा वर्ण निर्णाय करने में असमर्थ होते हैं, इसलिये श्रीमहाप्रभु ने स्पष्ट रूप से ही शास्त्र के तात्पर्य को समझा दिया। हरिभक्तिविलास में संगृहीत सिद्धान्त श्रीमन् महाप्रभु के अपने आदर्श-आचार और उपदेशों के साथ एक होने

पर भी निर्बोध व्यक्तियों के विचारानुसार वह भिन्न प्रतीत होता है। इस पयार में कहे गये 'गुरु' शब्द में उनके विचार से श्रवण-गुरु अथवा भजन-शिक्षा गुरु ही उद्दिष्ट है, दीक्षा अथवा मन्त्र देने वाले गुरु उद्दिष्ट नहीं हुए; क्योंकि उनके मतानुसार वंश-परिचय अर्थात् रक्त अथवा शुक्र ही दिव्यज्ञान-दाता के अधिकार का निर्णय और परिचय प्रदान करता है। अतएव शुद्ध-आत्मवृत्ति कृष्णभक्ति उनके मतानुसार निरपेक्ष नहीं है; विशेष करके दीक्षा गुरु अथवा मन्त्र दाता का श्रेष्ठत्व और माहात्म्य उनकी मूर्खतानुसार 'श्रवण गुरु' अथवा 'भजन-शिक्षा-गुरु' की अपेक्षा अधिकतर है। इस सम्बन्ध में आदि प्रथम परिच्छेद ४७ संख्या का अनुभाष्य विशेष-रूप से आलोच्य है। वास्तव में ऐसी धारणा उनकी अक्षज (जागतिक) ज्ञान से उत्पन्न अपराध का फल है।

राय को राधाकृष्ण के तत्त्व का
कीर्त्तन करने के लिये अनुरोध—

'संन्यासी' बलिया मोरे ना करिह वञ्चन।
कृष्ण-राधा-तत्त्व कहि' पूर्ण कर मन॥१२८॥

१२८। प० अनु०—मुझे 'संन्यासी' कहकर मेरी वञ्चना मत करो, 'राधा-कृष्ण के तत्त्व का वर्णन करके आप मेरी मनोवाञ्छा को पूर्ण करो।"

प्रभु की माया के द्वारा महामहासूरिगण भी मुग्ध, किन्तु
वास्तविक तत्त्व को जानने वाले रामानन्द धीर-स्थिर—

यद्यपि राय—प्रेमी, महाभागवते।
ताँर मन कृष्णमाया नारे आच्छादिते॥१२९॥

१२९। प० अनु०—यद्यपि श्रीरामानन्द राय महा-भागवत कृष्ण-प्रेमी है और कृष्ण की माया उनके मन को आच्छादित नहीं कर सकती।

अनुभाष्य

१२९। आदि तृतीय परिच्छेद ८५-८९ संख्या द्रष्टव्य है।

प्रभु की इच्छा शक्ति के द्वारा चालित सेवक का चलन—
मायादास्य नहीं, यह तो प्रभु की इच्छा शक्ति के द्वारा
उनके प्रभुत्व और राय के वश्यत्व का ज्ञापक—

तथापि प्रभुर इच्छा—परम प्रबल।
जानिलेह रायेर मन हैल टलमल॥१३०॥
राय कहे,—"आमि—नट, तुमि—सूत्रधार।
जेइ मत नाचाओ, सेइ मत चाहि नाचिबार॥१३१॥
मोर जिह्वा—वीणायन्त्र, तुमि—वीणा-धारी।
तोमार मने जेइ उठे, ताहाइ उच्चारि॥१३२॥

१३०-१३२। प० अनु०—तथापि महाप्रभु की इच्छा परम प्रबल है इसलिये सबकुछ जानते हुये भी श्रीरामानन्द राय का मन विचलित हो गया है। श्रीरामानन्द राय ने कहा—"मैं तो एक नट हूँ और आप सूत्रधारी हो, आप मुझे जैसे नचाएँगें मैं वैसी ही नाचूँगा। मेरी जिह्वा वीणा की भाँति है और आप वीणा बजाने वाले हैं। आपके मन में जो भी भाव उठते हैं, मैं उन्हीं भावों का ही अपने वचनों के माध्यम से उच्चारण करता हूँ।

अनुभाष्य

१३१। सूत्रधार—"वर्त्तनीयतया सूत्रं प्रथमं येन सूच्यते। रङ्गभूमि समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते॥" नाट्य प्रस्तावक प्रधान नट (बाजीगर)।

(१) कृष्णतत्त्व का वर्णन आरम्भ;
कृष्ण के स्वरूप का परिचय—

परम ईश्वर कृष्ण—स्वयं भगवान्।
सर्व-अवतारी, सर्वकारण-प्रधान॥१३३॥
अनन्त वैकुण्ठ, आर अनन्त अवतार।
अनन्त ब्रह्माण्ड इँहा,—सबार आधार॥१३४॥
सच्चिदानन्द-तनु, व्रजेन्द्रनन्दन।
सर्वैश्वर्य-सर्वशक्ति-सर्वरस-पूर्ण॥१३५॥

१३३-१३५। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय ने कहा—"श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर, स्वयं भगवान् हैं। वे ही सब अवतारों के अवतारी और सभी कारणों के

प्रधान कारण हैं। श्रीकृष्ण अनन्त वैकुण्ठ, अनन्त अवतार एवं अनन्त ब्रह्माण्डों के भी आधार स्वरूप हैं तथा उनका विग्रह सच्चिदानन्दमय है। वे महाराज नन्द के नन्दन हैं। उनमें सब प्रकार का ऐश्वर्य, समस्त शक्तियाँ हैं एवं वे सभी रसों से पूर्ण हैं।

ब्रह्मसहिंता (५/१)—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥१३६॥

१३६। श्लोकानुवाद—सच्चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं; वे स्वयं अनादि एवं सभी के आदि और सर्वकारणों के कारण हैं।

अनुभाष्य

१३६। आदि लीला द्वितीय अध्याय १०७ संख्या द्रष्टव्य।

व्रज में नित्यसेवित मदनमोहन-विग्रह—

वृन्दावने 'अप्राकृत नवीन मदन'।
कामगायत्री-कामबीजे जाँर उपासन॥१३७॥

१३७। प० अनु०—वृन्दावन में श्रीकृष्ण ही अप्राकृत नवीन मदन हैं। कामगायत्री और कामबीज के द्वारा उनकी उपासना होती है।

अनुभाष्य

१३७। वृन्दावन,—ब्रह्मसंहिता में पञ्चम अध्याय का ५६ संख्यक श्लोक—"श्रियः कान्ताः कान्तः परम-पुरुषः कल्पतरवो द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयम-मृतम्। कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रिय सखी चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च॥ स यत्र क्षीराब्धिः स्त्रवति सुरभीभ्यश्च सुमहान् निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति न हि यत्रापि समयः। भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कति-पये॥" "अप्राकृत वृन्दावन में सबकुछ ही चिन्मय है; अप्राकृत लक्ष्मी अथवा गोपियाँ—कान्ता, परम पुरुष कृष्ण—सभी के कान्त, वहाँ के वृक्ष—कल्पतरु, भूमि—चिन्तामणिगण समन्वित, पानी—अमृत, कथा (बात-चीत)—गान, गमन (चलना)—नाट्य (नृत्य), वंशी—प्रिय सखी, चन्द्र सूर्य आदि रूपी ज्योतिर्मय पदार्थ समूह—चिदानन्दमय; वह अप्राकृत चिन्मय भाव ही आस्वाद्य अथवा अनुशीलनीय है; वहाँ चिन्मय गैयाओं के दूध से क्षीरसमुद्र प्रवाहित हो रहा है, वहाँ का निमेष का आधा समय अर्थात् आधा निमेष भी नित्यकाल ही है अथवा वहाँ काल वृथा ही व्यतीत होकर दूसरे काल में नहीं बदलता। इस प्रपञ्च में उदित वृन्दावन धाम के—जिसको कुछेक दुर्लभ कृष्णतत्त्ववित् साधु 'गोलोक' कहकर जानते है,—उस श्वेतद्वीप का मैं भजन करता हूँ।" जड़बुद्धियुक्त अपनी जडेन्द्रियों के द्वारा प्राप्य और भोग्य पार्थिव ज्ञान द्वारा वृन्दावन का दर्शन नहीं होता; क्योंकि अप्राकृत वृन्दावन—अप्राकृत कृष्ण-लीला का अप्राकृत स्थान है। श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने अपने द्वारा रचित 'प्रार्थना नामक ग्रन्थ' में (कहा है)—"आर कबे निताईचाँद करुणा करिबे। संसार-वासना मोर कबे तुच्छ हबे॥ विषय छाड़िया कबे शुद्ध हबे मन। कबे हाम हेरब श्रीवृन्दावन॥ श्रीरूप रघुनाथ पदे हइबे आकुति। कबे हाम बुझब श्रीयुगलपिरीति॥" मध्य चतुर्द्दश परिच्छेद २१९-२२६ संख्या द्रष्टव्य।

अप्राकृत नवीन मदन,—जड़ प्राकृत और उसके विपरीत चिन्मय अथवा अप्राकृत, यद्यपि दोनों अवस्थाओं में ही 'काम' वर्त्तमान है, तब भी जड़काम काल द्वारा क्षुब्ध होता है अर्थात् प्रकटित होने के समय ही इसकी अनुभूति होती है एवं थोड़ी ही देर में यह मलिन हो जाता है और रहता नहीं है, और अप्राकृत काम नित्य नवनवायमान अर्थात् (थोड़े) काल के बाद इसकी समाप्ति नहीं होती, सदैव उज्ज्वल रहता है। जड़इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया जा सकने वाला काम—जड़-देह-मनोवृत्ति एवं इन्द्रिय तर्पण परायण प्रत्येक कृष्ण विमुख जीव के निसर्ग में वर्त्तमान है, किन्तु केवल तात्कालिक है; और चिद् इन्द्रियों के सेव्य मदन—मन्मथमन्मथ कृष्णचन्द्र है; वे—नित्य नवीन, स्वयं रूप विग्रह है।

काम-गायत्री,—'गायन्तं त्रायते यस्मात् गायत्री त्वं ततः स्मृता'—'जो वस्तु गान करने वाले का त्राण (रक्षा, उद्धार) करती है अथवा गान द्वारा त्राण कराती है।' मध्य, इक्कसीवें परिच्छेद की १२५ संख्या—'काम-गायत्री मन्त्ररूप, हय कृष्ण-स्वरूप, सार्द्ध चब्बिश अक्षर तार हय। से अक्षर-चन्द्र हय, कृष्ण करि' उदय, त्रिजगत् कैल काममय।"—"क्लीं कामदेवाय विद्महे पुष्पबाणाय धीमहि तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्॥" कामदेव (१८७ सख्या द्रष्टव्य) अथवा मदनमोहन कृष्ण ही सम्बन्धाधि देवता, पुष्पबाण अथवा गोविन्द ही अभिधेयादि देवता एवं अनङ्ग अथवा गोपीजन वल्लभ ही प्रयोजनाधि देवता है। काम गायत्री,—अप्राकृत है। अप्राकृत अनुभूति से अप्राकृत-रचनावलम्बन (अर्थात् अप्राकृत जनों की वाणी के अवलम्बन के) द्वारा साधक कृष्ण की उपासना करते हैं।

ब्रह्म संहिता पञ्चम अध्याय २७-२८ श्लोक—"अथ वेणुनिनादस्य त्रयी मूर्त्तिमयी गतिः। स्फुरन्ती प्रविवेशाशु मुखाब्जानि स्वयम्भुवः। गायत्रीं गायतस्तस्मादधिगत्य सरोजजः॥ संस्कृतश्चादि गुरुणा द्विजतामगमतत्तः। त्रया प्रबुधोहथ विधिर्विज्ञात-तत्व सागरः। तुष्टाव वेदसारेण स्तोत्रेणानेन केशवम्॥"

अनन्तर श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि की त्रयीमूर्त्तिमयी गति (वेदमाता त्रि-अष्टाक्षरी—त्रिविध अर्थात् सम्बन्धा-भिधेयप्रयोजनात्मिका) प्रकाशित होकर स्वयंभू ब्रह्मा के मुखकमल में सहसा प्रविष्ट हो गयी। पद्मयोनि ब्रह्मा ने वेणुगीत से निकली गायत्री दीक्षा प्राप्त करके आदि गुरु श्रीकृष्ण द्वारा द्विज-संस्कार प्राप्त किया (श्रीजीव गोस्वामी प्रभु की टीका द्रष्टव्य)। त्रयीमयी अर्थात् सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन विशिष्टा गायत्री के स्मरण द्वारा जागरित होकर ब्रह्मा तत्त्व समुद्र में निष्णात हो गये अर्थात् उन्होंने अभिज्ञता प्राप्त की एवं उसी वेदसार स्तोत्र के द्वारा केशव की सेवा करके उसकी प्रीति प्राप्त की।

कामबीज,—अप्राकृत 'क्लीं'। ब्रह्मसंहिता के पञ्चम अध्याय का तृतीय श्लोक—"प्रेमानन्द महानन्दरसेना-वस्थितं हि यत्। ज्योति रूपेण मनुना कामबीजेनसङ्गतम्॥" अप्राकृत काम बीज-संयुक्त अप्राकृत काम-गायत्री द्वारा अप्राकृत नित्य नवीन मदनमोहन- विग्रह की अप्राकृत उपासना होती है; यथा, गोपाल तापनी उपनिषद में कहा गया है—"तस्य पुनारसनं जलभूमीन्दु- सम्पातकामादि। कृष्णायेत्येकं पदं गोविन्दायेति द्वितीयं गोपीजनेति तृतीयं वल्लभायेति तुरीयं स्वाहेति पञ्चममिति पञ्चपदीं जपन् पञ्चाङ्ग धावाभूमी सूर्यचन्द्रमसौ साग्नी तद्रूपतया ब्रह्म सम्पद्यते इति।" श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका—"जलं ककारः तद्वाचित्वात् भूमिर्लकारः लकार-बीजत्वात्, तथा ई-दीर्घ ई कारः अग्निः कृतसन्धितात्, इन्दुरनुस्वारः तदाकारत्वात्। तेषां सम्पातो मिलनं तेन जातं यत् कामबीजं तदादिकं कृष्णायेत्येकपद- मित्यर्थः। अर्थात् 'क्लीं' यह बीज—जल (क-कार), भूमि (ल-कार), ई (दीर्घ ईकार वा अग्नि) एवं इन्दु (अनुस्वार) इनके सम्मिलन से प्रकटित है। इस क्लीं बीज को आदि (प्रारम्भ में) जोड़कर कृष्णमन्त्र से कृष्ण-नामक परब्रह्म की रसन अर्थात् सन्तुष्ट करने वाली उपासना हुई है। आदि पञ्चम परिच्छेद २१२-२१४, २१९, २२. १-२२२ संख्या द्रष्टव्य।

कृष्ण के माधुर्य की आकर्षण-शक्ति—

पुरुष, योषित्, किबा स्थावर-जङ्गम।
सर्व-चित्ताकर्षक, साक्षात् मन्मथ-मदन॥१३८॥

१३८। प॰ अनु॰—पुरुष हो या फिर स्त्री, जड़ हो या फिर चेतन, श्रीकृष्ण सबके चित्त को आकर्षित करने वाले हैं, यहाँ तक कि सभी के चित्त को मथित करने वाले मदन (कामदेव) के मन को भी मथित करके उन्मत्त बना देने वाले साक्षात् मन्मथ-मदन हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३७-१३८। चिन्मयधामरूपी वृन्दावन में श्रीकृष्ण—प्रकृति से अतीत अभिनवमदन के स्वरूप में विराजमान है। 'मदन'—शब्दसे सामान्यतः सभी जड़ीय कवि जो

अर्थ करते हैं, वह—प्राकृत (लौकिक)—जगत में मांस पिण्डों को परस्पर आकर्षित करने वाला, अत्यन्त प्राकृत और हेय कामतत्त्व है। जीव ने जड़ बद्ध होकर देह में आत्म-अभिमान करके उस काम की अधीनता को स्वीकार किया है। कृष्ण सम्बन्ध तत्त्व जानने पर जीव की अप्राकृत चिन्मय अवस्था में अवस्थिति होती है। वह अवस्था दो प्रकार की है—'स्वरूपगत' और 'वस्तुगत'। तत्त्व की प्रतीति हो गयी है, किन्तु 'वस्तुतः' अभी भी जड़ सम्बन्ध दूर नहीं हुआ, ऐसी अवस्था में चिन्मय तत्त्व का थोड़ा-बहुत उदय होने पर 'स्वरूपतः' वृन्दावन में अवस्थिति होती है, किन्तु 'वस्तुतः' नहीं होती; स्थूल और लिङ्गमय जड़ तत्त्वके साथ कृष्ण की इच्छा से सम्बन्ध गन्ध रहित होने पर ही 'वस्तुतः' वृन्दावन में अवस्थिति होती है। स्वरूप-अवस्थिति में साधना हैं, उस समय चिन्मयी काम गायत्री और चिन्मय काम बीज से कृष्ण की उपासना होती है। पुरुष अथवा स्त्री, स्थावर अथवा जङ्गम, सभी को ही वह सर्वचित्त आकर्षक मन्मथ मन्मथ स्वरूप कृष्ण आकर्षित करते हैं।

कामगायत्री,—साढ़े चौबीस अक्षर का एक विशेष वेद मन्त्र। काम बीज, —कृष्ण की उपासना में जिस बीज का जप होता है, वही।

अनुभाष्य

१३८। आदि चतुर्थ परिच्छेद १४७-१४८ संख्या द्रष्टव्य।

श्रीमद्भागवत (१०/३२/२)—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथ-मन्मथः॥१३९॥

१३९। श्लोकानुवाद—श्रीरासलीला में गोपियों के विच्छेद-विलापों के पश्चात् अचानक पीताम्बरधारी, वनमाली, हँसमुख, साक्षात् श्रीमदनमोहन उन सबके मध्य आविर्भूत हुये।

अनुभाष्य

१३९। आदि पञ्चम परिच्छेद २१४ संख्या द्रष्टव्य।

नाना-भक्तेर रसामृत नानाविध हय।
सेइ सब रसामृतेर 'विषय' 'आश्रय'॥१४०॥

१४०। प० अनु—अनेक प्रकार के भक्तों के उनके भावों के अनुरूप अनेक रस हैं। उन सब रसामृत के 'विषय' हैं श्रीकृष्ण और 'आश्रय' हैं भक्त।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४०। पूर्व में कहे गये पाँच प्रकार के रसामृत की उपासना में भक्त ही उस रस के 'आश्रय' एवं उपास्य श्रीकृष्ण ही उस रस के 'विषय' है।

अनुभाष्य

१४०। विषय,—कृष्ण। आश्रय,—रसाश्रित भक्त।

वार्षभानवी-दयित की जय—
भक्तिरसामृतसिन्धु (१/१/१)—

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमर-
रुचिरुद्ध-तारका-पालिः।
कलित-श्यामा-ललितो
राधाप्रेयान् विधुर्जयति॥१४१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१४१। (भक्तिरसामृत सिन्धु में कहा गया है कि) अखिलरसामृतमूर्त्ति, वर्धनशील कान्ति द्वारा तारका-पाली नामक दोनों सखियों को अवरुद्ध करने (रोकने) वाले, श्यामा एवं ललिता सखी को वश में करने वाले, राधाजी के अत्यन्त प्रिय, ऐसे श्रीकृष्णचन्द्र जय युक्त हो। तात्पर्य यह है,—जो उनका जिस रस में भी भजन क्यों न करे, श्रीकृष्ण उस रसामृत की मूर्त्ति होने पर राधिका के रस के ही एकमात्र परम विषय हैं।

अनुभाष्य

१४१। अखिलरसामृतमूर्त्तिः (अखिलाः शान्ताद्याः पञ्च मुख्यरसाः हास्याद्याः सप्तगौणरसाश्च यस्मिन् तदेव अमृतं परमानन्द एव मूर्त्तिः यस्य सः) प्रसृमररुचिद्ध-तारका-पालिः (प्रसृमराभिः प्रसरणशीलाभिः रुचिभिः कान्तिभिः रुद्धे वशीकृते तारका-पाली येन सः) कलित-

श्याम-ललितः (कलिते आत्मसात् कृते श्यामा च ललिता च येन् सः) राधा-प्रेयान् (राधयाः प्रेयान् प्रियतमः) विधुः (कृष्णचन्द्रः) जयति।

कृष्ण के माधुर्य से स्वयं कृष्ण ही मुग्ध—

शृङ्गार-रसराजमय-मूर्तिधर।
अतएव आत्मपर्यन्त-सर्व-चित्त-हर॥१४२॥

१४२। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण समस्त रसों के राजा शृङ्गार रस के मूर्त्तिमान् विग्रह हैं। इसलिये वे सभी के चित्त की बात तो क्या अपने चित्त को भी हरने वाले हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४२। शृङ्गार,—रसराज; तन्मय मूर्त्तिधर—श्रीकृष्ण; इस कारण कृष्ण का श्रीरूप अर्थात् उनके श्रीअङ्ग की शोभा स्वयं श्रीकृष्ण तक के भी चित्त का हरण करती है।

अनुभाष्य

१४२। आदि चतुर्थ परिच्छेद १४४ और २२२ संख्या द्रष्टव्य है।

व्रजसुन्दरियों के साथ नित्यविलासी कृष्ण—
श्रीगीतगोविन्द (१/११)—श्रीजयदेव वाक्य

विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम्।
स्वच्छन्दः व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः
शृङ्गारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धौ हरिः क्रीडति॥१४३॥

१४३। श्लोकानुवाद—हे सखि, अङ्गसौन्दर्य के द्वारा जगत् को आनन्द देते हुए एवं नीलकमल के समान सुन्दर, कोमल करचरणादि के द्वारा व्रजांगनाओं के हृदय में कन्दर्पोत्सव का उदय कराकर व्रजसुन्दरीसमूह को लेकर स्वच्छन्द रूप से आलिङ्गनमूर्त्तिविशिष्ट शृंगार-स्वरूप श्रीकृष्ण वसन्त ऋतु में क्रीड़ा कर रहे हैं।

अनुभाष्य

१४३। आदि चतुर्थ परिच्छेद २२४ संख्या द्रष्टव्य।

कृष्ण के रूप का माधुर्य नारायण
और लक्ष्मी का भी आकर्षक—

लक्ष्मीकान्तादि अवतारेर हरे मन।
लक्ष्मी-आदि नारीगणेर करे आकर्षण॥१४४॥

१४४। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण लक्ष्मीकान्त (सङ्कर्षण के अवतार) नारायण तथा उनके अवतारों के मन को एवं लक्ष्मी आदि नारियों को भी आकर्षित करते हैं।

अनुभाष्य

१४४। आदि पञ्चम परिच्छेद २२३ एवं मध्य नवम परिच्छेद की १११-१५६ संख्या द्रष्टव्य।

श्रीमद्भागवत (१०/८९/५८)—

द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा,
मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान्
हत्वेह भूयस्तृरयेतमन्ति मे॥१४५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१४५। भूमा पुरुष ने कहा,—हे कृष्णार्जुन, आप लोगों के दर्शनों की इच्छा से मैं ब्राह्मण-कुमारों को यहाँ लाया हूँ। आप लोग जगत् में धर्म की रक्षा के लिये कला के साथ अवतीर्ण हुये हो एवं पृथ्वी के भार-स्वरूप असुरों को मारकर पुनः शीघ्र आगमन करो। तात्पर्य यह है कि,—भूमा-पुरुष ने लक्ष्मी कान्त श्रीकृष्ण के माधुर्य से मुग्ध होकर उनके रूप के दर्शन की इच्छा से ब्राह्मण कुमारों को अपहरण करने के छल से कृष्ण के दर्शन प्राप्त किये।

अनुभाष्य

१४५। द्वारका में ब्राह्मण कुमार की अकाल-मृत्यु के हाथ से रक्षा करने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध अर्जुन की चेष्टा को विफल होते देखकर श्रीकृष्ण अर्जुन को साथ लेकर ब्राह्मण कुमार (कहाँ पर है, उस) को दिखाने के लिये ब्रह्माण्ड के बाहर प्रकृति के परिणाम-स्वरूप, भीषण अन्धकार को सुदर्शन-चक्र के प्रभाव से पार

करके बहुत विशाल जल के बीच में 'महाकालपुर' में स्थित सहस्त्र (हजार) फण वाले अनन्त के ऊपर शयन करने वाले शेषशायी के दर्शन करके जब उन्होंने अभिवादन (प्रणाम इत्यादि) किया, तब परमेष्ठीपति भगवान् शेषशायी ने श्रीकृष्ण-अर्जुन को कहा—

धर्मगुप्त्ये (धर्म संरक्षणाय) कलावतीर्णे (कलाभिः सर्वाभिः शक्तिभिः अवतीर्णो प्रकटो) युवयोः दिदृक्षुणा (दर्शनेच्छना) मे (मम) भुवि (महाकालपुरे) द्विजात्माः (विप्रकुमाराः) मया उपनीता (आनीता); भूयः पुनरपि अवनेः (पृथिव्याः) भरासुरान् (भारभूतान्) विष्णु-विरोधि-दैत्यान्) हत्वा इह (अत्र) मे अन्ति (समीप) त्वरया (शीघ्रमेव) इतम् (आगच्छतम्)।

श्रीमद्भागवत (१०/१६/३६)—

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता॥१४६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१४६। हे देव, जिनकी चरणरज को प्राप्त करने की वासना से लक्ष्मी ने बहुत समय तक समस्त प्रकार के कार्यों का परित्याग करके दृढ़व्रत धारण करके तपस्या की थी, उस चरणरज को इस कालिय नाग ने किस सुकृति के द्वारा लाभ करने का अधिकार प्राप्त किया, उसे हम नहीं जानती।

अनुभाष्य

१४६। कालिय नाग जब श्रीकृष्ण के चरणकमलों के प्रहार से मूर्च्छित और टूटे हुए सिर (फण) वाला हो गया, तो श्रीकृष्ण का स्तव करते हुए नागपत्नियों ने कहा—

यद्वाञ्छया (यत् यस्य पादपद्मरेणु स्पर्शाधिकारस्य वाञ्छया इच्छया) श्रीः (ब्रह्मादि-सेव्या लक्ष्मीः) ललना (उत्तमा स्त्री अस्मद्-गरीयसी) (अपि सर्वान्) कामान् विहाय धृतव्रता (व्रतनिष्ठा तपस्विनी सती) सुचिरं तपः अचरत् अस्य (सर्प-योनि-लब्धजीवस्यापि कालियस्य) तव अङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः (तादृशदुर्लभपद रजः स्पर्शने अधिकारः सामर्थ्यं) कस्य (सुकृतस्य) अनुभावः (फल), (वयम् एतत्) न विद्महे (जानीमः)।

अपने माधुर्य के द्वारा स्वयं ही मुग्ध—

आपन-माधुर्ये हरे आपनार मन।
आपना आपनि चाहे करिते आलिङ्गन॥१४७॥

१४७। प० अनु०—श्रीकृष्ण का ऐसा माधुर्य है कि वह उनके स्वयं के ही मन का हरण कर लेता है और वे स्वयं अपने आपको आलिङ्गन करना चाहते हैं।

अनुभाष्य

१४७। आदि चतुर्थ परिच्छेद १४८ और १५८ संख्या द्रष्टव्य।

श्रीराधिका की भाँति अपने माधुर्य को आस्वादन करने की स्वयं की व्यग्रता—
श्रीललितमाधव (८/३४)—

अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी
स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूरः।
अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः
सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव॥१४८॥

१४६। श्लोकानुवाद—श्रीकृष्ण कहते हैं,—आहा! यह प्रगाढ़- माधुर्य-चमत्कारकारी अविचारित-पूर्व चित्रित श्रेष्ठ पुरुष कौन है? जिसे श्रीराधिका की भाँति लुब्ध चित्त होकर मैं इनका बलपूर्वक आलिङ्गन करने का इच्छुक हो रहा हूँ।

अनुभाष्य

१४८। आदि चतुर्थ परिच्छेद १४६ संख्या द्रष्टव्य।

श्रीराधिका के तत्त्व का वर्णन आरम्भ—

एइ त' संक्षेपे कहिल कृष्णेर स्वरूप।
एबे संक्षेपे कहि राधा-तत्त्वरूप॥१४९॥

१४९। प० अनु०—[श्रीरामानन्द राय ने कहा—]

यहाँ तक मैंने संक्षेप में श्रीकृष्ण के स्वरूप का वर्णन किया है अब मैं संक्षेप में श्रीराधा-तत्त्व का वर्णन करूँगा।

कृष्ण की तीन शक्तियाँ—

कृष्णेर अनन्त-शक्ति, ताते तिन—प्रधान।
'चिच्छक्ति', 'मायाशक्ति', 'जीवशक्ति'-नाम॥१५०॥
'अन्तरङ्गा', 'बहिरङ्गा', 'तटस्था' कहि जारे।
अन्तरंगा 'स्वरूप शक्ति'—सबार उपरे॥१५१॥

१५०-१५१। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें से तीन प्रधान हैं—चिच्छक्ति, मायाशक्ति और जीवशक्ति। इन्हें क्रमशः अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा और तटस्था भी कहते हैं। इनमें से अन्तरङ्गा स्वरूप शक्ति है, सबसे ऊपर (अधिक माहात्म्ययुक्त) है।

अनुभाष्य

१५०-१५१। आदि द्वितीय परिच्छेद १०१-१०३ संख्या, पञ्चम परिच्छेद ४२, ४५, ५७-५८ संख्या द्रष्टव्य।

विष्णुपुराण (६/७/६१)—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या-कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥१५२॥

१५२। श्लोकानुवाद—विष्णुशक्ति तीन प्रकार की है,—परा, क्षेत्रज्ञा एवं अविद्या-संज्ञाविशिष्टा। विष्णु की पराशक्ति ही 'चिच्छक्ति' है; क्षेत्रज्ञाशक्ति ही जीवशक्ति है; (जिसे माया- रूपी 'अविद्या' से 'अपरा' (भिन्ना) के रूप में उक्त किया गया है); कर्मसंज्ञारूपी अविद्या-शक्ति का नाम 'माया' है।

अनुभाष्य

१५२। आदि सप्तम परिच्छेद ११९ संख्या द्रष्टव्य।

कृष्ण के स्वरूप से अभिन्न स्वरूप शक्ति—

सच्चिदानन्दमय कृष्णेर स्वरूप।
अतएव स्वरूप-शक्ति हय तिन-रूप॥१५३॥

१५३। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण का स्वरूप सत्, चित् और आनन्दमय है। इसलिए उनकी स्वरूपशक्ति के भी तीन रूप हैं अर्थात् वे भी तीन प्रकार की हैं।

स्वरूप शक्ति के तीन रूप—

आनन्दांशे 'ह्लादिनी', सदंशे 'सन्धिनी'।
चिदंशे 'सम्वित्', जारे ज्ञान करि' मानि॥१५४॥

१५४। प॰ अनु॰—आनन्द-अंश से ह्लादिनी, सत्-अंश से सन्धिनी और चिद् अंश से सम्वित् शक्ति व्यक्त हुई है, जिसे हम ज्ञान कहते हैं।

विष्णुपुराण (१/१२/६९)—

ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् त्वय्येका सर्वसंश्रये।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥१५५॥

१५५। हे भगवन्, आप जो सर्वाश्रय, निर्गुणस्वरूप हैं, आपमें 'ह्लादिनी', 'सन्धिनी' एवं 'संवित्' तीनों विषय ही चिन्मय हैं। मायावश-योग्य चित्कण जीव मायाविष्ट होकर, माया के त्रिगुणों का आश्रय करके जिस अवस्था को प्राप्त हुआ है, उससे शक्ति 'ह्लादकरी', 'तापकरी' एवं 'मिश्रा'—इन तीन प्रकार के भावों को प्राप्त हुयी है। किन्तु आप जो सर्वगुणातीत हैं, आप में वही शक्ति निर्मल एवं निर्गुण स्वरूप में एकाकार है।

अनुभाष्य

१५३-१५५। आदि चतुर्थ परिच्छेद ६१-६३ संख्या द्रष्टव्य।

ह्लादिनी-संज्ञा का हेतु और कार्य—

कृष्णके आह्लादे, ताते नाम—'ह्लादिनी'।
सेइ शक्ति-द्वारे सुख आस्वादे आपनि॥१५६॥
सुखरूप कृष्ण करे सुख आस्वादन।
भक्तगणे सुख दिते 'ह्लादिनी'—कारण॥१५७॥

१५६-१५७। प॰ अनु॰—श्रीकृष्ण को आनन्द प्रदान करने के कारण आनन्द शक्ति को ह्लादिनी कहते हैं। इस शक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण स्वयं सुख का आस्वादन करते हैं। श्रीकृष्ण सुख स्वरूप आनन्दघन होते हुये भी इस शक्ति के द्वारा सुख आस्वादन करते हैं और इस

ह्लादिनी शक्ति के द्वारा अपने भक्तों को भी सुख प्रदान करते हैं।

अनुभाष्य

१५६-१५७। आदि चतुर्थ परिच्छेद ५९-६० संख्या द्रष्टव्य।

ह्लादिनी और श्रीराधिका—

ह्लादिनीर सार अंश, तार 'प्रेम' नाम।
आनन्दचिन्मयरूप रसेर आख्यान॥१५८॥
प्रेमेर परम-सार 'महाभाव' जानि।
सेइ महाभावरूपा राधा-ठाकुराणी॥१५९॥

१५८-१५९। प० अनु०—इस ह्लादिनी के सार अंश को 'प्रेम' कहते हैं। इसे आनन्दचिन्मय रस विशेष भी कहते हैं। प्रेम का परम सार 'महाभाव' है एवं वही महाभाव स्वरूपा श्रीराधा ठाकुराणी है।

उज्ज्वलनीलमणि में राधा और चन्द्रावली के तारतम्य के वर्णन में (४/३)—

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी॥१६०॥

१६०। श्लोकानुवाद—व्रजविलासिनी गोपियों में चन्द्रावली एवं राधिका श्रेष्ठ हैं; फिर उन दोनों में भी श्रीमती राधिका सर्वप्रकार से श्रेष्ठ हैं। वे महाभावस्वरूपा हैं, उनके समान गुण किसी और गोपी में नहीं हैं।

श्रीराधा का 'स्वरूप' और 'देह' एक ही वस्तु, वह सम्पूर्ण कृष्णप्रेममय—

प्रेमेर 'स्वरूप-देह'—प्रेम-विभावित।
कृष्णेर प्रेयसी-श्रेष्ठा' जगते विदित॥१६१॥

१६१। प० अनु०—श्रीराधा का स्वरूप और उनकी देह कृष्णप्रेम से विभावित है अर्थात् प्रेम के द्वारा रचित है। समस्त जगत् में प्रसिद्धि है कि श्रीराधा कृष्ण प्रेयसियों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

ब्रह्मसंहिता (५/३७)—

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि-
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥१६२॥

१६२। श्लोकानुवाद—आनन्दचिन्मयरस के द्वारा प्रतिभावित जिन सब गोपियों के साथ अपने स्वरूप में अखिलात्मभूत आदिपुरुष गोविन्द गोलोक में नित्य निवास करते हैं, मैं उनका भजन करता हूँ।

अनुभाष्य

१५८-१६२। आदि चतुर्थ परिच्छेद ६८-७२ संख्या द्रष्टव्य।

श्रीराधा श्रीकृष्ण की वाञ्छा को पूर्ण करनेवाली, अष्टसखी—उनकी कायव्यूह—

सेइ महाभाव हय 'चिन्तामणि-सार'।
कृष्ण-वाञ्छा पूर्ण करे एइ कार्य ताँर॥१६३॥
'महाभाव-चिन्तामणि' राधार स्वरूप।
ललितादि सखी—ताँर कायव्यूहरूप॥१६४॥

१६४। प० अनु—श्रीमती राधारानी का वह महाभाव 'चिन्तामणि' का सार है और उसका कार्य है कि वह श्रीकृष्ण की समस्त कामनाओं को पूर्ण करता है। वह 'महाभावरूपी चिन्तामणि' श्रीराधा का स्वरूप है एवं ललितादि सखीगण श्रीराधा की ही काव्यव्यूह रूपा हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६४-१८०। श्रीराधिका के गुणों का वर्णन करते हुए कविराज गोस्वामी ने श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी द्वारा रचित 'प्रेमाम्भोजमकरन्द' नामक स्तव का अवलम्बन किया है (अर्थात् उसी को आधार बनाया है)—

"महाभावोज्ज्वलचिन्तारत्नोदभावितविग्रहाम्। सखी प्रणय सद्गन्धवरोद्वर्त्तनसुप्रभाम्॥१॥ कारुण्यामृतवीचि-भिस्तारुण्यामृतधारया। लावण्यामृतवन्याभिः स्नपितां

गलपितेन्दिराम॥२॥ ह्रीपट्टवस्त्रगुप्ताङ्गीं सौन्दर्यधृसृण-ञ्चिताम्। श्यामलोज्ज्वल-कस्तूरी-विचित्रितकलेव-राम्॥३॥ कम्पाश्रुपुलकस्तम्भस्वेदगद्गद् रक्तता। उन्मादो जाड्यमित्येतै रत्नैर्नवभिरुत्तमैः॥४॥ क्लिप्तालंकृति-संश्लिष्टां गुणालीपुष्पमालिनीम्। धीराधीरात्वसद्वास-पट्वासैः परिष्कृताम्॥५॥ प्रच्छन्न मानधम्मिल्लां सौभाग्यतिलकोज्ज्वलाम्। कृष्णनामयशःश्रावावतं सोल्लासिकर्णिकाम्॥६॥ रागताम्बुलरक्तोष्ठीं प्रेमकौटिल्य-कज्जलाम्। नर्म भाषितनिःस्यन्दस्मित-कर्पूरवासिताम्॥७॥ सौरभान्तः पुरे गर्वपर्यङ्कोपरिलीलया। निविष्टां प्रेम-वैचित्र्य-विचलतरलाञ्चिताम्॥८॥ प्रणयक्रोधसच्चोलीबन्धगुप्ती-कृतस्तनाम्। सपत्नी वक्रहृच्छोषि-यशः श्रीकच्छपी-वराम्॥९॥ मध्यतात्मसखीस्कन्धलीलान्यस्तकराम-बुजाम्। श्यामां श्याम स्मरा मोदमधूलीपरिवेशिकाम्॥१०॥ त्वां नत्वा याचते घृत्वा तृणं दन्तैरयं जनः। स्वदास्यामृतसेकेन् जीवयामुं सुदुःखितम् ॥११॥ न मुञ्छेच्छरणायातमपि दुष्टं दयामयः। अतो गान्धर्विके हा हा मुञ्चैनं नैव तादृशम्॥१२॥ प्रेमाम्भोजमकरन्दाख्यं स्तवराजमिमं जनः। श्रीराधिका-कृपाहेतुं पठं स्तद्दास्यमाप्नुयात्॥१३॥

महाभाव में उज्ज्वलचिन्तामणि भावित विग्रह, कृष्ण के प्रति सखी का जो प्रणय हैं, वही सुगन्धित कुंकुम आदि द्वारा सुन्दर कान्ति प्राप्त है॥१॥ पूर्वाह्न के समय कारुण्यामृत में, मध्याह्न के समय तारुण्यामृत में और संन्ध्या के समय लावण्यामृत में स्नात (नहाया हुआ) जिनका विग्रह है॥२॥ लज्जारूपी पट्टवस्त्र परिधान, सौन्दर्य रूपी कुंकुम से शोभित श्यामवर्ण शृङ्गार रस स्वरूप कस्तूरी द्वारा चित्रित कलेवर (वाली)॥३॥ कम्प, अश्रु, पुलक, स्तम्भ, स्वेद, गद्गद्, स्वर, रक्तता, उन्माद और जड़ता रूपी नौ उत्तम रत्नों से अलंकृत॥४॥ सौन्दर्य-माधुर्य आदि सभी गुण पुष्प माला के रूप में जिनके शरीर में विराजमान; धीरा और अधीरा भाव को उन्होंने पट्टवास अर्थात् कर्पूर आदि द्वारा साफ किया है॥५॥ प्रच्छन्न रूप से मान ही जिनका धम्मिल अर्थात् बद्धकेशपाश (झूड़ा), सौभाग्यरूपी तिलक के द्वारा जिनका मस्तक उज्ज्वल है; कृष्ण के नाम और यश का श्रवण ही जिनके कानों का आभूषण है॥६॥ अनुराग रूपी ताम्बुल द्वारा जिनके अधर रक्तिमा से रञ्जित हैं; प्रेम-कौटिल्य को ही जिन्होंने काजल के रूप में धारण किया है; नर्म अर्थात् परिहास (मजाक) के कारण मृदु हास्य रूपी कूर्पर द्वारा जो सुवासित (सगुन्धित) है॥७॥ सौरभ रूपी अन्तःपुर में जब वे गर्व रूपी पलङ्ग के ऊपर सोती है, तब उनका विप्रलम्भ रूपी हार प्रेम-वैचित्र्य रूपी तरल के रूप में इधर-उधर हिलता-डुलता है॥८॥ प्रणय क्रोध रूपी कञ्चुली द्वारा जिनके स्तनयुगल आवृत्त है; सपत्नियों के मुख और वक्ष का शोषण कर देने वाली यशः श्री ही जिनका कच्छपीवीणा है॥९॥ यौवन-रूपी सखी के स्कन्ध पर लीला रूपी करकमल रखा है; जो बहुत प्रकार के गुणों से युक्त होने पर भी कृष्ण कन्दर्प-आनन्दित मधु का परिवेशन कर रही है॥१०॥ ऐसी श्रीराधा को दांत में तृण धारण करके प्रार्थना करता हूँ—इस अत्यधिक दुःखिनी को अपने दास्य रूपी अमृत का दान करके जीवित कीजिए॥११॥ हे गान्धर्विके, दयामय कृष्ण जिस प्रकार शरणागतों का परित्याग नहीं करते, उसी प्रकार आप भी अपने आश्रित जन का त्याग मत करना॥१२॥

अनुभाष्य

१६३। आदि चतुर्थ परिच्छेद ८७ और ९४ संख्या द्रष्टव्य।

१६४। आदि चतुर्थ परिच्छेद ७९ संख्या और आदि पञ्चम परिच्छेद २१३ और २१५ संख्या द्रष्टव्य है।

कृष्ण प्रणय की मूर्त्त विग्रह
श्रीराधिका का वर्णन—

राधाप्रति कृष्ण-स्नेह—सुगन्धि उद्वर्तन।
ता'ते सुगन्धि देह—उज्ज्वल-वरण॥१६५॥

१६५। प० अनु—श्रीराधा के प्रति कृष्ण का स्नेह ही श्रीराधा का सुगन्धित उबटन है। उसी से ही श्रीराधा की देह सुगन्धित और उज्ज्वल है।

अनुभाष्य

१६५-१७९। श्रीराधा ही श्रीकृष्ण का प्रणय विकार अर्थात् कृष्णप्रेम का मूर्त्तविग्रह अर्थात् उनके मानसिक भाव, कायिक अङ्ग-प्रत्यङ्ग, वेदादि, सबकुछ ही कृष्णप्रेम की एक-एक शोभा अथवा भूषण है, उसको विश्लेषण करके दिखा रहे हैं।

१६५। सुगन्धि उद्वर्त्तन,—सुगन्धित उबटन, जिसके द्वारा अङ्गों का मैल दूर होता है; उनमें इस कृष्ण स्नेह रूपी उबटन-मलने के कारण देह सुगन्धित और उज्ज्वल वर्ण की है।

श्रीराधा का तीन प्रकार की धारा
में स्नान, श्रीराधा के विग्रह का वर्णन—

कारुण्यामृत-धाराय स्नान प्रथम।
तारुण्यामृत-धाराय स्नान मध्यम॥१६६॥
लावण्यामृत-धाराय तदुपरि स्नान।
निज-लज्जा-श्याम-पट्टसाटी-परिधान॥१६७॥
कृष्ण अनुराग—द्वितीय अरुण-वसन।
प्रणय-मान-कञ्चुलिकाय वक्ष आच्छादन॥१६८॥
सौन्दर्य—कुंकुम, सखी-प्रणय—चन्दन।
स्मितकान्ति—कर्पूर, तिन—अङ्गे विलेपन॥१६९॥
कृष्णेर-उज्ज्वल रस—मृगमद-भर।
सेइ मृगमदे विचित्रि कलेवर॥१७०॥
प्रच्छन्न-मान वाम्य-धम्मिल्ल-विन्यास।
'धीराधीरात्मक' गुण—अङ्गे पट्टवास॥१७१॥
राग-ताम्बूलरागे अधर उज्ज्वल।
प्रेमकौटिल्य—नेत्रयुगले कज्जल॥१७२॥
'सुद्दीप्त-सात्त्विक' भाव, हर्षादि 'सञ्चारी'।
एइ सब भाव-भूषण सब अङ्गे भरि'॥१७३॥
'किलकिञ्चितादि'-भाव-विंशति-भूषित।
गुणश्रेणी-पुष्पमाला सर्वाङ्गे पूरित॥१७४॥
सौभाग्य-तिलक चारु-ललाटे उज्ज्वल।
प्रेम-वैचित्त्य—रत्न, हृदय—तरल॥१७५॥
मध्य-वयस, सखी-स्कन्धे कर-न्यास।
कृष्णलीला-मनोवृत्ति-सखी आशपाश॥१७६॥
निजाङ्ग-सौरभालये गर्व-पर्यङ्क।
ता'ते बसि' आछे, सदा चिन्ते कृष्णसङ्ग॥१७७॥
कृष्ण-नाम-गुण-यश—अवतंस काणे।
कृष्ण-नाम-गुण-यश-प्रवाह-वचने॥१७८॥
कृष्णके कराय श्यामरस-मधु पान।
निरन्तर पूर्ण करे कृष्णेर सर्वकाम॥१७९॥

१६६-१७९। प॰ अनु॰—श्रीराधा अपना प्रथम स्नान करुणा रूपी अमृत की धारा में करती हैं, वे अपना मध्यम स्नान तरुण (नव-यौवन) रूपी अमृत की धारा में करती हैं और सन्ध्या का स्नान लावण्य रूपी अमृत की धारा में करती हैं। वे लज्जारूप वस्त्र को परिधान के रूप में धारण करती हैं जो श्यामवर्ण के पट्टवस्त्र की भाँति है। श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा का अनुराग ही श्रीराधा का उत्तरीय वस्त्र है। यह अरुण (लाल) वर्ण का है। वे कृष्ण प्रणय एवं मान रूप कञ्चुलिका के द्वारा अपने वक्षःस्थल को आच्छादित करती हैं। श्रीमती राधारानी के कायिक गुणों का सौन्दर्य ही 'कुंकुम' है, सखियों के प्रति उनका प्रणय ही 'चन्दन' है तथा उनकी मृदु मुस्कान की कान्ति ही 'कर्पूर' है—यह तीन वस्तुएँ 'कुंकुम', 'चन्दन' तथा 'कर्पूर' श्रीराधा के अङ्गों का विलेपन है। श्रीकृष्ण का उज्जवल रस (शृङ्गार-रस) ही मृगमद् कस्तूरी है। उस मृगमद् द्वारा श्रीराधा का कलेवर चित्रित है। प्रच्छन्न-मान और वाम्यभाव—उनका केश-विन्यास है अर्थात् श्रीराधा का केशपाश सुन्दररूप से ग्रथित है। धीराधीरात्मक गुण अर्थात् प्रियतम के प्रति वक्रोक्तियों का प्रयोग ही उनके अङ्गों का वस्त्र है। श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग रूपी ताम्बूल के लालवर्ण से श्रीराधा के अधर उज्ज्वल हैं। प्रेम की कुटिलता को वह अपने नेत्रों में कज्जल की भाँति धारण करती हैं। 'सुद्दीप्त-सात्विक' भाव तथा हर्षादि सञ्चारी-भाव ही श्रीराधा के अङ्गों पर भूषण की भाँति सुसज्जित हैं। किलकिञ्चितादि बीस भाव श्रीराधा के अङ्गों को भूषित करते हैं और उनके माधुर्यादि गुण ही पुष्पमाला की भाँति उनके समस्त अङ्गों

पर शोभा पाते हैं। सौभाग्य रूपी मनोहर तिलक श्रीराधा के सुन्दर ललाट पर उज्ज्वलरूप में शोभायमान है और प्रेम-वैचित्त्य ही 'रत्न' तथा उनका हृदय 'तरल' है। कैशार अवस्था रूपी सखी के कन्धे पर श्रीराधा अपना करकमल धारण करती है। श्रीकृष्ण-लीला की जो समस्त मनोवृत्तियाँ हैं, वे ही सखियों के रूप में श्रीराधा के चारों ओर वास करती हैं। अपने अङ्गों के सौरभ रूप महल में गर्व रूपी पलङ्क पर विराजमान होकर श्रीराधा सदा श्रीकृष्ण के सङ्ग का चिन्तन करती हैं। श्रीकृष्ण का नाम, श्रीकृष्ण का गुण और श्रीकृष्ण का यश ही श्रीराधा के कर्ण भूषण हैं और श्रीकृष्ण का नाम-गुण-यश ही निरन्तर उनके मुख से प्रवाहित होता है। श्याम रस (शृङ्गार-रस) रूप मधु का श्रीकृष्ण को पान कराती हैं तथा वे निरन्तर श्रीकृष्ण की समस्त कामनाओं को पूर्ण करती हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७४। किलकिञ्चितादि भाव—बीस हैं; बीस भाव—(१) अङ्गज—भाव, हाव, हेला; (२) आत्मज,—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य; (३) स्वभावज,—किलकिञ्चित, लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, मौट्टायित, कुट्टमिल, विव्वोक, ललित और विकृत।

गुणश्रेणी-पुष्पमाला,—श्रीमती के गुण तीन प्रकार के हैं—मानसिक, वाचिक और शारीरिक; कृतज्ञता, क्षमा और कारुण्य इत्यादि—मानसिक; कानों को आनन्द प्रदान करने वाले वाक्य प्रयोग आदि—वाचिक एवं गुण, आयु, रूप, लावण्य और सौन्दर्य आदि—कायिक गुण है।

१७६। कृष्णलीला-मनोवृत्ति-सखी,—कृष्णलीला-नन्दरूपा श्रीमती की आठ प्रकार की मन की वृत्तियाँ आठ सखियाँ और उनकी अनुवृत्तियाँ—अन्यान्य मञ्जरियाँ है।

१७९। श्यामरस—मधुर रस।

अनुभाष्य

१६३-१७०। श्रीमती राधिका का स्वरूप—कृष्ण की अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली महाभाव चिन्तामणि। ललिता आदि सखियाँ—उनके कायव्यूह के समान अथवा प्रकाश विन्यास है। (१) कृष्णस्नेह रूपी उबटन मलकर प्रथम अथवा पूर्वाह्न में किये जाने वाले स्नान का जल ही कारुण्यामृत है अर्थात् पौगण्ड को पार करके प्रथम कैशोर में करुणा विशिष्ट नवयौवन; (२) मध्यम अथवा मध्याह्न में किये जाने वाले स्नान का जल ही तारुण्यामृत अथवा व्यक्त यौवन; (३) उससे श्रेष्ठ स्नान अथवा अपराह्न में किये जाने वाले स्नान का जल लावण्यामृत अथवा पूर्णयौवन; अर्थात् कायिक गुणों का जो वयस (आयु), रूप और लावण्य है, वही तीन प्रकार का स्नान-जल है। वस्त्र दो प्रकार के है—१) अधोवसन और (२) उत्तरीय। (१) अधोवसन,—लज्जारूप, वह श्यामपट्ट सूत्र द्वारा बनी नीली-साड़ी है; द्वितीय वस्त्र अरुणवर्ण है—वही कृष्णानुराग है। कृष्णप्रणयमान रूपी काँचुली द्वारा श्रीराधाका वक्षःस्थल ढ़का हुआ है। श्रीराधाजी के कायिक गुणों का सौन्दर्य ही कुंकुम, अभिरूपता—सखी-प्रणय रूपी चन्दन, माधुर्य—स्मित कान्ति रूपी कर्पूर; यह तीन वस्तुएँ अङ्गों के लेपन अर्थात् उनके अङ्ग—सौन्दर्य, अभिरूपता और माधुर्य से भूषित है। कृष्ण का उज्ज्वल रस ही मृगमद-कस्तूरी है,—यही मार्दव रूपी कायिक गुण है।

१७१। प्रच्छन्नमान—हृदय में वक्रता विशिष्ट होने पर भी बाहर से दक्षिण-भाव-प्रदर्शन। वाम्य,—सरलता का अभाव वक्रता, मध्य चतुर्दश परिच्छेद १६१ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य। धम्मिल्ल अर्थात् झूड़ा।

धीराधीरात्मक गुण,—उज्ज्वलनीलमणि में—"धीरा-धीरा तु वक्रोक्त्या सवाष्पं वदति प्रियम। धीरा-धीरागुणोपेता धीराधीरेति कथ्यते॥" जो नायिका प्रियतम को धीरा का धर्म अर्थात् वक्रोक्ति (अन्दर से कुछ और बाहर से कुछ और बात कहना) द्वारा एवं अधीरा का धर्म अर्थात् जो अश्रुपूर्ण नेत्रों वाली होकर कुछ वचन कहती है, वह 'धीराधीरा' है। मध्यलीला चतुर्दश परिच्छेद १४३-१५३ संख्या द्रष्टव्य है। 'धीराधीरामध्या' के जो

गुण होते हैं, धीराधीरा प्रगल्भा के भी वही सब गुण होते हैं। 'प्रगलभा', 'मध्या' और 'मुग्धा'—इन तीनों में 'प्रगल्भा' अत्यन्त क्रोधित होकर डाँटने-फटकराने वाली; 'मध्या' अपूर्ण क्रोधित होकर कठोर बात कहने वाली एवं 'मुग्धा' थोड़ा-बहुत क्रोध करके रोने वाली होती है। खण्डित अवस्था में इन गुणों का विशेष प्रकाश होता है। पट्टवास,—पगड़ी; रेशम का उत्तरीय वस्त्र एकपाटा। पाठान्तर में पटवास,—वस्त्रसमूह, गन्धचूर्ण, पिटालि, शाटी।

१७२। कृष्ण राग ही ताम्बुल का वर्ण है, उसके द्वारा अधर उज्ज्वल है; प्रेम रूपी कुटिलता ही दोनों नेत्रों का काजल है।

१७३। सुद्दीप्त सात्विक भाव,—मध्य षष्ठ परिच्छेद १२ संख्या; हर्ष आदि ३३ सञ्चारी भाव,—मध्य तृतीय परिच्छेद १२७ संख्या एवं मध्य चतुर्द्दश परिच्छेद १६७-१६८ संख्या का अमृतप्रवाह भाष्य द्रष्टव्य।

१७४। किलकिञ्चित् आदि भाव,—मध्य चतुर्दश परिच्छेद १६८ संख्या द्रष्टव्य।

गुणश्रेणी-पुष्पमाला,—मध्य तेइसवाँ परिच्छेद ८२-८६ संख्या द्रष्टव्य।

उज्ज्वलनीलमणि में लिखे पच्चीस गुण—"बहुना किं गुणास्तस्याः संख्यातीता हरेरिव। इत्यङ्गोक्तिम ह्रास्ते परसम्बन्धगास्तथा। गुणा वृन्दावनेश्वर्या इह प्रोक्ताश्च-तुर्विधाः॥" और अधिक क्या कहुँ, श्रीहरि के समान श्रीराधिका के भी असंख्य गुण समूह नित्य वर्त्तमान है। गुण चार भागों में विभक्त है—(क) अङ्गस्थ, (ख) उक्तिस्थ, (ग) मनस्थ और (घ) परसम्बन्धग। (क) 'अङ्गस्थ' गुण छह है—१) मधुरा अथवा चारु, २) नववया अथवा किशोरी, ३) चपलाङ्गा ४) उज्ज्वलस्मिता ५) चारुसौभाग्यरेखायुक्ता अथवा पादादि स्थित चन्द्ररेखा और ६) गन्धोन्मादितमाधवा (ख) 'उक्तिस्थ' गुण तीन है—१) सङ्गीतप्रसराभिज्ञा, २) रम्यवाक् और ३) नर्मपण्डिता। (ग) 'मनस्थ' गुण दस हैं—१) विनिता, २) करुणापूर्ण, ३) विदग्धा, ४) पाटवान्विता, ५) लज्जाशीला अथवा आभिजात्य और शीलता आदि का कारण ६) मर्यादा अथवा साधुमार्ग से अविचलित रहने वाली, ७) धैर्यशालिनी अथवा दुःख सहने में समर्थ, ८) गाम्भीर्य-शालिनी, ९) सुविलासा और १०) महाभावपरमोत्कर्ष-तर्षिणी। (घ) 'परसम्बन्धग' गुण छह हैं—१) गोकुलप्रेम वसति, २) जगच्छ्रेणीलसदयशा, ३) गुर्वर्पितगुरुस्नेहा, ४) सखी-प्रणयितावशा, ५) कृष्णप्रियावली मुख्या और ६) सन्तताश्रवकेशवा।

१७५। प्रेमवैचित्र्य,—"प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्ष-स्वभावतः। या विश्लेषधियार्तिस्तत् प्रेमवैचित्य मुच्यते॥" अत्यधिक प्रेम के स्वभाव के कारण प्रिय के निकट होने पर भी उनसे अलग होने के भय से जिस क्लेश की उत्पत्ति होती है, वही 'प्रेमवैचित्य' है; वह रत्न है। तरल,—हार के बीच स्थित मणि, धुक्धुकि।

१७६। मध्य वयस किशोरी भाव ही सखी के स्कन्ध पर करन्यास है एवं निकट में स्थित सखियाँ—कृष्णलीला की मनोवृत्ति स्वरूपा है।

१७७। अपने अङ्ग रूपी सौरभ के घर में, गर्वरूपी पलङ्ग अथवा खाट पर।

१७८-१७९। अवतंस,—कान के विशेष अलङ्कार; कृष्ण नाम-गुण-यश ही उनके कानों का अलङ्कार है। कृष्ण-गुण-यश-रूपी वाक्यावली का स्त्रोत (प्रवाह) ही श्यामरस-मधु-धारा है; वही कृष्ण को श्रीमती पान कराती है।

श्रीराधिका ही मूर्त्तिमान कृष्णप्रेम-सिन्धु—

कृष्णेर विशुद्ध प्रेम-रत्नेर आकर।
अनुपम-गुणगण-पूर्ण कलेवर॥१८०॥

१८०। प० अनु—श्रीराधा ही श्रीकृष्ण के विशुद्ध प्रेम रूपी रत्नों की मूल है अर्थात् कृष्णप्रेम सिन्धु का मूर्त्त विग्रह है और श्रीराधा का कलेवर अनुपम गुण समूहों से परिपूर्ण है।

अनुभाष्य

१८०। श्रीमती राधिका ही—कृष्ण के निर्मल प्रेम

रूपी रत्न का आकर (भण्डार) अर्थात् कृष्णप्रेम सिन्धु का मूर्त्तविग्रह एवं श्रीराधिका की देह—अतुलनीय गुण-समूह से परिपूर्ण है। मध्य, तेइसीवें परिच्छेद की ८१-८६ संख्या द्रष्टव्य।

राधिका ही कृष्णप्रेम का मूल आकर—
श्रीगोविन्दलीलामृत (११/१२२)—

का कृष्णस्य प्रणयजनिभूः श्रीमती राधिकैका
कास्य प्रेयस्यनुपमगुणा राधिकैका न चान्या।
जैह्म्यं केशे दृशि तरलता निष्ठुरत्वं कुचेऽस्या
वाञ्छापूर्त्यै प्रभवति हरे राधिकैका न चान्या॥१८१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१८१। श्रीकृष्ण के प्रणय की जन्मभूमि कौन है?—एकमात्र श्रीमती राधिका। कृष्ण की अनुपम गुण वाली प्रिया कौन है?—एकमात्र राधिका, और कोई नहीं। केशों में कुटिलता (घुंघरालापन), नेत्रों में तरलता (चंचलता), दोनों कुचों में निष्ठुरता आदि राधिका में ही है। एकमात्र राधिका ही हरि की वाञ्छा पूर्ण करनें में समर्थ है, और कोई भी नहीं।

अनुभाष्य

१८१। (प्रश्नोत्तर क्रमेण श्रीराधिका-माहात्म्यं वर्णयति)—कृष्णस्य प्रण्यजनिभूः (प्रणस्य जन्मभूमिः) का?—एका राधिका। अस्य कृष्णस्य प्रेयसी (प्रेमपात्री) का? अनुपमगुणा (अतुलनीयगुणसमन्विता) एका राधिका न च अन्या। अस्या (राधिकायाः एव) केशे जैक्ष्यम् (कौटिल्य), दृशि (नयने) तरलता (चञ्चलता), कुचे निष्ठुरत्वं (काठिन्य) हरेः वाञ्छापूत्यै (वासनापूरणाय) प्रभवति (शक्नोति), न च अन्या (कापी तादृशी)।

राधिका के कृष्णवशकारी विविध गुण—

जाँर सौभाग्य-गुण वाञ्छे सत्यभामा।
जाँर ठाञि कलाविलास शिखे व्रज-रामा॥१८२॥
जाँर सौन्दर्यादि-गुण वाञ्छे लक्ष्मी-पार्वती।
जाँर पतिव्रता-धर्म वाञ्छे अरुन्धती॥१८३॥
जाँर सद्‌गुण-गणने कृष्ण ना पाय पार।
ताँर गुण गणिबे केमने जीव छार॥"१८४॥

१८२-१८४। प० अनु०—जिन श्रीराधिका के सौभाग्य रूपी गुण की सत्याभामा भी अङ्काक्षा करती है, जिनसे समस्त व्रजगोपियाँ कला-विलास की शिक्षा ग्रहण करती हैं, जिनके सौन्दर्यादि गुणों को लक्ष्मी और पार्वती भी चाहती हैं, जिनके पतिव्रता-धर्म की सती अरुन्धती भी सदा कामना करती हैं, जिनके सद्‌गुणों को गिनते-गिनते श्रीकृष्ण भी पार नहीं पाते, उन श्रीराधिका के गुणों का क्षुद्र जीव कैसे वर्णन कर सकता है?"

अनुभाष्य

१८२-१८३। आदि चतुर्थ परिच्छेद ६१, ७५-७९, ९०-९६ संख्या द्रष्टव्य है।

अनुभाष्य

१८४। आदि चतुर्थ परिच्छेद १२२-१२४, २४०-२४८, २५५ संख्या द्रष्टव्य।

यहाँ तक राधाकृष्ण का तत्त्व; यहाँ से
रस-प्रेम-तत्त्व का वर्णन आरम्भ—

प्रभु कहे,—जानिलुँ कृष्ण-राधा-प्रेम-तत्त्व।
शुनिते चाहिये दुँहार विलास-महत्त्व॥१८५॥

१८५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मैं कृष्ण तत्त्व, राधा तत्त्व और उनके परस्पर के प्रेम तत्त्व के सम्बन्ध में जान गया हूँ, अब मैं राधाकृष्ण के विलास की महिमा को सुनना चाहता हूँ।"

अमृतप्रवाह भाष्य

१८५। विलास-महत्व—दोनों के प्रेम विलास की महिमा।

व्रज के किशोर-किशोरी के चरित्र का वर्णन—

राय कहे,—कृष्ण हय 'धीर-ललित'।
निरन्तर कामक्रीडा—जाँहार चरित॥१८६॥

१८६। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय ने कहा—"श्रीकृष्ण धीर-ललित नायक हैं, निरन्तर काम-क्रीड़ा ही उनके चरित्र का वैशिष्ट्य है।

भक्तिरसामृतसिन्धु (२/१/११५)—

विदग्धो नवतारुण्यः परिहास-विशारदः।
निश्चिन्तो धीरललितः स्यात् प्रायः प्रेयसी वशः॥१८७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१८७। जो पुरुष—चतुर, नव तरुण अर्थात् नवयौवन से युक्त, परिहास विशारद, चिन्ताशून्य (निश्चिन्त) और प्रेयसी के वश में होता है, वह—'धीरललित' है।

अनुभाष्य

१८७। विदग्धः (रसिकः) नवतारुण्यः (नवयौवन युक्तः) परिहास विशारदः (रहस्य निपुणः) निश्चिन्तः (उद्वेगरहितः) धीरललितः (नायकः) प्रायः प्रेयसीवशः (प्रेयसीनां प्रेमतारतम्येन वशीभूतः) स्यात्।

राधा के साथ नित्य विलास में रत कृष्ण—

रात्रि-दिन कुञ्जे क्रीड़ा करे राधा-सङ्गे।
कैशोर-वयस सफल कैल क्रीड़ा-रङ्गे॥१८८॥

१८८। प० अनु०—श्रीकृष्ण ने रात-दिन श्रीराधा के साथ कुञ्ज में क्रीड़ा की थी और इसी प्रकार उन्होंने अपने कैशोर वयस को सफल किया था।

भक्तिरसामृतसिन्धु (२/१/२३१)—

वाचा सूचितशर्वरीरतिकला-प्रागल्भ्या राधिकां
क्रीड़ाकुञ्चित-लोचनां विरचयन्नग्रे सखीनामसौ।
तद्वक्षोरुहचित्रकेलिमकरीपाण्डित्यपारं गतः
कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः॥१८९॥

११७। श्लोकानुवाद—इन श्रीकृष्ण ने प्रगल्भता (अत्यधिका प्रतिभा) के साथ पूर्व-रजनी की रतिकला से सम्बन्धित वचन समूहों के द्वारा श्रीराधिका के दोनों नयनों को लज्जा के द्वारा आवृतप्राय करके, उनके स्तनयुगल में चित्रकेलिभ्रमरादि चित्रित करके सखियों के बीच विशेष पाण्डित्य का प्रकाशन किया था। इस प्रकार रसक्रीड़ा के द्वारा कुञ्ज में विहार-पूर्वक हरि, कैशोर-वयस को सार्थक करते हैं।

अनुभाष्य

१८९। आदि चतुर्थ परिच्छेद ११७ संख्या द्रष्टव्य।

नित्य चिन्मयसेवा-विलास की सर्वोत्तम अवस्था 'प्रेमविलास-विवर्त्त', यह जड़ निर्विशेष केवलाद्वैत-सिद्धि नहीं—

प्रभु कहे,—एहो हय, आगे कह आर।
राय कहे,—इहा वइ बुद्धि-गति नाहि आर॥१९०॥
जेबा 'प्रेमविलास-विवर्त' एक हय।
ताहा शुनि' तोमार सुख हय, कि ना हय॥१९१॥
एत बलि' आपन-कृत गीत एक गाइल।
प्रेमे प्रभु स्वहस्ते ताँर मुख आच्छादिल॥१९२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९०-१९२। हे रामानन्द, तुमने जिस 'साध्य' का निर्णय किया है, राधा-कृष्ण का वर्णन किया है एवं दोनों के विलास-महत्त्व को कहा है, वही सत्य है। किन्तु इससे बाद और जो कुछ है, उसे बोलो। राय ने कहा—इसके बाद बुद्धि और आगे काम नहीं कर पा रही। फिर भी 'प्रेम विलास विवर्त्त' नामक एक भाव है, उसे सुना रहा हूँ, इसको सुनकर आपको सुख होगा या नहीं, कह नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि अब तक मैंने 'प्रेम-विलास के स्वरूप' का वर्णन किया है। प्रेम विलास तत्त्व में दो प्रकार के भाव हैं अर्थात् सम्भोग (मिलन) और विप्रलम्भ (विरह)। विप्रलम्भ के बिना सम्भोग की पुष्टि नहीं होती। विच्छेद (बिछड़ने) का नाम ही 'विप्रलम्भ है; वही प्रेम विलास का विवर्त्त है अर्थात् विरह के समय में अधिरूढ़भाववशतः सम्भोग के अभाव में भी सम्भोग की स्फूर्त्ति होती है। राय रामानन्द द्वारा स्वरचित इस रस के एक संगीत के गान के करने-न करने पर अर्थात् अभी सम्पूर्ण नहीं होने पर ही महाप्रभु ने अपने भाव में विह्वल होकर उनके मुख को ढ़क दिया। गीत—विरह के समय में श्रीमती जी की उक्ति, अतएव विप्रलम्भ दशा में सम्भोग की स्फूर्त्ति।

अनुभाष्य

१९१। "व्यतीत्य भावनावर्त्म यश चमत्कार भार भूः। हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढ़ं स्वदते स रसो मतः॥" विशुद्ध-सत्त्व से उज्ज्वलतामयता (को प्राप्त किये हुए) चित्त में ही 'रस' आस्वादित होता है। वह बाह्य जगत् अथवा अन्तर्जगत् के स्थूल सूक्ष्म-उपाधियों से युक्त देह और मन का आस्वादन योग्य व्यापार नहीं है। गौण स्थूल सूक्ष्म-जगत में जो अस्मिता का आभास लक्षित होता है, वह अनात्म 'बुद्धि' और 'मनः' शब्द वाच्य है। रसमय विषय—रस से परिपूर्ण इन्द्रियों के द्वारा ही ग्राह्य अर्थात् ग्रहणीय है। रसपूर्ण इन्द्रियाँ रसमय दर्शन-स्पर्शन आदि द्वारा रसिकशेखर, रसप्रस्रवण, विषय विग्रह नन्दनन्दन की प्रेममय सेवा करती है। यह निर्विशेषवादियों की अतनिरस्त जड़ राहित्य अवस्था मात्र नहीं है, इसलिये 'रस' की संज्ञा में भावनावर्त्म विशेष रूप से अतिक्रमण लिपिबद्ध हुआ है। दृगदृश्यवादी जड़जगत में इन्द्रिय तर्पण के आधार पर जो अनुभूति प्राप्त करते हैं, वह जड़विवर्त्त का केवलमात्र प्रतिषेधक मात्र होने पर भी अप्राकृत रस का सान्निध्य प्राप्त करने में असमर्थ हैं। देह और मन के धर्मों से जो चमत्कारिता उत्पन्न होती है, वह असम्पूर्ण, लघु और नश्वर है; इसलिये चिन्मय-रस चमत्कार गुरुत्व को प्रकाशित करने वाले के रूप में उल्लिखित हुआ है। प्रेमा—शुद्ध, चिन्मय व्यापार है। अचित् वस्तुओं के प्रति प्रीति—नश्वर, हेय-धर्म काम में ही अवस्थित है। जड़जगत में इन्द्रिय तर्पण में बाधा होने से जो दुःख उपस्थित होता है, वही जड़ीय प्रीति का 'विवर्त्त' है। प्रेम-विलास और विलास-विवर्त्त किसी भी प्रकार का अभाव, अवरता (निकृष्टा) और अनुपादेयता उत्पन्न नहीं करता। अप्राकृत रस के रसिक श्रीरामानन्द ने स्वरचित जिस गीत का कीर्त्तन किया है, वह श्रीगौरसुन्दर के द्वारा अनुमोदित है या नहीं, ऐसी लीला का अभिनय करने जाकर उन्होंने प्रेम-विलास-विवर्त्त का वर्णन किया।

भक्तदास बाउल द्वारा रचित 'विवर्त्तविलास' ग्रन्थ—श्रीजगदानन्द के 'प्रेम विवर्त्त' और श्रीरामानन्द के 'प्रेम-विलास-विवर्त्त' से सम्पूर्ण विपरीत ग्रन्थ है। वर्त्तमान में शिक्षित होने का अभिमान करने वाले व्यक्ति जिस जड़ीय-विवर्त्त विलास की बात का अनुसरण करने जाकर प्रेम विलास-विवर्त्त के प्रति विपरीत बुद्धि करते हैं, उसके द्वारा उनके 'प्राकृत विद्या मन्दिर' से प्राकृत विद्यासागर से 'पी.एच.डी.' उपाधि प्राप्त हो सकती है, किन्तु 'पी.एच.डी.' उपाधि 'पराविद्यामन्दिर' से प्राप्त करने के लिये जड़ीय-अहङ्कार को त्याग एवं अपने नित्य स्वरूप में अवस्थित होना होता है। मनुष्यों द्वारा रचित धर्मशास्त्र और अप्राकृत दर्शन-शास्त्र में जो आकाश-पाताल का भेद वर्त्तमान है, उसे श्रीमन्माधवाचार्य ने स्वगत-सजातीय-भेद का खण्डन करने वाले सम्प्रदाय को उनके परम आदरणीय विचार-पन्था का अवलम्बन करके ही सुष्ठु रूप से दिखा दिया है। जड़ीय दार्शनिक सम्प्रदाय जड़ीय-प्रेम-विलास विवर्त्त में ही अवस्थित हैं, अतएव वे प्रेम-विवर्त्त को अपनी मनगड़न्त अनुभूति के द्वारा समझने में समर्थ नहीं होंगे।

थाली के बीच में जिस प्रकार हाथी का अवस्थान हो नहीं सकता, उसी प्रकार आरोह-वादियों का ताण्डव होने पर भी अत्यन्त कम बलशाली के लिये अप्राकृत अनुभूति असम्भव है।

श्रीरामानन्द राय की उक्ति से जिस 'प्रेम-विचित्र्य' के अन्तर्गत 'मोहन-मादन आदि अधिरूढ़ महाभाव का विलास-वैचित्र्य और विलास-विवर्त्त कथित हुआ है, उसका अनुसरण करने में प्राकृत-सहजिया असमर्थ है। प्राकृत सहजिया श्रीरामानन्द के गीत के अर्थ को केवल-निर्विशेषवाद में ले जाने के लिये ही व्यस्त है, किन्तु वह श्रीरामानन्द के वक्तव्य (कहने का) और श्रीगौरसुन्दर के श्रोतव्य (श्रवण का) विषय नहीं था, इसलिये ही भजन की निगूढ़ चमत्कारिता और अपूर्वता अर्वाचीन जड़ीय दार्शनिक समाज में प्रचार करना अभिधेय है, ऐसी विवेचना करके ही श्रीगौरसुन्दर ने अपने हाथसे श्रीरामानन्द के कृष्ण गान में रत मुखकमल को ढ़क

दिया था। इसके द्वारा बाह्यजगत् दर्शनशील जड़दार्शनिकों की अनुभूति के द्वारा यह गीत अनुभवनीय नहीं है, यही प्रतिपन्न (स्थापित) हुआ है। तब भी, पूर्वोक्त विचार का अवलम्बन करने से ही केवलाद्वैतवाद के स्थान पर शुद्धाद्वैत वादियों का क्षेत्र (मत) स्थापित हो सकता है। शुद्धाद्वैतवादी कहते हें,—द्वैतजगत में जो निकृष्टता वर्त्तमान हैं, उसका निरसन करने जाकर जिस काल्पनिक अद्वय ज्ञान का निर्देश किया जाता है, उसमें प्रेम-विलास का अभाव है; पुनः प्रेम-विलास-विवर्त्त में "ना सो रमण, ना हाम रमणी" इस पद्य-व्याख्या का विवर्त्त जड़ विवर्त्तवादियोंको ग्रास करने पर विषय-आश्रय राहित्य रूपी कैवलाद्वैत-सिद्धि को 'अद्वय ज्ञान' बुलवाकर पुनः जड़ीय-विवर्त्त में ही धकेल देता है। इस स्थान पर शुद्धाद्वैतवादी कहते हैं,—"ना सो रमण, ना हाम रमणी"—इस वाक्य में वास्तव सत्य को ध्वंस नहीं किया गया, किन्तु वस्तु में वस्तु की शक्ति के परिचय से जो द्वैत-आशङ्का प्रवर्त्तित हुई है, उसका खण्डन ही उद्दिष्ट हुआ है। विशिष्टाद्वैत-वादियों की भाषा में यह बात इस प्रकार है,—वस्तु का परिचय दुर्ज्ञेय है, किन्तु शक्ति और शक्तिमान को अभिन्न मानने से शक्ति के परिचय से ही वस्तु की विज्ञेयता (जानकारी प्राप्त होती है) जो वस्तु की शक्ति को वस्तु से अलग करके, 'रमण' और 'रमणी'—दो वस्तुओं की कल्पना करते हैं, उनके विचार से श्रीरामानन्द की यह उक्ति—जड़ीयशक्तिमान और जड़ीय शक्ति के भेद का केवल खण्डन करने वाली है।

प्राकृत-सहजिया-सम्प्रदाय—जड़भोक्ता रमण के साथ जड़भोग्या रमणी का भेद है, ऐसा समझकर अशुद्ध द्वैत विचार का बहुमानन करता है। उससे रक्षा पाने के लिये चिन्त्यद्वैताद्वैत विचार प्रवर्तित हुआ है। इस विचार से श्रीरामानन्द का अथवा श्रीगौरसुन्दर का अचिन्त्य भेदाभेद विचार थोड़ा पृथक है। शुद्धद्वैत विचार और अचिन्त्य-भेदाभेद-विचार को इस विषय में एक ही तात्पर्यमय समझना चाहिए। शुद्धाद्वैतवादियों के विचार, शुद्धद्वैतवा-दियों के विचार, चिन्त्यद्वैताद्वैतवादियों के विचार, विशिष्टाद्वैतवादियों के विचार से अचिन्त्यभेदाभेद-विचार पृथक् है, इसी को अचिन्त्यभेदाभेदाचार्य स्वयं अभिन्न व्रजेन्द्रनन्दन (श्रीचैतन्यदेव) ने अप्राकृत-साहजिक श्रीरामानन्द राय के श्रीमुख से इस बात का प्रचार किया है। इन्हीं श्रीरामानन्द के विषय में ही श्रीगौराङ्ग सुन्दर ने कहा था—"सम्पूर्ण दक्षिण देश (भारत) में तुम्हारे समान अप्राकृत-सहज-धर्मावलम्बी नहीं देखा; 'मैं—एक बाउल हूँ, तुम—दूसरे बाउल। अतएव तुम और मैं एक समान हैं॥" यह बात कहने जाकर श्रीगौरसुन्दर के अचिन्त्यभेदाभेद विचार का प्रदर्शन करने पर श्रीजीवपाद ने अपनी 'सर्व सम्वादिनी' में गौड़ीय वेदान्त दर्शन को ही 'अचिन्त्यभेदाभेद' कहकर स्वीकार किया है। अचिन्त्यभेदाभेद-विचार को कहने जाकर प्राकृत-साहजिक सम्प्रदाय जिस तेल लगायी हुई देह से गंगा-स्नान की कहानी का उल्लेख करते हैं, वह जड़जगत का विवर्त मात्र है। इस उदाहरण के द्वारा भेदाभेद प्रकाश-तत्त्व नहीं जाना जा सकता। शक्तिशक्तिमत्-तत्त्व के अभेद का प्रतिपादन करने में विषय के आश्रय के लिये उद्दीपन और आश्रय के विषय के लिये उद्दीपन-भाव को ठीक-ठीक रूप से समझाने के लिये ही श्रीरामानन्द के गीत में रमण-रमणी के परस्पर के स्वरूप-ज्ञान का यथायथ भाव (है)। ऐसा सुनकर कोई जीव अहंग्रहोपासक न हो जाये। अहंग्रहोपासना—चिन्मात्रवादियों की मूढ़ता एवं चिद् विलास का वैपरीत्य मात्र है। अद्वय ज्ञान वस्तु में आश्रय जातीय भाव का अभाव है, ऐसा कहकर जो विवेचना करते हैं, उनके लिये ही गोलोक के औदार्यमय-प्रकोष्ठ में स्थित श्रीकृष्ण की नित्य गौरलीला का प्रपञ्च में अवतरण है। प्रपञ्च में अवतीर्ण गौरलीला कभी भी जड़सम्भोगवादी गौरनागरी वालों के लिये भोग्या नहीं है, इसी को बताने के लिये ही यह प्रेम-विलास विवर्त्त की उदाहरण-लीला है। 'काञ्चना' प्रभृति काल्पनिक दूतियों को अप्राकृत प्रेम विलास की आवश्यकता नहीं है। कृष्ण-भजन रस की कथा, कृष्णकथा दुर्भिक्ष (अकाल) मय जगत् में प्रचार करने की इच्छा करने से प्राकृत-

सहजिया-सम्प्रदाय शुद्ध भक्तों के साथ अपने-आपको एक समान प्रकाशित करने की वासना से अनेक प्रकार के मतवाद रूपी विवर्त्त में पतित हो सकता है, ऐसा जानकर यह सब व्याख्या शुद्धभक्तिमान् लोगों के लिये संरक्षित हुई है।

राय रामानन्द का स्वकृत गान—
(गीत) —

"पहिलेहि राग नयनभेङ्गे भेल।
अनुदिन बाढ़ल, अवधि ना गेल॥
ना सो रमण, ना हाम रमणी।
दुहुँ-मन मनोभव पेषल जानि'॥
ए सखि, से-सब प्रेमकाहिनी।
कानुठामे कहबि बिछुरल जानि'॥
ना खोजलुँ दूती, ना खोजलुँ आन्।
दुँहुको मिलने मध्ये पाँचबाण॥
अब् सोहि विराग, तुँहु भेलि दूती।
सु-पुरुख-प्रेमकि ऐछन रीति॥"१९३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९३। "आहा, मिलन के पूर्वराग के समय परस्पर के कटाक्षपात से 'राग' नामक एक भाव का उदय होता है; वही राग बढ़ते-बढ़ते 'अवधि' अथवा चरम सीमा को प्राप्त नहीं हुआ; वह राग—हम दोनों के स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है। रमण स्वरूप कृष्ण ही उसके कारण हो, ऐसा नहीं, अथवा रमणीस्वरूपा मैं ही उसका कारण हूँ, वैसा भी नहीं। परस्पर के दर्शन से जो 'राग' उदित हुआ, उसने मनोभव अर्थात् मदन बनकर हमारे मन को पिघलाकर एक कर दिया था। अब विरह के समय, वह सब प्रेम कहानी, हे सखी, कृष्ण यदि भूल भी गये हो, इस प्रकार समझ सकती हो, तब उनको कहना,—मिलन के समय हमने किसी दूती को ढूँढ़ा नहीं था, अथवा और किसी को भी कोई अनुरोध नहीं किया था; अनङ्गरूपी पाँच बाण ही हमारे मिलन के मध्यस्थ थे। पुनः, अब विरह के समय वही राग 'विराग' होने से अर्थात् विशिष्ट राग अथवा विच्छेदगत राग अथवा अधिरूढ़ भाव के रूप में, हे सखि, तुम दूती के रूप में कार्य कर रही हो! सद्पुरुष के प्रेम में यही रीति ही सर्वत्र देखना॥" तात्पर्य यह है कि,—सम्भोग के समय 'राग' जैसे अनङ्ग के रूप में मध्यस्थ था, विप्रलम्भ के समय वह उसी प्रकार अधिरूढ़-भावापन्ना दूती होकर 'प्रेम-विलास-विवर्त्त' अर्थात् विप्रलम्भ में सम्भोग स्फूर्त्ति के कार्य में दूती स्वरूप बनने पर उसको श्रीमती 'सखी' कहकर सम्बोधन करते हुए यह बात कह रही है। मूल तात्पर्य यह है कि,—प्रेमविलास-सम्भोग में भी जैसा आनन्द है, विप्रलम्भ में भी वैसा ही है; विशेषतः विप्रलम्भ में (सेवा की पराकाष्ठा कृष्ण में तन्मयभाव के कारण) सर्प में रज्जु (रस्सी) के भ्रम के समान तमाल आदि में कृष्णभ्रम जनित विवर्त्त-भावापन्न अधिरूढ़-महाभाव रूपी एक प्रकार का सम्भोग उदित होता है।

अनुभाष्य

१९३। पहिलेहि,—सर्वप्रथम। राग,—पूर्वराग। "रतिर्या सङ्गमात् पूर्वं दर्शन श्रवणादिजा तयोरुन्मीलति प्राज्ञैः पूर्वरागः स उच्यते॥"

नयनभङ्गे,—परस्पर के दर्शन के बदले; नयन भङ्गीते अर्थात् अपाङ्ग दर्शन ने इशारे-ही-इशारे में परस्पर की चित्त वृत्ति को जोड़ दिया। अनुदिन बाड़ल,—दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। अवधि ना गेल,—सीमा रही नहीं। प्रौढ़ समर्था रति में लालसा, उद्वेग, जागर्या, तानव, जड़ता, व्यग्रता, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु अर्थात् चिन्ता, जागर, उद्वेग, तानव, मलिनाङ्गता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु—यह दस दशाएँ हैं। समञ्जसा रतिमें—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-कीर्त्तन, उद्वेग, सविलाप उन्माद,—यह छह प्रकार की दशा है। साधारणी रति में सोलह प्रकार अर्थात् प्रौढ़ और समञ्जसा के सविलाप उन्माद तरु। सो,—वे रमण श्रीकृष्ण, हाम,—मैं राधिका रमणी; हम दोनों ही उसके कारण नहीं अथवा हमारी पार्थक्य-बुद्धि नहीं है अर्थात् हम भिन्न-भिन्न है, हम ऐसा सोचते ही नहीं है। मनोभव—कन्दर्प उसे जानकर,

रमण और रमणी, दोनों के मन को पिघला दिया है। प्रेम-काहिनी,—प्रेम विलास समूह। कानुठामे,—कृष्ण के निकट। कहबि,—बोलना। विछुरल,—भूल गये हैं। जानि,—जानकर। खोंजलुँ—ढूँढ़ा था। दूती,—जो मध्यस्थ होकर नायक और नायिका को एकत्रित अर्थात् मिलन कराती हैं; दूती दो प्रकार की हैं—स्वयं दूती और आप्त दूती। स्वयं दूती कटाक्ष एवं वंशीध्वनि है; आप्तदूती—वीरा, वृन्दा आदि है। साधारण-दूती—शिल्पकारिणी, दैवज्ञा, लिङ्गिनी आदि। ना खोजलुँ आन,—और किसी को अनुरोध अथवा अन्वेषण नहीं किया। ढुँढ़ुके—श्रीराधा और कृष्ण, इन दोनों को। मिलने,—दोनों के सम्मिलन से; मध्ये पाँचबाण,—रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श रूपी पाँच बाण। अब—इस समय। सोहि—वहीं राग। विराग,—विप्रलम्भ में अधिरूढ़-महाभाव। तुहुँ—तुम। भेलि—हो गयी। सु पुरुव,—उत्तम नायक के। प्रेमक,—प्रेम के। ऐछन—उस प्रकार।

परस्पर के भेद और भ्रम की दूरीभूत अवस्था—
उज्ज्वलनीलमणि (१४/१५५)—

राधाया भवतश्च चित्तजतुनी स्वैदेर्विलाप्य क्रमाद्
युञ्जन्नद्रि-निकुञ्ज-कुञ्जरपते निर्धूत-भेदभ्रमम्।
चित्राय स्वयमन्वरञ्जयदिह ब्रह्माण्डहर्म्योदरे
भूयोभिर्नव-राग-हिङ्गुलभरैः शृङ्गार-कारुःकृती॥१९४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९४। हे गोवर्धन पर्वत के निकुञ्ज में वास करने वाले कविराज, शृङ्गार-शिल्प शास्त्र में निपुण विधाता ने राधिका और तुम्हारे चित्त रूपी लाक्षा को सात्त्विक-विकार रूपी धर्म द्वारा द्रवीभूत करके भेद के भ्रम को दूर कर ब्रह्माण्ड रूपी अट्टालिका में नवराग हिंगुल द्वारा स्वयं जगत के आश्चर्य को सम्वर्धित करने के उद्देश्य से दोनों के उन चित्तों को अत्यधिक रञ्जित किया है।

अनुभाष्य

१९४। हे अद्रि निकुञ्ज कुञ्जरपते, (गिरिगोवर्द्धन-निकुञ्जारण्यगजपते, गोवर्द्धन कुञ्ज विहारिन्) शृङ्गार कारुकृति (शृङ्गार कारुकर्मणि सुनिपुणः) राधायाः भवतश्च चित्तजतूनी (चित्ते एव जतुनी लाक्षे) स्वेदैः (अन्तर्बहिर्द्रिवरूपैः विकारैः अग्नितापैर्वा) क्रमात (शनैः शनैः) विलाप्य (द्रवीकृत्य) निर्धूतभेदभ्रमं (भेद एव भ्रमः, तं निर्धूतं दूरीभूत) युञ्जन् (कुर्वन्) इह ब्रह्माण्ड हर्म्योदरे (ब्रह्माण्डमेव हर्म्यं तस्योदरे) चित्राय (चित्रार्थं, विस्मयवर्द्धनार्थ) भूयोभिः (नानावि धैः) भूयोभिः (नाना-विधैः) नवराग-हिंगुल-भरैः (नवानुराग रूपहिंगुल-रञ्जनैः) स्वयम् अन्वरञ्जयत्।

यहाँ तक साध्य की सीमा—

प्रभु कहे,—'साध्यवस्तुर अवधि' एइ हय।
तोमार प्रसादे इहा जानिलुँ निश्चय॥१९५॥

१९५। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"यही साध्य की सीमा है आपकी कृपा से मैंने उसे निश्चय ही जान लिया है।

साधन के द्वारा ही साध्य की प्राप्ति—

'साध्यवस्तु' 'साधन' बिना केह नाहि पाय।
कृपा करि' कह, राय, पावार उपाय॥"१९६॥

१९६। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"राय! 'साधन' किये बिना कोई भी साध्य वस्तु को नहीं पा सकता। इसलिये कृपा करके इस साध्य वस्तु को प्राप्त करने का उपाय भी कहो।"

प्रभु की इच्छा के निकट
राय की वश्यता—

राय कहे,—"जेइ कहाओ, सेइ कहि वाणी।
कि कहिये भाल-मन्द, किछुइ ना जानि॥१९७॥
त्रिभुवन-मध्ये ऐछे हय कोन् धीर।
जे तोमार माया-नाटे हइबेक स्थिर॥१९८॥

१९७-१९८। प॰ अनु॰—श्रीरामानन्द राय ने कहा—"आप मुझसे जो कहलवा रहे हैं मैं वही कह रहा हूँ, मैं जो बोल रहा हूँ वह अच्छा है या बुरा इस विषय में मैं कुछ नहीं जानता हूँ। इस त्रिभुवन में कौन ऐसा धीर

व्यक्ति होगा जो आपकी इस माया के नाट अर्थात् खेल को देखकर स्थिर रह सके?

राय के मुख द्वारा प्रभु स्वयं ही वक्ता एवं स्वयं ही श्रोता—

मोर मुखे वक्ता तुमि, तुमि हओ श्रोता।
अत्यन्त रहस्य, शुन, साधनेर कथा॥१९९॥

१९९। प० अनु०—वास्तव में मेरे मुख के माध्यम से आप ही बोल रहे हैं तथा आप ही सुन रहे हैं। यह एक अत्यन्त गम्भीर रहस्य है! अब आप साधन के विषय में श्रवण कीजिए।

साधन के रहस्य का वर्णन; केवल मधुर-रस के द्वारा ही 'कान्तभाव' की प्राप्ति—

राधाकृष्णेर लीला एइ अति गूढ़तर।
दास्य-वात्सल्यादि-भावे ना हय गोचर॥२००॥

२००। प० अनु०—राधाकृष्ण की लीला अति गूढ़तम है। दास्य तथा वात्सल्यादि भावों के द्वारा नहीं समझी जा सकती।

अनुगत सखियों के द्वारा ही राधाकृष्ण के विलास की पुष्टि—

सबे एक सखीगणेर इहाँ अधिकार।
सखी हैते हय एइ लीलार विस्तार॥२०१॥
सखी बिना एइ लीला पुष्ट नाहि हय।
सखी लीला विस्तारिया, सखी आस्वादय॥२०२॥
सखी बिना एइ लीलाय अन्येर नाहि गति।
सखीभावे जे ताँरि करे अनुगति॥२०३॥
राधाकृष्ण-कुञ्जसेवा-साध्य सेइ पाय।
सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय॥२०४॥

२०१-२०४। प० अनु०—एकमात्र सखियों का ही इस लीला में अधिकार है तथा इन सखियों से ही इस लीला का विस्तार होता है। सखियों के बिना इस लीला की पुष्टि नहीं होती, सखियाँ ही इन लीलाओं का विस्तार करके इनका आस्वादन करने वाली हैं। सखियों के बिना इस लीला में प्रवेश करने का अधिकार और किसी को नहीं है, सखीभाव से जो इन सखियों का आनुगत्य करता है केवल वे ही राधाकृष्ण की कुञ्ज-सेवा रूप साध्य वस्तु को प्राप्त कर सकता है अन्यथा इस साध्य को प्राप्त करने का और कोई भी उपाय नहीं है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०२-२०४। महाप्रभु ने इतना श्रवण करके कहा,—साध्यवस्तु के विषय में सबकुछ कहना हो गया, अब इस चरम साध्य वस्तु को प्राप्त करने का जो साधन अथवा उपाय है, उसे कहो। राय रामानन्द ने उसके उत्तर में कहा,—दास्य-वात्सल्य आदि रसों से यह गूढ़तत्त्व प्राप्त नहीं होता, व्रज की सखियों के बिना इस लीला में दूसरों का प्रवेश असम्भव है; व्रज की सखी का भाव ग्रहण करके सखी के आनुगत्य में साधन कर पाने से राधाकृष्ण-कुञ्ज सेवा रूपी साध्य वस्तु प्राप्त होती है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

अनुभाष्य

२०२-२०४। सखी,—उज्ज्वनीलमणि में, यथा,—"प्रेमलीलाविहाराणां सम्यग् विस्तारिका सखी विश्रम्भरत्न पेटी च॥" श्रीकृष्ण की प्रेम लीला और विहार आदि का सम्पूर्ण रूप से विस्तार करने वाली को 'सखी' कहते हैं। सखियाँ—कृष्ण की विश्वास रूपी रत्न-मञ्जुषा (रत्नों की पेटी) स्वरूपा है। सखियों की वृत्ति—'मिथः प्रेम गुणोत्कीर्तिस्तयो रासक्तिकारिता। अभिसारो द्वयोरेव सख्याः कृष्णे समर्पणम्। नर्माश्वासन-नेपथ्यं हृदयोद्घाटपाटवम्। छिद्र संवृत्तिरेतस्याः पत्यादेः परि-वञ्चनां। शिक्षा, सङ्गमनं काले, सेवनं व्यजनादिभिः। तयोर्द्वयो रुपालम्भः सन्देशप्रेषणं तथा। नायिका-प्राण संरक्षा प्रयत्नाद्याः सखीक्रियाः॥" (१) नायक और नायिका के परस्पर के प्रेम-गुण का कीर्त्तन, (२) एक की दूसरे के प्रति आसक्ति को वर्धित करना, (३) दोनों को अभिसार कराना, (४) कृष्ण के प्रति सखी को समर्पित करना, (५) परिहास, (६) आश्वासन-प्रदान, (७)

नायक-नायिका को वेश धारण कराना रूपी नैपथ्य, (८) मन के भावों को प्रकाशित करने की निपुणता, ९) नायिका के दोषों को छिपाना, (१०) पति आदि की वञ्चना, (११) शिक्षा, (१२) उचित समय पर नायक-नायिका का मिलन कराना, (१३) चामर आदि झुलाना, (१४) दोनों के प्रति तिरस्कार, (१५) संवाद भेजना, (१६) नायिका के प्राणों की रक्षा के लिये यत्न करना। आदि चतुर्थ परिच्छेद २११, २१७-२१८ संख्या द्रष्टव्य है।

'सखीभेकी' और 'गौरनागरी' आदि प्राकृत सहजिया सम्प्रदाय की देहात्म-बुद्धिवशतः अपनी शृङ्गाल (सियार) भक्ष्य जड़ देह-इन्द्रियों और चमड़े की शोभा को बढ़ाना कभी भी कृष्ण को आनन्दित नहीं करता अर्थात् कृष्ण (सेवा) के अतिरिक्त यह सब कृत्रिम (बनावटी, दिखावटी) चेष्टाएँ जड़-इन्द्रियों की तृप्ति करने वाली होने के कारण कृष्ण उनका उपभोग करके आनन्द प्राप्त नहीं करते। चिन्मयी श्रीराधा और उनकी सखियों की देह, गेह (घर), वेश-भूषण आदि सभी क्रियाएँ अथवा चेष्टाएँ, सभी चिन्मय हैं, कृष्णेन्द्रिय-प्रीतिकर और कृष्णवशकारी—देवी धाम के अन्तर्गत चौदह भुवनों का कोई व्यापार अथवा वस्तु नहीं है। कृष्ण भुवन मोहन होने पर भी वे (गोपियाँ) किन्तु भुवन मोहिनी नहीं है, वे—भुवन मोहन के मन को मोहने वाली है।

भोग परायण मन के धर्म के वशवर्ती होकर अपनी काल्पनिक सिद्धदेह में अपने को 'सखी' मानकर अभिमान करना भी अहंग्रहोपासना ही हो जाता है; फलस्वरूप कल्पना करने वाले का देवीधाम में ही वास होता है। श्रील जीव गोस्वामी प्रभु ने प्राकृत जीवों को इस विषय में सतर्क भी किया है—यथा, भः रः सिः पूर्व विभाग द्वितीय लहरी—"पूर्वैवत्सल-सख्यादौ"—श्लोक की 'दुर्गम सङ्गमनी' टीका—'न तु व्रजेन्द्रादित्वाभिमाने-नापीत्यर्थः। पितृत्वाद्यभिमानो हि द्विधा सम्भवति—स्वतन्त्रत्वेन, तत्पित्रादिभिरभेदभावनया च। तत्रान्त्यम-नुचितं भगवदभेदोपासनावतेषु भगवद्भदेव नित्यत्वेन प्रतिपादयिष्यमानेषु, तदनौचित्यात्; तथा तत्परिकरेषु तदुचित-भावना-विशेषेणापराधपातात्॥" इसलिये ही श्रील रूप गोस्वामी प्रभु ने कहा है—(उसी भः रः सिः में) "कृष्णं स्मरण जनन्चास्य प्रेष्ठं निज समीहितम्। तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा। सेवा साधक-रूपेण सिद्ध रूपेण चात्र हि। तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥" (टीका—"व्रजलोकास्तृत्र कृष्ण-प्रेष्ठजनास्तनुदनुगताश्च तदनुसारतः") मध्य, बाईस परिच्छेद १५३, १५५, १५७ संख्या द्रष्टव्य।

सखियों के द्वारा शृङ्गार-रस की पुष्टि—
श्रीगोविन्द-लीलामृत (१०/१७)—

विभुरपि सुखरूपः स्वप्रकाशोऽपि भावः
क्षणमपि न हि राधाकृष्णयोर्या ऋते स्वाः।
प्रवहति रसपुष्टिं चिद्विभूतीरिवेशः
क्षयति न पदमासां कः सखीनां रसज्ञः॥२०५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२०५। राधा-कृष्ण का भाव—स्वप्रकाश, सुखरूप एवं विभु अर्थात् अनन्त होने पर भी सखियों के बिना एक क्षण के लिये भी रस की पुष्टि को वहन नहीं कर पाता, जिस प्रकार ईश्वर की चिद् विभूति के बिना ईश्वरत्व पुष्टि प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार। अतएव उसमें प्रविष्ट कौन रसज्ञ सखियों का पदाश्रय नहीं करता?

अनुभाष्य

२०५। राधाकृष्णयोः (व्रजनवयुवद्वन्द्वयोः) भावः (चिद्विलास)—विभुः (परममहान्) अपि, सुखरूपः (सच्चिदानन्दमयः) स्वप्रकाशः (स्वयं प्रकाशरूपः) अपि स्वाः (निज सम्बन्धिनीः कायव्यूह स्वरूपिणीः याः सखीः) ऋते (बिना) रस पुष्टिं न हि प्रवहति; यथा ईशः (ईश्वरः) चिद्विभूतीः इव, (सच्चिदानन्दः ईश्वरः यथा निजनित्यचिद्वैश्वर्यादिकं बिना पुष्टिं न प्राप्नोति, तथेत्यर्थः; अतः कारणात्) कः रसज्ञः (कृष्णतत्त्ववित् कृति) आसां सखीनां पदं न श्रयति? (आश्रयति? सर्वे सनिपुणाः मधुर रसज्ञाः भक्ताः सखीपदं

आश्रयन्तीत्यर्थः)। (यथा केवलाद्वैतवादिनां कल्पाङ्कित विग्रहः अज्ञानसमष्टयधिष्ठातृदेव ईश्वरः अज्ञानव्यष्ट्य-धिष्ठातृ-मलिनसत्व-विकाराख्य-जीवादिविभूतिमयोऽपि षन्टवत् नित्यसत्य विलास रहितः, विशिष्टाद्वैतवादिनामारा-ध्यो नित्यसच्चिदानन्द विग्रह ईश्वरो नित्य-चिदानन्दमयः स्वगत-सजातीय-विजातीय-नित्यविशेषविभूतिभिः शान्त-दास्य-सख्याद्धेति-सार्द्धद्वय-रसपुष्टिं करोति, तथा परिपूर्णो सुखरूपौ श्रीवार्षभानवी-व्रजेन्द्र नन्दनौ स्वयं प्रकाश रूपौ सन्तावपि सखीभिः नित्य रस पुष्टिं कुरुत इति भावः)।

सखियों का श्रीराधा के प्रति प्रेम—

सखीर स्वभाव एक अकथ्य-कथन।
कृष्ण-सह निजलीलाय नाहि सखीर मन॥२०६॥
कृष्ण-सह राधिकार लीला जे कराय।
निज-सुख हैते ताते कोटि सुख पाय॥२०७॥

२०६-२०७। प० अनु०—सखियों के स्वभाव की अनिर्वचनीय महिमा है। वे स्वयं कभी भी श्रीकृष्ण के सङ्ग रूपी सुख को प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं करती। किन्तु कृष्ण के साथ राधिका को लीला कराने में सखियों को जिस सुख की प्राप्ति होती है वह स्वयं कृष्ण के साथ लीला करके सुख की प्राप्ति की अपेक्षा करोड़ो गुण अधिक है।

राधा और सखियों का परस्पर प्रेम-सम्बन्ध—

राधार स्वरूप—कृष्णप्रेम-कल्पलता।
सखीगण हय तार पल्लव-पुष्प-पाता॥२०८॥
कृष्णलीलामृत यदि लताके सिञ्चय।
निज-सुख हैते पलवाद्येर कोटि-सुख हय॥२०९॥

२०८-२०९। प० अनु०—श्रीराधा श्रीकृष्ण के प्रेम की कल्पलता स्वरूप है और सखियाँ उस लता के पल्लव, पुष्प और पत्ते हैं। कृष्णलीला रूपी अमृत का जब उस लता की जड़ में सिञ्चन किया जाता है, तब पल्ल्वादि को करोड़ो गुण अधिक सुख की प्राप्ति होती है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०८-२०९। श्रीराधा ही कृष्ण की प्रेम कल्पलता स्वरूप हैं एवं सखियाँ ही उस लता के पल्लवपुष्प और पत्ते हैं। लतारूपी राधिका का पादाश्रय करके लता को जल सींचने से पल्लव आदि को बहुत अधिक प्रफुल्लता की प्राप्ति होती है। पल्लव आदि में जल सींचने से जिस प्रकार पल्लव आदि को प्रफुल्लता नहीं होती, उसी प्रकार गोपियों को कृष्ण मिलन सुख से राधा-कृष्ण के मिलन के द्वारा ही अधिक सुख होता है।

श्रीगोविन्द-लीलामृत (१०/१६)—

सख्यः श्रीराधिकाया
व्रजकुमुदविधोर्ह्लादिनी-नामशक्तेः
सारांश-प्रेमवल्याः किशलयदल-
पुष्पादितुल्याः स्वतुल्याः।
सिक्तायांकृष्णलीलामृतरसनिचयै-
रुल्लसन्त्याममुष्याम्
जातोल्लासाः स्वसेकाच्छतगुणमधिकं
सन्ति यत्तन्न चित्रम्॥२१०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२१०। व्रज की सखियाँ श्रीराधा के समान एवं व्रज कुमुद चन्द्र की ह्लादिनी-नाम्नी शक्तिस्वरूपा श्रीराधिका की सारांश प्रेम लता के किशलयदल पुष्प आदि स्वरूप है। कृष्ण लीलामृत रस समूह द्वारा परमोल्लासमयी राधिका के सिंचित होने पर ही सखियाँ अपने सींचन से सौ गुणा अधिक उल्लसित होती है;—यह कोई विचित्र (बात) नहीं है।

अनुभाष्य

२१०। व्रजकुमुदविधोः (व्रजवासिकुमुदानन्द कृष्ण-चन्द्रस्य) ह्लादिनीनामशक्तेः (ह्लादिन्याख्यशक्तेः) राधिकायाः सारांश प्रेमवल्लयाः (सारांशः यः प्रेमा सः एव वल्ली लता तस्याः) किशलयदलपुष्पादितुल्याः (नवीनपत्रकुसुमादिसमाः), अतएव स्वतुल्याः सख्यः

(ललितादि-प्रियनर्मसख्यः) कृष्णलीलामृत-रस निचयैः अमुष्यां (राधयाम्) उल्लसन्त्यां च (सत्यां ताः) सख्यः स्वसेकात् (स्व-सेचनात्) शतगुणम् अधिकं जातोल्लासाः (हर्षान्विताः) भवन्ति, इति यत्, तत् न चित्रं (विस्मय-करम्)।

श्रीराधिका की सखियों के प्रति प्रीति—

यद्यपि सखीर कृष्ण-सङ्गमे नाहि मन।
तथापि राधिका यत्ने करान सङ्गम॥२११॥
नाना-छले कृष्ण प्रेरि' सङ्गम कराय।
आत्मसुख-संग हैते कोटि-सुख पाय॥२१२॥

२११-२१२। प० अनु०—यद्यपि सखियों की कृष्ण के साथ संगम की कोई इच्छा नहीं होती फिर भी श्रीराधा यत्नपूर्वक 'सखियों का श्रीकृष्ण के साथ संगम कराती है। श्रीराधा अनेक प्रकार के छल से श्रीकृष्ण को प्रेरित करके उनका सखियों के साथ संगम कराती है और उसमें श्रीराधा को अपने संगम-सुख की अपेक्षा श्रीकृष्ण के साथ सखियों के संगम-सुख में करोड़ो गुणा अधिक सुख की प्राप्ति होती है।

श्रीराधा और सखियों की परस्पर प्रीति में कृष्ण का सुख—

अन्योन्ये विशुद्ध प्रेमे करे रस पुष्ट।
ताँ-सबार प्रेम देखि' कृष्ण हय तुष्ट॥२१३॥
सहज गोपीर प्रेम,—नहे प्राकृत-काम।
कामक्रीड़ा-साम्ये तार कहि 'काम' नाम॥२१४॥

२१३-२१४। प० अनु०—श्रीराधा और सखियों के इस विशुद्ध प्रेम से रस की पुष्टि होती है और कृष्ण भी उन सबके प्रेम को देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं। गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम स्वाभाविक है, इस प्रेम में प्राकृत काम नहीं है। केवल काम-क्रीड़ा के समान समानता दिखायी देने के कारण ही इसे 'काम' कहा गया है।

अनुभाष्य

२१३। अन्योन्य,—परस्पर। श्रीराधिका और उनकी सखियाँ अपने-अपने सुख की अभिलाषा में किसी प्रकार से चेष्टाशीला न होकर एक-दूसरे के द्वारा कृष्ण सेवा करवाके प्रेम को पुष्ट कराती है, उसको देखकर कृष्ण सन्तुष्ट होते हैं।

भक्तिरसामृतसिन्धु (१/२/२८५) गौतमीय तन्त्र वाक्य—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥२१५॥

२१५। श्लोकानुवाद—गोपरामाओं के शुद्ध प्रेम को ही 'काम' के रूप में आख्यायित करने की प्रथा है। भगवद्भक्त उद्धव आदि भी उसी प्रेम के पिपासु हैं।

अनुभाष्य

२१४-२१५। 'काम'—सम्विद् विग्रह—श्रीकृष्ण की सेवा परायण वृत्ति नहीं है, परन्तु श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य वस्तु के सुख तात्पर्य से युक्त हैं। 'प्रेम'—केवल मात्र श्रीकृष्ण के सुख तात्पर्य और कृष्ण-सेवामय होता है। गोपियों के काम का नाम ही 'प्रेम' है, क्योंकि गोपियाँ अपनी इन्द्रियों का सुख नहीं चाहती हैं, केवल कृष्ण के सुख के लिये स्वजातीय सखी के द्वारा सेवा करवाके एवं वैसी सखी द्वारा कृष्ण की सेवा में नियुक्त होकर कृष्ण-काम स्वीकार करती है मात्र। आदि चतुर्थ परिच्छेद १६२-१६६ संख्या द्रष्टव्य।

निजेन्द्रियसुखहेतु कामेर तात्पर्य।
कृष्णसुख-तात्पर्य गोपीभाव-वर्य॥२१६॥
निजेन्द्रियसुखवाञ्छा नाहि गोपीकार।
कृष्णे सुख दिते करे सङ्गम-विहार॥२१७॥

२१६-२१७। प० अनु०—अपनी इन्द्रिय को सुखी करना ही काम का तात्पर्य है परन्तु गोपियों का श्रेष्ठ भाव जिसे प्रेम कहते हैं उसका तात्पर्य केवल मात्र कृष्ण की इन्द्रियों की तृप्ति करना ही है। गोपियों में अपनी इन्द्रियों को सुखी करने की कोई वाञ्छा नहीं है उनका कृष्ण के साथ संगम और विहार भी कृष्ण को सुख पहुँचाने के लिये ही है।

श्रीमद्भागवत (१०/३१/१९)—

यत्ते सुजात-चरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तदव्यथते न किं स्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥२१८॥

२१८। श्लोकानुवाद—गोपियों कहती हैं—हे प्रिय, हम तुम्हारे सुकोमल चरणकमल को अपने कठोर स्तनों पर धीरे से धारण करती हैं, इन्हीं चरणों के द्वारा तुम जब वन में भ्रमण कर रहे हो, वे तो सूक्ष्म पाषाणादि के द्वारा घायल होने के कारण अवश्य व्यथित हो रहे होंगे। अतः हमारे जीवन- स्वरूप! तुम्हारे लिये हमारा चित्त अस्थिर हो रहा है।

अनुभाष्य

२१८। आदि चतुर्थ परिच्छेद १७३ संख्या द्रष्टव्य।

रागानुगा भक्ति का परिचय और श्रुतियों की कृष्णप्राप्ति—

सेइ गोपीभावामृते जाँर लोभ हय।
वेदधर्म त्यजि' से कृष्ण के भजय॥२१९॥
रागानुग-मार्गे ताँरि भजे जेइ जन।
सेइ जन पाय व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥२२०॥
व्रजलोकेर कोन भाव लआ जेइ भजे।
भावयोग्य देह पाआ कृष्ण पाय व्रजे॥२२१॥

२१९-२२१। प॰ अनु॰—इन गोपियों के भाव रूपी अमृत को प्राप्त करने का जिन्हें लोभ होता है वे वेद-धर्म का त्याग करके श्रीकृष्ण का भजन करता है। जो रागानुगा-मार्ग के द्वारा श्रीकृष्ण का भजन करता है, वे ही व्रज में व्रजेन्द्रनन्दन को प्राप्त करता है। व्रज के परिकरों के किसी विशेष भाव को लक्ष्य करके जो व्यक्ति भक्ति करता है वे उस भाव के अनुरूप देह को प्राप्त कर व्रज में कृष्ण की सेवा प्राप्त करता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२१९-२२०। चौंसठ प्रकार की भजनाङ्ग रूपी वैधीभक्ति; उनके प्रति निर्मल श्रद्धा रहने पर ही उनमें अधिकार उत्पन्न होता है। व्रजवासियों का श्रीकृष्ण के प्रति जो स्वाभाविक राग है, उसे देखकर उस मार्ग पर चलने के लिये जिन्हें लोभ होता है, उन्हें वही गोपी-भावामृत-लोभ ही रागानुग-मार्ग में अधिकार प्रदान करता है। रागानुग मार्गीय भजन में वर्णाश्रम आदि वैदिक धर्म में आसक्ति-त्याग करना सहज रूप में आवश्यक है।

अनुभाष्य

२२०-२२२। रागानुग-मार्ग,—आदि चतुर्थ परिच्छेद १६७-१६९, १७५ संख्या तथा मध्य बाईसवें परिच्छेद की १४५-१६२ संख्या द्रष्टव्य।

रागमार्ग के द्वारा श्रुतियों
की कृष्ण प्राप्ति—

ताहाते दृष्टान्त—उपनिषद् श्रुतिगण।
रागमार्गे भजि' पाइल व्रजेन्द्रनन्दन॥२२२॥

२२२। प॰ अनु॰—इसका साक्षात् उदाहरण उपनिषद् तथा श्रुतियाँ हैं, जिन्होंने रागमार्ग से भजन करके व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण को प्राप्त किया था।

अमृतप्रवाह भाष्य

२२१-२२२। व्रज में रक्तक-पत्रक आदि कृष्णदास, श्रीदाम-सुबल आदि कृष्ण सखा, नन्द-यशोदा आदि कृष्ण के पिता-माता, ये सब अपने-अपने रस के अनुसार कृष्ण की सेवा करते हैं। व्रजरस के भजन में प्रवृत्ति होने पर उक्त किसी रस विशेष में जिन्हें लोभ होता है, वह उस भाव के योग्य चित् स्वरूप प्राप्त करके सिद्धि के समय श्रीकृष्ण को प्राप्त होता है;—उपनिषद अथवा श्रुतियाँ ही इसका दृष्टान्त है। श्रुतियों ने देखा,—गोपियों का आनुगत्य नहीं करने से व्रज में कृष्ण भजन का अधिकार प्राप्त नहीं होता, तब उन्होंने गोपियों के आनुगत्य को ग्रहण करके रागमार्ग से गोपी देह में व्रजेन्द्रनन्दन का भजन किया था।

गोपियों के आनुगत्य में श्रुतियों को
कृष्ण की मधुर सेवा की प्राप्ति—
श्रीमद्भागवत (१०/८१/२३)—

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढ़योगयुजो हृदि य-
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्त-धियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रि सरोजसुधाः॥२२३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२२३। मुनियों ने प्राणायाम द्वारा निश्वास को जीत करके मन और इन्द्रियों को दृढ़रूप से योग युक्त करके हृदय में जिस ब्रह्म की उपासना की थी, भगवान् के शत्रुओं ने भी उनके अनुध्यान के बल से उस ब्रह्म में प्रवेश किया था, व्रज स्त्रियों ने श्रीकृष्ण के साँप के शरीर के समान दिखायी देने वाली भुजाओं के सौन्दर्य रूपी हलाहल विष द्वारा हत बुद्धि होकर उनके चरणकमलों की सुधा को प्राप्त किया था। हमनें भी वैसी गोपी देह प्राप्त करके गोपीभाव से उनके चरणकमलों की सुधा का पान किया है।

अनुभाष्य

२२३। जनलोक में ब्रह्म सत्र-यज्ञ में श्रोता ऋषियों के निकट सनन्दन श्रुतियों द्वारा किये गये भगवान् के स्तव का वर्णन—

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढ़ योग युजः (मरुत् प्राणाश्च मनः न अक्षाणि इन्द्रियाणि) च निभृतानि संयमितानि यैः ते संयत वायु हृदयेन्द्रियाः, दृढ़योगं युञ्जन्तीति दृढ़योग-युजश्च ते तथाभूताः अविचलितपरानुरक्ताः) मुनयः यत् (तत्त्वं) हृदि उपासते (अनुभवन्ति), तत् अवयः (कृष्णविद्वेषिणः) अपि (तव) स्मरणात् (वैर भावेन चिन्तनात्) ययुः (निर्विशेषतां प्रापुः); उरगेन्द्रभोग-भुजदण्डविषक्तधियः (उरग्रेन्द्रस्य सर्पस्य भोगः देहः ततुल्ययोर्भुजदण्डयोः विषक्ताधीः यासां ताः), स्त्रियः, वयम् अपि समाः (गोपीकाय व्यूहेन तत्तुल्रूपाः) समदृशः (तद्भावानुगत भावमयाः) ते (तव) अङ्घ्रिसरोजसुधाः (पादपद्मं सुष्ठु धारयन्त्यः सत्यः) तत् (त्वद्रूपं तत्त्वं ययिमेति शेषः)।

श्लोक में वर्णित शब्दों का अर्थ—

'समदृशः'-शब्दे कहे 'सेइ भावे अनुगति'।
'समाः'-शब्दे कहे श्रुतिर गोपीदेह-प्राप्ति॥२२४॥
'अङिघ्रपद्मसुधा' य कहे 'कृष्णसङ्गानन्द'।
विधिमार्गे ना पाइये व्रजे कृष्णचन्द्र॥२२५॥

२२४-२२५। प० अनु०—'समदृशः' शब्द का अर्थ है कि 'गोपियों के भाव के अनुगत होकर'। 'समाः' शब्द श्रुतियों की 'गोपी देह की प्राप्ति' की ओर इङ्गित करता है। 'अङिघ्रपद्मसुधा' का अर्थ कृष्ण सङ्ग सुख रूपी आनन्द'। रागानुगा भक्ति के द्वारा इस सिद्धि की प्राप्ति होती है। विधि-मार्ग के द्वारा कभी भी व्रज में कृष्णचन्द्र की प्राप्ति नहीं हो सकती।

अमृतप्रवाह भाष्य

२२४-२२५। श्लोक के चतुर्थ पाद में 'समदृशः' शब्द 'गोपीभाव में अनुगति' व्याख्या करता है एवं 'समाः' शब्द श्रुतियों के 'गोपी देह की प्राप्ति' की व्याख्या करता है। 'अङ्घ्रिसरोजसुधा' शब्द 'कृष्ण सङ्ग रूपी आनन्द' की व्याख्या करता है।

अनुभाष्य

२२३-२२५। मध्य नवम परिच्छेद १३३-१३४ संख्या द्रष्टव्य है।

रागात्मिका भक्त की महिमा—
श्रीमद्भागवत (१०/९/२१)—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥२२६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२२६। यशोदा के पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण भक्ति करने वाले देहधारियों के लिये जिस प्रकार सुलभ है, आत्मभूत ज्ञानियों के लिये वैसे नहीं।

अनुभाष्य

२२६। यशोदा के कृष्ण को वशीकरण कर लेने वाले गुण को देखकर श्रीशुकदेव परीक्षित के निकट व्रज की ललनाओं के अप्राकृत सहज रागत्मिका भक्ति के महात्म्य का वर्णन कर रहे हैं—

अयं (गोपिका सुतः यशोदानन्दनः) भगवान् इह यथा भक्तिमतां (रागमार्गेन भजनकारिणा) सुखापः (अनायासलभ्यः) देहिनां (देहाभिमानिनाम्) आत्मभूतानां (तपोव्रत-पराणां जड़विरागयुक्तात्मारामाणां) ज्ञानिनां च तथा न (सुखापः इति शेषः)।

अनर्थ से निवर्त्त भक्तों की रागानुगा भजन प्रणाली—

अतएव गोपीभाव करि' अङ्गीकार।
रात्रि-दिन चिन्ते राधाकृष्णेर विहार॥२२७॥
सिद्धदेहे चिन्ति' करे ताँहाञि सेवन।
सखीभावे पाय राधाकृष्णेर चरण॥२२८॥

२२७। प० अनु०—[अनर्थ से निवृत्त भक्त] गोपी-भाव को अङ्गीकार करके रात-दिन राधाकृष्ण के लीला-विहार का चिन्तन करता है।

२२८। प० अनु०—अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

अनुभाष्य

२२८। सिद्धदेह,—वर्त्तमान जड़देह और मानस सूक्ष्मदेह के अतिरिक्त चिन्मय राधा-कृष्ण की सेवा के उपयोगी देह। जिस प्रकार जड़ीय कर्मों के फल से जीव जड़देह प्राप्त करता है, और पुनः समय आने पर वह देह परिवर्त्तित होकर स्थूल भोग वासना से पुनः जड़देह प्राप्त करती है, जिस प्रकार सूक्ष्म-जड़ीय भोग वासना से मानस-लिङ्गदेह ग्रहण करके मन द्वारा जड़ विषय भोग करके पुनः वैसी परिवर्त्तित सूक्ष्मदेह प्राप्त करता है, उसी प्रकार शुद्ध-जीवात्मा काम-भोग वासना के बल से जड़ भोग्य देवीधाम में जन्म ग्रहण करके समय के साथ नष्ट होने वाले स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकार की देहों को ग्रहण करने के बदले चिन्मय गोलोक अथवा वैकुण्ठ में नित्यकाल के लिये दोनों चिन्मय देह प्राप्त करता है एवं उसके द्वारा कृष्ण सुख तात्पर्यमय होकर राधाकृष्ण की अप्राकृत सेवा करता है। जड़ से अतीत अथवा अपने भोगों से अतीत वस्तुओं की चिन्ता करने में, जड़ अथवा सूक्ष्म देह—अक्षम हैं, इसलिये त्रिगुणातीत भक्त कृष्ण के अप्राकृत गुणों के प्रति आकृष्ट होकर उसके उपयोगी अपनी सिद्ध देह की अप्राकृत इन्द्रियों की सहायता से अप्राकृत वस्तु की चिन्ता करके अप्राकृत सेवा करते-करते अप्राकृत सखीभाव के आनुगत्य में अप्राकृत राधा-कृष्ण के चरणों को प्राप्त करता है। मध्य, बाईसवें परिच्छेद की १५२-१५६, १६० संख्या द्रष्टव्य है।

गोपियों के आनुगत्य के बिना कृष्ण की प्राप्ति असम्भव—

गोपी-आनुगत्य बिना ऐश्वर्यज्ञाने।
भजिलेह नाहि पाय व्रजेन्द्रनन्दने॥२२९॥

२२९। प० अनु०—गोपियों के आनुगत्य के बिना, ऐश्वर्य ज्ञान से भजन करने वाला भक्त व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण को प्राप्त नहीं कर सकता।

अनुभाष्य

२२९। ऐश्वर्य बुद्धि से विधिमार्ग द्वारा व्रजेन्द्रनन्दन का भजन नहीं होता। माधुर्य के प्रति आकर्षण होने से गोपियों के आनुगत्य में भजन करने से ही कृष्ण की प्राप्ति होती है। आदि चतुर्थ परिच्छेद १७६ और मध्य नवम परिच्छेद १३०-१३५, १३७ संख्या द्रष्टव्य।

गोपियों के आनुगत्य के बिना लक्ष्मी की
भी रास विलास की प्राप्ति में अयोग्यता—

ताहाते दृष्टान्त,—लक्ष्मी करिल भजन।
तथापि ना पाइल व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥२३०॥

२३०। प० अनु०—इसका एक उदाहरण लक्ष्मी देवी है जिन्होंने व्रजलीला में प्रवेश करने के लिये श्रीकृष्ण का भजन किया था, किन्तु गोपियों के आनुगत्य के बिना वे भी व्रज में व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण को प्राप्त न कर सकीं।

अनुभाष्य

२३०। मध्य नवम परिच्छेद १११-१५५ एवं चतुर्दश परिच्छेद १२२-१२३ संख्या द्रष्टव्य।

श्रीमद्भागवत (१०/४७/६०)—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीत कण्ठ-
लब्धशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम्॥२३१॥

२३१। श्लोकानुवाद—श्रीवृन्दावन में रासोत्सव के समय श्रीकृष्ण के भुजदण्ड द्वारा गृहीत कण्ठ व्रज-सुन्दरियों के प्रति जो-कृपा उदित हुई थी, वह वक्षः स्थल पर स्थित लक्ष्मी आदि परव्योम की अत्यधिक अनुगत शक्तियों को भी प्राप्त नहीं हुई थी, कमल की गन्ध के प्रभाव वाली स्वर्ग की रमणियों को भी उस प्रकार की कृपा की प्राप्ति नहीं हुई, तब अन्य स्त्रियों के विषय में तो क्या कहूँ।

अनुभाष्य

२३१। मध्य अष्टम परिच्छेद ८० संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु और राय का प्रेम-क्रन्दन—

एत शुनि' प्रभु ताँरे कैल आलिङ्गन।
दुइजने गलागलि करेन क्रन्दन॥२३२॥

२३२। प॰ अनु॰—इतना सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरामानन्द राय को आलिङ्गन किया और दोनों परस्पर एक-दूसरे को गले लगाकर क्रन्दन करने लगे।

दोनों का रात्रि में एक साथ वास और
दूसरे दिन प्रातः स्वकार्य के लिये गमन—

एइमत प्रेमावेशे रात्रि गोङाइला।
प्रातःकाले निज-निज-कार्ये दुँहे गेला॥२३३॥

२३३। प॰ अनु॰—इस प्रकार प्रेम में आविष्ट होकर उन दोनों ने वह रात व्यतीत की और सुबह होते ही दोनों अपने-अपने कार्य करने लगे।

राय की दीनता और प्रभु के सङ्ग की प्रार्थना—

विदाय-समये प्रभुर चरणे धरिया।
रामानन्द राय कहे विनति करिया॥२३४॥
'मोरे कृपा करिते तोमार इहाँ आगमन।
दिन दश रहि' शोध मोर दुष्ट मन॥२३५॥
तोमा बिना अन्य नाहि जीव उद्धारिते।
तोमा बिना अन्य नाहि कृष्णप्रेम दिते॥"२३६॥

२३४-२३७। प॰ अनु॰—विदाई लेते समय श्रीरामानन्द राय ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों को पकड़कर विनती करते हुए कहा—"मुझ पर कृपा करने के लिये ही आप यहाँ पर आये हैं इसलिये कम-से-कम दस दिन और यहाँ रहकर मेरे दुष्ट मन को पवित्र कीजिये। आपके अतिरिक्त कोई भी इस जीव का उद्धार नहीं कर सकता और न ही आपके अतिरिक्त कोई और कृष्ण प्रेम प्रदान कर सकता है।

प्रभु के द्वारा राय की स्तुति और
उनकी वश्यता को अङ्गीकार करना—

प्रभु कहे,—आइलाङ्ग शुनि' तोमार गुण।
कृष्णकथा शुनि शुद्ध कराइते मन॥२३७॥
जैछे शुनिलुँ, तैछे देखिलूँ तोमार महिमा।
राधाकृष्ण-प्रेमरस-ज्ञानेर तुमि सीमा॥२३८॥
दश दिनेर का-कथा यावत् आमि जीब'।
तावत् तोमार सङ्ग छाड़िते नारिब॥२३९॥

२३७-२३९। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मैं आपके गुणों को सुनकर और आपके मुख से कृष्ण कथा को सुनकर अपने मन को पवित्र कराने के उद्देश्य से यहाँ पर आया था। आपके विषय में मैंने जैसा सुना था वैसा ही आपकी महिमा को देखा, आप वास्तव में श्रीराधाकृष्ण के प्रेम-रस के तत्त्व ज्ञान की सीमा हैं। दस दिन की क्या बात, जब तक मैं जीवित रहूँगा, आपके सङ्ग को नहीं छोड़ पाऊँगा।

अनुभाष्य

२३८। राधा कृष्ण के प्रेम रस का स्वरूप तुमने ही

जाना है। उस ज्ञान में तुम पारङ्गत सिद्ध हो, अतएव तुम ही शेष (अन्तिम) सीमा हो।

नीलाचल में प्रभु को राय के सङ्ग की वाञ्छा—

नीलाचले तुमि-आमि थाकिब एक-सङ्गे।
सुखे गोङाइब काल कृष्णकथा-रङ्गे॥२४०॥

२४०। प० अनु०—नीलाचल में आप और मैं—दोनों ही एक साथ रहेंगे और श्रीकृष्ण कथा के प्रसङ्गों में ही सुखपूर्वक अपना समय व्यतीत करेंगे।

अपने-अपने कार्य को समाप्त करने के उपरान्त सन्ध्या में दोनों का मिलन—

एत बलि' दुँहे निज-निज कार्ये गेला।
सन्ध्याकाले राय पुनः आसिया मिलिला॥२४१॥

२४१। प० अनु०—इतना कहकर दोनों ही अपने-अपने कार्य को करने के लिये चले गये और सन्ध्या के समय फिर श्रीरामानन्द राय श्रीचैतन्य महाप्रभु से आकर मिले।

दोनों की इष्टगोष्ठी—

अन्योन्ये मिलि' दुँहे निभृते बसिया।
प्रश्नोत्तर-गोष्ठी कहे आनन्दित हञा॥२४२॥

२४२। प० अनु०—इस प्रकार उन्होंने एकान्त स्थान पर मिलकर, प्रश्नोत्तर के माध्यम से अत्यधिक आनन्दित होकर परस्पर का सङ्ग किया।

अनुभाष्य

२४२। गोष्ठी,—संलाप (बात-चीत)।

प्रभु और रामानन्द का संलाप; प्रभु के द्वारा प्रश्न और राय के द्वारा उत्तर—

प्रभु पूछे, रामानन्द करेन उत्तर।
एइ मत सेइ रात्रे कथा परस्पर॥२४३॥

२४३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रश्न कर रहे थे और रामानन्द राय उसका उत्तर दे रहे थे इस प्रकार उन्होंने वह सारी रात कथा में ही बिता दी।

(१) कृष्णभक्ति ही परा विद्या—

प्रभु कहे,—"कोन् विद्या विद्या-मध्ये सार?"
राय कहे,—"कृष्णभक्ति बिना विद्या नाहि आर॥"२४४॥

२४४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—"समस्त विद्याओं में कौन-सी विद्या सार स्वरूप है?" श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—"कृष्णभक्ति के अतिरिक्त कोई और विद्या नहीं है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

२४४-२५६। "प्रभु कहे, कोन विद्या" से आरम्भ करके "स्थावर देह, देव-देह जैछे अवस्थिति तक प्रत्येक पद्य की प्रथम पंक्ति प्रभु का प्रश्न और द्वितीय पंक्ति राय का उत्तर है। चैतन्यचन्द्रोदय नाटक के सप्तम अङ्क में यह कथोपकथन है।

अनुभाष्य

२४४। विद्या की श्रेष्ठता-विषयक प्रश्न के पूछने पर राय का उत्तर यह है कि कृष्ण भक्ति की विद्या ही सर्वोत्तम है। जड़ भोगों की जननी विद्या और जड़ से अतीत ब्रह्म की विद्या की अपेक्षा विष्णुभक्ति-विद्या का उन्नत स्तर ही कृष्ण भक्ति विद्या है। (भागवतम् ४/२९/४९)—"तत् कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मति-र्यया',—(भागवतम् ७/५/२३-२४)—"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्य-मात्मनिवेदनम्॥ इति पुंसार्पिता विष्णोभक्तिश्चेन्न-वलक्षणा। क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुक्तमम्॥" (भाः ११/१९/४०) 'विद्यात्मनि भिदावाधः"।

(२) कृष्ण दास्य ही सर्वश्रेष्ठ यश और प्रतिष्ठा—

'कीर्तिगण-मध्ये जीवेर कोन् बड़ कीर्ति?'
'कृष्णभक्त बलिया जाँहार हय ख्याति॥'२४५॥

२४५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—"समस्त कीर्तियों में जीवों की कौन-सी कीर्ति सबसे बड़ी है?' श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण के भक्त के रूप में जिसने ख्याति अर्जित की है, वही सबसे बड़ा कीर्तिमान है।

अनुभाष्य

२४५। 'कृष्ण भक्त' के रूप में प्रसिद्धि ही सर्वापेक्षा अधिक कीर्त्ति (यश) है। जड़ विषयों के प्रति लोलुपता के कारण जीव जड़ीय स्थूल सेवन को ही बहुमानन करता है। देवीधाम के किसी परिचय द्वारा अनित्य भार से यशस्वी होना अथवा जड़ातीत राज्य में 'ब्रह्म' के रूप में ख्याति प्राप्त करने की अपेक्षा 'विष्णुभक्त' के रूप में ख्याति की श्रेष्ठता है; उसी के उन्नत स्तर में 'कृष्ण भक्त' के रूप में ख्याति की श्रेष्ठता है; उसी के उन्नत स्तर में 'कृष्ण स्तर' के रूप में ख्याति है। (गरुड़ पुराण में शक्रोक्ति)—"कलौ भागवतं नाम दुर्लभं नैव लभ्यते। ब्रह्मरुद्रपदोत्कृष्टं गुरुणा कथितं मम॥" (इतिहास-समुच्चय में श्रीनारद-पुण्डरीक-संवाद में)—"जन्मान्तर-सहस्त्रेषु यस्य स्याद् बुद्धिरीदृशी। 'दासोऽहं वासुदेवस्य' सर्वालोकान् समुद्धरेत्॥" (आदि-पुराण के कृष्ण-अर्जुन संवाद में)—'भक्तानामनुगच्छन्ति मुक्तयः श्रुतिभिः सह"॥ (ब्रहनारदीय में)—"अद्यापि च मुनिश्रेष्ठा ब्रह्माद्या अपि देवताः। प्रभावं न विजानन्ति विष्णुभक्ति रतात्मनाम्॥" (गरुड़-पुरण में)—"ब्राह्मणानां सहस्त्रेभ्यः सत्रयाजी विशिष्यते। सत्रयाजि सहस्त्रेभ्यः सर्ववेद्यन्तपारगः। सर्व-वेदान्तवित् कोट्या विष्णु भक्तो विशिष्यते। वैष्णवानां सहस्त्रेभ्यः एकान्त्येको विशिष्यते। एकान्तिनस्तु पुरुषा गच्छन्ति परमं पदम्॥" (भाः ३/१३/४)—"श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य नन्वञ्जसा सुरिभिरीड़ितोऽर्थः। ततद् गुणानु' श्रवणं मुकुन्द-पादारविन्दं हृदयेषु येषाम्॥" (नारायणव्यूह स्तव में)—"नाहं ब्रह्मपि भूयासं त्वद्भक्तिरहितो हरे। त्वयि भक्तस्तु कीटोऽपि भूयासं जन्म जन्मसु॥" एवं भाः ३/२५/३८, ४/२४/२९, ४/३१/२२, ७/९/२४, १०/१४/३०, १०/१४/३० प्रभृति द्रष्टव्य।

उनमें से प्रह्लाद की ख्यति—यथा स्कन्ध पुराण में श्रीरुद्र के वाक्य—"भक्त एव हि तत्वेन् कृष्णं जानाति न त्वहम्। सर्वेषु हरिभक्तेषु प्रह्लादोऽतिमहत्तमः॥" (भाः ७/९/२६ और ७/१०/२१); उनसे पाण्डवों की श्रेष्ठता—(भाः ७/१०/४८-५०; ७/१५/७५-७७); उनसे यादवों की श्रेष्ठता—(भाः १०/८२/२८,३०); उनमें से उद्धव की सर्वश्रेष्ठता—(भाः ३/४/३१, ११/१४/१५, ११/१६/२९); उनकी अपेक्षा व्रजदेवियों का श्रेष्ठत्व—(भाः १०/४७/५८); 'बृहद्वामन' में भृगु आदि ऋषियों के प्रति ब्रह्मा के वाक्य—"पष्टिवर्ष सहस्त्राणि मया तप्तं तपः पुरा। नन्दगोपव्रजस्त्रीणां पादरेणुपलब्ध्ये॥ तथापि न मया प्राप्तास्तासां वै पादरेणवः। नाहं निशवश्च शेषश्च श्रीश्च ताभिः समाः क्वचित्॥" आदि पुराण में श्रीभगवदवाक्य—"न तथा मे प्रियतमो ब्रह्मा रुद्रश्च पार्थिव। न च लक्ष्मीर्ण चात्मा च यथा गापीजनो मम।" उनमें श्रीराधिका का ही सर्वश्रेष्ठत्व है। श्रीराधा के सबसे प्रिय सेवकवर, श्रीगौराङ्ग के अत्यन्त अन्तरङ्ग सेवक श्रील रूप गोस्वामी प्रभु के जो एकान्त अनुगत हैं, वही रूपानुग के नाम से प्रसिद्ध हे। उनके ऐश्वर्य के सम्बन्ध में श्रीचैतन्यचरितामृत में—"आस्तां वैराग्य-कोटिर्भवतुशम-दम-क्षान्तिमैत्रादिकोटिस्तत्वानुध्यान-कोटिर्भवतु भवतु वा वैष्णवी भक्तिकोटिः। कोट्यंशोऽप्यस्य न स्यात्तदपि गुणगणो यः स्वतःसिद्ध आस्ते श्रीमच्चैतन्यचन्द्र-प्रिय-चरण-नख-ज्योतिरामोद भाजाम्॥"

(३) राधा गोविन्द के प्रति प्रेम भक्ति ही परम धन—

'सम्पत्तिर मध्ये जीवेर कोन् सम्पत्ति गणि?'
'राधाकृष्ण प्रेम जाँर, सेइ बड़ धनी॥'२४६॥

२४६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—'सम्पत्तियों में जीव की सबसे बड़ी सम्पत्ति क्या है?' श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—' राधाकृष्ण के प्रति जिसमें प्रेम है, वही सबसे बड़ा धनी है।'

अनुभाष्य

२४६। जीव जड़ीय भोग-परायण होकर अधिक भोग वासनाओं के सम्पूर्ण रूप में तृप्त करने वाले धन को ही प्राप्त की जा सकने वाली (वस्तुओं) में सबसे श्रेष्ठ समझते हैं। किन्तु सम्पति के तारतम्य (अधिक और कम) के विचार में सूक्ष्म अप्राकृत बुद्धि के अनुसार राधाकृष्ण के प्रेम के समान सम्पत्ति और कुछ भी नहीं है।

(भाः १०/३९/२)—"मामनाराध्य दुःखार्त्तः कुटुम्बा-सक्त मानसः। सत्सङ्गरहितो मर्त्त्यो वृद्ध सेवा परिच्युतः॥"

(बृः भाः ५/४४)—'स्व जीवाधिकं प्रार्थ्यं श्रीविष्णु-जनसङ्गतः। विच्छेदेन क्षणं चात्र न सुखांशं लभामहे॥"

(४) कृष्ण भक्त का विरह ही तीव्रतम दुःख—

'दुःख-मध्ये कोन् दुःख हय गुरुत्तर?'
'कृष्णभक्त-विरह बिना दुःख नाहि देखि पर॥' २४७॥

२४७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—'समस्त प्रकार के दुःखों में से कौन सा दुःख सबसे बड़ा है?' श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—'कृष्णभक्त के विरह के बिना और अधिक कोई भी दुःख नहीं है।'

(५) कृष्ण प्रेमी ही सर्वश्रेष्ठ मुक्त—

'मुक्त-मध्ये कोन् जीव मुक्त करि' मानि?'
'कृष्णप्रेम जाँर, सेइ मुक्त-शिरोमणि॥'२४८॥

२४८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—'समस्त मुक्तगणों में से किस जीव को मुक्त श्रेष्ठ जानना चाहिये?' श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—'जिसने कृष्ण-प्रेम प्राप्त किया है, वही मुक्त-शिरोमणि है।'

अनुभाष्य

२४८। (भाः ६/१४/४)—"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण परायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥"

(६) कृष्ण-लीला-गान ही
शुद्ध-जीवात्मा का सहज धर्म—

'गान-मध्ये कोन् गान—जीवेर निज धर्म?'
'राधाकृष्णेर प्रेमकेलि'—जेइ गीतेर मर्म॥'२४९॥

२४९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—"समस्त गानों में कौन-सा गान जीव का वास्तविक धर्म है?' श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—'जिस गान में राधाकृष्ण की प्रेम केलि का वर्णन है, वही गान ही सर्वश्रेष्ठ है।"

अनुभाष्य

२४९। (भाः १०/३३/३६)—"अनुग्रहाय भक्तानां मानुषीं देहमाश्रितः। भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥"

(७) कृष्ण भक्त का सङ्ग ही
जीव के लिये एकमात्र मङ्गलमय—

'श्रेयो-मध्ये कोन् श्रेयः जीवेर हय सार?'
कृष्णभक्त-संग बिना श्रेयः नाहि आर॥'२५०॥

२५०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—'समस्त प्रकार के मङ्गलों में से कौन-सा मङ्गल जीव के लिये सर्वश्रेष्ठ है?' श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण भक्त के सङ्ग के अतिरिक्त और कोई मङ्गल नहीं है।'

अनुभाष्य

२५०। (भाः ११/२/२८)—"अत अत्यान्तिकं क्षेम पृच्छामो भवतोऽनघाः। संसारेऽस्मिन् क्षणार्द्धोऽपि सत्सङ्ग सेवाधिर्नृणाम्॥"

(८) कृष्ण ही एकमात्र नित्य स्मरणीय—

'काँहार स्मरण जीव करिबे अनुक्षण?'
'कृष्ण-नाम-गुण-लीला—प्रधान स्मरण॥'२५१॥

२५१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—'जीवों को सब समय किसका स्मरण करना चाहिये?' श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण के नाम, गुण और लीलाओं का स्मरण करना ही सर्वश्रेष्ठ है।

अनुभाष्य

२५१। (भाः २/२/३६)—"तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा। श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवन्नृणाम्॥"

(९) राधाकृष्णपादपद्म ही एकमात्र ध्येय—

'ध्येय-मध्ये जीवेर कर्त्तव्य कोन् ध्यान?'
'राधाकृष्णपदाम्बुज-ध्यान—प्रधान॥'२५२॥

२५२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—'सब प्रकार के ध्यानों में से किसका ध्यान करना जीवों का कर्त्तव्य है?' श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—'श्रीराधा-कृष्ण के चरणकमलों का ध्यान करना ही जीवों का प्रधान कर्त्तव्य है।

अनुभाष्य

२५२। (भा: १/२/१४)—"तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्त्वतां पतिः। श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥"

(१०) व्रज ही एकमात्र वास स्थान—

'सर्व त्यजि' जीवेर कर्तव्य काँहा वास?'
'श्रीवृन्दावनभूमि—जाँहा नित्य-लीलारास॥'२५३॥

२५३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—'सबकुछ त्याग करके जीवों के लिये कहाँ पर वास करना कर्त्तव्य है?' श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—'वृन्दावनभूमि जहाँ श्रीकृष्ण नित्य रास-लीला करते हैं।'

अनुभाष्य

२५३। (भा: १०/४७/६१)—"आसामहो चरणरेणु-जुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्म-लतौषधि नाम्। या दुस्त्यज्यं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुति-भिर्विमृग्याम्॥"

(११) श्रीकृष्ण ही एकमात्र श्रोतव्य—

'श्रवण-मध्ये जीवेर कोन् श्रेष्ठ श्रवण?'
'राधाकृष्ण-प्रेमलीला कर्ण-रसायन॥'२५४॥

२५४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—'समस्त प्रकार के श्रवण करने योग्य विषयों में से कौन से विषय का श्रवण करना जीवों के लिये सर्वश्रेष्ठ है?' श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—'राधाकृष्ण की प्रेम केलि का श्रवण ही कर्ण-रसायन है।'

अनुभाष्य

२५४। (भा: १०/३०/३९)—"विक्रीडितं व्रजवधू-भिरिदञ्च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः। भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्य-चिरेण धीरः॥"

(१२) हरेकृष्ण-नाम ही एकमात्र कीर्त्तनीय—

'उपास्येर मध्ये कोन् उपास्य प्रधान?'
'श्रेष्ठ उपास्य—युगल 'राधाकृष्ण' नाम॥'२५५॥

२५५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—'उपास्य वस्तुओं में से कौन-सा उपास्य प्रधान है? श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—'राधाकृष्ण का युगल नाम ही सर्वश्रेष्ठ उपास्य है।'

अनुभाष्य

२५५। (भा: ६/३/२२)—"एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः। भक्तियोगा भगवति तन्नाम-ग्रहणादिभिः॥"

(१३) मुमुक्षु और बुभुक्षु की गति—

'मुक्ति, भुक्ति वाञ्छे जेइ, काँहा दुँहार गति?'
'स्थावरदेह, देवदेह जैछे अवस्थिति॥'२५६॥

२५६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—'जो मुक्ति और भुक्ति (अर्थात् भोग्य-वस्तुओं) की कामना करते हैं उनकी क्या गति होती है?' श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—'मुक्ति और भुक्ति की कामना करने वालों को क्रमशः स्थावर देह और देव देह की प्राप्ति होती है।'

अनुभाष्य

२५६। जड़भोग हीन मुक्तिवादी चरम अवस्था में चित् क्रियाहीन अर्थात् सुप्तचेतन स्थावर-देह और जड़भोग युक्त भुक्तिवादी परलोक में भोग करने के उपयोगी देव देह को प्राप्त करते हैं।

"मुक्त्यैः यः प्रस्तरत्वाय शास्त्रमुचे महामुनिः। गौतमं तं विजानीथ यथा विध्य तथैव सः।" यही बौद्ध मतवादियों के दर्शन का फल है।

(भा: ११/१०/२२)—"इष्ट्रेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकः याति याज्ञिकः। भुञ्जीत् देववत्तत्र भोगान् दिव्यान् निजा-र्जितान्॥" (भा: ४/२९/२९)—"देवो मनुष्यास्तिऽगवा

यथा कर्मगुणं भवः। और (गी. ९/२०) द्रष्टव्य।

२४४-२५६। २४४ सख्या से २५६ संख्या तक प्रश्नों के उत्तर में जड़वस्तु और अप्राकृत वस्तु के उच्च और निम्न होने का विचार करते हुए जड़ विचार की हेयता और जड़स्वार्थशून्य केवल कृष्ण तात्पर्य विशिष्ट अप्राकृत गोलोक की वस्तु अथवा विषय-समूह की श्रेष्ठता बतलायी गयी है।

ज्ञानी और भक्त के साधन का वैशिष्ट्य—

अरसज्ञ काक चुषे ज्ञान-निम्बफले।
रसज्ञ कोकिल खाय प्रेमाम्र-मुकुले॥२५७॥
अभागिया ज्ञानी आस्वादये शुष्क ज्ञान।
कृष्ण-प्रेमामृत पान करे भाग्यवान्॥२५८॥

२५७-२५८। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय ने कहा कि मुक्ति की वाञ्छा करने वाले ज्ञानी अरसज्ञ कौंवे की भाँति हैं, कौंवे जिस प्रकार नीम के फल को खाया करते हैं उसी प्रकार वे भी ज्ञान रूपी नीम के फल को खाते हैं। किन्तु जो रसज्ञ कोकिल के समान हैं वे प्रेम रूपी आम के मुकुलों का रसास्वादन करते हैं। दुर्भागे ज्ञानी नीरस शुष्कज्ञान का आस्वादन करते हैंऔर भक्त श्रीकृष्ण प्रेमामृत का पान किया करते हैं, इसलिये वे सबसे अधिक सौभाग्यशाली हैं।

अनुभाष्य

२५७। 'ज्ञान'—नीम के फल (निम्बोली) के समान, अस्वादन के अयोग्य, कर्कशतर्क में निष्ठा रखने वाले कौओं के जैसी अवस्था वाले जीवों के लिये भक्ष्य; किन्तु 'प्रेम' रूपी आम के मुकुल का आस्वादन—प्रिय और अत्यधिक मीठा है, वह—रस का आस्वादन करने वाले कोकिल सरीखे कृष्ण भक्तों के लिये ही आस्वादनीय है।

अनुभाष्य

२५८। नीरस ज्ञान ही दुर्भागे ज्ञानियों के भाग्य में (लिखी) आस्वादनीय वस्तु है; और सरस कृष्णप्रेम रूपी अमृत ही भाग्यवान् भक्तों के पान करने योग्य वस्तु है।

कृष्ण कथा की आलोचना में ही दोनों की रात्रि व्यतीत—

एइमत दुइ जन कृष्णकथा-रसे।
नृत्य-गीत-रोदने हैल रात्रि-शेषे॥२५९॥
दोंहे निज-निज-कार्ये चलिला विहाने।
सन्ध्याकाले राय आसि' मिलिला आर दिने॥२६०॥

२५९-२६०। प० अनु—इस प्रकार दोनों के द्वारा कृष्णकथा के रस में निमग्न होकर नृत्य-गीत और क्रन्दन करते हुये रात व्यतीत हो गयी। सुबह होते ही दोनों अपना-अपना कार्य करने चले गये और सन्ध्या के समय फिर से श्रीरामानन्द राय श्रीचैतन्य महाप्रभु से आकर मिले।

अनुभाष्य

२६०। विहाने—पूर्वबङ्ग और पश्चिम भारत (की हिन्दी भाषा) में अभी भी 'प्रातःकाल'—शब्द के बदले चलती भाषा में यह शब्द व्यवहार किया जाता है।

दूसरे दिन प्रभु के चरणों में राय का निवेदन, शुद्ध हृदय में उदित होने के कारण प्रभु का स्व-प्रकाशत्व—

इष्ट-गोष्ठी कृष्णकथा कहि' कतक्षण।
प्रभुपद धरि' राय करे निवेदन॥२६१॥
"कृष्णतत्त्व' 'राधातत्त्व' प्रेमतत्त्वसार'।
'रसतत्त्व' 'लीलातत्त्व' विविध प्रकार॥२६२॥
एत तत्त्व मोर चित्ते कैले प्रकाशन।
ब्रह्माके वेद जेन पड़ाइल नारायण॥२६३॥
अन्तर्यामी ईश्वरेर एइ रीति हये।
बाहिरे ना कहे, वस्तु प्रकाशे हृदये॥२६४॥

२६१-२६४। प० अनु०—कुछ समय तक कृष्ण कथा की आलोचना करने के बाद श्रीरामानन्द राय ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों को पकड़कर निवेदन किया—"कृष्णतत्त्व, राधातत्त्व, प्रेमतत्त्वसार, रसतत्त्व लीलातत्त्व आदि अनेक प्रकार के तत्त्वों को आपने ही मेरे चित्त में ऐसे प्रकाशित किया है जैसे श्रीनारायण ने ब्रह्मा को वेदों का ज्ञान प्रदान किया था। अन्तर्यामी ईश्वर की यही रीति होती है कि वे किसी भी वस्तु को

बाहर प्रकाशित न करके भक्तों के हृदय में ही उस वस्तु को प्रकाशित कर देते हैं।

अनुभाष्य

२६३। ब्रह्मा के हृदय में भगवान् द्वारा वेदों का प्रकाशन, (श्वे: उ: ६/१८)—"यो ब्रह्मानां विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं हे देव मात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥" एवं भा: २/९/३०-३५, ११/१४/३, १२/४/४० और १२/१३/१९ आदि द्रष्टव्य है।

२६४। इसके द्वारा श्रीगौरसुन्दर ही गायत्री के प्रतिपाद्य बुद्धि वृत्ति के प्रवर्त्तक भर्गोदेव है, यही कहा जा रहा है; यथा (भा: २/४/२२)—"प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि। स्वलक्षणा प्रादुरभूत: किलास्यत: स मे ऋषिणामृषभ: प्रसीदताम्॥

चिद्‌विलासमय परमेश्वर-वस्तु
का निरूपण और ध्यान—
श्रीमद्‌भागवत (१/१/१)—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥२६५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२६५। इस विश्व का जन्म, स्थिति और लय जिस तत्त्व से हुआ है, कहकर निश्चित होता है, अन्वय-व्यतिरेक द्वारा विचार करने पर जो समस्त अर्थ अथवा व्यापार में एकमात्र परम 'ज्ञ-तत्त्व' अर्थात् 'स्वरूपतत्त्व' के रूप में स्थिर होते हैं; जो दृश्यमान जगत् में एकमात्र स्वराट् अर्थात् स्वतन्त्र राजा है; जिन्होंने आदिकवि ब्रह्मा को अन्तर्यामी के रूप में ब्रह्म तत्त्व की शिक्षा दी है; जिनके प्रति समस्त बुद्धिमान् पण्डितों में मुहुर्मुहु (बारम्बार) मोह उत्पन्न होता है; जिनमें तेजोवारि-मृत्तिका (अग्नि, जल और मिट्टी) आदि भूतों का विनमय अर्थात् पृथक् रूप में सत्ता है; जिनमें तीन प्रकार की सृष्टि अर्थात् चिद् उदय रूप सृष्टि, जीव-प्राकट्य रूप सृष्टि और मायिक ब्रह्माण्ड रूप सृष्टि—सत्यरूप में वर्त्तमान है; उन्हीं आत्म शक्ति द्वारा नित्य-कुहक-शून्य परमसत्य तत्त्वरूपी श्रीकृष्ण का हम ध्यान करते हैं।

अनुभाष्य

२६५। यत: (यस्मात् शक्तिमत:) अस्य (विश्वस्य जन्मादि जन्म स्थिति भङ्गा:)—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुति में, "जन्माद्यास्य यत:" इतिन्यायात् (ब्र: सू: १/१/२) अन्वयात् इतरतश्च (अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां भवति); य: अन्वयात् अर्थेषु (चिन्मयरूप-रसगन्धशब्दस्पर्श-योग्य-व्यापारेषु) अभिज्ञ: (आसक्त:) व्यतिरेकात् अर्थेषु (जड़रूपरसगन्धशब्दस्पर्शयोग्य विषयेषु) अभिज्ञ: (असंस्पृष्ट:) सन् स्वराट् (स्वेन एव राजते य: स्वप्रकाश:); यत् (यस्मिन् परमसत्ये) सुरय: (ब्रह्मादय:—दशमे ब्रह्ममोहनात्, देवा:—तलवकार श्रुते:; ब्राह्मणादय: मुनयश्च दत्तात्रेय-दुर्वासो-वशिष्ठ- शङ्कर-विद्यारण्यादय:—'दैवाहतार्थ रचना" इति भा: ३/९/१० वचनात्) अपि मुह्यन्ति (मोहं प्राप्नुवन्ति परमसत्य निर्द्धारणे असमर्था: भवन्ति); तत् ब्रह्म (तत्वं—"वदन्ति तत्तत्व विद:" इत्यादे:) आदिकवये (ब्रह्मणे), हृदा (मनसि-त्रया प्रबुद्ध' इति ब्रह्मसंहिता-वचनात्) य: तेने (प्रकाशितवान्); यथा तेजोवारिमृदां विनिमय: (व्यत्यय: अन्यस्मिन् अन्यावभास: तथा) त्रिसर्ग: (त्रयाणां रजस्तम:सत्त्वानां नश्वर: सर्ग:, पक्षान्तरे, अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग-तटस्थ-शक्ति त्रयाणां नित्यप्रकाश:) यत्र (परम सत्ये भगवत् स्वरूपे सच्चिदानन्द-विग्रहाद्वय-ज्ञाने) अमृषा (सत्य:); स्वेन् धाम्ना (अप्राकृतान्त-रङ्गसन्धि-न्यादि-तद्रूप-वैभवेन बलेन) सदा निरस्तकुहकं (निरस्त व्युदस्तं माया-लक्षणं कुहकं यस्मिन् त) सत्यं (सत्य-स्वरूपं सनातन) परं (सर्वस्मात् परं परमेश्वर) धीमहि (वयं ध्यायेम:)। विशेष रूप से जानने के लिये श्रीमद्भागवत का गौड़ीय भाष्य द्रष्टव्य है।

राय का संशय—

एक संशय मोर आछये हृदये।
कृपा करि' कह मोरे ताहार निश्चये॥२६६॥

२६६। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय ने कहा—"मेरे हृदय में एक संशय है। कृपा करके आप उस संशय को दूर कीजिए।

राय के निकट प्रभु के स्वरूप का आविर्भाव—

पहिले देखिलुँ तोमार संन्यासी-स्वरूप।
एबे तोमा देखि मुञि श्याम-गोपरूप॥२६७॥

२६७। प० अनु०—पहले मैंने आपको संन्यासी के रूप में देखा और अब मैं आपको श्याम वर्ण के गोप के रूप में देख रहा हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

२६७-२७३। प्रभो, आपको मैंने पहले एक संन्यासी के जैसा देखा; अब आपको श्यामगोप के रूप में देख रहा हूँ। पुनः तुम्हारे सामने एक सोने की पुतली देख रहा हूँ। यद्यपि उस पुतली ने गौरकान्ति द्वारा आपकी पूरी देह को आवृत्त किया है, तथापि आपका रङ्ग प्रकट रूप में ही प्रतीत हो रहा है; पुनः, आपका बाँया नेत्र अनेक प्रकार से चञ्चल है। प्रभो, आपके ऐसे चमत्कारमय भाव का कारण क्या है, उसे अकपट अर्थात् सच-सच बतलाईये। प्रभु ने कहा,—जिनका कृष्ण में गाढ़ प्रेम है, वे—उत्तम भागवत है; उनके प्रेम का स्वभाव यह है कि, वे स्थावर-जङ्गम, जो कुछ भी देखते हैं, उनमें स्थावर-जङ्गम की मूर्त्ति न देखकर सर्वत्र (अपने) इष्टदेव की स्फूर्त्ति रूपी श्रीकृष्णभाव को ही देखते हैं।

अनुभाष्य

२६७। अर्थात् "रसराज महाभाव,—दुई एक रूप" (२४२ संख्या)। संन्यासी-स्वरूप—नित्य कृष्ण विरह जनित अधिरूढ़-महाभावमय नित्य विरागी अथवा तापस-स्वरूप।

राय को राधाभावद्युति-सुवलित गौरसुन्दर का दर्शन—

तोमार सन्मुखे देखि काञ्चन-पञ्चालिका।
ताँर गौरकान्त्ये तोमार सर्व अङ्ग ढाका॥२६८॥
ताहाते प्रकट देखि स-वंशी वदन।
नाना भावे चञ्चल ताहे कमल-नयन॥२६९॥

२६८-२६९। प० अनु०—अब आपके सामने एक काञ्चन-पञ्चालिका (स्वर्ण प्रतिमा) को देख रहा हूँ जिसकी गौर कान्ति से आपका सारा अङ्ग ढ़का हुआ है। गौरकान्ति से आपके अङ्गों के ढ़के होने पर भी मैं आपके उस वंशीयुक्त मुखकमल को देख पा रहा हूँ, आपके मुख पर वंशी भी स्पष्ट देख रहा हूँ और अनेक प्रकार के भावों के द्वारा चञ्चल नेत्रकमल को भी देख पा रहा हूँ।

अनुभाष्य

२६७-२६८। आदि तृतीय परिच्छेद ८६-८९ संख्या द्रष्टव्य है।

स्वयं प्रभु से ही राय के द्वारा गौररूप के कारण की जिज्ञासा—

एइमत तोमा देखि' हय चमत्कार।
अकपटे कह, प्रभु, कारण इहार॥२७०॥

२७०। प० अनु०—इस प्रकार आपको देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। इसलिये हे प्रभो! कपट छोड़कर मुझे इसका कारण बताइये।

राय को 'महाभागवत' कहकर उनकी प्रशंसा द्वारा स्वयं का गोपन करने की चेष्टा—

प्रभु कहे,—कृष्णे तोमार गाढ़प्रेम हय।
प्रेमार स्वभाव एइ जानिह निश्चय॥२७१॥

२७१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरामानन्द राय से कहा—"श्रीकृष्ण के प्रति आपके हृदय में गाढ़ प्रेम है और आप निश्चय रूप से जान लो कि प्रेम का स्वभाव ही ऐसा होता है।

महाभागवत अथवा वैष्णव
अथवा परमहंस का दर्शन—

महाभागवत देखे स्थावर-जङ्गम।
ताँहा ताँहा हय ताँर श्रीकृष्ण-स्फुरण॥२७२॥
स्थावर-जंगम देखे, ना देखे तार मूर्ति।
सर्वत्र हय ताँर इष्टदेव-स्फूर्ति॥२७३॥

२७२-२७३। प॰ अनु॰—महाभागवत जहाँ-जहाँ भी स्थावर जङ्गम जिसे देखते हैं उन्हें वहाँ-वहाँ पर श्रीकृष्ण की ही स्फूर्त्ति होती है। वे बाहरी रूप से स्थावर-जङ्गम को तो देखते है किन्तु वास्तव में वे उनकी मूर्त्ति अर्थात् उनके रूप को नहीं देखते, उन्हें तो सर्वत्र ही अपने इष्टदेव की स्फूर्त्ति होती है।

सर्वत्र कृष्ण-कार्ष्ण-दर्शन—
श्रीमद्भागवत (११/२/४५)—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥२७४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२७४। जो उत्तम भागवत होते है, वे सभी प्राणियों में आत्मा के भी आत्म रूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को ही देखते हैं एवं आत्मा के आत्म स्वरूप श्रीकृष्ण में समस्त जीवों को देख पाते हैं।

अनुभाष्य

२७४। विदेहराज 'निमि' के त्रिविध भक्त अथवा भागवत के लक्षण, दर्शन, आचरण और उक्ति के सम्बन्ध में जानने की इच्छा करने पर उनके प्रश्न के उत्तर में नव-योगेन्द्रों में से अन्यतम (एक योगेन्द्र) 'हवि' ने कहा—

यः सर्वभूतेषु (चेतनाचेतात्मकेषु सर्वेषु) आत्मनः (भोगजड़ातीतस्य अप्राकृतस्य) भगवदद्भावं (भूतानां भगवत् सेवोपयोगिसिद्धस्वरूपादिकं) पश्येत्, आत्मनि भगवति (निजसिद्ध रूपेण अप्राकृत नित्यसेवा पराणि) भूतानि पश्येत, (सः) एषः भागवतोतमः (अप्राकृत भावप्राबल्येन महाभागवताः सर्वत्र सेव्य-सेवक-भावावस्थिताः कृष्ण कार्षणान् पश्यन्ति, बहिर्दुष्टेर भावात्)।

कृष्णसेवामय चित्त में सर्वत्र चेतना
अथवा कृष्णसेवावृत्ति का दर्शन—
श्रीमद्भागवत (१०/३५/९)—

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं
व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः
प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म॥२७५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२७५। पुष्प और फलों से लदी हुई वन लता और भाव द्वारा झुके हुए समस्त वृक्षों और प्रेम से पुलकित शरीर से युक्त समस्त वनस्पतियों ने आत्मगत कृष्ण को प्रकट करके मधु-धारा वर्षण किया था।

अनुभाष्य

२७५। दिन के समय कृष्ण के वन में जाने पर विरह सन्तप्त गोपियाँ परस्पर इस प्रकार गीत गाती थी—

(कृष्णवेणु-नादं श्रुत्वा) प्रणतभारविटपाः (भारावनत-तरवः) पुष्पफलाढ्याः (फल-कुसुमन्विताः प्रेमहृष्टतनवः (कृष्णप्रेमोत्फुल्लकलेवराः) वनलताः तरवः च आत्मनि (स्वीय विग्रहे) विष्णुं (विभु चैतन्य) व्यञ्जयन्त्यः (प्रकाशमानं सूचयन्त्यः) इव मधुधारा ववृषुः स्म।

वैष्णवों का सर्वोत्तम चरम दर्शन—

राधाकृष्णे तोमार महाप्रेम हय।
जाँहा ताँहा राधाकृष्ण तोमारे स्फुरय॥२७६॥

२७६। प॰ अनु॰—श्रीराधाकृष्ण के प्रति आपके हृदय में अत्यन्त प्रेम है इसलिये आपको यत्र-तत्र-सर्वत्र श्रीराधाकृष्ण की स्फूर्त्ति होती है।"

राय के द्वारा स्पष्ट रूप से प्रभु
के अवतार के उद्देश्य का कीर्त्तन—

राय कहे,—प्रभु तुमि छाड़ भारिभूरि।
मोर आगे निजरूप ना करिह चूरि॥२७७॥
राधिकार भावकान्ति करि' अङ्गीकार।
निजरस आस्वादिते करियाछ अवतार॥२७८॥

निज-गूढ़कार्य तोमार—प्रेम आस्वादन।
आनुषङ्गे प्रेममय कैले त्रिभुवन॥२७९॥

२७७-२७९। प॰ अनु॰—श्रीरामानन्द राय ने कहा—'हे प्रभो! अब आप अपनी चातुरी को छोड़ दीजिए अर्थात् बातों के जाल में मुझे न फसायें और मेरे सामने अपने स्वरूप को गोपन मत कीजिये। श्रीराधिका की भाव और कान्ति को अङ्गीकार करके आपने अपने रस को आस्वादन करने के लिये ही अवतार ग्रहण किया है। इस रूप में आपके अवतरित होने का गूढ़ कारण आश्रीय जातीय प्रेम का आस्वादन करना है तथा उसके आनुषङ्गिक फल से आपने त्रिभुवन को प्रेममय बना दिया है।

अनुभाष्य

२७७-२७९। भक्तों के द्वारा भगवान् की लीला को जानने वाले के सम्बन्ध में आदि तृतीय परिच्छेद ८६-८९ संख्या एवं आदि प्रथम परिच्छेद के पञ्चम श्लोक के तात्पर्य के सम्बन्ध में आदि चतुर्थ परिच्छेद द्रष्टव्य।

प्रभु के द्वारा अपने को गोपन करना
अथवा छलना पूर्वक राय का अनुयोग—

आपने आइले मोरे करिते उद्धार।
एबे कपट कर,—तोमार कोन् व्यवहार॥"२८०॥

२८०। प॰ अनु॰—यद्यपि आप मेरा उद्धार करने के लिये ही यहाँ पर आये हैं। किन्तु अब कपटता करके अपने स्वरूप को छिपा रहे हैं; यह आपका कैसा व्यवहार है?"

प्रभु के द्वारा राय को स्वयं के
श्याम और गौररूप का प्रदर्शन—

तबे हासि' ताँरे प्रभु देखाइल स्वरूप।
'रसराज', 'महाभाव'—दुइ एक रूप॥२८१॥

२८१। प॰ अनु॰—तब मन्द-मन्द मुस्कराते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरामानन्द राय को अपने स्वरूप का दर्शन कराया। रसराज रूप श्रीकृष्ण और महाभावरूपा श्रीराधा—दोनों मिलित होकर जो एकतत्त्व है, उस रूप को दिखलाया।

अमृतप्रवाह भाष्य

२८१। रसराज रूप श्रीकृष्ण एवं महाभाव रूपा श्रीमती राधिका,—दोनों मिलकर जो एकतत्त्व हैं, वही स्वरूप दिखलाया—अर्थात् "राधाभावद्युति सुवलित श्रीकृष्ण स्वरूप' दिखलाया। इससे एक तत्त्व ही दो एवं दो तत्त्व ही एक, ऐसा एक अपूर्व स्वरूप दिखलाया। जो श्रीकृष्णचैतन्य तत्त्व और राधाकृष्ण तत्त्व जानने में समर्थ होते हैं, वही श्रीस्वरूप गोस्वामी की कृपा से उस नित्य स्वरूप की सेवा कर पाते हैं।

राय की आनन्द-मूर्च्छा—

देखि' रामानन्द हैला आनन्दे मूर्च्छिते।
धरिते ना पारे देह, पड़िला भूमिते॥२८२॥

२८२। प॰ अनु॰—इस दिव्य स्वरूप को देखकर श्रीरामानन्द राय आनन्द में मूर्च्छित हो गये। वे अपने शरीर को सम्भाल ना पाये और अचेतन होकर भूमि पर गिर पड़े।

चेतनता प्राप्त होने पर प्रभु के
संन्यास वेश के दर्शन से विस्मय—

प्रभु ताँरे हस्त स्पर्शि, कराइला चेतन।
संन्यासीर वेष देखि' विस्मित हैल मन॥२८३॥

२८३। प॰ अनु॰—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरामानन्द राय को अपने हाथों का स्पर्श कराकर उन्हें चेतन कराया और श्रीरामानन्द राय ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को संन्यासी वेश में देखा। उसे देखकर वे विस्मित हो गये।

प्रभु के द्वारा राय को सान्त्वना, अपने कृष्ण स्वरूपत्व
और राधाभावद्युतिमयत्व के उद्देश्य आदि समस्त गूढ़
कारणों का अकपट रूप से ज्ञापन—

आलिङ्गन करि' प्रभु कैल आश्वासन।
तोमा बिना—एइरूप ना देखे अन्यजन॥२८४॥

मोर तत्त्वलीला-रस तोमार गोचरे।
अतएव एइरूप देखाइलुँ तोमारे॥२८५॥
गौर अङ्ग नहे, मोर—राधाङ्ग-स्पर्शन।
गोपेन्द्र सुत बिना तेंहो ना स्पर्शे अन्यजन॥२८६॥
ताँर भावे भावित करि' आत्म-मन।
तबे निज-माधुर्य करि आस्वादन॥२८७॥
तोमार ठाञि आमार किछु गुप्त नाहि कर्म।
लुकाइले प्रेम-बले जान सर्व मर्म॥२८८॥

२८४-२८८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरामानन्द राय को आलिङ्गन करके उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—"आपके अतिरिक्त और किसी ने भी इस रूप को नहीं देखा। मेरा लीला तत्त्व आप जानते हो। इसलिये मैंने आपको अपना यह रूप दिखलाया है। मेरा गौर वर्ण नहीं है, परन्तु श्रीराधा के अङ्ग स्पर्श से यह गौर हो गया है। श्रीराधा गोपेन्द्रसुत श्रीनन्दनन्दन के अतिरिक्त किसी और का स्पर्श नहीं करती हैं। उनके भावों में अपने मन एवं आत्मा को विभावित करके ही मैं इस प्रकार अपने माधुर्य का आस्वादन कर रहा हूँ। आपसे मेरा कुछ भी छिपा हुआ नहीं है। मेरे द्वारा अपने स्वरूप को गोपन करने का प्रयत्न करने पर भी आप अपने प्रेम के प्रभाव से सब रहस्यों को जानते हो।

अमृतप्रवाह भाष्य

२८६-२८७। हे रामानन्द, तुम मुझे अलग एक 'गौर पुरुष' के रूप में देख रहे हो, मैं वह नहीं हूँ; मैं वही गोपेन्द्र-नन्दन-श्रीकृष्ण, राधा-अङ्ग-स्पर्शन-रूपी मेरा यह गौर भाव ही नित्य है। कृष्ण के अतिरिक्त और किसी (भी पुरुष) को राधिका स्पर्श नहीं करती। श्रीराधिका के भाव में अपने स्वरूप और मन को भावित करके मैं अपने कृष्ण माधुर्य रस का आस्वादन करता हूँ।

अनुभाष्य

२८६। प्राकृत सहजिया-सम्प्रदाय 'गौर-अङ्ग नहीं है' कथा द्वारा गौर और कृष्ण में पृथक् बुद्धि करते हैं, वस्तुतः दोनों ही स्वयं रूप-विग्रह अर्थात् गौर ही 'कृष्ण-स्वरूप में' सम्भोग रस नागर अथवा विषय-विग्रह, पुनः कृष्ण ही 'गौर स्वरूप' में विप्रलम्भ रस में आश्रय विग्रह-श्रीराधिका-भावकान्तिमय श्रीकृष्णचैतन्य। अप्राकृत शृङ्गार-रसराज विग्रह 'धीर-ललित' नायक स्वयं रूप श्रीनन्दनन्दन के अतिरिक्त अन्य कोई भी विष्णु विग्रह कृष्ण की पूर्ण-चिच्छक्ति अथवा स्वरूप शक्ति महाभाव स्वरूपा श्रीराधिका के भोक्ता नहीं हो सकते; क्योंकि कृष्ण के अतिरिक्त अन्य समस्त विष्णु विग्रहों में शृङ्गार रस और धीर-ललित नायक के भाव का अभाव है एवं उनमें ऐश्वर्यभाव की प्रबलता है, इसलिये ही श्रीमती का नाम "गोविन्दानन्दिनी राधा गोविन्दमोहिनी। गोविन्द सर्वस्वा, सर्वकान्ता शिरोमणि' है॥ (आदि चतुर्थ परिच्छेद ८२ संख्या)।

२८४-२८८। आदि चतुर्थ परिच्छेद द्रष्टव्य।

गूढ़ भजन की कथा सर्वत्र अप्रकाश्य—

गुप्ते राखिह, काँहा ना करिह प्रकाश।
आमार वातुल-चेष्टा लोके उपहास॥२८९॥

२८९। प० अनु०—इन सब विषयों को आप गुप्त ही रखना, किसी के सामने इन्हें प्रकाशित मत करना। क्योंकि मेरी चेष्टाएँ लोगों को उन्माद की भाँति प्रतीत होती है, अतएव वे उपहास कर सकते हैं।

प्रभु और राय, दोनों ही आश्रय के भाव में प्रमत्त—

आमि—एक वातुल, तुमि—द्वितीय वातुल।
अतएव तोमाय-आमाय हइ समतुल॥"२९०॥

२९०। प० अनु०—मैं एक उन्माद ग्रस्त व्यक्ति हूँ और आप भी एक उन्माद ग्रस्त व्यक्ति हैं, इसलिये हम दोनों ही एक समान हैं।

अनुभाष्य

२८९-२९०। यह सब बात तर्कनिष्ठ-जगत में उनकी केवल जड़ वस्तुओं में आसक्ति के कारण हास्य का विषय होगा, अतएव तुम इसको अनुपयुक्त-पात्र के समक्ष प्रकाशित मत करना। कृष्णप्रेम में मत्त होने से तर्कनिष्ठ

सांसरिक जड़चेष्टाएँ कम हो जाती है और रागानुगा-भाव की प्रेम चेष्टाएँ साधारण भोगपरायण दृष्टिकोण से 'पागलपन' मात्र लगती है। जड़ीय विचार से मैं भी पागल और तुम भी पागल,—दोनों में एक समानता रहने से हम दोनों ही कृष्ण-प्रेम की कथा में मत्त है,—कृष्ण के अतिरिक्त जड़रस के रसिक दूसरों के उपहास के पात्र हैं।

प्रभु का राय के साथ दस दिन तक वास—

एइरूप दशरात्रि रामानन्द-सङ्गे।
सुखे गोङाइला प्रभु कृष्णकथा-रङ्गे॥२९१॥

२९१। प० अनु०—इस प्रकार दस रातों तक श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सुखपूर्वक श्रीरामानन्द राय के साथ कृष्णकथा के प्रसङ्गों की आलोचना की।

प्रभु और रामानन्द-संवाद—एक बृहद् धातु का खान, उसके मूल्य के भेद से बहुत सी धातुओं का प्रकाश—

निगूढ़ व्रजेर रस-लीलार विचार।
अनेक कहिल, तार ना पाइल पार॥२९२॥

२९२। प० अनु०—रामानन्द राय के साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु ने व्रज लीला रस के अत्यन्त गूढ़ तत्त्वों का विचार किया। यद्यपि उन्होंने अनेक आलोचना की, तब भी उसका पार नहीं पा पाये।

अप्राकृत पञ्चरस की उपमा—

तामा, काँसा, रूपा, सोना, रत्नचिन्तामणि।
केह यदि काँहा पोता पाय एक-खानि॥२९३॥
क्रमे उठाइते, सेह उत्तम वस्तु पाय।
ऐछे प्रश्नोत्तर कैल प्रभु-रामराय॥२९४॥

२९३-२९४। प० अनु०—यह आलोचना ताँबा, काँसा, चाँदी, सोना और चिन्तामणि नामक रत्न की खान की भाँति है। किसी को यदि इन धातुओं में से एक भी धातु पृथ्वी में मिल जाये, तो क्रमशः उसे निकालते रहने पर उस व्यक्ति को श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर वस्तु की प्राप्ति होती है। श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं श्रीरामानन्द राय के प्रश्न और उत्तर भी ठीक उसी प्रकार से हुए थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

२९३। श्रीरामानन्द राय ने श्रीमहाप्रभु के प्रश्न का पहले पाँच (इसी परिच्छेद की ५७ संख्या से ६७ पर्यन्त) उत्तर दिये। उनका पहला उत्तर—ताँबे के समान साधारण धातु; दूसरा—काँसा के समान उससे उत्कृष्ट धातु; तीसरा—चाँदी के समान उससे उत्कृष्ट धातु; चौथा—सर्वोत्कृष्ट स्वर्ण-धातु। किन्तु पाँचवा—ज्ञानशून्य भक्ति; वही रत्न चिन्तामणि अथवा साध्य वस्तु,—जिसके प्रभाव से अन्य चार धातुएँ धातुत्व प्राप्त करती है। पुनः छटे उत्तर को (६८-८१ संख्या पर्यन्त) 'प्रथम' मानने से, उसके बाद एक-एक करके जो पाँच प्रेम विषयक उत्तर दिये हैं, उनमें भी वैसी ही तुलना समझनी चाहिए।

अनुभाष्य

२९३। व्रज में यमुना सलिल, बालु का तट, कदम्ब-वृक्ष आदि, गो-वेत्र-वेणु आदि शान्त-रस के विग्रह समूह, चित्रक-पत्रक-रक्तक आदि दास्य रस के विग्रह समूह, श्रीदाम-सुदाम आदि सख्य रस के विग्रह समूह, नन्द-यशोदा आदि वात्सल्य रस के विग्रह समूह एवं श्रीमती राधिका, ललिता आदि गोपरमणियाँ अपने-अपने रस में धनी है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर,—ये पाँचों उत्तरोत्तर ताँबा, काँसा, चाँदी, सोना और रत्न चिन्तामणि के तुल्य (समान) है।

पोता,—भूमि के गर्भ में स्थित।

राय से प्रभु के द्वारा विदाई ग्रहण और आदेश का ज्ञापन—

आर दिन राय-पाशे विदाय मागिला।
विदायेर काले ताँरे एइ आज्ञा दिला॥२९५॥

२९५। प० अनु०—अगले दिन श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरामानन्द राय से विदाई माँगी और विदाई के समय प्रभु ने उन्हें यह आज्ञा प्रदान की—

राय को नीलाचल जाने का आदेश और वहाँ पर पुनः मिलन पर कृष्ण कथा आलाप का सुयोग—

विषय छाड़िया तुमि जाह नीलाचले।

आमि तीर्थ करि' ताँहा आसिब अल्पकाले॥२९६॥
दुइजने नीलाचले रहिब एकसङ्गे।
सुखे गोङाइब काल कृष्णकथा-रङ्गे॥"२९७॥

राय का स्वगृह गमन—
एत बलि' रामानन्दे करि' आलिङ्गन।
ताँरे घरे पाठाइया करिल शयन॥२९८॥

२९६-२९८। प० अनु०—"आप समस्त विषयों को छोड़कर अर्थात् सब प्रकार के दायित्व से मुक्त होकर नीलाचल चले जाओ और मैं भी थोड़े समय में तीर्थ भ्रमण करके वहाँ जाऊँगा। तब हम दोनों एक साथ नीलाचल में रहकर सुखपूर्वक कृष्णकथा के प्रसङ्गों में अपना समय व्यतीत करेंगे। इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरामानन्द राय को आलिङ्गन किया और उन्हें घर भेजकर उस रात वहाँ विश्राम किया।

बजरङ्गजी के दर्शन करके प्रभु के द्वारा दक्षिण यात्रा—
प्रातःकाले उठि' प्रभु देखि' हनुमान्।
ताँरे नमस्करि' प्रभु दक्षिणे करिला प्रयाण॥२९९॥

२९९। प० अनु०—प्रातःकाल होते ही श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उठकर निकटस्थ मन्दिर में स्थित श्रीहनुमान जी का दर्शन किया और उन्हें प्रणाम करके दक्षिण भारत भ्रमण के लिये चल दिये।

अमृतप्रवाह भाष्य

२९९। हनुमान,—विद्यानगर में हनुमान की मूर्त्ति की पूजा होती है। उन गाँव के देवता को प्रणाम करके दक्षिण दिशा की ओर गये।

प्रभु के दर्शन से सम्पूर्ण विद्यानगर वासी में वैष्णवता—
'विद्यापुरे' नाना-मत लोक बैसे जत।
प्रभु-दर्शने 'वैष्णव' हैल, छाड़ि' निजमत॥३००॥

३००। प० अनु—विद्यापुर में अनेक मतावलम्बी लोग थे परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु का दर्शन कर उन्होंने अपने-अपने मत को त्याग दिया और सब वैष्णव बन गये।

अनुभाष्य

३००। विद्यापुरे,—विद्यानगर में।

प्रभु के विरह में राय की अवस्था—
रामानन्द हैला प्रभुर विरहे विह्वल।
प्रभुर ध्याने रहे विषय छाड़िया सकल॥३०१॥

३०१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के विरह में श्रीरामानन्द राय विह्वल हो गये और अपने समस्त जागतिक कार्यों को छोड़कर श्रीमन्महाप्रभु के ध्यान में निमग्न रहने लगे।

ग्रन्थ में प्रभु और रामानन्द संवाद का संक्षेप में वर्णन—
संक्षेपे कहिलूँ रामानन्देर मिलन।
विस्तारि' वर्णिते नारे सहस्र-वदन॥३०२॥

३०२। प० अनु०—(श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कह रहे हैं—) इस प्रकार मैंने संक्षेप में ही श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ श्रीरामानन्द राय के मिलन का वर्णन किया है, सहस्त्र मुख से तो शेष भी इसका विस्तार पूर्वक वर्णन नहीं कर सकते।

चैतन्य लीला, राय-चरित्र और राधाकृष्ण लीला का परस्पर सम्बन्ध एवं अति सौभाग्यशाली व्यक्ति का ही इस लीला में अधिकार और सुयोग—
सहजे चैतन्यचरित्र—घनदुग्धपूर।
रामानन्द-चरित्र ताहे खण्ड प्रचुर॥३०३॥
राधाकृष्णलीला—ताते कर्पूर मिलन।
भाग्यवान् जेइ, सेइ करे आस्वादन॥३०४॥
जे इहा एकबार पिये कर्णद्वारे।
ताँर कर्ण लोभे इहा छाड़िते ना पारे॥३०५॥

३०३-३०५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु का चरित्र गाढ़े दूध के समान है और श्रीरामानन्द राय के चरित्र ने मिश्री की भाँति उसमें मधुरता प्रदान की है। उसमें पुनः राधाकृष्ण के लीला रूपी कर्पूर का मिश्रण हुआ है। जो परम भाग्यवान् हैं वही इसका आस्वादन करते हैं। इस दूध का जो एक बार भी अपने कानों के

द्वारा पान करता है उसके कान बारम्बार इस अमृत के आस्वादन के लोभ से उन्मत्त होकर इसे और छोड़ नहीं पाते।

अमृतप्रवाह भाष्य

३०३-३०४। श्रीचैतन्य महाप्रभु का चरित्र घनावर्त्त दुग्ध स्वरूप है, रामानन्द का चरित्र उसमें खण्ड अथवा खाँड़ अर्थात् चीनी के समान है, एवं (उसमें) श्रीराधाकृष्ण की लीला-खण्ड से युक्त दूध में श्रीकर्पूर है।

अष्टम परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

प्रभु और रामानन्द राय के संवाद को
श्रवण करने के फल का वर्णन—

'रसतत्त्व-ज्ञान' हय इहार श्रवणे।
'प्रेमभक्ति' हय राधाकृष्णेर चरणे॥३०६॥
चैतन्येर गूढ़तत्त्व जानि इहा हैते।
विश्वास करि' शुन, तर्क ना करिह चित्ते॥३०७॥

३०६-३०७। प० अनु०—इस संवाद के श्रवण से रस-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है और श्रीश्रीराधाकृष्ण के चरणों में प्रेम भक्ति की प्राप्ति होती है। इस संवाद को सुनने से श्रीचैतन्य महाप्रभु के गूढ़-तत्त्व को जाना जा सकता है। इसलिये इस प्रसङ्ग को तर्क छोड़कर विश्वास पूर्वक श्रवण करना चाहिये।

भगवान् का अचिन्त्यभाव—तर्कातीत—

अलौकिक लीला एइ परम निगूढ़।
विश्वासे पाइये, तर्के हय बहुदूर॥३०८॥

३०८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की यह अलौकिक लीला परम निगूढ़ है, विश्वास के द्वारा उसकी वास्तविकता की उपलब्धि की जा सकती है, तर्क के द्वारा उसे नहीं समझा जा सकता।

निताई-गौर-अद्वैत के एकान्तिक
भक्तों को ही कृष्णप्रेम की प्राप्ति—

श्रीचैतन्य-नित्यानन्द-अद्वैत-चरण।
जाँहार सर्वस्व, ताँरि मिले एइ धन॥३०९॥

३०९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु और श्रीअद्वैताचार्य प्रभु के चरणकमल ही जिनके सर्वस्व हैं वे ही इस धन को प्राप्त करते हैं।

अनुभाष्य

३०७-३०९। "विश्वासे मिलये कृष्ण, तर्के बहु दूर" अर्थात् विश्वास रूपी श्रद्धापूर्वक क्रम का अवलम्बन करने से ही इस लोकातीत परम-गोपनीय वास्तव-वस्तु श्रीकृष्णलीला की अनुभूति होती है। यह अश्रौतपन्थी, वास्तव सत्य के प्रति संशयशील सेवा-विमुख जीवों के सङ्कल्प-विकल्पात्मक मनोधर्म से उत्पन्न और स्वेच्छा अनुसार गठन योग्य कल्पना अथवा 'ख्याल' (विचार) नहीं है। जड़ीय तर्क का अवलम्बन करने से जड़ीय भोग प्रवृत्ति की प्रचुरता होने पर चिन्मय लीला दूर रहती है; यथा—(कठोपनिषद के प्रथम अध्याय द्वितीय वृष्टिः नवम)—"नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।" मुः उः तृतीय मुः; द्वितीय खः, तृतीय मः)— "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥" (ब्रः सूः २/१/११)—"तर्काप्रतिष्ठानात्"। मनुष्य प्राकृत लौकिक विचार पूर्ण ज्ञान की सहायता से अलौकिक तत्त्व को समझने का प्रयास करने पर वस्तु से बहुत दूर हो जाता है, क्योंकि, यहाँ पर विचारणीय विषय (कृष्णप्रेमरस)—अलौकिक है; उसको मन अर्थात् बुद्धि की सहायता से विचार करने जाकर जड़-सहजिया अथवा साहित्यिक वस्तु का विचार हुआ, ऐसा समझते हैं, वह—लौकिक है, अतएव उनका वैसा प्रयास—निरर्थक है। वैसे विचार का त्याग करके जो विष्णु तत्त्व में एकमात्र श्रद्धा विशिष्ट होते हैं, उनका सम्बन्धज्ञान ही—शुद्ध और अनायास प्राप्य होता है।

ग्रन्थकार द्वारा
राय की वन्दना—

रामानन्द राये मोर कोटी नमस्कार।
जाँर मुखे कैल प्रभु रसेर विस्तार॥३१०॥

दामोदर-स्वरूपेर कड़चा-अनुसारे।
रामानन्द-मिलन-लीला करिल प्रचारे॥३११॥
श्रीरूप-रघुनाथ पदे जार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥३१२॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्यखण्ड में रामानन्द राय-सङ्गोत्सव नामक अष्टम परिच्छेद समाप्त।

३१०-३१२। प० अनु०—मैं उन श्रीरामानन्द राय के श्रीचरणकमलों में कोटि-कोटि बार प्रणाम करता हूँ, जिनके मुख से श्रीचैतन्य महाप्रभु ने रस का विस्तार किया है। इस प्रकार मैंने श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी के कड़चा के अनुसार श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीरामानन्द राय के मिलन का वर्णन किया है। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्य-चरितामृत का गान कर रहा है।

अनुभाष्य

३११। ग्रन्थकार ने प्रायः प्रत्येक अध्याय के अन्त में इस प्रकार श्रौत-पन्था अर्थात् गुरु के प्रति अपनी अचल (अटल) निष्ठा प्रदर्शित कर रहे हैं। यह 'प्रभु-रामानन्द-मिलन' रूपी घटना श्रील स्वरूप दामोदर के कड़चे के अनुसार ही लिखी और वर्णित हुई है, यह प्राकृत लोगों की गुरुमुख से श्रवण के परित्याग से उत्पन्न स्वकपोल-कल्पित दाम्भिक चेष्टा नहीं है—यही ग्रन्थकार के प्रतिपादन (स्थापित) करने का उद्देश्य है।

अष्टम परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

✵✵✵

नवम परिच्छेद

कथासार—इस परिच्छेद में विद्यानगर से महाप्रभु गौतमी गङ्गा, मल्लिकार्जुन, अहोबल-नृसिंह, सिद्धवट, स्कन्द क्षेत्र, त्रिमठ, वृद्धकाशी, बौद्धस्थान, त्रिपति, त्रिमल्ल, पाना-नृसिंह, शिव काञ्ची, विष्णु काञ्ची, त्रिकालहस्ती, वृद्धकोल, शियाली भैरवी, कावेरीतीर, कुम्भकर्णकपाल, उसके बाद श्रीरङ्गक्षेत्र तक जाकर श्रीव्यङ्कट भट्ट को सपरिवार कृष्ण-भक्त बनाया। श्रीरङ्गम से ऋषभ पर्वत पर जाकर परामानन्द पुरी गोसाईं के साथ साक्षात्कार किया। श्रीपुरी गोस्वामी ने पुरुषोत्तम की यात्रा की एवं महाप्रभु सेतुबन्ध की ओर चल दिये। श्रीशैल पर्वत पर ब्राह्मण-ब्राह्मणी के वेश में अवस्थित शिव-दुर्गा के साथ बातचीत की। वहाँ से कामकोष्ठि पुरी को पार करके दक्षिण मथुरा में पहुँचे, वहाँ राम भक्त वैरागी ब्राह्मण के साथ वार्त्तालाप हुआ। बाद में कृतमाला में स्नान करके महेन्द्र पर्वत पर परशुराम के दर्शन किये। वहाँ से प्रभु सेतुबन्ध गये, वहाँ उन्होंने धनुस्तीर्थ में स्नान और श्रीरामेश्वर के दर्शन करके कूर्म पुराण के मायासीता से सम्बन्धित पुराने पत्रों (पन्नों) को संग्रह करके पूर्वोक्त रामदास ब्राह्मण को लाकर दिये। उसके बाद पाण्डुदेश में ताम्रपर्णी, बाद में नयत्रिपदी, चियड़तला, तिलकाञ्ची, गजेन्द्र-मोक्षण, पानागड़ि, चामतापुर, श्रीवैकुण्ठ, मलयपर्वत, धनुष्तीर्थ, कन्याकुमारी होकर मल्लार देश में उन्होंने भट्टथारी लोगों को देखा। उनके चंगुल से कालाकृष्णदास का उद्धार करके लाये। बाद में पयस्विनी के तट पर 'ब्रह्म संहिता' (पञ्चम अध्याय) संग्रह किया। वहाँ से पयस्विनी, शृङ्ग वेर-पुरी मठ, मत्स्यतीर्थ होकर उडुपी गाँव में मध्वाचार्य के गोपाल का दर्शन किया। तत्त्ववादियों को विचार में पराजित करके फल्गुतीर्थ, त्रितकूप, पञ्चाप्सरा, सूर्पारक, कोलापुर होकर पाण्डेरपुर पहुँचकर श्रीरङ्गपुरी से शङ्करारण्य की सिद्धि प्राप्ति (देह त्याग) के संवाद को सुना। कृष्णवेणवा के तट पर वैष्णव-ब्राह्मणों के समाज से श्रीविल्वमङ्गल-विरचित कृष्णकर्णामृत ग्रन्थ का संग्रह किया। वहाँ से ताप्ती, माहिष्मतीपुर, नर्मदा-तट, ऋष्यमूक पर्वत होकर दण्डकारण्य में सप्तताल का उद्धार किया। वहाँ से पम्पा-सरोवर, पञ्चवटी, नासिक, ब्रह्मगिरि, गोदावरी के जन्म स्थान कुशावर्त्त आदि बहुत से तीर्थों के दर्शन करके विद्यानगर में उपस्थित हुए। विद्यानगर से पूर्व दिशा वाले मार्ग से आलालनाथ के दर्शन करके श्रीक्षेत्र में उपस्थित हुए।

(अः प्रः भाः)

अवैष्णव मत ग्रस्त दक्षिण देशवासियों
का उद्धार करने वाले गौरहरि—

नानामतग्राहग्रस्तान दाक्षिणात्यजनद्विपान्।
कृपारिणा विमुच्यैतान् गौरश्चक्रे स वैष्णवान्॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। बौद्ध-जैन-मायावादी आदि अनेक प्रकार के मत रूपी मगरमच्छों से ग्रस्त गजेन्द्र स्थानीय दाक्षिणात्य वासी मनुष्यों को कृपा रूपी चक्र द्वारा गौरचन्द्र ने उद्धार करके वैष्णव बनाया था।

अनुभाष्य

१। सः गौरः नानामतग्राहग्रस्तान् (नानामतानि एव ग्राहाः नक्रकुम्भीरमकराः तैः ग्रस्तान् कवलितान्) दाक्षिणात्य-जनद्विपान् (दाक्षिणात्य जनाः एव द्विपाः हस्तिनः तान्) कृपारिणा (कृपा-चक्रेण तेभ्यः) विमुच्य (अवैष्णवमतवादात् उधृत्य) एतान् वैष्णवान् (कृष्ण-पूजारतान्) चक्रे।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो और श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो।

प्रभु की दक्षिण-यात्रा—

दक्षिणगमन प्रभुर अति विलक्षण।
सहस्र सहस्र तीर्थ कैल दरशन॥३॥

३। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु की दक्षिण यात्रा बड़ी ही विलक्षण है, जिस यात्रा में उन्होंने हजारों-हजारों तीर्थों का दर्शन किया था।

प्रभु के दर्शनों के फलस्वरूप
तीर्थों का भी तीर्थ होना और
उससे लोगों का उद्धार—

सेइ सब तीर्थ स्पर्शि, महातीर्थ कैल।
सेइ छले सेइ देशेर लोक निस्तारिल॥४॥

४। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सब तीर्थों को स्पर्श करके उन्हें महातीर्थ बना दिया और तीर्थ दर्शन के छल से प्रभु ने दक्षिण देश के समस्त लोगों का उद्धार किया था।

महाप्रभु के द्वारा बाँये-दाँये भ्रमण के
फलस्वरूप वर्णना में भोगोलिक क्रम
भङ्ग, यहाँ पर केवल दिग्दर्शन मात्र—

सेइसब तीर्थेर क्रम करिते ना पारि।
दक्षिण-वामे तीर्थ-गमन हय फेराफेरि॥५॥
अतएव नाम-मात्र करिये गणन।
कहिते ना पारि तार यथा अनुक्रम॥६॥

५-६। प० अनु—(श्रील कृष्णदास कविराज कह रहे हैं—) मैं उन सब तीर्थों का क्रमपूर्वक वर्णन नहीं कर पाऊँगा क्योंकि श्रीचैतन्य महाप्रभु कभी तो दायीं दिशा की ओर, तो कभी बाँयी दिशा की ओर जाते थे। अतएव मैं उन तीर्थों का नाम मात्र ही उल्लेख कर रहा हूँ, क्रमानुसार उन तीर्थों का वर्णन नहीं कर पाऊँगा।

प्रभु के दर्शन मात्र से लोगों में वैष्णवता—

पूर्ववत् पथे जाइते जे पाय दरशन।
जेई ग्रामे जाय, से ग्रामेर जत जन॥७॥
सबेइ वैष्णव हय, कहे 'कृष्ण' 'हरि'।
अन्य ग्राम निस्तारये सेइ 'वैष्णव' करि'॥८॥

७-८। प० अनु—पहले की भाँति श्रीचैतन्य महाप्रभु को मार्ग में चलते हुये जो व्यक्ति दर्शन करता था वे वैष्णव बन जाता, फिर जब वह अपने ग्राम में जाता तो सभी ग्रामवासियों को भी वैष्णव बना देता। इस प्रकार सभी वैष्णव होकर 'कृष्ण' 'हरि' कहने लगते तथा जब वे व्यक्ति अन्य ग्राम में जाते तो उन ग्रामवासियों को भी वैष्णव बनाकर उनका उद्धार कर देते।

उस समय दक्षिणदेश के लोगों की अवस्था—

दक्षिण देशेर लोक अनेक प्रकार।
केह ज्ञानी, केह कर्मी, पाषण्डी अपार॥९॥

९। प० अनु—दक्षिण देश में अनेक प्रकार के लोग थे। उनमें से कोई ज्ञानी तो कोई कर्मी था। इस प्रकार वहाँ बहुत से पाखण्डी थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

९। पाषण्डी,—शुद्धभक्तिविरुद्ध ज्ञानी और कर्मवादी।

प्रभु की कृपा से कर्मी, ज्ञानी और
पाषण्ड़ी को भी वैष्णवता की प्राप्ति—

सेइ सब लोक प्रभुर दर्शनप्रभावे।
निज-निज-मत छाड़ि' हइल वैष्णवे॥१०॥

१०। प० अनु—दक्षिण देश के वह सब लोग श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शन के प्रभाव से अपने-अपने मत को छोड़कर वैष्णव बन गये।

रामोपासक माधव और श्रीवैष्णवों
के द्वारा कृष्णभजन आरम्भ—

वैष्णवेर मध्ये राम-उपासक सब।
केह 'तत्त्ववादी', केह हय 'श्रीवैष्णव'॥११॥

सेइ सब वैष्णव महाप्रभुर दर्शने।
कृष्ण-उपासक हैल, लय कृष्णनामे॥१२॥

११-१२। प० अनु०—दक्षिण देश के वैष्णवों में कोई 'राम के उपासक', कोई 'तत्त्ववादी' और कोई 'श्रीवैष्णव' थे। वे सब वैष्णव भी श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शन से श्रीकृष्ण के उपासक बन गये तथा सभी कृष्णनाम का कीर्त्तन करने लग गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

११। राम-उपासक,—रामात् वैष्णवों के नाम से प्रसिद्ध। तत्त्ववादी,—माधव मत के तत्त्व को स्वीकार करके जो शुद्धद्वैतवाद स्थापित करते हैं। श्रीवैष्णव,—रामानुज सम्प्रदायी वैष्णव।

अनुभाष्य

११। तत्त्ववादी—श्रीमाधव वैष्णवों को श्रीशाङ्कर मायावादियों से पृथक् करने के उद्देश्य से माधव वैष्णवों को 'तत्त्ववादी' कहा जाता है। केवलाद्वैतवाद की कुयुक्तियों से पुष्ट निर्विशेष 'ब्रह्मवाद' का तत्त्ववादाचार्य खण्डन करके 'भगवद् तत्त्व' स्थापित करते हैं। माधव वैष्णवगण—ब्रह्मवैष्णव (ब्रह्म सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं), इसलिये आदि गुरु ब्रह्मा की (दशम स्कन्ध में वर्णित) मोहित अवस्था को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि श्रीमन्मध्वाचार्य ने स्वरचित 'भागवत तात्पर्य' टीका में इस 'ब्रह्म मोहन-लीला' का परित्याग किया है। श्रीमाधव वैष्णवों में अन्यतम श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने तत्त्ववाद के चरम उद्देश्य प्रेम भक्ति का प्रचार किया। गौड़ीय-वैष्णवों ने माधव होने पर भी 'तत्त्ववादी' संज्ञा प्राप्त नहीं की।

श्रीवैष्णव,—श्रीरामानुजीय सम्प्रदाय की मूल गुरु 'लक्ष्मी' होने के कारण वे 'श्रीवैष्णव' के नाम से जाने जाते हैं।

तत्त्ववादी श्रीकृष्ण के उपासक होने पर भी एवं श्रीवैष्णव लक्ष्मी-नारायण के उपासक होने पर भी, दोनों में ही श्रीरामचन्द्र की उपासना की प्रबलता देखी जाती है।

तत्त्ववादी सम्प्रदाय के वर्त्तमान काल के लेखक श्रीपद्मनाभाचार्य कहते हैं,—हमारे प्रधान-प्रधान श्रीमाधव मठों में श्रीराम-सीता के विग्रह ही विशेष रूप से पूजित होते हैं। 'अध्यात्म रामायण' नामक ग्रन्थ के द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश और पञ्चदश अध्याय में मूल श्रीराम-सीता की मूर्त्ति की कहानी इस प्रकार लिखी है—'किसी ब्राह्मण ने प्रतिज्ञा की कि, श्रीरामचन्द्र के प्रतिदिन दर्शन किये बिना वे किसी भी वस्तु को नहीं खायेंगे। एकबार श्रीरामचन्द्र किसी कार्य विशेष में व्यस्त रहने के कारण एक सप्ताह तक प्रजा के सामने आने में समर्थ नहीं हुए; इसलिये राम के दर्शन में निष्ठा रखने वाले ब्राह्मण ने उन सात दिनों में पानी की एक बूँद तक भी नहीं पी। अन्त में आँठवें दिन के बाद नौंवे दिन ब्राह्मण ने श्रीरामचन्द्र के निकट उपस्थित होकर उनके दर्शन प्राप्त किये। ब्राह्मण की निष्ठा को श्रवण करके श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण को आदेश दिया कि, उनके अपने घर में रखी हुई राम सीता की युगल मूर्त्ति इस वास्तविक ब्राह्मण को दी जाये।' ब्राह्मण लक्ष्मण से उन्हें प्राप्त करके अपने जीवन पर्यन्त उनकी सेवा करता रहा एवं शरीर त्यागते समय उसने उन श्रीविग्रहों को श्रीहनुमान को दे दिया। श्रीहनुमान ने दोनों विग्रहों को बहुत समय तक वक्षःस्थल पर धारण करके उनकी सेवा की। बहुत समय के बाद जब भीमसेन गन्धमादन पर्वत पर गये, वहाँ से विदायी के समय उन्होंने इन दोनों विग्रहों को भीमसेन को प्रदान किया। भीम ने राजमहल में उनको संरक्षित किया। उस राजवंश के अन्तिम राजा 'क्षेमाकान्त' के समय तक यह दोनों विग्रह राजमहल में ही सेवित हुए। बाद में वे उत्कल (उड़ीसा) के गजपति-राजाओं के हाथों में आये, तथा उन्हीं के राजकोष से उन मूल रामसीता के विग्रहों को संग्रह करके सेवा करने की अनुमति दी। यह राम सीता के विग्रह इक्ष्वाकु राजा के समय से सूर्यवंशीय राजाओं के महलों में रक्षित होकर रामचन्द्र के जन्म के पहले से ही दशरथ द्वारा सेवित होते थे। बाद में लक्ष्मण जब उन श्रीविग्रहों की सेवा करते थे, तब उन्होंने रामचन्द्र के आदेश से पूर्वोक्त ब्राह्मण को अर्पित किये थे।' श्रीमध्व ने अपने तिरोभाव से तीन मास सोलह दिन पहले इन

दोनों विग्रहों को प्राप्त करके उडुपी गाँव के मूल-मठ उतरराड़ी मठ में स्थापित किया, तब से श्रीमाध्व आचार्यगण उनके अधिकारी है।

रामानुजीय-सम्प्रदाय में श्रीरामायण-गुरु करण-पन्था अर्थात् श्रीरामायण को ही गुरु के रूप में स्वीकार करने की पद्धति प्रचलित है। श्रीराम मूर्त्ति तिरुपति और अन्यान्य स्थानों पर रामानुजीय भक्तों द्वारा पूजित हो रही है। रामानुजीय सम्प्रदाय से उत्पन्न 'रामानन्दी', 'जमायेत्' अथवा 'रामात्' सम्प्रदाय में श्रीराम-सीता की उपासना प्रबल रूप से प्रतिष्ठित हैं। रामानुजीय भक्त कृष्ण की अपेक्षा राम के अधिक अनुगत हैं।

मार्ग पर चलते हुये प्रभु के द्वारा गान—

राम! राघव्! राम्! राघव!
राम! राघव! पाहि माम्।
कृष्ण! केशव! कृष्ण! केशव!
कृष्ण! केशव! रक्ष माम्॥१३॥

१३। प० अनु०—'हे राम! हे राघव! आप मेरा पालन कीजिए! हे कृष्ण! हे केशव! आप मेरी रक्षा कीजिए।' श्रीचैतन्य महाप्रभु मार्ग में चलते हुये इस प्रकार गान कर रहे थे।

गोमती गङ्गा—

एइ श्लोक पथे पड़ि' करिला प्रयाण।
गौतमी-गङ्गाय जाइ' कैल गङ्गास्नान॥१४॥

१४। प० अनु०—उपरोक्त श्लोक का गान करते हुये श्रीचैतन्य महाप्रभु गौतमी-गङ्गा पर आये और वहाँ पर उन्होंने गङ्गा स्नान किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४। श्रील कविराज गोस्वामी ने जिस तीर्थ दर्शन का वर्णन किया है, उसमें भौगोलिक क्रम नहीं है, यह उन्होंने स्वयं भी स्वीकार किया है। गोविन्द दास द्वारा रचित कड़चे में (?) जो क्रम प्राप्त होता है, उसमें भौगोलिक विवरण के साथ बहुत कुछ मिलता है। पाठकवर्ग उसी ग्रन्थ का क्रम देखकर विचार करेंगे। गोविन्द दास के मतानुसार राजमाहेन्द्रि से महाप्रभु त्रिमन्दे गये थे और वहाँ से ढुगि (ढ़ोगी) राम-तीर्थ गये थे। इस ग्रन्थ के मतानुसार राजमाहेन्द्रि से गौतमी-गङ्गा जाकर मल्लिकार्जुन तीर्थ में गमन किया।

अनुभाष्य

१४। गौतमी गङ्गा,—गोदावरी की धारा-विशेष; राजमाहेन्द्रि के दूसरे तट पर गौतम-ऋषि का आश्रम होने के कारण (वहाँ) गोदावरी का नाम गौतमी-गङ्गा है।

मल्लिकार्जुन-तीर्थ में रामदास शम्भु का दर्शन—

मल्लिकार्जुन-तीर्थे जाइ' महेश देखिल।
ताँहा सब लोके कृष्णनाम लओयाइल॥१५॥

१५। प० अनु—वहाँ से श्रीचैतन्य महाप्रभु मल्लिकार्जुन नामक तीर्थ में गये और वहाँ उन्होंने श्रीमहादेव का दर्शन किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उस तीर्थ के सभी लोगों से कृष्ण नाम कीर्त्तन करवाया।

अनुभाष्य

१५। मल्लिकार्जुन,—श्रीशैलम्; कुर्णुलेर से ७० मील नीचे के प्रदेश में कृष्ण नदी के दक्षिण तट पर अवस्थित है। घिरी हुई चार दीवारी के ठीक बीच (केन्द्र बिन्दु वाले स्थान पर) प्रधान देवता 'मल्लिकार्जुन' शिव का मन्दिर है। यह शिवलिङ्ग ज्योतिर्लिङ्गों में से एक कहकर प्रसिद्ध है (कुर्णुल म्यानुयेल)।

अहोबल नृसिंह का दर्शन—

रामदास महादेवे करिल दरशन।
अहोबल-नृसिंहेरे करिला गमन॥१६॥

१६। प० अनु—रामदास नामक महादेव का दर्शन करने के बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु वहाँ से अहोबल नामक स्थान पर श्रीनृसिंह देव के दर्शन के लिये पहुँचे।

अनुभाष्य

१६। अहोबल नृसिंह,—मध्य, प्रथम परिच्छेद १०६ का अनुभाष्य दृष्टव्य।

सिद्धवट में राम और सीता के विग्रहों का दर्शन—

नृसिंह देखिया ताँरि कैल नति-स्तुति।
सिद्धवट गेला जाँहा मूर्त्ति सीतापति॥१७॥

१७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने नृसिंह भगवान् का दर्शन करके उनको प्रणाम करने के बाद उनकी स्तुति की। वहाँ से वे सिद्धवट नामक उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ सीतापति श्रीरामचन्द्र का विग्रह विराजमान है।

अनुभाष्य

१७। सिद्धवट,—कुडापा नगर के १० मील पूर्व में; 'सिघौट'—नाम का, एवं पहले किसी समय 'दक्षिण-काशी' के नाम से भी प्रसिद्ध था। 'आश्रम-वटवृक्ष' से इस नाम की उत्पत्ति हुई है (कुडापा म्यानुयेल)।

वहाँ पर राम के भक्त एक वैष्णव ब्राह्मण के द्वारा प्रभु को भिक्षा प्रदान—

रघुनाथ देखि' कैल प्रणति स्तवन।
ताँहा एक विप्र प्रभुर कैल निमन्त्रण॥१८॥
सेइ विप्र रामनाम निरन्तर लय।
'राम' 'राम' बिना अन्य वाणी ना कहय॥१९॥

१८-१९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने रघुनाथ अर्थात् भगवान् श्रीरामचन्द्र का दर्शन करके उन्हें प्रणाम कर उनका स्तव किया। वहीं पर एक ब्राह्मण ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को भोजन के लिये निमन्त्रण दिया, वह ब्राह्मण निरन्तर भगवान् राम का नाम उच्चारण किया करता था और राम नाम के बिना और कुछ भी उच्चारण नहीं करता था।

उसके घर में एक दिन वास और उस पर कृपा—

सेइ दिन ताँर घरे रहि' भिक्षा करि'।
ताँरे कृपा करि' आगे चलिला गौरहरि॥२०॥

२०। प० अनु०—उस दिन श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उस ब्राह्मण के घर में रहकर भिक्षा ग्रहण की एवं इस प्रकार उस पर कृपा करके महाप्रभु आगे चल पड़े।

स्कन्दक्षेत्र में स्कन्द और त्रिमठ में वामन भगवान् के विग्रह का दर्शन—

स्कन्दक्षेत्र-तीर्थे कैल स्कन्द-दरशन।
त्रिमठ आइला, ताँहा देखि' त्रिविक्रम॥२१॥

२१। प० अनु०—स्कन्दक्षेत्र नामक तीर्थ में आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने स्कन्ददेव (पार्वती पुत्र कार्तिक) का दर्शन किया और वहाँ से त्रिमठ में आकर उन्होंने श्रीत्रिविक्रम (वामन) भगवान् का दर्शन किया।

अनुभाष्य

२१। स्कन्द,—कार्तिक। यह तीर्थ हैदराबाद में है।

ऊपर वर्णित ब्राह्मण के द्वारा राम नाम के बदले कृष्ण नाम ग्रहण—

पुनः सिद्धवट आइला सेइ विप्र-घरे।
सेइ विप्र कृष्णनाम लय निरन्तरे॥२२॥

२२। प० अनु०—भगवान् श्रीत्रिविक्रम के दर्शन करने के बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु फिर सिद्धवट में उसी ब्राह्मण के घर पर लौट आये और उन्होंने उस ब्राह्मण को निरन्तर कृष्ण नाम कीर्त्तन करते हुये देखा।

प्रभु की प्रश्न भङ्गी और विप्र का उत्तर—

भिक्षा करि' महाप्रभु ताँरे प्रश्न कैल।
'कह विप्र, एइ तोमार कोन् दशा हैल?२३॥
पूर्वे तुमि निरन्तर लैते रामनाम।
एबे केने निरन्तर लओ कृष्णनाम॥'२४॥
विप्र बले,—एइ तोमार दर्शन-प्रभावे।
तोमा देखि' गेल मोर आजन्म स्वभावे॥२५॥
बाल्यावधि रामनाम ग्रहण आमार।
तोमा देखि' कृष्णनाम आइल एकबार॥२६॥
सेइ हैते कृष्णनाम जिह्वाते बसिला।
कृष्णनाम स्फुरे, रामनाम दूरे गेला॥२७॥
बाल्यकाल हैते मोर स्वभाव एक हय।
नामेर महिमा-शास्त्र करिये सञ्चय॥२८॥

२३-२८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उस

ब्राह्मण के घर भिक्षा ग्रहण करने के बाद उससे पूछा—"हे ब्राह्मण! कहो तुम्हारी यह दशा कैसे हुई? पहले तो तुम निरन्तर राम नाम का कीर्त्तन करते थे, अब क्यों निरन्तर कृष्णनाम का कीर्त्तन कर रहे हो?" यह सुनकर ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"आपके दर्शन के प्रभाव से ही मैं ऐसा कर रहा हूँ। आपके दर्शन मात्र से मेरे आजन्म का अभ्यास पलट गया। मैं बाल्यकाल से ही राम नाम ग्रहण करता था। परन्तु आपके दर्शन से मेरे मुख में एकबार कृष्णनाम उदित हुआ। उसी समय से कृष्णनाम मेरी जिह्वा पर बैठ गया और कृष्णनाम स्फुरित होने लगा एवं राम नाम दूर चला गया। बाल्यकाल से मेरा यह भी एक स्वभाव रहा कि मैं नाम की महिमा को शास्त्रों से संग्रह करता था।

अमृतप्रवाह भाष्य

२५। जन्म से ही जो राम नाम जप करने का स्वभाव बना था, वह परिवर्त्तित होकर कृष्ण नाम जप करने का स्वभाव हो गया।

'राम'-शब्द का व्युत्पतिगत अर्थ—
(पद्मपुराण के श्रीरामचन्द्र शतनाम स्तोत्र का अष्टम श्लोक)—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥२९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२९। अनन्त सत्यानन्द-चिदात्म स्वरूप परम तत्त्व में सभी योगी रमण (आनन्द प्राप्त) करते हैं। इसलिये ही परम ब्रह्म वस्तु को राम के नाम से पुकारा जाता है।

अनुभाष्य

२९। योगिनः (विषय निवृत्ताः) अनन्ते (जड़ातीते) सत्यानन्दे चिदात्मनि (सच्चिदानन्दे) रमन्ते। इति (अतः) रामपदेन असौ (रामचन्द्रः) परं ब्रह्म अभिधीयते (कथ्यते)।

'कृष्ण'-शब्द का व्युत्पतिगत अर्थ—
(श्रीधरस्वामि उद्धृत महाभारत उः पः (७१/४)—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥३०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३०। कृष धातु—भू अर्थात् आकर्षक सतावाचक है; ण—शब्द निवृत्ति अर्थात् परमानन्द-वाचक है। कृष धातु में ण प्रत्यय लगाने से उन दोनों के मिलन से 'कृष्ण' शब्द द्वारा परमब्रह्म प्रतिपादित हुए हैं।

अनुभाष्य

३०। कृषिः शब्दः भूः—वाचकः (सत्ता-निर्धारकः) ण श्च निवृत्ति-वाचकः (आनन्दाभिधः) तयोः (द्वयोः) ऐक्यं कृष्णः परं ब्रह्म इति अभिधीयते (कथ्यते)।

रामनाम और कृष्णनाम का लीलागत वैचित्र्य—

परब्रह्म दुइनाम समान हइल।
पुनः आर शास्त्रे किछु विशेष पाइल॥३१॥

३१। प० अनु०—अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

अमृतप्रवाह भाष्य

३१। पूर्वोक्त दो श्लोकों का तात्पर्य लेने पर, राम और कृष्ण नाम में परमब्रह्म समान अर्थ वाले हैं, तथापि शास्त्रों में और भी कुछ कहा गया है, उसे बाद में कहा जा रहा है।

अनुभाष्य

३१। 'राम' और 'कृष्ण', ये दोनों नाम ही परब्रह्म है; उनमें समानता विद्यमान है। परन्तु शास्त्रों में इन दोनों नाम-परब्रह्मों के रसगत तारतम्य के वैशिष्ट्य का अनुसन्धान करने पर एक विशेष बात आयी।

सहस्त्र विष्णुनाम के समान एक रामनाम—
(पद्मपुराण में श्रीरामचन्द्र के शतनामस्तोत्र का नवम श्लोक, उत्तरखण्ड के ७२ वें अध्याय के श्रीविष्णु सहस्त्रनाम-स्तोत्र का अन्तिम श्लोक)—

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्त्रनामभिस्तुल्यं रामनाम वरानने॥३२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३२। 'राम' 'राम' 'राम' के नाम से प्रसिद्ध मनोरम

जो राम है, उनमें मैं रमण (आनन्द प्राप्त) करता हूँ। हे वरानने, एक राम नाम सहस्त्र विष्णु के नामों के समान है।

अनुभाष्य

३२। हे वरानने, अहं राम रामेति रामेति संकीर्त्त्य मनोरमे (मनोहरे) रामे रमे (आनन्दं प्राप्नोमि)। एवं राम-नाम सहस्त्रनामभिः (विष्णु सहस्त्र नामभिः) तुल्यम्।

तीन बार राम नाम के समान एक कृष्ण-नाम—
(ब्रह्माण्डपुराण का वचन)—

सहस्त्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत्फलम्।
एकावृत्या तु कृष्णस्य नामैकं तत् प्रयच्छति॥३३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३३। (विष्णु के) पवित्र सहस्त्र नामों का तीन बार पाठ करने से जो फल होता है, कृष्णनाम एकबार उच्चारण करने से ही वही फल प्रदान करते हैं। तात्पर्य यह है कि, एक राम नाम सहस्त्र विष्णु नाम के समान है। अतएव तीन बार राम नाम का फल एकबार कृष्णनाम में ही प्राप्त होता है।

अनुभाष्य

३३। पुण्याणां (पवित्राणा) सहस्त्रनाम्नां (विष्णु सहस्त्र नाम्ना) त्रिरावृत्या (वारत्रय-पठनेने) यत् फलं प्राप्तनोति कृष्णस्य नामैकं एकवृत्त्या (सकृतदुच्चारणेन) तत् फलं तु प्रयच्छति (ददाति)।

कृष्णनाम का सर्वश्रेष्ठ माहात्म्य—

एइ वाक्ये कृष्णनामेर महिमा अपार।
तथापि लइते नारि, शुन हेतु तार॥३४॥

३४। प० अनु०—इन शास्त्रीय वचनों से ज्ञात होता है कि कृष्णनाम की महिमा अपार है। परन्तु मैं फिर भी कृष्णनाम नहीं ले पाता था, इसका कारण सुनिये।

ब्राह्मण के द्वारा कृष्णनाम लेने का अन्य कारण—

इष्टदेव राम, ताँर नामे सुख पाइ।
सुख पाञा रामनाम रात्रिदिन गाइ॥३५॥

३५। प० अनु०—मेरे इष्टदेव भगवान् श्रीरामचन्द्र हैं, इसलिए उनके नामों का उच्चारण करके मुझे बहुत आनन्द मिलता था तथा उस आनन्द को प्राप्त करके मैं रात-दिन श्रीराम नाम का कीर्त्तन किया करता था।

कृष्ण विग्रह ही कृष्णनाम प्रदान
करने में समर्थ होने के कारण
ब्राह्मण का प्रभु में कृष्णज्ञान—

तोमार दर्शने जबे कृष्णनाम आइल।
ताहार महिमा तबे हृदये लागिल॥३६॥

ब्राह्मण के प्रति प्रभु की कृपा—

सेइ कृष्ण तुमि—इहा साक्षात् निर्धारिल।"
एत कहि' विप्र प्रभुर चरणे पड़िल॥३७॥

३६-३७। प० अनु०—परन्तु आपके दर्शन कर जब मेरी जिह्वा पर आया कृष्णनाम स्फुरित हुआ तभी से मेरे हृदय में कृष्णनाम की महिमा प्रकाशित हुई। आप ही साक्षात् श्रीकृष्ण हैं यह मैंने निश्चय रूप से जान लिया है।" यह कहकर ब्राह्मण श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों में गिर पड़ा।

वृद्धकाशी में शम्भू का दर्शन—

ताँरै कृपा करि' प्रभु चलिला आर दिने।
वृद्धकाशी आसि' कैल शिव-दरशने॥३८॥

३८। प० अनु०—उस ब्राह्मण पर कृपा करके श्रीचैतन्य महाप्रभु अगले दिन वहाँ से चले गये और वृद्धकाशी में आकर उन्होंने शिव का दर्शन किया।

अनुभाष्य

३८। वृद्ध काशी,—वर्त्तमान नाम, 'वृद्धाचलम्'—दक्षिण आर्काट जिले के भेला-नदी की अन्यतम उपनदी 'मणिमुख' के तट पर अविस्थत हैं। पहले इसका 'वृद्ध-काशी' नाम था (दक्षिण-आर्काट म्यानुयेल)। कोई-कोई 'काल हस्तिपुर' को वृद्धकाशी कहते हैं। रामानुज के मौसी के पुत्र गोविन्द ने इन्हीं शिव की बहुत दिनों तक सेवा की थी।

उसके बाद अन्य ग्राम में वास और प्रभु के दर्शनों के लिये बहुत से लोगों का आना—

ताँहा हैते चलि' आगे गेला एक ग्रामे।
ब्राह्मण-समाज ताँहा, करिल विश्रामे॥३९॥
प्रभुर प्रभावे लोक आइल दरशने।
लक्षार्बुद लोक आइसे, ना जाय गणने॥४०॥

३९-४०। प० अनु०—वृद्धकाशी से श्रीचैतन्य महाप्रभु आगे चले और एक ग्राम में पहुँचे तथा उन्होंने वहाँ देखा कि वहाँ पर रहने वाले अधिकांश व्यक्ति ब्राह्मण हैं। महाप्रभु ने उस स्थान पर ही विश्राम किया। श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से लाखों-अरबों लोग आकर उनका दर्शन करने लगे, इतने लोग आये जिनकी गिनती नहीं की जा सकती थी।

प्रभु के दर्शनों से सभी को वैष्णवता की प्राप्ति—

गोसाञिर सौन्दर्य देखि' ताते प्रेमावेश।
सबे 'कृष्ण' कहे, 'वैष्णव' हैल सर्वदेश॥४१॥

४१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के सौन्दर्य को देखकर तथा उस पर भी उनके प्रेम के आवेश को देखकर सभी 'कृष्ण' नाम का कीर्त्तन करने लगे। इस प्रकार सब देशवासी वैष्णव बन गये।

प्रभु के द्वारा समस्त मतवादिगणों के विचार का खण्डन—

तार्किक-मीमांसक, जत मायावादिगण।
सांख्य, पातञ्जल, स्मृति, पुराण, आगम॥४२॥
निज-निज-शास्त्रोद्ग्राहे सबाइ प्रचण्ड।
सर्व मत दुषि' प्रभु करे खण्ड खण्ड॥४३॥

४२-४३। प० अनु०—वहाँ तार्किक, मीमांसक, मायावादी, सांख्य, पातञ्जल, स्मृति, पुराण और आगम शास्त्र को मानने वाले अनेक दार्शनिक थे। वे सभी अपने-अपने शास्त्रों के प्रमाण देकर अपने मत को स्थापित करने में धुरन्धर थे। परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन सबके मतों के दोषों को दिखलाकर उन सभी के सिद्धान्तों के खण्ड-खण्ड कर दिये।

अमृतप्रवाह भाष्य

४२। तार्किक,—गौतमीय नैयायिक और कणादीय वैशेषिक। मींमासक,—जैमिनीमत स्थापक। मायावादी,—शङ्कर के मत के स्थापक। सांख्य,—कपिल का मत। पातञ्जल,—योग शास्त्र। स्मृति,—मन्वत्रि आदि बीस धर्मशास्त्रीय संहिता। पुराण,—अष्टादश महापुराण और अष्टादश उपपुराण। आगम,—तन्त्र शास्त्र।

४३। शास्त्रोद् ग्राहे,—शास्त्र-संस्थापन करने में।

वेदान्त के अचिन्त्यभेदाभेद रूपी भक्तिसिद्धान्त की स्थापना—

सर्वत्र स्थापय प्रभु वैष्णवसिद्धान्ते।
प्रभुर सिद्धान्त केह ना पारे खण्डिते॥४४॥

४४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सर्वत्र वैष्णव सिद्धान्त को स्थापित किया; और महाप्रभु के सिद्धान्त का कोई भी खण्डन न कर सका।

प्रभु के अकाट्य सिद्धान्त से पराजित व्यक्तियों के द्वारा भक्तिसिद्धान्त-ग्रहण—

हारि' हारि' प्रभुमते करेन प्रवेश।
एइमते 'वैष्णव' करिल दक्षिण देश॥४५॥

४५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के द्वारा पराजित होकर सभी दार्शनिकों ने उनके मत में प्रवेश किया। इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने दक्षिण-देश को वैष्णव बना दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

४४-४५। प्रभुर सिद्धान्त (प्रभु का सिद्धान्त), ऐई मते, (इस मत के अनुसार),—प्रभु का मत अर्थात् वेद, वेदान्त और ब्रह्म सूत्र द्वारा स्थापित अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त।

पाषण्डी बौद्धाचार्य का अपने शिष्यों के साथ आगमन—

पाषण्डी आइल जत पाण्डित्य शुनिया।
गर्व करि' आइल सङ्गे शिष्यगण लञा॥४६॥

४६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के पाण्डित्य के विषय में सुनकर अनेक पाषण्डी भी गर्व करते हुये अपने-अपने शिष्यों के साथ प्रभु के पास आये।

अमृतप्रवाह भाष्य

४६। पाषण्डिगण,—वेद, स्मृति, दर्शन, पुराण और आगम आदि शास्त्रों से बहिर्भूत (बाहर निकाले गये) मतवादियों को 'पाषण्डी कहा जाता है।

उनका तर्क—

बौद्धाचार्य महा-पण्डित निज नव मते।
प्रभुर आगेते उद्ग्राह करि' लागिला बलिते॥४७॥

४७। प० अनु०—महापण्डित बौद्धाचार्य प्राचीन वेदों के विरुद्ध अपने नये मतानुसार,—जिसे 'नवमत' अथवा 'बौद्धमत' कहा जा सकता है,—श्रीचैतन्य महाप्रभु के आगे अपने विचार प्रकट कर तर्क करने लगा।

असम्भाष्य होने पर भी कृपा को
प्रकाशित करके उसके विचार का खण्डन—

यद्यपि असम्भाष्य बौद्ध अयुक्त देखिते।
तथापि बलिला प्रभु गर्व खण्डाइते॥४८॥

४८। प० अनु०—यद्यपि बौद्ध वेद के विरोधी होने के कारण वार्त्तालाप और नास्तिक होने के कारण दर्शन के अयोग्य हैं फिर भी श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उसके गर्व को नष्ट करने के लिये उसके साथ आलोचना की।

अमृतप्रवाह भाष्य

४८। असम्भाष्य,—बात-चीत करने के योग्य नहीं, क्योंकि वेदविरुद्ध, भक्ति बहिर्मुख है। देखिते अयुक्त,—निरीश्वर बौद्ध आदि का दर्शन करने से 'सचेलं जलमाविशेत्' अर्थात् (सात्वत) शास्त्र वाक्यानुसार नास्तिक बौद्ध आदि का दर्शन-अयुक्त (अनुचित) है।

अश्रौतपन्थी बौद्ध-शास्त्र का विचार युक्ति के द्वारा खण्डन—

तर्क प्रधान बौद्ध-शास्त्र 'नव मते'।
तर्केइ खण्डिल प्रभु, ना पारे स्थापिते॥४९॥
बौद्धाचार्य 'नव प्रश्न' सब उठाइल।
दृढ़ युक्ति-तर्के प्रभु खण्ड खण्ड कैल॥५०॥

४९-५०। प० अनु०—बौद्ध शास्त्र का नवीन मत तर्क प्रधान है, परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने तर्क शास्त्रानुमोदित नियम के अनुसार केवल उनके तर्क के दोषों को दिखलाकर ही उनके सिद्धान्त का खण्डन कर दिया और फिर बौद्धाचार्य अपना तर्क स्थापित न कर सके। बौद्धाचार्य ने अपने नव मत के प्रायः सभी प्रश्नों को उठाया परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने दृढ़ युक्ति और तर्कों से उनके समस्त विचारों को खण्ड-खण्ड कर दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

४९। बौद्धों के मतानुसार 'हीनायन' (हीनयन) और 'महायन' (महायान) दो प्रकार के मार्ग है। उस मार्ग पर गमन करने के प्रस्थान स्वरूप नौ सिद्धान्त है; यथा—१) विश्व अनादि, अतएव ईश्वर शून्य; २) जगत् असत्य, ३) अहंतत्त्व, ४) जन्म-जन्मान्तर और परलोक प्रकृत, ५) बुद्ध ही तत्त्व-प्राप्ति का उपाय, ६) निर्वाण ही परम तत्त्व, ७) बौद्ध दर्शन ही दर्शन, ८) वेद—मानव रचित, ९) दया आदि सद् धर्म का आचरण ही बौद्ध-जीवन।

बौद्धाचार्य की पराजय देख लोगों का हास्य—

दार्शनिक पण्डित सबाइ पाइल पराजय।
लोके हास्य करे, बौद्ध पाइल लज्जा-भय॥५१॥

५१। प० अनु०—इस प्रकार सभी तथाकथित दार्शनिक पण्डित श्रीचैतन्य महाप्रभु से पराजित हुए। ऐसा देखकर लोग उन पर हँसने लगे। बौद्ध बहुत लज्जित और भयभीत हुये।

अनुभाष्य

५१। दार्शनिक पण्डित सबाई (समस्त दार्शनिक पण्डित),—उपस्थित पाषण्डी दर्शनाचार्य गण।

वैष्णव सिद्धान्त को श्रवण करने से प्रभु को वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत जानकर बौद्धाचार्य का षड़यन्त्र—

प्रभुके वैष्णव जानि' बौद्ध घरे गेल।

सकल बौद्ध मिलि' तबे कुमन्त्रणा कैल॥५२॥

५२। प० अनु०—बौद्ध लोग जान गये कि श्रीचैतन्य महाप्रभु वैष्णव हैं। अपने आश्रम में जाकर सभी बौद्धों ने मिलकर परामर्श किया।

'महाप्रसाद' के नाम पर प्रभु को अपवित्र अन्न के द्वारा छलने की चेष्टा—

अपवित्र अन्न एक थालिते भरिया।
प्रभु-आगे निल 'महाप्रसाद' बलिया॥५३॥

५३। प० अनु०—उन बौद्धों ने एक थाली को अपवित्र अन्न से भरकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के आगे रख दिया तथा उनसे कहा कि यह भगवान् का महाप्रसाद है।

अमृतप्रवाह भाष्य

५३। अपवित्र,—वैष्णवों द्वारा ग्रहण करने अयोग्य।

अनुभाष्य

५३। अवैष्णवों द्वारा अपने द्वारा प्रदान किये गये अन्न को हजार बार हजार कंठो से 'महाप्रसाद' कहकर विज्ञापित करने पर भी, अथवा बाहरी दृष्टिकोण से उसके नैवेद्य (भोग) को सजाने की प्रणाली में बिन्दुमात्र त्रुटि नहीं दिखायी देने पर भी वास्तव में विष्णु दास्य अथवा चिद् दर्शन के अभाव अर्थात् विष्णु-विमुखता-हेतु उनके द्वारा प्रदान किये अन्न को विष्णु कभी भी ग्रहण नहीं करते। अतएव शुद्ध-वैष्णव दास उसे 'अमेध्य' (अपवित्र) ही समझेंगे, कभी भी ग्रहण अथवा भक्षण नहीं करेंगे!

जैसा कर्म, वैसा फल—

हेनकाले महाकाय एक पक्षी आइल।
ओष्टे करि' थालि-सह अन्न लञा गेल॥५४॥
बौद्धगणेर उपरे अन्न पड़े अमेध्य हैया।
बौद्धाचार्येर माथाय थालि पड़िल बाजिया॥५५॥

५४-५५। प० अनु०—उसी समय वहाँ बहुत बड़ा एक पक्षी आया और अपनी चोंच में थाली सहित अन्न को उठाकर ले गया। बाद में वह समस्त अपवित्र अन्न अमेध्य बनकर उन्हीं बौद्धों के सिर पर गिरा और थाली बौद्धाचार्य के सिर पर गिरी, जिससे बहुत जोर का शब्द हुआ।

पाषण्डी बौद्ध की सजा—

तेरछे पड़िल थालि,—माथा काटि' गेल।
मूर्च्छित हञा आचार्य भूमिते पड़िल॥५६॥

५६। प० अनु०—वह थाली तिरछी होकर बौद्धाचार्य के सिर पर गिरी थी, जिससे उसका सिर फट गया और वह बौद्धाचार्य मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा।

गुरु की दशा को देखकर शिष्यों के द्वारा प्रभु के चरणों में शरणागति—

हाहाकार करि' कान्दे सब शिष्यगण।
सबे आसि' प्रभु-पदे लइल शरण॥५७॥
तुमि त' ईश्वर साक्षात्, क्षम अपराध।
जीयाओ आमार गुरु, करह प्रसाद॥५८॥

५७-५८। प० अनु०—बौद्धाचार्य के सभी शिष्यगण हा-हाकार करते हुये रोने लगे और सब आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों की शरण लेकर कहने लगे—"आप साक्षात् भगवान् हैं, हमारे अपराधों के लिये हमें क्षमा कीजिये। कृपा करके हमारे गुरु को पुनः जीवित कर दीजिए।"

शरणागति के बाद प्रभु के द्वारा उन्हें कृष्ण नाम प्रदान—

प्रभु कहे, सबे कह 'कृष्ण' 'कृष्ण' 'हरि'।
गुरुकर्णे कह कृष्णनाम उच्च करि'॥५९॥

५९। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनसे कहा—"तुम सब मिलकर 'कृष्ण' 'कृष्ण' 'हरि' आदि नामों का उच्चारण करो और अपने गुरु के कान में भी उच्चस्वर से कृष्ण नाम कहो।

चैतन्य महाप्रभु के मुख से कीर्तित कृष्णनाम के श्रवण से ही अचैतन्य मायावादी जीव को चेतना एवं वैष्णवता की प्राप्ति—

तोमा-सबार 'गुरु' तबे पाइबे चेतन।
सब बौद्ध मिलि' करे कृष्णसंकीर्तन॥६०॥

गुरु-कर्णे कहे सबे 'कृष्ण' 'राम' 'हरि'।
चेतन पाञा आचार्य बले 'हरि' 'हरि'॥६१॥

६०-६१। प० अनु०—कृष्णनाम के श्रवण से तुम सबके गुरु को चेतनता की प्राप्ति होगी।" तब सभी बौद्ध मिलकर कृष्ण नाम का संकीर्त्तन करने लगे और गुरु के कान में 'कृष्ण' 'राम' 'हरि' आदि नामों का उच्चारण करने लगे। नाम सुनकर श्रीबौद्धाचार्य भी चेतनता प्राप्त कर 'हरि' 'हरि' बोलने लगा।

अनुभाष्य

५९-६१। सब बौद्ध,—बौद्धगण प्रभु के श्रीमुख से कृष्णनाम-दीक्षा प्राप्त करने के बाद तब फिर पहले की भाँति पाषण्ड वत् आचरण करने वाले बौद्ध नहीं है, उन्होंने 'वैष्णव' बनकर जीवों के स्वरूप धर्म विष्णु पूजा को आरम्भ किया है। गुरु ही शिष्य का उद्धार करते हैं अर्थात् अचैतन्य शिष्य का चैतन्य सम्पादन करके विष्णु-पूजा के प्रति उद्‌बोधित (ज्ञान प्रदान करते है) और नियुक्त करते हैं—यही 'दीक्षा' अथवा दिव्यज्ञान है, किन्तु इस विषय में अचेतन बौद्धाचार्य के पूर्व शिष्यों ने ही प्रभु की कृपा से कृष्णनाम चैतन्य प्राप्त करके गुरुब्रुव के कान में कृष्णनाम का उच्चारण करके आचार्य का कार्य किया। यहाँ पर बाहरी दृष्टिकोण से गुरु और शिष्य अर्थात् बौद्धाचार्य और उसके शिष्यों ने परस्पर विपरीत पदवी प्राप्त करने पर भी वास्तव में कृष्ण कृपा प्राप्त लब्ध चैतन्य कृष्ण नाम उच्चारण कारी ही 'गुरु' एवं अचैतन्य व्यक्ति ही 'लघु' अर्थात् उसके शिष्य हुए,—यही जगद्‌गुरु प्रभु की शिक्षा है।

बौद्ध के द्वारा प्रभु की कृष्ण मानते हुये स्तुति—

कृष्ण बलि' आचार्य प्रभुरे करेन विनय।
देखिया सकल लोक हइल विस्मय॥६२॥

६२। प० अनु०—कृष्ण कृष्ण उच्चारण करते-करते बौद्धाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु के समक्ष अत्यधिक विनीत भाव से स्तुति करने लगे। जिसे देखकर वहाँ खड़े सभी लोग बहुत आश्चर्य चकित हुए।

प्रभु का अन्तर्धान—

एइरूपे कौतुक करि' शचीर नन्दन।
अन्तर्धान कैल, केह ना पाय दर्शन॥६३॥

६३। प० अनु०—इस प्रकार शचीनन्दन श्रीचैतन्य महाप्रभु कौतुक करते हुए, देखते-ही-देखते वहाँ से अन्तर्धान हो गये और किसी को भी वहाँ पर प्रभु का दर्शन नहीं हुआ।

प्रभु का तिरुपति एवं तिरुमलय में आगमन और बालाजी का दर्शन—

महप्रभु चलि' आइला त्रिपति-त्रिमल्ले।
चतुर्भुज मूर्त्ति देखि' वेयङ्कटाद्रये चले॥६४॥

६४। प० अनु०—फिर श्रीचैतन्य महाप्रभु त्रिपति-त्रिमल्ल और चतुर्भुज श्रीविष्णु मूर्त्ति का दर्शन करके वहाँ से वेयङ्कट-पर्वत की ओर गये।

अनुभाष्य

६४। प्रभु के द्वारा भ्रमण किये गये स्थानों को प्रायः ठीक प्रकार से वर्णन किया जा रहा है—

तिरुपति,—'तिरुपटुर'—उत्तर आर्कट में चन्द्र गिरि-तालूक के अन्तर्गत प्रसिद्ध तीर्थ। व्यङ्कटेश्वर के नामानुसार व्यङ्कट गिरि अथवा व्येङ्कटाद्रि-पर्वत के ऊपर ८ मील दूर में 'श्री' और 'भू' दो शक्तियों के साथ चतुर्भुज 'बालाजी' अथवा व्येङ्कटेश्वर विष्णु-विग्रह है; इसको व्येङ्कटक्षेत्र' भी कहते हैं। सम्पूर्ण दक्षिण भारत में यही एक, श्रेष्ठ ऐश्वर्य सम्पत्ति शाली मन्दिर है। आश्विन मास में यहाँ बहुत बड़ा मेला लगता है। एम् एस एम् आर लाइन पर 'तिरुपति' रेल स्टेशन है। 'निम्न-तिरुपति'—व्येङ्कट पर्वत के तल में अवस्थित है। वहाँ कुछेक मन्दिर विद्यमान है। यहाँ गोविन्द राज और रामचन्द्र जी की मूर्त्ति है। तिरुमल्लय'—सम्भवतः उर्द्ध (ऊपरी) तिरुपति का प्राचीन काल का नामान्तर है।

वेयङ्कटाचल में श्रीराम का दर्शन—

त्रिपति आसिया कैल श्रीराम-दरशन।

रघुनाथ-आगे कैल प्रणाम-स्तवन॥६५॥

६५। प० अनु०—त्रिपति में आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भगवान् श्रीरामचन्द्र का दर्शन किया और श्रीरघुनाथ को प्रणाम तथा स्तव किया।

महाप्रभु के द्वारा पाना-नृसिंह का दर्शन
और प्रेमावेश में प्रणाम तथा स्तुति—

स्वप्रभावे लोक-सबार कराञा विस्मय।
पाना-नृसिंहे आइला प्रभु दयामय॥६६॥
नृसिंहे प्रणति-स्तुति प्रेमावेशे कैल।
प्रभुर प्रभावे लोक चमत्कार हैल॥६७॥

६६-६७। प० अनु०—अपने प्रभाव से सभी लोगों को विस्मित करके दयामय श्रीचैतन्य महाप्रभु पाना-नृसिंह के मन्दिर में आ गये। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने प्रेमावेश में इस प्रकार से नृसिंह भगवान् को प्रणाम एवं स्तव किया कि प्रभु का प्रभाव देखकर लोग चमत्कृत हो गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

६६। पाना-नृसिंह—चीनी का पाना अर्थात् शरबत जिन नृसिंह देव को भोग लगता है।

अनुभाष्य

६६। पाना-नृसिंह (पानाकल् नरसिंह)—कृष्णा जिले में वेजउयादा शहर से सात मील दूर 'मङ्गलगिरि' में अवस्थित और ६०० सीढ़ियों पर चढ़ने के बाद प्रसिद्ध मन्दिर है। प्रवाद (किंवदन्ती),—इन नृसिंहदेव को शरबत भोग लगाने पर, वे शरबत (की मात्रा) के आधे से अधिक भाग को ग्रहण नहीं करते। इस मन्दिर में ताञ्जोर के भूतपूर्व महाराजा ने 'कृष्ण के द्वारा व्यवहृत कहे जाने वाले' एक शङ्ख का दान किया था। मार्च के महीनें में इस स्थान पर बहुत बड़ा मेला लगता है।

शिव काञ्ची में शिव का दर्शन और प्रभु
की कृपा से शैवों को भी वैष्णवता की प्राप्ति—

शिवकाञ्ची आसिया कैल शिव दरशन।
प्रभावे 'वैष्णव' कैल सब शैवगण॥६८॥

६८। प० अनु०—वहाँ से श्रीचैतन्य महाप्रभु ने शिव-काञ्ची आकर शिवजी का दर्शन किया तथा अपने प्रभाव से समस्त शैवों को वैष्णव बना दिया।

अनुभाष्य

६८। शिवकाञ्ची,—कञ्जिभिराम—'दक्षिण काशी' के नाम से परिचित है। यहाँ पर असंख्य शिवलिङ्ग हैं, उनमें से 'एकाम्बर कैलाश नाथ' का मन्दिर बहुत प्राचीन है।

विष्णु काञ्ची में लक्ष्मी-नारायण का दर्शन और प्रभु के
अवस्थान के फलस्वरूप लोगों को वैष्णवता की प्राप्ति—

विष्णुकाञ्ची आसि' देखिल लक्ष्मी-नारायण।
प्रणाम करिया कैल बहुत स्तवन॥६९॥
प्रेमावेशे नृत्य-गीत बहुत करिल।
दिन-दुइ रहि' लोके 'कृष्णभक्त' कैल॥७०॥

६९-७०। प० अनु०—उसके बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु ने विष्णुकाञ्ची आकर श्रीलक्ष्मी-नारायण का दर्शन कर उनको प्रणाम किया एवं उनकी स्तुति की। प्रेम में आविष्ट होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने बहुत नृत्य-गीत किया और दो दिन वहाँ रहकर लोगों को कृष्ण भक्त बना दिया।

अनुभाष्य

६९। विष्णुकाञ्ची,—कञ्जिभिराम से पाँच मील दूर पर है; यहाँ पर 'वरदराज' विष्णु-विग्रह एवं 'अनन्त सरोवर' है।

त्रिकालहस्ती में शम्भु का दर्शन—

त्रिमलय देखि' गेला त्रिकालहस्ती-स्थाने।
महादेव देखि' ताँरे करिल प्रणामे॥७१॥

७१। प० अनु०—त्रिमलय का दर्शन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु त्रिकालहस्ती नामक स्थान पर आ गये और वहाँ पर महादेव का दर्शन करके महाप्रभु ने उन्हें प्रणाम किया।

अनुभाष्य

७१। त्रिमलय,—ताञ्जोर अथवा तौण्डीर-मण्डल में स्थित।

'त्रिकालहस्ती',—तिरुपति से २१ मील उत्तर-पूर्व दिशा में सुवर्ण मुखी-नदी के दक्षिण-तट पर अवस्थित है; 'श्रीकालहस्ती', अथवा प्रचलित भाषा में 'काल-हस्ती'—के नाम से भी जाना जाता है। 'वायुलिङ्ग-शिव' मन्दिर के लिये विख्यात है। (उत्तर आर्कटम्यानुयेल)।

पक्षीतीर्थ में शिव का दर्शन और वृद्धकोल-तीर्थ में श्वेतवराह के विग्रह का दर्शन—

पक्षीतीर्थ देखि' कैल शिव दरशन।
वृद्धकोल-तीर्थे तबे करिला गमन॥७२॥

७२। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु पक्षीतीर्थ पहुँच गये और वहाँ पर उन्होंने शिवजी का दर्शन किया एवं वहाँ से वृद्धकोल-तीर्थ को चले गये।

अनुभाष्य

७२। पक्षीतीर्थ,—तिरुकाडिकुण्डम्'—चिंग्लिपट् से ९ मील दक्षिण-पूर्व में, समतल भूमि से ५०० फुट ऊँचे गिरि (पर्वत) माला के ऊपर एक शिव मन्दिर है। इस गिरि का नाम वेदगिरि अथवा वेदाचलम् तथा मूर्त्ति का नाम—वेद गिरीश्वर है। प्रतिदिन दो बाज पक्षी आकर सेवायेत पुजारी से आहार प्राप्त करते हैं; प्रवाद (किंव-दन्ती) है कि आवहमान (क्रमागत) काल से ऐसा चला आ रहा है। (चिंलिपट्म्यानुयेल)

वृद्धकोल,—श्रीवराह-विग्रह का मन्दिर; वह केवल मात्र एक ही पत्थर में निर्मित है,—'महाबलीपुरम्' अथवा सप्तमन्दिर के अन्तर्गत 'बलिपीठम्' से प्रायः एक मील दक्षिण में है। इस मन्दिर के अन्दर वराह रूपी विष्णु विग्रह के ऊपर 'शेष' नाग ने छत्र धारण किया हुआ है।

पीताम्बर-शम्भु का दर्शन—

श्वेतवराह देखि' ताँरे नमस्करि'।
पीताम्बर-शिव-स्थाने गेला गौरहरि॥७३॥

७३। प० अनु०—वृद्धकोल में श्रीगौरहरि ने श्वेतवराह का दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया और फिर पीताम्बर शिवजी का दर्शन करने के लिये गये।

अनुभाष्य

७३। पीताम्बर,—'चिदाम्बरम्',—'कुडालोर'—नगर से २६ मील दक्षिण की ओर। विग्रह का नाम—'आकाशलिङ्ग' शिव। यह बहुत बड़ा मन्दिर ३९ एकड़ जमीन के ऊपर बना हुआ है एवं चारों ओर ६० फुट के पक्के रास्ते से घिरा हुआ है (दक्षिण आर्कट म्यानुयेल)।

शियाली-भैरवी रूपिनी कात्यानी देवी का दर्शन—

शियाली भैरवी देवी करि' दरशन।
कावेरीर तीरे आइला शचीर नन्दन॥७४॥

७४। प० अनु०—फिर शियाली नामक भैरवी देवी का दर्शन कर श्रीशचीनन्दन कावेरी के तट पर आ गये।

अनुभाष्य

७४। शियालि,—ताञ्जोर जिले में; ताञ्जोर नगर से ४८ मील उत्तर-पूर्व दिशा में इस नाम के तालुक (मौजा) के अन्तर्गत प्रधान ग्राम है। इस स्थान पर एक विख्यात शैव-मन्दिर और एक बहुत बड़ा सरोवर है। यह मन्दिर 'तिरुज्ञान सम्बन्धर' नामक एक शैव (शिव भक्त) के नाम से उत्सर्गीकृत है। प्रवाद,—यह शिवभक्त बचपन में जब मन्दिर में आता था, तब भैरवी उसको स्तनपान कराती थी (ताञ्जोर गेजेटियार)। (इस परिच्छेद के ३५८ संख्या पयार का अनुभाष्य द्रष्टव्य है)। वहाँ से प्रभु त्रिचिन पल्ली जिले में कोलिरण अथवा कावेरी नदी के तट पर आये।

कावेरी,—"कावेरी च महापुण्या" (भा: ११/५/४०)।

कावेरी के तट पर शम्भु का दर्शन—

गो-समाजे शिव देखि' आइला वेदावन।
महादेव देखि' ताँरे करिला वन्दन॥७५॥

७५। प० अनु०—वहाँ से श्रीचैतन्य महाप्रभु ने गो-समाज नामक स्थान पर आकर शिवजी का दर्शन किया तथा वहाँ से वेदावन में जाकर महादेव का दर्शन करके उनकी वन्दना की।

अनुभाष्य

७५। गो-समाज—शैवतीर्थ। वेदावन,—ताञ्जोर जिले के तिरुतराईप्पण्डि-तालुक के दक्षिण-पूर्व कोण में एवं पयेन्ट कलिमियार के ५ मील उत्तर में अवस्थित। वहाँ के ब्राह्मणों के मतानुसार तीर्थ के हिसाब से रामेश्वर के बाद यही स्थान आता है (ताञ्जोर गेजेटियार)।

प्रभु की कृपा से शैवों को वैष्णवता की प्राप्ति—

अमृतलिंग-शिव देखि' वन्दन करिल।
सब शिवालये शैव 'वैष्णव' हइल॥७६॥

७६। प० अनु—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अमृतलिंग नामक शिव का दर्शनकर उनकी वन्दना की एवं श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से शिवालय के सभी शैव वैष्णव बन गये।

देवस्थान पर विष्णु का दर्शन और
'श्रीवैष्णवों' के साथ वार्त्तालाप—

देवस्थाने आसि' कैल विष्णु-दरशन।
श्री-वैष्णवेर संगे ताँहा गोष्ठी अनुक्षण॥७७॥

७७। प० अनु—वहाँ से श्रीचैतन्य महाप्रभु देवस्थान पर आये और उन्होंने भगवान् विष्णु का दर्शन किया तथा वहाँ रहने वाले 'श्रीवैष्णव' सम्प्रदाय के लोगों के साथ सब समय इष्टगोष्ठी की।

कुम्भकोणम में सरोवर का दर्शन
और शिवक्षेत्र में शिव का दर्शन—

कुम्भकर्ण-कपाले देखि' सरोवर।
शिव-क्षेत्रे शिव देखे गौरांगसुन्दर॥७८॥

७८। प० अनु—तब श्रीगौराङ्ग सुन्दर ने कुम्भकर्ण के कपाल में बने सरोवर का दर्शन किया और शिव क्षेत्र नामक स्थान पर शिवजी का भी दर्शन किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

७८। कुम्भकर्ण कपाले,—कुम्भकर्ण के मस्तक की खोपड़ी से जो सरोवर बना था, उसे देखकर।

अनुभाष्य

७८। कुम्भकर्ण-कपाल,—'कपाल' अर्थात् खोपड़ी। ताञ्जोर जिले में स्थित वर्त्तमान कुम्भकोणम-नगर,—ताञ्जोर नगर से २० मील उत्तर पूर्व दिशा में। इस स्थान पर १२ शिव मन्दिर, ४ विष्णु मन्दिर और एक ब्रह्मा का मन्दिर है। (ताञ्जोर गेजेटियार)।

शिवक्षेत्र,—ताञ्जोर नगर में एक शिव गङ्गा सरोवर है। इसका अर्थ स्थानीय बहुत बड़े बृहतीश्वर-शिव मन्दिर से भी लिया जा सकता है।

पापनाशन,—कुम्भकोणम् से ८ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित (ताञ्जोर गेजेटियार)। तिनेभेलि जिले के अन्तर्गत पालम कोटा नगर से २९ मील पश्चिम में पापनाशन-नाम का एक नगर है। इसी स्थान पर ही एक मन्दिर के निकट ताम्रपर्णी-नदी पाहाड़ से समतल-भूमि पर आ गयी है। (तिनेभेलि म्यानुयेल)।

श्रीरङ्गक्षेत्र,—त्रिचिनपल्ली के निकट कावेरी अथवा कोलिरन नदी के ऊपर श्रीरङ्गम अवस्थित है—ताञ्जोर जिले में कुम्भकोणम् से ४५ कोस पश्चिम में। श्रीरङ्गनाथजी का मन्दिर भारत के समस्त मन्दिरों की अपेक्षा बड़ा है; इसकी साँत प्राकार (प्राचीर, चारदीवारी) हैं। श्रीरङ्गम के सात रास्तों के पुराने नाम है—१) धर्म का पथ, २) राजमहेन्द्र का पथ, ३) कुलशेखर का पथ, ४) आलिनाड़न का पथ, ५) तिरुविक्रम का पथ, ६) माड़माड़ि गाईस का तिरुविडि पथ, एवं ७) अड़इयाव-लइन्दान का पथ। चोलराज आदि कुलोङत्तुग से पहले राजमहेन्द्र ने राज्य किया; उससे पहले धर्मवर्म; उससे पहले श्रीरङ्गम का पतन हुआ। कुलशेखर आदि कुछेक व्यक्तियों और आलवान्दारु ने श्रीरङ्ग-मन्दिर में वास किया था। यामुनाचार्य, श्रीरामानुज, सुदर्शनाचार्य आदि ने श्रीरङ्गनाथ की सेवा की मुख्य रूप से अध्यक्षता की। लक्ष्मी की अवतार 'गोदादेवी'—जो बारह सिद्ध दिव्यसूरियों में से एक है, उन्होंने—श्रीरङ्गनाथ के साथ विवाहिता होकर भगवददेह में प्रवेश किया। कार्मुकावतार

तिरुमङ्गई आलोवर ने दस्यु वृत्ति द्वारा एकत्रित धन से श्रीरङ्गनाथ मन्दिर का चौथा प्राकार अथवा चौथी चार दीवारी और अन्यान्य गृह आदि का निर्माण करवा दिया। कहा जाता है कि,—२८९ कल्याब्द में तोन्डरडिप्पडि आलोवर जन्म ग्रहण करके भक्ति याजन करते-करते किसी प्रधाना वेश्या के प्रलोभन से पतित हुए। श्रीरङ्गनाथ ने अपने सेवक की दुर्दशा देखकर उसके उद्धार की अभिलाषा से अपने एक सोने के बर्तन को किसी सेवक द्वारा उस स्त्री (वेश्या) के घर में भेज दिया। मन्दिर में सोने के बर्तन को नहीं देखने पर बहुत खोज-बीन करने पर वह उसके घर से मिल गया। रङ्गनाथ की कृपा के दर्शन से भक्त का भ्रम दूर हुआ। तिरुमङ्गई के आविर्भाव काल से पहले रङ्गनाथ के तीसरे प्राकार में इन्होंने तुलसी के बगीचे की रचना की थी। श्रीरामानुज के शिष्य—कुरेश, उनके सबसे छोटे पुत्र श्रीराम पिल्लाई, उनके पुत्र,—वाग् विजय भट्ट, उनके पुत्र—वेदव्यास भट्ट अथवा श्रीसुदर्शनाचार्य है। इन महात्मा की वृद्धावस्था के समय मुसलमानों ने रङ्गनाथ मन्दिर पर आक्रमण किया एवं बारह हजार श्रीवैष्णवों को मार डाला। श्रीरङ्गनाथ देव को तिरुपति में स्थानातरित किया गया। विजय नगर राज्य के अधीन गिङ्गिर के शासन कर्त्ता श्रीवैष्णव ब्राह्मणों ने 'कम्पन्न उदय' अथवा 'गोपणार्य' श्रीवैष्णवों की प्रार्थना से श्रीरङ्गनाथ देव को 'तिरुपति' से 'सिंहब्रह्म' में लाकर तीन वर्ष तक रखा। बाद में १२९३ शकाब्द में श्रीरङ्गक्षेत्र में पुनः प्रतिष्ठित किया। श्रीरङ्गनाथ मन्दिर के प्राकार के पूर्व भाग में श्रील वेदान्त देशिक द्वारा रचित यह श्लोक खुदा हुआ है; यथा—"आनीय नील शृङ्गद्युतिरचित जगद्रञ्जनादञ्जनाद्रेः श्रेष्यामाराध्य कञ्चित् समयमथ निहत्योद्धनुष्कांस्तलुष्कान्। लक्ष्मी-क्षाभ्यामुभाभ्यां सह निजनगरे स्थापयन् रङ्गनाथ सम्यङ्गवर्यां सपर्य्यां पुनरकृत यशोदर्पणो गोप्पणार्यः॥" "विश्वेशं रङ्गराजं घृषभगिरितटात् गोप्पनः क्षौणिदेवो नीत्वा स्वां राजधानीं निजबलनिहतोत्सिक्त-तौलुष्कसेन्यः। कृत्वा श्रीरङ्गभूमिं कृतयुग सहितां तन्तु लक्ष्मी-महीभ्यां संस्थाप्यास्यां सरोजोद्भव इव कुरुत साधुचर्यां सपर्य्याम्॥"

पाप नाशन विष्णु के दर्शन के बाद श्रीरङ्गम में जाना—

पापनाशने विष्णु कैल दरशन।
श्रीरंगक्षेत्रे तबे करिला गमन॥७९॥

७९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु पापनाशन नामक तीर्थ में गये तथा वहाँ पर भगवान् श्रीविष्णु का दर्शन किया। उसके बाद वे श्रीरङ्गक्षेत्र चले गये।

स्नान करने के पश्चात् रङ्गनाथ का दर्शन और नृत्य-गीत—

कावेरीते स्नान करि' देखि' रङ्गनाथ।
स्तुति-प्रणति करि' मानिला कृतार्थ॥८०॥
प्रेमावेशे कैल बहुत गान नर्तन।
देखि' चमत्कार हैल सब लोकेर मन॥८१॥

८०-८१। प० अनु०—रङ्गक्षेत्र में आने पर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कावेरी में स्नान किया और श्रीरङ्गनाथ का दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया एवं उनकी स्तुति करके महाप्रभु ने स्वयं को कृतार्थ माना। प्रेम में आविष्ट होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने वहाँ बहुत नृत्य-कीर्त्तन किया, जिसे देखकर उपस्थित सभी लोग आश्चर्यचकित हो गये।

अनुभाष्य

८०। कावेरी का जल पान करने से भगवद्भक्ति (भाः ११/५/४०) द्रष्टव्य।

रङ्गक्षेत्रवासी भट्ट के द्वारा प्रभु को निमन्त्रण—

श्री-वैष्णव एक,—'वेयङ्कट भट्ट' नाम।
प्रभुरे निमन्त्रण कैल करिया सम्मान॥८२॥

८२। प० अनु०—श्रीवेयङ्कट भट्ट नामक एक श्रीवैष्णव ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को बहुत अधिक सम्मान पूर्वक निमन्त्रण किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

८२। व्येङ्कटभट्ट, उनके भाई त्रिमल्ल भट्ट और प्रबोधानन्द सरस्वती,—ये पहले श्रीसम्प्रदाय में आचार्य

स्वरूप थे। व्येङ्कट भट्ट के पुत्र का नाम ही श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी है।

अनुभाष्य

८२। श्रीव्येङ्कट भट्ट—श्रीरङ्गक्षेत्र में रहने वाले प्रवासी एक श्रीसम्प्रदाय के ब्राह्मण। श्रीरङ्ग—तमिलदेश के अन्तर्गत, इसलिये वहाँ के निवासियों के 'व्यङ्केट', 'तिरुमलय' आदि नाम आजकल नहीं होते। ये वंश सम्भवतः कुछ दिन पहले से ही श्रीरङ्गम में वास करने लगे थे। व्येङ्कट भट्ट—'बड़-गलई' शाखा में आने वाले रामानुजीय-वैष्णव। इनके एक और भाई—त्रिदण्डी रामानुजीयाचार्य स्वामी श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वती। व्यङ्केट के पुत्र ही श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी हैं—आदि दशम परिच्छेद १०५ संख्या एवं श्रीभक्तिरत्नाकर की प्रथम तरङ्ग द्रष्टव्य है।

व्येङ्कट भट्ट के द्वारा प्रभु की सेवा और प्रभु को
अपने घर में चातुर्मास्य व्रत पालन करने की प्रार्थना—

निज-घरे लञा कैल पादप्रक्षालन।
सेइ जल लञा कैल सवंशे भक्षण॥८३॥
भिक्षा कराञा किछु कैल निवेदन।
चातुर्मास्य आसि' प्रभु, हैल उपसन्न॥८४॥
चातुर्मास्ये कृपा करि' रह मोर घरे।
कृष्णकथा कहि' कृपाय उद्धार' आमारे॥"८५॥

८३-८५। प० अनु०—श्रीवेयङ्कट भट्ट ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपने घर ले जाकर उनके श्रीचरणों को धोया और उसी जल को अपने समस्त वंश सहित पान किया। तब उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु को भोजन कराने के बाद निवेदन किया—"प्रभु! चातुर्मास्य का समय आ गया है। इसलिये आप कृपा करके इन चार महीनों में मेरे घर पर ही रहिये और कृष्णकथा कहकर हम सबका उद्धार कीजिये।"

वेयङ्कटभट्ट के घर में प्रभु के द्वारा चातुर्मास्य यापन—

ताँर घरे रहिला प्रभु कृष्णकथा रसे।
भट्टसङ्गे गोङाइल सुखे चारिमासे॥८६॥

८६। प० अनु०—वेयङ्कट भट्ट के अनुरोध से श्रीचैतन्य महाप्रभु भट्ट के साथ आनन्दपूर्वक चार मास तक उनके घर पर रहे तथा उन्होंने कृष्णकथा के रस में अपना समय व्यतीत किया।

प्रतिदिन रङ्गनाथ
का दर्शन—

कावेरीते स्नान करि' श्रीरङ्ग दर्शन।
प्रतिदिन प्रेमावेशे करेन नर्तन॥८७॥

८७। प० अनु०—वहाँ रहते समय श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रतिदिन कावेरी में स्नान करने के उपरान्त श्रीरङ्गनाथ का दर्शन करते तथा प्रेमावेश में नृत्य करते।

प्रभु के दर्शन से लोगों को अशोक,
अभय और अमृत की प्राप्ति—

सौन्दर्यादि प्रेमावेश देखि, सर्वलोक।
देखिबारे आइसे, देखे, खण्डे दुःख-शोक॥८८॥

८८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के सौन्दर्य आदि तथा प्रेमावेश को देखकर सभी लोग श्रीवेयङ्कट भट्ट के घर पर श्रीमन् महाप्रभु के दर्शन के लिये आते तथा महाप्रभु के दर्शन से उन सबके दुःख और शोक दूर हो जाते।

प्रभु के दर्शन के फल से असंख्य
लोगों को कृष्णभक्ति की प्राप्ति—

लक्ष लक्ष लोक आइल नाना-देश हैते।
सबे कृष्णनाम कहे प्रभुके देखिते॥८९॥
कृष्णनाम बिना केह नाहि कहे आर।
सबे कृष्णभक्त हैल,—लोके चमत्कार॥९०॥

८९-९०। प० अनु०—अनेक स्थानों से लाखों-लाखों लोग श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शन के लिये आये; तथा महाप्रभु को देखने मात्र से ही वे कृष्ण नाम का उच्चारण करने लगे। कृष्ण नाम के अतिरिक्त कोई कुछ भी नहीं कहता था और इस प्रकार सभी कृष्णभक्त बन गये, जिसे देखकर लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ।

एक-एक वैष्णव ब्राह्मण के घर
एक-एक दिन भिक्षा ग्रहण—

श्रीरंगक्षेत्रे बैसे जत वैष्णव-ब्राह्मण।
एक एक दिन सबे कैल निमन्त्रण॥९१॥
एक एक दिने चातुर्मास्य पूर्ण हैल।
कतक ब्राह्मण भिक्षा दिते ना पाइल॥९२॥

९१-९२। प॰ अनु॰—श्रीरङ्गक्षेत्र में वास करने वाले सभी ब्राह्मण वैष्णव एक-एक दिन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु को निमन्त्रण करने लगे और एक-एक दिन निमन्त्रण करते-करते चातुर्मास्य का समय पूरा हो गया फिर भी कितने ब्राह्मण प्रभु को भोजन न करा पाये।

एक शरणागत, सेवान्मुख ब्राह्मण का गीता पाठ—

सेइ क्षेत्रे रहे एक वैष्णव-ब्राह्मण।
देवालये आसि' करे गीता आवर्तन॥९३॥

९३। प॰ अनु॰—उसी श्रीरङ्गक्षेत्र में एक वैष्णव-ब्राह्मण रहता था जो कि मन्दिर में आकर गीता का पाठ करता था।

अमृतप्रवाह भाष्य

९३। वैष्णव-ब्राह्मण—'गोविन्द के कड़चे में' (?) इस ब्राह्मण का नाम 'युधिष्ठिर' कहा गया है।

शुद्धभक्ति योग में जड़विद्या अथवा पाण्डित्य
का अभिमान अथवा कृत्रिम-भावाभास नहीं—

अष्टादशाध्याय पड़े आनन्द-आवेशे।
अशुद्ध पड़ेन, लोक करे उपहासे॥९४॥
केह हासे, केह निन्दे, ताहा नाहि माने।
आविष्ट हञा गीता पड़े आनन्दित-मने॥९५॥

९४-९५। प॰ अनु॰—वे ब्राह्मण गीता के अठारह अध्यायों का बड़े ही आनन्द से आविष्ट होकर पाठ करते थे परन्तु वे अशुद्ध रूप से ही पाठ कर पाते थे, जिसके कारण लोग उनका उपहास करते थे, कोई उन पर हँसता था तो कोई उनकी निन्दा करता था, किन्तु वे यह सब देखकर भी गीता का पाठ करना बन्द नहीं करते थे बल्कि और भी अधिक प्रेमाविष्ट होकर आनन्दित मन से गीता को पढ़ते थे।

अनर्थ से निवृत्त एवं चेतनता को प्राप्त
करने वाले व्यक्ति के सात्त्विक भाव—

पुलकाश्रु, कम्प, स्वेद,—यावत् पठन।
देखि' आनन्दित हैल महाप्रभुर मन॥९६॥

९६। प॰ अनु॰—गीता का पाठ करते समय उस ब्राह्मण के कलेवर में पुलक, अश्रु, कम्प और स्वेद आदि अष्ट सात्त्विक भाव उदित हो रहे थे; जिसे देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का मन बहुत आनन्दित हुआ।

अनुभाष्य

९४-९६। (भा: १/५/११)—"तद्वाग्विसर्गो जनताा-विप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमवद्धवत्यपि नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यत् शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥" एवं भा: ४/३१/३२, ७/८/४३-४४, ११/१२/५-९, १२/३/४१ प्रभृति एवं भा: २/३/२४ "तदश्मसारं" श्लोक की विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की 'सारार्थदर्शिनी' टीका विशेष रूप से द्रष्टव्य।

उसके भावों को देखकर प्रभु के
द्वारा उसके कारण की जिज्ञासा—

महाप्रभु पुछिल ताँरे, शुन, महाशय।
कोन् अर्थ जानि' तोमार एत सुख हय॥"९७॥

९७। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उस ब्राह्मण से पूछा—"सुनो महाशय! गीता के किस अर्थ को जानकर आपको इतना आनन्द प्राप्त होता है?"

वास्तव-सत्य पर विश्वास रखने वाले
ब्राह्मण के द्वारा सरल रूप से उत्तर—

विप्र कहे,—मूर्ख आमि, शब्दार्थ ना जानि।
शुद्धाशुद्ध गीता पड़ि, गुरु-आज्ञा मानि'॥९८॥
अर्जुनेर रथे कृष्ण हय रज्जुधर।
बसियाछेन ताते—जेन श्यामल-सुन्दर॥९९॥

अर्जुनेरे कहिलेन हित-उपदेश।
ताँरे देखि' हय मोर आनन्द-आवेश॥१००॥
यावत् पड़ों, तावत् पाउ ताँर दरशन।
एइ लागि' गीता-पाठ ना छाड़े मोर मन॥"१०१॥

९८-१०१। प० अनु०—ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"मैं तो मुर्ख हूँ, शब्दों के अर्थों तक को भी नहीं जानता हूँ, परन्तु क्योंकि मेरे गुरुदेव ने मुझे गीता पढ़ने की आज्ञा दी है, इसीलिए मैं भले शुद्ध हो, या अशुद्ध, जिस किसी प्रकार से गीता का पाठ करता हूँ। किन्तु जब भी मैं गीता पढ़ता हूँ, तभी देखता हूँ कि अर्जुन के रथ पर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण घोड़े की लगाम को पकड़कर सारथी के रूप में बैठे हैं और अर्जुन को उसके हित के लिये उपदेश दे रहे हैं, उन्हें देखने से ही मैं आनन्द से आविष्ट हो जाता हूँ। जब तक मैं गीता को पढ़ता हूँ तब तक मुझे श्रीकृष्ण का दर्शन होता रहता है, इसलिये मेरा मन गीता के पाठ को छोड़ना नहीं चाहता।"

प्रभु के द्वारा शुद्धचित्त
एकान्तिक भक्त की प्रशंसा—

प्रभु कहे,—गीता-पाठे तोमारइ अधिकार।
तुमि से जानह एइ गीतार अर्थ-सार॥"१०२॥

१०२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उस ब्राह्मण से कहा—"वास्तव में तुम्हें ही गीता पढ़ने का अधिकार है। तुम ही वास्तव में गीता के श्लोकों के अर्थ के सार को जानते हो।

अनुभाष्य

१०२। भा: ७/५/२३ एवं "भक्त्या भागवतं ग्राह्यं न बुद्धया न च टीकया", "गीता-धीता च येनापि भक्ति भावेन चेतसा। वेद शास्त्र पुराणानि तेनाधीतानि सर्वश:॥" प्रभृति एवं (श्वे: उ: ६/२३)—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थ: प्रकाशान्ते महात्मन:॥" इत्यादि द्रष्टव्य।

प्रभु के द्वारा ब्राह्मण को आलिङ्गन
और ब्राह्मण को प्रभु में कृष्ण का ज्ञान—

एत बलि' सेइ विप्रे कैल आलिङ्गन।
प्रभु-पद धरि' विप्र करेन रोदन॥१०३॥
तोमा देखि' ताहा हैते द्विगुण सुख हय।
सेइ कृष्ण तुमि,—हेन मोर मने लय॥"१०४॥

१०३-१०४। प० अनु०—इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उस ब्राह्मण को आलिङ्गन किया और वह ब्राह्मण श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों को पकड़कर क्रन्दन करते हुये कहने लगा—"गीता पाठ के समय श्रीकृष्ण का दर्शन करके मुझे जिस आनन्द की प्राप्ति होती थी, उससे भी दो गुणा अधिक आनन्द की प्राप्ति आपके दर्शन से हो रही है, मेरा मन कहता है कि आप वही श्रीकृष्ण हैं।"

कर्मज्ञान-अन्याभिलाषशून्य अकैतव शुद्ध मन ही वृन्दावन,
उसी मन में ही सम्विद् विग्रह कृष्ण का अधिष्ठान—

कृष्णस्फूर्त्ये ताँर मन हञाछे निर्मल।
अतएव प्रभुर तत्त्व जानिल सकल॥१०५॥

१०५। प० अनु०—(श्रील कविराज गोस्वामी कहते हैं कि) उस ब्राह्मण के हृदय में श्रीकृष्ण की स्फूर्त्ति हुई थी, जिससे उसका हृदय निर्मल हो गया था तथा इसी कारण वह श्रीचैतन्य महाप्रभु के तत्त्व के विषय में सबकुछ जानने में समर्थ हुआ था।

अनुभाष्य

१०५। मध्य, षष्ठ परिच्छेद ८३-८४ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु के द्वारा अपने को दूसरों के समक्ष
प्रचार करने हेतु निषेध लौकिक आचार
सम्मत होने पर भी असुर लोगों की वञ्चना—

तबे महाप्रभु ताँरे कराइल शिक्षण।
एइ बात् काँहा ना करिह प्रकाशन॥"१०६॥

१०६। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उस ब्राह्मण को शिक्षा देते हुए कहा कि तुम जो सब बोल रहे

हो, इन बातों को किसी के भी समक्ष प्रकाशित मत करना।"

प्रभु-भक्त ब्राह्मण—

सेइ विप्र महाप्रभुर बड़ भक्त हैल।
चारि मास प्रभु-सङ्ग कभु ना छाड़िल॥१०७॥

१०७। प० अनु०—वह ब्राह्मण श्रीचैतन्य महाप्रभु के बहुत श्रेष्ठ भक्त बन गये और जिन चार महीनों में श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीरङ्गम में थे, उस समय उस ब्राह्मण ने कभी भी उनका साथ नहीं छोड़ा।

वेयङ्कटभट्ट के घर में प्रभु गौरचन्द्र—

एइमत भट्टगृहे रहे गौरचन्द्र।
निरन्तर भट्ट-सङ्गे कृष्णकथानन्द॥१०८॥

१०८। प० अनु०—इस प्रकार श्रीगौरचन्द्र ने वेयङ्कट भट्ट के घर में वास किया था और निरन्तर भट्ट के साथ कृष्णकथा के माध्यम से आनिन्दत हुए थे।

लक्ष्मी-नारायण के सेवक भट्ट श्रीसम्प्रदायी—

'श्री-वैष्णव' भट्ट सेवे लक्ष्मी नारायण।
ताँर भक्ति देखि' प्रभुर तुष्ट हैल मन॥१०९॥

१०९। प० अनु०—वयेङ्कट भट्ट 'श्रीवैष्णव' सम्प्रदाय के थे इसलिये वे श्रीलक्ष्मी-नारायण की सेवा करते थे। उनकी भक्ति को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु बहुत सन्तुष्ट हुए थे।

प्रभु के साथ उनका सख्य भाव—

निरन्तर ताँर सङ्गे हैल सख्यभाव।
हास्य-परिहासे दुँहे सख्येर स्वभाव॥११०॥

११०। प० अनु०—वयेङ्कट भट्ट के साथ निरन्तर रहने के कारण श्रीचैतन्य महाप्रभु का उनसे सख्य भाव हो गया था तथा सख्य भाव की स्वाभाविक रीति के अनुसार दोनों सखा की भाँति हास-परिहास करते थे।

प्रभु की उनको कृष्ण सेवा प्रदान करने की इच्छा, प्रभु और भट्ट का संवाद, प्रभु का कौतुक पूर्ण प्रश्न—लक्ष्मी और गोपियों की कृष्णसेवा का वैशिष्ट्य—

प्रभु कहे,—भट्ट, तोमार लक्ष्मी-ठाकुराणी।
कान्त-वक्षःस्थिता, पतिव्रता-शिरोमणि॥१११॥

१११। प० अनु०—श्रीचैतन्य महप्रभु ने कहा—"भट्ट! आपकी ठाकुराणी श्रीलक्ष्मी देवी पतिव्रता शिरोमणि है और सदा अपने कान्त के वक्षःस्थल पर विराजमान रहती है।

नारायण के आश्रित होते हुये भी लक्ष्मी का कृष्ण के माधुर्य से आकर्षित होकर कृष्ण का सङ्ग प्राप्त करने की प्रार्थना—

आमार ठाकुर कृष्ण—गोप, गो-चारक।
साध्वी हआ केने चाहे ताँहार सङ्गम॥११२॥

११२। प० अनु०—मेरे ठाकुर श्रीकृष्ण एक गोप हैं और गो-चारण करते हैं। परन्तु तुम्हारी ठाकुराणी साध्वी होकर भी मेरे ठाकुर श्रीकृष्ण का सङ्ग क्यों चाहती है?

कृष्ण को प्राप्त करने के लिये लक्ष्मी की कठोर तपस्या—

एइ लागि' सुखभोग छाड़ि' चिरकाल।
व्रत-नियम करि' तप करिल अपार॥११३॥

११३। प० अनु०—श्रीकृष्ण का सङ्ग प्राप्त करने के लिये लक्ष्मीदेवी ने बहुत लम्बे समय तक वैकुण्ठ के समस्त सुख-भोगों को छोड़कर नियमपूर्वक व्रत करते हुये बहुत कठोर तप किया था।"

श्रीमद्भागवत (१०/१६/३६)—

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे
तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपो
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता॥११४॥

११४। श्लोकानुवाद—हे देव, जिनकी चरणरज को प्राप्त करने की वासना से लक्ष्मी ने बहुत समय तक समस्त प्रकार के कार्यों का परित्याग करके दृढ़व्रत धारण करके तपस्या की थी, उस चरणरज को इस कालिय

नाग ने किस सुकृति के द्वारा लाभ करने का अधिकार प्राप्त किया, उसे हम नहीं जानती।

अनुभाष्य

११४। मध्य, अष्टम परिच्छेद १४७ संख्या द्रष्टव्य।

सरल वयेङ्कट भट्ट का उत्तर, कृष्ण के साथ नारायण की पत्नी के सतित्व की हानि की असम्भावना—

भट्ट कहे, कृष्ण-नारायण—एकइ स्वरूप।
कृष्णेते अधिक लीला-वैदग्ध्यादिरूप॥११५॥
ताँर स्पर्शे नाहि जाय पतिव्रता-धर्म।
कौतुके लक्ष्मी चाहेन कृष्णेर सङ्गम॥११६॥

११५-११६। प० अनु०—वयेङ्कट भट्ट ने उत्तर दिया—"यद्यपि श्रीकृष्ण और श्रीनारायण दोनों एक ही स्वरूप हैं, तथापि श्रीकृष्ण में अधिक लीला वैदग्धादि है। श्रीकृष्ण के स्पर्श से श्रीलक्ष्मीदेवी का पतिव्रता धर्म नष्ट नहीं होता साथ ही, कौतुकवशतः श्रीलक्ष्मी ने श्रीकृष्ण के सङ्ग की इच्छा की थी। ।

अमृतप्रवाह भाष्य

११५-११६। नारायण ही कृष्ण की विलास-मूर्त्ति हैं, अतएव कृष्ण से उनका स्वरूप द्विभुज-चतुर्भुज के भेद के होने पर भी पृथक् नहीं है। नारायण में कृष्ण के समान लालित्य होने पर भी कृष्ण जैसी वैदग्ध आदि रूपी लीला नहीं है। कृष्ण ही जब विलासमूर्त्ति में नारायण है, तब नारायण-पत्नी लक्ष्मी का श्रीकृष्ण के स्पर्श से पतिव्रता धर्म नष्ट नहीं होता। अतएव कृष्ण से सङ्गम के लिये लक्ष्मी में कौतुक होना स्वाभाविक ही है।

अनुभाष्य

१११-११६। आदि पञ्चम परिच्छेद २२३ संख्या एवं मध्य अष्टम परिच्छेद १४६ संख्या द्रष्टव्य।

कृष्ण और नारायण की लीला का वैचित्र्य—
भक्तिरसामृतसिन्धु (१/२/५९)—

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीश-कृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥११७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

११७। 'नारायण' और 'कृष्ण' के दो स्वरूपों में सिद्धान्त के अनुसार कोई भेद नहीं है, तथापि शृङ्गार रस के विचार से श्रीकृष्ण रूप ने ही रस के द्वारा उत्कर्षता प्राप्त की है। इसी प्रकार ही रस की स्थापना होती है।

अनुभाष्य

११७। सिद्धान्ततः (वस्तुतत्त्वतः) श्रीशकृष्ण-स्वरूपयोः (नारायण-कृष्णतत्त्वयोः) अभेदे सति अपि रसेन कृष्णरूपम् (एव) उत्कृष्यते,—एषा रसस्थितिः (रस-स्वभावः)। आदि द्वितीय, तृतीय परिच्छेद एवं लघुभागवतामृत द्रष्टव्य।

कृष्णसङ्गे पतिव्रता-धर्म नहे नाश।
अधिक लाभ पाइये, आर रास-विलास॥११८॥
विनोदिनी लक्ष्मीर हय कृष्णे अभिलाष।
इहाते कि दोष, केने कर परिहास॥११९॥

११८-११९। प० अनु०—श्रीकृष्ण के सङ्ग से लक्ष्मी का पतिव्रत-धर्म नष्ट नहीं होता, बल्कि श्रीकृष्ण का सङ्ग होने से रास विलास के कारण अधिक लाभ ही प्राप्त हो सकता है। श्रीलक्ष्मी देवी विनोदिनी है अर्थात् आनन्द का आस्वादन करती हैं, इसलिए वे यदि श्रीकृष्ण के सङ्ग की अभिलाषा करती है तो इसमें दोष ही क्या है? आप क्यों उनका परिहास कर रहे हैं?"

प्रभु का पुनः प्रश्न—

प्रभु कहे,—दोष नाहि, इहा आमि जानि।
रास ना पाइल लक्ष्मी, शास्त्रे इहा शुनि॥१२०॥

१२०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"इसमें कोई दोष नहीं है, यह मैं भी जानता हूँ। परन्तु मैंने शास्त्रों में सुना है कि लक्ष्मी देवी को रास में प्रवेश की प्राप्ति नहीं हुयी।

व्रजगोपियों की महिमा—श्रीमद्भागवत (१०/४७/६०)—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः

स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजसुन्दरीणाम्॥१२१॥

१२१। श्लोकानुवाद—श्रीवृन्दावन में रासोत्सव के समय श्रीकृष्ण के भुजदण्ड द्वारा गृहीत कण्ठ व्रजसुन्दरियों के प्रति जो-कृपा उदित हुई थी, वह वक्षः स्थल पर स्थित लक्ष्मी आदि परव्योम की अत्यधिक अनुगत शक्तियों को भी प्राप्त नहीं हुई थी, कमल की गन्ध के प्रभाव वाली स्वर्ग की रमणियों को भी उस प्रकार की कृपा की प्राप्ति नहीं हुई, तब अन्य स्त्रियों के बारे में तो क्या कहुँ?

अनुभाष्य

१२१। मध्य अष्टम परिच्छेद ८० संख्या द्रष्टव्य।

गोपियों के आनुगत्य के बिना लक्ष्मी का
कृष्ण के साथ रासविलास असम्भव—

लक्ष्मी केने ना पाइल, इहार कि कारण।
तप करि' कैछे कृष्ण पाइल श्रुतिगण॥१२२॥

१२२। प० अनु०—लक्ष्मी को रास में प्रवेश क्यों नहीं मिला? दूसरी ओर सुना जाता है कि तपस्या करके श्रुतियों ने श्रीकृष्ण को रासलीला में प्राप्त किया था। इसका क्या कारण है?

गोपियों के आनुगत्य से ही श्रुतियों को
रागमार्ग से कृष्णसेवा की प्राप्ति—
श्रीमद्भागवत (१०/८१/२३)—

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि य-
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्र-भोगभुजदण्डविषक्त-धियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः॥१२३॥

१२३। श्लोकानुवाद—मुनियों ने प्राणायाम द्वारा निश्वास को जीत करके मन और इन्द्रियों को दृढ़रूप से योग युक्त करके हृदय में जिस ब्रह्म की उपासना की थी, भगवान् के शत्रुओं ने भी उनके अनुध्यान के बल से उस ब्रह्म में प्रवेश किया था, व्रज स्त्रियों ने श्रीकृष्ण के साँप के शरीर के समान दिखायी देने वाली भुजाओं के सौन्दर्य रूपी हलाहल विष द्वारा हत बुद्धि होकर उनके चरणकमलों की सुधा को प्राप्त किया था। हमनें भी वैसी गोपी देह प्राप्त करके गोपीभाव से उनके चरणकमलों की सुधा का पान किया है।

अनुभाष्य

१२३। मध्य अष्टम परिच्छेद २२४ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु के द्वारा पूछे गये प्रश्न का
उत्तर देने में भट्ट की असमर्थता—

श्रुति पाय, लक्ष्मी ना पाय, इथे कि कारण।"
भट्ट कहे,—इहा प्रवेशिते नारे मोर मन॥१२४॥
आमि जीव,—क्षुद्रबुद्धि, सहजे अस्थिर।
ईश्वरेर लीला—कोटिसमुद्र-गम्भीर॥१२५॥

१२४-१२५। प० अनु०—जब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा कि "श्रुतियों को रास की प्राप्ति हुयी परन्तु लक्ष्मी को नहीं हुई, इसका क्या कारण है?" तब वयेङ्कट भट्ट ने उत्तर दिया—"इस रहस्य में प्रवेश करने की शक्ति मुझमें नहीं है। मैं तो एक क्षुद्र बुद्धि युक्त जीव हूँ और स्वभाव से ही अस्थिर हूँ तथा भगवान् की लीला करोड़ो समुद्रों की भाँति गम्भीर है।

प्रभु की कृपा से ही प्रभु की लीला का ज्ञान—

तुमि साक्षात् सेइ कृष्ण, जान निजकर्म।
जारे जानाह, सेइ जाने तोमार लीलामर्म॥१२६॥

१२६। प० अनु०—आप साक्षात् वही श्रीकृष्ण हैं। आप ही अपनी लीलाओं के उद्देश्यों को जानते हैं तथा आप जिसे उनको जनाना चाहते हैं वही आपकी लीलाओं के मर्म को जान पाता है।

अनुभाष्य

१२६। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्"—(कठ, २/२३, मुः उः ३/२/३)।

प्रभु के द्वारा सद् उत्तर; कृष्ण और व्रजवासी,
दोनों के सहज रागात्मक स्वभाव का वर्णन—

प्रभु कहे, कृष्णेर एक सजीव लक्षण।
स्वमाधुर्ये सर्व चित्त करे आकर्षण॥१२७॥
व्रजलोकेर भावे पाइये ताँहार चरण।
ताँरे ईश्वर करि' नाहि जाने व्रजजन॥१२८॥
केह ताँरे पुत्र-ज्ञाने उदुखले बान्धे।
केह सखा-ज्ञाने जिनि' चड़े ताँर कान्धे॥१२९॥
'व्रजेन्द्रनन्दन' बलि' ताँरे जाने व्रजजन।
ऐश्वर्यज्ञाने नाहि कोन सम्बन्ध-मानन॥१३०॥
व्रजलोकेर भावे जेइ करये भजन।
सेइ व्रजे पाय शुद्ध व्रजेन्द्रनन्दन॥१३१॥

१२७-१३१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"श्रीकृष्ण का एक स्वभाविक लक्षण है कि वे अपने माधुर्य के द्वारा सबके चित्त को आकर्षित करते हैं और केवल व्रजवासियों के भावों के आनुगत्य के द्वारा ही श्रीकृष्ण के चरणाश्रय की प्राप्ति की जा सकती है। वे व्रजवासी जानते ही नहीं है कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं। व्रज में कोई उन्हें अपना पुत्र मानकर उन्हें ऊखल से बाँध देता है तो कोई उन्हें सखा मानकर खेल में उनसे जीतकर उनके कन्धें पर चढ़ जाता है। व्रजवासी लोग कृष्ण को व्रजराज श्रीनन्द महाराज के पुत्र के रूप में ही जानते हैं, ऐश्वर्य ज्ञान से श्रीकृष्ण के साथ उनका किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये जो व्रजवासियों के भावों के अनुगत होकर श्रीकृष्ण का भजन करता है वे ही व्रज में व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण को प्राप्त करता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१२७। 'सजीव लक्षण',—क्रियालक्षण; पाठान्तर में 'स्वभाव लक्षण', इसका अर्थ स्पष्ट है। तीसरा पाठान्तर 'स्वभाव-विलक्षण',—कृष्ण का स्वभाव दूसरों के स्वभाव से भिन्न प्रकार का है, अथवा 'विलक्षण'—शब्द का अर्थ विशिष्ट लक्षण है।

१२९। उदुखल—ओखली अर्थात् पीसने का कार्य करने वाला एक यन्त्र।

१३०-१३१। व्रजवासी उन्हें 'नन्दनन्दन' के रूप में ही जानते हैं। परम ऐश्वर्यशाली 'परमेश्वर' कहकर उनके साथ जो एक अन्य प्रकार का सम्बन्ध है, वे उसे नहीं मानते। व्रजवासियों के दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर, इन चारों प्रकार में से कोई भाव ग्रहण करके जो परमतत्त्व का भजन करता है; वह चरम अवस्था में व्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण को शुद्ध रूप में व्रजधाम में प्राप्त होता है।

अनुभाष्य

१२७। आदि, चतुर्थ परिच्छेद १३७-१५८ संख्या एवं मध्य, अष्टम परिच्छेद १३८, १४२, १४६, १४८ संख्या द्रष्टव्य।

१२८-१३०। प्रथम छत्र,—आदि चतुर्थ परिच्छेद ३३ संख्या, मध्य अष्टम परिच्छेद २०४-२०५, २२०-२२२, २२८-२३० संख्या द्रष्टव्य। द्वितीय छत्र,—आदि चतुर्थ परिच्छेद २१-२६ संख्या द्रष्टव्य।

श्रीमद्भागवत (१०/९/२१)—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥१३२॥

१३२। श्लोकानुवाद—यशोदा के पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण भक्ति करने वाले देहधारियों के लिये जिस प्रकार सुलभ है, आत्मभूत ज्ञानियों के लिये वैसे नहीं।

अनुभाष्य

१३२। मध्य, अष्टम परिच्छेद २२७ संख्या द्रष्टव्य।

गोपियों के आनुगत्य से श्रुतियों
को रास में कृष्णसेवा की प्राप्ति—

श्रुतिगण गोपीगणेर अनुगत हञा।
व्रजेश्वरीसुत भजे गोपीभाव लञा॥१३३॥
बाह्यान्तरे गोपीदेह व्रजे जबे पाइल।
सेइ देहे कृष्णसङ्गे रासक्रीड़ा कैल॥१३४॥

१३३-१३४। प० अनु०—श्रुतियों ने भी गोपियों के अनुगत होकर उन्हीं के भाव का अवलम्बन करके व्रजेश्वरी श्रीयशोदा के पुत्र श्रीकृष्ण का भजन किया

था। अन्तर में गोपीभाव के साथ-साथ जब श्रुतियों को बाहर में व्रज में गोपी देह की प्राप्ति हुई तब उस देह के साथ उन्होंने श्रीकृष्ण के साथ रासलीला में अंश ग्रहण किया था।

गोपी के अतिरिक्त अन्य चिन्मयी स्त्री के
लिये भी मधुर-सेवा-प्राप्ति असम्भव—

गोपजाति कृष्ण, गोपी—प्रेयसी ताँहार।
देवी वा अन्य स्त्री कृष्ण ना करे अङ्गीकार॥१३५॥

१३५। प० अनु०—श्रीकृष्ण जाति से गोप हैं तथा गोपियाँ उनकी प्रेयसियाँ हैं। अत: श्रीकृष्ण गोपियों के अतिरिक्त अन्य किसी और देवी या स्त्री का सङ्ग नहीं करते।

लक्ष्मी के ऐश्वर्य ज्ञान से
कृष्ण का सङ्ग असम्भव—

लक्ष्मी चाहे सेइ देहे कृष्णेर सङ्गम।
गोपिका-अनुगा हआ ना कैल भजन॥१३६॥
अन्य देहे ना पाइये रासविलास।
अतएव 'नायं' श्लोक कहे वेदव्यास॥१३७॥

१३६-१३७। प० अनु०—लक्ष्मी अपनी वैकुण्ठीय देह से ही श्रीकृष्ण का सङ्ग प्राप्त करना चाहती थी। किन्तु उन्होंने गोपियों के अनुगत होकर श्रीकृष्ण का भजन नहीं किया था। परन्तु गोपी देह के अतिरिक्त अन्य किसी देह के द्वारा श्रीकृष्ण के साथ रास विलास का आस्वादन सम्भवपर नहीं है। इसलिये श्रीवेदव्यास ने श्रीमद्भागवत में 'नायं' श्लोक कहा है।"

पहले 'श्रीवैष्णव' सम्प्रदाय के
वयेङ्कट भट्ट की नारायण की ही
'स्वयंरूप' के रूप में धारणा—

पूर्वे भट्टेर मने एक छिल अभिमान।
'श्रीनारायण' हयेन स्वयं भगवान्॥१३८॥
ताँहार भजन सर्वोपरि-कक्षा हय।
'श्री-वैष्णवे'र भजन एइ सर्वोपरि हय॥१३९॥
एइ ताँर गर्व प्रभु करिते खण्डन।
परिहासद्वारे उठाय एतेक वचन॥१४०॥

१३८-१४०। प० अनु०—(श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कहते हैं कि—) पहले वयेङ्कट भट्ट के मन में एक अभिमान था कि श्रीनारायण ही स्वयं भगवान् है और नारायण का भजन करना ही सर्वश्रेष्ठ है तथा श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की भजन परिपाटी ही सर्वोपरि है। परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनके इसी गर्व को खण्डित करने के उद्देश्य से ही परिहास के छल से ये सब वचन कहे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३३-१४०। श्रुतियाँ श्रीकृष्ण के रासमण्डल में प्रवेश करने की चेष्टा करने पर भी जब सफल नहीं हो पायीं, एवं केवल हृदगत गोपी भाव को लेकर भी जब प्रवेश नहीं कर पायी, तब बाह्य गोपी-देह और हृदय में गोपीभाव को ग्रहण करके गोपियों के अनुगत होकर श्रीकृष्ण के रास में प्रविष्ट हुई। श्रीकृष्ण—गोप जाति के हैं, गोपियाँ ही उनकी प्रेयसियाँ हैं, अतएव ऐश्वर्यमयी देवी के रूप में, 'कृष्ण सङ्गम' प्राप्त नहीं होता। लक्ष्मी देवी ने अपनी देवी की देह में ही कृष्ण के सङ्गम की प्रार्थना की थी, किन्तु उन्होंने गोपियों के स्वाभाविक अनुराग के अनुगत होकर भजन नहीं किया। इसलिये वे गोपी से पृथक् देह में रास विलास प्राप्त नहीं कर पायी। इसके सम्बन्ध में व्यासदेव ने "नायं सुखापो भगवान्" यह श्लोक लिखा है। व्येङ्कट भट्ट के मन में एक अभिमान था कि,—परव्योम में रहने वाले नारायण ही स्वयं भगवान् हैं, उनका भजन ही सर्वोपरि उपासना का विशेष स्तर है; अतएव श्रीसम्प्रदायी वैष्णवों का भजन ही सर्वोपरि है। इस वृथा गर्व का खण्डन करने के अभिप्राय से ही महाप्रभु ने परिहास द्वारा इस विचार को उठाया था।

अनुभाष्य

१३८-१३९। आदि द्वितीय परिच्छेद २३-२४, २८-११५ संख्या और लघुभागवतामृत में श्रीरूप गोस्वामी प्रभु का विचार आलोच्य है।

प्रभु के द्वारा कृष्ण और नारायण की
लीला के वैशिष्ट्य का वर्णन तथा
कृष्ण के स्वयं रूप होने का संस्थापन—

प्रभु कहे,—भट्ट, तुमि ना करिह संशय।
'स्वयं-भगवान्' कृष्ण एइ त' निश्चय॥१४१॥
कृष्णेर विलासमूर्त्ति—श्रीनारायण।
अतएव लक्ष्मी-आद्येर हरे तेंह मन॥१४२॥

१४१-१४२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"भट्ट! यह निश्चय रूप से जानो कि श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं। इस विषय में—तुम बिल्कुल भी संशय मत करना। श्रीनारायण श्रीकृष्ण की ही विलास मूर्त्ति हैं अतः इसलिए श्रीकृष्ण लक्ष्मी आदि अन्यान्य देवियों के मन का हरण करते हैं।

श्रीमद्भागवत (१/३/२८)—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे॥१४३॥

१४३। श्लोकानुवाद—राम-नृसिंहादि, पुरुषावतार के अंश अथवा कला हैं। किन्तु कृष्ण स्वयं भगवान् हैं; दैत्यों से पीड़ित लोगों की वे युग-युग में रक्षा करते हैं।

अनुभाष्य

१४३। आदि लीला द्वितीय परिच्छेद ६७ संख्या द्रष्टव्य।

नारायण हैते कृष्णेर असाधारण गुण।
अतएव लक्ष्मीर कृष्णे तृष्णा अनुक्षण॥१४४॥
तुमि ये पड़िला श्लोक, से हय प्रमाण।
सेइ श्लोके आइसे 'कृष्ण—स्वयं भगवान्'॥१४५॥

१४४-१४५। प० अनु०—श्रीकृष्ण में श्रीनारायण से अधिक असाधारण गुण हैं इसलिये लक्ष्मी का मन श्रीकृष्ण को प्राप्त करने की तृष्णा में सब समय अनुरक्त रहता है। आपने जिस श्लोक का उच्चारण किया था, उसी से ही यह प्रमाणित होता है कि 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं।'

भक्तिरसामृतसिन्धु (१/२/५९)—

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीश-कृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥१४६॥

१४६। श्लोकानुवाद—'नारायण' और 'कृष्ण' के दो स्वरूपों में सिद्धान्त के अनुसार कोई भेद नहीं है, तथापि शृङ्गार रस के विचार से श्रीकृष्ण रूप ने ही रस के द्वारा उत्कर्षता प्राप्त की है। इसी प्रकार ही रस की स्थापना होती है।

अनुभाष्य

१४६। मध्य, नवम परिच्छेद ११७ संख्या द्रष्टव्य।

लक्ष्मी कृष्ण का माधुर्य चाहती है परन्तु गोपियाँ
चतुर्भुज नारायण का ऐश्वर्य नहीं चाहती—

'स्वयं भगवान् कृष्ण' हरे लक्ष्मीर मन।
गोपिकार मन हरिते नारे 'नारायण'॥१४७॥

१४७। प० अनु०—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण लक्ष्मी के मन का हरण करते हैं, परन्तु श्रीनारायण गोपियों के मन का हरण नहीं कर सकते।

स्वयं कृष्ण के चतुर्भुज रूप का भी गोपियों द्वारा अनादर—

नारायणेर का कथा, श्रीकृष्ण आपने।
गोपिकारे हास्य कराइते हय 'नारायणे'॥१४८॥
'चतुर्भुज-मूर्त्ति' देखाय गोपीगणेर आगे।
सेइ 'कृष्ण' गोपिकार नहे अनुरागे॥"१४९॥

१४८-१४९। प० अनु०—श्रीनारायण की बात ही क्या? श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ हास्य करते हुए जब उनके सामने नारायण रूप धारण किया था। तब श्रीकृष्ण के उस चतुर्भुज रूप को देखकर उनके प्रति, गोपियों में अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ था।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४४-१४९। श्रीनारायण में साठ गुण हैं; उन गुणों से अधिक और भी श्रीकृष्ण के चार असाधारण गुण हैं, वह श्रीनारायण में नहीं हैं) यथा—(१) सर्वाद्भुत चमत्कार-लीला समुद्रविशिष्टता, (२) अतुल्य-मधुर-

प्रेम-परिशोभित-प्रिय मण्डल युक्तता (३) त्रिजन्मान-साकर्षिमुरलीगीत परायणता, (४) चराचर विस्मय कारि असमोर्द्ध रहित रूप-श्रीयुक्तता। ऐसे असा धारण चार गुणों से युक्त श्रीकृष्ण के प्रति ऐश्वर्य-स्वरूपिणी लक्ष्मी में भी अनुक्षण तृष्णा उत्पन्न होती है। 'सिद्धान्ततस्त्व-भेदेऽपि' जिस श्लोक को तुमने उच्चारण किया है, उसमें कृष्ण की ही स्वयं भगवत्ता प्रमाणित होती है। स्वयं भगवत्ता से युक्त कृष्ण ही लक्ष्मी के मन का हरण करते हैं। गोपियों के मन को हरण करने के उपयोगी चार गुण श्रीनारायण में नहीं होने के कारण, वे गोपियों के मन का हरण नहीं कर पाते। नारायण की बात तो दूर की है, श्रीकृष्ण परिहास पूर्वक स्वयं नारायण के रूप में 'प्रकाशित' होने पर भी गोपियों का उनमें अनुराग नहीं हुआ।

यहाँ पर विचारणीय यह है कि, श्रीरूप गोस्वामी-रचित 'भक्तिरसामृतसिन्धु' उनके (प्रभु के साथ वेयङ्कट भट्ट के साक्षात्कार के) अनेक दिनों के बाद विरचित हुई। तब श्रीवेयङ्कट भट्ट ने किस प्रकार इस ग्रन्थ के श्लोक को प्रमाण के रूप में उच्चारण किया था? हम यह सिद्धान्त करते हैं कि 'भक्तिरसामृतसिन्धु' आदि ग्रन्थ के जो-जो श्लोक इस ग्रन्थ की रचना से पहले व्यवहृत हुए है, ऐसा कहकर इस ग्रन्थ में उल्लिखित हुआ है, वह-वह श्लोक बहुत प्राचीन कृष्ण भक्तों में भी प्रचालित थे। श्रीरूप गोस्वामी ने उन्हें ही अपने ग्रन्थ में व्यवहार किया है, एवं कविराज-गोस्वामी की (चैतन्य चरितामृत) की रचना से पहले, श्रीरूप के सभी ग्रन्थ प्रणीत होने के कारण (कविराज गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ में श्रीरूप के) उन-उन ग्रन्थों से उद्धृत कहकर इन सब श्लोकों का उल्लेख किया है। अनेक स्थानों पर, कविराज गोस्वामी ने भावमात्र का अवलम्बन करके पूर्व गोस्वामियों के श्लोकों को कथोपकथन में प्रवेश कराया है।

अनुभाष्य

१४८-१४९। आदि, सप्तदश परिच्छेद २७७-२९३ संख्या द्रष्टव्य।

ललितमाधव (६/१४)—

गोपीनां पशुपेन्द्रनन्दनजुषो भावस्य कस्तां कृती
विज्ञातुं क्षमते दुरुहपदवीसञ्चारिणः प्रक्रियाम्।
आविष्कुर्वति वैष्णवीमपि तनुं तस्मिन् भुजैर्जिष्णुभि-
र्यासां हन्त चतुर्भिरद्भुतरुचिं रागोदयः कुञ्चति॥१५०॥

१५०। श्लोकानुवाद—किसी एक समय श्रीकृष्ण द्वारा कौतुकपूर्वक अद्भुत रुचि युक्त चतुर्भुज नारायण-मूर्त्ति प्रकाशित करने पर गोपियों के राग का उदय संकुचित हो गया। अतएव नन्दनन्दन के प्रति अनन्य भजनशील दुर्गम पारकीय-पथ का अवलम्बन करनेवाली गोपियों के भाव तथा क्रिया को कौन-सा पण्डित समझ सकता है?

अनुभाष्य

१५०। आदि, सप्तदश परिच्छेद २८१ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु के द्वारा लक्ष्मी और गोपियों के तत्त्व का समन्वय—

एत कहि' प्रभु ताँर गर्व चूर्ण करिया।
ताँरे सुख दिते कहे सिद्धान्त फिराइया॥१५१॥
दुःख ना भाविह, भट्ट, कैलूँ परिहास।
शास्त्रसिद्धान्त शुन, जाते वैष्णव-विश्वास॥१५२॥

१५१-१५२। प० अनु०—इस प्रकार वयेङ्कट भट्ट के गर्व को चूर्ण करने के बाद उसे प्रसन्न करने के लिये श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सिद्धान्त को घुमाकर कहा—"भट्ट! आप दुःख मत कीजिये मैंने तो परिहास के छल से आपको सब कहा है। अब आप शास्त्रों के उन सिद्धान्तों को सुनो, जिन पर वैष्णव विश्वास करते हैं।

स्वयं भगवान कृष्ण एवं नारायण का तत्त्व और सर्वलक्ष्मीमयी श्रीराधा और लक्ष्मी का तत्त्व—

कृष्ण-नारायण, जैछे एकइ स्वरूप।
गोपी-लक्ष्मी-भेद नाहि हय एकरूप॥१५३॥
एकइ विग्रहे करे नानाकार रूप।
गोपी-लक्ष्मी-भेद नाहि, जानिह 'स्वरूप'॥१५४॥

१५३-१५४। प० अनु—श्रीकृष्ण और श्रीनारायण जैसे एक ही स्वरूप हैं उसी प्रकार गोपी और लक्ष्मी में भी कोई भेद नहीं है, क्योंकि वे भी एक ही रूप हैं। एक ही विग्रह होते हुये श्रीराधिका अनेक प्रकार के रूपों को प्रकाशित करती हैं इसलिये गोपी और लक्ष्मी में कोई भेद नहीं है, केवल आप उनके 'स्वरूप' के विषय में ठीक से जानो।

अनुभाष्य

१५३। जिस प्रकार कृष्ण एवं नारायण,—वस्तुतः अभेद अर्थात् एक ही वस्तु है, उसी प्रकार गोपी एवं लक्ष्मी वस्तुतः अभिन्न हैं। रस द्वारा लक्ष्मी की अपेक्षा गोपी की उत्कर्षता होने पर भी दोनों को सिद्धान्ततः अभिन्न ही जानना चाहिए।

कृष्णतत्त्व और विष्णुतत्त्व एवं श्रीराधातत्त्व
और लक्ष्मीतत्त्व में भेदबुद्धि—अपराधजनक—

गोपीद्वारे लक्ष्मी करे कृष्णसङ्गास्वाद।
ईश्वरत्त्वे भेद मानिले हय अपराध॥१५५॥

१५५। प० अनु—गोपी के द्वारा ही लक्ष्मी श्रीकृष्ण के सङ्ग का आस्वादन करती हैं। ईश्वर के तत्त्व में अर्थात् उनके विभिन्न रूपों में भेद मानने से अपराध होता है।

भक्तों के स्वरूप के अनुरूप सेवा के भेद
से आराध्य वस्तु के माधुर्य और ऐश्वर्य में भेद—

एक ईश्वर—भक्तेर ध्यान-अनुरूप।
एकइ विग्रहे करे नानाकार रूप॥"१५६॥

१५६। प० अनु—एक ही ईश्वर भक्तों के ध्यान के अनुरूप भिन्न-भिन्न रूपों में स्वयं को प्रकाशित करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५१-१५६। महाप्रभु ने परिहास पूर्ण वाक्य परित्याग करके अन्त में कहा,—ओहे भट्ट, तुम दुःख मत करना; 'कृष्ण' और 'नारायण' जिस प्रकार अभिन्न हैं, गोपी और लक्ष्मी में भी उसी प्रकार अभिन्नता है,—सर्वलक्ष्मीमयी राधिका एक ही विग्रह में अनेक प्रकार के रूप प्रकाशित करती है। गोपियों के माध्यम से लक्ष्मी कृष्णसङ्ग का आस्वादन करती है एवं ऐश्वर्य देह में लक्ष्मी के रूप में नारायण के सङ्ग का आस्वादन करती हैं। ईश्वर तत्त्व में भेद नहीं है। भक्तों के भावों के भेद से एक ही चिद् विग्रह में अनेक प्रकार के आकार और रूप के ध्यान-भेद मात्र जानने चाहिए।

लघुभागवतामृत (१/३५७) में श्रीकृष्ण की परावस्था
के वर्णन में उद्धृत श्रीनारदपञ्चरात्र का वचन—

मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः॥१५७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५७। वैदुर्यमणि जिस प्रकार द्रव्यान्तरसम्बन्धस्थिति (वस्तु में अन्तर होने के कारण उसी के सम्बन्ध की स्थिति) के भेद से नीले या फिर पीले रङ्ग के भेद से देखने पर रूप भेद प्राप्त करती है, उसी प्रकार भक्त के भाव के अनुसार ध्यान भेद से एक अद्वितीय अच्युत की ध्यान में पृथक्-पृथक् अवस्था लक्षित होती है।

अनुभाष्य

१५७। मणिः (वैदूर्य) नीलादिभिः (गुणैः युतः सन्) यथा विभागेन (उपक्षितः भवति, यद्वा, विभागेन उपलक्षितः सन् नीलादिभिर्युतः भवति) तथा अच्युतः च्युति रहितः, यद्वा, नास्ति च्युतं क्षरणं भक्तानां यस्मात्—'न च्यवन्ते हि यद्भक्ता महत्यां प्रलयापदि। अतोऽच्युतोऽखिले लोके महद्भिः परिगीयते॥" (इति काशीखण्ड-वचनात्); ध्यानभेदात् (उपासनाभेदात्) (चतुर्भुज-द्विभुजाद्याकारभेदं शुक्लरक्तश्यामादिकं च) अवाप्नोति (औदार्यपराः आदौ गौरादिकं ततः माधुर्यपरभावापन्नाः गौराभिन्नरूपं श्यामादिकं पश्यन्ति)।

वेयङ्कट भट्ट का प्रभु को कृष्ण समझना—

भट्ट कहे,—काँहा आमि जीव पामर।
काँहा तुमि सेइ कृष्ण,—साक्षात् ईश्वर॥१५८॥

१५८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के सिद्धान्त को सुनकर वेयङ्कट भट्ट ने कहा—"कहाँ तो मैं एक अधम जीव और कहाँ आप वही कृष्ण—साक्षात् ईश्वर।

प्रभु के सिद्धान्त में भट्ट का दृढ़विश्वास—

अगाध ईश्वर-लीला किछुइ ना जानि।
तुमि जेइ कह, सेइ सत्य करि' मानि॥१५९॥

१५९। प० अनु०—ईश्वर की लीला अगाध (अनन्त) है, मैं कुछ भी नहीं जानता। आपने जो कहा, मैं उसे ही सत्य मानता हूँ।

उपास्य लक्ष्मीनारायण की कृपा
से ही प्रभु की कृपा की प्राप्ति—

मोरे पूर्ण कृपा कैल लक्ष्मी-नारायण।
ताँर कृपाय पाइनु तोमार चरण-दरशन॥१६०॥

१६०। प० अनु०—मुझ पर श्रीलक्ष्मी-नारायण ने पूर्ण कृपा की है, उनकी कृपा से ही मुझे आपके श्रीचरणकमलों का दर्शन प्राप्त हुआ है।

प्रभु की कृपा से भट्ट के द्वारा कृष्ण की सेवा आरम्भ—

कृपा करि' कहिले मोरे कृष्णेर महिमा।
जाँर रूप-गुणैश्वर्येर केह ना पाय सीमा॥१६१॥
एबे से जानिनु कृष्णभक्ति सर्वोपरि।
कृतार्थ करिले, मोरे कहिले कृपा करि'॥"१६२॥

१६१-१६२। प० अनु०—आपने मुझ पर कृपा करके मेरे समक्ष श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन किया है, जिनके रूप, गुण और ऐश्वर्य की सीमा का कोई भी पार नहीं पा सकता। अब मैं जान गया हूँ कि श्रीकृष्णभक्ति ही सर्वश्रेष्ठ उपासना है, आपने कृपा करके मुझे यह सब बतलाकर मुझे कृतार्थ कर दिया है।

भट्ट का प्रभु को प्रणाम और प्रभु का भट्ट को आलिङ्गन—

एत बलि' भट्ट पड़िला प्रभुर चरणे।
कृपा करि' प्रभु ताँरे कैला आलिङ्गने॥१६३॥

१६३। प० अनु०—इतना कहकर वेयङ्कट भट्ट श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्रीचरणकमलों में पड़ गये और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें आलिङ्गन प्रदान किया।

चतुर्मास्य के अन्त में प्रभु की पुनः दक्षिण-यात्रा—

चतुर्मास्य पूर्ण हैल, भट्ट-आज्ञा लञा।
दक्षिण चलिला प्रभु श्रीरङ्ग देखिया॥१६४॥

१६४। प० अनु०—इस प्रकार चतुर्मास्य के पूर्ण होने पर श्रीचैतन्य महाप्रभु वेयङ्कट भट्ट से आज्ञा लेकर और श्रीरङ्गनाथ का दर्शन करके दक्षिण की ओर चल दिये।

प्रभु का अनुगमन करने वाले भट्ट
को प्रभु के द्वारा सान्त्वना-प्रदान—

सङ्गेते चलिला भट्ट, ना जाय भवने।
ताँरे विदाय दिला प्रभु अनेक यतने॥१६५॥

१६५। प० अनु०—वेयङ्कट भट्ट श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ-साथ चलने लगे, वे अपने घर जाने के लिये प्रस्तुत नहीं थे, किन्तु बहुत प्रयत्न करके श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें विदा किया।

प्रभु के विरह में भट्ट—

प्रभुर वियोगे भट्ट हैल अचेतन।
एइ रङ्गलीला करे शचीर नन्दन॥१६६॥

१६६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के विरह में वेयङ्कट भट्ट मूर्च्छित होकर गिर पड़े। इस प्रकार श्रीशचीनन्दन ने अनेक प्रकार की लीलायें की।

ऋषभ पर्वत पर प्रभु के
द्वारा नारायण का दर्शन—

ऋषभ-पर्वते चलि' आइला गौरहरि।
नारायण देखिला ताँहा नतिस्तुति करि'॥१६७॥

१६७। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ऋषभ नामक पर्वत पर आ गये और वहाँ पर उन्होंने भगवान् श्रीनारायण के विग्रह का दर्शन करके उन्हें प्रणाम किया एवं स्तुति की।

अनुभाष्य

१६७। ऋषभ,—दक्षिण-कर्णाट में मादुरा जिले के एक प्रान्त में, मादुरा के १२ मील उत्तर में 'आनागड़मलय-पर्वत'; कुटकाचल के उपवन में जिस स्थान पर ऋषभदेव दावानल के द्वारा भस्मीभूत हुए थे, वही आजकल 'पालनि हिल' के नाम से विख्यात है।

परमानन्द पुरी के साथ मिलन—

परमानन्दपुरी ताँहा रहे चतुर्मास।
शुनि' महाप्रभु गेला पुरी-गोसाञिर पाश॥१६८॥

१६८। प० अनु०—श्रीपरमानन्द पुरी भी ऋषभ पर्वत पर रहकर चतुर्मास का पालन कर रहे थे। यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीपुरी गोसाञि के दर्शन हेतु उनके पास गये।

गुरु के रूप में पुरी की वन्दना और
पुरी के द्वारा प्रभु को आलिङ्गन—

पुरी-गोसाञिर प्रभु कैल चरण वन्दन।
प्रेमे पुरी-गोसाञि ताँरे कैल आलिङ्गन॥१६९॥
तिनदिन प्रेमे दोंहे कृष्णकथा-रङ्गे।
सेइ विप्र-घरे दोंहे रहे एकसङ्गे॥१७०॥
पुरी-गोसाञि बले,—आमि जाब पुरुषोत्तमे।
पुरुषोत्तम देखि' गौड़े जाब गंगास्नाने॥१७१॥
प्रभु कहे,—तुमि पुनः आइस नीलाचले।
आमि सेतुबन्ध हैते आसिब अल्पकाले॥१७२॥
तोमार निकटे रहि,—हेन वाञ्छा हय।
नीलाचले आसिबे मोरे हञा सदय॥१७३॥
एत बलि' ताँर ठाञि एइ आज्ञा लञा।
दक्षिणे चलिला प्रभु हरषित हञा॥१७४॥
परमानन्दपुरी तबे चलिला नीलाचले।
महाप्रभु चलि' तबे आइला श्रीशैले॥१७५॥

१६९-१७५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने जाकर श्रीपरमानन्द पुरी गोस्वामी के चरणों की वन्दना की और श्रीपुरी गोस्वामी ने प्रेम में विभोर होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का आलिङ्गन किया। तीन दिन तक दोनों ने एक ब्राह्मण के घर में वास किया तथा प्रेमपूर्वक कृष्णकथा के प्रसङ्गों में अपना समय व्यतीत किया। श्रीपुरी गोस्वामी ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से कहा—"मैं पुरुषोत्तम अर्थात् श्रीजगन्नाथ पुरी जाऊँगा और वहाँ श्रीपुरुषोत्तम श्रीजगन्नाथ का दर्शन करके गङ्गा स्नान करने के लिये गौड़देश जाऊँगा।" श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनसे कहा—"आप वहाँ से पुनः नीलाचल लौट आइयेगा, मैं भी सेतुबन्ध (रामेश्वर से) होकर कुछ ही दिनों में नीलाचल पहुँच जाऊँगा। मेरी इच्छा होती है कि मैं आपके पास रहूँ। इसलिये मेरी प्रार्थना को स्वीकार करके आप अवश्य ही नीलाचल आइयेगा।" इस प्रकार प्रार्थना करते हुये श्रीपुरी गोस्वामी से आज्ञा लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रसन्नता पूर्वक दक्षिण की ओर चल पड़े एवं श्रीपरमानन्द पुरी भी नीलाचल की ओर चल दिये और चलते-चलते श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीशैल पहुँच गये।

अनुभाष्य

१७०। सेइ विप्रघरे (उस ब्राह्मण के घर),—यहाँ पर कौन-सा ब्राह्मण उद्दिष्ट है, वह जानना कठिन है।

अनुभाष्य

१७५। श्रीशैल,—यहाँ पर किस श्रीशैल की बात कह रहे हैं, यह समझ नहीं आता; यह मल्लिकार्जुन का मन्दिर नहीं है, क्योंकि धारवाड़-जिले में अवस्थित श्रीशैल, यह नहीं भी हो सकती, (यदि उसी की बात हो रही है, तो) वह बेलग्राम के दक्षिण में है, वहाँ अनादिलिङ्ग 'मल्लिकार्जुन' (मध्य नवम परिच्छेद १५ संख्या) विराजमान है; "श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः। न्यवसत् परमप्रीतो ब्रह्म च त्रिदशैः सह॥" (माः भाः वन पर्व ५८ अः)।

प्रभु के साथ भव और भवानी का साक्षात्कार—

शिव-दुर्गा रहे ताँहा ब्राह्मणेर वेशे।
महाप्रभु देखि' दोंहार हइल उल्लासे॥१७६॥

१७६। प० अनु०—श्रीशैल पर शिव और दुर्गा ब्राह्मण दम्पति के वेश में रह रहे थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु को वहाँ देखकर वे दोनों अत्यन्त आनन्दित हुये।

प्रभु द्वारा दास-दासी (भव और भवानी) के घर में भिक्षा के छल से उनकी सेवा ग्रहण—

तिन दिन भिक्षा दिल करि' निमन्त्रण।
निभृते बसि' गुप्तवार्ता कहे दुइ जन॥१७७॥

१७७। प० अनु०—तीन दिन तक उन दोनों ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को निमन्त्रण करके भोजन कराया और एकान्त में बैठकर उन दोनों ने महाप्रभु के साथ कुछ गुप्त बातें की।

कामकोष्ठीपुरी में आगमन—

ताँर सङ्गे महाप्रभु करि इष्टगोष्ठी।
आज्ञा लञा आइला तबे पुरी कामकोष्ठी॥१७८॥

१७८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु उन दोनों के साथ इष्टगोष्ठी करने के बाद उनकी आज्ञा लेकर कामकोष्ठी पुरी में आ गये।

मादुरा में आगमन—

दक्षिण-मथुरा आइला कामकोष्ठी हैते।
ताँहा देखा हैल एक ब्राह्मण-सहिते॥१७९॥

१७९। प० अनु०—कामकोष्ठी से श्रीचैतन्य महाप्रभु दक्षिण-मथुरा (मादुरा) की ओर आये और वहाँ उनकी एक ब्राह्मण से भेंट हुई।

अनुभाष्य

१७९। दक्षिण-मथुरा,—वर्त्तमान समय में जिसको 'मादुरा' कहते हैं—भगाई-नदी के तट पर; यह 'शैव क्षेत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान पर्वत और वन से परिपूर्ण है। यहाँ 'रामेश्वर' 'सुन्दरेश्वर' और 'मीनाक्षी देवी' है। इन मीनाक्षी देवी का मन्दिर बहुत बड़ा और विशेष रूप से देखने योग्य है। यह नगरी बहुत समय तक पाण्ड्य वंशीय राजाओं के शासन के अधीन थी। मुसलमानों के आक्रमण से 'सुन्दर लिङ्ग' मन्दिर का बहुत सा अंश विध्वंस हो गया। १३७२ खृष्टाब्द में 'कम्पन उदयेर' ने मादुरा के सिंहासन पर अधिकार किया। बहुत पहले राजा कुलशेखर ने इस पुरी का निर्माण करके इसमें ब्राह्मणों के घरों को स्थापित किया। 'अनन्तगुणपाण्ड्य'—कुलशेखर से ग्यारहवें अधस्तन (वंशीय) है।

राम-भक्त ब्राह्मण के घर पर भिक्षा—

सेइ विप्र महाप्रभुके कैल निमन्त्रण।
रामभक्त सेइ विप्र—विरक्त महाजन॥१८०॥

१८०। प० अनु०—उस ब्राह्मण ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को भिक्षा के लिये निमन्त्रण किया। वह ब्राह्मण एक महान् तथा विरक्त राम भक्त था

स्नान के बाद प्रसाद सेवा के लिये प्रभु का आगमन, किन्तु ब्राह्मण का रसोई न बनाना—

कृतमालाय स्नान करि' आइला ताँर घरे।
भिक्षा कि दिबेन विप्र,—पाक नाहि करे॥१८१॥

१८१। प० अनु०—कृतमालाय नामक नदी में स्नान करके श्रीचैतन्य महाप्रभु उस ब्राह्मण के घर गये परन्तु उन्होंने वहाँ जाकर देखा कि वह ब्राह्मण भोजन क्या करायेगा उसने तो अभी तक रसोई भी नहीं बनायी थी।

अनुभाष्य

१८१। कृतमाला,—वर्त्तमान समय में 'वैगाई' अथवा 'भागाई' नदी की एक धारा। 'सुरुली' 'वराह-नदी' और 'वट्टिल्लागुन्टु'—ये तीन धाराएँ वैगाई नदी में आकर मिलती है। (भा: ११/५/३९)—"ताम्रपर्णी-नदी यत्र कृतमाला पयःस्विनी।"

ब्राह्मण के द्वारा रसोई न बनाना और प्रभु का उपवास—

महाप्रभु कहे ताँरे,—शुन महाशय।
मध्याह्न हैल, केने पाक नाहि हय॥१८२॥

१८२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उस ब्राह्मण से कहा—"सुनो महाशय! मध्याह्न का समय हो गया है, तब भी आपने अब तक रसोई नहीं बनायी।"

ब्राह्मण की मानसी उपासना—

विप्र कहे,—प्रभु, मोर अरण्ये वसति।
पाकेर सामग्री वने ना मिले सम्प्रति॥१८३॥
वन्य शाक-फल-मूल आनिबे लक्ष्मण।
तबे सीता करिबेन पाक-प्रयोजन॥१८४॥

१८३-१८४। प० अनु०—ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"प्रभु! मैं वन में वास करता हूँ और वन में रसोई बनाने की सामग्री शीघ्र नहीं मिलती। लक्ष्मण जब वन से शाक, फल और मूल इत्यादि लायेंगे तभी श्रीसीता देवी रसोई की व्यवस्था करेगी।"

सुनकर प्रभु की प्रसन्नता और ब्राह्मण का रन्धन—

ताँर उपासना शुनि' प्रभु तुष्ट हैला।
आस्ते-व्यस्ते सेइ विप्र रन्धन करिला॥१८५॥

१८५। प० अनु०—उस ब्राह्मण की उपासना के विषय में सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु बहुत प्रसन्न हुये। अन्त में उस ब्राह्मण ने बहुत शीघ्रता पूर्वक रसोई का कार्य सम्पन्न किया।

तृतीय प्रहर में प्रभु द्वारा भोजन, किन्तु ब्राह्मण का उपवास—

प्रभु भिक्षा कैल दिनेर तृतीयप्रहरे।
निर्विन्न सेइ विप्र उपवास करे॥१८६॥

१८६। प० अनु०—दिन के तीसरे प्रहर में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भोजन ग्रहण किया किन्तु दुःखी होने के कारण उस ब्राह्मण ने उपवास किया।

उपवास के कारण की जिज्ञासा—

प्रभु कहे—विप्र काँहे कर उपवास।
केने एत दुःख, केने करह हुताश॥१८७॥

१८७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उससे पूछा—"हे ब्राह्मण! आप उपवास क्यों कर रहे हैं? आप इतना दुःख क्यों कर रहे हैं? तथा किसलिए इतना हा-हुताश कर रहे हैं?

रावण के द्वारा सीतादेवी के अपहरण के विषय में विचारकर ब्राह्मण का दुःख और आत्महत्या का सङ्कल्प—

विप्र कहे,—मोर जीवने नाहि प्रयोजन।
अग्नि-जले प्रवेशिया छाड़िब जीवन॥१८८॥
जगन्माता महालक्ष्मी सीता-ठाकुराणी।
राक्षसे स्पर्शिल ताँरे,—इहा काने शुनि॥१८९॥
एइ शरीर धरिवारे कभु ना युयाय।
एइ दुःखे ज्वले देह, प्राण नाहि जाय॥"१९०॥

१८८-१९०। प० अनु०—उस ब्राह्मण ने कहा—"मेरे जीवित रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं अग्नि अथवा जल में प्रवेश करके अपना जीवन त्याग दूँगा। जगन्माता महालक्ष्मी स्वरूपा श्रीसीता ठाकुराणी का रावण नामक राक्षस ने स्पर्श किया तथा यह बात मुझे अपने कानों से सुनती पड़ती है। इस दुःख के कारण इस शरीर को धारण करना शोभा नहीं देता। इस दुःख से मेरा शरीर जलता है परन्तु प्राण नहीं निकलते।"

अमृतप्रवाह भाष्य

१८८। अग्नि-जले,—अग्नि में अथवा जल में।

प्रभु के द्वारा आश्वासन और सत् सिद्धान्त का वर्णन—

प्रभु कहे,—ए भावना ना करिह आर।
पण्डित हञा मने ना करह विचार॥१९१॥

१९१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उससे कहा—"ऐसा विचार फिर से कभी भी अपने मन में मत लाना, आप पण्डित होकर भी विचार क्यों नहीं करते हैं?

अधोक्षज वस्तु अक्षज चेष्टा के अतीत—

ईश्वर-प्रेयसी सीता—चिदानन्दमूर्ति।
प्राकृत-इन्द्रियेर ताँरे देखिते नाहि शक्ति॥१९२॥

१९२। प० अनु—श्रीसीता देवी भगवान् की प्रेयसी हैं, उनकी मूर्त्ति चिदानन्दमय है। प्राकृत इन्द्रियों में उन्हें देखने की शक्ति नहीं होती।

रावण किसी भी प्रकार से सीता
के दर्शन और स्पर्श योग्य नहीं—

स्पर्शिवार कार्य आछुक, ना पाय दर्शन।
सीतार आकृति-माया हरिल रावण॥१९३॥

१९३। प० अनु०—सीता को स्पर्श करने की बात तो दूर रहे! कोई उनका दर्शन भी नहीं कर सकता। उनकी मायिक आकृति का ही रावण ने हरण किया था।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९२-१९३। सीता स्वयं चिदानन्दमूर्त्ति है, उनकी चिद् आकृति की छाया स्वरूप माया सीता को ही रावण ने हरण किया था।

रावण के द्वारा छाया रूपी सीता का अपहरण—

रावण आसितेइ सीता अन्तर्धान कैल।
रावणेर आगे माया-सीता पाठाइल॥१९४॥

१९४। प० अनु०—रावण के आने पर ही वास्तविक सीता अन्तर्धान हो गयी थी और रावण के समक्ष उन्होंने अपने मायामय रूप को ही भेजा था।

वैकुण्ठ वस्तु जड़ के द्वारा नापी नहीं जा सकती—

अप्राकृत वस्तु नहे प्राकृत-गोचर।
वेद-पुराणेते एइ कहे निरन्तर॥१९५॥

१९५। प० अनु०—अप्राकृत वस्तु प्राकृत इन्द्रियों के समक्ष प्रकाशित नहीं होती। वेद और पुराण निरन्तर इसी सिद्धान्त की ही पुष्टि करते हैं।

अनुभाष्य

१९५। (कठोपनिषद द्वितीय अध्याय तृतीय व:)—"इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्वमुत्तमम्। सत्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥ अव्यक्तात् तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वञ्च गच्छति॥ न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाभि क्लिप्तो य एतद्विदुर-मृतास्ते भवन्ति॥ *** नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा॥ (भा: १०/८४/१३)—"यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादियु भौम इज्यधीः। यत्तीर्थ बुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जेनष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥"

प्रभु के द्वारा आश्वासन—

विश्वास करह तुमि आमार वचने।
पुनरपि कु-भावना ना करिह मने॥१९६॥

१९६। प० अनु०—आप मेरी बात पर विश्वास कीजिए और फिर कभी भी अपने मन में इस प्रकार की कु-भावना मत लाना।"

ब्राह्मण का प्रभु के वाक्यों पर विश्वास और भोजन—

प्रभुर वचने विप्रेर हइल विश्वास।
भोजन करिल, हैल जीवनेर आश॥१९७॥

१९७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के वचन सुनकर ब्राह्मण को विश्वास हुआ और उन्होंने भोजन किया तथा अब उनमें जीवन को धारण करने की आशा का सञ्चार हुआ।

दर्भशयन में 'रामचन्द्र' का दर्शन—

ताँरे आश्वासिया प्रभु करिला गमन।
कृतमालाय स्नान करि' आइला दुर्वशन॥१९८॥

१९८। प० अनु०—उस ब्राह्मण को आश्वासन देकर श्रीचैतन्य महाप्रभु वहाँ से चले गये और कृतमाला में स्नान करके दुर्वशन नामक स्थान पर आ गये।

अनुभाष्य

१९८। दुर्वशन,—'दर्भशयन' अथवा श्रीरामचन्द्रजी का मन्दिर, रामनाद से ७ मील पूर्व की ओर समुद्र के तट पर अवस्थित।

महेन्द्र पर्वत पर भृगुराम का दर्शन—

दुर्वशने रघुनाथे कैल दरशन।
महेन्द्र-शैले परशुरामेर कैल वन्दन॥१९९॥

१९९। प० अनु०—दुर्वशन में आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरघुनाथ का दर्शन किया और महेन्द्र पर्वत पर जाकर श्रीपरशुराम की वन्दना की।

अनुभाष्य

१९९। महेन्द्र-शैल,—'तिनेभेलि' के निकट इस पर्वत के प्रान्त में 'त्रिचिनगुड़ि'-नगर है; इसके पश्चिम में त्रिवांकुर-राज्य है। रामायण में महेन्द्र शैल का उल्लेख मिलता है।

प्रभु का धनुषकोटि तीर्थ में स्नान और
रामेश्वर का दर्शन तथा विश्राम—

सेतुबन्धे आसि' कैल धनुस्तीर्थे स्नान।
रामेश्वर देखि' ताँहा करिल विश्राम॥२००॥

२००। प० अनु०—वहाँ से सेतुबन्ध (रामेश्वर) में आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने धनुस्तीर्थ में स्नान किया और रामेश्वर का दर्शन करके वहाँ पर विश्राम किया।

अनुभाष्य

२००। सेतुबन्ध, धनुस्तीर्थ और रामेश्वर,—'मण्डपम्' और 'पम्वम्' द्वीप के बीच वाले समुद्र का कुछ अंश बालुकामय और कुछ अंश में जल मग्न पथ वर्त्तमान है। पम्वम् द्वीप की चौड़ाई—५.५ कोस और रास्ता—३ कोस का है। पम्वम्-बन्दरगाह से चार मील उत्तर में 'रामेश्वर'-मन्दिर है—"देवीपतन-मारभ्य गच्छेयुः सेतुबन्धम्॥" इस स्थान पर चौबीस तीर्थ हैं; उनमें से 'धनुष्कोटि' भी एक है—रामेश्वर से १२ मील दक्षिण-पूर्व एवं एस, आई, आर, लाईन के अन्तिम स्टेशन 'रामानादे' के निकट है। विभीषण की प्रार्थना के अनुसार अयोध्या वापिस लौटने से पहले श्रीरामचन्द्र (मतान्तर में लक्ष्मण) ने अपने धनुष की कोटि (कोने) के द्वारा सेतु (पुल) को भङ्ग (तोड़) दिया। इस धनुष्तीर्थ का दर्शन करने से पुनर्जन्म नहीं होता; धनुष्तीर्थ में स्नान करने से अग्निष्टोमादि यज्ञों की अपेक्षा अधिक फल प्राप्त होता है। पम्वम् द्वीपस्थ सेतुबन्ध में रामेश्वर-शिवमूर्त्ति अर्थात् 'राम ही जिनके ईश्वर है,—ऐसे भक्तावतार शिव की मूर्त्ति है।

ब्राह्मण की सभा में कूर्म
पुराण के पाठ का श्रवण—

विप्र-सभाय शुने ताँहा कूर्म-पुराण।
तार मध्ये आइला पतिव्रता-उपाख्यान॥२०१॥

२०१। प० अनु०—रामेश्वर में ब्राह्मण-सभा में बैठकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कूर्म पुराण की कथा को सुना, जिसमें पतिव्रता का उपाख्यान वर्णित हो रहा था।

अनुभाष्य

२०१। कूर्मपुराण,—वर्त्तमान समय के कूर्म-पुराण में केवलमात्र पूर्व और उत्तर—दो खण्ड ही प्राप्त होते हैं। वास्तविक कूर्म पुराण छय हजार श्लोक वाला नहीं; बल्कि उसमें सत्तरह हजार श्लोक थे। "तत् सप्तदशशहस्त्रं सुचतुः सहितं शुभम्। सप्तदश सहस्त्राणि लक्ष्मीकल्पानुषङ्गिकम्॥" (भागवत के मतानुसार)—यह अठारह महापुराणों में से पन्द्रहवाँ पुराण है।

रावण के द्वारा छाया सीता के
अपहरण के वृत्तान्त का श्रवण—

पतिव्रता-शिरोमणि जनक-नन्दिनी।
जगतेर माता सीता—रामेर गृहिणी॥२०२॥
रावण देखिया सीता लैल अग्निर शरण।
रावण हैते अग्नि कैल सीताके आवरण॥२०३॥
'मायासीता' रावण निल, शुनिला आख्याने।
शुनि' महाप्रभु हैल आनन्दित मने॥२०४॥
सीता लञा राखिलेन पार्वतीर स्थाने।
'माया सीता' दिया अग्नि वञ्चिला रावणे॥२०५॥
रघुनाथ आसि' जबे रावणे मारिल।
अग्नि-परीक्षा दिते सीतारे आनिल॥२०६॥
तबे मायासीता अग्न्ये कैल अन्तर्धान।
सत्य-सीता आनि' दिल राम-विद्यमान॥२०७॥

२०२-२०७। प० अनु०—उस उपाख्यान में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सुना कि पतिव्रता शिरोमणि जनक-

नन्दिनी एवं जगन्माता श्रीसीता श्रीराम की पत्नी हैं। रावण को देखकर श्रीसीता देवी ने अग्नि की शरण ली और अग्नि ने सीता को रावण से छिपा लिया। रावण द्वारा 'माया सीता' के हरण की कथा को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु बहुत प्रसन्न हुये। अग्नि देवता ने श्रीसीता को लेकर पार्वती के पास पहुँचा दिया और रावण के हाथ माया सीता को समर्पित कर उसकी वञ्चना की। फिर श्रीरघुनाथ ने आकर जब रावण का वध किया और श्रीसीता को अग्नि परीक्षा देने के लिये प्रस्तुत किया। तब अग्नि ने माया सीता को अन्तर्धान करके वास्तविक श्रीसीता देवी को लाकर श्रीराम को सौंप दिया।

सत्-सिद्धान्त सुनने से प्रभु
को आनन्द की प्राप्ति और
पुराण के ग्रन्थ के पन्नों को लेना—

ए-सब सिद्धान्त शुनि' प्रभुर आनन्द हैल।
ब्राह्मणेर स्थाने मागि' सेइ पत्र निल॥२०८॥
नूतन पत्र लेखाञा पुस्तके देओयाइल।
प्रतीति लागि' पुरातन पत्र मागि' निल॥२०९॥

२०८-२०९। प० अनु०—इन सब सिद्धान्तों को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को बहुत आनन्द हुआ तथा उन्होंने उन ब्राह्मणों से उस पृष्ठ को माँगकर ले लिया। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उस पुराने पृष्ठ की नकल करवा ली तथा उस नये पृष्ठ को पुस्तक में जोड़ दिया तथा प्रमाणिकता की पुष्टि के लिये उन्होंने ब्राह्मणों से पुराना पृष्ठ अपने पास रखने की अनुमति ले ली।

दक्षिण-मथुरा (मदुरा) में आकर
सीता-भक्त ब्राह्मण को पत्र अर्पण—

पत्र लञा पुनः दक्षिण-मथुरा आइला।
रामदास-विप्रे सेइ पत्र आनि' दिला॥२१०॥

२१०। प० अनु०—उस पृष्ठ को लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु पुनः दक्षिण मथुरा (मदुरा) में आये तथा रामदास नामक ब्राह्मण को वह पृष्ठ दे दिया।

रावण के द्वारा मायिक सीता को अपहरण
करने सूचक श्लोक—(कूर्म पुराण)—

सीतयाराधितो वह्निश्छायासीतामजीजनत्।
तां जहार दशग्रीवः सीता वह्निपुरं गता॥२११॥
परीक्षा-समये वह्निं छाया-सीता विवेश सा।
वह्निः सीतां समानीय तत्पुरस्तादनीनयत्॥२१२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२११-२१२। सीता के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर अग्नि ने 'छायासीता' प्रस्तुत की। दस मुख वाले रावण ने उसी सीता का हरण किया। मूलसीता 'बह्निपुर', (अग्निलोक) में ही रही। रामचन्द्र ने जब परीक्षा की, तब छायासीता ने अग्नि प्रवेश किया, अग्निदेव ने मूल सीता को लाकर रामचन्द्र के निकट उपस्थित किया।

अनुभाष्य

२११-२१२। सीतया (जनकनन्दिन्या) बह्निः (अग्नि-देवः) आराधितः (अर्चितः सन्) छाया-सीतां (मायामयीं तादृशीं मूर्त्तिम्) अजीजनत् (प्रकटितवान्)। दशग्रीवः (दशभिरिन्द्रियैः भोगपरायणः रावणः) तां (प्राकृतां छायासीताम् एव, न तु मूल सीतां, सीतायाः अधोक्षज तात्) जहार। (मूल) सीता (तु) बहिपुर गता। परीक्षा समये सा छाया सीता बह्नि विवेश। बह्निः तत्पुरस्तात् सीतां (मूलसीता) समानीय अनीनयत्।

कूर्मपुराण के पन्ने और श्लोक को
दर्शन कर ब्राह्मण को आनन्द—

पत्र पाञा विप्रेर हैल आनन्दित मन।
प्रभुर चरणे धरि' करये क्रन्दन॥२१३॥

२१३। प० अनु०—उस पृष्ठ को प्राप्त करके वह ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ और श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों को पकड़कर रोने लगा।

अमृप्रवाह भाष्य

२१३। कूर्मपुराण ग्रन्थ में नये पृष्ठ को लिखवाकर राम दास को दिखाने के लिये जिस पुराने पृष्ठ को

महाप्रभु लाये थे, उस पृष्ठ को पाकर विप्र का मन बहुत आनन्दित हुआ।

प्रभु को 'रघुनाथ' मानना—

विप्र कहे,—तुमि साक्षात् श्रीरघुनन्दन।
संन्यासीर वेषे मोरे दिला दरशन॥२१४॥

२१४। प० अनु०—ब्राह्मण ने कहा—"आप साक्षात् श्रीरघुनन्दन हैं आपने संन्यासी के वेश में मुझे अपने दर्शन दिये हैं।

ब्राह्मण की दीनता और प्रभु को निमन्त्रण कर भिक्षा प्रदान—

महा-दुःख हइते मोरे करिला निस्तार।
आजि मोर घरे भिक्षा कर अङ्गीकार॥२१५॥
मनोदुःखे भाल भिक्षा ना दिल सेइ दिने।
मोर भाग्ये पुनरपि पाइलुँ दरशने॥२१६॥
एत बलि' सेइ विप्र सुखे पाक कैल।
उत्तम प्रकारे प्रभुके भिक्षा कराइल॥२१७॥

२१५-२१७। प० अनु०—आपने महादुःख से मेरा उद्धार किया है। आज आप मेरे घर पर भिक्षा ग्रहण कीजिये। मन में दुःख होने के कारण मैं उस दिन आपको अच्छी तरह से भोजन नहीं करा सका। परन्तु आज मेरे अत्यधिक सौभाग्यवशतः मुझे पुनः आपका दर्शन प्राप्त हुआ है।" इतना कहकर उस ब्राह्मण ने आनन्दपूर्वक रसोई बनायी और उत्तम-उत्तम पदार्थों से श्रीचैतन्य महाप्रभु को भोजन कराया।

एक रात ब्राह्मण के घर पर वास और ताम्रपर्णी में स्नान—

सेइ रात्रि ताँहा रहि' ताँरे कृपा करि'।
पाण्ड्यदेशे ताम्रपर्णी गेला गौरहरि॥२१८॥

२१८। प० अनु०—उस रात को ब्राह्मण पर कृपा करने के लिये श्रीचैतन्य महाप्रभु उसी के घर पर रहे और दूसरे दिन पाण्ड्यदेश में ताम्रपर्णी के तट पर चले गये।

अनुभाष्य

२१८। पाण्डयदेश,—दक्षिण भारत के 'केरल' और 'चोल' राज्य के बीच वाला प्रदेश। यहाँ पर बहुत से 'पाण्ड्य' उपाधि धारण करने वाले राजाओं ने मादुरा और रामेश्वर में राज्य किया। रामायण में—"ताम्रपर्णीं ग्राहजुष्टां तरिष्य महानदीम्। स चन्दनवनैश्चित्रैः प्रच्छन्न-द्वीपवारिणीम्। युक्तं कपाटं पाण्ड्यानां गता द्रक्ष्ययथ वानराः॥"

ताम्रपर्णी—'तिनेभेलि' नदी के बाहिने तट पर अवस्थित; इसको 'परुणै' कहते है। यह 'पश्चिम घाट' पर्वत से बाहर निकलकर बङ्गोप सागर में मिलती है। (भाः ११/५/३९)—"ताम्रपर्णी-नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी।"

नय तिरुपति का दर्शन—

ताम्रपर्णी स्नान करि' ताम्रपर्णी-तीरे।
नय त्रिपति देखि' बुले कुतूहले॥२१९॥

२१९। प० अनु०—ताम्रपर्णी में स्नान करके श्रीचैतन्य महाप्रभु ने ताम्रपर्णी के तट पर स्थित 'नय त्रिपति' नामक श्रीविग्रह का दर्शन किया तथा कौतुहल पूर्वक वहाँ भ्रमण करने लगे।

अनुभाष्य

२१९। नय तिरुपति,—'आलोवर तिरुनगरी', यह नगर तिनेभेलि से १७ मील दक्षिण-पूर्व में है; इसके चारों ओर नौ श्रीपति अर्थात् विष्णु के मन्दिर वर्त्तमान है। नौ के नौ विग्रह ही पर्व (उत्सव) के उपलक्ष में इस नगर में एकत्रित होते हैं।

चियड़तला में राम-लक्ष्मण और
तिलकाञ्ची में शिव का दर्शन—

चियड़तला तीर्थे देखि' श्रीराम-लक्ष्मण।
तिलकाञ्ची आसि' कैल शिव दरशन॥२२०॥

२२०। प० अनु०—वहाँ से चियड़तला तीर्थ में आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीराम-लक्ष्मण का दर्शन किया और फिर तिलकाञ्ची में जाकर शिवजी का दर्शन किया।

अनुभाष्य

२२०। चियड़तला—किसी-किसी के मतानुसार 'छेरतला', नगरकैलेर के निकट; यह श्रीरामलक्ष्मण का मन्दिर है।

तिलकाञ्ची,—शिव मन्दिर, सम्भवतः यह तिनेभेलि नगर से ३० मील उत्तर-पूर्व दिशा में 'तेन काशी' को लक्ष्य करके कहा गया है।

गजेन्द्रमोक्षन में विष्णु और
पानागड़ि में राम का दर्शन—

गजेन्द्रमोक्षण-तीर्थे देखि' विष्णुमूर्त्ति।
पानागड़ि-तीर्थे आसि' देखिल सीतापति॥२२१॥

२२१। प॰ अनु॰—उसके बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु ने गजेन्द्रमोक्षण-तीर्थ में जाकर श्रीविष्णुमूर्त्ति का दर्शन किया और फिर पानागडि-तीर्थ में आकर श्रीसीतापति श्रीरामचन्द्र का दर्शन किया।

अनुभाष्य

२२१। गजेन्द्र-मोक्षन,—भ्रम के कारण कोई-कोई इसको नगर कैवेर से २ मील दक्षिण में स्थित 'स्थानुलिङ्ग' अथवा 'देवेन्द्र-मोक्षणशिव' के नाम से अभिहित करते हैं, वास्तव में ये श्रीविष्णु विग्रह हैं।

पानागड़ि—'पानागड़ि', त्रिवान्द्रम जाते समय तिनेभेलि से ३० मील दक्षिण में, किञ्चित् पश्चिम कोण में। पहले यहाँ पर श्रीराम मूर्त्ति थी, बाद में शैव लोग उनको 'रामेश्वर' अथवा 'रामलिङ्ग शिव' के रूप में पूजा करते आ रहे हैं।

चाम्तापुर में राम-लक्ष्मण और
श्रीवैकुण्ठ में विष्णु का दर्शन—

चाम्तापुरे आसि' देखि' श्रीराम-लक्ष्मण।
श्रीवैकुण्ठे आसि' कैल विष्णु-दरशन॥२२२॥

२२२। प॰ अनु॰—चाम्तापुर में आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीराम-लक्ष्मण का दर्शन किया और वहाँ से श्रीवैकुण्ठ में आकर श्रीविष्णु का दर्शन किया।

अनुभाष्य

२२२। चामटपुर,—सम्भवतः त्रिवांकुर-राज्य स्थित 'टेङ्गानुर; यहाँ पर राम-लक्ष्मण का मन्दिर है।

श्रीवैकुण्ठ,—'श्रीवैकुण्ठम्', आलोयार तिरुनगरी से चार मील उत्तर एवं तिनेभेलि से सोलह मील दक्षिण-पूर्व में ताम्रपर्णी नदी के बाँये तट पर अवस्थित है।

कुमारिका में अगस्त्य-दर्शन—

मलय-पर्वते कैल अगस्त्य-वन्दन।
कन्याकुमारी ताहाँ कैल दरशन॥२२३॥

२२३। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मलय-पर्वत पर आकर श्रीअगस्त्य ऋषि की वन्दना की और फिर कन्याकुमारी का दर्शन किया।

अनुभाष्य

२२३। मलय पर्वत,—दक्षिण भारत में केरल से कुमारिका अन्तरीप पर्यन्त फैली हुयी पर्वत श्रेणी। 'अगस्त्य' के सम्बन्ध में चार मत हैं,—(१) ताञ्जोर जिले में कलिमियार प्वाइंट में वेदारण्य के निकट अगस्त्यम् पल्ली ग्राम में एक अगस्त्य-मुनि का मन्दिर है; (२) मादुरा जिले में शिवगिरि पर्वत के शिखर पर अगस्त्य द्वारा निर्मित एक सुबह्मण्य (स्कन्द) का मन्दिर है; (३) कोई-कोई कुमारिका-अन्तरीप के निकटवर्ती पठिया-पर्वत को अगस्त्य का वास स्थान कहते हैं; (४) ताम्रपर्णी नदी के दोनों ओर मोचाकृति चोटी 'अगस्त्य-मलय' के नाम से जानी जाती है। कन्याकुमारी—कुमारिका-अन्तरीप।

आम्लितला में राम का दर्शन—

आमलितलाय देखि' श्रीराम गौरहरि।
मल्लार-देशेते आइला यथा भट्टथारि॥२२४॥

२२४। प॰ अनु॰—कन्याकुमारी का दर्शन करने के बाद श्रीगौरहरि ने आमलितला में श्रीरामचन्द्र का दर्शन किया और वहाँ से वे मल्लारदेश में आये जहाँ भट्टथारि नामक जाति के लोग वास करते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

२२४। भट्टथारि,—जिनको चलती भाषा में किसी-किसी स्थान पर 'भाट्ऽयारी' कहते हैं; इनका अपना कोई घर-द्वार नहीं होता। जब जहाँ रहते हैं, वहाँ 'शिरक्ति' अर्थात् साधारण से शिविर (तम्बु से बनी झोपड़ी) में रहते हैं। ये बाहर से संन्यासी का वेश धारण करते हैं, किन्तु इनका व्यवसाय,—चोरी करना और (दूसरों को) ठगना है; ये बहुत-सी स्त्रियों को ठगकर संग्रह करके अपने शिविर में रखते हैं एवं दूसरे लोगों को स्त्रियाँ दिखलाकर उन्हें भ्रमित करके अपने दल को बढ़ाते हैं। बंगाल में जैसे वेदों के टोल (स्कूल) हे, पश्चिम और दक्षिण भारत में उस प्रकार भाट ओयारीयों की 'शिरकि' है।

अनुभाष्य

२२४। मल्लार-देश,—म्यालेवार-देश। इसके उत्तर में दक्षिण-कानाड़ा (कन्नड़), पूर्व में कुर्ग और महीशूर, दक्षिण में कोचिन एवं पश्चिम में अरब-सागर है।

मालावरदेश में तमाल-कार्त्तिक और
वेतापनि में राम का दर्शन कर एक रात वास—

तमाल-कार्तिक देखि' आइल वेतापनि।
रघुनाथ देखि' ताँहा वञ्चिला रजनी॥२२५॥

२२५। प॰ अनु॰—तमाल-कार्त्तिक का दर्शन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु वेतापनि नामक स्थान पर आये और श्रीरघुनाथ का दर्शन कर वहीं पर रात व्यतीत की।

अनुभाष्य

२२५। तमाल कार्त्तिक,—तिनेभेलि से ४४ मील दक्षिण में एवं 'अरमवल्ली' गिरिसंकट से दो मील दक्षिण में, तोवल-तालुक के अन्तर्गत सुब्रह्मण्य अथवा कार्तिक देव का मन्दिर है।

वेतापनि,—'भृगुपति'; त्रिवांकुर राज्य में, नगर कैल के उत्तर में, तोबल-तालुक के बीच में। पहले श्रीमन्दिर में रामचन्द्र के विग्रह थे। लगता है, वही बाद में रामेश्वर अथवा भूतनाथ शिवलिङ्ग के नाम से पूजित हो रहे हैं।

भट्टथारि के चंगुल में प्रभु के सङ्गी कृष्णदास ब्राह्मण—

गोसाञिर सङ्गे रहे कृष्णदास ब्राह्मण।
भट्टथारि-सह ताँहा हैल दरशन॥२२६॥

कृष्णदास का दुःसङ्ग-सङ्ग-हेतु प्रभु सङ्ग-त्याग—

स्त्रीधन देखाञा ताँर लोभ जन्माइल।
आर्य सरल विप्रेर बुद्धिनाश कैल॥२२७॥

२२६-२२७। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ कृष्णदास नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी भट्टथारियों के साथ भेंट हो गयी। भट्टथारियों ने उन्हें स्त्री रूपी धन को दिखलाकर उनमें लोभ उत्पन्न कर दिया, जिससे सरल निष्ठावान् ब्राह्मण की बुद्धि नष्ट कर दी।

अनुभाष्य

२२६। भट्टथारि,—मध्य, प्रथम परिच्छेद ११२ संख्या द्रष्टव्य।

कृष्णदास को ढूँढ़ते हुये भट्टथारि
के घर पर प्रभु का आगमन—

प्राते उठि' आइला विप्र भट्टथारि-घरे।
ताहार उद्देशे प्रभु आइला सत्वरे॥२२८॥

२२८। प॰ अनु॰—सुबह होते ही वे ब्राह्मण भट्टथारियों के घर पर आ गया और उसे ढूँढ़ते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु भी शीघ्र वहाँ आ पहुँचे।

भट्टथारि के निकट प्रभु के द्वारा कृष्णदास की याचना—

आसिया कहेन सब भट्टथारिगणे।
आमार ब्राह्मण तुमि राख कि कारणे॥२२९॥
आमिह संन्यासी देख, तुमिह संन्यासी।
मोरे दुःख देह,—तोमार 'न्याय' नाहि वासि'॥२३०॥

२२९-२३०। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने वहाँ आकर भट्टथारियों से कहा—"मेरे साथ रहने वाले ब्राह्मण को तुमने अपने पास किसलिये रख लिया है? मैं संन्यासी हूँ और तुम भी संन्यासी हो, परन्तु फिर भी तुम मुझे दुःख दे रहे हो, इसका कोई न्यायसङ्गत कारण मुझे दिखायी नहीं देता।"

भट्टथारि के द्वारा प्रभु पर आक्रमण—

शुनि' सब भट्टथारि उठे अस्त्र लञा।
मारिबारे आइल सबे चारिदिके धाञा॥२३१॥

जैसा कर्म, वैसा फल—

तार अस्त्र तार अङ्गे पड़े हात हैते।
खण्ड खण्ड हैल भट्टथारि पलाय चारि भिते॥२३२॥

२३१-२३२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की बात को सुनकर सभी भट्टथारियों ने अपने अस्त्र उठा लिये और प्रभु को मारने के लिये चारों ओर से झपटने लगे परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु को मारने से पहले ही उन भट्टथारियों के अस्त्र उनके हाथों से छूटकर उनके ही अङ्गों पर आघात पहुँचाने लगे। इस प्रकार जब कुछेक भट्टथारियों के अङ्ग टुकड़े-टुकड़े होने लगे तब बाकी सब भट्टथारी चारों दिशाओं में भागने लगे।

प्रभु के द्वारा कृष्णदास ब्राह्मण के उद्धार—

भट्टथारि-घरे महा उठिल क्रन्दन।
केशे धरि' विप्रे लञा करिल गमन॥२३३॥

२३३। प० अनु०—तब भट्टथारियों के घर में बहुत जोर-जोर से क्रन्दन होने लगा और श्रीचैतन्य महाप्रभु कृष्णदास नामक ब्राह्मण को केशों से पकड़कर वहाँ से लेकर चल दिये।

आदिकेशव मन्दिर में विष्णु का दर्शन—

सेइ दिन चलि' आइला पयस्विनी-तीरे।
स्नान करि' गेला आदिकेशव-मन्दिरे॥२३४॥

प्रभु का नृत्य-गीत

केशव देखिया प्रेमे आविष्ट हैला।
नति, स्तुति, नृत्य, गीत, बहुत करिला॥२३५॥

दर्शकों का आश्चर्य चकित होना—

प्रेम देखि' लोके हैल महा-चमत्कार।
सर्वलोक कैल प्रभुर परम सत्कार॥२३६॥

२३४-२३६। प० अनु०—उस दिन चलते-चलते श्रीचैतन्य महाप्रभु पयस्विनी नदी के तट पर आ पहुँचे और उस नदी में स्नान कर आदिकेशव के मन्दिर में चले गये। आदिकेशव का दर्शन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रेम में आविष्ट हो गये और अनेक प्रकार से आदिकेशव के सामने प्रणाम, स्तुति, नृत्य तथा गीत गाने लगे। श्रीचैतन्य महाप्रभु के ऐसे भगवत् प्रेम को देखकर लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ और सभी लोगों ने प्रभु का बहुत आदर-सत्कार किया।

शुद्धभक्त के सङ्ग से ब्रह्मसंहिता
के पञ्चम अध्याय की प्राप्ति—

महाभक्तगणसह ताँहा गोष्ठी कैल।
'ब्रह्मसंहिताध्याय'-पूँथि ताँहा पाइल॥२३७॥

२३७। प० अनु०—आदिकेशव मन्दिर में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने महान् भक्तों के साथ इष्टगोष्ठी (भगवद् चर्चा) की तथा वहाँ उन्हें 'ब्रह्मसंहिता' नामक ग्रन्थ का पञ्चम अध्याय भी प्राप्त हुआ।

अमृतप्रवाह भाष्य

२३७। ब्रह्म-संहिता का अध्याय,—ब्रह्मसंहिता का पञ्चम अध्याय, जो अब बङ्गाल में श्रीजीव गोस्वामी की टीका के साथ प्राप्त होता है।

ग्रन्थ दर्शन करने से
प्रभु को आनन्द—

पूँथि पाञा प्रभुर हैल आनन्द अपार।
कम्पाश्रु-स्वेद-स्तम्भ पुलक विकार॥२३८॥

२३८। प० अनु०—इस ग्रन्थ को प्राप्त करके श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपार प्रसन्नता की प्राप्ति हुयी एवं कम्प, अश्रु, पुलक, स्वेद और स्तम्भ आदि अष्ट सात्त्विक विकार उनकी देह में प्रकाशित हो आये।

ब्रह्मसंहिता का माहात्म्य—

सिद्धान्त-शास्त्र नाहि 'ब्रह्मसंहिता'र सम।
गोविन्दमहिमा ज्ञानेर परम कारण॥२३९॥

अल्पाक्षरे कहे सिद्धान्त अपार।
सकल-वैष्णव-शास्त्र-मध्ये अति सार॥२४०॥

२३९-२४०। प० अनु०—ब्रह्मसंहिता के समान और कोई भी सिद्धान्त-शास्त्र नहीं है क्योंकि इसमें श्रीगोविन्द की महिमा के ज्ञान का चरम प्रकाश विद्यमान है। इस ग्रन्थ में थोड़े अक्षरों में ही अपार सिद्धान्त का वर्णन किया गया है तथा ये ग्रन्थ सभी वैष्णव-शास्त्रों में परम सार स्वरूप है।

अनुभाष्य

२३७-२४०। ब्रह्मसंहिताध्याय,—'ब्रह्मसंहिता' ग्रन्थ का पञ्चम अध्याय। इसमें अचिन्त्यभेदाभेद, अभ्यास, अष्टादशाक्षर मन्त्र, आत्मा, आत्माराम, कर्म, काम गायत्री, कामबीज, कारणब्धिशायी, कृष्णधाम का चिद् विशेष, गणेश, गर्भोदकशायी, गायत्री-उत्पत्ति, गोकुल गोविन्द-रूप, स्वरूप-तत्त्व और धाम, जीवतत्त्व, जीव का प्राप्य स्वरूप, दुर्गा, तप, पंचभूत, प्रेम, ब्रह्म, ब्रह्माजी की दीक्षा, भक्तिचक्षु, भक्ति सोपान, मन, महाविष्णु, योगनिद्रा, रमा, रागमार्गीय भक्ति, राम आदि अवतार, लिङ्ग आदि शब्द का तात्पर्य, बद्धजीव, उनके साधन, विष्णु-तत्त्व, वेदसार-स्तव, शम्भु, श्रुत, स्वकीय, पारकीय, सदाचार, सूर्य और हेमांशु प्रभृति विषय वर्णित हुए हैं।

श्रीअनन्त पद्मनाभ का दर्शन—

बहु यत्ने सेइ पुँथि निल लेखाइया।
'अनन्त-पद्मनाभ' आइला हरषित ह्ञा॥२४१॥

२४१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने बड़े यत्न से ब्रह्म-संहिता की नकल करवाई और फिर बहुत प्रसन्न होकर वे 'अनन्त-पद्मनाभ' नामक स्थान पर चले आये।

अनुभाष्य

२४१। अनन्त-पद्मनाभ, मध्य प्रथम परिच्छेद ११५ संख्या द्रष्टव्य।

दो दिन तक वास और बाद में श्रीजनार्द्दन का दर्शन—

दिन-दुइ पद्मनाभेर कैल दरशन।
आनन्दे देखिते आइला श्रीजनार्दन॥२४२॥

२४२। प० अनु०—दो दिन तक वहाँ रहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भगवान् पद्मनाभ का दर्शन किया और फिर अत्यधिक आनन्द पूर्वक श्रीजर्नादन के दर्शन के लिये आ पहुँचे।

अनुभाष्य

२४२। श्रीजनार्द्दन,—त्रिवान्द्रम के २६ मील उत्तर में 'वर्काला' रेलवे स्टेशन के निकट विराजमान।

पयस्विनी के तट पर शङ्कर नारायण और
श्रृङ्गेरी-मठ में तत्कालीन शङ्कराचार्य का दर्शन—

दिन-दुइ ताँहा करि' कीर्तन-नर्तन।
पयस्विनी आसिया देखे शंकर-नारायण॥२४३॥

२४३। प० अनु०—दो दिन तक वहाँ रहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने नृत्य-कीर्त्तन किया और वहाँ से पयस्विनी नदी के तट पर आकर शंकर-नारायण का दर्शन किया।

श्रृंगेरि-मठ में आगमन और
उसके बाद मत्स्यतीर्थ का दर्शन—

श्रृंगेरि-मठे आइला शङ्कराचार्य-स्थाने।
मत्स्य-तीर्थ देखि' कैल तुंगभद्राय स्नाने॥२४४॥

२४४। प० अनु०—उसके बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु शङ्कराचार्य के स्थान श्रृंगेरिमठ में आये और वहाँ मत्स्य-तीर्थ का दर्शन करके उन्होंने तुंगभद्रा नदी में स्नान किया।

अनुभाष्य

२४४। श्रृङ्गेरि मठ,—महीशूर के अन्तर्गत शिमोगा जिले में अवस्थित, तुङ्गाभद्रा नदी के बाँये तट पर एवं हरिहरपुर के ७ मील दक्षिण में अवस्थित। इसका वास्तविक नाम—(ऋष्य) श्रृङ्गगिरि अथवा श्रृङ्गेर पुरी। इस स्थान पर दक्षिण भारत में स्थित शङ्कराचार्य का प्रधान मठ अवस्थित हैं। श्रीशङ्कराचार्य ने अपने चार शिष्यों द्वारा भारत के उत्तर में बदरिका में—ज्योतिर्मठ, पुरुषोत्तम में—भोगवर्द्धन अथवा गोवर्द्धन मठ, द्वाराका में—सारदा मठ एवं दक्षिण में—'श्रृङ्गेरि' मठ स्थापित

किये। शृङ्गेरि मठ में 'सरस्वती', 'भारती', 'पुरी'—ये तीन प्रकार के एकदण्ड संन्यास ग्रहण करते हैं। 'चतुर्थो दक्षिणाम्नायः शृङ्गेर्यां वर्त्तते मठः। सम्प्रदायो भूरवारः भूर्भुवः गोत्र उच्यते॥ पदानि त्रीणि ख्यातानि सरस्वती भारती पुरी। वराहो देवता यत्र क्षेत्रं रामेश्वरं वदेत्॥ तीर्थञ्च तुङ्गभद्राख्यं शक्तिः कामाक्षिका स्मृता। चैतन्य-ब्रह्मचारीति हस्तामलकदेशिकः॥ आन्ध्र-द्राविड़-कर्णाट-केरलादि-प्रभेदतः। शृङ्गेर्याधीना देशास्ते ह्यवाचीदिगवस्थिताः। स्वरज्ञानरतो नित्यं स्वरवादी कवीश्वरः। संसार-सागरासार-हन्तासौ हि सरस्वती'। विद्याभारेण सम्पूर्णः सर्वभावं परित्यजन्। दुःखभारं न जानाति भारती परिकीर्त्त्यते॥ ज्ञान तत्त्वेन सम्पूर्णः पूर्णतत्त्वपदे स्थितः। परब्रह्मरतो नित्यं पुरी'—नामा स उच्यते॥"—(मठाम्नाय) अर्थात् मठ का नाम—शृङ्गेरि, दिशा—दक्षिण; देश—आन्ध्र, द्रविड़, कर्णाट और केरल आदि; सम्प्रदाय-भूरि-वार, गोत्र—भूर्भुवः, क्षेत्र—रामेश्वर; महावाक्य अथवा बोध—'अहं ब्रह्मास्मि'; देव—वराह; शक्ति—कामाक्षी; आचार्य—हस्तामलक; संन्यास-पदवी—'सरस्वती' 'भारती' और 'पुरी'; ब्रह्मचारी—चैतन्य; तीर्थ—तुङ्गभद्रा; वेद-यजुः।

शृङ्गेरि मठ के गुरु और संन्यास ग्रहण-काल-परम्परा यथा, १) शङ्कराचार्य-२२ शक, २) सुरेश्वराचार्य—३० शक, ३) बोधनाचार्य—६८० शक, ४) ज्ञानधनाचार्य—७६८ शक, ५) ज्ञानोत्तम शिवाचार्य—८२७ शक, ६) ज्ञानगिरि आचार्य—८७१ शक; ७) सिंहगिरि आचार्य—९५८ शक, ८) ईश्वर तीर्थ—१०१९ शक, ९) नारसिंह तीर्थ—१०६७ शक, १०) विद्यातीर्थ विद्याशङ्कर—११५० शक, ११) भारती कृष्ण तीर्थ—१२५० शक, १२) विद्यारण्य भारती—१२५३ शक, १३) चन्द्रशेखर भारती १२९० शक, १४) नरसिंह भारती—१३०९ शक, १५) पुरुषोत्तम भारती १३२८ शक, १६) शङ्करानन्द—१३५० शक, १७) चन्द्रशेखर भारती—१३७१ शक, १८) नरसिंह भारती—१३८६ शक, १९) पुरुषोत्तम भारती—१३९४ शक, २०) रामचन्द्र भारती—१४३० शक, २१) नरसिंह भारती—१४७९ शक, २२) नरसिंह भारती १४८५ शक, २३) धनमड़ि नरसिंह भारती—१४९८ शक, २४) अभिनव नरसिंह भारती—१५२१ शक, २५) सच्चिदानन्द भारती—१५४४ शक, २६) नरसिंह भारती—१५८५ शक, २७) सच्चिदानन्द भारती—१६२७ शक, २८) अभिनव सच्चिदानन्द भारती—१६६३ शक, २९) नृसिंह भारती—१६८९ शक, ३०) सच्चिदानन्द भारती—१६९२ शक, ३१) अभिनव सच्चिदानन्द भारती—१७३० शक, ३२) नरसिंह भारती—१७३९ शक, इनकी समाधि के विषय में जानने के लिये 'वैष्णव-मञ्जुषा-समाहृति' (चतुर्थ संख्या) द्रष्टव्य। ३३) सच्चिदानन्द शिवाभिनव विद्या नरसिंह भारती—१७८८ शकाब्द।

शङ्कराचार्य,—दक्षिण भारत के केरल-देश के अन्तर्गत 'कालडि' नामक ग्राम में ६०८ शक की वैशाखी शुक्ला तृतीय के दिवस जन्म ग्रहण किया। इनके पिता के नाम—'शिवगुरु' था। बचपन में ही इनका पिता से वियोग हो गया (अर्थात् इनके पिता इनके बचपन में ही परलोक सिधार गये) आठ वर्ष की आयु के पार होते न होते ही इन्होंने शास्त्र-अध्ययन समाप्त करके नर्मदा के तट पर 'गोविन्द' से संन्यास ग्रहण किया। संन्यास ग्रहण करने के बाद कुछ दिनों तक गोविन्द के निकट रहकर उनकी अनुमति से वाराणसी गये एवं वहाँ से बदरिकाश्रम में जाकर बारह वर्ष की आयु में ब्रह्मसूत्र के एक भाष्य का प्रणयन किया। बाद में दस उपनिषद, गीता, सनत् सुजातीय और नृसिंह तापनी आदि ग्रन्थों के भाष्य की भी रचना की।

शङ्कराचार्य के शिष्यों में से 'पद्मनाभ', 'सुरेश्वर', 'हस्तामलक' और 'प्रोटक'—यह चार व्यक्ति प्रधान है। शङ्कराचार्य ने वाराणसी से होकर प्रयाग में गमन करके कुमारिल भट्ट के साथ भेंट की। कुमारिल मुमूर्षु थे, इसलिये उस समय उन्होंने उनके साथ स्वयं विचार न करके अपने प्रधान शिष्य 'मण्डन' के निकट माहिष्मती-नगर में भेज दिया। वहाँ शङ्कराचार्य ने मण्डन को विचार में पराजित कर दिया। मण्डन की सहधर्मिणी (पत्नी)

'सरस्वती' अथवा 'उभय भारती' उनके विचार के समय में मध्यस्थ थी; ऐसा सुना जाता है कि उसने शङ्कराचार्य के साथ काम शास्त्र के विषय में विचार करने की इच्छा प्रकाशित की। शङ्कर-नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, अतएव काम शास्त्र के विषय में अनभिज्ञ थे; उन्होंने उभय भारती से एक महीने का समय माँगकर योगबल से एक क्षण भर पहले मरे हुए राजा के शरीर में प्रवेश करके अभिलषित्-विषय (काम शास्त्र) की शिक्षा प्राप्त की एवं अभिज्ञता अर्जन करके 'उभय भारती' से विचार करने की प्रार्थना की, उसने विचार ना करके शङ्कर की प्रार्थना के अनुसार उनके शृङ्गेरी मठ में अचला (सब समय के लिये) रहेंगी, यह वर देकर संसार से विदा हो गयी। मण्डन ने शङ्कराचार्य से संन्यास ग्रहण किया एवं 'सुरेश्वर' नाम से प्रसिद्ध हुए। शङ्कराचार्य ने एक-एक करके भारत में प्रायः सर्वत्र परिभ्रमण करके अनेकानेक मतवादियों को विचार में पराजित करके अपने मत में ले आये। उन्होंने तैंतीस वर्ष की आयु में देहत्याग किया।

मत्स्य तीर्थ,—सम्भवतः मालावर जिले के समुद्र के तट पर स्थित वर्त्तमान 'माहे' नगर। कोई-कोई कहते हैं कि भिजागापट्टम के अन्तर्गत पद्व-तालुक के बीच में 'पादेरु' से ६ मील उत्तर की ओर मटम-ग्राम के निकट माचेरु-नदी का एक अद्भुत टापु ही मत्स्य तीर्थ है (भिजागापट्टम् गेजेटियार); किन्तु वह स्थान यहाँ पर निर्दिष्ट नहीं हुआ है, ऐसा ही बोध होता है।

उडुपी में मठाचार्य तत्त्ववादी मध्वाचार्य
और अकेली कृष्णमूर्त्ति का दर्शन—

मध्वाचार्य-स्थाने आइला जाँहा 'तत्त्ववादी'।
उडुपीते 'कृष्ण' देखि, ताँहा हैल प्रेमोन्मादी॥२४५॥

२४५। प॰ अनु॰—फिर श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीमध्वाचार्य के स्थान उडुपी में आये, जहाँ तत्त्ववादी रहते थे। उडुपी में श्रीचैतन्य महाप्रभु भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन करके प्रेम में उन्मत्त हो गये।

अनुभाष्य

२४५। श्रीमध्वाचार्य,—दक्षिणमें सह्याद्रिर के पश्चिम में 'कानाड़ा' जिला है; 'दक्षिण कानाड़ा' जिले में एक प्रधान नगर है—'म्याङ्गलोर', उसके उत्तर में 'उडुपी' है। उडुपी ग्राम के पाजका-क्षेत्र में शिवाल्ली ब्राह्मणकुल में 'मध्यगेह' भट्ट के औरस से वेदविद्या के गर्भ से १०४० शकाब्द में, मतान्तर में ११६० शकाब्द में श्रीमध्वाचार्य ने जन्म ग्रहण किया। बचपन में मध्वाचार्य 'वासुदेव' के नाम से प्रसिद्ध थे। उनके विषय में कुछेक अलौकिक कथाएँ कही जाती है,—बचपन में उडुपी से पाजकाक्षेत्र में लौटते समय निर्विध्न आगमन, माता की अनुपस्थिति में बड़ी बहन के सामने क्रन्दन बन्द करने के छल से गैयाओं द्वारा भोज्य एक नादा (सीमेंट अथवा लकड़ी का बना पात्र) के भूसे को खाना, बहुत विशाल साँड़ की पूछ पकड़कर झूलना एवं उत्तम अर्ण (जो ऋण देता है, उस) के ऋण को अदा करने के लिये धरना दिये जाने पर इमली के बीजों को ही अर्थ (सम्पत्ति) के रूप में बदलकर उसके द्वारा पिता के ऋण का शोधन आदि, पौगण्ड अवस्था में—नेडिउरुग्राम के उत्सव में मध्व का खोना और बाद में उडुपी में अनन्तेश्वर मन्दिर में उनकी पुनः प्राप्ति, नेयाम्पल्लि ग्राम में 'शिव' नामक ब्राह्मण के भ्रम का प्रदर्शन आदि वर्णित। पाँच वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार प्राप्त किया। महाभारत में कहा गया 'मणिमान्' नामक असुर सर्प का आकार धारण करके वहाँ वास करता था। उपनयन के बाद ही 'वासुदेव' ने अपने पैर के अगूँठे द्वारा उस सर्प को मार डाला। माता के अस्थिर होने पर वे एक छलाँग लगाकर माता के सामने उपस्थित हो गये। इस अवस्था में उन्होंने पढ़ाई में बहुत नैपुण्य दिखालया। पिता की सम्पूर्ण असम्मति होने पर भी उन्होंने 'अच्युतप्रेक्ष' से बारह वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण किया एवं 'पूर्णप्रज्ञ तीर्थ' नाम प्राप्त किया। दक्षिण भारत के अनेक प्रदेशों में भ्रमण

करने के बाद शृङ्गेरि मठ के मठाधीश विद्याशङ्कर के साथ उनका बहुत विचार हुआ। विद्याशङ्कर का अति उच्च स्थान मध्व के निकट झुक गया। 'सत्यतीर्थ' नामक यति के साथ श्रीमध्व ने बदरिका में गमन किया। वहाँ श्रीव्यास को 'गीता भाष्य' श्रवण कराके उनकी सम्मति ग्रहण की। व्यास से थोड़े ही समय में अनेक विषयों की शिक्षा प्राप्त की। बदरिका से आनन्द मठ में लौटने के समय ही श्रीमध्व की सूत्र भाष्य रचना समाप्त हुई; सत्यतीर्थ ने उसे लिख दिया। श्रीमध्व बदरी से गञ्जाम में गोदावरी-प्रदेश में गये, वहाँ उनके साथ 'शोभन भट्ट' और 'स्वामी शास्त्री' नामक दो पण्डितों का मिलन हुआ। उन्होंने ही श्रीमध्व परम्परा में 'पद्मनाभ तीर्थ' और 'नरहरि तीर्थ' नाम प्राप्त किया। उडुपि में लौटकर उन्होंने एकदिन समुद्र स्नान के लिये जाते-जाते पाँच अध्याय वाले स्तोत्र की रचना की। श्रीकृष्ण की चिन्ता में विभोर होकर बालु के ऊपर बैठकर उन्होंने देखा, द्वारका के लिये संगृहीत व्यवसाय के उपयोगी द्रव्य से पूर्ण एक नौका समुद्र में फस गयी है। नौका को बालू में घसते देखकर नौका को ऊपर उठाने के उद्देश्य से उन्होंने एक मुद्रा प्रदर्शित की, उससे नौका तट पर आ पायी। नाविकों ने जब उन्हें कुछ देने की इच्छा जताई, तब उन्होंने नौका में रखे हुए गोपीचन्दन के कुछ भाग को ग्रहण करना स्वीकार किया। उन्होंने एक बृहत् गोपीचन्दन के खण्ड को ग्रहण किया और रास्ते में लाते-लाते 'बड़वन्देश्वर' नामक स्थान पर वह टूट गया एवं उसमें से एक बहुत सुन्दर 'बाल कृष्ण मूर्त्ति' प्राप्त हुई। मूर्त्ति के एक हाथ में एक दही मन्थन वाला दण्ड तथा दूसरे हाथ में मन्थन की रस्सी है। कृष्ण के प्राप्त होने पर उनके 'द्वादश स्तोत्र' के अवशिष्ट सात अध्याय उसी दिन ही रचित हुए। तीन बलवान् व्यक्ति भी जब इस मूर्त्ति को उठाने में अक्षम (असमर्थ) हुए, तब परव्योम में सर्वत्र व्याप्त वायु, हनुमान अथवा भीमसेन के अवतार श्रीमध्व स्वयं माधव को उठाकर उडुपी में अपने मठ में ले गयें उनके आठ प्रधान संन्यासी शिष्य उडुपी में आठ मठों के अधिपति थे। वृन्दावन की आठ गोपियाँ जिस प्रकार कृष्ण की सेवा करती थी, उसी प्रकार इन बालकृष्ण की सेवा श्रीमध्वाचार्य पहले स्वयं और उनके बाद उत्तराड़ी मठ के अधिपति श्रीमध्वाचार्य गण आठ संन्यासी मठाधीशों की सहायता से क्रम के हिसाब से कराते हैं। आज भी वही चल रहा है।

श्रीमध्व ने दूसरी बार बदरिका की यात्रा की थी। जिस समय वे महाराष्ट्र-राज्य में से होकर जा रहे थे, उस समय वहाँ के 'महादेव' नामक राजा अपने कारीगरों द्वारा जनता के उपकार के लिये तालाब खुदवा रहे थे। राजा के आदेश अनुसार श्रीमध्व भी शिष्यों सहित मिट्टी खोदने के लिये बाध्य हुए। कुछ देर के बाद राजा के दर्शन करके राजा को ही इस कार्य में लगाकर वे सहसा अग्रसर हुए। गाङ्ग प्रदेश के एक पार हिन्दु राज्य तथा दूसरी पार मुस्लिम राज्य के परस्पर विवाद के कारण घटना इतनी प्रबल हो गयी थी कि पार जाने के लिये नौका ही नहीं मिली। बहुत विशाल नदी के उस पार विरुद्ध सेना सदैव बाधा दे रही थी। श्रीमध्व ने उन सब विपत्तियों को अनदेखा करके तैरते हुए शिष्यों सहित नदी को पार किया एवं तट पर पहुँचते ही सेना द्वारा पीड़ित हुए। उन्होंने राजा के आदेश का उल्लंघन किया है, अतएव वे स्वयं राजा के निकट उपस्थित हुए एवं अपनी अवस्था के विषय में बताने पर मुसलमान राजा ने उन्हें अपना आधा राज्य देने की इच्छा प्रकाशित की, किन्तु श्रीमध्व ने उसे ग्रहण नहीं किया। चलते-चलते मार्ग में डाकुओं के द्वारा आक्रान्त हुए, तब उन्होंने भीम के बल से उनका विनाश कर दिया एवं 'सत्यतीर्थ' के बाघ से आक्रान्त होने पर उन्होंने बाघ को बलपूर्वक छिन्न-भिन्न करके दूर कर दिया। व्यासदेव के साथ साक्षात्कार होने पर उन्हें आठ शालग्राम शिलायें प्राप्त हुई। इसके बाद ही उन्होंने महाभारत के तात्पर्य की रचना की।

श्रीमध्व के अलौकिक पाण्डित्य और ईशानुगत्य की बात भारत में सर्वत्र व्याप्त हो गयी। शृङ्गेरी के

मठाधीश शङ्कराचार्य बहुत परेशान हुए। शंकर-मत अवलम्बी अपनी महिमा को कम होते देखकर मध्व के प्रति हिंसा करने में व्यस्त हो गये। माध्व-मत का पालन करने वालों को समाज से बाहर कर दिया गया एवं माधव मत को अवैदिक और अशास्त्रीय प्रतिपादित (स्थापित) करने का प्रयास होने लगा। पद्मतीर्थ पुण्डरीक पुरी नामक शाङ्करमतवादी पण्डित को लेकर (मध्व) आचार्य के साथ वाग् युद्ध में प्रवृत्त हुए। आचार्य के द्वारा संगृहीत और रचित ग्रन्थ आदि चोरी हो गये; किन्तु बाद में बहुत उद्वेग के बाद मिल गये। पुण्डरीक पराजित हुआ। कुम्लाधिपति जयसिंह ने श्रीमध्वाचार्य के ग्रन्थों को प्राप्त कराने में सहायता की। विष्णु मङ्गलवासी देश प्रसिद्ध पण्डित त्रिविक्रमाचार्य उनके शिष्य हुए। इन्हीं के पुत्र श्रीनारायणाचार्य— 'श्रीमध्वविजय' के रचयिता है। पिता के परलोक सिधारने के बाद उनके छोटे भाई भी संन्यास ग्रहण करके 'विष्णुतीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

श्रीपूर्णप्रज्ञ के शरीरिक बल की कोई सीमा नहीं थी। 'कड़ञ्जरि' नामक एक बलवान् पुरुष अपने-आपको ३० व्यक्तियों के बल को धारण करने वाला कहकर अपना गर्व प्रकाशित करता था; श्रीमध्वाचार्य ने अपने पैर के अगूँठे को भूमि से लगाकर (उस बलवान् व्यक्ति को) उसे वहाँ से हटाने का आदेश दिया, किन्तु वह असामान्य बलवान् व्यक्ति अपने अमित (अपरिमित) बल को प्रयोग करके भी सफल नहीं हुआ। कादुर-जिले के मुदगेरीग्राम में एक पत्थर के ऊपर लिखा है— 'श्रीमध्वाचार्येरेकहस्तेन आनीय स्थापित शिला' (किसी एक समय) जब श्रीमध्वाचार्य एक बहुत ही कमजोर शरीर वाले बालक के कन्धे पर चढ़कर घूम रहे थे, उस समय उस बालक को उनके भार का बिल्कुल भी पता नहीं चला।

माघ मास की शुक्ला नवमी तिथि के दिन 'एतरेय' उपनिषद् के भाष्य की व्याख्या करते-करते अस्सी वर्ष की आयु में श्रीमध्व ने परलोक गमन किया। विशेष विवरण जानने के लिये श्रीमध्व-शिष्य त्रिविक्रमाचार्य के पुत्र नारायण पण्डित द्वारा रचित 'मध्व विजय' ग्रन्थ द्रष्टव्य। उक्त ग्रन्थ का एक संक्षिप्त विवरण (मञ्जुषा-समाहृति—द्वितीय संख्या में) द्रष्टव्य।

श्रीमाध्व-तत्त्ववाद सम्प्रदाय के आचार्यगण उडुपी ग्राम के मूल माध्व मठ को 'उत्तरराड़ी मठ' कहते हैं। उडुपी के आठ मठों के मूल आचार्यों और मठ समूहों के नाम यथा—

१) विष्णुतीर्थ—शोद मठ, २) जनार्द्दन तीर्थ—कृष्णपुर मठ, ३) वामनतीर्थ—कनुर मठ, ४) नरसिंह तीर्थ—अदमर मठ, ५) उपेन्द्र तीर्थ—पुडुगी मठ, ६) राम तीर्थ—शिरुर मठ, ७) हृषीकेश तीर्थ-पलिमर मठ, ८) अक्षोभ्य तीर्थ—पेजावर मठ।

वहाँ की गुरु और काल परम्परा; यथा—

१) हंस परमात्मा, २) चतुर्मुख ब्रह्मा, ३) सनकादि, ४) दुर्वासा, ५) ज्ञाननिधि, ६) गरुड़ वाहन, ७) कैवल्य तीर्थ, ८) ज्ञानेशतीर्थ, ९) परतीर्थ, १०) सत्यप्रज्ञतीर्थ, ११) प्राज्ञतीर्थ, १२) अच्युतप्रेक्ष्याचार्य तीर्थ, १३) श्रीमध्वाचार्य—१०४० शक, १४) पद्मनाभ—११२० शक, नरहरि—११२७ शक, माधव—११३६ शक और अक्षोभ्य ११५९ शक, १५) जयतीर्थ—११६७ शक, १६) विद्याधिराज—११९० शक, १७) कवीन्द्र—१२५५ शक, १८) वागीश—१२६१ शक, १९) रामचन्द्र—१२६९ शक, २०) विद्यानिधि—१२९८ शक, २१) श्रीरघुनाथ—१३६६ शक, २२) रघुवर्य (महाप्रभु के साथ वाद करने वाले)—१४२४ शक, २३) रघुतम—१४७१ शक, २४) वेदव्यास—१५१७ शक, २५) विद्याधीश—१५४१ शक, २६) वेदनिधि—१५५३ शक, २७) सत्यव्रत—१५५७ शक, २८) सत्यनिधि—१५६० शक, २९) सत्यनाथ—१५८२ शक, ३०) सत्याभिनव—१५९५ शक, ३१) सत्यपूर्ण—१६२८ शक, ३२) सत्यविजय—१६४८ शक, ३३) सत्यप्रिय—१६५९ शक, ३४) सत्यबोध—१६६६ शक, ३५) सत्यसन्ध—१७०५ शक, ३६) सत्यवर—१७१६ शक, ३७) सत्यधर्म—१७१९

शक, ३८) सत्यसङ्कल्प—१७५२ शक, ३९) सत्य सन्तुष्ट—१७६३ शक, ४०) सत्यपरायण—१७६३ शक, ४१) सत्यकाम—१७८५ शक, ४२) सत्येष्ट—१७९३ शक, ४३) सत्यपराक्रम— १७९४ शक, ४४) सत्यधीर—१८०१ शक, ४५) सत्यधीर तीर्थ—१८०८ शक।

१६) संख्या वाले श्रीविद्याधिराज तीर्थ से और एक शिष्य धारा (प्रारम्भ होती है, जो इस प्रकार है)—१७) राजेन्द्रतीर्थ—१२५४ शक, १८) विजयध्वज, १९) पुरुषोत्तम, २०) सुब्रह्मण्य, २१) व्यासराय—१४७०-१५२० शक।

इस मठ की परम्परा के क्रम से वर्त्तमान समय तक और भी १९ व्यक्ति श्रीमाधवतीर्थ संन्यासी हुए हैं।

१९) रामचन्द्र तीर्थ की एक और शिष्य धारा—२०) विवुधेन्द्र—१२१८ शक, २१) जितामित्र—१३४८ शक, २२) रघुनन्दन, २३) सुरेन्द्र, २४) विजेन्द्र, २५) सुधीन्द्र, २६) राघवेन्द्रतीर्थ—१५४५ शक।

इस 'पर-मठ' में आज तक और १४ व्यक्ति श्रीमाधव तीर्थ यति हुए हैं। उडुपी—दक्षिण कानाड़ा जिले में, म्याङ्गलोर से ३६ मील उत्तर की ओर समुद्र के तट पर अवस्थित (दक्षिण कानाड़ा-म्यानुयेल एवं बोम्बाई गेजेटियार)।

नर्त्तक-गोपाल दर्शन—

'नर्तक-गोपाल' देखे परम-मोहने।
मध्वाचार्ये स्वप्न दिया आइला ताँर स्थाने॥२४६॥

२४६। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने परम मोहन 'नर्तक गोपाल' का दर्शन किया। ये विग्रह श्रीमध्वाचार्य को स्वप्न में दिखायी देने के बाद उनके पास आये थे।

मध्व के द्वारा कृष्णमूर्त्ति स्थापन—

गोपीचन्दन-तले आछिल डिङ्गाते।
मध्वाचार्य-ठाञि आइला कोनमते॥२४७॥

२४७। प॰ अनु॰—श्रीगोपाल का यह विग्रह गोपी-चन्दन में आवृ त्त होकर एक नौका में आया था, तथा श्रीमध्वाचार्य ने उन्हें प्राप्त किया था।

मध्व की शिष्य-परम्परा में कृष्ण की मूर्त्ति की सेवा—

मध्वाचार्य आनि' ताँरे करिला स्थापन।
अद्यावधि सेवा करे तत्त्ववादिगण॥२४८॥

२४८। प॰ अनु॰—श्रीमध्वाचार्य ने उन गोपाल को लाकर उडुपी में स्थापित किया था और आज तक भी श्रीमध्वाचार्य की शिष्य-परम्परा में तत्त्ववादिगण उस विग्रह की सेवा करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

२४५-२४७। दक्षिण भारत के एक प्रदेश में उडुपी गाँव में मध्वाचार्य की गद्दी है, उस सम्प्रदाय के लोग आचार्यों को 'तत्त्ववादी' कहते हैं। वहाँ पर नर्तक गोपाल की श्रीमूर्त्ति है। श्रीमध्वाचार्य ने जलमग्न बड़ी नौका के बीच गोपीचन्दन के तल से गोपाल को प्राप्त किया था।

मध्व के द्वारा स्थापित श्रीकृष्ण के
विग्रह को देखकर प्रभु का नृत्य-गीत—

कृष्णमूर्ति देखि' प्रभु महासुख पाइल।
प्रेमावेशे बहुत नृत्य-गीत कैल॥२४९॥

२४९। प॰ अनु॰—नर्त्तक गोपाल नामक उन श्रीकृष्ण के विग्रह का दर्शन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु बहुत आनन्दित हुये और श्रीविग्रह के समक्ष प्रेमावेश में प्रभु ने बहुत समय तक नृत्य-गीत किया।

प्रथम दर्शन में भ्रमवशतः तत्त्ववादी
लोगों का प्रभु को 'मायावादी' समझना—

तत्त्ववादिगण प्रभुके 'मायावादी'-ज्ञाने।
प्रथम दर्शने प्रभुके ना कैल सम्भाषणे॥२५०॥

२५०। प॰ अनु॰—तत्त्ववादिगण ने पहले दर्शन में श्रीचैतन्य महाप्रभु को मायावादी संन्यासी समझा इसलिये उन्होंने प्रभु से कुछ भी वार्त्तालाप नहीं किया।

अनुभाष्य

२५०। निर्विशेष ब्रह्मवादी, केवलाद्वैतवादी अथवा मायावादीके साथ शुद्धद्वैतवादी अथवा तत्त्ववादियों का चिर (सब समय के लिये) विरोध प्रसिद्ध है।

बाद में प्रभु के सात्त्विक विकारों का
दर्शन कर प्रभु को वैष्णव समझना—

पाछे प्रेमावेश देखि' हैल चमत्कार।
वैष्णव-ज्ञाने बहुत करिल सत्कार॥२५१॥

२५१। प० अनु०—लेकिन बाद में श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रेमावेश को देखकर वह लोग आश्चर्यचकित रह गये और उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु को वैष्णव मानकर उनका बहुत आदर-सत्कार किया।

तत्त्ववादियों का स्वयं को 'वैष्णव' मानना जड़ अभिमान—

'वैष्णवता' सबार अन्तरे गर्व जानि'।
ईषत् हासिया किछु कहे गौरमणि॥२५२॥

२५२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन तत्त्ववादियों में वैष्णवता का अभिमान देखकर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए इस प्रकार कहा।

प्रभु के द्वारा उनके गर्व को खण्डित
करने का कृपा रूपी सङ्कल्प—

ताँ-सबार अन्तरे गर्व जानि' गौरचन्द्र।
ताँ-सबा-सङ्गे गोष्ठी करिला आरम्भ॥२५३॥

२५३। प० अनु०—उन सब तत्त्ववादियों के हृदय में अभिमान को अनुभव कर श्रीगौरचन्द्र ने उन सबके साथ इष्टगोष्ठी (कृष्णकथा प्रसङ्ग) को आरम्भ कर दिया।

महापण्डित रघुवर्यतीर्थ से प्रभु के द्वारा दीनतापूर्वक प्रश्न—

तत्त्ववादि आचार्य—सब शास्त्रेते प्रवीण।
ताँरे प्रश्न कैल प्रभु हञा जेन दीन॥२५४॥

२५४। प० अनु०—तत्त्ववादियों के आचार्य शास्त्रों में बड़े निपुण थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु बहुत दीन-हीन होकर उनसे प्रश्न पूछने लगे।

साध्य-साधन की जिज्ञासा—

साध्य-साधन आमि ना जानि भालमते।
साध्य-साधन-श्रेष्ठ जानाह आमाते॥२५५॥

२५५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मैं ठीक से साध्य और साधन तत्त्व को नहीं जानता हूँ। आप मुझे श्रेष्ठ साध्य और उसको प्राप्त करने का साधन बताइये।"

तत्त्वाचार्य का उत्तर—(१) वर्णाश्रम धर्म और कृष्ण
के प्रति समर्पण रूपी कर्ममिश्रा भक्ति ही 'साधन'—

आचार्य कहे,—'वर्णाश्रम-धर्म, कृष्णे-समर्पण'।
एइ हय कृष्णभक्तेर श्रेष्ठ 'साधन'॥२५६॥

२५६। प० अनु०—तत्त्ववादी आचार्य ने कहा—"वर्णाश्रम-धर्म का पालन करते हुए श्रीकृष्ण को कर्म-समर्पण करना ही कृष्ण भक्त का श्रेष्ठ 'साधन' है।

(२) पञ्च प्रकार की मुक्ति ही 'साध्य'—

'पञ्चविध मुक्ति' पाञा वैकुण्ठे गमन।
'साध्य-श्रेष्ठ' हय,—एइ शास्त्र-निरूपण॥"२५७॥

२५७। प० अनु०—पाँच प्रकार की मुक्तियों को प्राप्त करके वैकुण्ठ जाना ही 'श्रेष्ठ साध्य' है—यही शास्त्रों में निरुपित हुआ है।"

प्रभु का उत्तर—(१) शरणागत भक्तों
के लिये नवधा भक्ति ही साधन—

प्रभु कहे,—शास्त्रे कहे श्रवण-कीर्तन।
कृष्णप्रेमसेवा-फलेर 'परम-साधन'॥२५८॥

२५८। प० अनु०—आचार्य का उत्तर सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"शास्त्र तो कहते हैं कि श्रवण-कीर्त्तन ही श्रीकृष्ण की प्रेममयी सेवा को प्राप्त करने का परम-साधन हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

२५०-२५८। महाप्रभु के शाङ्कर-संन्यास के चिह्नोंको देखकर शुद्धद्वैतवाद परायण तत्त्व वादियों ने पहले तो महाप्रभु के साथ सम्भाषण ही नहीं किया; किन्तु बाद में उनका प्रेमावेश देखकर उनको वैष्णव समझकर सत्कार अर्थात् सेवा की थी। तत्त्ववादियों के अन्तःकरण में

वैष्णव होने का अभिमान था, उसे देखकर प्रभु ने थोड़ा मुस्कराकर उनके साथ वार्त्तालाप किया। प्रभु ने कहा,—'मैं साध्य-साधन भली-भाँति नहीं जानता हूँ; आप लोग कृपा करके मुझे उसकी शिक्षा प्रदान करें।' तत्त्वाचार्य ने उत्तर दिया,—वर्णाश्रम धर्म को कृष्ण में समर्पित करना ही कृष्ण भक्त का श्रेष्ठ साधन है एवं उस साधन के बल से श्रेष्ठ साध्य रूपी पाँच प्रकार की मुक्ति प्राप्त करके सिद्ध व्यक्ति वैकुण्ठ गमन करता है।' यह सुनकर प्रभु ने कहा,—शास्त्र के मतानुसार श्रवण-कीर्तन ही श्रेष्ठ-साधन है; उस साधन के बल से कृष्णप्रेम सेवा रूपी साध्य फल की प्राप्ति होती है।

अनुभाष्य

२५८। तत्त्ववादियों का 'साधन'—वर्णाश्रम-धर्म (भा: ११/१९/४७); महाप्रभु द्वारा प्रदर्शित शास्त्र का एकमात्र उद्दिष्ट 'साधन'—श्रवण-कीर्तन है। तत्त्ववादियों का 'साध्य' पाँच प्रकार की मुक्ति को प्राप्त करके अन्त में वैकुण्ठ गमन है; महाप्रभु द्वारा प्रदर्शित शास्त्र का 'साध्य'—कृष्णप्रेमा है।

श्रीमद्भागवत (७/५/२३-२४)—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥२५९॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥२६०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२५९-२६०। श्रीकृष्ण का श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन—इन नौ लक्षणों से सम्पन्न भक्ति ही श्रीकृष्ण में अर्पित होकर साधित होने से सर्वसिद्धि होती है—यही शास्त्रों का उत्तम तात्पर्य है।

अनुभाष्य

२५९-२६०। महाभागवत प्रह्लाद ने गुरुब्रुव (नामधारी गुरु) से किन-किन विषयों का अध्ययन किया है, अक्षज ज्ञान ही जिसका एकमात्र सहारा था, ऐसे दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने उनको 'पुत्र' समझकर यह जिज्ञासा की, उसके उत्तर में अधोक्षज सेवक श्रीप्रह्लाद की उक्ति—विष्णोः श्रवणं (नामरूपगुणपरिकरलीलामय शब्दानां श्रोत्रस्पर्शः), [विष्णोः] कीर्त्तनं (नामरूपगुणपरिकर-लीलामय शब्दानां उच्चारण), [विष्णोः], स्मरणं (नामरूपगुणपरिकरलीलामयकृष्णस्य यत् किञ्चिन्मन-सानुसन्धान), [विष्णोः] पादेसेवनं (कालदेशाद्युचित-परिचर्या), [विष्णोः] अर्चनं (पूजन), [विष्णोः] वन्दनं (नमस्कारः), [विष्णोः] दास्यं (तद्दासोऽस्मीत्याभिमानः) [विष्णोः] सख्यं (बन्धुभावेन तत्-हिताशंसन), [विष्णोः] आत्मनिवेदनं (देहादिशुद्धात्मपर्यन्तस्य सर्वतो-भावेन तस्मै एवार्पणम्) इति नवलक्षणा (नवलक्षणानि यस्याः साः) पुंसा (मानवेन आदौ) अर्पिता (सती) भगवति विष्णो (श्रीहरौ) अद्धा (साक्षादेव, न तु ज्ञान-कर्मादिव्यवधानेन) भक्तिः (पश्चात्) क्रियेत (न तु आदौ कृता सती, पश्चादर्प्येत न तु कर्माद्यर्पणरूप-परम्परा इयं भक्तिः; भगवतोषणार्थैवेयमिति भाव्यम् न तु धर्मार्थकाम-मोक्षार्थमिति, एवम्भूता चेत् क्रियेत तदा तेन कर्त्रा शुद्धहरिभजनमेव सर्वशास्त्रध्ययनफलमिति मत्वा यत्) अधीतं, (एव) उत्तमं मन्ये।

शुद्ध श्रवण-कीर्त्तन के
फल से ही कृष्णप्रेम—

श्रवण-कीर्तन हइते कृष्णे हय 'प्रेमा'।
सेइ पञ्चम पुरुषार्थ—पुरुषार्थेर सीमा॥२६१॥

२६१। प० अनु०—श्रवण-कीर्त्तन रूपी भक्ति के अङ्गों का पालन करने से 'कृष्ण प्रेम' आविर्भूत होता है और वे प्रेम ही पञ्चम पुरुषार्थ—सभी पुरुषार्थों की चरम सीमा है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२६१। श्रवणकीर्त्तनरूपी नौ प्रकार की साधन भक्ति से कृष्ण के प्रति जिस प्रेमभक्ति का उदय होता है, वही 'पञ्चम' पुरुषार्थ है एवं वही पुरुषार्थ की सीमा है।

तात्पर्य यह है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष,—यह चार 'सकैतव' पुरुषार्थ है; प्रेम रूपी पुरुषार्थ ही 'अकैतव' पुरुषार्थ है।

अनुभाष्य

२६१। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, यही चार पुरुषार्थ है। 'कृष्णप्रेमा'—इन चारों पुरुषार्थों से अतीत 'पञ्चम'—पुरुषार्थ है एवं सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। कृष्ण नाम श्रवण-कीर्त्तन आदि से ही कृष्णप्रेम उदित होता है, अन्य प्रकार की भक्ति का आचरण करने पर भी कीर्त्तन के संयोग से करना ही कर्त्तव्य है,—यही श्रीमन् महाप्रभु का अभिप्राय है। मध्य २२ परिच्छेद १०५—"नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम 'साध्य' कभु नय। श्रवणादि-शुद्ध-चित्ते करये उदय॥"

जातरुचि व्यक्ति के कृष्णप्रेम का लक्षण—
श्रीमद्भागवत (११/२/४०)—

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्यु-
न्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥२६२॥

२६२। श्लोकानुवाद—कृष्णसेवा-व्रती पुरुष विवश-चित्त होकर निज प्रियतम श्रीकृष्ण के नामकीर्तन में जातानुरागवशतः द्रवित हृदय वाले होते हैं; वे उन्मत्त की भाँति लोक-बाह्य अर्थात् अपेक्षा-रहित होकर कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं, कभी शोर मचाते हैं, कभी गाते हैं, नृत्य करते हैं।

अनुभाष्य

२६२। आदि सप्तम परिच्छेद ९४ संख्या द्रष्टव्य।

फलभोगतात्पर्य की निन्दा; काम प्रेम का जनक नहीं—

कर्मनिन्दा, कर्मत्याग, सर्वशास्त्रे कहे।
कर्म हैते प्रेमभक्ति कृष्णे कभु नहे॥२६३॥

२६३। प० अनु०—कर्म की निन्दा और कर्म का त्याग सभी शास्त्रों में वर्णित है क्योंकि कर्म के द्वारा कृष्ण में प्रेम भक्ति की प्राप्ति कभी नहीं होती।

अमृतप्रवाह भाष्य

२६३। कर्म-प्रतिपादक शास्त्रों में कर्म के उपेदश और प्रशंसा बहुत स्थानों पर होने पर भी अन्त में कर्म की निन्दा और कर्म के त्याग की व्यवस्था ही सभी शास्त्रों में कही गयी है। कर्म अथवा कर्मार्पण द्वारा कृष्ण के प्रति कभी भी प्रेमभक्ति नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि, कर्मार्पण इत्यादि द्वारा चित्त शुद्ध होता है; चित्त शुद्ध होने पर सत्सङ्ग के बल से अनन्य कृष्णभक्ति में श्रद्धा का उदय होता है। श्रद्धा के उदय होने पर श्रवण कीर्त्तन आदि रूप 'साधन भक्ति' होती है। श्रवण-कीर्त्तन आदि भक्ति साधन करते-करते अनर्थों की जितनी निवृत्ति होती है, प्रेम का उतना ही आविर्भाव होता है। अतएव कर्म अथवा कर्मार्पण से निश्चित रूप में कृष्ण भक्ति के उदित होने की सर्वत्र (सर्वदा) सम्भावना नहीं है, क्योंकि, (शुद्धकृष्णभक्ति) सत्सङ्ग से उत्पन्न 'श्रवणोत्पत्ति' लक्षणा श्रद्धा की अपेक्षा रखती है।

अनुभाष्य

२६३। असत् कर्म की अपेक्षा सत् कर्म श्रेष्ठ हैं; किन्तु वैसे कर्मों से कभी भी कृष्ण के प्रति प्रेमभक्ति का उदय नहीं होता। कर्म—जीवों के सुख और दुख की प्राप्ति का कारण है। जीवों के सुख अथवा दुख की प्राप्ति के फल से भक्ति के उदित होने की सम्भावना नहीं है। कृष्ण की सुख प्राप्ति के लिये सेवा ही—भक्ति है। अपने भोग के तात्पर्य की निन्दा एवं उसको त्याग करने का विधान सभी शास्त्रों में, यहाँ तक कि ज्ञान शास्त्रों में भी कहा गया है। अमल प्रमाण शिरोमणि श्रीमद्भागवत में शुद्धज्ञान विराग भक्ति के साथ नैष्कर्म्य की बात ही विचारित और संस्थापित हुई है। सभी शास्त्रों में से श्रेष्ठ इस पुराण के आदि, मध्य और अन्त में, सर्वत्र ही अत्यन्त तुच्छ फलभोगाभिसन्धि लक्षणमय कर्म और ज्ञान की निन्दा की गयी है; अतएव ग्रन्थ के कलेवर की वृद्धि के भय से इस स्थान पर कोई श्लोक-प्रमाण उद्धृत नहीं हुआ।

स्वधर्म-त्याग पूर्वक हरिभजन—
श्रीमद्भागवत (११/११/३२)—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत् स च सत्तमः॥२६४॥

२६४। श्लोकानुवाद—धर्मशास्त्र में मुझ भगवान् ने जिसको 'धर्म' कहकर (पालन करने हेतु) आदेश किया है, उनके गुण-दोष का विचार करके, उन सभी प्रकार के धर्मों की प्रवृत्ति को छोड़कर जो मेरा भजन करते हैं, वही सबसे श्रेष्ठ (साधु) हैं।

अनुभाष्य

२६४। मध्य, अष्टम परिच्छेद ६२ संख्या द्रष्टव्य।

श्रीमद्भगवद्गीता (१८/६६)—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥२६५॥

२६५। श्लोकानुवाद—समस्त धर्म परित्याग करके एकमात्र, मैं जो कि भगवान् हूँ, मेरे शरणागत होओ। वैसा होने पर मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त करूँगा। तुम शोक मत करना।

अनुभाष्य

२६५। मध्य, अष्टम परिच्छेद ६३ संख्या द्रष्टव्य।

हरिकथा में श्रद्धावान लोगों का कर्म में अनधिकार—
श्रीमद्भागवत (११/२०/९)—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥२६६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२६६। जब तक कर्म मार्ग में निर्वेद (वैराग्य) उदित ना हो, अथवा मेरी कथा के श्रवण आदि में श्रद्धा उत्पन्न ना हो, तब तक नित्य-नैमित्तिक आदि कर्म करने चाहिए।

अनुभाष्य

२६६। कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग के अधिकार के सम्बन्ध में संशय युक्त उद्धव के प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् की उक्ति—

यावता पुमान् न निर्विद्येत, (यावनिर्वेदो कृष्णोत्तर कथासु वैराग्यो न जायते), यावत् मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा न जायते, तावत् कर्माणि (नित्यनैमित्तिकानि पुण्य-कर्माणि) कुर्वीत।

पञ्चविध मुक्ति त्याग करे भक्तगण।
फल्गु करि' 'मुक्ति' देखे नरकेर सम॥२६७॥

२६७। प० अनु०—भक्त पाँच प्रकार की मुक्तियों का त्याग करते हैं, क्योंकि वे तो मुक्ति को फल्गु (अर्थात् देखने में एक तथा अन्दर से एक) समझकर उसे नरक स्वरूप देखते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

२६७। भक्तिबाधक कर्मके सम्बन्ध में (आपने) शास्त्र का सिद्धान्त सुना, अब देखिये, भक्त पाँच प्रकार की मुक्ति की पिपासा का अवश्य त्याग करेंगे; क्योंकि, वे मुक्ति को नरक के समान तुच्छ मानते है।

शुद्धसेवक कृष्ण की शुद्ध सेवा चाहता है परन्तु मुक्ति नहीं—
श्रीमद्भागवत (३/२९/१३)—

सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युते।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः॥२६८॥

२६८। श्लोकानुवाद—सालोक्य (वैकुण्ठवास), सार्ष्टि (ऐश्वर्य-सम्पदा), सामीप्य (निकट वास), सारुप्य (चतुर्भुजाकार), एकत्व (सायुज्य अथवा अभेद गति) देने पर भी भक्तवृन्द उनको ग्रहण नहीं करते, क्योंकि मेरी अप्राकृतसेवा को छोड़कर उनके लिये और कुछ भी प्रार्थनीय नहीं है।

अनुभाष्य

२६८। आदि चतुर्थ परिच्छेद २०७ संख्या द्रष्टव्य।

शुद्ध भक्त के लिये मोक्ष भी तुच्छ—
श्रीमद्भागवत (५/१४/४४)—

यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान्
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम्।

नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विद्-
सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥२६९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२६९। बहुत कठिनाई से परित्याग किये जा सकने वाली सम्पत्ति, पुत्र, स्वजन, अर्थ और पत्नी एवं प्रधान-प्रधान देवताओं के भी प्रार्थनीय सदय दृष्टि युक्त राज्य श्री की भी भरत महाराज ने अभिलाषा नहीं की, वह उनके लिये उचित ही हुआ; क्योंकि उनके जैसे कृष्ण सेवा में अनुरक्त चित्त वाले साधुओं के लिये जब निर्वाण मुक्ति ही तुच्छ है, तब पार्थिव सुख की बात ही नहीं।

अनुभाष्य

२६९। श्रीशुकदेव द्वारा महाराज परीक्षित के समक्ष महाभागवत भरत के शुद्ध भगवद् भक्तजन रूपी गुण-महिमा का की र्त्तन—

यः नृपः (राजर्षिः भरतः) दुस्त्यजान् (दुष्परिहरान्) क्षितिसुतस्वजनार्थदारान् (भूमिपुत्रबन्धुद्रविणकलत्रादीन्) सुखरैः (देवश्रेष्ठेरपि) प्रार्थ्यां (प्रार्थनीयां) श्रियं (लक्ष्मीं) सदयालोकां (भरतस्य दया यथा भवत्येवमवलोको यस्या इति, यद्वा भरतो वैराग्योथं शारीरकष्टं मा स्वीकरोतु, मया लाल्यमानो गृहे एव तिष्ठतु, इति सदयोऽवलोको यस्या स्ता) न ऐच्छत इति यत्, तत् (श्रियां उदासीन्यम्) उचितमेव, (यतः) मधुद्विट्- सेवानुरक्तमनसां (मधुद्विषः सेवायाम् अनुरक्तं मनो येषां तेषां) महतां अभवः (अपौनर्भवः मोक्षः) अपि फल्गुः (तुच्छः एव)।

शुद्ध वैष्णव के निकट दुष्कर्म का फल नरक, सुकर्म का फल स्वर्ग एवं ज्ञान का फल मोक्ष—सभी एक समान—श्रीमद्भागवत (६/१७/२८)—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन विभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥२७०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२७०। स्वर्ग, अपवर्ग और नरक को एक समान देखने वाले नारायण के भक्त किसी से भी भयभीत नहीं होते।

अनुभाष्य

२७०। परमहंस शम्भु की अवज्ञा करने वाले चित्रकेतु को पार्वती ने 'वत्रासुर के रूप में जन्म ग्रहण करो' ऐसा कहकर अभिशाप प्रदान किया, (उनके द्वारा ऐसा कहने पर) साधु चित्रकेतु ने मस्तक झुकाकर उनके उस शाप को ग्रहण करने के उपरान्त परम वैष्णव शम्भु पार्वती के निकट विष्णु भक्तों के आचरण और स्वभाव का वर्णन कर रहे हैं—

सर्वे नारायणपराः (विष्णुभक्ताः) कुतश्चन न विभ्यति (अकुतोभयाः इत्यर्थः); (यतः ते) स्वर्गापवर्गनरकेषु) (सुखधामस्वर्गमोक्षेषु क्लेशधामनरकादिषु) अपि तुल्यार्थ-दर्शिनः (तुल्यः अर्थः प्रयोजनमिति द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा तुल्यफलद्रष्टार इत्यर्थः)।

इस श्लोक में "कुतश्चन न विभ्यति" अर्थात् 'अकुतोभय' शब्द में जिस 'भय' का उल्लेख किया गया है, वह द्वितीयाभिनिवेश ('द्वितीय' अर्थात् अद्वयज्ञान कृष्ण अथवा सेव्य-चैतन्य वस्तु के अतिरिक्त अन्य प्रतीत जो माया है, उसमें अभिनिवेश, इन्द्रिय सुखकर भोग) से उत्पन्न हैं—(भाः ११/२/३७, वृः आः उः १/४/२)। यही भोग ही 'काम' अर्थात् स्वार्थ अभिसन्धिलक्षण आत्मेन्द्रियप्रीतिवाञ्छा; तन्मय होकर की जाने वाली चेष्टा ही 'मत्सरता' अथवा 'हिंसा'। केवलमात्र नारायण परायण अर्थात् शुद्धभक्त ही 'अभय' प्राप्त करके कह सकते हैं,—'नाऽमत्र भोग्यं पश्यामीति' (छाः उः ८/९/१); अतएव स्वर्ग, नरक अथवा मोक्ष, सभी उनके लिये 'द्वितीय' अथवा अनात्मविषय है, अतएव अप्रिय है।

कर्म और ज्ञान—शुद्धभक्ति के प्रतिकूल, इसलिये 'साधन' और 'साध्य' नहीं—

मुक्ति, कर्म,—दुइ वस्तु त्यजे भक्तगण।
सेइ दुइ स्थाप' तुमि 'साध्य', 'साधन' ॥२७१॥

२७१। प॰ अनु॰—जिस मुक्ति और कर्म—दोनों को ही भक्तगण त्याग देते हैं उसी को ही आप 'साध्य' और 'साधन' के रूप में स्थापित कर रहे हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

२७१। हे तत्त्वादाचार्य, शुद्धभक्त मात्र ही 'मुक्ति' और 'कर्म'—इन दोनों को ही परित्याग कर देते हैं। दुःख की बात तो यह है कि आपने उसी मुक्ति को 'साध्य' और कर्म को 'साधन' कहकर स्थापित किया है।

अनुभाष्य

२७१। श्रीकुलशेखर द्वारा रचित 'मुकुन्द माला' स्तोत्र में—"नाहं वन्दे पदकमलयोर्द्वन्द्वहेतोः, कुम्भीपाकं गुरुमपि हरे नारकं नापनेतुम। रम्यारामामृदुतनु-लतानन्दने नाभिरन्तं भावे भावे हृदय भवने भावयेयं भवन्तम्॥" "नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे यद्यद्भव्यं भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्। एतत् प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि तत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥"

तत्त्वाचार्य के भ्रम के लिये
दीनहीन प्रभु का अनुरोध—

संन्यासी देखिया मोरे करह वञ्चन।
ना कहिला तेञि साध्य-साधन-लक्षण॥"२७२॥

२७२। प० अनु०—मुझे संन्यासी देखकर आप मेरी वञ्चना कर रहे हैं तथा इसलिये आपने साध्य-साधन का वास्तविक लक्षण मुझे नहीं बतलाया।"

तत्त्वाचार्य की लज्जा और प्रभु
की महिमा की उपलब्धि—

शुनि' तत्त्वाचार्य हैला अन्तरे लज्जित।
प्रभुर वैष्णवता देखि' हइला विस्मित॥२७३॥

२७३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के वचनों को सुनकर तत्त्वाचार्य हृदय में बहुत लज्जित हुये और प्रभु की वैष्णवता को देखकर बहुत विस्मित हुये।

अनुभाष्य

२७३। तत्त्वाचार्य,—उत्तराड़ी मठ की गुरुपरम्परा (२४७ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य) से जाना जाता है कि श्रीमन् महाप्रभु के समय वहाँ पर श्रीरघुवीर्य तीर्थ मध्वाचार्य थे।

तत्त्वाचार्य के द्वारा प्रभु के
मत को स्वीकार करना—

आचार्य कहे,—तुमि जेइ कह, सेइ सत्य हय।
सर्वशास्त्रे वैष्णवेर एइ सुनिश्चय॥२७४॥

२७४। प० अनु०—तत्त्वाचार्य ने कहा—"आप जो कह रहे हैं वही सत्य है, वैष्णवों के सभी शास्त्रों ने यही सुनिश्चय किया है।

आनन्दतीर्थ की आज्ञा के अनुसार तत्त्ववाद-
सम्प्रदाय में कर्ममिश्रा-भक्ति का प्रचलन—

तथापि मध्वाचार्य ऐछे करियाछे निर्बन्ध।
सेइ आचरिये सबे सम्प्रदाय-सम्बन्ध॥२७५॥

२७५। प० अनु०—फिर भी श्रीमध्वाचार्य ने जो पथ प्रदर्शित किया है, हम सम्प्रदाय के सम्बन्ध से उसी का ही आचरण करते हैं।

अनुभाष्य

२७५। सदाचार स्मृति में—"धर्मेणेज्यासाधनानि साधयित्वा विधानतः। सर्ववर्णाश्रमैविष्णुरेकं एवेज्यते सदा॥ आनन्दतीर्थमुनिना व्यासवाचः समुद्धृता। सदाचारस्य विषये कृताः संक्षेपतः शुभा॥"

प्रभु के द्वारा कर्मी और ज्ञानी का अनादर—

प्रभु कहे,—कर्मी, ज्ञानी, दुइ भक्तिहीन।
तोमार सम्प्रदाये देखि सेइ दुइ चिह्न॥२७६॥

२७६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"यद्यपि कर्मी और ज्ञानी दोनों ही भक्ति-हीन हैं फिर भी, आपके सम्प्रदाय में ये दोनों चिह्न दिखायी दे रहे हैं।

उपास्य के सविशेषत्व अथवा चिद्विलास को स्वीकार
करने के फलस्वरूप तत्त्ववादी की वैष्णवता—

सबे, एक गुण देखि तोमार सम्प्रदाये।
'सत्यविग्रह ईश्वरे' करह निश्चये॥२७७॥

२७७। प० अनु०—आपके सम्प्रदाय में एक गुण देखता हूँ कि आप ईश्वर के श्रीविग्रह को सत्य मानते हैं।"

अमृतप्रवाह भाष्य

२७७। प्रभु ने कहा,—ओहे तत्त्ववादी-आचार्य, तुम्हारे सम्प्रदाय के सिद्धान्त आदि प्रायः शुद्धभक्ति के विरुद्ध है; तथापि ईश्वर के सत्य और नित्य विग्रह को स्वीकार करने वाला एक महान् गुण तुम्हारे सम्प्रदाय में देख रहा हूँ। तात्पर्य यह है कि मदीय परमगुरु श्रीमाधवेन्द्र पुरी ने इस प्रधान सिद्धान्त को अवलम्बन करके ही माधव सम्प्रदाय को स्वीकार किया था।

फल्गुतीर्थ में आगमन—

एइमत ताँर घरे गर्व चूर्ण करि'।
फल्गुतीर्थे तबे आइला श्रीगौरहरि॥२७८॥

२७८। प० अनु०—इस प्रकार उनके ही मठ में उनके अभिमान को चूर्ण करके श्रीगौरहरि फल्गुतीर्थ नामक स्थान पर आ गये।

अनुभाष्य

२७८। ताँरे घरे,—(अर्थात्) उसे; आज तक भी हावड़ा-आमता लाईन पर 'माजु' आदि स्थानों पर एवं वर्द्धमान में काटोया की ओर 'तत्' 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द के कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति के एक वचन में और बहुवचन में चलित भाषा में सम्बन्ध-विभक्ति 'र' के साथ 'घरे' शब्द का व्यवहार प्रसिद्ध है; जैसे,—'तादेर घरे', 'तोमादेर घरे' एवं 'आमादेर घरे' आदि शब्दों का अर्थ 'ताहादिगके', 'तोमादिगके' एवं 'आमादिगके' होता है। पूर्वी बङ्गाल में इन सभी शब्दों के कर्मकारक में द्वितीया-विभक्ति में केवलमात्र बहुवचन में 'गोरे' शब्द इस 'घरे' शब्द के अपभ्रंश के रूप में प्रचलित है; किन्तु सम्बन्ध विभक्त 'र' आगम नहीं होता; जैसे,—'तोमादिगके डाकियाछे' के स्थान पर पूर्वबङ्गाल में चलित भाषा में 'तोमागोरे डाकछे' ही प्रचलित है।

त्रितकूपे विशालाक्षी का दर्शन और पञ्चाप्सरा तीर्थ में आगमन—

त्रितकूपे विशालाक्षी करिल दरशन।
पञ्चाप्सरा-तीर्थे आइला शचीर नन्दन॥२७९॥

२७९। प० अनु०—उसके बाद त्रितकूप-विशालाक्षी देवी का दर्शन कर श्रीशची नन्दन पञ्चाप्सरा नामक तीर्थ में आ गये।

अनुभाष्य

२७९। पञ्चाप्सरा तीर्थ,—शातकर्णिर, मतान्तर में माण्डकर्णिर, मतान्तर में अच्युत ऋषि की तपस्या को भङ्ग करने के उद्देश्य से इन्द्र द्वारा प्रेरित लता, बुद्‌बुदा, समीची, सौरभेयी और वर्णा,—यह पाँच अप्सराएँ अभिशप्त होकर कुम्भीर (मगरमच्छ) के रूप में सरोवर में वास करने लगी। बाद में श्रीरामचन्द्र ने इस सरोवर को देखा। नारद जी के वचनों से पता चलता है कि अर्जुन ने तीर्थ यात्रा के लिये आकर कुम्भीर की योनि से इन पाँच अप्सराओं का उद्धार किया; तब से यह सरोवर तीर्थ के रूप में परिणत हो गया है।

गोकर्ण में शिव का दर्शन
और द्वैपायनि अथवा सूर्पारक
तीर्थ में आगमन—

गोकर्णे शिव देखि' आइला द्वैपायनि।
सूर्पारक-तीर्थे आइला न्यासि-शिरोमणि॥२८०॥

२८०। प० अनु—फिर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने गोकर्ण शिव का दर्शन किया तथा वहाँ से द्वैपायनि में आ गये और वहाँ से संन्यासी शिरोमणि श्रीचैतन्य महाप्रभु सुर्पारक तीर्थ में आ गये।

अनुभाष्य

२८०। गोकर्ण,—बम्बई प्रदेश में उत्तर कानाड़ा में कारओयोर के बीस मील दक्षिण पूर्व की ओर अवस्थित एवं महबलेश्वर शिवलिङ्ग के मन्दिर के लिये विख्यात है। इस स्थान पर तीर्थ करने के उद्देश्य से बहुत से यात्रियों का समागम होता है (बोम्बाई गेजेटियार)।

सूर्पारक,—मुम्बई से २६ मील उत्तर की ओर थाना जिले में 'सोपारा' नामक स्थान है। अति प्राचीन काल से मध्ययुग पर्यन्त यह 'कोङ्कण' की राजधानी थी (बोम्बाई गेजेटियार)।

कोलापुर में लक्ष्मी, भगवती,
गणेश और पार्वती का दर्शन—

कोलापुरे लक्ष्मी देखि' देखेन क्षीर-भगवती।
लाङ्ग-गणेश देखि' देखेन चोर-पार्वती॥२८१॥

२८१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कोलापुर में लक्ष्मी का दर्शन करके क्षीर भगवती का दर्शन किया और बाद में लाङ्ग-गणेश का दर्शन करके उन्होंने चोर-पार्वती का दर्शन किया।

अनुभाष्य

२८१। कोलापुर,—बम्बई प्रदेश के अन्तर्गत एक राज्य, इसके उत्तर में—साँतारा, पूर्व और दक्षिण में—बेलग्राम, पश्चिम में—रत्नगिरि है। यहाँ पर 'ऊर्णा' नदी है। कोलापुर में पहले लगभग २५० मन्दिर थे; उनमें से अब ये छह मन्दिर प्रसिद्ध है—१) अम्बाबाई अथवा महालक्ष्मी का मन्दिर, २) विठोवा का मन्दिर, ३) टेम्बलाई मन्दिर, ४) महाकाली का मन्दिर, ५) फिराङ्गई अथवा प्रत्यङ्गिरा मन्दिर एवं ६) याल्लाम्मार मन्दिर (बोम्बाई गेजेटियार)।

भीमा नदी के तट पर स्थित पाण्डरपुर
में आगमन और विठ्ठलदेव का दर्शन—

तथा हैते पाण्डरपुरे आइला गौरचन्द्र।
विठ्ठल-ठाकुर देखि' पाइला आनन्द॥२८२॥

२८२। प० अनु०—वहाँ से श्रीगौरचन्द्र पाण्डरपुर आ गये और वहाँ पर ठाकुर श्रीविठ्ठल देव का दर्शन करके बहुत आनन्दित हुये।

अमृतप्रवाह भाष्य

२८२। पाण्डरपुर,—भीमा नदी के तट पर 'पाण्डुपुर' अथवा 'पाण्डरपुर' नगर है। अनुसन्धान करने पर यह जाना जाता है कि इस स्थान पर महाप्रभु ने तुकारामाचार्य को हरिनाम देकर कृपा की थी—इसे तुकारामकृत 'अभङ्ग' में उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है। तुकाराम से ही उस प्रदेश में मृदङ्ग आदि वाद्य के साथ कीर्त्तन का प्रचार हुआ है।

अनुभाष्य

२८२। पाण्डरपुर अथवा पण्डरपुर—बम्बई प्रदेश में शोलापुर जिले के अन्तर्गत एक महकुमा,—शोलापुर नगर से ३८ मील सीधे पश्चिम में। यहाँ पर विठ्ठल अथवा विठोवा-देव ठाकुर है; वे—चतुर्भुज श्रीनारायण मूर्त्ति है। यह नगर भीमा नदी के तट पर अवस्थित है। पन्द्रह सौ शताब्दी में यहाँ पर 'तुकाराम' नामक प्रसिद्ध वैष्णव-साधु रहते थे।

प्रभु का नृत्य-गीत और एक
वैष्णव ब्राह्मण के घर भिक्षा—

प्रेमावेशे कैल बहुत कीर्त्तन-नर्तन।
ताँहा एक विप्र ताँरे कैल निमन्त्रण॥२८३॥

२८३। प० अनु०—श्रीविठ्ठलदेव के मन्दिर में आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने प्रेमावेश में बहुत नृत्य-कीर्त्तन किया और वहीं पर एक ब्राह्मण ने आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को निमन्त्रण किया।

वहीं पर श्रीरङ्गपुरी के
रहने का संवाद प्राप्त—

बहुत आदरे प्रभु के भिक्षा कराइल।
भिक्षा करि' तथा एक शुभवार्ता पाइल॥२८४॥
माधवपुरीर शिष्य 'श्रीरङ्ग-पुरी' नाम।
सेइ ग्रामे विप्रगृहे करिला विश्राम॥२८५॥

२८४-२८५। प० अनु०—उस ब्राह्मण ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को बहुत आदर पूर्वक भोजन कराया। भोजन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु ने एक शुभ समाचार प्राप्त किया कि श्रीमाधवेन्द्र पुरी पाद के एक शिष्य जिनका नाम श्रीरङ्गपुरी है वे इसी ग्राम में एक ब्राह्मण के घर में वास कर रहे हैं।

श्रीरङ्गपुरी के पास जाना
और उनको प्रणाम करना—

शुनिया चलिला प्रभु ताँरे देखिबारे।
विप्रगृहे वसि' आछेन, देखिला ताँहारे॥२८६॥

प्रेमावेशे करे ताँरे दण्ड-परणाम।
अश्रु, पुलक, कम्प, सर्वांगे पड़े घाम॥२८७॥

२८६-२८७। प॰ अनु॰—यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीरङ्गपुरी का दर्शन करने के लिये चल पड़े और ब्राह्मण के घर में जाकर उन्होंने देखा कि श्रीरङ्गपुरी बैठे हुए हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने जब प्रेमावेश में उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया तो उनके शरीर में अश्रु, पुलक, कम्प एवं सभी अङ्गों में स्वेद आदि अष्ट सात्त्विक भाव प्रकाशित होने लगे।

प्रभु के भावों को देखकर रङ्गपुरी को प्रभु का माधवेन्द्रपुरी के साथ सम्बन्ध मानना—

देखिया विस्मित हैला श्रीरङ्ग-पुरीर मन।
'उठह श्रीपाद' बलि' बलिला वचन॥२८८॥
श्रीपाद, धर मोर गोसाञिर सम्बन्ध।
ताहा बिना अन्यत्र नाहि एइ प्रेमार गन्ध॥२८९॥

२८८-२८९। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के सात्त्विक भावों को देखकर श्रीरङ्गपुरी मन-ही-मन विस्मित हो गये और 'उठो श्रीपाद!' कहकर कहने लगे—"श्रीपाद! मैं जान गया हूँ कि आपका मेरे गुरुपादपद्म श्रीमाधवेन्द्रपुरी से अवश्य ही कुछ सम्बन्ध है, क्योंकि उनके सम्बन्ध के बिना किसी और में इस प्रकार के प्रेम की गन्ध भी नहीं देखी जाती।"

अनुभाष्य

२८९। श्रीपाद माधवेन्द्र पुरी पाद से पहले श्रीपाद लक्ष्मीतीर्थ पर्यन्त अकेले कृष्ण की पूजा ही प्रचलित थी। श्रील माधवेन्द्र पुरी से ही जगत में एकान्तिक श्रीराधा दास्य के मूल में विप्रलम्भ रस से कृष्णप्रेम अवतरित हुआ है। क्योंकि "भक्तिकल्पतरुर तिँह प्रथम अङ्कुर" अर्थात् भक्ति कल्पतरु के वे प्रथम अङ्कुर हैं। (आदि नवम परिच्छेद १० संख्या)। श्रील माधवेन्द्र पुरी के साथ प्रिय सम्बन्ध विशिष्ट जातरुचि भक्तों का ही इस कृष्णप्रेम में अधिकार है। मध्य द्वितीय परिच्छेद ८३ संख्या भी द्रष्टव्य।

गोसाञिर (गोसाञि का)—निष्किंचन परमहंसकुल-शिरोमणि कृष्णैकशरण श्रीगुरुदेव का, वही वाच्य है, इसलिए गृह का त्याग करने वाले श्रीमाधवेन्द्रपुरी पाद को 'गोस्वामी' शब्द के द्वारा पुकारा गया है। इसके द्वारा 'गोस्वामी' शब्द रक्त अथवा शुक्र अथवा शौक्रवंश-परम्परा के क्रम से ग्रहव्रत-धर्म अथवा गृहमेध के यजन में आबद्ध नहीं है, यह जाना जाता है; किन्तु वैष्णव विरोध ही स्पृहा के कारण अन्याय पूर्वक 'गोस्वामी' शब्द वर्त्तमानकाल में शौक्रजातिगत उपाधि में परिवर्तित हो गया है, इसलिए वह अनधिकारी व्यवहारकारियोंकी व्याधि का कारण बन गया है।

प्रभु को आलिङ्गन करना और दोनों का प्रेम क्रन्दन—

एत बलि' प्रभुके उठाञा कैल आलिङ्गन।
गलागलि करि' दुँहे करेन क्रन्दन॥२९०॥

२९०। प॰ अनु॰—इतना कहकर श्रीरङ्गपुरी ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को उठाकर उनका आलिङ्गन किया और दोनों ही एक-दूसरे को गले लगाकर रोने लगे।

दोनों का धैर्य और परस्पर के परिचय की प्राप्ति एवं प्रेम—

क्षणेके आवेश छाड़ि' दुँहे धैर्य हैला।
ईश्वर-पुरीर सम्बन्ध गोसाञि जानाइला॥२९१॥
अद्भुत प्रेमेर वन्या दुँहार उथलिल।
दुँहे मान्य करि' दुँहे आनन्दे बसिल॥२९२॥

२९१-२९२। प॰ अनु॰—कुछ समय के बाद प्रेमाविष्ट अवस्था से थोड़ा सचेत होकर दोनों ने धैर्य धारण किया और फिर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरङ्गपुरी को, श्रीईश्वरपुरी के साथ अपने सम्बन्ध के विषय में बतलाया। दोनों में एक अद्भुत प्रेम की बाढ़ उमड़ पड़ी और दोनों ही एक-दूसरो को यथायोग्य सम्मान देते हुये आनन्दपूर्वक बैठ गये।

दोनों के द्वारा एक सप्ताह
तक कृष्णकथा की आलोचना—

दुइजने कृष्णकथा कहे रात्रि-दिने।
एइमते गोङाइल पाँच-सात दिने॥२९३॥

२९३। प॰ अनु॰—दोनों ही रात-दिन कृष्णकथा की ओलाचना करने लगे और इसी प्रकार ही उन्होंने पाँच-सात दिन व्यतीत किये।

पुरी के जन्मस्थान का नाम पूछने पर श्रीरङ्ग
पुरी के द्वारा 'नवद्वीप' नाम का श्रवण—

कौतुके पुरी ताँरे पुछिल जन्मस्थान।
गोसाञि कौतुके कहेन 'नवद्वीप' नाम॥२९४॥

२९४। प॰ अनु॰—तब कौतुकवश श्रीरङ्गपुरी ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से उनके जन्म स्थान के विषय में पूछा और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भी कौतुकवश अपने जन्मस्थान का नाम 'नवद्वीप' बतलाया।

पहले श्रीशची के घर पर रङ्गपुरी के द्वारा श्रीशची
के हाथों से बने हुये भोजन को ग्रहण करने का सुयोग—

श्रीमाधव-पुरीर शिष्य श्रीरङ्ग-पुरी।
पूर्वे आसियाछिला तिंह नदीया-नगरी॥२९५॥
जगन्नाथमिश्र-घरे भिक्षा जे करिल।
अपूर्व मोचार घण्ट ताँहा जे खाइल॥२९६॥
जगन्नाथेर ब्राह्मणी, तिंह—महा-पतिव्रता।
वात्सल्य हयेन तिंह जेन जगन्माता॥२९७॥
रन्धने निपुणा ताँ-सम नाहि त्रिभुवने।
पुत्रसम स्नेह करेन संन्यासी-भोजने॥२९८॥

२९५-२९८। प॰ अनु॰—पहले एक बार श्रीमाधवेन्द्र पुरी के साथ श्रीरङ्गपुरी नदीया गये थे और उन्होंने श्रीजगन्नाथ मिश्र के घर में भोजन किया था जिसमें उन्होंने अपूर्व मोचा घण्ट खाया था। श्रीजगन्नाथ मिश्र की पत्नी महान् पतिव्रता, जिनका वात्सल्य ऐसा था मानो वे साक्षात् जगन्माता हो। रसोई कार्य में त्रिभुवन में उनके समान कोई भी निपुण नहीं है और संन्यासी को भोजन कराने में उनका स्नेह पुत्र की भाँति होता है।

प्रभु का रङ्गपुरी के मुख से विश्वरूप के संन्यास
के बाद उनकी सिद्धि प्राप्ति का संवाद श्रवण—

ताँर एक योग्य पुत्र करियाछे संन्यास।
'शङ्करारण्य' नाम ताँर अल्प वयस॥२९९॥
एइ तीर्थे शङ्करारण्येर सिद्धिप्राप्ति हैल।
प्रस्तावे श्रीरङ्गपुरी एतेक कहिल॥३००॥

२९९-३००। प॰ अनु॰—श्रीरङ्गपुरी और कहने लगे—"उनके एक योग्य पुत्र ने छोटी आयु में ही संन्यास ग्रहण किया था, उनका नाम 'शङ्करारण्य' था। इसी पाण्डरपुर तीर्थ में आकर शङ्करारण्य ने सिद्धि प्राप्त की है अर्थात् यहीं पर ही उन्होंने अपनी अप्रकट लीला का आविष्कार किया। इस प्रकार प्रसङ्गवशतः श्रीरङ्गपुरी ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को यह सब वृत्तान्त कहा।

अमृतप्रवाह भाष्य

३००। महाप्रभु के ज्येष्ठ भ्राता श्रीमद्विश्वरूप ने संन्यास ग्रहण करके 'शङ्करारण्य स्वामी' नाम प्राप्त किया था। उन्होंने देश भ्रमण करते-करते 'पाण्डरपुर'—तीर्थ में सिद्धि प्राप्त की थी अर्थात् चिन्मय धाम में प्रवेश किया था। माधवेन्द्र पुरी के शिष्य एवं ईश्वर पुरी के गुरुभाई श्रीरङ्गपुरी ने यह संवाद महाप्रभु को दिया।

प्रभु के द्वारा अपने पूर्वाश्रम का परिचय प्रदान—

प्रभु कहे,—पूर्वाश्रमे तेंहो मोर भ्राता।
जगन्नाथ मिश्र—पूर्वाश्रमे मोर पिता॥"३०१॥

३०१। प॰ अनु॰—यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"पूर्व आश्रम के सम्बन्ध से 'शङ्करारण्य' मेरे भाई थे और श्रीजगन्नाथ मिश्र मेरे पूर्व आश्रम के पिता हैं।"

श्रीरङ्गपुरी की द्वारका यात्रा—

एइमत दुइजने इष्टगोष्ठी करि'।
द्वारका देखिते चलिला श्रीरङ्गपुरी॥३०२॥

३०२। प॰ अनु॰—इस प्रकार दोनों ने इष्टगोष्ठी की और तदुपरान्त श्रीरङ्गपुरी द्वारका दर्शन करने के लिये चले गये।

वैष्णव ब्राह्मण के घर पर प्रभु का
४ दिन तक वास और विठ्ठल दर्शन—

दिन-चारि तथा प्रभुके राखिल ब्राह्मण।
भीमानदी स्नान करि' करेन विठ्ठल-दर्शन॥३०३॥

३०३। प॰ अनु॰—चार दिन तक उस ब्राह्मण ने प्रार्थना करके श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपने घर पर रखा। श्रीचैतन्य महाप्रभु नित्यप्रति भीमा नदी में स्नान करते और विठ्ठलदेव का दर्शन किया करते।

कृष्णवेण्वा के तट पर आगमन—

तबे महाप्रभु आइला कृष्णवेण्वा-तीरे।
नाना तीर्थ देखि' ताँहा देवता-मन्दिरे॥३०४॥

३०४। प॰ अनु॰—पाण्डरपुर से श्रीचैतन्य महाप्रभु कृष्णवेण्वा नदी के तट पर आ गये और वहाँ पर उन्होंने अनेक तीर्थों का एवं बहुत से मन्दिरों का दर्शन किया।

अनुभाष्य

३०४। कृष्णवेण्व,—सह्याद्रिगिरि के महाबलेश्वर से कृष्णा नदी की दो धाराओं की उत्पत्ति हुयी है। इसी नदी के तट पर ही बिल्वमङ्गल ठाकुर का वास स्थान था। 'वेण्वा' के स्थान पर कोई-कोई 'वीणा', कोई-कोई 'वेणी' 'सिना' और कोई-कोई 'भीमा' कहते हैं।

वहाँ के ब्राह्मणगण—वैष्णव और
कर्णामृत का पाठ करने वाले—

ब्राह्मण-समाज सब—वैष्णव-चरित्र।
वैष्णव सकल पड़े 'कृष्णकर्णामृत'॥३०५॥

३०५। प॰ अनु॰—वहाँ का ब्राह्मण समाज वैष्णवों के आचरण का पालन करने वाला था। वे सब वैष्णव 'कृष्णकर्णामृत' का पाठ करते थे।

अनुभाष्य

३०५। कृष्णकर्णामृत,—श्रीठाकुर बिल्वमङ्गल द्वारा रचित ११२

श्लोक विशिष्ट गीति ग्रन्थ। इस नाम के दो-तीन भिन्न-भिन्न गीतिग्रन्थ पाये जाते हैं। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी और श्रीचैतन्यदास गोस्वामी कृत इस ग्रन्थ की दो गौड़ीय वैष्णवों की पाठ्य टीकाएँ हैं।

कर्णामृत को श्रवण करने पर प्रभु को
हर्ष और प्रभु द्वारा कर्णामृत ग्रन्थ को
नकल करके उसका संग्रह—

कृष्णकर्णामृत शुनि' प्रभुर आनन्द हैल।
आग्रह करिया पुँथि लेखाञा लैल॥३०६॥

३०६। प॰ अनु॰—कृष्णकर्णामृत को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को बहुत आनन्द हुआ और उन्होंने अत्यन्त आग्रह पूर्वक उस ग्रन्थ की नकल करवाके अपने पास रख ली।

'कर्णामृत' की महिमा—

'कर्णामृत'-सम वस्तु नाहि त्रिभुवने।
जाहा हैते हय कृष्णे शुद्धप्रेमज्ञाने॥३०७॥

जातरुचि पाठक के लिये कर्णामत के पाठ का फल—

सौन्दर्य-माधुर्य-कृष्णलीलार अवधि।
सेइ जाने, जे 'कर्णामृत' पड़े निरवधि॥३०८॥

३०७-३०८। प॰ अनु॰—'कृष्णकर्णामृत' जैसा ग्रन्थ त्रिभुवन में और कोई भी नहीं है। इस ग्रन्थ को पढ़नेसे श्रीकृष्ण के प्रति शुद्धप्रेम प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ श्रीकृष्ण के सौन्दर्य, माधुर्य और उनकी लीलाओं की सीमा है। जो इसे नित्य पाठ करता है वही इसकी महिमा को जान सकता है।

प्रभु के द्वारा दो ग्रन्थों का संग्रह—
(१) सिद्धान्त और (२) रसशास्त्र—

'ब्रह्मसंहिता', 'कर्णामृत' दुइ पुँथि पाञा।
महा यत्न करि' पूंथि आइला लञा॥३०९॥

३०९। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने 'ब्रह्म-संहिता' और 'कर्णामृत' नामक दोनों ग्रन्थों को प्राप्त करने पर उन्हें अत्यधिक यत्नपूर्वक रखा तथा उन दोनों ग्रन्थों को वे अपने साथ लेकर आये थे।

अनुभाष्य

३०९। ब्रह्म संहिता,—२३७ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

ताप्ती और नर्मदा के तट पर तीर्थों का दर्शन और माहिष्मतीपुर में आगमन—

तापी स्नान करि' आइला माहिष्मतीपुरे।
नाना तीर्थ देखि ताँहा नर्मदार तीरे॥३१०॥

३१०। प॰ अनु॰—वहाँ से श्रीचैतन्य महाप्रभु ताप्ती नदी के तट पर आ गये तथा ताप्ती नदी में स्नान करके वे माहिष्मतीपुर में आये और वहाँ नर्मदा नदी के तट पर स्थित अनेक तीर्थों का दर्शन किया।

अनुभाष्य

३१०। ताप्ती,—वर्त्तमान नाम 'तापी'—यह मध्य भारत के मूलताई-गिरि से उत्पन्न होकर सौराष्ट्र के उत्तर अंश में पश्चिम-सागर में जाकर मिलती हैं।

धनुष्तीर्थ का दर्शन और निर्विन्ध्या नदी में स्नान, उसके बाद ऋष्यमूक पर्वत से दण्डकारण्य में आगमन और 'सप्तताल का उद्धार'—

धनुस्तीर्थ देखि' करिला निर्विन्ध्या स्नाने।
ऋष्यमूक-गिरि आइला दण्डकारण्ये॥३११॥
'सप्तताल-वृक्ष' देखे कानन-भितर।
अति वृद्ध, अति स्थूल, अति उच्चतर॥३१२॥
सप्तताल देखि' प्रभु आलिङ्गन कैल।
सशरीरे सप्तताल अन्तर्धान हैल॥३१३॥

३११-३१३। प॰ अनु॰—धनुस्तीर्थ का दर्शन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु ने निर्विन्ध्या नदी में स्नान किया और फिर ऋष्यमूक पर्वत से दण्डकारण्य चले गये। दण्डकारण्य में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने 'सप्तताल वृक्ष' का दर्शन किया। ये सात ताल वृक्ष बड़े पुराने, मोटे और ऊँचे थे। सप्तताल वृक्ष को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें आलिङ्गन किया और वे वृक्ष देखते-ही-देखते सशरीर अन्तर्धान हो गये।

अनुभाष्य

३११। ताप्ती,—वर्त्तमान नाम 'तापी'—यह मध्य भारत के मूलताई-गिरि से उत्पन्न होकर सौराष्ट्र के उत्तर अंश में पश्चिम-सागर में जाकर मिलती है।

माहिष्मतीपुर,—चूलिमहेश्वर'; महाभाः सभापः सहदेव के दिग्विजय में ३१ अध्याय २१ श्लोक—"ततो रत्नान्युपादाय पुरीं माहिष्मतीं यषौ। तत्र नीलेन राज्ञा स चक्रे युद्धं नरर्षभः॥" पूर्वी गुजरात के ब्रोट्-जिले में कार्त्त्यवीर्यार्जुन का स्थान है।

अनुभाष्य

३११। निर्विन्ध्या-नदी,—उज्जयिनी के निकट पूर्वोत्तर में अवस्थित पारा नदी के पश्चिम में एवं पावनी नदी के दक्षिण में।

ऋष्यमूक,—कोई-कोई कहते हैं कि बेलारि जिले में हाम्पिग्राम के तुङ्गाभद्रा नदी के तट पर स्थित सर्वापेक्षा सङ्कीर्ण पर्वत के पथ के पार्श्ववर्ती जो पर्वत निजाम राज्य में पड़ता है, वही ऋषमूक पर्वत है। किसी के मतानुसार, मध्यप्रदेश में अवस्थित एवं वर्त्तमान नाम 'राम्प'; किसी के मतानुसार, त्रिवाङ्कुर-राज्य में 'अनमलय' एवं किसी के मतानुसार ऋष्यमूक पर्वत से ही पम्पा नदी बाहर निकलकर अनाङ्गुण्डिर के निकट तुङ्गाभद्रा में आकर मिली है।

दण्डकारण्य,—उत्तर में 'खान्देश' से दक्षिण में आह-म्मदनगर एवं मध्य 'नासिक' और 'औरङ्गाबाद' पर्यन्त गोदावरी नदी के तट पर स्थित विस्तृत भू-भाग पर 'दण्डकारण्य' नामक विस्तृत वन था।

अनुभाष्य

३१२। सप्तताल,—बानर राज सुग्रीव को बाली की हत्या के सम्बन्ध में अपने सामर्थ्य का ज्ञापन करने के लिये श्रीरामचन्द्र की स्पर्धा सहित सप्तताल के वध का प्रसङ्ग—रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में एकादश और द्वादश सर्ग में वर्णित है।

लोगों के द्वारा प्रभु को राम का अवतार समझना—

शून्यस्थल देखि' लोकेर हैल चमत्कार।
लोके कहे,—ए संन्यासी—राम-अवतार॥३१४॥
सशरीरे ताल गेल श्रीवैकुण्ठ-धाम।
ऐछे शक्ति कार हय, बिना एक राम?३१५॥

३१४-३१५। प० अनु०—जिस स्थान पर ताल वृक्ष थे, उस स्थान को शून्य देखकर लोग अत्यधिक आश्चर्यचकित हुए तथा वे कहने लगे—"यह संन्यासी तो भगवान् श्रीरामचन्द्र के अवतार हैं क्योंकि शरीर सहित ताल वृक्ष को वैकुण्ठ धाम में पहुँचाने की शक्ति एकमात्र भगवान् श्रीरामचन्द्र के अतिरिक्त और किसमें हो सकती है?"

पम्पा-सरोवर में स्नान और पञ्चवटी पर विश्राम—

प्रभु आसि' कैल पम्पा-सरोवरे स्नान।
पञ्चवटी आसि, ताँहा करिल विश्राम॥३१६॥

३१६। प० अनु०—उसके बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पम्पा सरोवर में स्नान किया और वहाँ से पञ्चवटी नामक स्थान पर आकर विश्राम किया।

अनुभाष्य

३१६। पम्पा—"ऋष्यमूकस्तु पम्पायां पुरस्तात् पुष्पितद्रुम"; कोई-कोई कहते हैं,—तुङ्गाभद्रा नदी का ही प्राचीन नाम 'पम्बा' है; मतान्तर में,—विजय नगर की प्राचीन प्रसिद्ध राजधानी हाम्पि ग्राम ही पहले पम्पा तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध था; मतान्तर में,—हैदराबाद की ओर, अनागुण्डिर के निकट तुङ्गाभद्रा के तट पर स्थित एक सरोवर ही 'पम्पा सरोवर' के नाम से परिचित है; मतान्तर में; पम्पा सरोवर ही त्रिवाङ्कुर की पम्वै-नदी है; मतान्तर में,—स्थिरजल होने के कारण ही नदी को सरोवर कहा जाता है।

पञ्चवटी,—दण्डकारण्य के अन्तर्गत एक वन; वर्त्तमान 'नासिक' शहर में अवस्थित। यहाँ पर लक्ष्मण ने शूर्पनखा के नाक को काटा था। नासिक शहर में 'त्रयम्बक' नामक महादेव है (बोम्बाई गेजेटियार)।

नासिक में शिव का दर्शन करने के बाद ब्रह्मगिरि एवं उसके बाद कुशावर्त्त में आगमन—

नासिके त्र्यम्बक देखि' गेला ब्रह्मगिरि।
कुशावर्ते आइला जाँहा जन्मिला गोदावरी॥३१७॥

३१७। प० अनु०—उसके बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु नासिक में त्र्यम्बक का दर्शन करके ब्रह्मगिरि चले गये और फिर गोदावरी नदी के प्राकट्य स्थल कुशावर्त आ गये।

अनुभाष्य

३१७। कुशावर्त्त,—पश्चिम घाट अथवा सह्याद्रि के कुशट्ट नामक प्रदेश से गोदावरी की मूल धाराएँ उत्पन्न होती हैं; यह नासिक के निकट स्थित है; किसी-किसी के मतानुसार विन्ध्या की तलहटी में अवस्थित है।

गोदावरी के सप्तशाखाओं के तटों पर बहुत तीर्थों का उद्धार कर विद्यानगर में आगमन—

सप्त गोदावरी आइला करि' तीर्थ बहुतर।
पुनरपि आइला प्रभु विद्यानगर॥३१८॥

३१८। प० अनु०—बहुत से तीर्थों का दर्शन करने के उपरान्त श्रीचैतन्य महाप्रभु सप्त गोदावरी नामक स्थान पर आ गये तथा फिर वहाँ से विद्यानगर लौट आये।

अनुभाष्य

३१८। गोदावरी के उत्पत्ति स्थान से वर्त्तमान हैदराबाद के उत्तर अंश से होकर 'वस्तार' होकर उत्तर-सर्कास में कलिङ्ग देश में आकर पहुँचे।

प्रभु के साथ रामानन्द राय का मिलन—

रामानन्द राय शुनि' प्रभुर आगमन।
आनन्दे आसिया कैल प्रभुसह मिलन॥३१९॥

३१९। प० अनु०—विद्यानगर में श्रीचैतन्य महाप्रभु के आगमन के विषय में सुनकर श्रीरामानन्द राय आनन्दित होकर प्रभु से मिलने के लिये आये।

राय का प्रणाम, प्रभु का आलिङ्गन—
दण्डवत् हञा पड़े चरणे धरिया।
आलिङ्गन कैल प्रभु ताँरे उठाञा॥३२०॥

३२०। प॰ अनु॰—रामानन्द राय ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों में दण्डवत् प्रणाम किया और प्रभु ने उन्हें उठाकर उनका आलिङ्गन किया।

दोनों का प्रेमानन्द और इष्टगोष्ठी—
दुइ जने प्रेमावेशे करेन क्रन्दन।
प्रेमानन्दे शिथिल हैल दुँहाकार मन॥३२१॥

३२१। प॰ अनु॰—दोनों एक-दूसरे को मिलकर प्रेमावेश में क्रन्दन करने लगे और प्रेमानन्द में दोनों का मन शिथिल हो गया।

दोनों की इष्ट गोष्ठी—
कतक्षणे दुइ जना सुस्थिर हञा।
नाना इष्टगोष्ठी करे एकत्रे बसिया॥३२२॥

३२२। प॰ अनु॰—कुछ समय के बाद सुस्थिर होकर दोनों ने एक साथ बैठकर इष्ट वस्तु के विषय में अनेक वार्त्तालाप किया।

प्रभु के द्वारा अपनी तीर्थयात्रा के वृत्तान्त
का वर्णन और संगृहीत दोनों ग्रन्थ प्रदान—
तीर्थयात्रा-कथा प्रभु सकल कहिला।
कर्णामृत, ब्रह्मसंहिता,—दुइ पुँथि दिला॥३२३॥

३२३। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरामानन्द राय को अपनी तीर्थ यात्रा की सभी बातों को सुनाया और अपने साथ लायी हुयी कर्णामृत एवं ब्रह्मसंहिता नामक दो पुस्तकों को उन्हें प्रदान किया।

दोनों ग्रन्थों में ही राय के द्वारा कहे गये
सिद्धान्त और रस विचार का प्रमाण—
प्रभु कहे,—तुमि जे 'प्रेम-सिद्धान्त' कहिले।
एइ दुइ पुस्तके सेइ रसेर साक्षी दिले॥३२४॥

३२४। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"तुमने जिस 'प्रेम विषयक सिद्धान्त' का वर्णन किया था उस प्रेम विषयक सिद्धान्त के ये दोनों ग्रन्थ साक्षी हैं।"

प्रभु के दर्शन से राय का आनन्द और
दोनों ग्रन्थों की नकल करके उनका संरक्षण—
रायेर आनन्द हैल पुस्तक पाइया।
प्रभु-सह आस्वादिल, राखिल लिखिया॥३२५॥

३२५। प॰ अनु॰—उन दोनों ग्रन्थों को प्राप्त करके श्रीरामानन्द राय को बहुत आनन्द हुआ और उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ उन दोनों ग्रन्थों का आस्वादन किया तथा उनकी नकल करके रख ली।

प्रभु के दर्शन के लिये लोगों का समागम—
'गोसाञि' आइला, ग्रामे हैल कोलाहल।
प्रभुके देखिते लोक आइल सकल॥३२६॥

३२६। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के विद्यानगर ग्राम में आने का संवाद सुनकर सभी आनन्द पूर्वक कोलाहल करने लगे तथा सभी लोग श्रीचैतन्य महाप्रभु का दर्शन करने के लिये आने लगे।

अनुभाष्य

३२६। गोसाञि,—श्रीचैतन्य गोसाञि।

बहिरङ्ग-लोगों को देखकर रामानन्द राय और
प्रभु का अपने-अपने कार्य के लिये प्रस्थान—
लोक देखि' रामानन्द गेल निज-घरे।
मध्याह्न उठिला प्रभु भिक्षा करिबारे॥३२७॥

३२७। प॰ अनु॰—लोगों की भीड़ को देखकर श्रीरामानन्द राय अपने घर लौट गये और श्रीचैतन्य महाप्रभु भी मध्याह्न भोजन करने के लिये उठ खड़े हुये।

प्रभु और राय का कृष्णकथा
आलोचना में रात्रि-जागरण—
रात्रिकाले राय पुनः कैल आगमन।
दुइ जने कृष्णकथाय कैल जागरण॥३२८॥

३२८। प॰ अनु॰—रात के समय श्रीरामानन्द राय

श्रीचैतन्य महाप्रभु के पास फिर से आ गये और दोनों कृष्णकथा कहते हुये सारी रात जागते रहे।

कृष्णकथा-प्रसङ्ग में दोनों का एक सप्ताह व्यतीत—

दुइ जने कृष्णकथा कहे रात्रि-दिने।
परम-आनन्दे गेल पाँच-सात दिने॥३२९॥

३२९। प० अनु०—इस प्रकार दोनों ही पाँच-सात दिन तक परम आनन्द में रात-दिन कृष्णकथा की आलोचना करते रहे।

प्रभु की आज्ञा के अनुसार रामानन्द राय का पुरी में जाने के उद्योग के विषय में बतलाना—

रामानन्द कहे,—प्रभु, तोमार आज्ञा पाञा।
राजाके लिखिलुँ आमि विनय करिया॥३३०॥
राजा मोरे आज्ञा दिल नीलाचले जाइते।
चलिबार उद्योग आमि लागियाछि करिते॥३३१॥

३३०-३३१। प० अनु०—तब श्रीरामानन्द राय ने कहा—"प्रभु! आपकी आज्ञा पाकर मैंने अत्यन्त दीन-हीन भाव से राजा को पत्र लिखा था और राजा ने भी मुझे नीलाचल जाने की अनुमति प्रदान कर दी है। इसलिये अब मैं नीलाचल जाने की तैयारी कर रहा हूँ।"

प्रभु का विद्यानगर में आने का कारण—

प्रभु कहे,—एथा मोर ए-निमित्ते आगमन।
तोमा लञा नीलाचले करिब गमन॥३३२॥

३३२। प० अनु०—यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"इसी कारण ही मैं यहाँ आया हूँ। मैं तुम्हें अपने साथ लेकर नीलाचल जाऊँगा।"

राय के द्वारा प्रभु को पहले ही पुरी प्रेरण और बाद में स्वयं के आगमन को स्वीकार—

राय कहे,—प्रभु, आगे चल नीलाचले।
मोर सङ्गे हाती-घोड़ा, सैन्य-कोलाहले॥३३३॥
दिन-दशे इहा-सबार करि' समाधान।
तोमार पाछे पाछे आमि करिब प्रयाण॥३३४॥

३३३-३३४। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय ने कहा—"प्रभु! आप मुझसे पहले ही नीलाचल चलिये, क्योंकि मेरे साथ हाथी, घोड़े और बहुत से सैनिक हैं, अतएव दस दिन में ही मैं इन सबका समाधान करके आपके पीछे-पीछे नीलाचल के लिये चल दूँगा।"

प्रभु की सम्मति और पुरी में गमन—

तबे महाप्रभु ताँरै आसिते आज्ञा दिया।
नीलाचले चलिला प्रभु आनन्दित हञा॥३३५॥

३३५। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीरामानन्द राय को पुरी आने की आज्ञा देकर आनन्दपूर्वक नीलाचल की ओर चल पड़े।

वैष्णवता प्राप्त करनेवाले भक्तगण को कृपा प्रदान करने के लिये प्रभु के द्वारा पहले वाले मार्ग से ही गमन—

जेइ पथे पूर्वे प्रभु कैला आगमन।
सेइ पथे चलिला देखि, सर्व वैष्णवगण॥३३६॥

३३६। प० अनु०—जिस मार्ग से श्रीचैतन्य महाप्रभु पहले आये थे उसी मार्ग से ही वे नीलाचल की ओर गये तथा मार्ग में सभी वैष्णवों के साथ उनकी भेंट हुई।

प्रभु के दर्शन से लोगों का हरिकीर्त्तन करना और प्रभु का आनन्द—

जाहाँ जाय, लोक उठे हरिध्वनि करि'।
देखि' आनन्दित मन हैला गौरहरि॥३३७॥

३३७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु जहाँ भी जाते उनको देखकर लोग हरि ध्वनि करने लगते तथा यह देखकर श्रीगौरहरि बहुत आनन्दित होते।

आलालनाथ में आकर नित्यानन्द आदि को वहाँ लाने के लिये अपने सङ्गी कृष्णदास को भेजना—

आलालनाथे आसि' कृष्णदासे पाठाइल।
नित्यानन्द-आदि निजगणे बोलाइल॥३३८॥

३३८। प० अनु०—आलालनाथ में पहुँच कर

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द प्रभु आदि अपने परिकरों को वहीं बुलवाने के लिये कृष्णदास को भेजा।

प्रभु के दर्शनों के लिये नित्यानन्दादि
का अत्यधिक शीघ्रतापूर्वक आगमन—

प्रभुर आगमन शुनि' नित्यानन्द राय।
उठिया चलिला, प्रेमे थेह नाहि पाय॥३३९॥
जगदानन्द, दामोदर-पण्डित, मुकुन्द।
नाचिया चलिला, देहे ना धरे आनन्द॥३४०॥

३३९-३४०। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के आने की बात को सुनकर श्रीनित्यानन्द प्रभु प्रेम में अस्थिर हो गये और प्रभु के दर्शन के लिये चल पड़े। श्रीजगदानन्द पण्डित, श्रीदामोदर पण्डित तथा श्रीमुकुन्द आदि सभी इस समाचार को सुनकर अत्यन्त आनन्द के कारण अपनी देह को न सम्भाल सके और नाचते हुये चलने लगे।

मार्ग में ही प्रभु के साथ सभी का मिलन—

गोपीनाथाचार्य चलिला आनन्दित हञा।
प्रभुरे मिलिला सबे पथे लाग् पाञा॥३४१॥

३४१। प॰ अनु॰—श्रीगोपीनाथाचार्य भी परम आनन्द में चलने लगे और मार्ग में ही उनका श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिलन हुआ।

प्रभु के द्वारा सबको प्रेम-आलिङ्गन—

प्रभु प्रेमावेशे सबे कैल आलिङ्गन।
प्रेमावेशे सबे करे आनन्द-क्रन्दन॥३४२॥

३४२। प॰ अनु॰—प्रेमावेश में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन सबको आलिङ्गन प्रदान किया और सभी प्रेमाविष्ट होकर आनन्द पूर्वक क्रन्दन करने लगे।

समुद्र के तट पर सार्वभौम के साथ मिलन—

सार्वभौम भट्टाचार्य आनन्दे चलिला।
समुद्रे तीरे आसि' प्रभुरे मिलिला॥३४३॥

३४३। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य भी आनन्दित होकर महाप्रभु के दर्शनों के लिये चल पड़े और समुद्र के तट पर उनका श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिलन हुआ।

सार्वभौम के द्वारा प्रणाम
तथा प्रभु के द्वारा आलिङ्गन—

सार्वभौम महाप्रभुर पड़िला चरणे।
प्रभु ताँरे उठाञा कैल आलिङ्गने॥३४४॥

३४४। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु को देखते ही उनके चरणों में गिर पड़े और प्रभु ने उन्हें उठाकर उनका आलिङ्गन किया।

प्रभु द्वारा सभी को साथ
लेकर जगन्नाथ-दर्शन—

प्रेमावेशे सार्वभौम करिला रोदने।
सबा-सङ्गे आइला प्रभु ईश्वर-दरशने॥३४५॥

३४५। प॰ अनु॰—प्रेमावेश में श्रीसार्वभौम क्रन्दन करने लगे और फिर सभी को साथ लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीजगन्नाथ का दर्शन करने गये।

प्रभु का भावावेश—

जगन्नाथ-दरशन प्रेमावेशे कैल।
कम्प-स्वेद-पुलकाश्रुते शरीर भासिल॥३४६॥

३४६। प॰ अनु॰—प्रेम में आविष्ट होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भगवान् श्रीजगन्नाथ का दर्शन किया और कम्प, स्वेद, पुलक एवं अश्रु से उनका शरीर व्याप्त हो गया।

प्रभु का नृत्य-गीत—

बहु नृत्यगीत कैल प्रेमाविष्ट हञा।
पाण्डापाल आइल सबे माला-प्रसाद लञा॥३४७॥

३४७। प॰ अनु॰—प्रेम में आविष्ट होकर जब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने बहुत नृत्य-गीत किया तो सब पण्डा लोगों ने आकर प्रभु को श्रीजगन्नाथ की प्रसाद-माला प्रदान की।

अमृतप्रवाह भाष्य

३४७। पाण्डापाल,—श्रीजगन्नाथ की जो पूजा करते हैं, वे—पाण्डा हैं, जो अन्य प्रकार से टहल करते हैं अर्थात् इधर-उधर घूमते हैं, वे—'पशुपाल' हैं; ये दोनों एक साथ मिलकर 'पाण्डापाल' हुए हैं।

प्रभु का धैर्य—

माला-प्रसाद पाञा प्रभु सुस्थिर हइला।
जगन्नाथेर सेवक सब आनन्दे मिलिला॥३४८॥

३४८। प॰ अनु॰—श्रीजगन्नाथ की प्रसाद माला पाकर जब श्रीचैतन्य महाप्रभु स्थिर हो गये तब श्रीजगन्नाथ के सेवकगण आनन्दपूर्वक आकर प्रभु से मिले।

काशीमिश्र का मिलन—

काशीमिश्र आसि' प्रभुर पड़िला चरणे।
मान्य करि' प्रभु ताँरे कैल आलिङ्गने॥३४९॥

३४९। प॰ अनु॰—तब श्रीकाशीमिश्र आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों में पड़ गये और प्रभु ने उन्हें सम्मान पूर्वक आलिङ्गन दान दिया।

मध्याह्न में सगण प्रभु को भट्टाचार्य के द्वारा भिक्षा-प्रदान—

प्रभु लञा सार्वभौम निज-घरे गेला।
मोर घरे भिक्षा बलि' निमन्त्रण कैला॥३५०॥
दिव्य महाप्रसाद अनेक आनाइल।
पीठा-पाना आदि जगन्नाथ जे खाइल॥३५१॥
मध्याह्न करिला प्रभु निजगण लञा।
सार्वभौम-घरे भिक्षा करिला असिया॥३५२॥

३५०-३५२। प॰ अनु॰—'आज आप मेरे घर में भिक्षा ग्रहण कीजिये।' श्रीचैतन्य महाप्रभु को यह कहकर—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने निमन्त्रण दिया तथा उन्हें अपने घर ले गये। पीठा-पाना आदि जो-जो भोजन श्रीजगन्नाथ देव ने किया था, उस सब दिव्य महाप्रसाद को बहुत अधिक मात्रा में मँगवाया। अपने परिकरों के साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम के घर पर भोजन किया।

प्रभु का विश्राम और भट्टाचार्य
के द्वारा पाद-सम्वाहन—

भिक्षा कराञा ताँरे कराइल शयन।
आपने सार्वभौम करे पादसंवाहन॥३५३॥

३५३। प॰ अनु॰—भोजन कराके श्रीसार्वभौम ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को शयन कराया तथा उन्होंने स्वयं ही प्रभु के चरणों की सेवा की।

अनुभाष्य

३५३। भिक्षा कराइया—श्रीमन् महाप्रभु को भोजन करवा के।

भट्टाचार्य के घर में रात को वास—

प्रभु ताँरे पाठाइल भोजन करिते।
सेइ रात्रि ताँर घरे रहिला ताँर प्रीते॥३५४॥

३५४। प॰ अनु॰—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को भोजन करने के लिये भेज दिया और उस रात प्रभु श्रीसार्वभौम की प्रसन्नता के लिए उन्हीं के ही घर रह गये।

प्रभु के द्वारा तीर्थयात्रा के वृत्तान्त का वर्णन और
उसका श्रवण करते-करते सभी का रात्रि-जागरण—

सार्वभौम-सङ्गे आर लञा निजगण।
तीर्थयात्रा-कथा कहि' कैल जागरण॥३५५॥

३५५। प॰ अनु॰—वहाँ श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य और अपने परिकरों के साथ अपनी तीर्थ-यात्रा के प्रसङ्ग को कहने में सारी रात बिता दी।

प्रभु के द्वारा सार्वभौम और
रामानन्द राय की प्रशंसा—

प्रभु कहे,—एत तीर्थ कैलूँ पर्यटन।
तोमा-सम वैष्णव ना देखिलुँ एकजन॥३५६॥
एक रामानन्द राय बहु सुख दिल।
भट्ट कहे,—एइ लागि' मिलिते कहिल॥३५७॥

३५६-३५७। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य से कहा—"मैंने इतने तीर्थों में

भ्रमण किया परन्तु आपके जैसा एक भी वैष्णव नहीं दिखायी दिया। हाँ, एक रामानन्द राय ने मुझे बहुत आनन्द प्रदान किया" श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"मैंने इसलिये ही आपको उनसे मिलने की प्रार्थना की थी।"

अमृतप्रवाह भाष्य

३५५-३५७। सार्वभौम और श्रीकृष्णचैतन्य का कथोपकथन श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक के अष्टम अङ्क में इस प्रकार लिखा हुआ है, यथा—

श्रीकृष्णचैतन्यः। सार्वभौम, एतावद्दूरं पर्यचितम्; भवत् सदृश कोऽपि न दृष्टः, केवलमेव रामानन्दरायः, स तु अलौलिक एव भवति।

सार्वभौमः। देव, अतएव निवेदितं सोऽवश्यमेव द्रष्टव्य इति। श्रीकृष्णचैतन्यः। कियन्त एव वैष्णवा दृष्टास्तेऽपि नारायणोपासका एव; अपरे तत्त्ववादिनस्ते तथा विधा एव, निरवधं न भवति तेषां मतम्; अपरे तु शैवा एव बहवः पाषण्तास्तु महाप्रबला भूयांस एव। किन्तु भट्टाचार्य, रामानन्दमतमेव मे रुचितम्।

प्रभु का तीर्थयात्रा का वृत्तान्त इस
ग्रन्थ में संक्षेप में ही वर्णित—

तीर्थयात्रा-कथा एइ कैलुँ समापन।
संक्षेपे कहिलुँ, विस्तार ना जाय वर्णन॥३५८॥

३५८। प० अनु०—(श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी कह रहे हैं—) मैं तीर्थ यात्रा की कथा को यहीं पर समाप्त करता हूँ। मैंने संक्षेप में ही इसका वर्णन किया है क्योंकि विस्तार पूर्वक इसका वर्णन करना सम्भव पर नहीं है।

अनुभाष्य

३५८। इस परिच्छेद की ७४ संख्या में "शियालीते भैरवी देवी करि' दरशन" पाठ के स्थान पर "शियालीते श्रीभू-वराह करि' दरशन" होगा। शियाली एवं चिदम्बरम के निकट सुविख्यात 'श्रीमुञ्चम्'—मन्दिर है। वहाँ श्रीभू-वराहदेव का विग्रह है। चिदम्बरम् तालुक के अन्तर्भुक्त दक्षिण-आर्कट् जिले में शियाली के सन्निकट में 'श्रीभू-वराहदेव ही विराजमान है, 'भैरवीदेवी' नहीं।

ग्रन्थकार की चैतन्य लीला-वर्णन करने की लालसा—

अनन्त चैतन्यलीला कहिते ना जानि।
लोभे लज्जा खाञा, तार करि टानाटानि॥३५९॥

३५९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की लीलाएँ अनन्त हैं, उसे कहने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है। फिर भी लोभवशतः लज्जा को खाकर अर्थात् निर्लज्ज होकर मैं उन लीलाओं को वर्णन करने की चेष्टा कर रहा हूँ।

अनुभाष्य

३५९। लज्जा खाइया,—लज्जा का माथा खाकर (निर्लज्ज होकर); तार (उसका),— श्रीचैतन्यलीला का।

प्रभु की तीर्थयात्रा के छल से लोगों के
उद्धार की कथा के श्रवण का फल—

प्रभुर तीर्थयात्रा-कथा शुने जेइ जन।
चैतन्यचरणे पाय गाढ़ प्रेमधन॥३६०॥

३६०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की तीर्थ-यात्रा की कथा को जो व्यक्ति श्रवण करता है उसे श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों में गाढ़ प्रेम रूपी धन की प्राप्ति होती है।

अनुभाष्य

३६०। पञ्चोपासक जगत् में अभिव्यक्त जड़ेन्द्रिय ज्ञान के उपयोगी वस्तु में उपास्यत्व का आरोप करते हैं, किन्तु श्रीमद्भागवत अथवा श्रीकृष्णचैतन्यदेव वैसे इन्द्रिय तर्पणमय अक्षज ज्ञान की ज्ञेय वस्तु को 'परमार्थ' नहीं कहते। मायावादी अहंग्रहोपासक परमार्थ वस्तु के हस्तपद आदि विच्छिन्न करके अनिर्देश्य आकाश पुष्प को ही 'अधोक्ष्ज' कहकर भ्रान्त होते हैं। किसी-किसी समय वे 'उपास्य' शब्द से निर्विशिष्ट विचित्रता-रहित 'तमसाच्छन्न' भाव अथवा जाड्य के ताण्डव नृत्य को ही लक्ष्य करते हैं। श्रीगौरसुन्दर ने श्रीमद्भागवत के प्रतिपाद्य अचिन्त्य-भेदाभेद-विचार के अनुसार वैसे कर्मी, ज्ञानी और यागियों की अनुभूति की अकर्मण्यता को

प्रदर्शित करने जाकर सर्वत्र अद्वयज्ञान के नाम रूप-गुण-लीला-परिचयात्मक भगवद् वस्तु का ही दर्शन किया है। शिव आदि विभिन्न देवताओं का दर्शन, शाक्यसिंह दर्शन ('धर्म', 'संघ' और 'बुद्ध' दर्शन) आदि जिस प्रकार अवैष्णव गण देखते हैं, वे वैष्णव दर्शन नहीं है, इसे बताने के लिये ही महाप्रभु ने अधोक्ष्ज वस्तु का ही दर्शन किया है। आत्मवृत्ति अधोक्ष्ज वस्तु के साथ अक्षज दर्शन सम्पूर्ण रूप से विपरीत भाव में अवस्थित है,—यही गौर दासों का अनुसरणीय विषय है। कृष्ण परिकर गोपियों के हृदय में गोपीजनवल्लभ के दर्शन को प्राकृत सहजिया भोगयन्त्र रूपा "महामाया" आदि अनेकानेक देवताओं के दर्शन के साथ 'एक' अथवा 'समान' कहकर विवर्त्तवाद के गड्ढ़े में गिरते हैं। हेतुवादी तर्कपन्थी श्रौतपन्था को समझ नहीं पाने के कारण 'हेनोथिष्ट" अथवा पञ्चोपासक हो जाते हैं। बाह्य जगत में ऐश्वर्य की विभिन्न अनुभूति में से अन्यतम ध्यान करके पाँच उपास्य देवताओं में से एक को ही 'परमेश्वर' कहकर विश्वास एवं दूसरों की उनकी जाति वाले होने पर भी उन्हें गौणभाव से अनादर करके सम्पूर्ण विश्व में जो निर्विशेष ब्रह्म का प्रतीक दर्शन है, वही 'पञ्चोपासना' है। वैसा दर्शन पौत्तालिकता वाद अथवा प्रतिमापूजा के ही अन्तर्गत है; वही बाद में मायावादियों के 'निर्विशेषवाद' में परिणत हुआ है। कृष्ण दर्शन के अकाल के कारण ही जीव अवैष्णव होकर पञ्चोपासक बनता है, और कभी नास्तिक बनता है, किन्तु महाप्रभु "स्थावर जङ्गम देखे, ना देखे तार (स्थावर-जङ्गमेर) मूर्त्ति। सर्वत्र स्फुरये ताँर इष्टदेव मूर्त्ति।।"

कृष्णचैतन्य में दृढ़ श्रद्धा और
छल रहित मन से हरि-सङ्कीर्त्तन
ही जीवों का एकमात्र परमधर्म—

चैतन्यचरित शुन श्रद्धा-भक्ति करि'।
मात्सर्य छाड़िया, मुखे बल 'हरि' 'हरि'।।३६१।।

३६१। प० अनु०—हे पाठको! श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरित्र का श्रद्धापूर्वक एवं भक्ति सहित श्रवण कीजिए और मात्सर्य की भावना को छोड़कर मुख से 'हरि' 'हरि' का गान कीजिए।

इसे छोड़कर
"नाना पन्था विद्यतेऽयनाय'—

एइ कलिकाले आर नाहि कोन धर्म।
वैष्णव, वैष्णवशास्त्र, एइ कहे मर्म।।३६२।।

३६२। प० अनु०—इस कलिकाल में श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन के अतिरिक्त और कोई भी धर्म नहीं है। सभी वैष्णव एवं वैष्णव शास्त्रों की यही मर्म कथा है।

अमृतप्रवाह भाष्य

३६१-३६२। अन्य जीवों के प्रति स्वाभाविक दया के साथ अर्थात् उनके प्रति हिंसावृत्ति (भोग बुद्धि के आधार पर कृष्ण से विमुख करने की चेष्टा) सम्पूर्ण रूप से परित्याग करके मुख से 'हरि' 'हरि' बोलो। (इसके अतिरिक्त) इस कलिकाल में अन्य कोई धर्म नहीं है; शुद्ध-वैष्णव सेवा, शुद्ध-वैष्णव शास्त्र पाठ करना ही जीवों का एकमात्र धर्म है।

नवम परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

३६२। वैष्णवों और वैष्णव शास्त्र समूह की सारकथा यह है कि विश्वास सहित भक्तिपूर्वक श्रीचैतन्य लीला श्रवण करने से जीवों में मात्सर्य नहीं रह सकता। कलिकाल में निर्मत्सर शुद्ध जीवों के लिये श्रीगौर पादाश्रित होकर हरिनाम कीर्त्तन करना ही एकमात्र सनातन धर्म है।

वैष्णव,—शुद्धभक्त महाजन अथवा विद्वदनुभव; वैष्णव-शास्त्र—श्रुति अथवा शब्द प्रमाण; दोनों का अनुसरण करना ही श्रौत पन्था में अवस्थान है। चरम

कल्याण की अङ्काक्षा रखनेवाले व्यक्ति मात्र के लिये ही इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। (भाः ११/१९/१७)—"श्रुतिः प्रत्यक्षमैति ह्यमनुमानं चतुष्टयम्। प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते॥"

नवम परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

श्रीश्रीचैतन्यचन्द्र की लीला का असमोर्द्ध
गाम्भीर्य और ग्रन्थकार की दीनता—

चैतन्यचन्द्रेर लीला—अगाध, गम्भीर।
प्रवेश करिते नारि,—स्पर्शि रहि' तीर॥३६३॥

३६३। प० अनु—श्रीचैतन्यचन्द्र की लीला अगाध एवं गम्भीर समुद्र की भाँति है। मैं उसमें प्रवेश नहीं कर सकता परन्तु उस समुद्र के तट पर खड़े होकर केवल उसका स्पर्श कर रहा हूँ।

चैतन्य महाप्रभु के अनुशीलन से
कृष्ण के प्रति प्रीति की प्राप्ति—

चैतन्यचरित श्रद्धाय शुने जेइ जन।
जतेक विचारे, तत पाय प्रेमधन॥३६४॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे जार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥३६५॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्यखण्ड में दक्षिणदेश-तीर्थ-भ्रमण नामक नवम परिच्छेद समाप्त।

३६४-३६५। प० अनु०—श्रीचैतन्य चरित को जो श्रद्धापूर्वक सुनता है तथा सुनने के उपरान्त उस पर जितना विचार करता है, उतना ही उसे श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों में प्रेम रूपी धन प्राप्त होता है। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्य-चरितामृत का गान कर रहा है।

दशम परिच्छेद

कथासार—श्रीमन् महाप्रभु ने जब दक्षिण भारत की यात्रा की, तब सार्वभौम के साथ राजा प्रतापरुद्र का अनेक कथोपकथन हुआ। जब राजा ने महाप्रभु के दर्शन करने की अभिलाषा प्रकाशित की, तब सार्वभौम ने कहा था, महाप्रभु जब दक्षिण भारत से लौट आयेंगे, तब वे उनके साथ किसी प्रकार से राजा का साक्षात्कार करा देंगे। महाप्रभु लौटकर काशी मिश्र के घर में रहने लगे। सार्वभौम ने श्रीमहाप्रभु के साथ क्षेत्रवासी वैष्णवों का परिचय करा दिया। रामानन्द राय के पिता भवानन्द राय ने महाप्रभु के निकट वाणीनाथ पट्टनायक को रख दिया। जब महाप्रभु ने काला कृष्णदास के भट्टथारि से मिलन के दोष को व्यक्त करके उसे विदायी देने का प्रस्ताव रखा, तब नित्यानन्द प्रभु और अन्यान्य भक्तों ने युक्ति करके, उसके द्वारा श्रीनवद्वीप में एवं गौड़देश में सर्वत्र प्रभु के लौट आने का संवाद भिजवाया। नवद्वीप आदि स्थानों पर संवाद पहुँचने पर भक्त लोग प्रभु के दर्शन के लिये आने हेतु उद्योग (तैयारी) करने लगे। इसी समय परमानन्द पुरी ने नदीया-नगर में आकर जब प्रभु के नीलाचल में पहुँचने का संवाद श्रवण किया, तब द्विज कमलाकान्त को साथ लेकर पुरुषोत्तम क्षेत्र में महाप्रभु के निकट उपस्थित हुए। नवद्वीपवासी पुरुषोत्तम भट्टाचार्य वाराणसी में 'चैतन्यानन्द' नामक गुरु से संन्यास ग्रहण करके 'स्वरूप' नाम ग्रहण करके नीलाचल में महाप्रभु के चरणों में उपस्थित हुए। श्रीईश्वर पुरी के देहान्त के बाद उनके सेवक 'गोविन्द' उनकी आज्ञा से महाप्रभु के निकट पहुँचे। केशव भारती के सम्पर्क से ब्रह्मानन्द भारती—प्रभु के पूज्य थे; उनके उपस्थित होने पर प्रभु ने कृपा करके उनका चर्म रूपी अम्बर (परिधेय) छुड़वाया। प्रभु के प्रभाव से ब्रह्मानन्द ने महाप्रभु के माहात्म्य को जानकर उन्हें 'कृष्ण' कहकर सिद्धान्त (स्वीकार) किया। जब सार्वभौम ने महाप्रभु को 'कृष्ण' कहकर निर्देश किया, तब महाप्रभु ने उनकी बात को 'अति स्तुति' कहकर अनादर किया। (इसी बीच एकदिन) काशीश्वर गोस्वामी आकर उपस्थित हुए। इस परिच्छेद में, समुद्र में नदी-नाले आदि के मिलन की भाँति महाप्रभु के साथ बहुत से देशों के भक्तों के मिलन का वर्णन हुआ है।

(अ.प्र.भा.)

भक्तों के जीवन
धन गौर को प्रणाम—

तं वन्दे गौरजलदं स्वस्य यो दर्शनामृतैः।
विच्छेदावग्रहम्लान-भक्तशस्यान्यजीवयत्॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जिन्होंने अपने दर्शनामृत रूपी वर्षण द्वारा विच्छेद रूप सूखे हेतु मुरझाये हुए भक्त रूपी धान्यों को जीवित किया था, उन गौर रूप मेघ की मैं वन्दना करता हूँ।

अनुभाष्य

१। यः (श्रीकृष्ण चैतन्यदेवः) स्वस्य (निज श्री-मूर्त्तेः) दर्शनामृतैः (निजदर्शनान्येव अमृतानि पीयूषाणि तैः) विच्छेदाग्रहम्लानभक्त शस्यानि (विच्छेदः अनुपस्थिति जन्य विरहः एव अवग्रहः वर्षणाभावः तेन म्लानानि भक्त रूप शस्यानि) अजीवयत् (प्राणदानेन रक्षयामास) तं गौर जलदं (श्रीचैतन्यमेघम्) अहं वन्दे।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो एवं श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो।

प्रभु के दक्षिण भ्रमण के समय राजा
प्रतापरुद्र और सार्वभौम भट्टाचार्य का संलाप—

पूर्वे जबे महाप्रभु चलिला दक्षिणे।
प्रतापरुद्र राजा तबे बोलाइल सार्वभौमे॥३॥

३। प० अनु—पहले जब श्रीचैतन्य महाप्रभु दक्षिण भारत की यात्रा के लिये चले गये थे, तब राजा प्रतापरुद्र ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को बुलवाया था।

राजा के द्वारा प्रभु के परिचय की
जिज्ञासा और उनके दर्शन की आकांक्षा—

बसिते आसन दिल करि' नमस्कारे।
महाप्रभुर वार्ता तबे पुछिल ताँहारे॥४॥
शुनिलाङ् तोमार घरे एक महाशय।
गौड़ हइते आइला, तेंहो—महा-कृपामय॥५॥
तोमारे बहु कृपा कैला, कहे सर्वजन।
कृपा करि' कराह मोरे ताँहार दर्शन॥६॥

४-६। प० अनु—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के महाराज प्रतापरुद्र के समक्ष आने पर महाराज प्रतापरुद्र ने उन्हें प्रणाम किया और बैठने के लिये आसन दिया तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु के सम्बन्ध में पूछने लगे—"मैंने सुना है कि आपके घर में गौड़देश (बङ्गाल) से अत्यन्त कृपामय एक महापुरुष आये हैं। सभी लोग कह रहे हैं कि उन्होंने आप पर बहुत कृपा की है। इसलिये आप कृपा करके मुझे भी उनके दर्शन कराओ।

भट्ट के द्वारा प्रभु के आचरण का वर्णन—

भट्ट कहे,—जे शुनिला सब सत्य हय।
ताँर दर्शन तोमार घटन ना हय॥७॥
विरक्त संन्यासी तेंहो रहेन निर्जने।
स्वप्नेह ना करेन तेंहो राजदरशने॥८॥
तथापि प्रकारे तोमा कराइताम दरशन।
सम्प्रति करिला तेंहो दक्षिण गमन॥९॥

७-९। प० अनु—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"आपने जो सुना है वह सब सत्य है, परन्तु आपके लिये उनका दर्शन सम्भव नहीं है। वे विरक्त संन्यासी हैं और एकान्त में वास करते हैं वे स्वप्न में भी राजा का दर्शन नहीं करते। फिर भी मैं आपको किसी प्रकार उनका दर्शन कराता परन्तु अभी तो वे दक्षिण भारत गये हुए हैं।"

राजा के द्वारा प्रभु के पुरुषोत्तम
परित्याग करने के कारण की जिज्ञासा—

राजा कहे,—जगन्नाथ छाड़ि' केने गेला।
भट्ट कहे,—महान्तेरे एइ एक लीला॥१०॥

१०। प० अनु—यह सुनकर राजा ने कहा—"वे श्रीजगन्नाथ पुरी को छोड़कर क्यों गये।" श्रीसावभौम भट्टाचार्य ने कहा—"महापुरुषों की यह भी एक लीला है।

भट्टाचार्य का सद् उत्तर—

तीर्थ पवित्र करिते करे तीर्थभ्रमण।
सेइ छले निस्तारये सांसारिक जन॥११॥

११। प० अनु—ऐसे महापुरुष तीर्थों को पवित्र करने के लिये तीर्थों में भ्रमण करते हैं और इसी छल से सांसारिक लोगों का उद्धार करते हैं।

अनुभाष्य

१०-११। मध्य, अष्टम परिच्छेद ३९ संख्या द्रष्टव्य एवं (भा: ४/३०/३७)—"तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया। भीतस्य किं न रोचेत तावकानां समागमः॥"

श्रीमद्भागवत (१/१३/१०)—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥१२॥

१२। श्लोकानुवाद—आपके जैसे भगवत-भक्त स्वयं तीर्थस्वरूप हैं तथा वे अपने अन्तःकरण में स्थित भगवान् की पवित्रता के प्रभाव से पापियों के पाप द्वारा मलिन होने वाले तीर्थों को पवित्र कर देते हैं।

अनुभाष्य

१२। आदि प्रथम परिच्छेद ६३ संख्या द्रष्टव्य।

एक तो दीन जनों का उद्धार करना ही
उनके जैसे महान्त का स्वभाव और
उस पर भी वे स्वेच्छामय परमेश्वर—

वैष्णवेर एइ हय एक स्वभाव निश्चल।
तेंहो जीव नहेन, हन स्वतन्त्र ईश्वर॥१३॥

१३। प० अनु—अमृतप्रवाह भाष्य एवं अनुभाष्य द्रष्टव्य है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३। तीर्थों को पवित्र करने के लिये तीर्थ भ्रमण एवं उसके छल से सांसारिक लोगों का उद्धार करना,—वैष्णवों का यह एक निश्चल स्वभाव है; वास्तव में श्रीकृष्ण चैतन्य—'जीव' नहीं हैं, वे स्वतन्त्र ईश्वर है, तथापि उन्होंने प्रच्छन्न (गुप्त) रूप से भक्तावतार होकर वैष्णवों जैसा स्वभाव ग्रहण किया है।

अनुभाष्य

१३। श्रीभागवत गण जाकर तीर्थ को पवित्र करते हैं एवं तीर्थवासी सांसारिक लोगों का उस तीर्थ गमन के छल से उद्धार करते हैं—यही परदुःख दुःखी शुद्ध भक्तों का नित्य स्वभाव है, किन्तु श्रीमहाप्रभु परतन्त्र भक्त मूर्त्ति में लीला करने पर भी स्वयं स्वतन्त्र परमेश्वर है। निश्चल,—अचल, सनातन, नित्य।

राजा के द्वारा भट्टाचार्य से शिकायत—

राजा कहे,—"ताँरे तुमि जाइते केने दिले?
पाय पड़ि' यत्न करि' केने ना राखिले?"१४॥

१४। प० अनु—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य की बात सुनकर महाराज प्रतापरुद्र ने कहा—"आपने उनको जाने क्यों दिया? उनके चरणों में पड़कर आग्रहपूर्वक उन्हें रोक क्यों नहीं लिया?

राजा को वैधी भक्ति का पालन करने वाले
की भाँति भट्टाचार्य द्वारा उत्तर प्रदान—

भट्टाचार्य कहे,—"तेंहो स्वयं ईश्वर स्वतन्त्र।
साक्षात् श्रीकृष्ण, तेंहो नहे परतन्त्र॥१५॥
तथापि राखिते ताँरे महायत्न कैलूँ।
ईश्वरेर स्वतन्त्र इच्छा, राखिते नारिलूँ॥"१६॥

१५-१६। प० अनु—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने उत्तर दिया—"श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं भगवान् तथा पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। साक्षात् श्रीकृष्ण होने के कारण वे परतन्त्र नहीं है। फिर भी मैंने उन्हें श्रीजगन्नाथ पुरी में ही रखने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु भगवान् की अपनी स्वतन्त्र इच्छा है, इसलिये मैं उन्हें रोक नहीं सका।"

महापण्डित भट्टाचार्य के वचनों पर राजा का विश्वास—

राजा कहे,—भट्ट, तुमि विज्ञशिरोमणि।
तुमि ताँरे 'कृष्ण' कह, ताते सत्य मानि॥१७॥

१७। प० अनु—राजा ने कहा—"हे सार्वभौम भट्टाचार्य! आप विद्वानों के शिरोमणि हैं तथा आप ही उन्हें 'श्रीकृष्ण' कह रहे हैं। अतएव इसलिए मैं आपकी इस बात को सत्य मानता हूँ।

अनुभाष्य

१७। महाजन के वाक्यों में विश्वास करने से राजा का मङ्गल और उनमें भक्ति का उदय।

राजा की एक बार प्रभु के दर्शन की आकांक्षा—

पुनरपि इँहा ताँर हैले आगमन।
एकबार देखि' करि सफल नयन॥१८॥

१८। प० अनु—जब फिर वे यहाँ आयेंगे, तो एकबार उनका दर्शन करके मैं भी अपने नेत्रों को सफल बनाना चाहता हूँ।"

प्रभु के शीघ्र आने के समाचार का ज्ञापन और राजा को
प्रभु के योग्य वास-स्थान को निर्देश करने का अनुरोध—

भट्टाचार्य कहे,—तेंहो आसिबे अल्पकाले।
रहिते ताँर एक स्थान चाहिये विरले॥१९॥
ठाकुरेर निकट, आर हइबे निर्जने।
एमत निर्णय करि' देह' एक स्थाने॥२०॥

१९-२०। प० अनु—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने

कहा—"श्रीचैतन्य महाप्रभु शीघ्र ही लौट आयेंगे, किन्तु उनके रहने के लिये एक निर्जन स्थान की आवश्यकता है। वह स्थान भगवान् श्रीजगन्नाथ के मन्दिर के निकट हो एवं एकान्त हो, इस विषय पर विचार करके आप एक स्थान की व्यवस्था कर दीजिए।"

राजा के द्वारा काशीमिश्र के भवन का निर्देश—

राजा कहे,—ऐछे काशीमिश्रेर भवन।
ठाकुरेर निकट, हय परम निर्जन॥२१॥

२१। प० अनु०—राजा ने कहा—"ऐसा स्थान तो काशीमिश्र का घर है जो कि श्रीजगन्नाथ के निकट तथा अत्यन्त निर्जन है।"

अनुभाष्य

२१। काशी मिश्र का भवन,—श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र में मन्दिर से कुछ दक्षिण की ओर बालिसाहि के अन्तर्गत वर्त्तमान श्रीराधाकान्त मठ है; श्रीमन्महाप्रभु वहाँ वास करते थे। श्रीवक्रेश्वर के शिष्य श्रीगोपाल गुरु और उनके शिष्य श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामी ने वहाँ श्रीविग्रह स्थापित किया। वह स्थान श्रीजगन्नाथदेव मन्दिर के निकटवर्ती और उस समय निर्जन था।

राजा की प्रभु के दर्शन की उत्कण्ठा—

एत कहि' राजा रहे उत्कण्ठित हञा।
भट्टाचार्य काशीमिश्रे कहिल आसिया॥२२॥

२२। प० अनु०—ऐसा कहकर राजा श्रीचैतन्य महाप्रभु के लौटने के लिये उत्कण्ठित होकर रहने लगे और श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीकाशीमिश्र को राजा की बात से अवगत कराया।

काशीमिश्र को राजा का आदेश बताना
और सुनकर मिश्र का आनन्द—

काशीमिश्र कहे,—आमि बड़ भाग्यवान्।
मोर गृहे 'प्रभुपादेर' हबे अवस्थान॥"२३॥

२३। प० अनु०—यह सुनकर श्रीकाशीमिश्र ने कहा—"मैं बहुत भाग्यवान् हूँ कि प्रभुपाद (श्रीचैतन्य महाप्रभु) मेरे घर में वास करेंगे।"

अनुभाष्य

२३। स्वयं भगवान् श्रीमन्महाप्रभु को उनके दास का अभिमान रखने वाले जीव मात्र ही 'प्रभुपाद' कहकर पुकारते हैं। श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु और श्रीमद् अद्वैत प्रभु—दोनों भी उसी प्रकार 'प्रभुपाद' के नाम से कहे जाते हैं; क्योंकि, सभी विषय विग्रह विष्णु तत्त्व हैं एवं विष्णु ही जीवों के नित्य प्रभु हैं। दूसरी ओर, कृष्ण तत्त्व वेत्ता, आश्रय विग्रह श्रीश्री गुरुदेव भी लघु-शिष्य के निकट साक्षात् 'कृष्णचैतन्य' अथवा 'हरि' स्वरूप होने के कारण 'ॐ विष्णुपाद' एवं उनके अतिरिक्त अन्यान्य शुद्धभक्त अथवा शुद्ध वैष्णव मात्र ही समग्र शिष्य-स्थानीय जीवों के निकट 'श्रीपाद' के नाम से जाने जाते हैं; किन्तु गुरुदेव और वैष्णव एवं उनके द्वारा अंगीकार किये गये शिष्य, सभी एक-दूसरे के निकट पूज्य-द्योतक 'प्रभु' शब्द वाच्य है,—इसी सत् सिद्धान्त का प्रचुर व्यवहार भागवत, चरितामृत, चैतन्य भागवत आदि प्रामाणिक ग्रन्थों और शुद्ध भक्त सम्प्रदाय में देखा जाता है। प्राकृत सहजिया अवैष्णव कोई-कोई वञ्चक गोस्वामि ब्रुव और उनके मूर्ख वञ्चित शिष्य गणों के मुख से 'वैष्णव दासानुदास', 'वैष्णव दासाभास' प्रभृति शब्दों के व्यवहार द्वारा दैन्य की छलना अथवा कपटता देखे जाने पर भी वास्तव में उनके हृदय में विष्णु विरोध होने के कारण 'प्रभुपाद' शब्द को शौक्र-सम्बन्धी और अपना ही जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं, अतएव वास्तविक कृष्ण तत्त्वविद् गुरु अथवा वैष्णवों में मर्त्त्यबुद्धि वशतः जाति बुद्धि का प्राबल्य देखा जाता है,—यह उनके दुर्दैव का परिचायक और नरक की यात्रा का सहायक मात्र है।

पुरी के वासियों की प्रभु के दर्शन की उत्कण्ठा—

एइमत पुरुषोत्तमवासी सर्वजन।
प्रभुके मिलिते सबार उत्कण्ठिन मन॥२४॥

२४। प० अनु—इस प्रकार पुरुषोत्तमवासी जितने भी लोग थे, सभी का मन श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शन करने के लिये उत्कण्ठित हो रहा था।

सेवा की उत्कण्ठा ही भक्त और भगवान के मिलन का सूत्र; प्रभु का दक्षिण से आगमन—

सर्वलोकेर उत्कण्ठा जबे अत्यन्त बाड़िल।
महाप्रभु दक्षिण हैते त्वराय आइल॥२५॥

२५। प० अनु—जब सभी लोगों की उत्कण्ठा बहुत बढ़ गयी तब श्रीचैतन्य महाप्रभु दक्षिण भारत से तुरन्त आ गये।

प्रभु के दर्शन के लिये सभी की भट्टाचार्य को प्रार्थना—

शुनि' आनन्दित हैल सबाकार मन।
सबे आसि' सार्वभौमे कैल निवेदन॥२६॥
प्रभुर सहित आमा-सबार कराह दरशन।
तोमार प्रसादे पाइ प्रभुर चरण॥"२७॥

२६-२७। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु के आने का समाचार सुनकर सभी का मन आनन्दित हो गया और सब आकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य से प्रार्थना करने लगे—"हम सबकी प्रभु के साथ भेंट कराइये। आपकी कृपा से ही हमें श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणकमल प्राप्त हो सकते हैं।"

काशीमिश्र के घर में प्रभु के साथ मिलने का सभी को आश्वासन—

भट्टाचार्य कहे,—कालि काशीमिश्रेर घरे।
प्रभु जाइबेन, ताँहा मिला'ब सबारे॥"२८॥

२८। प० अनु—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने लोगों से कहा—"कल श्रीचैतन्य महाप्रभु काशीमिश्र के घर पर जायेंगे। वहीं मैं आप सभी को उनके दर्शन कराऊँगा।"

दूसरे दिन प्रभु के द्वारा जगन्नाथ-दर्शन और पण्डागण के साथ मिलन—

आर दिन महाप्रभु भट्टाचार्येर सङ्गे।
जगन्नाथ दरशन कैल महारङ्गे॥२९॥
महाप्रसाद दिया ताँहा मिलिला सेवकगण।
महाप्रभु सबाकारे कैल आलिङ्गन॥३०॥

२९-३०। प० अनु—अगले दिन श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के साथ बड़े आनन्द से भगवान् श्रीजगन्नाथ देव का दर्शन करने गये। भगवान् श्रीजगन्नाथ के सेवकों ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिलकर उन्हें महाप्रसाद दिया तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन सबको आलिङ्गन प्रदान किया।

भट्टाचार्य के द्वारा प्रभु को काशी मिश्र के घर पर लाना—

दर्शन करि' प्रभु चलिला बाहिरे।
भट्टाचार्य आनिल ताँरे काशीमिश्र-घरे॥३१॥

३१। प० अनु—भगवान् श्रीजगन्नाथ का दर्शन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु बाहर की ओर चल दिये और श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य उन्हें काशीमिश्र के घर ले आये।

प्रभु के चरणों में काशीमिश्र का आत्मसमर्पण—

काशीमिश्र आसि' पड़िल प्रभुर चरणे।
गृह-सहित आत्मा ताँरे कैल निवेदने॥३२॥

३२। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु को देखकर श्रीकाशीमिश्र उनके चरणों में गिर पड़े और उन्होंने अपने घर के साथ-साथ अपने शरीर का भी प्रभु के श्रीचरणों में निवेदन कर दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

३२। काशीमिश्र ने अपना घर और अपने सेवा करने योग्य शरीर को प्रभु को निवेदन कर दिया।

काशीमिश्र को चतुर्भुज-मूर्त्ति का दर्शन—

प्रभु चतुर्भुज-मूर्ति ताँरे देखाइल।
आत्मसात् करि' ताँरे आलिङ्गन कैल॥३३॥

३३। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीकाशीमिश्र को अपने चतुर्भुज रूप का दर्शन कराया और उन्हें आत्मसात् करने के उपरान्त उनका आलिङ्गन किया।

सभी के द्वारा आसन ग्रहण—

तबे महाप्रभु ताँहा बसिला आसने।
चौदिके बसिला नित्यानन्दादि भक्तगणे॥३४॥

३४। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु वहाँ आसन पर बैठ गये और श्रीनित्यानन्द प्रभु आदि भक्तगण उनके चारों ओर बैठ गये।

योग्य-वास-स्थान के निर्वाचन
को देखकर प्रभु को आनन्द—

सुखी हैला देखि' प्रभु वासार संस्थान।
येइ वासाय हय प्रभुर सर्व-समाधान॥३५॥

३५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने रहने के स्थान को देखकर बहुत प्रसन्न हुये क्योंकि ऐसे स्थान के द्वारा प्रभु की सभी इच्छाओं का समाधान हो सकेगा।

प्रभु को घर स्वीकार करने की प्रार्थना—

सार्वभौम कहे,—प्रभु, योग्य तोमार वासा।
तुमि अङ्गीकार कर—काशीमिश्रेर आशा॥"३६॥

३६। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"प्रभु! यह निवास स्थान आपके अनुकूल है। इसे स्वीकार करके आप काशीमिश्र की समस्त आशाओं को पूर्ण कीजिये।

अमृतप्रवाह भाष्य

३६। काशीमिश्र की यही आशा है कि आप उनके घर में वास करे,—इसे आप कृपा करके स्वीकार कीजिए।

प्रभु के द्वारा अपने भक्त
की वश्यता-ज्ञापन—

प्रभु कहे,—एइ देह तोमा-सबाकार।
जेइ तुमि कह, सेइ कर्त्तव्य आमार॥३७॥

३७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मेरी यह देह आप सबकी ही है, जैसा आप लोग कहेंगे, वैसा करना ही मेरा कर्त्तव्य है।

भट्टाचार्य के द्वारा प्रभु को पुरी
वासी भक्तों का परिचय प्रदान—

तबे सार्वभौम प्रभुर दक्षिण-पार्श्वे बसि'।
मिलाइते लागिला सब पुरुषोत्तमवासी॥३८॥

३८। प० अनु०—तब श्रीसार्वभौम श्रीचैतन्य महाप्रभु के दाहिनी ओर बैठ गये और वे सब पुरुषोत्तमवासियों को प्रभु से मिलाने लगे।

पुरीवासियों के द्वारा प्रभु के दर्शन की उत्कण्ठा
ज्ञापन और प्रभु की कृपा के लिये प्रार्थना—

एइ सब लोक, प्रभु, बैसे नीलाचले।
उत्कण्ठित हञाछे—सबे तोमा मिलिबारे॥३९॥

३९। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"यह सब लोग नीलाचल में रहते हैं और आपसे मिलने के लिये बड़े ही उत्कण्ठित हो रहे हैं।

प्रभु के दर्शन के लिये तृष्णा से युक्त पुरीवासी भक्त—

तृषित चातक जैछे करे हाहाकार।
तैछे एइ सब,—सबे कर अङ्गीकार॥४०॥

४०। प० अनु०—जिस प्रकार प्यासा चातक हा-हाकार करता है, इन लोगों की स्थिति भी ठीक वैसी ही है। इसलिये आप इन सबको अङ्गीकार कीजिये।

अमृतप्रवाह भाष्य

४०। पाठान्तर,—'तैछे एइ सब, सबा कर अङ्गीकार' अर्थात् जिस प्रकार प्यासा चातक जल के लिये हाहाकार करता है, उसी प्रकार ये सब उत्कल (उड़ीसा) वासी आपके दर्शनों के लिये प्यासे हैं; प्रभो! आप सभी को स्वीकार कीजिए।

(१) जनार्द्दन—

जगन्नाथ-सेवक एइ, नाम—जनार्दन।
अनवसरे करे प्रभुर श्रीअङ्ग-सेवन॥४१॥

४१। प० अनु०—(श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य एक-एक भक्त की ओर इङ्गित करके श्रीचैतन्य महाप्रभु का सभी

भक्तों से परिचय कराते हुये कह रहे हैं—) यह भगवान् श्रीजगन्नाथ के सेवक हैं, इनका नाम जनार्दन है। ये अनवसर के समय श्रीजगन्नाथ के श्रीविग्रह की सेवा करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

४१। अनवसरे,—स्नान यात्रा के बाद 'नव यौवन' पर्यन्त दर्शन (नहीं देने वाला समय) ही अनवसर काल है।

(२) कृष्णदास, (३) शिखि माहाति—

कृष्णदास नाम एइ सुवर्ण-वेत्रधारी।
शिखि माहाति-नाम एइ लिखनाधिकारी॥४२॥

४२। प० अनु०—सुवर्ण की बेंत धारण करने वाले भक्त का नाम कृष्णदास है और इनका नाम शिखि माहाति है, ये लेखन अधिकारी हैं अर्थात् ये हिसाब-किताब तथा पञ्जी इत्यादि लिखने का काम करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

४२। लिखन-अधिकारी—जो मातला पञ्जिका लिखते हैं।

अनुभाष्य

४२। शिखि माहाति,—अन्त्य, द्वितीय परिच्छेद १०४-१०६ संख्या एवं आदि दशम परिच्छेद १३७ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य।

(४) प्रद्युम्न मिश्र—

प्रद्युम्नमिश्र ईँह वैष्णव प्रधान।
जगन्नाथेर महा-सोयार ईँह 'दास' नाम॥४३॥

४३। प० अनु०—ये वैष्णवों में प्रधान प्रद्युम्नमिश्र हैं जो श्रीजगन्नाथ की रसोई बनाने वाले में प्रधान हैं, ये 'दास' नाम से भी जाने जाते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

४३। महासोयार—महासूपकार, प्रधान पाक कर्त्ता, महानसाधिकारी अर्थात् रसोई का मालिक।

अनुभाष्य

४३। प्रद्युम्न मिश्र,—अन्त्य, पञ्चम परिच्छेद; ब्राह्मणों के विष्णु दास्य सूचक नाम के बाद 'दास' शब्द का व्यवहार चुल्लिभट्ट सम्मत है।

(५) मुरारि माहाति—

मुरारि माहाति ईँह—शिखिमाहातिर भाइ।
तोमार चरण बिना आर गति नाइ॥४४॥

४४। प० अनु०—ये शिखि माहाति के भाई मुरारि माहाति हैं, आपके चरणों के बिना इनकी और कोई गति नहीं है।

(६) चन्दनेश्वर, (७) सिंहेश्वर, (८) मुरारि, (९) विष्णुदास—

चन्दनेश्वर, सिंहेश्वर, मुरारि ब्राह्मण।
विष्णुदास,—ईँह ध्याये तोमार चरण॥४५॥

४५। प० अनु०—ये चन्दनेश्वर, सिंहेश्वर, मुरारि ब्राह्मण और विष्णुदास हैं। ये सभी आपके चरणों का ही ध्यान करते रहते हैं।

(१०) परमानन्द—

प्रहरराज महापात्र ईँह महामति।
परमानन्द महापात्र ईँहार संहति॥४६॥

४६। प० अनु०—ये बड़े ही बुद्धिमान प्रहरराज महापात्र हैं और यह परमानन्द महापात्र इनके साथी हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

४६। प्रहराराज,—पहराज।

अनुभाष्य

४६। प्रहरराज,—उत्कल के राजाओं में यह नियम प्रचलित है कि मृत राजा की मृत्यु और अन्त्येष्टि का समय होने पर परवर्ती उत्तराधिकारी के सिंहासन पर बैठने अथवा अभिषेक से पहले तक एक प्रहर काल के लिये राजकुल के पुरोहित वंश का कोई व्यक्ति सिंहासन पर बैठकर राजदण्ड धारण करेगा, जिससे राज सिंहासन

खाली न रहे। यही पुरोहित ही वंशानुक्रम से 'प्रहरराज' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

शुद्धवैष्णव ही तीर्थों के अलङ्कार—

ए-सब वैष्णव—एइ क्षेत्रेर भूषण।
एकान्तभावे चिन्ते सबे तोमार चरण॥४७॥

४७। प० अनु०—ये सब वैष्णव इस श्रीजगन्नाथ पुरी के अलङ्कार स्वरूप हैं और यह सब एकान्त भाव से आपके चरणों का ही चिन्तन करते हैं।

सभी के द्वारा प्रभु को प्रणाम
एवं प्रभु के द्वारा आलिङ्गन—

तबे सबे भूमे पड़ि' दण्डवत् हञा।
सबा आलिङ्गिला प्रभु प्रसाद करिया॥४८॥

४८। प० अनु०—इस प्रकार परिचय होने के बाद सभी भूमि पर गिरकर दण्डवत् प्रणाम करने लगे और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कृपा करके उन सबको आलिङ्गन दान दिया।

(११) चार पुत्रों के साथ भवानन्द-राय का परिचय प्रदान—

हेनकाले आइला तथाय भवानन्द राय।
चारिपुत्र-सङ्गे पड़े महाप्रभुर पाय॥४९॥
सार्वभौम कहे,—एइ राय भवानन्द।
इँहार प्रथम पुत्र—राय रामानन्द॥५०॥

४९-५०। प० अनु०—इसी समय वहाँ पर भवानन्द राय भी आ गये और वे अपने चारों पुत्रों के साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों में गिरकर उन्हें प्रणाम करने लगे। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"ये भवानन्द राय है। इनके ही पहले पुत्र का नाम रामानन्द राय है।"

अनुभाष्य

४९। चारि पुत्र,—रामानन्द राय के अतिरिक्त वाणीनाथ और गोपीनाथ, कलानिधि और सुधानिधि नामक चार भाईयों के विषय में आदि दशम परिच्छेद १३३ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु के द्वारा आलिङ्गन और रामानन्द
राय की महिमा का कीर्त्तन—

तबे महाप्रभु ताँरे कैल आलिङ्गन।
स्तुति करि' कहे रामानन्द-विवरण॥५१॥
रामानन्द-हेन रत्न जाँहार तनय।
ताँहार महिमा लोके कहन ना जाय॥५२॥

५१-५२। प० अनु०—यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीभवानन्द राय का आलिङ्गन किया और रामानन्द राय की प्रशंसा करते हुये उनका विवरण कह सुनाया। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"जिनका रामानन्द राय जैसा पुत्र-रत्न हो, उनकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता।

भवानन्द ही पाण्डु और उनके पाँच पुत्र ही पाँच पाण्डव—

साक्षात् पाण्डु तुमि, तोमार पत्नी कुन्ती।
पञ्चपाण्डव तोमार पञ्चपुत्र महामति॥५३॥

५३। प० अनु०—आप साक्षात् महाराज पाण्डु हैं और आपकी पत्नी साक्षात् कुन्ती है तथा पाँच पाण्डव ही आपके पाँच बुद्धिमान पुत्र हैं।"

भवानन्द की दीनता; ईश्वर की
कृपा—जातिकुल से निरपेक्ष—

राय कहे,—आमि शूद्र, विषयी, अधम।
तबु तुमि स्पर्श,—एइ ईश्वर-लक्षण॥५४॥

५४। प० अनु०—श्रीभवानन्द राय ने कहा—"मैं तो एक शूद्र, विषयी और अधम व्यक्ति हूँ, फिर भी आपने मुझे स्पर्श किया—यह वास्तव में आपके ईश्वर होने का ही लक्षण है।

भवानन्द के द्वारा प्रभु के चरणों में सर्वस्व-समर्पण—

निज-गृह-वित-भृत्य-पञ्चपुत्र-सने।
आत्म समर्पिलुँ आमि तोमार चरणे॥५५॥

५५। प० अनु०—मैं अपने घर, धन, दासों और पाँचों पुत्रों के साथ स्वयं को आपके चरणों में समर्पित करता हूँ।

प्रभु के चरणों में वाणीनाथ को अर्पण—

एइ वाणीनाथ रहिबे तोमार चरणे।
जबे जेइ आज्ञा, ताहा करिबे सेवने॥५६॥

५६। प० अनु०—यह मेरा पुत्र वाणीनाथ आपके श्रीचरणकमलों में ही रहेगा। आप इसे जब जो आदेश देंगे, ये वही सेवा करेगा।

अपना दास मानकर अङ्गीकार करने हेतु भवानन्द के द्वारा प्रभु को प्रार्थना—

आत्मीय-ज्ञाने मोरे संकोच ना करिबे।
जेइ जबे इच्छा, तबे सेइ आज्ञा दिबे॥५७॥

५७। प० अनु०—आप मुझे अपना समझकर किसी भी प्रकार का संकोच मत करना, जब जो इच्छा हो, तब वही आदेश कीजियेगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

५७। मुझे 'आत्मीय' समझना,—'आत्मीय' होने के नाते कृपा करना; किसी भी विषय में संकोच करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रभु की कृपा-वाणी और अङ्गीकार—

प्रभु कहे,—कि संकोच, तुमि नह पर।
जन्मे जन्मे तुमि आमार सवंशे किंकर॥५८॥
दिन-पाँच-सात भितरे आसिबे रामानन्द।
ताँर सङ्गे पूर्ण हबे आमार आनन्द॥५९॥
एत बलि' प्रभु ताँरे कैल आलिङ्गन।
ताँर पुत्र सब शिरे धरिल चरण॥६०॥

५८-६०। प० अनु—यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"आप से कैसा संकोच? आप कोई पराये थोड़े ही हो। आप तो जन्म-जन्म से अपने वंश सहित मेरे दास हो। पाँच-सात दिनों में रामानन्द भी यहाँ आ जायेगें। और उनके साथ रहकर मेरा आनन्द पूर्ण होगा।" इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीभवानन्द का आलिङ्गन किया और श्रीभवानन्द के सभी पुत्रों ने अपने-अपने मस्तक पर प्रभु के श्रीचरणकमलों को रखा।

अनुभाष्य

६०। शिरे,—अपने-अपने मस्तक पर।

वाणीनाथ को अङ्गीकार—

तबे महाप्रभु ताँरे घरे पाठाइल।
वाणीनाथ-पट्टनायके निकटे राखिल॥६१॥
भट्टाचार्य सब लोके विदाय कराइल।
तबे प्रभु काला-कृष्णदासे बोलाइल॥६२॥

६१-६२। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीभवानन्द राय को उनके घर भेज दिया और वाणीनाथ पट्टनायक को अपने पास रख लिया। उसके बाद श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने सब लोगों को विदाई दी तथा तत्पश्चात् श्रीचैतन्य महाप्रभु ने काला कृष्णदास को अपने पास बुलवा लिया।

कृष्णदास के पूर्व आचरण का वर्णन—

प्रभु कहे,—भट्टाचार्य, शुनह इँहार चरित।
दक्षिण गियाछिल इँह आमार सहित॥६३॥
भट्टथारि-काछे गेला आमारे छाड़िया।
भट्टथारि हैते इँहारे आनिलुँ उद्धारिया॥६४॥

६३-६४। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"हे सार्वभौम भट्टाचार्य! काला कृष्णदास के चरित्र के विषय में श्रवण कीजिए। यह मेरे साथ दक्षिण भारत गया था। वहाँ मुझे छोड़कर ये भट्टथारि लोगों के पास चला गया और मैं इसे भट्टथारि लोगों से बचाकर यहाँ ले आया हूँ।

प्रभु के द्वारा कृष्णदास का परित्याग—

एबे आमि इँहा आनि' करिलाङ विदाय।
जाँहा इच्छा, जाह, आमा-सने नाहि आर दाय॥६५॥

६५। प० अनु०—अब यहाँ लाकर मैं इसे विदा करता हूँ। ये जहाँ जाना चाहता है वहाँ जाये, अब मुझ पर इसका कोई उत्तर दायित्व नहीं है।"

कृष्णदास का क्रन्दन—

एत शुनि' कृष्णदास कान्दिते लागिल।
मध्याह्न करिते महाप्रभु चलि' गेल॥६६॥

६६। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु के वचन सुनकर कृष्णदास रोने लगा, किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु अपनी मध्याह्निक क्रिया को करने के लिये चले गये।

श्रीनित्यानन्द आदि भक्तों का कृष्णदास को नवद्वीप भेजने का परामर्श—

नित्यानन्द, जगदानन्द, मुकुन्द, दामोदर।
चारिजने युक्ति तबे करिला अन्तर॥६७॥
गौड़देशे पाठाइते चाहि एकजन।
'आइ'के कहिबे जाइ, प्रभुर आगमन॥६८॥
अद्वैत-श्रीवासादि जत भक्तगण।
सबेइ आसिबे शुनि' प्रभुर आगमन॥६९॥

६७-६९। प० अनु—तब श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीजगदानन्द, श्रीमुकुन्द और श्रीदामोदर इन चारों ने मिलकर थोड़ी दूरी पर जाकर एक परामर्श किया। उन्होंने विचार किया कि "हम एक व्यक्ति को गौड़देश में भेजना चाहते हैं जो कि शची माता को श्रीचैतन्य महाप्रभु के दक्षिण भारत से आने का समाचार दे सके। श्रीअद्वैत, श्रीवासादि सभी भक्तगण श्रीचैतन्य महाप्रभु के आने का समाचार सुनकर यहाँ आयेंगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

६७। अन्तर,—गुप्त अथवा दूर जाकर।

कृष्णदास को सान्त्वना—

एइ कृष्णदासे दिब गौड़े पाठाञा।"
एत कहि' तारे राखिलेन आश्वासिया॥७०॥

७०। प० अनु—इसलिये हम इस कृष्णदास को ही गौड़देश भेज देंगे।" इतना कहकर उन सबने कृष्णदास को आश्वासन देकर रख लिया।

प्रभु से अनुमति ग्रहण—

आर दिने प्रभुस्थाने कैल निवेदन।
आज्ञा देह' गौड़-देशे पाठाइ एकजन॥७१॥
तोमार दक्षिण-गमन शुनि' शची 'आइ'।
अद्वैतादि भक्त सब आछे दुःख पाइ'॥७२॥
एकजन जाइ' कहुक् शुभ समाचार।
प्रभु कहे,—सेइ कर, जे इच्छा तोमार॥७३॥

७१-७३। प० अनु—अगले दिन सभी भक्तों ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से प्रार्थना की "कृपा करके आप आज्ञा दीजिए जिससे हम एक व्यक्ति को गौड़देश भेज दें। आपकी दक्षिण यात्रा को सुनकर शची माता और श्रीअद्वैतादि सब भक्तगण बड़े दुःखी हैं।' इसलिये एक व्यक्ति जाकर उनको आपके आने का शुभ समाचार दे।" यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"जैसी आप सबकी इच्छा हो, वैसा ही कीजिए।"

महाप्रसाद के साथ कृष्णदास को गौड़देश में भेजना—

तबे सेइ कृष्णदासे गौड़े पाठाइल।
वैष्णव-सबाके दिते महाप्रसाद दिल॥७४॥

७४। प० अनु—तब उसी काला कृष्णदास को गौड़देश भेज दिया गया और उनके साथ में सभी वैष्णवों को देने के लिये महाप्रसाद भी भेजा गया।

कृष्णदास की गौड़यात्रा और नवद्वीप में शची माता के साथ साक्षात्कार—

तबे गौड़देशे आइला काला-कृष्णदास।
नवद्वीपे गेल तेंह शची-आइ-पाश॥७५॥

७५। प० अनु—तब काला-कृष्णदास गौड़देश में आ गया और वह नवद्वीप में शची माता के पास पहुँच गया।

प्रणाम करने के बाद सभी के समक्ष प्रभु के संवाद का वर्णन—

महाप्रसाद दिया ताँरे कैल नमस्कार।
दक्षिण हैते आइला प्रभु,—कहे समाचार॥७६॥

७६। प० अनु—शची माता को महाप्रसाद देकर काला कृष्णदास ने उन्हें प्रणाम किया और श्रीचैतन्य

महाप्रभु के दक्षिण भारत से आ जाने का समाचार कह सुनाया।

प्रभु का संवाद सुनकर सभी को आनन्द—

शुनिया आनन्दित हैल शचीमातार मन।
श्रीवासादि आर जत जत भक्तगण॥७७॥
शुनिया सबार हैल परम उल्लास।
अद्वैत-आचार्य-गृहे गेला कृष्णदास॥७८॥

७७-७८। प॰ अनु॰—यह सुनकर शची माता का मन आनन्दित हो गया और श्रीवासादि तथा अन्यान्य जितने भी भक्त थे, सभी इस समाचार को सुनकर परम प्रसन्न चित्त हो गये तथा कृष्णदास श्रीअद्वैताचार्य के घर चला गया।

अद्वैत के घर पर जाकर प्रभु के संवाद का वर्णन—

आचार्यैरे प्रसाद दिया करि' नमस्कार।
सम्यक् कहिल महाप्रभुर समाचार॥७९॥

७९। प॰ अनु॰—काला कृष्णदास ने श्रीअद्वैताचार्य को प्रसाद देकर उन्हें प्रणाम किया और फिर उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु का समस्त समाचार कह सुनाया।

अद्वैताचार्य का आनन्द और अन्यान्य गौड़ीय भक्तों का हर्षित होकर अद्वैत के पास जाना—

शुनि' आचार्य-गोसाञिर आनन्द हइल।
प्रेमावेशे बहु नृत्य-गीत-हुँकार कैल॥८०॥
हरिदास ठाकुरेर हैल परम आनन्द।
वासुदेव दत्त, गुप्त मुरारि, सेन शिवानन्द॥८१॥
आचार्यरत्न, आर पण्डित वक्रेश्वर।
आचार्यनिधि, आर पण्डित गदाधर॥८२॥
श्रीराम पण्डित, आर पण्डित दामोदर।
श्रीमान् पण्डित, आर विजय, श्रीधर॥८३॥
राघवपण्डित, आर आचार्य नन्दन।
कतेक कहिब आर जत भक्तगण॥८४॥
शुनिया सबार हैल परम उल्लास।
सबे मेलि' गेला श्रीअद्वैतेर पाश॥८५॥
आचार्येर सबे कैल चरण वन्दन।
आचार्य-गोसाञि सबारे कैल आलिङ्गन॥८६॥

८०-८६। प॰ अनु॰—आचार्य गोसाईं श्रीचैतन्य महाप्रभु का समाचार सुनकर बड़े आनन्दित हुये और उन्होंने प्रेमावेश में आविष्ट होकर बहुत नृत्य-गीत और हुँकार किया। समाचार सुनकर श्रील हरिदास ठाकुर भी परम आनन्दित हुये। श्रीवासुदेव दत्त, श्रीगुप्त मुरारि, श्रीशिवानन्द सेन, श्रीआचार्यरत्न, श्रीवक्रेश्वर पण्डित, श्रीआचार्यनिधि, श्रीगदाधर पण्डित, श्रीराम पण्डित, श्रीदामोदर पण्डित, श्रीमान् पण्डित, श्रीविजय, श्रीधर, श्रीराघवपण्डित और श्रीआचार्य नन्दन आदि कितने भक्तों के नाम कहूँ, जो श्रीचैतन्य महाप्रभु के समाचार को सुनकर परम उल्लसित हुये एवं सभी मिलकर श्रीअद्वैत आचार्य प्रभु के पास गये। सभी भक्तों ने श्रीअद्वैताचार्य के चरण-कमलों की वन्दना की और श्रीअद्वैताचार्य ने उन सबका आलिङ्गन किया।

अनुभाष्य

८२। आचार्य निधि,—आदि, दशम परिच्छेद १४ संख्या द्रष्टव्य।

आनन्दसूचक महोत्सव का अनुष्ठान—

दिन दुइ-तिन आचार्य महोत्सव कैल।
नीलाचल जाइते आचार्य युक्ति दृढ़ कैल॥८७॥

८७। प॰ अनु॰—दो-तीन दिन तक महोत्सव करने के उपरान्त श्रीअद्वैताचार्य ने नीलाचल जाने के लिये दृढ़ निश्चय किया।

शची माता की आज्ञा लेकर सभी की पुरी-यात्रा—

सबे मेलि' नवद्वीपे एकत्र हञा।
नीलाद्रि चलिल शचीमातार आज्ञा लञा॥८८॥

८८। प॰ अनु॰—सभी भक्त एकसाथ नवद्वीप में एकत्रित हुए और श्रीशची माता की आज्ञा लेकर वे नीलाचल की ओर चल दिये।

कुलीन ग्रामवासियों का आगमन और मिलन—

प्रभुर समाचार शुनि' कुलीनग्रामवासी।
सत्यराज-रामानन्द मिलिला सबे आसि'॥८९॥

८९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु का समाचार सुनकर कुलीनग्रामवासी श्रीसत्यराज और श्रीरामानन्द भी श्रीअद्वैताचार्य आदि भक्तों के साथ नीलाचल जाने के लिये आकर मिले।

खण्डवासी लोगों का आगमन और मिलन—

मुकुन्द, नरहरि, रघुनन्दन खण्ड हैते।
आचार्येर ठाञि आइला नीलाचल जाइते॥९०॥

९०। प० अनु०—श्रीमुकुन्द, श्रीनरहरि और श्रीरघुनन्दन भी खण्ड नामक स्थान से नीलाचल जाने के लिये श्रीआचार्य के घर आ गये।

अनुभाष्य

९०। आदि दशम परिच्छेद ७८ संख्या द्रष्टव्य। श्रीखण्डवासी श्रीरघुनन्दन की वंश प्रणाली मञ्जुषा-समाहृति पञ्चम संख्या द्रष्टव्य। इनमें से बहुत से 'आनन्द' शब्द-संयुक्त विभिन्न नामों से जाने जाते हैं। साधारणतः 'आनन्द' शब्द जोड़कर ही इनका नाम पाठ करना चाहिए।

परमानन्द पुरी का नवद्वीप में आगमन—

सेकाले दक्षिण हैते परमानन्दपुरी।
गङ्गातीरे-तीरे आइला नदीया-नगरी॥९१॥

९१। प० अनु०—उसी समय श्रीपरमानन्द पुरी भी दक्षिण भारत से गङ्गा के तट पर चलते-चलते नदीया में पहुँच गये।

शची माता के घर में परमानन्द पुरी द्वारा भोजन और वास—

आइर मन्दिरे सुखे करिला विश्राम।
आइ ताँरे भिक्षा दिला करिया सम्मान॥९२॥

९२। प० अनु०—श्रीपरमानन्द पुरी ने शची माता के घर पर आकर आनन्द पूर्वक विश्राम किया और शची माता ने उन्हें बहुत सम्मान पूर्वक भोजन कराया।

अनुभाष्य

९२। आईर मन्दिरे,—आर्या श्रीशचीमाता के घर श्रीमायापुर में।

परमानन्द पुरी की जगन्नाथ पुरी जाने की इच्छा—

प्रभुर आगमन तेंह ताहाँञि शुनिल।
शीघ्र नीलाचल जाइते ताँर इच्छा हैल॥९३॥

९३। प० अनु०—वहीं पर उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु के दक्षिण भारत से नीलाचल प्रत्यागमन (पुनः लौट आने) का समाचार सुना और इसलिये उनकी शीघ्र ही नीलाचल जाने की इच्छा हुई।

अनुभाष्य

९३। श्रीमहाप्रभु दक्षिण भारत भ्रमण करके नीलाचल लौट आये है,—यह संवाद अपने पूर्व परिचित कालाकृष्ण दास से श्रीमायापुर में ही श्रीपरमानन्द पुरी को प्राप्त हुआ।

द्विज कमलाकान्त के साथ
परमानन्द पुरी का पुरी में जाना—

प्रभुर एक भक्त—'द्विज कमलाकान्त' नाम।
ताँरे लञा नीलाचले करिला प्रयाण॥९४॥

९४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के एक भक्त जिनका नाम द्विज कमलाकान्त था, श्रीपरमानन्द पुरी उन्हीं को साथ लेकर नीलाचल की ओर चल दिये।

प्रभु के साथ परमानन्द पुरी का मिलन—

सत्वरे आसिया तेंह मिलिला प्रभुरे।
प्रभुर आनन्द हैल पाञा ताँहारे॥९५॥

९५। प० अनु०—शीघ्र ही नीलाचल पहुँच कर श्रीपरमानन्द पुरी श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिले और उन्हें वहाँ देखकर प्रभु को भी बहुत आनन्द की प्राप्ति हुयी।

प्रभु का प्रणाम और परमानन्द पुरी द्वारा आलिङ्गन—

प्रेमावेशे कैल ताँर चरण वन्दन।
तेंह प्रेमावेशे कैल प्रभुरे आलिङ्गन॥९६॥

९६। प० अनु०—श्रीपरमानन्द पुरी को देखकर प्रेमावेश में आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनके चरणों की वन्दना की और श्रीपरमानन्द पुरी ने भी प्रेमावेश में श्रीचैतन्य प्रभु का आलिङ्गन किया।

प्रभु और पुरी, परस्पर के प्रेम से आकृष्ट होकर दोनों के द्वारा ही श्रीजगन्नाथ पुरी में वास करने की इच्छा का प्रकाश—

प्रभु कहे,—तोमा-सङ्गे रहिते वाञ्छा हय।
मोरे कृपा करि' कर नीलाद्रि आश्रय॥९७॥
पुरी कहे,—तोमा-सङ्गे रहिते वाञ्छा करि।
गौड़ हैते चलि' आइलाङ नीलाचल-पुरी॥९८॥

९७-९८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"आपके साथ रहने की मेरी बहुत इच्छा होती है, मुझ पर कृपा करने के लिये आप नीलाचल में ही रह जाइये।" यह सुनकर श्रीपरमानन्द पुरी ने कहा—"मैं भी आपके साथ रहने की इच्छा करता हूँ, इसलिये गौड़देश से चलकर नीलाचल पुरी में आया हूँ।

पुरी के द्वारा शची माता का संवाद देना और भक्तों के भावी-आगमन के संवाद का ज्ञापन—

दक्षिण हैते शुनि' तोमार आगमन।
शची आनन्दित, आर जत भक्तगण॥९९॥
सबे आसितेछेन तोमारे देखिते।
ताँ-सबार विलम्ब देखि' आइलाङ त्वरिते॥१००॥

९९-१००। प० अनु०—दक्षिण भारत से आपके आगमन का समाचार सुनकर शची माता और सभी भक्तगण बड़े आनन्दित हुये। सभी आपको देखने के लिये जगन्नाथ पुरी आ रहे हैं। परन्तु उनके आने में कुछ देरी देखकर मैं शीघ्र ही चला आया।"

परमानन्द पुरी को काशीमिश्र के घर में वास स्थान की प्राप्ति—

काशीमिश्रेर आवासे निभृते एक घर।
प्रभु ताँरे दिल, आर सेवार किंकर॥१०१॥

१०१। प० अनु०—श्रीकाशीमिश्र के घर में एक एकान्त कमरा था, जिसे श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीपरमानन्द पुरी को प्रदान किया एवं उनकी सेवा के लिये एक सेवक भी नियुक्त कर दिया।

श्रीदामोदर स्वरूप का आगमन और उनका वैशिष्ट्य—

आर दिने आइला स्वरूप दामोदर।
प्रभुर अत्यन्त मर्मी, रसेर सागर॥१०२॥

१०२। प० अनु०—अगले दिन श्रीचैतन्य महाप्रभु के अन्तरङ्ग भक्त एवं रस के सागर श्रीस्वरूप दामोदर भी श्रीजगन्नाथ पुरी में आ गये।

अनुभाष्य

१०२। स्वरूप दामोदर,—वैदिक दशनामी संन्यासियों में श्रीशंकराचार्य-प्रवर्त्तित यह विधि देखी जाती है कि 'तीर्थ' और 'आश्रम' नामक दोनों दण्ड़ियों से संन्यास ग्रहणार्थी होने पर दण्डी गुरु-महाशय शिष्य को नैष्ठिक-ब्रह्मचारियों के विधानानुसार 'ब्रह्मचारी' संज्ञा प्रदान करते हैं। नवद्वीपवासी श्रीपुरुषोत्तम आचार्य ने ही 'दामोदर-स्वरूप' नामक 'ब्रह्मचारी' नाम प्राप्त किया। संन्यास की योगपट्ट-प्राप्ति होने पर नैष्ठिक ब्रह्मचारी की ही 'स्वरूप' उपाधि के बदले संन्यास उपाधि 'तीर्थ' होती है।

उनके पूर्वाश्रम का परिचय—

'पुरुषोत्तम आचार्य' ताँर नाम पूर्वाश्रमे।
नवद्वीपे छिला तेंह प्रभुर चरणे॥१०३॥
प्रभुर संन्यास देखि' उन्मत्त हञा।
संन्यास ग्रहण कैल वाराणसी गिया॥१०४॥

१०३-१०४। प० अनु०—उनके पूर्वाश्रम का नाम 'पुरुषोत्तम आचार्य' था, वे नवद्वीप में श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ उनके श्रीचरणकमलों की शरण में ही रहते थे परन्तु जब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण किया, श्रीपुरुषोत्तम आचार्य उन्मत्त हो गये और उन्होंने भी वाराणसी में जाकर संन्यास ग्रहण कर लिया।

संन्यास गुरु का आदेश—

'चैतन्यानन्द' गुरु ताँर आज्ञा दिलेन ताँरे।
वेदान्त पड़िया पडाओ समस्त लोकेरे॥१०५॥

१०५। प० अनु०—श्रीपुरुषोत्तम आचार्य के गुरु 'चैतन्यानन्द' थे। उन्होंने श्रीपुरुषोत्तम आचार्य को वेदान्त पढ़कर समस्त लोगों को वेदान्त पढ़ने का आदेश प्रदान किया।

अनुभाष्य

१०५। चैतन्यानन्द,—'चैतन्यानन्द भारती'—श्रीचैतन्य-चन्द्रोदय-नाटक-टिप्पणी।

श्रीदामोदर-स्वरूप का चरित्र—

परम विरक्त तेंह परम पण्डित।
कायमने आश्रियाछे श्रीकृष्ण-चरित॥१०६॥

१०६। प० अनु—पुरुषोत्तम आचार्य परम विरक्त तथा परम पण्डित थे और उन्होंने काय और मन से भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र का ही आश्रय ग्रहण किया था।

अनुभाष्य

१०६। श्रीकवि कर्णपूर ने चैतन्य चन्द्रोदय-नाटक में लिखा है—"समस्तहानाय तुरीयमाश्रमं जग्राह वैराग्यवशेन केवलम्। श्रीकृष्ण पादाब्ज परागरागतस्तुच्छीचकारैनमहेव-हन्नपि॥"

श्रीकृष्ण भजन के लिये ही उनके द्वारा संन्यास ग्रहण—

'निश्चिन्ते कृष्ण भजिब' एइ त' कारणे।
उन्मादे करिल तेंह संन्यास ग्रहणे॥१०७॥

१०७। प० अनु—'निश्चिन्त होकर श्रीकृष्ण का भजन करूँगा' इसीलिए ही उन्होंने उन्मादित होकर संन्यास ग्रहण किया था।

'स्वरूप'—नामकरण—

संन्यास करिला शिखा-सूत्रत्याग-रूप।
योगपट्ट ना निल, नाम हैल 'स्वरूप'॥१०८॥

१०८। प० अनु—इन्होंने शिखा और यज्ञोपवीत का त्याग रूपी संन्यास ग्रहण किया किन्तु इन्होंने योगपट्ट वस्त्र अर्थात् गेरुएँ वस्त्र को स्वीकार नहीं किया। इनका नाम हुआ—'स्वरूप'।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०८। पुरुषोत्तम आचार्य ने प्रभु के संन्यास को देखकर 'शिखासूत्रत्यागरूप संन्यास' ग्रहण किया। उनका संन्यास-नाम 'स्वरूप दामोदर' हुआ। योगपट्ट लेने की जो प्रक्रिया है उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया; क्योंकि, किसी प्रकार के आश्रम के अहंकार की वृद्धि करने के लिये उनका संन्यास नहीं था; केवल 'निश्चिन्त होकर कृष्ण-भजन करूँगा' इसी भावना से संन्यास को स्वीकार किया।

अनुभाष्य

१०८। अष्ट श्राद्ध, विरजा-होम, शिखा-मण्डन, सूत्र त्याग आदि संन्यास के कृत्य समाप्त करके गुरु का आवाह्न, योगपट्ट, संन्यास का नाम और दण्ड आदि को ग्रहण करने की अपेक्षा नहीं करने के कारण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य सूचक 'दामोदर स्वरूप' नाम ही रह गया।

पुरी में आगमन—

गुरु-ठाञि आज्ञा मागि' आइला नीलाचले।
रात्रिदिने कृष्णप्रेम आनन्दे विह्वले॥१०९॥

१०९। प० अनु—अपने गुरु से आज्ञा माँगकर ये नीलाचल चले आये और रात-दिन कृष्णप्रेम के आनन्द में विह्वल रहने लगे।

स्वरूप दामोदर का आचरण और उनका निर्जन में वास—

पाण्डित्येर अवधि, वाक्य नाहि कारो सने।
निर्जने रहये, लोक सब नाहि जाने॥११०॥

११०। प० अनु—श्रीस्वरूप दामोदर पाण्डित्य की पराकाष्ठा थे, ये किसी से कोई वा र्त्तालाप नहीं करते थे, ये एकान्त स्थान पर रहते थे तथा लोग इनके विषय में कुछ भी नहीं जानते थे।

प्रभु के द्वितीय विग्रह—

कृष्णरस-तत्त्व-वेत्ता, देह—प्रेमरूप।
साक्षात् महाप्रभुर द्वितीय स्वरूप॥१११॥

१११। प॰ अनु॰—श्रीस्वरूप दामोदर कृष्णरस के तत्त्व को जानने वाले थे एवं इनका देह साक्षात् प्रेम स्वरूप था। ये साक्षात् श्रीचैतन्य महाप्रभु के द्वितीय स्वरूप थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१११। कृष्णरस-तत्त्ववेत्ता,—उनकी देह साक्षात् प्रेम रूप थी; उन्हें देखने से ही लगता, जैसे महाप्रभु का द्वितीय स्वरूप उदित हुआ है।

दामोदर-स्वरूप ही भक्तिरस-
सिद्धान्त के एकमात्र परीक्षक—

ग्रन्थ, श्लोक, गीत केह प्रभु-पाशे आने।
स्वरूप परीक्षा कैले, प्रभु पाछे शुने॥११२॥

११२। प॰ अनु॰—कोई भी व्यक्ति यदि किसी भी प्रकार का ग्रन्थ, श्लोक अथवा गीत लिखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के पास सुनाने के लिये लाता तो पहले श्रीस्वरूप दामोदर उसकी परीक्षा करते और तब प्रभु उसे सुनते।

प्रभु का अप्रिय विषय—

भक्तिसिद्धान्त-विरुद्ध, आर रसाभास।
शुनिले ना हय प्रभुर चित्तेर उल्लास॥११३॥

११३। प॰ अनु॰—क्योंकि भक्तिसिद्धान्त के विरुद्ध और रसाभास को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के चित्त में उल्लास नहीं होता है।

अमृतप्रवाह भाष्य

११३। भक्तिसिद्धान्त विरुद्ध,—अचिन्त्य भेदाभेद ही भक्ति सिद्धान्त है, इसके विरुद्ध जो है, वही 'भक्तिसिद्धान्त विरुद्ध' है। 'रसाभास' अर्थात् रस जैसा प्रतीत हो रहा है, किन्तु रस नहीं है। इस दो प्रकार की अभक्ति से वैष्णवों का दूर रहना कर्त्तव्य है। क्योंकि, मायावाद आदि भक्तिसिद्धान्त विरुद्ध वाक्य सुनते-सुनते जीवों का पतन होता है। रसाभास की आलोचना करते-करते 'प्राकृत-सहजिया,' 'बाउल' और 'जड़ रसासक्त' हो जाता है। इस दोष से जो दूषित हैं, उनका संग करने हेतु निषेध करने के लिये श्रीमन् महाप्रभु ने भक्ति सिद्धान्त विरुद्ध और रसाभास को दूर रखने की प्रथा का निर्देश किया है।

दामोदर-स्वरूप के द्वारा परीक्षा में
उत्तीर्ण विषयों में ही प्रभु की प्रसन्नता—

अतएव स्वरूप गोसाञि करे परीक्षण।
शुद्ध हय यदि, प्रभुरे करा' न श्रवण॥११४॥

११४। प॰ अनु॰—इसलिये श्रीस्वरूप गोसाईं पहले परीक्षण करते और यदि वह शुद्ध होता तभी उसे श्रीचैतन्य महाप्रभु को श्रवण कराते।

अनुभाष्य

११४। जिनसे कृष्ण भजन में बाधा पड़ती है, वे सब सिद्धान्त ही भक्ति विरुद्ध, अतएव अशुद्ध हैं। शुद्धभक्त गण वैसे सिद्धान्तों का अनुमोदन एवं रसाभास परायण विरुद्ध सिद्धान्त विशिष्ट जीव को 'शुद्ध भक्त' कहकर स्वीकार नहीं कर सकते। अशुद्ध सिद्धान्त अथवा रसाभास-पुष्ट होकर जो सब कुमत जगत में चल रहे हैं, लोकापेक्षा-युक्त होकर साधारण व्यक्तियों के निकट आदर प्राप्त करने के लिये जो भक्ति विरोधी असत् सिद्धान्त का आदर करते हैं, उनके 'गौरगण' का अभिमान करने पर भी श्रीदामोदर-स्वरूप गोस्वामी उन्हें 'गौड़ीय-वैष्णव' कहकर स्वीकार नहीं करते एवं श्रीमन् महाप्रभु के निकट जाने नहीं देते।

चण्डीदास, विद्यापति और जयदेव के
पद गाकर प्रभु की प्रसन्नता का वर्द्धन—

विद्यापति, चण्डीदास, श्रीगीतगोविन्द।
एइ तिन गीते करा'न प्रभुर आनन्द॥११५॥

११५। प॰ अनु॰—श्रीस्वरूप दामोदर श्रीविद्यापति, श्रीचण्डीदास एवं श्रीजयदेव गोस्वामी के द्वारा रचित

श्रीगीतगोविन्द के पदों का गान करके श्रीचैतन्य महाप्रभु को आनन्दित किया करते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

११५। विद्यापति,—मिथिला प्रान्त के प्राचीन वैष्णव कवि। चण्डीदास,—(वीरभूमि जिले में साकुल्लिपुर थाना के अधीन) नान्नुर-ग्राम के प्राचीन बंगीय-वैष्णव-कवि।

श्रीगीत गोविन्द,—श्रीजयदेव प्रणीत कृष्णरसाश्रित संस्कृत गीत समूह से परिपूर्ण सुप्रसिद्ध काव्य।

दामोदर-स्वरूप का गुण—

संगीते—गन्धर्व-सम, शास्त्रे—बृहस्पति।
दामोदर-सम आर नाहि महामति॥११६॥

११६। प० अनु०—श्रीस्वरूप दामोदर संगीत में गन्धर्व के समान तथा शास्त्रों के मर्म को जानने में बृहस्पति के समान थे। श्रीस्वरूप दामोदर जैसा महामति और कोई नहीं था।

अमृतप्रवाह भाष्य

११६। स्वरूप गोस्वामी गीत शास्त्र और साधारण शास्त्र में विशेष पटु थे। श्रीमहाप्रभु ने उन्हें गान विद्या में पटु देखकर पहले ही उनका 'दामोदर' नाम दिया था। 'दामोदर' नाम के साथ संन्यास गुरु द्वारा प्रदत्त 'स्वरूप' जुड़कर उनका नाम 'दामोदर स्वरूप' हुआ था। 'संगीत दामोदर' नामक संगीत शास्त्र का एक ग्रन्थ भी उन्होंने लिखा था।

सभी भक्तों के ही प्रिय पात्र—

अद्वैत-नित्यानन्देर परम प्रियतम।
श्रीवासादि भक्तगणेर हय प्राण-सम॥११७॥

११७। प० अनु०—श्रीस्वरूप दामोदर श्रीअद्वैताचार्य एवं श्रीनित्यानन्द प्रभु के अत्यधिक प्रियतम तथा श्रीवासादि भक्तों के प्राणों के समान थे।

स्वरूप दामोदर के द्वारा कथित प्रणाम श्लोक—

सेइ दामोदर आसि' दण्डवत् हैला।
चरणे धरिया श्लोक पड़िते लागिला॥११८॥

११८। प० अनु०—ऐसे श्रीस्वरूप दामोदर श्रीजगन्नाथ पुरी आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों में दण्ड की भाँति गिर पड़े और उनके श्रीचरणों को पकड़कर निम्नलिखित श्लोक उच्चारण करने लगे।

श्रीचैतन्यचन्द्रोदय-नाटक (८/१४) का श्लोक—

हेलोद्धूलित-खेदया विशदया प्रोन्मीलदामोदया
शाम्यच्छास्त्रविवादया रसदया चित्तार्पितोन्मादया।
शश्वद्भक्तिविनोदया स-मदया माधुर्यमर्यादया
श्रीचैतन्य दयानिधे, तव दया भूयादमन्दोदया॥११९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

११९। हे दयानिधे श्रीचैतन्य, जो हेला में (अनायास) ही समस्त खेद दूर करती है, जिसमें सम्पूर्ण निर्मलता है, जिसमें (अन्य सभी विषयों को आच्छादित करके) परमानन्द प्रकाशित होता है, जिसके उदित होने से शास्त्र विवाद समाप्त हो जाते हैं, जो रस की वर्षा द्वारा चित्त को उन्मत्त बना देती है, जिसकी भक्तिविनोदन क्रिया सर्वदा शमता (भगवन् निष्ठा बुद्धि) दान करती है, माधुर्य मर्यादा द्वारा आपकी अति विस्तृत वह शुभ प्रदान करने वाली दया मेरे प्रति उदित हो।

अनुभाष्य

११९। हे दयानिधे श्रीचैतन्य, हेलोद्धूलितखेदया (हेलया अवहेलया उद्धूलितो दूरीकृतः खेदो मनस्तापो यया) विशदया (निर्मलतया सर्वप्रकाशिकया) प्रोन्मीलदामोदया (प्रकृष्टेन उन्मीलन् प्रकाशमानः आमोदः परमानन्दो यस्यां सा तया) शाम्यच्छास्त्रविवदया (शाम्यन् शास्त्राणां विवादः वादप्रतिवादो यस्यां सा तया) रसदया (मधुरादि रसं ददातीति रसदा तया) चितार्पितोन्मादया (चित्ते अर्पितः उन्मादः देहादौ अनभिनिवेदशः यद्वा, प्रौढ़ानन्दापद्विरहादिजः हृद भ्रमः, दिव्योन्मादः इत्यर्थः, यया सा तया) शश्वद्भक्तिविनोदया (शश्वत्-भरजः विवेकहरः, उल्लासः, तेन सहितया, 'शमदया' इति पाठे तू-कृष्णेत्तरतृष्णया रहितया) माधुर्य-मर्यादया (मार्धुयाणां

मर्यादा सीमा यस्यां सा तया—विशेषणे तृतीया) तव अमन्दोदया (मन्दः कुण्ठा तद्रहितः अमन्दः निःश्रेयसं, तस्य उदयो यस्यां सा) दया (मयि) भूयात् (भवतु)।

औदार्यमय प्रेम विग्रह भगवान् चैतन्यचन्द्र तीन प्रकार से अपने कारुण्य को सुकृति सम्पन्न जीवों में वितरण करते हैं। जीव जागतिक अभाव में दुःखित होकर अनेक उपायों द्वारा क्लेश दूर करने का प्रयास करने पर भी सफल नहीं होते। भगवान् की दया जीव के प्रयास द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। भगवद् कृपा से जीव के हृदय में कृष्णपादपद्म की गन्ध का विकास होता है, तभी चित्त-खेद रूपी धूलि अनायास ही उड़ जाती है अतएव हृदय निर्मल हो जाता है। तब हृदय में कृष्ण-सेवा से उत्पन्न परमानन्द प्रकाशित होता है। शास्त्रों की व्याख्या के भेद से विवाद समूह चित्त में उदित होकर अनेक वाद-प्रतिवाद करते हैं। भगवद् कृपा प्राप्त करने पर ही कृपा प्राप्त करने वाला हृदय भगवद् रस में उन्मत्त हो जाता है; पुनः दूसरी ओर, कृष्ण रस प्रदान करने वाली मत्तता भी भगवद् कृपा के बल से ही उदित होती है, अतएव शास्त्र विवाद शान्ति प्राप्त करते हैं। माधुर्य मर्यादा जीव की निरन्तर कृष्ण चरणों में अवस्थिति कराती है एवं सौभाग्यशाली जीव उसी समय केवल प्रेम भक्ति में ही प्रीति प्राप्त करता है। कृष्णकृपा—निर्मला, रसदा और स-मदा।

कृष्णकृपा के क्रम से हृदय के निर्मल होने पर अभाव से उत्पन्न कोई खेद रूपी मल नहीं रहता। कृष्ण कृपावशतः रस प्राप्त करने पर शास्त्र-विवाद शान्त होकर भक्तिसिद्धान्त सुदृढ़ होता है अतएव चित्त कृष्ण प्रेम में उन्मत्त हो जाता है। कृष्णकृपा के क्रम से शमता (भगवन् निष्ठा बुद्धि) प्राप्त करके माधुर्य-गौरव में निरन्तर भक्ति में विनोद की प्राप्ति होती है।

जीव—पहले तो ईश्वर विमुख विषयों से खिन्न रहता है, बाद में ईशानुसन्धान पहले और अन्त में भगवत् सेवा में रत रहता है। भगवान् की दया से सर्वप्रथम उसकी अनर्थ-निवृत्ति, उससे उत्पन्न हृदय की निर्मलता एवं हृदय की निर्मलता के परिणाम स्वरूप कृष्ण-आमोद का विकास होता है। भगवान् की दया से मध्यमतः (द्वितीयः) भक्तिसिद्धान्त की प्राप्ति तथा उसके फल-स्वरूप रसोत्पत्ति से प्रेमोन्मत्तता की प्राप्ति होती है। भगवान् की दया से अन्त में भक्ति में अनुरक्ति तथा उसके फलस्वरूप सर्वत्र भगवद् लीला की स्फूर्त्ति की प्राप्ति एवं स्फूर्त्ति से माधुर्य परकाष्ठा की प्राप्ति होती है। जीव कृष्ण की कृपा से निवृत्त तृष्ण अर्थात् मुक्त होकर भी कृष्ण कीर्त्तन-सेवा-वशतः कृष्ण के अतिरिक्त अन्यत्र विराग, मुमुक्षु होने पर भी भव रोग की औषधि प्राप्त करने पर मुमुक्षा-त्याग और परेशानुभूति एवं विषयी होने पर भी कृष्ण कृपा के बल से श्रवण-मनोभिराम हरि गुणानुवाद के फल से विषय-भोग और त्याग के अन्त में शुद्धभक्ति में अवस्थित हो पाते हैं। अतएव सब समय भगवान् की दया ही आश्रय करने योग्य है।

परस्पर के स्पर्श के द्वारा प्रभु
और स्वरूप दामोदर का प्रेम—

उठाञा महाप्रभु कैल आलिङ्गन।
दुइजने प्रेमावेशे हैल अचेतन॥१२०॥

१२०। प॰ अनु॰—श्रीस्वरूप दामोदर को उठाकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें आलिङ्गन किया और दोनों ही प्रेमावेश में अचेतन हो गये।

गाढ़प्रीति से भरकर प्रभु के द्वारा स्वरूप दामोदर का अभिनन्दन—

कतक्षणे दुइ जने स्थिर जबे हैला।
तबे महाप्रभु ताँरै कहिते लागिला॥१२१॥
तुमि जे आसिबे, आजि स्वप्नेते देखिल।
भाल हैल, अन्ध जेन दुइ नेत्र पाइल॥१२२॥

१२१-१२२। प॰ अनु॰—कुछ देर के बाद जब दोनों स्थिर हुये, तब श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीस्वरूप दामोदर से कहने लगे—"मैंने स्वप्न में देखा कि आप आज आयेंगे। अच्छा ही हुआ आप क्या आये मानो मेरे जैसे अन्धे को दो नेत्र मिल गये।"

स्वरूप दामोदर की दीनता पूर्ण उक्ति—

स्वरूप कहे,—प्रभु, मोर क्षम' अपराध।
तोमा छाड़ि' अन्यत्र गेनु, करिनु प्रमाद॥१२३॥
तोमार चरणे मोर नाहि प्रेम-लेश।
तोमा छाड़ि' पापी मुञि गेनु अन्य-देश॥१२४॥
मुञि तोमा छाड़िल, तुमि मोरे ना छाड़िला।
कृपा-पाश गलाय बान्धि' चरणे आनिला॥१२५॥

१२३-१२५। प॰ अनु॰—श्रीस्वरूप दामोदर ने कहा—"हे प्रभु! मेरे अपराध को क्षमा कीजिये। मैं प्रमादवशतः आपको छोड़कर कहीं और चला गया था। आपके चरणकमलों के प्रति मेरा लेशमात्र भी प्रेम नहीं है तभी तो मेरे जैसा पापी व्यक्ति आपको छोड़कर किसी और स्थान पर चला गया था। मैंने आपको छोड़ दिया था परन्तु आपने मुझे नहीं छोड़ा, आपने अपनी कृपा रूपी रस्सी के द्वारा मुझे गले से बाँधकर अपने श्रीचरणकमलों में खींच लिया।"

निताई का प्रणाम और निताई के द्वारा आलिङ्गन—

तबे स्वरूप कैल निताइर चरण वन्दन।
नित्यानन्दप्रभु कैल प्रेम-आलिङ्गन॥१२६॥

१२६। प॰ अनु॰—तब श्रीस्वरूप दामोदर ने श्रीनित्यानन्द प्रभु के चरणकमलों की वन्दना की और श्रीनित्यानन्द प्रभु ने उन्हें प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया।

अन्यान्य सभी भक्तों के साथ मिलन—

जगदानन्द, मुकुन्द, शङ्कर, सार्वभौम।
सबा-सङ्गे यथायोग्य करिल मिलन॥१२७॥

१२७। प॰ अनु॰—श्रीस्वरूप दामोदर श्रीजगदानन्द पण्डित, श्रीमुकुन्द, श्रीशङ्कर और श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य आदि सभी भक्तों के साथ यथायोग्य मिले।

परमानन्द पुरी की वन्दना—

परमानन्द पुरीर कैल चरण वन्दन।
पुरी-गोसाञि ताँरे कैल प्रेम-आलिङ्गन॥१२८॥

१२८। प॰ अनु॰—श्रीस्वरूप दामोदर ने श्रीपरमानन्द पुरी के चरणों की वन्दना की और पुरी गोसाईं ने उन्हें प्रेमपूर्वक आलिङ्गन प्रदान किया।

योग्य वास स्थान और एक सेवक की प्राप्ति—

महाप्रभु दिल ताँरे निभृते वासाघर।
जलादि-परिचर्या लागि' दिल एक किंकर॥१२९॥

१२९। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीस्वरूप दामोदर को एकान्त में वास योग्य एक घर प्रदान किया और जलादि सेवा के लिये एक सेवक को भी नियुक्त कर दिया।

भक्तों से घिरे प्रभु—

आर दिन सार्वभौम-आदि भक्त-सङ्गे।
बसिया आछेन महाप्रभु कृष्णकथा-रङ्गे॥१३०॥

१३०। प॰ अनु॰—अगले दिन श्रीसार्वभौम आदि भक्तों के साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु बैठकर श्रीकृष्ण की कथाओं को कह रहे थे।

गोविन्द का आगमन—

हेनकाले गोविन्देर हैल आगमन।
दण्डवत् करि' कहे विनय-वचन॥१३१॥

१३१। प॰ अनु॰—उसी समय श्रीगोविन्द वहाँ आ गये और वे श्रीचैतन्य महाप्रभु को दण्डवत् प्रणाम करने के बाद विनयपूर्वक इस प्रकार कहने लगे—

गोविन्द के द्वारा अपना परिचय प्रदान
और आगमन के कारण का वर्णन—

ईश्वर-पुरीर-भृत्य,—'गोविन्द' मोर नाम।
पुरी-गोसाञिर आज्ञाय आइनु तोमार स्थान॥१३२॥
सिद्धिप्राप्तिकाले गोसाञि आज्ञा कैल मोरे।
कृष्णचैतन्य-निकटे जाई' सेविह ताँहारे॥१३३॥

१३२-१३३। प॰ अनु॰—"मैं श्रीईश्वरपुरी पाद का दास हूँ, मेरा नाम 'गोविन्द' है। मैं पुरी गोसाञि पाद

की आज्ञा से ही आपके पास आया हूँ। सिद्धि प्राप्ति अर्थात् अप्रकट के समय उन्होंने मुझे आदेश दिया था कि तुम कृष्णचैतन्य के पास जाकर उनकी सेवा करना।

अपने गुरु भ्राता काशीश्वर की बाद में आने की सम्भावना को बताना—

काशीश्वर आसिबेन सब तीर्थ देखिया।
प्रभु आज्ञाय मुञि आइनु तोमा-पदे धाञा॥१३४॥

१३४। प० अनु०—काशीश्वर भी तीर्थों का दर्शन करके यहाँ आयेंगे। मैं तो गुरुदेव के आदेशानुसार और किसी तरफ नहीं जाकर आपके चरणों की ओर धावित होकर आ गया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३४। काशीश्वर और गोविन्द,—दोनों ही श्रीईश्वर पुरी के साथ में थे। काशीश्वर अन्यान्य तीर्थ भ्रमण करके महाप्रभु के निकट बाद में आयेंगे। गोविन्द ने श्रीईश्वर पुरी की सिद्धि-प्राप्ति के एकदम बाद में ही प्रभु के चरणों का आश्रय किया था।

प्रभु की दीनता—

गोसाञि कहिल, 'पुरीश्वर' वात्सल्य करे मोरे।
कृपा करि' मोर ठाञि पाठाइला तोमारे॥१३५॥

१३५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मेरे प्रभु पुरी पाद मेरे प्रति वात्सल्य भाव रखते थे, इसलिये उन्होंने कृपा करके आपको मेरे पास भेजा है।"

गोविन्द के सम्बन्ध में सार्वभौम का प्रश्न—

एत शुनि' सार्वभौम प्रभुरे पुछिल।
पुरी-गोसाञि शूद्र-सेवक काँहे त' राखिल॥१३६॥

१३६। प० अनु०—यह सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से पूछा—"श्रीपुरी गोसाञि ने इस शूद्र जाति के व्यक्ति को सेवक क्यों रखा था?"

प्रभु के द्वारा उचित उत्तर प्रदान—ईश्वर अथवा शक्तिशाली व्यक्ति का आचरण; स्नेह-कृपा और मर्यादा का वैशिष्ट्य—

प्रभु कहे,—ईश्वर हय परम स्वतन्त्र।
ईश्वरेर कृपा नहे वेद-परतन्त्र॥१३७॥
ईश्वरेर कृपा जाति-कुल नाहि माने।
विदुरेर घरे कृष्ण करिला भोजने॥१३८॥
स्नेह-सेवापेक्षा मात्र श्रीकृष्ण-कृपार।
स्नेहवश हञा करे स्वतन्त्र आचार॥१३९॥
मर्यादा हैते कोटि सुख स्नेह-आचरणे।
परमानन्द हय जार नाम-श्रवणे॥१४०॥

१३७-१४०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उत्तर दिया—"परमेश्वर जगद्गुरु परम स्वतन्त्र है। परमेश्वर जगद्गुरु की कृपा वेदों के अधीन नहीं है। जगद्गुरु ईश्वर की कृपा जाति-कुल आदि को नहीं मानती। उदाहरणतः विदुर (जाति से शूद्र होने पर भी उस) के घर में श्रीकृष्ण ने भोजन किया था। श्रीकृष्ण की कृपा स्नेहपूर्वक की गयी सेवा की ही अपेक्षा मात्र करती है और उसी स्नेह के वशीभूत होकर श्रीकृष्ण स्वतन्त्र आचरण करते हैं। स्नेहपूर्ण आचरण में मर्यादा पूर्ण आचरण की अपेक्षा करोड़ो गुणा अधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। 'स्नेहपूर्ण आचरण'—यह सुनने मात्र से ही परमानन्द की प्राप्ति होती है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

१३९। श्रीकृष्ण कृपा और किसी की अपेक्षा नहीं रखती, केवल स्नेह सेवा की ही अपेक्षा करती है। सेवा दो प्रकार की है,—स्नेह सेवा और मर्यादा सेवा। जहाँ स्नेह सेवा होती है, वहीं पर ही केवल कृष्णकृपा होती है। जहाँ मर्यादा सेवा होती है, वहाँ कृष्णकृपा सहज नहीं होती; कृपा में जाति कुल का विचार नहीं रहता।

अनुभाष्य

१३७। श्रीईश्वर पुरी,—श्रीमाध्व वैष्णव संन्यासी। उन्होंने शूद्र वंश के दैक्ष्य-ब्राह्मण गोविन्द को 'सेवक' के रूप में किस प्रकार अपना शिष्य बनाया था? यही

सार्वभौम के प्रश्न का कारण था। स्मृति के मतानुसार, ब्राह्मण द्वारा अन्य वर्ण के किसी व्यक्ति को शिष्य अथवा सेवक के रूप में ग्रहण करने पर ब्राह्मण-गुरु पतित हो जाता है। ईश्वर पुरी ने सदाचार सम्पन्न होकर भी स्मृति में बताये गये आदेश की किस प्रकार से अवहेलना की? उसके उत्तर में महाप्रभु ने कहा,—"मेरे गुरुदेव—'ईश्वर' अर्थात् जगत् के प्रभु हैं, अतएव वे साधारण जीवों के नियामक स्मृति के अधीन नहीं है। ईश्वर अर्थात् समर्थवान् गुरुदेव की कृपा कभी भी वैदिक शास्त्रों के अधीन नहीं है।"

१३८। परमेश्वर जगद्गुरु कृष्ण ने जाति कुल के लौकिक विचार को स्तब्ध कराकर विदुर के घर में भोजन किया था। मेरे प्रभु (ईश्वर पुरी) ने कृपा करके गोविन्द के शौक्र जन्म आदि के विचार का परित्याग करके वैष्णव को दैक्ष-विप्रत्व योग्य जानकर दीक्षा प्रदान करके 'सेवक' के रूप में ग्रहण किया था।

गोविन्द को आलिङ्गन और गोविन्द
के द्वारा प्रभु के चरणों की वन्दना—

एत बलि' गोविन्देरे कैल आलिङ्गन।
गोविन्द करिल प्रभुर चरण वन्दन॥१४१॥

१४१। प० अनु०—इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने गोविन्द का आलिङ्गन किया और श्रीगोविन्द ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों की वन्दना की।

प्रभु के द्वारा भट्टाचार्य के समक्ष भ्राता से सेवा ग्रहण
करने के सम्बन्ध में उचित या अनुचित सम्बन्धी प्रश्न—

प्रभु कहे,—भट्टाचार्य, करह विचार।
गुरुर किंकर हय मान्य आपनार॥१४२॥
ताँहारे आपन-सेवा कराइते ना युजाय।
गुरु आज्ञा दियाछेन, कि करि उपाय॥१४३॥

१४२-१४३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य से कहा—"भट्टाचार्य! कृपया इस बात पर विचार कीजिए। गुरु का सेवक तो सदैव पूजनीय होता है, इसलिये इनसे अपनी सेवा कराना उचित नहीं लगता, किन्तु दूसरी ओर गुरुदेव ने ही ऐसा आदेश दिया है। ऐसी परिस्थिति में क्या उपाय करना चाहिए?"

अमृतप्रवाह भाष्य

१४२-१४३। गुरुर किङ्कर—सहज ही सम्माननीय, उसे अपनी सेवा करने देना उचित नहीं है।

अनुभाष्य

१४२-१४३। गुरु का प्रत्येक सेवक ही उसके अतिरिक्त अन्यान्य प्रत्येक शिष्य के लिये ही माननीय है। उसे अपनी सेवा में नियुक्त करना अयुक्त (उचित नहीं) होने पर भी गुरु के आदेश को पालन करने के लिये उसे स्वीकार किस प्रकार से किया जाये, इस विषय में विचार करो।

सार्वभौम भट्टाचार्य का उत्तर—
गुरु आज्ञा अवश्य ही पालनीय—

भट्ट कहे,—गुरुर आज्ञा हय बलवान्।
गुरु-आज्ञा ना लंघिये, शास्त्र—प्रमाण॥१४४॥

१४४। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"गुरु का आदेश अत्यन्त बलवान् होता है। गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये, शास्त्र ही इस विषय में प्रमाण है।

गुरु-आज्ञा को पालन करने का पौराणिक दृष्टान्त—
रघुवंश, सीता बनवास प्रसङ्ग (१४/४६)—

स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेण
पितुर्नियोगात् प्रहृतं द्विषद्वत्।
प्रत्यगृहीदग्रजशासनं तदाज्ञा
गुरूणां ह्यविचारणीया॥१४५॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१४५। पिता की आज्ञा से परशुराम द्वारा उनकी माता (रेणुका) उन्हीं के द्वारा शत्रु की भाँति निहत हुई थी,—इसे श्रवण करके लक्ष्मण ने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र की आज्ञा को ग्रहण किया था, क्योंकि गुरुवर्गों की आज्ञा—अविचारणीया होती है।

अनुभाष्य

१४५। भार्गवेण (जामदग्न्येन) पितुर्नियोगात् (जामदग्न्यादेशेन) मातरि (रेणुकायां) द्विषद्वत् (शत्रुवत्) प्रहतं (निहतम्) इति सः (लक्षणः) शुश्रुवान् (श्रुतवान्); तत् अग्रज शासनं (सीता-वनवासनरूपं स्वीयाग्रजस्य श्रीरामचन्द्रस्य आदेशं) प्रत्यग्रहीत् (प्रतिपालितवान्); हि (यतः) गुरूणां आज्ञा अविचारणीय (औचित्यानुचित्यादि-विचारा नहीं)।

गुरु-आज्ञा पालन करने से ही जीवों को कल्याण की प्राप्ति—
(रामायण के अयोध्या काण्ड में श्रीरामचन्द्र
के वनगमन के प्रसङ्ग में २२.९)

निर्विचारं गुरोराज्ञा मया कार्या महात्मनः।
श्रेयो ह्येवं भवत्याश्च मम चैव विशेषतः॥"१४६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१४६। महात्मा गुरुदेव की आज्ञा मेरे लिये बिना कुछ विचार किये ही अनुष्ठान करने योग्य है; इसमें आपका भी मंगल है, विशेष करके मेरा भी मंगल है।

अनुभाष्य

१४६। मया महात्मनः गुरोः (पितुः दशरथस्य) आज्ञा निर्विचारं कार्या (पालनीया)। भवत्याश्च एवं हि विशेषतः मम च श्रेयः एव।

प्रभु के द्वारा गोविन्द को सेवक के रूप में अङ्गीकार—

तबे महाप्रभु ताँरे कैल अङ्गीकार।
आपन-श्रीअङ्ग-सेवाय दिल अधिकार॥१४७॥

१४७। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के विचार को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने गोविन्द को स्वीकार किया और उन्हें अपने श्रीअङ्ग की सेवा करने का अधिकार प्रदान किया।

सभी वैष्णवों के प्रिय पात्र गोविन्द—

प्रभुर प्रिय भृत्य करि' सबे करे मान।
सकल वैष्णवेर गोविन्द करे समाधान॥१४८॥

१४८। प० अनु०—सभी श्रीगोविन्द को श्रीचैतन्य महाप्रभु का प्रिय सेवक जानकर उनका बहुत सम्मान करते थे तथा श्रीगोविन्द भी सभी वैष्णवों के सेवाकार्यों को पूर्ण करते थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४८। समाधान,—सेवाकार्य।

उनके साथ छोटा और बड़ा
हरिदास एवं रामाई-नन्दाई—

छोट-बड़-कीर्तनीया—दुइ हरिदास।
रामाई, नन्दाई रहे गोविन्देर पाश॥१४९॥

१४९। प० अनु०—छोटा हरिदास और बड़े हरिदास—ये दोनों कीर्त्तनीया, तथा रामाई और नन्दाई श्रीगोविन्द के साथ रहते।

गोविन्द को सेवा का सौभाग्य—

गोविन्देर सङ्गे करे प्रभुर सेवन।
गोविन्देर भाग्यसीमा ना जाय वर्णन॥१५०॥

१५०। प० अनु—उपरोक्त चारों भक्त श्रीगोविन्द के साथ रहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु की सेवा करते। श्रीगोविन्द के भाग्य की सीमा का वर्णन नहीं किया जा सकता।

ब्रह्मानन्द भारती का आगमन—

आर दिने मुकुन्ददत्त कहे प्रभुर स्थाने।
ब्रह्मानन्द-भारती आइला तोमार दरशने॥१५१॥

१५१। प० अनु—अगले दिन श्रीमुकुन्द दत्त ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से कहा—"श्रीब्रह्मानन्द भारती आपके दर्शन के लिये आये हैं।

प्रभु की मर्यादा—

आज्ञा देह' यदि ताँरे आनिये एथाइ।
प्रभु कहे,—गुरु तेंह, जाब ताँर ठाञि॥१५२॥

१५२। प० अनु०—यदि आप आज्ञा दें तो मैं उन्हें यहाँ ले आऊँ।" श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"श्रीब्रह्मानन्द

भारती मेरे गुरु के समान हैं इसलिये मैं स्वयं ही उनके पास जाऊँगा।"

भारती के साथ साक्षात्कार—

एत बलि' महाप्रभु भक्तगण-सङ्गे।
चलि' आइला ब्रह्मानन्द-भारतीर आगे॥१५३॥

१५३। प० अनु०—इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों के साथ श्रीब्रह्मानन्द भारती के पास चलकर आ गये।

भारती के मृगचर्म वस्त्रों को देखकर प्रभु की अप्रसन्नता—

ब्रह्मानन्द परियाछे मृगचर्माम्बर।
ताहा देखि' प्रभु दुःख पाइला अन्तर॥१५४॥

१५४। प० अनु०—श्रीब्रह्मानन्द भारती ने मृगचर्म पहन रखी थी। जिसे देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का मन बहुत दुःखी हुआ।

अनुभाष्य

१५४। ब्रह्मानन्द भारती शाङ्कर-दशनामी संन्यासियों में से एक थे। मृगचर्म अथवा तृण वल्कल आदि वस्त्र— गृह का त्याग करने वाले व्यक्तियों का परिधेय है। (मनु संहिता षष्ठ अः)—"ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः। वसीत चर्म चीरं वा"; कुल्लुक भट्ट कृता टीका— 'मृगदि चर्मवस्त्र खण्डं वा आच्छादयेत्।"

लोकसंग्रह के लिये दम्भ के वशवर्ती होकर चर्मवस्त्र पहनने पर ही संसार से उद्धार प्राप्त किया जाता है, ऐसा नहीं;—मनु संहिता—षष्ठ अध्याय—"फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बप्रसादकम्। न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति।" कुल्लुक—"कतकवृक्षस्य फलं कलुष जलस्वच्छता जनकं, तथापि तन्नमोच्चारणवशात् न प्रसीदति किन्तु फलप्रक्षेपेण। एवं न लिङ्गधारण मात्रम् धर्मकारणम्॥"

प्रभु के द्वारा भारती के दर्शन करने पर भी अदर्शन का भान—

देखिया त' छद्म कैल जेन देखे नाञि।
मुकुन्देरे पुछे,—काँहा भारती-गोसाञि॥१५५॥
मुकुन्द कहे,—एइ आगे देख विद्यमान।
प्रभु कहे,—तेंह नहेन, तुमि अगेयान॥१५६॥
अन्येरे अन्य कह, नाहि तोमार ज्ञान।
भारती-गोसाञि केने परिबेन चाम॥१५७॥

१५५-१५७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीब्रह्मानन्द भारती को देखकर भी ऐसा छल किया कि उन्होंने उन्हें नहीं देखा इसलिये उन्होंने मुकुन्द से पूछा—"श्रीब्रह्मानन्द भारती गोसाईं कहाँ है? श्रीमुकुन्द ने कहा—"देखिये, वे तो आपके सामने ही हैं।" श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"यह वे नहीं है, आप उन्हें जानते नहीं हो। आप नहीं जानते कि आप किसी दूसरे व्यक्ति को श्रीब्रह्मानन्द भारती कह रहे हैं। श्रीभारती गोसाईं चर्म क्यों पहनेंगे?"

अमृतप्रवाह भाष्य

१५५। छद्म—छल, कपट।

प्रभु के व्यवहार से भारती को सुबुद्धि की प्राप्ति—

शुनि' ब्रह्मानन्द करे हृदये विचारे।
मोर चर्माम्बर एइ, ना भाय इँहारे॥१५८॥

१५८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की बात को सुनकर श्रीब्रह्मानन्द भारती मन में विचार करने लगे कि मेरा यह चर्म अम्बर श्रीचैतन्य महाप्रभु को अच्छा नहीं लगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५८। ना भाय,—शोभा नहीं देता।

बाह्य चिह्न धारण करने मात्र से ही संसार से मुक्ति नहीं मिलती—

भाल कहेन,—चर्माम्बर दम्भ लागि' परि।
चर्माम्बर-परिधाने संसार ना तरि॥१५९॥

१५९। प० अनु०—श्रीब्रह्मानन्द भारती विचार करने लगे कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने ठीक ही तो कहा है। मैं अभिमान के कारण ही इस चर्म अम्बर को धारण करता हूँ। केवल चर्म अम्बर पहनने से संसार से उद्धार तो नहीं हो सकता ना।

भारती का बहिर्वास-परिधान
और प्रभु के द्वारा प्रणाम—

आजि हैते ना परिब एइ चर्माम्बर।'
प्रभु बहिर्वास आनाइला जानिया अन्तर॥१६०॥
चर्माम्बर छाड़ि' ब्रह्मानन्द परिल वसन।
प्रभु आसि' कैल ताँर चरण वन्दन॥१६१॥

१६०-१६१। प० अनु०—इसलिये आज से मैं चर्म अम्बर को धारण नहीं करूँगा।" श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनके मन की बात को जानकर बहिर्वास मँगवा लिया और श्रीब्रह्मानन्द भारती ने चर्म अम्बर को त्यागकर बहिर्वास को पहन लिया। तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने आकर उनके श्रीचरणों की वन्दना की।

अनुभाष्य

१६०। बहिर्वास,—कौपीन के ऊपर पहना जाने वाला वस्त्र।

प्रभु के प्रणाम को ग्रहण करने में भारती की आपत्ति—

भारती कहे,—तोमार आचार लोक शिखाइते।
पुनः ना करिबे नति, भय पाङ चित्ते॥१६२॥

१६२। प० अनु०—श्रीब्रह्मानन्द भारती ने कहा—"यद्यपि आपका आचरण लोगों को शिक्षा देने के लिये ही होता है तथापि मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप पुनः मुझे कभी प्रणाम मत करना क्योंकि इससे मेरे मन में भय का संचार होता है।

अनुभाष्य

१६२। लोकशिक्षा के लिये ही आपका आचरण है; यदि आपके मन के अनुसार सदाचार पालन न करूँ, तो आप पुनः मुझे प्रणाम न करके मेरी उपेक्षा करेंगे,—इसलिए भयभीत हो रहा हूँ।

भारती का तत्त्व दर्शन—प्रभु और
जगन्नाथ में अभेद दर्शन—

साम्प्रतिक 'दुइ ब्रह्म' इहाँ 'चलाचल'।
जगन्नाथ—अचल, तुमि —ब्रह्म सचल॥१६३॥
तुमि—गौरवर्ण, तेंह—श्यामलवरण।
दुइ ब्रह्मे कैल सब जगत्-तारण॥१६४॥

१६३-१६४। प० अनु०—इस समय श्रीजगन्नाथ पुरी में चल और अचल—दो ब्रह्म विद्यमान हैं। श्रीजगन्नाथ अचल ब्रह्म और आप सचल ब्रह्म हैं। आप गौरवर्ण के और वे श्यामवर्ण के हैं। दोनों ब्रह्म (मिलकर) समस्त जगत् का त्राण कर रहे हैं।"

अमृतप्रवाह भाष्य

१६३। साम्प्रतिक,—वर्त्तमान काल में, इस पुरुषोत्तम में 'चल' और 'अचल' दो ब्रह्म देख रहा हूँ।

अनुभाष्य

१६३। श्रीजगन्नाथ-विग्रह,—अचल-ब्रह्म एवं आप श्रीचैतन्य महाप्रभु—सचल ब्रह्म है। आप दोनों ही माया-धीश चलाचल ब्रह्म वस्तु स्वरूप में अब श्रीपुरुषोत्तम में विराजमान हैं।

प्रभु के द्वारा उत्तर देना—

प्रभु कहे,—सत्य कहि, तोमार आगमने।
दुइ ब्रह्म प्रकटिल श्रीपुरुषोत्तमे॥१६५॥
'ब्रह्मानन्द' नाम तुमि—गौर-ब्रह्म 'चल'।
श्यामवर्ण जगन्नाथ बसियाछेन 'अचल'॥"१६६॥

१६५-१६६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उत्तर दिया—"मैं सच कह रहा हूँ कि आपके आने से श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र में दो ब्रह्म प्रकटित हो गये हैं। एक तो आप 'ब्रह्मानन्द' नामक गौरवर्ण के 'चल' ब्रह्म हैं और दूसरे श्यामवर्ण के श्रीजगन्नाथ 'अचल' ब्रह्म यहाँ पहले से ही विद्यमान हैं।

प्रभु और भारती दोनों के विचार
में सार्वभौम की मध्यस्थता—

भारती कहे,—सार्वभौम, मध्यस्थ हञा।
इँहार सने आमार 'न्याय' बुझ' मन दिया॥१६७॥

१६७। प० अनु०—श्रीब्रह्मानन्द भारती ने कहा—"हे सार्वभौम भट्टाचार्य! आप ही मध्यस्थ होकर इनके साथ

हो रहे मेरे वार्त्तालाप को ध्यानपूर्वक सुनिये तथा न्याय कीजिये।"

भारती के द्वारा जीव और ब्रह्म का विचार—

'व्याप्य'-'व्यापक'-भावे
'जीव'-'ब्रह्मे' जानि।
जीव—व्याप्य, ब्रह्म—व्यापक,
शास्त्रेते बाखा नि॥१६८॥

१६८। प० अनु—श्रीब्रह्मानन्द भारती ने कहा—"मैं जीव को व्याप्य (नियन्त्रित) और ब्रह्म को व्यापक (नियन्ता) के रूप में जानता हूँ, क्योंकि शास्त्रों में भी ऐसी ही व्याख्या की गयी है कि जीव व्याप्य और ब्रह्म व्यापक है।

स्वेच्छापूर्वक चालित कराने वाले इच्छाशक्ति के परिचालक प्रभु ही विभु अथवा विष्णु अथवा ब्रह्म, भारती ही जीव—

चर्म घुचाञा कैल आमारे शोधन।
दोंहार व्यापय-व्यापकत्वे, एइ त' कारण॥१६९॥

१६९। प० अनु—मेरे चर्म अम्बर को छुड़ाकर इन्होंने मेरा शोधन किया है अर्थात् इन्होंने नियन्ता होकर मुझे नियन्त्रित किया है क्योंकि मैं व्याप्य—जीव हूँ और ये व्यापक—ब्रह्म हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६७-१६९। इसके साथ आप मेरा विचार ध्यान पूर्वक सुनिये। ब्रह्म—व्यापक अर्थात् सर्वव्यापक; जीव—अणु अर्थात् ब्रह्म द्वारा व्याप्य। जिन्होंने चर्म छुड़ाकर मेरा शोधन किया है,—वे—व्यापक हैं एवं मैं—व्याप्य हूँ। इस स्थान पर ब्रह्मानन्द भारती रूपी मैं या फिर कृष्ण चैतन्य रूपी ये ही 'ब्रह्म' हुए, इसका विचार करके देखिए।

(महाभारत दानधर्म १२७ अ०,
विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्र ९२, ७५ संख्या)—

सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी।
संन्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठा-शान्ति-परायणः॥१७०॥

१७०। श्लोकानुवाद—सुवर्णवर्ण, गलित-हेम जैसा अङ्ग, सर्वांगसुन्दर गठन, चन्दनमाला शोभित—ये चार गृहस्थलीला में लक्षित हैं। संन्यासाश्रमी, हरि-रहस्यालोचनरूप शमगुण विशिष्ट, हरिकीर्तन-रूप महायज्ञ में दृढ़निष्ठ, केवलाद्वैतवादी अभक्त-निवृत्ति कारिणी शान्तिलब्ध महाभावपरायण—(ये चार संन्यास-लीला में लक्षित हैं।)

अनुभाष्य

१७०। आदि तृतीय परिच्छेद ४९ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु में ही उपरोक्त श्लोक का तात्पर्य निहित—

एइ सब नामेर ईँह हय निजास्पद।
चन्दनाक्त प्रसाद-डोर—द्विभुजे अङ्गद॥१७१॥

१७१। प० अनु—अमृतप्रवाह भाष्य द्रष्टव्य है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७१। 'सुवर्णवर्णः' श्लोक में जो सब नाम हैं, उनकी श्रीकृष्णचैतन्य ही आस्पद हैं अर्थात् उन्होंने उनमें ही स्थान प्राप्त किया है अर्थात् वे श्रीकृष्णचैतन्य में ही विद्यमान हैं। चन्दन से लिप्त प्रसादी डोर—उनकी दोनों भुजाओं में कङ्गन स्वरूप है।

सार्वभौम की मीमांसा—भारती की
जय और प्रभु की पराजय स्वीकार—

भट्टाचार्य कहे,—भारती, देखि तोमार जय।
प्रभु कहे,—जेइ कह, सेइ सत्य हय॥१७२॥

१७२। प० अनु—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"भारती! मुझे तो आपकी ही जीत दिखती है।" उनकी बात सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"आपने जो कहा वह सत्य ही है।

गुरु के समान भारती के समक्ष
शिष्य तुल्य प्रभु की पराजय—

गुरु-शिष्य-न्याये शिष्येर सत्य पराजय।
भारती कहे,—ए नहे, अन्य हेतु हय॥१७३॥

१७३। प॰ अनु॰—क्योंकि गुरु और शिष्य के विवाद में सत्य न्याय यही है कि शिष्य की ही पराजय होती है।" श्रीब्रह्मानन्द भारती ने कहा—"यह नही, बल्कि आपकी पराजय का अन्य कोई कारण है।

भारती के द्वारा उत्तर—भक्तों के
समक्ष भगवान् की पराजय—

भक्त ठाञि हार' तुमि,—ए तोमार स्वभाव।
आर एक शुन तुमि आपन प्रभाव॥१७४॥

१७४। प॰ अनु॰—यह आपका स्वभाव है कि आप अपने भक्तों के समक्ष अपनी पराजय स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त आप अपना एक और प्रभाव सुनिये।

प्रभु की अलौकिक महिमा का वर्णन भारती का
निर्विशेष-विचार चिद्विलास में परिवर्तित—

आजन्म करिनु मुञि 'निराकार'-ध्यान।
तोमा देखि' 'कृष्ण' हैल मोर विद्यमान॥१७५॥

१७५। प॰ अनु॰—मैंने अपने जीवन में सदैव निराकार का ही ध्यान किया है परन्तु जब से मैंने आपको देखा है, तब से अप्राकृत श्रीकृष्ण ही मेरे समक्ष आविर्भूत हुये हैं।

प्रभु की कृपा से भारती
को कृष्ण भक्ति की प्राप्ति—

कृष्णनाम स्फुरे मुखे, मने-नेत्रे कृष्ण।
तोमाके तद्रूप देखि' हृदय—सतृष्ण॥१७६॥

१७६। प॰ अनु॰—मेरे मुख में श्रीकृष्ण का नाम, मेरे मन में कृष्णनाम की स्फूर्ति एवं नेत्रों से श्रीकृष्ण के दर्शन हो रहे हैं। पुनः, आपमें श्रीकृष्ण के रूप का दर्शन करके हृदय भी सतृष्ण हो रहा है।

बिल्वमङ्गल के साथ तुलना—

बिल्वमंगल कैल येछे दशा आपनार।
इँह देखि' सेइ दशा हइल आमार॥१७७॥

१७७। प॰ अनु॰—विल्वमङ्गल ने जैसे अपनी दशा का वर्णन किया है मैं देख रहा हूँ कि मेरी भी बिल्कुल वैसी ही दशा हो रही है।"

अनुभाष्य

१७५-१७७। शिष्य के वाक्यों में सत्यता रहने पर भी गुरु वाक्य ही शिष्य के वाक्य के ऊपर जय प्राप्त करते हैं। गुरु वाक्य सब समय ही शिष्य के वाक्यों की अपेक्षा अधिक आदरणीय है। महाप्रभु ने कहा कि, उक्त न्याय के अनुसार ब्रह्मानन्द भारती ही गुरु एवं महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य स्वयं को उनका शिष्याभिमान करने के कारण ब्रह्मानन्द के वाक्यों ने ही जय प्राप्त की। किन्तु ब्रह्मानन्द ने इस विषय में महाप्रभु द्वारा कहे गये गुरु शिष्य-न्याय के आधार को ही अपनी पराजय का कारण स्वीकार नहीं किया; उसका एक और कारण है, उसे कहा। भगवान् भक्त के निकट पराजय स्वीकार करते हैं,—यही भगवत्ता का स्वभाव है; यथा भीष्मवाक्य (भा. १/९/३४)—"स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्त्तुम-वप्लुतो रथस्थः। धृतरथचरणोऽभ्ययाचलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोऽरीयः॥"

मैं सम्पूर्ण जीवन पर्यन्त निराकार-ब्रह्म ध्यान परायण था, आपके साक्षात्कार के फलस्वरूप अप्राकृत श्रीकृष्ण विग्रह मेरे समक्ष उदित हुआ है; मेरे मुख एवं मन में कृष्णनाम स्फुरित हो रहे हैं एवं नेत्रों से कृष्ण के दर्शन हो रहे हैं। फिर, तुममें कृष्ण रूप दर्शन करके हृदय भी तृष्णान्वित हुआ है। ठाकुर बिल्वमङ्गल पहले अद्वैतवादी निराकार-ब्रह्म-ध्यान परायण थे, बाद में कृष्ण भक्त होकर उन्होंने अपनी बात व्यक्त की है, मेरी भी आज वही दशा हुई है।

श्रीचैतन्यचन्द्रामृत में,—'कैवल्यं नरकायते *** यत्कारुण्यकटाक्षवैभववतां तं गौरमेव स्तुमः", "धिक् कुर्वन्ति च ब्रह्मयोगविदुषस्तं गौरचन्द्रं नुमः"; "तावद् ब्रह्मकथा विमुक्तपदवी तावन्न तिक्तीभवेतावच्चापि विशृङ्खलत्वमयते नो लोकवेदस्थितिः। तावच्छास्त्रविदां

मिथः कलकलो नाना-बहिर्वर्त्मसु श्रीचैतन्यपदाम्बुजप्रिय-जनो यावन्न दृग्गोचरः।।" "गौरश्चौरः सकलमहरत् कोऽपि मे तीव्रवीर्यः।"

कृष्ण की इच्छा मात्र से ही कर्म और ज्ञान की निष्ठा का ध्वंस—
(श्रीकृष्णकर्णामृत में बिल्वमङ्गल के वचन)—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः,
स्वानन्दसिंहासन-लब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन, दासीकृता
गोपवधूविटेन॥१७८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१७८। अद्वैत मार्ग के पथिकों के द्वारा उपास्य, और आत्मानन्द-सिंहासन से दीक्षा प्राप्त करने पर भी मैं किसी गोपवधू-लम्पट शठ द्वारा हठता पूर्वक दासी के रूप में परिणत हो गया हूँ।

दशम परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

१७८। अद्वैतवीथीपथिकैः (अद्वैतं स्वगत सजातीय-विजातीयभेदरहितम् एव वीथी पन्थाः तस्यां ये पथिकाः केवलाद्वैतवादिनः तैः निराकार ब्रह्मवादिभिः) उपास्याः (पूजनीयाः) स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः (आत्मानन्द एव सिंहासनम् उच्चपीठः तस्मिन् लब्धा प्राप्ता दीक्षा यैः एवम्भूताः योगमार्गरताः) वयं (अहं—गौरव- बहुवचन) केनापि शठेन (कपटेन्) गोपवधूविटेन (गोपी लम्पटेन् नन्दनन्दनेन) हठेन (बलात्कारेण) दासीकृताः (स्वदास्ये नियुक्ता इत्येक-वचनेनैव बोद्धव्यम्)।

प्रभु के द्वारा ब्रह्मानन्द भारती की 'महाभागवत' कहकर प्रशंसा—

प्रभु कहे,—कृष्णे तोमार गाढ़ प्रेमा हय।
जाँहा नेत्र पड़े ताँहा कृष्णस्फूर्त्ति हय॥१७९॥

१७९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"श्रीकृष्ण के प्रति आपका गाढ़ प्रेम है इसलिये जहाँ-जहाँ आपकी दृष्टि पड़ती है आपको वहाँ श्रीकृष्ण की ही स्फूर्त्ति होती है।

सार्वभौम के द्वारा कृष्णकृपा की महिमा की व्याख्या—

भट्टाचार्य कहे,—तोमार हय सत्य वचन।
आगे यदि कृष्ण देन साक्षात् दरशन॥१८०॥

१८०। प० अनु०—भट्टाचार्य ने कहा—"आपके वचन सत्य ही हैं। पहले नेत्रों के समक्ष यदि श्रीकृष्ण साक्षात् दर्शन प्रदान करते हैं तभी तो फिर सर्वत्र श्रीकृष्ण की स्फूर्ति होती है।

भक्त की प्रेम सेवा और भगवान् की कृपा का परस्पर मिलन अथवा योगसूत्र—

प्रेम बिना कभु नहे ताँर साक्षात्कार।
इँहार कृपाते हय दरशन इँहार॥१८१॥

१८१। प० अनु०—श्रीकृष्ण-प्रेम के बिना कभी भी श्रीकृष्ण का साक्षात्कार प्राप्त नहीं हो सकता। इन्हीं (श्रीचैतन्य महाप्रभु) की कृपा से ही इन्हें (ब्रह्मानन्द भारती को) ऐसा श्रीकृष्ण दर्शन स्फुरित हुआ है।

अनुभाष्य

१७९-१८१। श्रीमहाप्रभु ने कहा,—आप ब्रह्मानन्द भारती हैं—प्रेममय महाभागवत हैं, अतएव सर्वत्र आपको कृष्णदर्शन होगा, इसमें और कैसा सन्देह है? भट्टाचार्य दोनों में मध्यस्थ होकर बोले,—महाभागवत ब्रह्मानन्द भारती को जो कृष्णदर्शन हुआ है, महाप्रभु का यह वाक्य भी सत्य है, क्योंकि कृष्ण महाभागवतों के समक्ष ही साक्षात् दर्शन दिया करते हैं, किन्तु भक्तों के प्रेमाधिक्य के अतिरिक्त वैसे साक्षात्कार की सम्भावना नहीं है। पूर्ववर्ती 'इहार' शब्द का अर्थ—श्रीमहाप्रभु की कृपा से; परवर्ती 'इँहार' शब्द का अर्थ ब्रह्मानन्द भारती को, 'दर्शन' अर्थात् कृष्ण दर्शन हुआ है;—"प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्ति-विलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति"—(ब्रह्म संहिता पञ्चम अध्याय)।

बाह्य-जीव अभिमान हेतु प्रभु के
द्वारा सार्वभौम के वाक्य का अनादर—

प्रभु कहे,—'विष्णु' 'विष्णु', कि कह सार्वभौम।
'अतिस्तुति' हय एइ निन्दार लक्षण॥१८२॥

१८२। प० अनु०—यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"विष्णु! विष्णु! मेरी रक्षा करो। हे सार्वभौम! आप यह क्या कह रहे हैं? किसी की अधिक प्रशंशा करना भी निन्दा का ही दूसरा रूप होता है।"

अनुभाष्य

१८२। महाप्रभु सार्वभौम के वचन से लज्जित होकर 'विष्णु' 'विष्णु' शब्द उच्चारण करके बोले कि, किसी व्यक्ति की बहुत अधिक स्तुति करना वास्तव में उसकी निन्दा करना होता है।

ब्रह्मानन्द भारती को साथ लेकर
प्रभु का अपने स्थान पर आना—

एत बलि' भारतीरे लञा निज-वासा आइला।
भारती-गोसाञि प्रभुर निकटे रहिला॥१८३॥

१८३। प० अनु०—इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीब्रह्मानन्द भारती को अपने निवास स्थान पर ले आये और इस प्रकार भारती गोसाईं श्रीचैतन्य महाप्रभु के निकट ही रहने लगे।

प्रभु के एकान्तिक भक्त—(१) रामभद्र
(२) भगवान्—

रामभद्राचार्य, आर भगवान् आचार्य।
प्रभु-पदे रहिला दुँहे छाड़ि' सर्व कार्य॥१८४॥

१८४। प० अनु०—श्रीरामभद्राचार्य और श्रीभगवान् आचार्य भी अपने सब कार्यों को छोड़कर श्रीचैतन्य महाप्रभु की शरण में रहने लगे।

काशीश्वर का आगमन—

काशीश्वर गोसाञि आइला आर दिने।
सम्मान करिया प्रभु राखिला निज स्थाने॥१८५॥

१८५। प० अनु०—अगले दिन श्रीकाशीश्वर गोसाईं भी आ गये और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें सम्मानपूर्वक अपने पास रख लिया।

अनुभाष्य

१८४-१८५। रामभद्राचार्य,—आदि, दशम परिच्छेद १४८ संख्या द्रष्टव्य।

भगवान् आचार्य,—आदि, दशम परिच्छेद १३६ संख्या द्रष्टव्य।

काशीश्वर,—आदि, अष्टम परिच्छेद ६६ संख्या का अनुभाष्य द्रष्टव्य। मुरारि-कड़चा—"अथ भक्तगणाः सर्वे ये ये गौड़निवासिनः। गन्तमिच्छन्ति गौराङ्ग दर्शनाय नीलाचलम्॥ श्रीकाशीश्वर गोस्वामी" इत्यादि।

दशम परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

बलवान काशीश्वर का प्रभु की
सेवा में बल का सद् व्यवहार—

प्रभुके लञा करा'न ईश्वर दरशन।
लोक-भिड़ आगे सब करि' निवारण॥१८६॥

१८६। प० अनु०—श्रीकाशीश्वर पण्डित श्रीचैतन्य महाप्रभु को श्रीजगन्नाथ मन्दिर में ले जाकर भगवान् श्रीजगन्नाथ का दर्शन कराते थे। यदि श्रीचैतन्य महाप्रभु के सामने लोगों की भीड़ होती तो श्रीकाशीश्वर पण्डित उस भीड़ को हटाकर प्रभु के चलने की सुविधा कर देते थे।

प्रभु के साथ सभी भक्तों
के मिलन की उपमा—

जत नद नदी जैछे समुद्रे मिलय।
ऐछे महाप्रभुर भक्त जाहाँ ताँहा हय॥१८७॥
सबे आसि' मिलिला प्रभुर श्रीचरणे।
प्रभु कृपा करि' सबाय राखिल निज-स्थाने॥१८८॥

१८७-१८८। प० अनु०—(श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कह रहे हैं—) जिस प्रकार समस्त

नदियाँ आकर समुद्र में मिलती हैं उसी प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्त जहाँ कहीं भी रहते थे, वे सब आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्रीचरणों में उपस्थित हुये और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कृपापूर्वक उन सबको अपने वास स्थान पर रख लिया।

प्रभु के साथ भक्त-मिलन के
संवाद का वर्णन समाप्त—

एइ त' कहिल प्रभुर वैष्णव-मिलन।
इहा जेइ शुने, पाय चैतन्य चरण॥१८९॥

श्रीरूप-रघुनाथ-पदे जार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥१९०॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्यखण्ड में सर्ववैष्णव-मिलन नामक दशम परिच्छेद समाप्त।

१८९-१९०। प० अनु०—यहाँ तक मैंने श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ वैष्णवों के मिलन की कथा का वर्णन किया है। इसे जो भी श्रवण करता है, उसे श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्रीचरणकमलों की प्राप्ति होती है। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

एकादश परिच्छेद

कथासार—जब सार्वभौम ने प्रतापरुद्र का महाप्रभु के साथ मिलन कराने की चेष्टा की, तब महाप्रभु ने उसे अस्वीकार कर दिया। रामानन्द राय ने पुरुषोत्तम में आकर महाप्रभु के साथ साक्षात्कार करके राजा के बहुत प्रकार के वैष्णव गुण की व्याख्या की, जिससे प्रभु का चित्त परिवर्त्तित हो गया। सार्वभौम के निकट राजा ने अपनी दैन्यपूर्ण प्रतिज्ञा ज्ञापित की। सार्वभौम ने राजा को महाप्रभु के चरण-दर्शन का एक उपाय बता दिया। अनवसर काल आने पर भगवद् दर्शन के विरह में व्याकुल होकर महाप्रभु आलालनाथ चले गये, कुछ समय बाद गौड़ से सभी भक्तों के आगमन के विषय में सुनकर महाप्रभु पुरुषोत्तम लौट आये। श्रीअद्वैत आदि भक्तों के आने के समय स्वरूप और गोविन्द महाप्रभु द्वारा दी गई मालाओं को लेकर उन्हें लाने गये। राजा अट्टालिका से वैष्णवों को आते हुए देखने लगे। सार्वभौम की इच्छानुसार श्रीगोपीनाथ आचार्य ने इन सब वैष्णवों का परिचय दिया। सार्वभौम के साथ राजा का श्रीचैतन्य के कृष्ण होने और समागत वैष्णवों के मुण्डन-उपवास आदि को परित्याग कर प्रसादान्न-सेवन के सम्बन्ध में अनेक विचार उपस्थित हुए। इसके उपरान्त राजा ने वैष्णवों के रहने के स्थान और प्रसादान्न आदि की व्यवस्था कर दी। महाप्रभु ने वासुदेव दत्त आदि वैष्णवों के साथ अनेक आनन्द जनक वार्त्तालाप किया। हरिदास का दैन्य देखकर महाप्रभु ने बगीचे में उसे एक एकान्त स्थान प्रदान किया एवं हरिदास की महिमा बतलायी। उसके बाद जगन्नाथ के मन्दिर में चार सम्प्रदाय विभाग करके महासंकीर्त्तन हुआ। (तदुपरान्त) वैष्णवगण प्रभु की आज्ञा से अपने-अपने स्थान पर चले गये।

(अः प्रः भाः)

नृत्यशील श्रीगौर के द्वारा विश्व का प्रेम की बाढ़ में निमज्जन—

अत्युद्दण्डं ताण्डवं गौरचन्द्रः
कुर्वन् भक्तैः श्रीजगन्नाथगेहे।
नानाभावालङ्कृताङ्गः स्वधाम्ना।
चक्रे विश्वं प्रेमवन्या-निमगनम्॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। श्रीजगन्नाथ के गृह (मन्दिर) में भक्तों के साथ बहुत प्रकार के भावों से अलंकृत शरीर वाले श्रीगौरचन्द्र ने अत्यधिक उद्दण्ड नृत्य करके अपने माधुर्य द्वारा इस विश्व को प्रेम की बाढ़ में डुबाया था।

अनुभाष्य

१। नानाभावालंकृताङ्गः (विविधभावाभरणमण्डित-देहः) गौरचन्द्रः श्रीजगन्नाथ गेहे (श्रीजगन्नाथदेवस्य मन्दिरे) भक्तैः (सह) स्वधाम्ना (अलौकिक-स्वमाधुर्येण) अत्युद्दण्डं ताण्डवं (अति मनोज्ञ नृत्यादिक) कुर्वन् विश्वं (चिद्रसहीनं जड़रसपरं भुवन) प्रेमवन्या-निमग्नं चक्रे (कृष्णप्रेमतरङ्गै प्लावयामास)।

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो एवं श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो।

सावभौम की प्रभु के समक्ष कुछ निवेदन करने की इच्छा—

आर दिन सार्वभौम कहे प्रभुस्थाने।
अभय-दान देह' यदि, करि निवेदने॥३॥

३। प॰ अनु॰—अगले दिन श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से कहा—"यदि आप अभय प्रदान

करें तो मैं आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।"

प्रभु के द्वारा अनुमति प्रदान—

प्रभु कहे,—कह तुमि, नाहि किछु भय।
योग्य हैले करिब, अयोग्य हैले नाय॥४॥

४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य से कहा—"आप जो कहना चाहते हैं कहिये, किसी भी प्रकार के भय की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि आपकी बात पालन करने योग्य होगी तो उसका अवश्य ही पालन करूँगा अन्यथा नहीं।

प्रतापरुद्र का पक्ष लेकर सार्वभौम के द्वारा प्रभु की कृपा की याचना—

सार्वभौम कहे,—एइ प्रतापरुद्र राय।
उत्कण्ठा हञाछे, तोमा मिलिबारे चाय॥५॥

५। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"प्रतापरुद्र आपसे मिलने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहे हैं।"

राजदर्शन करने में प्रभु की असम्मति और वितृष्णा—

कर्णे हस्त दिया प्रभु स्मरे 'नारायण'।
सार्वभौम, कह केन अयोग्य वचन?॥६॥

६। प० अनु०—यह सुनते ही श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने कानों को हाथों से ढ़क करके भगवन् श्रीनारायण का स्मरण करते हुये कहा—"हे सार्वभौम! आप ऐसी अनुचित बात क्यों कह रहे हैं?

संन्यासी का धर्म—

विरक्त संन्यासी आमार राज-दरशन।
स्त्री-दरशन-सम विषेर भक्षण॥७॥

७। प० अनु०—मैं एक विरक्त संन्यासी हूँ। मेरे लिये राजा का दर्शन और स्त्री का दर्शन विष पान करने के समान है।"

प्रेम आकाँक्षी व्यक्ति के लिये भोक्ताभाव से भोग्य वस्तु का दर्शन बिल्कुल निषिध—
(श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक ८/२४ में सार्वभौम के प्रति प्रभु के वचन—

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।
सन्दर्शनं विषयिणामथ योषिताञ्च
हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु॥८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८। श्रीचैतन्यदेव ने खेद के साथ कहा—हाय! भव-सागर को सम्पूर्ण रूप से पार होने की जिनकी इच्छा है, ऐसे भगवद् भजनोन्मुख निष्किञ्चन व्यक्ति के लिये विषयी और स्त्री का सन्दर्शन विष भक्षण की अपेक्षा अधिक अकल्याणकारी है।

अनुभाष्य

८। हा हन्त हन्त (खेदातिशय्ये) भव-सागरस्य (संसार-समुद्रस्य) परं पारं (देवीधामतीतं परव्योम भगवद्धाम) जिगमिषोः (गन्तुकामस्य) निष्किञ्चनस्य (निर्विषयिनः) भगवद्भजनोन्मुखस्य (कृष्णसेवापरस्य) विषयिणां (कृष्णेतरविषयभोगपराणा) अथ योषितां (भोग्यानां च) सन्दर्शनं (भोग्यबुद्ध्या अवलोकनादिक) विषभक्षणतः (आत्म विनाशक-गरल सेवनात्) अपि असाधु (अकल्याणकरम्)।

भट्टाचार्य के द्वारा राजा की प्रशंसा—

सार्वभौम कहे,—सत्य तोमार वचन।
जगन्नाथ-सेवक राजा, किन्तु भक्तोत्तम॥९॥

भोगमय नेत्रों से कनक और प्रतिष्ठा के भोक्ता राजा और कामिनी का दर्शन रूपी सङ्ग ही भगवद्-वैमुख्य रूप-मृत्युजनक—

प्रभु कहे,—तथापि राजा कालसर्पाकार।
काष्ठनारी-स्पर्शे जैछे उपजय विकार॥१०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९-१०। सार्वभौम ने कहा,—प्रभो, आपने जो कहा, यद्यपि वह सत्य है, किन्तु राजा प्रतापरुद्र देव—जगन्नाथ-सेवक एवं उत्तम भक्त हैं। प्रभु ने कहा—जगन्नाथ-सेवक और उत्तम भक्त होने पर भी 'राजा'—काल सर्पाकार है। देखो, लकड़ी की बनी नारी को स्पर्श करने से जैसे किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो सकता है, उसी प्रकार उत्तम भक्त राजा के सन्दर्शन से भी विरक्त व्यक्ति में अनर्थ उत्पन्न हो सकता है।

भोक्ता बनकर भोग्य ज्ञान से वस्तु के बाहरी दर्शन से ही द्वितीयाभिनिवेश युक्त भय की उत्पत्ति—
(श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक ८/२५)—

आकारादपि भेतव्यं स्त्रीणां विषयिणामपि।
यथाहेर्मनसः क्षोभस्तथा तस्याकृतेरपि॥११॥

अमृतप्रवाह भाष्य

११। जिस प्रकार साँप और उसकी आकृति देखने से मन में क्षोभ उत्पन्न होता है, उसी प्रकार स्त्री और विषयी का आकार देखने पर भी भय हुआ करता है।

अनुभाष्य

११। स्त्रीणां (योषितां) विषयिणाम् (इन्द्रिय-सेविनां), (भोक्तृभोग्यानामिति यावत्) अपि आकारत् (बहिराकृतेरपि कृष्णैकसेविभिः परमार्थपरैः साधकैः जनैः) अपि भेतव्यम्। यथा अहेः (भुजङ्गात्) मनसः (भयं) भवति, तथा तस्य (सर्पस्य) आकृतेः (सदृशाकारात्) अपि (भयं भवति)।

जगद्‌गुरु लोक शिक्षक प्रभु का कठोर संकल्प, आश्रम की मर्यादा का रक्षण और सार्वभौम का तिरस्कार—

ऐछे बात पुनरपि मुखे ना आनिबे।
कह यदि, तबे आमाय एथा ना देखिबे॥१२॥

१२। प॰ अनु॰—आप ऐसी बात फिर कभी अपने मुख में मत लाना और यदि कहोगे तो मुझे यहाँ नहीं देखोगे।"

सार्वभौम का दुःखी मन से जाना—

भय पाञा सार्वभौम निज घरे गेला।
बासाय गिया भट्टाचार्य चिन्तित हइला॥१३॥

१३। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की बात सुनकर श्रीसार्वभौम भयभीत होकर अपने घर चले गये और वहाँ श्रीभट्टाचार्य इस विषय पर बहुत विचार करने लगे।

कटक से रामानन्द आदि परिकरों के साथ राजा का पुरी में आगमन—

हेनकाले प्रतापरुद्र पुरुषोत्तमे आइला।
पात्र-मित्र-सङ्गे राजा दरशने चलिला॥१४॥

१४। प॰ अनु॰—इस घटना के एकदम बाद ही महाराज प्रतापरुद्र पुरुषोत्तम क्षेत्र में आ गये तथा वे अपने मन्त्रियों और मित्रों आदि के साथ भगवान् श्रीजगन्नाथ का दर्शन करने के लिये चल पड़े।

अनुभाष्य

१४। गङ्गावंशीय प्रतापरुद्र राजा की राजधानी कट्टक-नगर थी। बाद में कट्टक से खुर्दा में राजधानी स्थानान्तरित हुयी थी।

प्रभु और रामानन्द का मिलन—

रामानन्द राय आइला गजपति-सङ्गे।
प्रथमेइ प्रभुरे आसि' मिलिला बहुरङ्गे॥१५॥

१५। प॰ अनु॰—श्रीरामानन्द राय भी गजपति (राजा) के साथ श्रीजगन्नाथ पुरी आ गये और वे अत्यधिक प्रेमपूर्वक सबसे पहले आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिले।

राय का प्रणाम, प्रभु का आलिङ्गन, दोनों का प्रेम-क्रन्दन—

राय प्रणति कैल, प्रभु कैल आलिङ्गन।
दुइजने प्रेमावेशे करेन क्रन्दन॥१६॥

१६। प॰ अनु॰—श्रीरामानन्द राय ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को प्रणाम किया और महाप्रभु ने उन्हें आलिङ्गन किया। दोनों ही प्रेम में आविष्ट होकर क्रन्दन करने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५। गजपति,—जिस प्रकार अन्यान्य किसी-किसी विशेष राजाओं के 'छत्रपति', 'नरपति', 'अश्वपति' इत्यादि पदवियाँ थी, उसी प्रकार 'गजपति' उड़ीसा के सम्राटों की उपाधि थी।

राय के प्रति प्रभु के आचरण को देखकर सभी को आश्चर्य—

राय-सङ्गे प्रभुर देखि' स्नेह-व्यवहार।
सर्व भक्तगणेर मने हैल चमत्कार॥१७॥

१७। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय के साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु के ऐसे स्नेहपूर्ण व्यवहार को देखकर सभी भक्तों के मन में आश्चर्य हुआ।

राय के द्वारा अपने राजकार्य को परित्याग करने के संवाद का ज्ञापन—

राय कहे,—तोमार आज्ञा राजाके कहिल।
तोमार आज्ञाय राजा मोर विषय छाड़ाइल॥१८॥

१८। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय ने कहा—"मैंने आपके (राजकार्य से मुक्त होकर नीलाचल आ जाने के) आदेश के विषय में जब राजा से कहा तब आपकी इच्छा के विषय में जानकर राजा ने मुझे उन कार्यों से मुक्त कर दिया है।

अनुभाष्य

१८। तोमार आज्ञा (आपकी आज्ञा),—मध्य अष्टम परिच्छेद २९७-२९८ संख्या द्रष्टव्य। यह बात रामानन्द राय ने जब प्रतापरुद्र राजा को कही, तब महाप्रभु के अभिप्राय के अनुसार राजा प्रतापरुद्र ने लौकिक दृष्टि से रामानन्द राय के विषय को छुड़वा दिया अर्थात् उस कार्य से उन्हें अवसर (छुट्टी) प्रदान किया।

राजा के समक्ष राय को अवसर प्रदान करने की प्रार्थना—

आमि कहि,—आमा हैते ना हय 'विषय'।
चैतन्यचरणे रहों, यदि आज्ञा हय॥१९॥

१९। प० अनु०—मैंने राजा प्रतापरुद्र से कहा—"अब मुझसे यह विषयों से सम्बन्धित कार्य नहीं होते हैं इसलिये आप मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं श्रीचैतन्य चरणों में जाकर रहूँ।

राजा के द्वारा आनन्दपूर्वक सम्मति प्रदान—

तोमार नाम शुनि' राजा आनन्दित हैल।
आसन हैते उठि' मोरे आलिङ्गन कैल॥२०॥

२०। प० अनु०—आपका नाम सुनकर महाराज प्रतापरुद्र बहुत आनन्दित हुए और उन्होंने अपने आसन से उठकर मेरा आलिङ्गन किया।

प्रभु के प्रति राजा की भक्ति—

तोमार नाम शुनि' हैल महा-प्रेमावेश।
मोर हाते धरि' करे पिरीति विशेष॥२१॥

२१। प० अनु०—आपका नाम सुनकर महाराज प्रतापरुद्र तो अत्यधिक प्रेमाविष्ट हो गये और उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर मुझसे बहुत अधिक प्रेमपूर्वक व्यवहार किया।

राजा के द्वारा राय को कार्य से मुक्त करने पर भी वेतन प्रदान—

तोमार जे वर्तन, तुमि खाओ सेइ वर्तन।
निश्चिन्ति हञा भज चैतन्येर चरण॥२२॥

२२। प० अनु०—तुम्हारा जो वेतन है वह तुम्हें मिलता रहेगा। अतएव तुम निश्चिन्त होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्रीचरणों की सेवा करो।

अमृतप्रवाह भाष्य

२२। दक्षिण कलिङ्ग शासन कर्तृत्व पद पर आप जो वेतन अर्थात् परिश्रम करने के बदले धन अथवा वेतन प्राप्त करते थे, अब कार्य से छुट्टी देने पर भी, तुम्हें वही वेतन ही प्राप्त होगा।

राजा की दीनता—

आमि—छार, योग्य नहि ताँर दरशने।
ताँरे जेइ भजे, ताँर सफल जीवने॥२३॥

परम कृपालु तेंह व्रजेन्द्रनन्दन।
कोन-जन्मे मोरे अवश्य दिबेन दरशन॥२४॥

२३-२४। प० अनु०—महाराज प्रतापरुद्र ने दैन्य-पूर्वक और भी कहा—"मैं तो दुर्भागा हूँ इसलिये श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शन करने के भी योग्य नहीं हूँ। परन्तु जो उनका भजन करता है उसी का ही जीवन सार्थक है। श्रीचैतन्य महाप्रभु परम कृपालु तथा साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन हैं। किसी-न-किसी जन्म में वे मुझे भी अवश्य ही दर्शन देंगे।"

राय के द्वारा प्रभु के समक्ष राजा की प्रशंसा—
"जे ताँहार प्रेम-आर्त्ति देखिलूँ तोमाते।
तार एक प्रेम-लेश नाहिक आमाते॥२५॥

२५। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से कहा—"मैंने महाराज प्रतापरुद्र की आपके प्रति जैसी प्रेम उत्कण्ठा देखी है, वैसा प्रेम लेश मात्र भी मुझमें नहीं है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

२५। रामानन्द ने कहा,—प्रभो! मैंने आपके प्रति राजा की जो प्रेम वेदना देखी है, उसका लेशमात्र भी मुझमें नहीं है।

शुद्धवैष्णव के प्रति प्रीति हेतु प्रभु के द्वारा राजा को भावी-कृपा-प्रदान करने का इङ्गित—
प्रभु कहे,—तुमि कृष्णभक्त-प्रधान।
तोमाके जे प्रीति करे, सेइ भाग्यवान्॥२६॥
तोमाते जे एत प्रीति हइल राजार।
एइ गुणे कृष्ण ताँरे करिबे अङ्गीकार॥२७॥

२६-२७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीरामानन्द राय से कहा—"आप श्रीकृष्ण-भक्तों में प्रधान है, इसलिये आपसे जो प्रीति करता है वे अत्यधिक सौभाग्यशाली है। आपके प्रति राजा की जो इतनी प्रीति उत्पन्न हुई है उसके इसी गुण के कारण श्रीकृष्ण उन्हें अवश्य स्वीकार करेंगे।"

भक्तों के भक्त ही भगवद् भक्त—लघुभागवतामृत—(२१६) (आदिपुराण वचन)—
ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः॥२८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२८। हे पार्थ, जो केवल मेरे ही भक्त है, वे वास्तव में मेरे भक्त नहीं है; किन्तु जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, उन्हें ही मैं अपना 'उत्तम भक्त' समझता हूँ।

अनुभाष्य

२८। हे पाथ, (अर्जुन) ये मे (मम) भक्तजनाः ते मे (मम) भक्ताः जनाः न (भवति); ये च मद्भक्तानाम् (एव) भक्ताः, ते मे (मम) भक्ततमाः (श्रेष्ठ सेवकाः इति मयैव) मताः (सम्मताः)।

शुद्धभक्तों की क्रिया—
श्रीमद्भागवत (११/१९/२१-२२)—
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥२९॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मर्य्यपणञ्च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥३०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२९-३०। मेरी परिचर्या (सेवा) का आदर, सर्वाङ्ग द्वारा अभिवन्दन, मेरे भक्तों की विशेष पूजा, सभी जीवों में मुझसे सम्बन्धित बुद्धि, मेरे लिये अखिल चेष्टा, वाक्य द्वारा मेरे गुणों की व्याख्या, मुझमें मन अर्पित करना एवं सब प्रकार के विषय भोगों की वासना परित्याग यह सब भक्तों के लक्षण हैं।

अनुभाष्य

२९-३०। श्रीउद्धव द्वारा भगवद् भक्ति योग के विषय में जानने के लिये जिज्ञासा करने पर भगवान् की उक्ति—

(भक्तियोगं तुभ्यं पुनश्च कथयिष्यामीत्याह—मम) परिचर्यायां (सेवायाम्) आदरः, सर्वाङ्गै (अङ्गप्रत्य-ङ्गाद्यैः) अभिवन्दनं, मतः अभ्यधिका (श्रेष्ठा) मद्भक्त-

पूजा, सर्वभूतेषु (प्राणिमात्रेषु) मन्मतिः (भगवद्भव-दर्शनम्)।

मदर्थेषु च (कृष्णकतात्पर्येषु) कार्येषु अङ्ग चेष्टा (अखिल चेष्टा), वचसा (वाक्यद्वारेण) मद्गुणैरणं (कृष्ण-गुण कथन) मनसः मयि (कृष्णे) अर्पणं (समर्पण), सर्वकामविवर्जनम् (मनसः कृष्णेत्तर विषय भोग-वासना परित्यागः)।

सर्वेश्वर विष्णु की पूजा की अपेक्षा वैष्णव पूजा श्रेष्ठ—
लघुभागवतामृत (२/४)
(पद्मपुराण में पार्वती के प्रति शिववाक्य)—

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥३१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३१। हे देवि, अन्यान्य देवताओं की आराधना की अपेक्षा विष्णु की आराधना ही श्रेष्ठ हैं, विष्णु की आराधना की अपेक्षा भक्तों का अर्चन श्रेष्ठ है।

अनुभाष्य

३१। हे देवि, सर्वेषां आराधनानाम् (उपासनानां मध्ये) विष्णोः (भगवतः कृष्णचन्द्रस्य) आराधनं (पूजन) परं (श्रेष्ठ); तस्मात् (श्रीकृष्णोपासनात् अपि) तदीयानां (मधुर रसे श्रीरूप-वार्षभानव्यादीनां, वात्सल्ये नन्द-यशोदादीनां, सख्ये श्रीदाम-सुबलादीनां, दास्ये चित्र कादीना), समर्चनं (दृढ़पूजन) परतरं (प्रशस्यतरम्)।

शुद्धभक्त की सेवा बहुत सुकृति से प्राप्त—
श्रीमद्भागवत (३/१/२०)—

दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु।
यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवा जनार्दनः॥३२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

३२। देवदेव जनार्द्दन का जो नित्य गान करते हैं, उन वैकुण्ठ पथ पर चलने वाले कृष्णदासों की सेवा अल्प तपस्यावान् व्यक्ति के लिये अप्राप्य है।

अनुभाष्य

३२। महाभागवत श्रीमैत्रेय ऋषि की हरिकथा के कीर्त्तन के फल से विदुर के संशय छिन्न होने पर विदुर द्वारा हरिभक्तों के गुण रूपी माहात्म्य का कीर्त्तन—

यत्र (येषु महत्सु साधुषु) नित्यं (सर्वदा) देवदेवः (सर्वदेवमयः) जनार्द्दनः (कृष्णः) उपगीयते, तत्र (तेषु) वैकुण्ठवर्त्मसु (वैकुण्ठस्य श्रीकृष्णस्य वैकुण्ठ लोकस्य वा, वर्त्मसु मार्गभूतेषु हरिजनेषु) सेवा—अल्पतपसः (क्षीण पुण्य जनस्य) दुरापा (दुर्लभा) हि (एव)। [महत् सेवयैव हरिकथा श्रवणं, ततो हरौ प्रेम, तेन च देहाद्यनुसन्धानमपि निवर्त्तते इति तात्पर्यम्।] "भक्तिस्तु भगवद्भक्तसङ्गेन परिजायते। सत्सङ्ग प्राप्यते पुंभिः सुकृतैः पूर्वसञ्चितैः॥" एवं "महाप्रसादे गोविन्दे नाम ब्रह्मणि वैष्णवे। स्वल्प-पुण्यवतां राजन् विश्वासौ नैव जायते॥"—(पद्म- पुराण) इस प्रसंग में आलोच्य हैं।

राय के द्वारा सभी भक्तों
को यथा योग्य सम्मान—

पुरी, भारती-गोसाञि, स्वरूप, नित्यानन्द।
जगदानन्द, मुकुन्दादि जत भक्तवृन्द॥३३॥
चारि गोसाञिर कैल राय चरण वन्दन।
यथायोग्य सब भक्तेर करिल मिलन॥३४॥

३३-३४। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय ने श्रीपरमानन्द पुरी, श्रीब्रह्मानन्द भारती, श्रीस्वरूप दामोदर और श्रीनित्यानन्द प्रभु के श्रीचरणकमलों की वन्दना की और श्रीजगदानन्द पण्डित तथा श्रीमुकुन्द आदि अन्यान्य जितने भी भक्त उपस्थित थे उनके साथ वे यथायोग्य मिले।

अमृतप्रवाह भाष्य

३३-३४। पुरी,—परमानन्द पुरी। भारती,—ब्रह्मानन्द भारती। स्वरूप,—प्रसिद्ध दामोदर-स्वरूप। नित्यानन्द, —प्रभु नित्यानन्द; रामानन्द ने इन चारों गोसाइयों के चरणों की वन्दना की।

श्रीजगन्नाथ के दर्शन करने के लिये राय को आदेश—

प्रभु कहे,—राय, देखिले कमलनयन?
राय कहे,—एबे जाइ 'पाब दरशन॥३५॥

३५। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"राय! क्या आपने कमल सदृश नेत्रों वाले श्रीजगन्नाथ का दर्शन किया है?" श्रीरामानन्द राय ने उत्तर दिया—"इस समय जाने पर भी दर्शन प्राप्त होंगे।"

जगन्नाथ का दर्शन न करके पहले प्रभु के दर्शन करने के कारण की जिज्ञासा—

प्रभु कहे,—राय, तुमि कि कार्य करिले?
ईश्वरे ना देखि' केने आगे हेथा आइले?३६॥

३६। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"हे राय! आपने यह कैसा कार्य किया? भगवान् श्रीजगन्नाथ का दर्शन न करके आप पहले यहाँ क्यों आ गये?"

राय का उत्तर—

राय कहे, चरण—रथ, हृदय—सारथि।
जाहाँ लञा जाय, ताँहा जाय जीव-रथी॥३७॥
आमि कि करिब, मन इँहा लञा आइल।
जगन्नाथ-दरशने विचार ना कैल॥३८॥

३७-३८। प॰ अनु॰—श्रीरामानन्द राय ने कहा—"प्रभु! चरण रथ है और हृदय इस रथ का सारथी। जहाँ हृदय रूपी सारथी ले जाता है वहीं पर जीव रूपी रथ पर सवार व्यक्ति जाता है। मैं क्या करूँ मेरा मन ही मुझे यहाँ ले आया। मेरे मन ने श्रीजगन्नाथ के दर्शन का विचार ही नहीं किया।

अनुभाष्य

३७-३८। जीव—रथ पर आरोहण करने वाले के समान, जीव के चरण—रथ के समान और जीव का मन—रथ चालक सारथि के समान। अतएव मन रूपी सारथि जीव रूपी आरोही (यात्री) को चरण रूपी रथ के संयोग से जहाँ ले जाता है, वही जीव गमन करता है।

कठोपनिषद तृतीय वः ३-६, ९—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुमनीषिणः॥ यस्तृविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥ यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा सारथेः॥ ** विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रह वान्नरः। सोऽधवनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥"

राय को जगन्नाथ एवं स्वजनों के दर्शन का आदेश—

प्रभु कहे,—शीघ्र गिया कर दरशन।
ऐछे घर जाइ' कर कुटुम्ब मिलन॥३९॥

३९। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"अब शीघ्र जाकर भगवान् श्रीजगन्नाथ का दर्शन करो और वहाँ से घर जाकर अपने परिवार के सदस्यों से मिलो।

राय के द्वारा प्रभु की आज्ञा का पालन—

प्रभु आज्ञा पाञा राय चलिला दरशने।
रायेर प्रेमभक्ति-रीति बुझे कोन् जने॥४०॥

४०। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के आदेश से श्रीरामानन्द राय श्रीजगन्नाथ का दर्शन करने चले गये। श्रीरामानन्द राय की प्रेमभक्ति की रीति को कौन समझ सकता है।

सार्वभौम को बुलकार राजा की अपने प्रति प्रभु की कृपा-प्राप्ति के विषय में जिज्ञासा—

क्षेत्रे आसि' राजा सार्वभौमे बोलाइला।
सार्वभौमे नमस्करि' ताँहारे पुछिला॥४१॥
मोर लागि' प्रभुपदे कैले निवेदन?
सार्वभौम कहे,—कैनु अनेक यतन॥४२॥

४१-४२। प॰ अनु॰—नीलाचल में आकर महाराज प्रतापरुद्र ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को अपने पास बुलवाया। श्रीसार्वभौम के आने पर महाराज प्रतापरुद्र ने उन्हें प्रणाम किया और उनसे पूछा—"क्या आपने मेरे लिये श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों में प्रार्थना की है?"

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"मैंने बहुत प्रयत्न किया है।

सार्वभौम के द्वारा प्रभु की दृढ़
और अचल वितृष्णा का ज्ञापन—

तथापि ना करे तेंह राज-दरशन।
क्षेत्र छाड़ि' जाबेन पुनः यदि करि निवेदन॥४३॥

४३। प॰ अनु॰—फिर भी श्रीचैतन्य महाप्रभु राजा का दर्शन नहीं करना चाहते और उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि यदि मैं उनसे पुन: निवेदन करूँगा तो वे नीलाचल क्षेत्र को छोड़कर चले जायेंगे।"

राजा का गम्भीर रूप से विलाप और खेदपूर्ण उक्ति—

शुनिया राजार मने दुःख उपजिला।
विषाद करिया किछु कहिते लागिला॥४४॥
पापी-नीच उद्धारिते ताँर अवतार।
जगाई माधाई करियाछेन उद्धार॥४५॥
प्रतापरुद्र छाड़ि' करिबे जगत्-निस्तार।
एइ प्रतिज्ञा करि' करियाछेन अवतार॥४६॥

४४-४६। प॰ अनु॰—यह सुनकर महाराज प्रतापरुद्र के मन में बहुत दु:ख उत्पन्न हुआ और वे विलाप करते हुये कहने लगे—"पापी और नीच लोगों का उद्धार करने के लिये ही श्रीचैतन्य महाप्रभु का अवतार हुआ है, उन्होंने जगाई और माधाई तक का भी उद्धार किया है। केवलमात्र प्रतापरुद्र को छोड़कर समस्त जगत् का उद्धार करेंगे। क्या ऐसी प्रतिज्ञा लेकर ही वे अवतरित हुए हैं।

(श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक ८/२९ श्लोक
में सार्वभौम के प्रति प्रतापरुद्र के वचन)—

अदर्शनीयानपि नीचजातीन्
संरीक्षते हन्त तथापि नो माम्।
मदेकवर्जं कृपयिष्यतीति निर्णीय
किं सोऽवततार देवः॥४७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

४७। अदर्शनीय नीज जाति के लोगों को दर्शन दे रहे हैं, तथापि मुझे दर्शन नहीं देंगे! मेरे अतिरिक्त और सब पर कृपा करेंगे, यही निश्चय करके ही क्या वे अवतीर्ण हुए हैं?

अनुभाष्य

४७। अदर्शनीयान् (द्रष्टुमनर्हान्) नीच जातीन (नीचकुलोद्भुतान् अधमवृत्ति जीवनान्) अपि संरीक्षते (करुणया अवलोकयति, कृपयति); तथापि, हन्त (खेदे) मां न (वीक्षते); मदेकवर्ज्यं (मामेकं त्यक्त्वा अन्यं सर्व) कृपयिष्यति इति निर्णीय (स्थिरीकृत्य) किं सः देवः (गौरहरिः) भुवि अवततार (प्रकटोऽभूत)

प्रभु की कृपा को न पाकर राजा
द्वारा प्राण त्यागने का संकल्प—

ताँर प्रतिज्ञा—मोरे ना करिबे दरशन।
मोर प्रतिज्ञा—ताँहा बिना छाड़िब जीवन॥४८॥
यदि सेइ महाप्रभुर ना पाइ कृपा-धन।
किबा राज्य, किबा देह,—सब अकारण॥"४९॥

४८-४९। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की प्रतिज्ञा है कि वे मेरा मुख नहीं देखेंगे तथा मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं उनके दर्शन के बिना अपना जीवन त्याग दूँगा। यदि मुझे श्रीचैतन्य महाप्रभु का कृपा रूपी धन प्राप्त नहीं हुआ तो भले ही राज्य हो, या फिर मेरी यह देह—यह सब व्यर्थ है।"

राजा की प्रभु के प्रति प्रीति को
देखकर सार्वभौम को आश्चर्य—

एत शुनि' सार्वभौम हइला चिन्तित।
राजार अनुराग देखि' हइला विस्मित॥५०॥

५०। प॰ अनु॰—महाराज प्रतापरुद्र के यह वचन सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य बहुत चिन्तित हो गये। महाराज प्रतापरुद्र के श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रति अनुराग को देखकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ।

भट्टाचार्य के द्वारा सान्त्वाना प्रदान—

भट्टाचार्य कहे,—देव, ना कर विषाद।
तोमारे प्रभुर अवश्य हइबे प्रसाद॥५१॥

५१। प० अनु०—श्रीभट्टाचार्य ने कहा—"राजन्! आप दुःख मत कीजिए। आप पर श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा अवश्य होगी।

आशा रूपी वाणी का कीर्त्तन—

तेंह—प्रेमाधीन, तोमार प्रेम—गाढ़तर।
अवश्य करिबेन कृपा तोमार उपर॥५२॥

५२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रेम के अधीन हैं और आपका उनके प्रति अगाध प्रेम है, इसलिये वे आप पर अवश्य ही कृपा करेंगे।

प्रभु के साथ राजा के साक्षात्कार का उपाय निर्धारित करना—

तथापि कहिये आमि एक उपाय।
एइ उपाय कर' प्रभु देखिबे जाहाय॥५३॥
रथयात्रा-दिने प्रभु सब भक्त लञा।
रथ-आगे नृत्य करिबेन प्रेमाविष्ट हञा॥५४॥
प्रेमावेशे पुष्पोद्याने करिबेन प्रवेश।
सेइकाले एकले तुमि छाड़ि' राजवेश॥५५॥
'कृष्ण-रासपञ्चाध्याय' करिते पठन।
एकले जाइ' महाप्रभुर धरिबे चरण॥५६॥
बाह्यज्ञान नाहि, से-काले कृष्णनाम शुनि'।
आलिङ्गन करिबेन तोमाय 'वैष्णव' जानि'॥५७॥

५३-५७। प० अनु०—फिर भी मैं आपको एक उपाय बतलाता हूँ। इस उपाय को करने से आपको श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शन प्राप्त हो पायेंगे। रथ-यात्रा के दिन श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने सभी भक्तों को अपने साथ लेकर रथ के आगे प्रेमाविष्ट होकर नृत्य करेंगे और प्रेमावेश में वे पुष्पोद्यान में प्रवेश करेंगे, उस समय आप भी अपने राजवेश को छोड़कर अकेले वहाँ जाना तथा कृष्ण-रासपञ्चाध्याय का उच्चारण करते हुये श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्रीचरणों को पकड़ लेना। उस समय श्रीचैतन्य महाप्रभु को प्रेमावेश के कारण बाह्यज्ञान नहीं रहेगा, इसलिये उस समय आपके मुख से कृष्ण नाम सुनकर वे आपको 'वैष्णव' समझकर आपका आलिङ्गन करेंगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

५६। श्रीमद्भागवत (दशम स्कन्ध, २९-३३ अध्याय) श्रीकृष्ण के रास पञ्चाध्याय की कविताओं का पाठ करते-करते आप अकेले जाकर महाप्रभु के चरण पकड़ लेना।

अनुभाष्य

५५। पुष्पोद्याने,—गुण्डिचा मन्दिर में।

रामानन्द के द्वारा प्रभु का कठिन मन भी द्रवीभूत—

रामानन्द राय, आजि तोमार प्रेम-गुण।
प्रभु-आगे कहिते, प्रभुर फिरि' गेल मन॥५८॥

५८। प० अनु०—रामानन्द राय आज जब आपके प्रेम के गुणों का श्रीचैतन्य महाप्रभु के समक्ष वर्णन कर रहे थे, उस समय महाप्रभु का मन आपके प्रति परिवर्त्तित हो गया है।

प्रभु की कृपा को प्राप्त करने की आशा में राजा का दृढ़ संकल्प—

शुनि' गजपतिर मने सुख उपजिल।
प्रभुरे मिलिते एइ मन्त्रणा दृढ़ कैल॥५९॥

५९। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य के द्वारा बताये हुये उपाय को सुनकर गजपति श्रीप्रतापरुद्र महाराज का मन प्रसन्न हो गया और उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिलने के लिये इस उपाय को दृढ़तापूर्वक पालन करने का निश्चय कर लिया।

राजा की अधीरता और दिनों को गिनना—

स्नानयात्रा कबे हबे पुछिल भट्टेरे।
भट्ट कहे,—"तिन दिन आछये यात्रारे॥"६०॥

६०। प० अनु०—महाराज प्रतापरुद्र ने श्रीसार्वभौम

भट्टाचार्य से पूछा—"भगवान् श्रीजगन्नाथ की स्नानयात्रा कब होगी? श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने उत्तर दिया—"स्नान-यात्रा में अभी तीन दिन बाकी हैं।"

सार्वभौम का प्रस्थान; स्नान यात्रा में प्रभु की प्रसन्नता—

राजारे प्रबोधिया भट्ट गेला निजालय।
स्नानयात्रा-दिने प्रभुर आनन्द हृदय॥६१॥
स्नानयात्रा देखि' प्रभुर हैल बड़ सुख।
ईश्वरेर 'अनवसरे' पाइल बड़ दुःख॥६२॥

६१-६२। प० अनु०—इस प्रकार महाराज प्रतापरुद्र को आश्वासन देने के बाद श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य अपने घर चले गये। स्नान-यात्रा के दिन श्रीचैतन्य महाप्रभु का हृदय परम आनन्दित हो रहा था। श्रीजगन्नाथ देव की स्नान-यात्रा को देखकर महाप्रभु बहुत प्रसन्न हुए। परन्तु भगवान् श्रीजगन्नाथ के अनवसर के समय श्रीचैतन्य महाप्रभु को बहुत दुःख हुआ।

अनुभाष्य

६२। अनवसर,—स्नान यात्रा के बाद (कुछ दिनों के लिये) श्रीजगन्नाथ देव के अङ्ग-राग आदि के उद्देश्य से, दर्शनार्थियों की दृष्टि से श्रीविग्रहों को अन्यत्र रखा जाता है। इसी काल को ही 'अनवसर' कहते हैं।

अनवसर के समय प्रभु का कृष्ण-विरह
और अकेले ही आलालनाथ जाना—

गोपीभावे विरहे प्रभु व्याकुल हञा।
आलालनाथे गेला प्रभु सबारे छाड़िया॥६३॥

६३। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ देव के दर्शन नहीं होने के कारण गोपीभाव में आविष्ट श्रीचैतन्य महाप्रभु विरह में कातर होकर सबको छोड़कर अकेले ही आलालनाथ चले गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

६३। अनवसर के समय जगन्नाथजी के दर्शन प्राप्त न कर पाने के कारण प्रभु कृष्ण के विरह में व्याकुल-अवस्था में आलालनाथ जाकर रहते थे।

प्रभु के पीछे-पीछे आकर भक्तों के द्वारा
गौड़ीय भक्तों के आगमन का संवाद देना—

पाछे प्रभुर निकट आइला भक्तगण।
गौड़ हैते भक्त आइसे,—कैल निवेदन॥६४॥

६४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के पीछे-पीछे भक्तगण भी आलालनाथ आ गये और उन्होंने श्रीमन् महाप्रभु से निवेदन किया कि गौड़देश से भक्तगण श्रीजगन्नाथ पुरी आ रहे हैं।

प्रभु के साथ भट्टाचार्य का पुरी में
आगमन और राजा को संवाद बताना—

सार्वभौम नीलाचले आइला प्रभु लञा।
प्रभु आइला,—राजा-ठाञि कहिलेन गिया॥६५॥

६५। प० अनु०—यह संवाद सुनकर श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु को नीलाचल लेकर आ गये और उन्होंने स्वयं जाकर राजा को भी यह सूचना दे दी कि 'प्रभु आ गये हैं'।

गौड़देश से सबसे पहले
गोपीनाथाचार्य का आगमन—

हेनकाले आइला तथा गोपीनाथाचार्य।
राजाके आशीर्वाद करि' कहे,—शुन भट्टाचार्य॥६६॥

६६। प० अनु०—जिस समय श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य महाराज प्रतापरुद्र के पास बैठे हुए थे, उस समय श्रीगोपीनाथाचार्य भी वहाँ आ गये और वे राजा को आशीर्वाद देने के बाद श्रीसार्वभौम से कहने लगे—"सुनो भट्टाचार्य!"

अनुभाष्य

६६। गोपीनाथचार्य,—आदि दशम परिच्छेद १३० संख्या द्रष्टव्य।

२०० गौड़ीय गौर भक्तों के
आगमन का संवाद प्रदान—

गौड़ हैते वैष्णव आसितेछेन दुइशत।
महाप्रभुर भक्त सब—महाभागवत॥६७॥

६७। प० अनु०—गौड़देश (बङ्गाल) से दो-सौ वैष्णव आ रहे हैं। वे सब श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्त एवं महाभागवत हैं।

अनुभाष्य

६७। महाभागवत,—निष्किञ्चन, वर्णाश्रम से अतीत, कृष्णैक शरण, परमहंस; यथा श्रीनरोत्तम ठाकुर स्वरचित 'प्रार्थना' में लिखते हैं—"गौराङ्गेर सङ्गीगणे, नित्यसिद्ध करि' माने, से जाय व्रजेन्द्र-सुत-पाश"।

उनके नरेन्द्र-सरोवर में समागत होने का संवाद प्रदान तथा प्रसाद और वासस्थान आदि की व्यवस्था के लिये अनुरोध—

नरेन्द्रे आसिया सबे हैल विद्यमान।
ताँ-सबारे चाहि वासा प्रसाद-समाधान॥"६८॥

६८। प० अनु०—वे सब नरेन्द्र सरोवर पर आ पहुँचे हैं, मैं उन सबके रहने के स्थान तथा प्रसाद की व्यवस्था करना चाहता हूँ।

अमृतप्रवाह भाष्य

६८। नरेन्द्र,—'नरेन्द्र' नामक सरोवर, जिसमें 'चन्दन-यात्रा' उत्सव होता है। आज तक भी गौड़ीय भक्तगण पुरुषोत्तम में प्रवेश करते समय नरेन्द्र सरोवर के जल में हाथ-पैर धोकर श्रीमन्दिर में जाते हैं।

राजा के द्वारा इस सबकी व्यवस्था
करने के लिये पड़िछा को आदेश—

राजा कहे,—पड़िछाके आमि आज्ञा दिब।
वासा आदि जे चाहिये,—पड़िछा सब दिब॥६९॥

६९। प० अनु—यह सुनकर महाराज प्रतापरुद्र ने कहा—"मैं पड़िछा (राजा का कर्मचारी जो उनकी ओर से मन्दिर की देख-रेख करता है) को आदेश दे दूँगा। आप वास स्थान आदि जो कुछ भी चाहते हैं, पड़िछा सब दे देगा।

गौड़ीय भक्तों का परिचय प्रदान करने
के लिये भट्ट से राजा का अनुरोध—

महाप्रभुर गण जत आइल गौड़ हैते।
भट्टाचार्य, एके एके देखाह आमाते॥७०॥

७०। प० अनु०—(महाराज प्रतापरुद्र ने कहा—) हे श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य! श्रीचैतन्य महाप्रभु के जितने भी भक्त गौड़देश से आये हैं आप मुझे उन सबके एक-एक करके दर्शन कराइये।

भट्टाचार्य के द्वारा अपनी असमर्थता का ज्ञापन, उसके लिये गोपीनाथ से प्रार्थना, तीनों का अट्टालिका पर चढ़ना—

भट्ट कहे—अट्टालिकाय कर आरोहण।
गोपीनाथ चिने सबारे, कराबे दरशन॥७१॥
आमि काहारे नाहि चिनि, चिनिते मन हय।
गोपीनाथाचार्य सबारे करा'बे परिचय॥७२॥
एत बलि' तिन जन अट्टालिकाय चड़िल।
हेनकाले वैष्णव सब निकटे आइल॥७३॥

७१-७३। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने महाराज प्रतापरुद्र से कहा—"आप अपनी अट्टालिका पर चढ़ जाइये। श्रीगोपीनाथ आचार्य सभी भक्तों को पहचानते हैं अतः वे ही आपको सबके दर्शन करायेंगे। मैं तो स्वयं ही किसी भी भक्त को नहीं पहचानता, मेरी भी उनके विषय में जानने की इच्छा है। इसलिये श्रीगोपीनाथाचार्य ही उन सबका परिचय प्रदान करेंगे। इतना कहकर तीनों अट्टालिका पर चढ़ गये और उसी समय सब वैष्णवगण भी राजभवन के निकट आ पहुँचे।

अमृतप्रवाह भाष्य

७२। सार्वभौम ने कहा,—मैं किसी को भी नहीं पहचानता, (किन्तु) जानने की इच्छा होती है।

प्रभु की प्रेरणा से स्वरूप दामोदर और गोविन्द के द्वारा माला एवं प्रसाद के साथ भक्तों का स्वागत—

दामोदर-स्वरूप, गोविन्द,—दुइ जन।
माला प्रसाद लञा जाय, जाँहा वैष्णवगण॥७४॥
प्रथमेते महाप्रभु पाठाइला दुँहारे।
राजा कहे, एइ दुइ कोन्, चिनाह आमारे॥७५॥

७४-७५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पहले

से ही श्रीस्वरूप दामोदर और श्रीगोविन्द प्रभु—इन दोनों को श्रीजगन्नाथ देव की प्रसादी माला लेकर भेज दिया था। श्रीचैतन्य महाप्रभु की इच्छानुसार दोनों वहाँ पहुँचे, जहाँ वैष्णव लोग उपस्थित थे। महाराज प्रतापरुद्र ने पूछा—यह दोनों कौन है? मुझे इनका परिचय दीजिए।

राजा को भट्टाचार्य के द्वारा (१) दामोदर स्वरूप का परिचय प्रदान—

भट्टाचार्य कहे,—एइ स्वरूप-दामोदर।
महाप्रभुर हय इँह द्वितीय कलेवर॥७६॥

७६। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"ये श्रीस्वरूप दामोदर हैं। ये साक्षात् श्रीचैतन्य महाप्रभु के दूसरे कलेवर हैं।

(२) गोविन्द का परिचय प्रदान—

द्वितीय गोविन्द—भृत्य, इँहा दोंहा दिया।
माला पाठाञाछेन प्रभु गौरव करिया॥७७॥

७७। प॰ अनु॰—ये दूसरे भक्त श्रीचैतन्य महाप्रभु के सेवक गोविन्द हैं। इन दोनों को श्रीचैतन्य महाप्रभु ने वैष्णवों का सम्मान करने के लिये माला देकर भेजा है।

अद्वैताचार्य को माला पहनाना—

आदौ माला अद्वैतेरे स्वरूप पराइल।
पाछे गोविन्द द्वितीय माला आनि' ताँरे दिल॥७८॥

७८। प॰ अनु॰—सबसे पहले श्रीस्वरूप दामोदर ने श्रीअद्वैताचार्य को माला पहनायी और बाद में श्रीगोविन्द प्रभु ने भी श्रीअद्वैजाचार्य को दूसरी माला पहना दी।

गोविन्द के प्रणाम करने पर अद्वैताचार्य के प्रश्न के उत्तर में गोविन्द का परिचयप्रदान—

तबे गोविन्द दण्डवत् कैल आचार्येरे।
ताँरे नाहि चिने आचार्य, पुछिल दामोदरे॥७९॥
दामोदर कहे,—इँहार 'गोविन्द' नाम।
ईश्वर-पुरीर सेवक अति गुणवान्॥८०॥
प्रभुर सेवा करिते पुरी आज्ञा दिल।
अतएव प्रभु ताँरे निकटे राखिल॥८१॥

७९-८१। प॰ अनु॰—माला पहनाने के बाद श्रीगोविन्द प्रभु ने श्रीअद्वैताचार्य को दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीअद्वैत आचार्य गोविन्द प्रभु को नहीं पहचानते थे, इसलिये उन्होंने स्वरूप दामोदर से गोविन्द प्रभु के विषय में पूछा? श्रीस्वरूप दामोदर ने उत्तर दिया—इनका नाम गोविन्द है, ये श्रीईश्वरपुरी पाद के अत्यधिक गुणवान् सेवक हैं। श्रीईश्वर पुरी ने इन्हें श्रीचैतन्य महाप्रभु की सेवा करने के लिये आदेश प्रदान किया था, इसलिये श्रीचैतन्य महाप्रभु इन्हें अपने पास रखते हैं।"

अद्वैताचार्य को देखकर राजा का कौतूहल—

राजा कहे,—जाँरे माला दिल दुइजन।
आश्चर्य तेज, बड़ महान्त,—कह कोन् जन?॥८२॥

८२। प॰ अनु॰—महाराज प्रतापरुद्र ने कहा—जिन्हें श्रीस्वरूप दामोदर और श्रीगोविन्द प्रभु ने माला पहनायी है, उनका तेज बड़ा आश्चर्यजनक है। लगता है कि ये कोई बहुत बड़े महापुरुष हैं। मुझे बतलाइये कि वे कौन हैं।"

(३) अद्वैताचार्य का परिचय प्रदान—

आचार्य कहे,—इँहार नाम अद्वैत आचार्य।
महाप्रभुर मान्यपात्र, सर्व-शिरोधार्य॥८३॥

८३। प॰ अनु॰—श्रीगोपीनाथाचार्य ने कहा—"इनका नाम श्रीअद्वैत आचार्य है। यह श्रीचैतन्य महाप्रभु के भी आदरणीय और अन्यान्य सभी भक्तों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

८३। आचार्य कहे,—गोपीनाथाचार्य ने कहा।

(४) श्रीवास, (५) वक्रेश्वर,
(६) विद्यानिधि, (७) गदाधर—

श्रीवास-पण्डित इँह, पण्डित-वक्रेश्वर।
विद्यानिधि-आचार्य, इँह पण्डित-गदाधर॥८४॥

८४। प० अनु—ये श्रीवास पण्ड़ित, ये श्रीवक्रेश्वर पण्ड़ित, ये श्रीविद्यानिधि आचार्य और ये श्रीगदाधर पण्ड़ित हैं।

अनुभाष्य

८४। विद्यानिधि आचार्य (आचार्य निधि),—पुण्डरीक विद्यानिधि; आदि दशम परिच्छेद १४ संख्या का अनुभाष्य और वैष्णव-मञ्जुषा-समाहृति—(प्रथम संख्या) द्रष्टव्य।

(८) चन्द्रशेखर, (९) पुरन्दर,
(१०) गङ्गादास, (११) शङ्कर—
आचार्यरत्न इँह, पण्डित-पुरन्दर।
गङ्गादास पण्डित इँह, पण्डित-शङ्कर॥८५॥

८५। प० अनु—ये श्रीआचार्य रत्न हैं, ये श्रीपुरन्दर पण्डित, ये श्रीगङ्गादास पण्ड़ित और ये श्रीशङ्कर पण्डित हैं।

(१२) मुरारि, (१३) नारायण, (१४) हरिदास ठाकुर—
एइ मुरारि गुप्त, इँह पण्डित-नारायण।
हरिदास ठाकुर इँह भुवनपावन॥८६॥

८६। प० अनु—ये श्रीमुरारि गुप्त हैं, ये श्रीनारायण पण्डित और ये ब्रह्माण्ड को पवित्र करने वाले श्रील हरिदास ठाकुर हैं।

(१५) हरिभट्ट, (१६) नृसिंहानन्द,
(१७) वासुदेव दत्त, (१८) सेन शिवानन्द—
एइ हरि-भट्ट, एइ श्रीनृसिंहानन्द।
एइ वासुदेव दत्त, एइ शिवानन्द॥८७॥

८७। प० अनु—ये श्रीहरि भट्ट हैं, ये श्रीनृसिंहानन्द हैं, ये श्रीवासुदेव दत्त और ये श्रीशिवानन्द सेन हैं।

(१९) गोविन्द, (२०) माधव, (२१) वासुघोष—
गोविन्द, माधव घोष, एइ वासुघोष।
तिन भाइर कीर्तने प्रभु पायेन सन्तोष॥८८॥

८८। प० अनु—ये श्रीगोविन्द, श्रीमाधव घोष और श्रीवासुघोष—तीन भाई हैं। इन तीनों भाईयों का कीर्त्तन सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु बहुत सन्तुष्ट होते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

८८। गोविन्द घोष,—उत्तर राढ़ीय देश के कायस्थ कुल में प्रकटित हुए थे; इन्हें ही 'घोष ठाकुर' कहते हैं; आज भी (काटोया के निकट) अग्रद्वीप में घोष ठाकुर का मेला हुआ करता है।

वासुघोष,—इन्होंने महाप्रभु के विषय में अनेक गीत लिखे हैं, वह महाजनों के गीतों में अग्रगण्य हैं।

(२२) राघव, (२३) नन्दन, (२४) श्रीमान्,
(२५) श्रीकान्त, (२६) नारायण—
राघव पण्डित, इँह आचार्य नन्दन।
श्रीमान् पण्डित एइ, श्रीकान्त, नारायण॥८९॥

८९। प० अनु—ये श्रीराघव पण्ड़ित, ये श्रीनन्दन आचार्य, ये श्रीमान् पण्ड़ित, श्रीकान्त और श्रीनारायण हैं।

(२७) शुक्लाम्बर, (२८) श्रीधर, (२९) विजय,
(३०) वल्लभसेन, (३१) पुरुषोत्तम, (३२) सञ्जय—
शुक्लाम्बर देख, एइ श्रीधर, विजय।
वल्लभ-सेन, एइ पुरुषोत्तम, सञ्जय॥९०॥

९०। प० अनु—देखो! ये श्रीशुक्लाम्बर हैं, ये श्रीधर, श्रीविजय, श्रीवल्लभसेन, श्रीपुरुषोत्तम और श्रीसञ्जय हैं।

(३३) सत्यराज, (३४) रामानन्द—
कुलीन-ग्रामवासी एइ सत्यराज-खान।
रामानन्द-आदि सबे देख विद्यमान॥९१॥

९१। प० अनु—ये कुलीनग्रामवासी श्रीसत्यराज खान, श्रीरामानन्द आदि सभी उपस्थित भक्तों को देखो।

(३५) मुकुन्द, (३६) नरहरि, (३७) रघुनन्दन,
(३८) चिरञ्जीव, (३९) सुलोचन—
मुकुन्ददास, नरहरि, श्रीरघुनन्दन।
खण्डवासी चिरञ्जीव, आर सुलोचन॥९२॥

कतेक कहिब, एइ देख जत जन।
चैतन्येर गण, सब—चैतन्यजीवन॥९३॥

९२-९३। प० अनु—ये श्रीमुकुन्द दास, श्रीनरहरि, श्रीरघुनन्दन, खण्डवासी चिरञ्जीव और श्रीसुलोचन हैं। कितने भक्तों के नाम बतलाऊँ, देखिये! ये जितने भी भक्त हैं सभी श्रीचैतन्य महाप्रभु के गण हैं और श्रीचैतन्य महाप्रभु ही इन सबके जीवन स्वरूप हैं।"

वैष्णवों के तेज के दर्शन और अपूर्व
कीर्त्तनादि के श्रवण से राजा को आश्चर्य—

राजा कहे,—देखि' मोर हैल चमत्कार।
वैष्णवेर ऐछे तेज देखि नाहि आर॥९४॥
कोटिसूर्य-सम सब—उज्ज्वल-वरण।
कभु नाहि देखि एइ मधुर कीर्तन॥९५॥
ऐछे प्रेम, ऐछे नृत्य, ऐछे हरिध्वनि।
काँहा नाहि देखि, ऐछे काँहा नाहि शुनि॥९६॥

९४-९६। प० अनु—महाराज प्रतापरुद्र ने कहा—"इन सब भक्तों को देखकर तो मैं बहुत अधिक आश्चर्य चकित हूँ, क्योंकि—मैंने वैष्णवों का ऐसा तेज पहले कभी भी नहीं देखा। सभी करोड़ो-करोड़ो सूर्य के तेज की भाँति उज्ज्वल वर्ण के हैं और जैसा ये कीर्त्तन कर रहे हैं मैंने ऐसा मधुर कीर्त्तन पहले कभी भी नहीं देखा। इनके जैसा प्रेम, भाव इनके जैसा नृत्य एवं इनके द्वारा की जा रही हरिनाम की ध्वनि मैंने न तो कहीं देखी है और न ही कहीं सुनी है।"

संकीर्त्तन के प्रवर्त्तक
श्रीकृष्णचैतन्य—

भट्टाचार्य कहे एइ मधुर वचन।
चैतन्येर सृष्टि—एइ प्रेम संकीर्तन॥९७॥

९७। प० अनु—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"इस मधुर हरिनाम के प्रवर्त्तक श्रीचैतन्य महाप्रभु हैं। यह प्रेम-संकीर्त्तन अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये किये जाने वाले सङ्कीर्त्तन के नाम से भी जाना जाता है।

विमुख जीव को कृष्ण उन्मुख
करने रूपी प्रचार ही संकीर्त्तन—

अवतरि' चैतन्य कैल धर्मप्रचारण।
कलिकाले धर्म—कृष्णनाम-संकीर्तन॥९८॥

९८। प० अनु—श्रीकृष्ण-नाम का संकीर्त्तन ही कलिकाल का धर्म है तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अवतार लेकर उसी धर्म का ही प्रचार किया है।

चैतन्य प्राप्त जीव के द्वारा गौर-कीर्त्तन करना ही
बुद्धिमता और जाड्यता (आलस्य) ही मुर्खता—

संकीर्तन-यज्ञे ताँरे करे आराधन।
सेइ त' सुमेधा, आर—कलिहतजन॥९९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

९९। कलिकाल में संकीर्तन यज्ञ द्वारा जो कृष्ण-चैतन्य की आराधना करता है, वही सुमेधा (बहुत बुद्धिमान) है; जो भजन नहीं करते, वे सब व्यक्ति कलिहत अर्थात् कलि के द्वारा हत (मरी गयी) बुद्धि वाले है।

अनुभाष्य

९९। लब्ध चैतन्य, सेवोन्मुख जीव की कृष्ण कीर्त्तन रूप चेतनमयी वाणी के प्रभाव से ही अन्य जीव उद्‌बुद्ध चेतन होकर सेवोन्मुखी वृत्ति प्राप्त करके शुद्ध सेवक बनता है, इस प्रकार शुद्ध भक्तों द्वारा अपने गोत्र-वर्द्धन रूपी उपासना में ही कृष्णचैतन्य का आनन्द है, उसमें ही जीव की सर्वापेक्षा अधिक बुद्धिमता का परिचय है। तुच्छ, अचिद् स्वार्थपर जीव का ताण्डव नृत्य-कीर्त्तन आदि समस्त क्रियाएँ ही वास्तव-वस्तु के परम सेव्यत्व में अविश्वास और संशय के आधार पर अनुष्ठित होने के कारण वह जड़ता का ही परिचायक है, क्षण स्थायी कृत्रिम भावुकता और उत्तेजना अथवा आन्दोलन मात्र है।

श्रीमद्भागवत (११/५/३२)—

कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥१००॥

१००। श्लोकानुवाद—जिनके मुख में सदैव

कृष्णवर्ण (कृष्ण- कथा, कृष्णमहिमा-वर्णन) है, जिनकी कान्ति अकृष्ण अर्थात् गौर है, उन्हीं अङ्ग, उपाङ्ग, अस्त्र एवं पार्षद से परिवेष्टित महापुरुष का सुबुद्धिमान् जन संकीर्त्तन-प्राय यज्ञ के द्वारा यजन करते हैं।

अनुभाष्य

१००। आदि तृतीय परिच्छेद ५१ संख्या द्रष्टव्य।

परविद्यापति चैतन्य ही कृष्ण, जड़विद्या
या अपरा-विद्या उनसे विमुख—

राजा कहे,—शास्त्रप्रमाणे चैतन्य हन कृष्ण।
तबे केने पण्डित सब ताँहाते वितृष्ण?॥१०१॥

१०१। प० अनु०—महाराज प्रतापरुद्र ने कहा—"शास्त्रों के प्रमाण के आधार पर श्रीचैतन्य महाप्रभु साक्षात् श्रीकृष्ण हैं। तो फिर पण्डितगण क्यों उनके प्रति उदासीन रहते हैं?"

सेवान्मुखता से ही कृपा की प्राप्ति और
कृपा के प्रभाव से ही भगवान् की उपलब्धि—

भट्ट कहे,—ताँर कृपा-लेश हय जाँरे।
सेइ से ताँहारे 'कृष्ण' करि' लइते पारे॥१०२॥

१०२। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—जिस पर श्रीचैतन्य महाप्रभु की लेश मात्र भी कृपा होती है वही उन्हें कृष्ण के रूप में स्वीकार कर पाता है।

कृपा के बिना जड़विद्या की नास्तिकता
की वृद्धि और मोह की प्राप्ति—

ताँर कृपा नहे जारे, पण्डित नहे केने।
देखिले शुनिलेह ताँरे 'ईश्वर' ना माने॥१०३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१०३। जिनके प्रति उनकी कृपा नहीं है, वह भले ही पण्डित क्यों न हो, उनका समस्त ऐश्वर्य देखने-सुनने पर भी वह उनकी कृपा के अभाव के कारण कृष्णचैतन्य को 'ईश्वर' कहकर मान नहीं पाता।

अनुभाष्य

१०२-१०३। मध्य षष्ठ परिच्छेद ८२-८७ संख्या द्रष्टव्य।

श्रीमद्भागवत् (१०/१४/२९)—

तथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥१०४॥

१०४। श्लोकानुवाद—हे देव, आपके श्रीचरण-कमलों की कृपा के लेशमात्र को प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही केवल आपकी महिमा के तत्त्व को जान सकता है, किन्तु जो चिरदिन अनुमान द्वारा शास्त्रों का विचार करते हुए अन्वेषण करते हैं, उनमें से कोई भी उस तत्त्व को नहीं जान पाता।

अनुभाष्य

१०४। मध्य,—षष्ठ परिच्छेद ८४ संख्या द्रष्टव्य।

जगन्नाथ दर्शन से पहले प्रभु के
दर्शन करने के कारण की जिज्ञासा—

राजा कहे,—सबे जगन्नाथ ना देखिया।
चैतन्येर वासा-गृहे चलिला धाञा॥१०५॥

१०५। प० अनु०—महाराज प्रतापरुद्र ने कहा—"सभी भक्त श्रीजगन्नाथ का दर्शन न करके श्रीचैतन्य महाप्रभु के निवास स्थान की ओर दौड़े चले जा रहे हैं।"

गौड़ीय भक्तों की गौर-प्रीति—

भट्ट कहे,—एइ त' स्वाभाविक प्रेम-रीत।
महाप्रभु मिलिबारे उत्कण्ठित चित्त॥१०६॥
आगे ताँरि मिलि' सबे ताँरि सङ्गे लञा।
ताँर सङ्गे जगन्नाथ देखिबेन गिया॥१०७॥

१०६-१०७। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"यह तो स्वाभाविक प्रेम की रीति है। इन सब

भक्तों का मन श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिलने के लिये उत्कण्ठित हो रहा है। ये सब भक्त पहले श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिलकर और फिर उन्हें अपने साथ लेकर श्रीजगन्नाथ का दर्शन करेंगे।"

वाणीनाथ को प्रचुर प्रसाद वहन करते
देख उसके कारण की जिज्ञासा—

राजा कहे,—भवानन्देर पुत्र वाणीनाथ।
प्रसाद लञा सङ्गे चले पाँच-सात॥१०८॥
महाप्रभुर आलये करिल गमन।
एत महाप्रसाद चाहि'—कह कि कारण॥१०९॥

१०८-१०९। प॰ अनु॰—महाराज प्रतापरुद्र ने कहा—"श्रीभवानन्द राय के पुत्र वाणीनाथ पाँच सात लोगों के माध्यम से श्रीजगन्नाथजी का प्रसाद लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के घर की ओर जा रहे हैं। इतने प्रसाद का श्रीचैतन्य महाप्रभु क्या करेंगे।"

भट्ट का उत्तर—इसमें प्रभु की इच्छा ही कारण—

भट्ट कहे,—भक्तगण आइल जानिञा।
प्रभुर इंगिते प्रसाद जाय ताँरा लञा॥११०॥

११०। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"यह जानकर कि भक्तगण आ गये हैं इसलिये श्रीचैतन्य महाप्रभु के इङ्गित को प्राप्त करके वाणीनाथ सबके लिये प्रसाद ले कर जा रहे हैं।

उपवास और मुण्डनादि क्रिया के बिना
ही प्रसाद ग्रहण के कारण की जिज्ञासा—

राजा कहे,—उपवास, क्षौर—तीर्थेर विधान।
ताहा ना करिया केने खाइब अन्न-पान॥१११॥

१११। प॰ अनु॰—महाराज प्रतापरुद्र ने कहा—"तीर्थ करने के विधान के अनुसार पहले उपवास और मुण्डन आदि कार्य को किये बिना ये लोग अन्न प्रसाद क्यों ग्रहण करेंगे?

अमृतप्रवाह भाष्य

१११-११३। राजा ने कहा,—'तीर्थ में प्रवेश करने पर उस दिन उपवास करना होता है और वहाँ मुण्डन कराना होता है—शास्त्रों का यही विधान है। ये सब वैष्णव ऐसा न कर किस कारण से अन्न जल आदि ग्रहण करेंगे?' भट्टाचार्य ने कहा,—'आपने जो कहा, वही वैध धर्म है, किन्तु राग मार्गीय धर्म का और एक सूक्ष्म मर्म है,—भगवान् ने ऋषियों के द्वारा ही परोक्षरूप से शास्त्रों में मुण्डन कराने आदि की आज्ञा दी है, किन्तु (भगवान् ने) स्वयं प्रसाद भोजन की आज्ञा का प्रचार किया है।

अनुभाष्य

१११। तीर्थ में जाकर पाप नष्ट करने के उद्देश्य से पूर्व दिवस संयम करके अगले दिन उपवास करना। शिरोगत (सिर पर चढ़े) पापों का ध्वंस करने के लिये मस्तक आदि का मुण्डन करना। इन सब तैर्थिक कर्मों के विधान का परित्याग करके भोजन आदि करने का क्या उद्देश्य है?

भट्ट के द्वारा रागमार्ग के आचरण की कथा का वर्णन—

भट्ट कहे,—तुमि जेइ कह, सेइ विधि-धर्म।
एइ रागमार्गे आछे सूक्ष्मधर्म-मर्म॥११२॥

११२। प॰ अनु॰—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"आप जो कह रहे हैं वह विधि मार्ग का धर्म है। परन्तु रागमार्ग रूपी धर्म का पालन करने में और एक सूक्ष्म मर्म है।

भगवान् का परोक्ष और साक्षात् आदेश—

ईश्वरेर परोक्ष आज्ञा—क्षौर, उपोषण।
प्रभुर साक्षात् आज्ञा—प्रसाद-भोजन॥११३॥
ताँहा उपवास, जाँहा नाहि महाप्रसाद।
प्रभु-आज्ञा—प्रसादत्यागे हय अपराध॥११४॥

११३-११४। प॰ अनु॰—तीर्थ में जाकर मुण्डन करना अथवा उपवास करना—इनकी भगवान् ने परोक्ष रूप से आज्ञा दी है। परन्तु भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य ने स्वयं महाप्रसाद का सेवन करने की आज्ञा प्रदान की है। उपवास वहाँ होता है जहाँ महाप्रसाद उपलब्ध नहीं है।

किन्तु भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य की आज्ञा अनुसार प्रसाद का त्याग करने से अपराध होता है।

भक्तों के द्वारा उपवास की विधि को त्यागने का अन्य कारण—

विशेषे महाप्रभु करे आपने परिवेशन।
एत लाभ छाड़ि' केने करिबे उपोषण॥११५॥

११५। प॰ अनु॰—विशेष रूप से श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं अपने हस्तकमल के द्वारा प्रसाद बाँटेंगे। बताओ, ऐसे सौभाग्य को छोड़कर कौन उपवास की विधि का पालन करेगा।

अपने पूर्व-दृष्टान्त का वर्णन—

पूर्वे प्रभु मोरे प्रसाद-अन्न आनि' दिल।
प्राते शय्याय बसि' आमि से अन्न खाइल॥११६॥

११६। प॰ अनु॰—एक बार मैं प्रातः जागकर अपने शय्या पर बैठा ही था कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मुझे अन्न प्रसाद लाकर दिया था और मैंने उस प्रसाद को शय्या पर बैठे-बैठे ही खा लिया था।

कृष्णकृपा के फल से सेवान्मुखता के कारण फलभोग काम मूलक नित्य-नैमित्तिक और काम्य कर्मों का त्याग—

जाँरे कृपा करि' करेन हृदये प्रेरण।
कृष्णाश्रय हय, छाड़े वेद-लोक-धर्म॥११७॥

११७। प॰ अनु॰—जिस पर कृपा करके भगवान् हृदय में प्रेरणा करते हैं वही श्रीकृष्ण का आश्रय लेता हुआ सभी प्रकार के वेद और लोक धर्म का त्याग कर देता है।"

भागवत का प्रमाण—श्रीमद्भागवत (४/२९/४६)—

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥११८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

११८। जिस किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में जब आत्म-भावित भगवान् हृदय में प्रेरणा द्वारा अनुग्रह करते हैं, तब वह लोक और वेदों के प्रति जो परिनिष्ठित (अत्यन्त निष्ठा युक्त आसक्त) बुद्धि होती है, उसे त्याग देता है।

अनुभाष्य

११८। ब्रह्म निष्ठ श्रीनारद गोस्वामी राजा प्राचीनबर्हि के निकट पुरञ्जन के उपाख्यान द्वारा भोगी अथवा कर्मी जीवों के एवं कर्मकाण्ड की दुर्गति का वर्णन करके भगवद्-कृपा के बिना—ब्रह्मा, रुद्र, मनु, दक्षादि प्रजापति, नैष्ठिक चतुःसन, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ एवं स्वयं—इन सभी में से कोई भी भगवद्-ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाया, ऐसा कहकर उन्होंने भगवद् कृपा के फल का वर्णन करते हुए कहा—

भगवान् यदा आत्म भावितः (आत्मनि भावितः ध्यातः आराधितः प्रकटितः सन्) यम् अनुगृह्णाति (कृपायति), तदा सः लोके (लौकिक व्यवहारे) वेदे (वैदिककर्मानुष्ठाने) च परिनिष्ठिताम् (आसक्ता) मतिं जहाति (त्यजाति)।

नीचे उतर कर राजा की काशीमिश्र और पड़िछा-पात्र को भक्तों की सेवा की व्यवस्था करने का आदेश—

तबे राजा अट्टालिका हैते तलेते आइला।
काशीमिश्र, पड़िछा-पात्र, दुँहे आनाइला॥११९॥
प्रतापरुद्र आज्ञा दिल सेइ दुइ जने।
प्रभु-स्थाने आसियाछेन जत प्रभुर गणे॥१२०॥
सबारे स्वच्छन्द वासा, स्वच्छन्द प्रसाद।
स्वच्छन्द दर्शन कराइह, नहे जेन बाध॥१२१॥

११९-१२१। प॰ अनु॰—तब महाराज प्रतापरुद्र अट्टालिका से नीचे आये और श्रीकाशीमिश्र और पड़िछा दोनों को बुलाकर आज्ञा दी—"श्रीचैतन्य महाप्रभु के पास जितने भी भक्त आये हैं उन सबको रहने का अलग-अलग स्थान प्रदान कीजिए, उनकी इच्छानुसार उनके प्रसाद की व्यवस्था कीजिए और उनकी जितनी देर तक दर्शन करने की इच्छा हो, उन्हें उतनी देर दर्शन कराने की व्यवस्था कीजिए। देखना,—जिससे उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट न हो।

अमृतप्रवाह भाष्य

१११९। पड़िछा—'परीक्षा' शब्द से 'पड़िछा' शब्द बना है; अतएव तत्त्व का अन्वेषण करना ही पड़िछा का कर्म है।

सेव्य के इङ्गित पर सेवा करना ही उत्तम—

प्रभुर आज्ञा पालिह दुँहे, सावधान हञा।
आज्ञा नहे, तबु करिह, इंगित जानिया॥१२२॥

१२२। प० अनु०—आप दोनों श्रीचैतन्य महाप्रभु की आज्ञा का सर्तकता पूर्वक पालन करना। यदि वे आज्ञा न भी दें तो भी इङ्गित पाकर ही सब सेवाओं को करना।

अनुभाष्य

१२१-१२२। महाप्रभु के निकट जो सब भक्त गौड़ आदि देशों से आये हैं, उनके लिये अच्छा रहने का स्थान, अच्छा प्रसाद एवं अच्छी तरह से जगन्नाथ दर्शन आदि में किसी प्रकार की असुविधा न हो, इन सबका ध्यान रखने के लिये पड़िछा-पात्र को प्रतापरुद्र राजा ने बोल दिया। और भक्तों की स्वच्छन्तता आदि के उद्देश्य से महाप्रभु का साक्षात् आदेश प्राप्त न करने पर भी, उनका इशारा समझकर, जब जो-जो कर्त्तव्य है, उसी समय शीघ्र ही उसका भी (पड़िछा-पात्र) पालन करे, बतला दिया।

सार्वभौम और गोपीनाथ का थोड़े दूर खड़े होकर भक्त और भगवान् के मिलन का दर्शन—

एत बलि' विदाय दिल सेइ दुइ-जने।
सार्वभौम देखिते आइल वैष्णव-मिलने॥१२३॥
गोपीनाथाचार्य, भट्टाचार्य सार्वभौम।
दुँहे देखे दूरे प्रभु-वैष्णव-सम्मिलन॥१२४॥
सिंहद्वार डाहिने छाड़ि' सब वैष्णवगण।
काशीमिश्र-गृह-पथे करिला गमन॥१२५॥

१२३-१२५। प० अनु०—इतना कहकर महाराज प्रतापरुद्र ने उन दोनों को विदा किया और श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य सभी वैष्णवों के मिलन को देखने के लिये आ गये। श्रीगोपीनाथ आचार्य एवं श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य—दोनों ही दूर से श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं वैष्णवों का मिलन देखने लगे। श्रीजगन्नाथ मन्दिर के सिंह द्वार को अपनी दाहिनी ओर छोड़ करके सभी वैष्णव काशीमिश्र के घर की ओर जाने वाले मार्ग की ओर बढ़ने लगे।

भक्तों को मिलने के लिये प्रभु का स्वयं आना—

हेनकाले महाप्रभु निजगण-सङ्गे।
वैष्णवे मिलिला आसि' पथे बहु रङ्गे॥१२६॥

१२६। प० अनु०—उसी समय श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने परिकरों के साथ मार्ग में ही सभी वैष्णवों को अत्यधिक आनन्द पूर्वक आकर मिले।

अद्वैत के द्वारा प्रणाम, प्रभु का आलिङ्गन—

अद्वैत करिल प्रभुर चरण वन्दन।
आचार्येर कैल प्रभु प्रेम-आलिङ्गन॥१२७॥

१२७। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों की वन्दना की और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीअद्वैताचार्य का प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया।

दोनों का प्रेमावेश, बाद में धैर्य—

प्रेमानन्दे हैला दुँहे परम-अस्थिर।
समय देखिया प्रभु हैला किछु धीर॥१२८॥

१२८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं श्रीअद्वैताचार्य—दोनों ही प्रेम के आनन्द में परम अस्थिर हो गये, किन्तु इस समय ऐसा करना ठीक नहीं, ऐसा विचार करके श्रीचैतन्य महाप्रभु कुछ धीर हो गये।

श्रीवासादि के द्वारा प्रभु को प्रणाम, प्रभु का आलिङ्गन—

श्रीवासादि करिल प्रभुर चरण वन्दन।
प्रत्येके करिल प्रभु प्रेम-आलिङ्गन॥१२९॥

१२९। प० अनु०—इसके बाद श्रीवासादि भक्तों ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों की वन्दना की और श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भी प्रत्येक भक्त का प्रीतिपूर्वक आलिङ्गन किया।

सभी भक्तों का यथायोग्य सम्भाषण—

एके एके सर्वभक्ते कैल सम्भाषण।
सबा लञा अभ्यन्तरे करिला गमन॥१३०॥

१३०। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु एक-एक करके सभी भक्तों के साथ वार्त्तालाप करने लगे और उन सबको अपने साथ लेकर वे घर के अन्दर चले गये।

थोड़ा स्थान होने पर भी काशीमिश्र के भवन में सभी भक्तों का समागम—

मिश्रेर आवास सेइ हय अल्प स्थान।
असंख्य वैष्णव ताँहा हैल परिमाण॥१३१॥

१३१। प॰ अनु॰—श्रीकाशीमिश्र के घर में थोड़ा सा ही स्थान था परन्तु वहाँ असंख्य वैष्णव समा गये।

सभी भक्तों को स्वयं प्रभु के द्वारा माला-गन्ध प्रदान—

आपन-निकटे प्रभु सबा बसाइला।
आपनि स्वहस्ते सबारे माल्य-गन्ध दिला॥१३२॥

१३२। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सब भक्तों को अपने पास बैठा लिया और उन्होंने अपने हस्तकमल से सबको माला एवं चन्दन प्रदान किया।

सार्वभौम के साथ सभी भक्तों का मिलन—

भट्टाचार्य आइला तबे महाप्रभुर स्थाने।
यथायोग्य मिलिला सबाकार सने॥१३३॥

१३३। प॰ अनु॰—तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु के वास स्थान पर आ गये तथा वे और सभी भक्तों से यथायोग्य मिले।

प्रभु के द्वारा अद्वैत की स्तुति—

अद्वैतेरे कहेन प्रभु मधुर वचने।
आजि आमि पूर्ण हइलाङ तोमार आगमने॥१३४॥

१३४। प॰ अनु॰—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने मधुर वचनों से श्रीअद्वैताचार्य से कहा—"आपके आने से आज मैं पूर्ण हो गया हूँ।"

अद्वैत के द्वारा ईश्वर के भक्तवात्सल्य रूपी स्वभाव का वर्णन—

अद्वैत कहे,—ईश्वरेर एइ स्वभाव हय।
यद्यपि आपने पूर्ण, सर्वैश्वर्यमय॥१३५॥
तथापिह भक्त-सङ्गे हय सुखोल्लास।
भक्त-सङ्गे करे नित्य विविध विलास॥१३६॥

१३५-१३६। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैताचार्य प्रभु ने कहा—"ईश्वर का यह स्वभाव ही होता है कि यद्यपि वे स्वयं ही पूर्ण तथा सभी ऐश्वर्यों से युक्त होते हैं, फिर भी अपने भक्तों के सङ्ग में उन्हें परम आनन्द की प्राप्ति होती है। भगवान् अपने भक्तों के साथ नित्य अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं।"

प्रभु की बचपन के साथी मुकुन्द की अपेक्षा वासुदेव दत्त में अधिक प्रीति—

वासुदेव देखि' प्रभु आनन्दित हञा।
ताँरे किछु कहे ताँर अङ्गे हस्त दिया॥१३७॥
यद्यपि मुकुन्द—आमा-सङ्गे शिशु हैते।
ताँहा हैते अधिक सुख तोमारे देखिते॥१३८॥

१३७-१३८। प॰ अनु॰—श्रीवासुदेव दत्त को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु बहुत आनन्दित हुये और उनके शरीर पर अपना हाथ रखकर उनसे कुछ कहने लगे—"यद्यपि मुकुन्द मेरे साथ बालक अवस्था से हैं, परन्तु उनकी अपेक्षा आपको देखकर मुझे अधिक प्रसन्नता की प्राप्ति हो रही है।"

अमानी और मानद वासुदेव दत्त के द्वारा अपने कनिष्ठ मुकुन्द को प्रभु के प्रिय जानकर अपने से श्रेष्ठ मानना—

वासु कहे,—मुकुन्द पाइल तोमार सङ्ग।
तोमार चरण पाइल सेइ पुनर्जन्म॥१३९॥
छोट हञा मुकुन्द एबे हैल आमार ज्येष्ठ।
तोमार कृपापात्र, ताते सर्वगुणे श्रेष्ठ॥१४०॥

१३९-१४०। प॰ अनु॰—यह सुनकर श्रीवासुदेव

दत्त ने कहा—"मुकुन्द ने आपका सङ्ग प्राप्त किया है और आपके चरणकमलों का आश्रय लेने पर उसे दूसरे जन्म की प्राप्ति हुई है। मुकुन्द मुझसे छोटा होते हुये भी अब मुझसे बड़ा है क्योंकि वे आपकी कृपा का पात्र है, इसलिये वे मुझसे सभी गुणों में श्रेष्ठ है।"

अमृतप्रवाह भाष्य

१३९-१४०। वासु कहे मुकुन्द,—वासुदेव दत्त से छोटा मुकुन्द दत्त। मुकुन्द (बचपन से ही) महाप्रभु के साथ थे।

वासुदेव ने कहा,—मुकुन्द ने मुझसे पहले ही आपके चरणों का आश्रय किया है, मैंने तो बाद में किया है। अतएव मुकुन्द का पारमार्थिक जन्म मुझसे पहले हुआ है एवं इसलिये मैं उससे छोटा हो गया हूँ।

वासुदेव को स्वरूप दामोदर से 'ब्रह्मसंहिता' और 'कर्णामृत' की नकल करने का आदेश—

पुनः प्रभु कहे, आमि तोमार निमित्ते।
दुइ पुस्तक आनियाछि 'दक्षिण' हइते॥१४१॥
स्वरूपेर काछे आछे, लह ता लिखिया।
वासुदेव आनन्दित पुस्तक पाञा॥१४२॥

१४१-१४२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पुनः कहा—"मैं आपके लिये दक्षिण भारत से दो पुस्तकें लाया हूँ। वह पुस्तकें स्वरूप दामोदर के पास हैं आप उनसे उन पुस्तकों को लेकर उसकी नकल कर लो।" श्रीवासुदेव दत्त उन पुस्तकों को प्राप्त करके बहुत आनन्दित हुये।

अनुभाष्य

१४१। दुई पुस्तक (दो ग्रन्थ),—श्रीब्रह्मसंहिता और श्रीकृष्णकर्णामृत।

वासुदेवादि सभी गौड़ीय भक्तों के द्वारा नकल करके ग्रन्थों की रक्षा के फलस्वरूप दोनों ग्रन्थों का सर्वत्र प्रचार—

प्रत्येक वैष्णव सबे लिखिया लइल।
क्रमे क्रमे दुइ ग्रन्थ सर्वत्र व्यापिल॥१४३॥

१४३। प० अनु०—प्रत्येक वैष्णव ने उन दोनों पुस्तकों को नकल करके लिख लिया, जिससे क्रमशः दोनों ग्रन्थ सर्वत्र व्याप्त हो गये।

श्रीवासादि की प्रशंसा—

श्रीवासाद्ये कहे प्रभु करि' महाप्रीत।
तोमार चारि-भाईर आमि हइनु विक्रीत॥१४४॥

१४४। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीवास आदि चार भाइयों से अत्यधिक प्रीतिपूर्वक कहने लगे—"आप चारों भाईयों के हाथों तो मैं बिक गया हूँ।"

श्रीवास की दीनता—

श्रीवास कहेन,—केने कह विपरीत।
कृपा-मूल्ये चारि भाई हइ तोमार क्रीत॥१४५॥

१४५। प० अनु०—यह सुनकर श्रीवास पण्डित ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से कहा—"आप उल्टी बात क्यों कह रहे हैं। हम चारों भाई तो आपकी कृपा के मूल्य से आपके हाथों बिक गये हैं।

प्रभु की दामोदर के प्रति गौरवप्रीति, शङ्कर के प्रति शुद्धप्रेम—

शङ्करे देखिया प्रभु कहे दामोदरे।
सगौरव-प्रीति आमार तोमार उपरे॥१४६॥
शुद्ध केवल-प्रेम शङ्कर उपरे।
अतएव तोमार सङ्गे राखह शङ्करे॥१४७॥

१४६-१४७। प० अनु०—श्रीशङ्कर को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीदामोदर पण्डित से कहा—"तुम पर मेरा स्नेह गौरव प्रीति से युक्त है। परन्तु शङ्कर के प्रति मेरी शुद्ध प्रीति है अतएव शङ्कर को आप अपने साथ ही रखना।"

अमृतप्रवाह भाष्य

१४६। दामोदर पण्डित—बड़े भाई, एवं शङ्कर पण्डित—छोटे भाई। प्रभु ने कहा,—'दामोदर! तुम्हारे प्रति मेरी सगौरव-प्रीति अर्थात् सम्मान पूर्वक प्रीति है; किन्तु शङ्कर के प्रति केवल शुद्धप्रेम है। आप अब

शङ्कर को अपने साथ रखो।' दामोदर ने कहा,—'प्रभो, आपके अधिक स्नेह को प्राप्त करने के कारण शङ्कर मेरा छोटा भाई होने पर भी बड़ा भाई हो गया है।'

अमानी और मानद दामोदर पण्डित के द्वारा कनिष्ठ शङ्कर को प्रभु का प्रिय जानकर अपने से श्रेष्ठ मानना—

दामोदर कहे,—शङ्कर छोट आमा हैते।
एबे आमार बड़ भाइ तोमार कृपाते॥१४८॥

१४८। प० अनु०—श्रीदामोदर ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से कहा—"यद्यपि शङ्कर मुझसे छोटा है परन्तु अब वह वे मेरा बड़ा भाई बन गया है, क्योंकि आपकी उस पर बहुत कृपा है।

प्रभु के द्वारा शिवानन्द की प्रशंसा—

शिवानन्दे कहे प्रभु,—तोमार आमाते।
गाढ़ अनुराग हय, जानि आगे हैते॥१४९॥

१४९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीशिवानन्द सेन से कहा—"आपका मेरे प्रति गाढ़ अनुराग है, इसे मैं पहले से ही जानता हूँ।"

शिवानन्द की दीनता—

शुनि' शिवानन्द-सेन प्रेमाविष्ट हञा।
दण्डवत् हञा पड़े श्लोक पड़िया॥१५०॥

१५०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के वचन सुनकर श्रीशिवानन्द सेन प्रेमाविष्ट हो गये और श्रीचैतन्य महाप्रभु को दण्डवत् प्रणाम करके यह श्लोक पढ़ने लगे—

भगवान् की दया की प्रार्थना—चैतन्यचन्द्रोदय-नाटक (८/४२)—(यमुनाचार्य अथवा आलवन्दारु-कृत स्तोत्र का २६ वाँ श्लोक)—

निमज्जतोऽनन्त भवार्णवान्तश्चिराय
मे कूलमिवासि लब्धः।
त्वयापि लब्धं भगवन्निदानीम्
अनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः॥१५१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५१। हे अनन्त, भव सागर में निमग्न रहने पर बहुत दिन के बाद आपको तट के रूप में प्राप्त किया है। हे भगवान् आपने भी मुझे प्राप्त करके अपनी दया का अति उत्तम पात्र प्राप्त किया है। यह श्लोक आलवन्दारु यामुनाचार्य कृत स्तोत्र के अन्तर्गत है।

अनुभाष्य

१५१। हे अनन्त, चिराय भवार्णवान्तः (संसार दुःखजलधि-मध्ये) निमज्जतः (उत्थान शक्ति रहितस्य मग्नस्य) मे (मम) कूलं (तटम्) इव (त्वं भगवान् मया) लब्धः असि; हे भगवन्, इदानीं (सम्प्रति) त्वया अपि दयायाः इदम् अनुत्तमं (नास्ति उत्तमं परतमं श्रेष्ठं यस्मात् तत् सर्वश्रेष्ठे) पात्रं लब्धं (प्राप्तम्)।

मुरारिगुप्त का दीनतावशतः आत्मगोपन—

प्रथमे मुरारि-गुप्त प्रभुरे ना देखिया।
बाहिरेते पड़ि' आछे दण्डवत् हञा॥१५२॥

१५२। प० अनु०—श्रीमुरारि गुप्त श्रीचैतन्य महाप्रभु के दर्शन किये बिना ही बाहर में दण्डवत् प्रणाम करके भूमि पर पड़े हुए थे।

भगवान् के द्वारा भक्त को ढूँढ़ना—

मुरारि ना देखिया प्रभु करे अन्वेषण।
मुरारि लइते धाञा आइला बहुजन॥१५३॥

१५३। प० अनु०—श्रीमुरारि गुप्त को न देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उनके विषय में जिज्ञासा की। तब बहुत से वैष्णव श्रीमुरारि गुप्त को श्रीचैतन्य महाप्रभु के पास लाने के लिये दौड़ पड़े।

मुरारि के द्वारा दीनता पूर्वक प्रभु का दर्शन—

तृण दुइगुच्छ मुरारि दशने धरिया।
महाप्रभु आगे गेला दैन्याधीन हञा॥१५४॥

१५४। प० अनु०—श्रीमुरारि गुप्त तृण के दो गुच्छों को अपने दाँतों में दबाकर अत्यन्त दीन हीन होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के सामने गये।

स्वयं को अस्पृश्य मानते हुये मुरारि
को प्रभु के स्पर्श में संकोच-बोध—

मुरारि देखिया प्रभु आइला मिलिते।
पाछे भागे मुरारि, लागिला कहिते॥१५५॥
मोरे ना छुँइह, प्रभु, मुञि त' पामर।
तोमार स्पर्शयोग्य नहे एइ कलेवर॥१५६॥

१५५-१५६। प० अनु०—श्रीमुरारि गुप्त को आते देखकर जब श्रीचैतन्य महाप्रभु उठकर उनसे मिलने के लिये आये तब श्रीमुरारि गुप्त पीछे की ओर भागते हुये कहने लगे—"हे प्रभु! आप मुझे स्पर्श न करें मैं तो अत्यन्त नीच हूँ। मेरा यह शरीर आपके द्वारा स्पर्श करने योग्य नहीं है।"

भक्त की दीनता को देखकर भगवान् का आद्रभाव—

प्रभु कहे,—मुरारि, कर दैन्य सम्वरण।
तोमार दैन्य देखि' मोर विदीर्ण हय मन॥१५७॥

१५७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"हे मुरारि! आप अपनी दीनता का सम्वरण कीजिए। आपकी दीनता को देखकर मेरा मन विदीर्ण होने लगता है।"

भक्तों की सेवा में रत भगवान्—

एत बलि' प्रभु ताँरे कैल आलिङ्गन।
निकटे बसाञा करे अङ्ग सम्मार्जन॥१५८॥

१५८। प० अनु०—इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीमुरारि गुप्त का आलिङ्गन किया और अपने पास बैठाकर अपने हाथों से उनके शरीर का मार्जन करने लगे।

प्रभु के द्वारा चन्द्रशेखर, पुण्डरीक और
गदाधर आदि की प्रशंसा एवं आलिङ्गन—

आचार्यरत्न, विद्यानिधि, पण्डित गदाधर।
गङ्गादास, हरिभट्ट, आचार्य पुरन्दर॥१५९॥
प्रत्येके सबार प्रभु करि' गुण गान।
पुनः पुनः आलिङ्गिया करिल सम्मान॥१६०॥

१५९-१६०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीआचार्यरत्न, श्रीविद्यानिधि, श्रीगदाधर पण्ड़ित, श्रीगङ्गा-दास, श्रीहरिभट्ट और श्रीपुरन्दर आचार्य नामक प्रत्येक भक्त का गुणगान किया और बार-बार उनका आलिङ्गन करके उन सबका सम्मान किया।

हरिदास को ढूँढ़ना—

सबारे सम्मानि' प्रभुर हइल उल्लास।
हरिदासे ना देखिया कहे,—काँहा हरिदास॥१६१॥

१६१। प० अनु—इस प्रकार सभी भक्तों का सम्मान करके श्रीचैतन्य महाप्रभु परम प्रसन्न हुए। परन्तु श्रील हरिदास ठाकुर को न देखकर प्रभु कहने लगे—"हरिदास कहाँ है?"

ठाकुर हरिदास का दीनता वशतः दूर रहना—

दूर हैते हरिदास गोसाञे ना देखिया।
राजपथ-प्रान्ते पड़ि' आछे दण्डवत् हञा॥१६२॥
मिलन-स्थाने आसि' प्रभुरे ना मिलिला।
राजपथ-प्रान्ते दूरे पड़िया रहिला॥१६३॥

१६२-१६३। प० अनु०—श्रील हरिदास ठाकुर श्रीचैतन्य महाप्रभु के दूर से ही दर्शन करके राजमार्ग पर दण्डवत् प्रणाम करके भूमि पर पड़े हुये थे। जहाँ पर सभी भक्त श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिल रहे थे, श्रील हरिदास ठाकुर उस स्थान पर नहीं आये बल्कि वे वहाँ से दूर राजपथ पर ही पड़े रहे।

भक्तों के द्वारा हरिदास ठाकुर को प्रभु की आज्ञा बताना—

भक्त सब धाञा आइल हरिदासे निते।
प्रभु तोमाय मिलिते चाहे, चलह त्वरिते॥१६४॥

१६४। प० अनु—भक्तगण दौड़ते हुये श्रील हरिदास को ले जाने के लिये आये और उनसे कहने लगे—"शीघ्र चलो! श्रीचैतन्य महाप्रभु आपसे मिलना चाहते हैं।"

मर्यादा की विधि को संरक्षण करते
हुए हरिदास की दैन्यपूर्ण उक्ति—

हरिदास कहे,—आमि नीच-जाति छार।

मन्दिर-निकटे जाइते मोर नाहि अधिकार॥१६५॥
निभृते टोटा-मध्ये स्थान यदि पाङ।
ताँहा पड़ि' रहो' एकले काल गोङाङ॥१६६॥
जगन्नाथ-सेवकेर मोर स्पर्श नहि हय।
ताँहा पड़ि' रहों,—मोर एइ वाञ्छा हय॥१६७॥

१६५-१६७। प० अनु०—श्रील हरिदास ठाकुर ने कहा—"मैं नीच जाति का अधम व्यक्ति हूँ। मेरा मन्दिर के निकट जाने का भी अधिकार नहीं है। यदि मुझे एकान्त में किसी बगीचे में कोई स्थान मिल जाये तो वहीं रहकर मैं अकेले ही अपना समय व्यतीत कर लूँगा। मेरी इच्छा है कि मैं उस एकान्त बगीचे में ही पड़ा रहूँ जिससे श्रीजगन्नाथ के सेवकों को मेरा स्पर्श न हो जाये।"

अमृतप्रवाह भाष्य

१६६। टोटा-मध्ये—उद्यान में।

लोगों के मुख से हरिदास ठाकुर की
दैन्योक्ति वचन को सुनकर प्रभु को आनन्द—

एइ कथा लोक गिया प्रभुरे कहिल।
शुनिया प्रभुर मने बड़ सुख हैल॥१६८॥

१६८। प० अनु०—श्रील हरिदास की यह बातें भक्तों ने जाकर श्रीचैतन्य महाप्रभु से कही, जिन्हें सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुये।

काशीमिश्र के द्वारा प्रभु
के चरणों की वन्दना—

हेनकाले काशीमिश्र, पड़िछा,—दुइ जन।
आसिया करिल प्रभुर चरण वन्दन॥१६९॥
सर्व वैष्णव देखि' सुख बड़ पाइला।
यथायोग्य सबा-सने आनन्दे मिलिला॥१७०॥

१६९-१७०। प० अनु०—इतने में श्रीकाशीमिश्र और पड़िछा—दोनों ने आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों की वन्दना की। सभी वैष्णवों का दर्शन करके वे दोनों बहुत प्रसन्न हुये और यथायोग्य सभी से आनन्दपूर्वक मिले।

प्रभु के निकट वैष्णवों की सेवा के
लिये काशीमिश्र की आज्ञा याचना—

प्रभुपदे दुइ जने कैल निवेदने।
आज्ञा देह',—वैष्णवेर करि समाधाने॥१७१॥
सबार करियाछि वासा-गृह-स्थान।
महाप्रसाद सबाकारे करि समाधान॥१७२॥

१७१-१७२। प० अनु०—दोनों ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों में इस प्रकार निवेदन किया—"यदि आपकी आज्ञा हो तो हम यथायोग्य सभी वैष्णवों के लिये व्यवस्था कर दें। सभी के लिये रहने के स्थान की व्यवस्था हो चुकी है तथा अब हम उन सबके लिये महाप्रसाद की व्यवस्था कर देते हैं।"

गोपीनाथ आचार्य को भक्तों के सभी कार्यों
को सम्पन्न करने के लिये प्रभु का आदेश—

प्रभु कहे,—गोपीनाथ, जाह' वैष्णव लञा।
जाँहा जाँहा कहे वासा, ताँहा देह' लञा॥१७३॥

१७३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"हे गोपीनाथ आचार्य! आप सभी वैष्णवों को अपने साथ लेकर जाइये, तथा श्रीकाशीमिश्र और पड़िछा जहाँ-जहाँ रहने के स्थान के विषय में बतलाएँ, वहाँ पर भक्तों को रहने के लिये स्थान दे दें।"

वाणीनाथ पर प्रसाद
की व्यवस्था का भार—

महाप्रसादान्न देह वाणीनाथ स्थाने।
सर्व वैष्णवे इँहो करिबे समाधाने॥१७४॥

१७४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीकाशी-मिश्र और पड़िछा से कहा कि आप जितना भी महाप्रसाद लाये हैं, सब वाणीनाथ के हाथ में दे दें, वे ही सभी वैष्णवों में महाप्रसाद वितरित कर देंगे। वाणीनाथ सबको महाप्रसाद अन्न देंगे और सभी वैष्णवों की देखभाल भी यही करेंगे।

काशीमिश्र से प्रभु के द्वारा बगीचे
में स्थित निर्जन घर हेतु याचना—

आमार निकटे एइ पुष्पेर उद्याने।
एकखानि घर आछे परम-निर्जने॥१७५॥
सेइ घर आमाके देह'—आछे प्रयोजन।
निभृते बसिया ताँहा करिब स्मरण॥१७६॥

१७५-१७६। प० अनु०—मेरे वास स्थान के पास स्थित अत्यधिक निर्जन इस उद्यान में एक घर है। वह घर मुझे दे दो, मुझे उसकी आवश्यकता है। मैं वहाँ एकान्त में बैठकर स्मरण करूँगा।

अनुभाष्य

१७५। अब यह स्थान 'सिद्ध बकुल मठ' के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रभु के द्रव्यादि को प्रभु की अपनी
इच्छानुसार ग्रहण करने के लिये प्रभु
के निकट काशीमिश्र का आवेदन—

मिश्र कहे,—सब तोमार, चाह कि कारणे?
आपन-इच्छाय लह, जेइ तोमार मने॥१७७॥

१७७। प० अनु०—श्रीकाशी मिश्र ने कहा—"सब तो आपका ही है, फिर आप माँगते क्यों हैं? आपकी अपनी इच्छा से आप जो चाहें ले सकते हैं।

काशीमिश्र के द्वारा स्वयं को प्रभु
के आज्ञा-वहनकारी दास के रूप
में स्वीकार करने हेतु प्रार्थना—

आमि-दुई हई तोमार दास आज्ञाकारी।
जे चाह, सेइ आज्ञा देह' कृपा करि'॥१७८॥

१७८। प० अनु०—हम दोनों आपकी आज्ञा का पालन करने वाले दास हैं। आप जो भी चाहें, उसे कृपा करके हमें करने को कहें।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७८। आपको जो चाहिए, कृपा करके उसकी आज्ञा दे दीजिए। हम दोनों आपके आज्ञा पालनकारी दास है।

विदाई लेकर गोपीनाथ को गृह के निर्वाचन और
वाणीनाथ को प्रसाद की व्यवस्था का भार-अर्पण—

एत कहि' दुइ जने विदाय लइल।
गोपीनाथ, वाणीनाथ, दुँहे सङ्गे निल॥१७९॥
गोपीनाथे देखाइल सब वासा-घर।
वाणीनाथ-ठाञि दिल प्रसाद विस्तर॥१८०॥
वाणीनाथ आइला बहु प्रसाद पिठा लञा।
गोपीनाथ आइला वासा संस्कार करिया॥१८१॥

१७९-१८१। प० अनु०—इतना कहकर श्रीकाशी-मिश्र और पड़िछा ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से विदाई ली और श्रीगोपीनाथ तथा श्रीवाणीनाथ को अपने साथ ले लिया। उन्होंने श्रीगोपीनाथ आचार्य को सभी रहने के स्थान दिखला दिये एवं श्रीवाणीनाथ को बहुत अधिक मात्रा में महाप्रसाद दिया। श्रीवाणीनाथ पिठा पाना आदि बहुत प्रकार का प्रसाद लेकर आ गये और श्रीगोपीनाथ भी सभी घरों की सफाई करके वहाँ आ पहुँचे।

प्रभु के द्वारा सभी भक्तों को स्नान के बाद चूड़ा दर्शन
करके प्रसाद का सम्मान करने के लिये आमन्त्रण—

महाप्रभु कहे,—शुन, सर्व वैष्णवगण।
निज-निज-वासा सबे करह गमन॥१८२॥
समुद्रस्नान करि' कर चूड़ा दरशन।
तबे आजि इहँ आसि' करिबे भोजन॥१८३॥

१८२-१८३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सभी वैष्णवों को सम्बोधित करते हुए कहा—सुनिये! आप सभी अपने-अपने निवास स्थान पर जाइये और समुद्र स्नान करके श्रीजगन्नाथ मन्दिर के चूड़ा का दर्शन कर यहाँ आकर प्रसाद पाइये।"

अमृतप्रवाह भाष्य

१८३। चूड़ा—जगन्नाथ मन्दिर का चूड़ा।

प्रभु को प्रणाम करने के बाद सभी भक्तों को
गोपीनाथ के द्वारा निर्दिष्ट घर की प्राप्ति—

प्रभु नमस्करि' सबे वासाते चलिला।
गोपीनाथाचार्य सबे वास-स्थान दिला॥१८४॥

१८४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु को प्रणाम करके सभी भक्त अपने-अपने वास स्थान पर चले गये और श्रीगोपीनाथाचार्य ने सभी को रहने का स्थान प्रदान किया।

हरिदास ठाकुर के निकट प्रभु का आगमन—

महाप्रभु आइला तबे हरिदास-मिलने।
हरिदास करे प्रेमे नाम-संकीर्त्तने॥१८५॥

१८५। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रील हरिदास ठाकुर से मिलने आये। उस समय श्रील हरिदास प्रेमपूर्वक नाम-संकीर्त्तन कर रहे थे।

हरिदास के द्वारा प्रणाम एवं प्रभु का आलिङ्गन—

प्रभु देखि' पड़े पाय दण्डवत् हञा।
प्रभु आलिङ्गन कैल ताँरे उठाञा॥१८६॥

१८६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु को देखकर श्रील हरिदास ठाकुर ने उन्हें दण्ड्वत प्रणाम किया और प्रभु ने उन्हें उठाकर उनका आलिङ्गन किया।

परस्पर के गुणों के स्मरण से भक्त और भगवान्, दोनों की प्रेम विह्वलता—

दुइजने प्रेमावेशे करेन क्रन्दने।
प्रभु-गुणे भृत्य विकल प्रभु, भृत्य-गुणे॥१८७॥

१८७। प० अनु०—दोनों प्रेम में आविष्ट होकर क्रन्दन कर रहे थे। प्रभु के गुणों से दास और दास के गुणों से प्रभु विकल (विह्वल) हो रहे थे।

हरिदास ठाकुर का अपने को अस्पृश्य मानना—

हरिदास कहे,—प्रभु, ना छुँइओ मोरे।
मुञि—नीच, अस्पृश्य, परम पामरे॥१८८॥

१८८। प० अनु—श्रील हरिदास ठाकुर ने कहा—"हे प्रभु! आप मुझे स्पर्श मत कीजिये। मैं नीच, अस्पृश्य और सबसे अधिक पतित हूँ।"

साक्षात् ब्रह्मण्यदेव प्रभु के द्वारा हरिदास के आर्य होने का कीर्त्तन—

प्रभु कहे,—"तोमा स्पर्शि पवित्र हइते।
तोमार पवित्र धर्म नाहिक आमाते॥१८९॥

१८९। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मैं स्वयं पवित्र होने के लिये ही आपको स्पर्श कर रहा हूँ। आपके जैसा पवित्र धर्म मुझमें नहीं है।

कृष्णभक्त के द्वारा सब समय सभी तीर्थों का स्नान और सभी प्रकार के तप, यज्ञ और दानादि कार्य—

क्षणे क्षणे कर तुमि सर्वतीर्थे स्नान।
क्षणे क्षणे कर तुमि यज्ञ-तपो-दान॥१९०॥

१९०। प० अनु—आप तो क्षण-क्षण में सभी तीर्थों में स्नान करते हैं और क्षण-क्षण में आप यज्ञ, तप और दान करते हैं।

कृष्णभक्त ही अङ्ग सहित वेद-वेदान्त का अध्ययन करने वाले और समस्त ब्राह्मणों तथा संन्यासियों के गुरु—

निरन्तर कर तुमि वेद-अध्ययन।
द्विज-न्यासी हैते तुमि परम-पावन॥१९१॥

१९१। प० अनु—आप निरन्तर वेदों का अध्ययन करते हैं। आप तो ब्राह्मण और संन्यासी की अपेक्षा परम पवित्र हैं।

श्रीमद्भागवत (३/३३/७)—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्याः
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥१९२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९२। हे भगवन्, जिनके मुख में आपका नाम वर्त्तमान है, वे श्वपच होने पर भी श्रेष्ठ है। जो आपका नाम कीर्त्तन करते हैं, उन्होंने सब प्रकार की तपस्या कर ली है, समस्त यज्ञ कर लिये हैं, सभी तीर्थों में स्नान कर

लिया है एवं अङ्ग सहित समस्त वेदों का पाठ कर लिया है अतएव आर्यों में परिगणित है।

अनुभाष्य

१९२। देवहूति द्वारा भगवान् कपिल की स्तुति के वर्णन के प्रसङ्ग में निखिल गुण राशि सम्पन्न उनके भक्तों के माहात्म्य का वर्णन—

यत् (यस्य) जिह्वाग्रे (रसना प्रान्ते) तुभ्यं (तव) नाम वर्त्तते अतः (दैक्ष विप्राभिधानात्) सः श्वपचः (शौक्रान्त्य जादि-नीच-कुलोद्भूतः) अपि गरीयान् (श्रेष्ठः) अहो बत (इत्याश्चर्यम्)। ये तो (तव) नाम गृणन्ति (उच्चारयन्ति) ते तपः तेपुः (अनुष्ठानवन्तः—तपस्विनोऽधिका इत्यर्थः) जुहुवुः (होमं कृतवन्तः), सस्नुः (सर्वेष्वेव तीर्थेषु स्नाताः आर्याः (सदाचाराः) साङ्गं वेदम् अनूचुः (अधीतवन्तः) इस श्लोक का तथ्य और पूर्ववर्ती श्लोक की विवृत्ति तथा श्रीगौड़ीय भाष्य श्रीमद्भागवत में द्रष्टव्य।

हरिदास ठाकुर को 'सिद्धबकुल' नामक स्थान प्रदान—

एत बलि ताँरे लञा गेला पुष्पोद्याने।
अति निभृते ताँरे दिला वासा-स्थाने॥१९३॥

१९३। प॰ अनु॰—इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रील हरिदास ठाकुर को पुष्प उद्यान में ले गये और उन्होंने श्रील हरिदास ठाकुर को बहुत निर्जन एक वास स्थान प्रदान किया।

प्रभु के द्वारा स्वयं ही भक्त के साथ मिलन स्वीकार—

एइस्थाने रहि' कर नाम-संकीर्तन।
प्रतिदिन आसि' आमि करिब मिलन॥१९४॥

१९४। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीहरिदास ठाकुर से कहा—"आप इसी स्थान पर रहकर नाम-संकीर्त्तन कीजिए। मैं प्रतिदिन आकर आपसे यहीं मिलूँगा।

मन्दिर के ऊपर सुदर्शन चक्र को प्रणाम करने की आज्ञा प्रदान—

मन्दिरेर चक्र देखि' करिह प्रणाम।
एइ ठाञि तोमार आसिबे प्रसादान्न॥१९५॥

१९५। प॰ अनु॰—यहीं से श्रीजगन्नाथ मन्दिर के चक्र को देखकर प्रणाम कीजियेगा और यहीं पर आपके लिये अन्न प्रसाद आ जायेगा।

अनुभाष्य

१९५। श्रीहरिदास ठाकुर ने लौकिक स्मृति विधान के मतानुसार श्रीमन्दिर में प्रविष्ट होकर श्रीजगन्नाथ दर्शन के लिये स्वयं को अयोग्य जाना है, ऐसा जानकर श्रीमहाप्रभु ने उन्हें दूर से श्रीमन्दिर के चूड़े के अग्रभाग में सुदर्शन चक्र को देखकर प्रणाम करने की व्यवस्था कर दी तथा कहा कि इस सिद्ध बकुल में ही तुम्हारे लिये प्रसाद आयेगा।

नित्यानन्द आदि भक्तों का हरिदास ठाकुर के दर्शन से आनन्द—

नित्यानन्द, जगदानन्द, दामोदर, मुकुन्द।
हरिदासे मिलि' सबे पाइल आनन्द॥१९६॥

१९६। प॰ अनु॰—श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीजगदानन्द पण्डित, श्रीदामोदर और श्रीमुकुन्द—सभी श्रील हरिदास से मिलकर परम आनन्दित हुये।

प्रभु के समुद्र स्नान के बाद अद्वैतादि भक्तों का समुद्र स्नान—

समुद्रस्नान करि' प्रभु आइला निज-स्थाने।
अद्वैतादि गेला सिन्धु करिबारे स्नाने॥१९७॥

१९७। प॰ अनु॰—जब श्रीचैतन्य महाप्रभु समुद्र स्नान करके अपने वास स्थान पर आ गये, तब श्रीअद्वैतादि भक्तगण समुद्र में स्नान करने गये।

जगन्नाथ मन्दिर का चूड़ा दर्शन करने के बाद सभी भक्तों के द्वारा प्रसाद का सम्मान—

आसि' जगन्नाथेर कैल चूड़ा दरशन।
प्रभुर आवासे आइला करिते भोजन॥१९८॥

१९८। प॰ अनु॰—समुद्र स्नान करने के बाद सभी भक्त लौट गये और उन्होंने श्रीजगन्नाथ मन्दिर के शिखर का दर्शन किया और श्रीचैतन्य महाप्रभु के निवास स्थान पर प्रसाद पाने के लिये उपस्थित हुये।

सभी भक्तों का बैठना और प्रभु के द्वारा परिवेशन आरम्भ—

सबारे बसाइला प्रभु योग्य क्रम करि'।
श्रीहस्ते परिवेशन कैल गौरहरि॥१९९॥

१९९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सभी भक्तों को यथायोग्य स्थान पर बैठा दिया और स्वयं श्रीगौरहरि ने अपने हाथों से प्रसाद का वितरण किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९९। योग्यक्रम करि',—जिसके बाद जिसका बैठना उचित है, उस प्रकार से करके।

श्रीहस्त के द्वारा प्रचुर परिवेशन—

अल्प अन्न नाहि आइसे, दिते प्रभुर हाते।
दुइ-तिनेर अन्न देन एक एक पाते॥२००॥

२००। प० अनु०—प्रसाद बाँटते समय श्रीचैतन्य महाप्रभु के हाथों में थोड़ा अन्न नहीं आता था इसलिये एक-एक पत्ते पर दो-तीन व्यक्तियों के भोजन करने योग्य अन्न दे देते।

प्रभु के भोजन किये बिना सभी
भक्तों के द्वारा प्रसाद ग्रहण न करना—

प्रभु ना खाइले केह ना करे भोजन।
उर्द्ध-हस्ते बसि' रहे सर्व भक्तगण॥२०१॥

२०१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के भोजन के बिना कोई भी भोजन नहीं कर रहा था, सभी भक्तगण हाथ ऊँचे उठाकर बैठे रहे।

स्वरूप दामोदर ने नित्यानन्द प्रभु के साथ
प्रभु को भोजन करने हेतु प्रार्थना एवं स्वयं
भक्तों को परिवेशन करना स्वीकार—

स्वरूप-गोसाञि प्रभुके कैल निवेदन।
तुमि ना बसिले केह ना करे भोजन॥२०२॥
तोमा-सङ्गे रहे जत संन्यासीर गण।
गोपीनाथाचार्य ताँरे करियाछे निमन्त्रण॥२०३॥
आचार्य आसियाछेन भिक्षार प्रसादान्न लञा।
पुरी, भारती आछेन तोमार अपेक्षा करिया॥२०४॥
नित्यानन्द लञा भिक्षा करिते बैसे तुमि।
वैष्णवेर परिवेशन करितेछि आमि॥"२०५॥

२०२-२०५। प० अनु०—तब श्रीस्वरूप दामोदर गोसाईं ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को निवदेन किया—"जब तक आप भोजन करने नहीं बैठेंगे तब तक कोई भी भोजन नहीं करेगा। आपके साथ जो सब संन्यासी रहते हैं श्रीगोपीनाथाचार्य ने उन्हें भी निमन्त्रण किया है। श्रीगोपीनाथाचार्य भिक्षा का प्रसाद लेकर आ गये हैं। श्रीपरमानन्द पुरी और श्रीब्रह्मानन्द भारती आप ही की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आप श्रीनित्यानन्द प्रभु के साथ भोजन करने के लिये बैठिये और मैं सभी वैष्णवों को परिवेशन करता हूँ।

प्रभु के द्वारा परिवेशन छोड़ देना और गोविन्द
के हाथों हरिदास ठाकुर के लिये प्रसाद भेजना—

तबे प्रभु प्रसादान्न गोविन्द-हाते दिला।
यत्न करि' हरिदास-ठाकुरे पाठाइला॥२०६॥

२०६। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने प्रसाद श्रीगोविन्द के हाथ में दे दिया और यत्नपूर्वक उसे श्रीहरिदास ठाकुर के पास भिजवा दिया।

संन्यासियों के साथ प्रभु का प्रसाद-सम्मान
और आचार्य द्वारा परिवेशन—

आपने बसिला सब संन्यासीरे लञा।
परिवेशन करे आचार्य हरषित हञा॥२०७॥

२०७। प० अनु०—फिर श्रीचैतन्य महाप्रभु सभी संन्यासियों के साथ बैठ गये और श्रीगोपीनाथाचार्य प्रसन्न चित्त होकर परिवेशन करने लगे।

अनुभाष्य

२०४-२०७। आचार्य,—श्रीगोपीनाथ आचार्य।

स्वरूप आदि तीन जनों के द्वारा
सभी भक्तों को परिवेशन—

स्वरूप, दामोदर, आर जगदानन्द।
वैष्णवेरे परिवेशे तिन जने आनन्द॥२०८॥

२०८। प० अनु०—श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीदामोदर पण्डित और श्रीजगदानन्द पण्डित आनन्दूपर्वक सभी वैष्णवों को परिवेशन करने लगे।

प्रसाद ग्रहण करते समय हरिध्वनि—

नाना पिठापाना खाय आनन्द करिया।
मध्ये मध्ये 'हरि' कहे आनन्दित हञा॥२०९॥

२०९। प० अनु०—सभी वैष्णवगण आनन्दपूर्वक अनेक प्रकार का पिठा-पाना खा रहे थे और बीच-बीच में आनन्दित होकर 'हरि' 'हरि' कह रहे थे।

अनुभाष्य

२०९। उस समय प्रसाद का सम्मान करते समय शुद्ध सम्प्रदाय में हरिध्वनि देने की रीति थी।

एकादश परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

सभी भक्तों का आचमन—

भोजन समाप्त हैल, कैल आचमन।
सबारे पराइल प्रभु, माल्य-चन्दन॥२१०॥

२१०। प० अनु०—भोजन समाप्त होने पर सभी ने आचमन किया और तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सबको माला और प्रदान किया।

सभी भक्तों का अपने-अपने स्थान पर जाना
और सन्ध्या में प्रभु के साथ फिर से मिलन—

विश्राम करिते सबे निज-वासा गेला।
सन्ध्याकाले आसि' पुनः प्रभुके मिलिला॥२११॥

२११। प० अनु०—तब विश्राम करने के लिये सभी अपने-अपने वास स्थान पर चले गये और सन्ध्या में आकर पुनः श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिले।

रामानन्द राय का आगमन और वैष्णवों के साथ मिलन—

हेनकाले रामानन्द आइला प्रभु स्थाने।
प्रभु मिलाइल ताँरे सब वैष्णवगणे॥२१२॥

२१२। प० अनु०—उसी समय श्रीरामानन्द राय भी श्रीचैतन्य महाप्रभु के वास स्थान पर आ गये और श्रीमन् महाप्रभु ने उन्हें सभी वैष्णवों से मिलाया।

संन्ध्या में भक्तों के साथ मन्दिर के आङ्गन में कीर्त्तन आरम्भ—

सबा लञा गेला प्रभु जगन्नाथालय।
कीर्तन आरम्भ तथा कैल महाशय॥२१३॥
सन्ध्या-मध्ये नृत्य करे शचीर नन्दन।
धूप-दीप ज्वालि' आरम्भिल सङ्कीर्त्तन॥२१४॥

२१३-२१४। प० अनु०—सभी भक्तों को साथ लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीजगन्नाथ मन्दिर में गये और वहाँ जाकर उन्होंने कीर्त्तन आरम्भ कर दिया। संन्ध्या के समय श्रीशचीनन्दन नृत्य कर रहे थे, धूप-दीप आदि जलाकर सभी ने सङ्कीर्त्तन आरम्भ कर दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

२१४। पाठन्तर में,—"सन्ध्या-धूप देखि' आरम्भिला सङ्कीर्त्तन। पड़िछा आनिया दिल माला चन्दन॥ चारि दिके चारि सम्प्रदाय करे सङ्कीर्त्तन। मध्ये नृत्य करे प्रभु शचीरनन्दन॥"

सभी को पड़िछा के द्वारा माल्यचन्दन प्रदान, चारों ओर से चार सम्प्रदाय के भक्तों द्वारा महाकीर्त्तन आरम्भ—

पड़िछा आसि' सबारे दिल माल्य-चन्दन।
चारिदिके चारि सम्प्रदाय करेन कीर्तन॥२१५॥
अष्ट मृदंग बाजे, बत्रिश करताल।
हरिध्वनि करे सबे, बले'—भाल, भाल॥२१६॥
कीर्तनेर ध्वनि महामङ्गल उठिल।
चतुर्द्दश लोक भरि' ब्रह्माण्ड भेदिल॥२१७॥

२१५-२१७। प० अनु०—पड़िछा ने आकर सबको माला और चन्दन प्रदान किया। चारों ओर से चार दलों में विभक्त भक्तों ने कीर्त्तन किया। आठ मृदङ्ग और बत्तीस करताल बजने लगी और सभी हरिध्वनि करते हुये 'बहुत सुन्दर' 'बहुत सुन्दर' कहने लगे। कीर्त्तन की ध्वनि से महामङ्गल होने लगा, वह ध्वनि चतुर्द्दश लोकों में भर गयी तथा फिर उसने ब्रह्माण्ड़ का भी भेदन कर दिया।

कीर्त्तन को श्रवण करते ही पुरी के
बहुत लोगों का आगमन और आश्चर्य—

कीर्त्तन-आरम्भे प्रेम उथलि' चलिल।
नीलाचलवासी लोक धाञा आइल॥२१८॥
कीर्तन देखि' सबार मने हैल चमत्कार।
कभु नाहि देखि ऐछे प्रेमेर विकार॥२१९॥

२१८-२१९। प० अनु०—जब कीर्त्तन आरम्भ हुआ, तब ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्रेम उन सब भक्तों के हृदय से बाहर निकल कर आ रहा है। मधुर कीर्त्तन की ध्वनि को सुनकर नीलाचलवासी लोग दौड़ कर चले आये और कीर्त्तन को देखकर सभी का मन आश्चर्यचकित हो गया तथा वे कहने लगे कि उन्होंने कभी भी प्रेम का ऐसा विकार नहीं देखा था।

'बेड़ा-नृत्य' कीर्त्तन या मन्दिर की
परिक्रमा करते हुये कीर्त्तन—

तबे प्रभु जगन्नाथेर मन्दिर बेड़िया।
प्रदक्षिण करि' बुलेन नर्तन करिया॥२२०॥

२२०। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु नृत्य करते-करते श्रीजगन्नाथ मन्दिर के चारों ओर परिक्रमा करने लगे।

प्रभु के अष्ट-सात्त्विक विकार—

आगे-पाछे गान करे चारि-सम्प्रदाय।
आछाड़ेर काले धरे नित्यानन्द-राय॥२२१॥
अश्रु, पुलक, कम्प, स्वेद, गम्भीर हुँकार।
प्रेमेर विकार देखि' लोके चमत्कार॥२२२॥
पिचकारि-धारा जिनि' अश्रु नयने।
चारिदिकेर लोक सब करये सिनाने॥२२३॥
'बेड़ानृत्य' महाप्रभु करि' कतक्षण।
मन्दिरेर पाछे रहि' करये कीर्त्तन॥२२४॥

२२१-२२४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के आगे और पीछे चार मण्डलियाँ गान कर रही थी। श्रीचैतन्य महाप्रभु जब पछाड़ खाकर गिरने लगते तो श्रीनित्यानन्द प्रभु उन्हें सम्भाल लेते। श्रीचैतन्य महाप्रभु में अश्रु, पुलक, कम्प, स्वेद, गम्भीर हुँकार आदि प्रेम के अष्ट सात्त्विक विकारों को देखकर लोग बहुत आश्चर्य चकित थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु के नेत्रों से जो अश्रुधारा निकल रही थी वे पिचकारी की भाँति बहुत दूर तक गिर रही थी, जिससे चारों ओर खड़े लोग भीग रहे थे। बहुत समय तक श्रीचैतन्य महाप्रभु ने 'बेड़ा नृत्य' अर्थात् श्रीजगन्नाथ मन्दिर के चारों ओर नृत्य किया और फिर मन्दिर के पीछे खड़े होकर भी कीर्त्तन किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

२२२। लोक सब करये सिनाने,—चारों ओर लोग सब (महाप्रभु के) अश्रुजल से स्नान करने लगे।

२२४। बेड़ा-नृत्य—मन्दिर के चारों ओर नृत्य।

चारों सम्प्रदाय के बीच में प्रभु का नृत्य—

चारिदिके चारि सम्प्रदाय उच्चैःस्वरे गाय।
मध्ये ताण्डव-नृत्य करे गौरराय॥२२५॥
बहुक्षण नृत्य करि' प्रभु स्थिर हैला।
चारि महान्तेरे तबे नाचिते आज्ञा दिला॥२२६॥

२२५-२२६। प० अनु०—चारों ओर चार मण्डलियाँ उच्च स्वर से गा रही थी और उनके बीच में श्रीगौरराय ताण्डव नृत्य कर रहे थे। बहुत समय तक नृत्य करने के बाद जब प्रभु कुछ स्थिर हुये तो उन्होंने चार महान्तों को नाचने का आदेश किया।

चार महान्त—(१) नित्यानन्द, (२) अद्वैत—

एक सम्प्रदाये नाचे नित्यानन्द-राये।
अद्वैत-आचार्य नाचे आर सम्प्रदाये॥२२७॥

२२७। प० अनु०—एक मण्डली में श्रीनित्यानन्द प्रभु नृत्य कर रहे थे और दूसरी मण्डली में श्रीअद्वैताचार्य प्रभु नृत्य कर रहे थे।

(३) वक्रेश्वर, (४) श्रीवास—

आर सम्प्रदाये नाचे पण्डित-वक्रेश्वर।
श्रीवास नाचे आर सम्प्रदाय-भितर॥२२८॥

२२८। प० अनु०—तीसरी मण्डली में श्रीवक्रेश्वर पण्ड़ित नृत्य कर रहे थे और चौथी मण्ड़ली में श्रीवास पण्डित नृत्य कर रहे थे।

कीर्त्तन के बीच में प्रभु का अवस्थान और चार
जनों के नृत्य-दर्शन के लिये ऐश्वर्य का प्रकाश—

मध्ये रहि' महाप्रभु करेन दरशन।
ताँहा एक ऐश्वर्य हइल प्रकटन॥२२९॥
चारिदिके नृत्यगीत करे जत जन।
सबे कहे,—प्रभु करे आमारे दरशन॥२३०॥
चारि जनेर नृत्य देखिते प्रभुर अभिलाष।
सेइ अभिलाषे करे ऐश्वर्य प्रकाश॥२३१॥
दर्शने आवेश ताँर देखि' मात्र जाने।
केमने चौदिके देखे,—इहा नाहि जाने॥२३२॥

२२९-२३२। प० अनु०—जब सभी नृत्य कर रहे थे, तब बीच में रहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु इन सबको देख रहे थे और वहाँ प्रभु का एक ऐश्वर्य प्रकटित हो गया। चारों ओर जो भी भक्त नृत्य-गीत कर रहे थे, वे सब कह रहे थे कि श्रीचैतन्य महाप्रभु उनकी ओर ही देख रहे हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु की इच्छा थी कि चारों महान्तों का नृत्य-दर्शन करूँ, इसी अभिलाषा के कारण उन्होंने अपना ऐश्वर्य प्रकाशित किया था। नृत्य के दर्शन के आवेश में श्रीचैतन्य महाप्रभु उन्हें देख रहे हैं, किन्तु वे चारों ओर देख रहे हैं—इसे नहीं जानते थे।

व्रजलीला में सखाओं के मध्य रहकर
कृष्ण के पुलिन भोजन के साथ उपमा—

पुलिन-भोजने जेन कृष्ण मध्य-स्थाने।
चौदिकेर सखा कहे,—आमारे नेहाने॥२३३॥

२३३। प० अनु०—जैसे व्रजलीला में श्रीकृष्ण पुलिन भोजन करते समय सभी सखाओं के बीच में बैठे थे और चारों ओर बैठे हुये सखा अनुभव करते कि कृष्ण हमें देख रहे हैं।

अमृतप्रवाहभाष्य

२३३। व्रज में श्रीकृष्ण ने जब पुलिन भोजन किया था, उनके चारों ओर बैठकर प्रत्येक गोपबालक ने देखा था कि कृष्ण उसकी ओर मुख करके ही भोजन कर रहे हैं। उसी प्रकार महाप्रभु भी जब नृत्य कर रहे थे, तब उनके चारों ओर भक्तों ने उनके सामने रहकर उनके मुख का दर्शन किया था। यह भी प्रभु का एक प्रकार का ऐश्वर्य प्रकाश है। नेहाने,—देखे।

निकट आने वाले भक्त को प्रभु के द्वारा आलिङ्गन—

नृत्य करिते जेइ आइसे सन्निधाने।
महाप्रभु करे ताँरे दृढ़ आलिङ्गने॥२३४॥

२३४। प० अनु०—नृत्य करते हुये जो भी श्रीचैतन्य महाप्रभु के निकट आता, श्रीचैतन्य महाप्रभु उसे दृढ़ता पूर्वक आलिङ्गन करते।

महासङ्कीर्त्तन-नृत्य—

महानृत्य, महाप्रेम, महासंकीर्तन।
देखि' प्रेमावेशे भासे नीलाचल-जन॥२३५॥

२३५। प० अनु०—इस प्रकार महानृत्य, महाप्रेम और महासंकीर्त्तन को देखकर नीलाचलवासी प्रेमावेश में डूब गये।

प्रतापरुद्र के द्वारा अट्टालिका पर चढ़कर कीर्त्तन दर्शन—

गजपति राजा शुनि' कीर्तन-महत्व।
अट्टालिका चड़ि' देखे स्वगण-सहित॥२३६॥

२३६। प० अनु०—गजपति महाराज प्रतापरुद्र ने भी जब कीर्त्तन का महत्व सुना तो वे अपने गणों के साथ अट्टालिका पर चढ़कर उसे देखने लगे।

राजा का आश्चर्य एवं प्रभु के
चरणों के दर्शन की उत्कण्ठा—

कीर्त्तन देखिया राजार हैल चमत्कार।
प्रभुके मिलिते उत्कण्ठा बाड़िल अपार॥२३७॥

२३७। प० अनु०—कीर्त्तन को देखकर महाराज प्रतापरुद्र को बहुत आश्चर्य हुआ और उनकी श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिलने की उत्कण्ठा और अधिक बढ़ गयी।

कीर्त्तन के अन्त में पुष्पाञ्जलि का दर्शन करके
भक्तों के साथ प्रभु का अपने घर पर आना—

कीर्त्तन-समाप्त्ये प्रभु देखि' पुष्पाञ्जलि।
सर्व वैष्णव लञा प्रभु आइला वासा चलि'॥२३८॥

२३८। प० अनु०—कीर्त्तन समाप्त होने पर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भगवान् श्रीजगन्नाथ की पुष्पाञ्जलि नामक आरती का दर्शन किया और सभी वैष्णवों को लेकर अपने वास स्थान पर चले आये।

अमृतप्रवाह भाष्य

२३८। पुष्पाञ्जलि,—जगन्नाथदेव की पुष्पाञ्जलि।

एकादश परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

सभी भक्तों का प्रभु के हाथों से
वितरण किये हुये प्रसाद का सम्मान—

पड़िछा आनिया दिल प्रसाद विस्तर।
सबारे बाँटिया ताहा दिलेन ईश्वर॥२३९॥

२३९। प० अनु०—पड़िछा ने आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को बहुत-सा महाप्रसाद दिया और प्रभु ने उसे सभी वैष्णवों में बाँट दिया।

सभी भक्तों को विश्राम करने की अनुमति देना—

सबारे विदाय दिल करिते शयन।
एइमत लीला करे शचीर नन्दन॥२४०॥

२४०। प० अनु०—अन्त में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सभी भक्तों को शयन करने के लिये विदाई दी। श्रीजगन्नाथ पुरी में रहते समय श्रीशचीनन्दन गौरहरि ऐसी लीलाएँ करते हैं।

प्रभु के साथ रहते हुये सभी को इस
प्रकार कीर्त्तन के आनन्द की प्राप्ति—

यावत् आछिला सबे महाप्रभु-सङ्गे।
प्रतिदिन एइमत करे कीर्त्तन-रङ्गे॥२४१॥

२४१। प० अनु०—जब तक भक्तगण श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ रहे, तब तक श्रीमन् महाप्रभु प्रतिदिन इसी प्रकार अत्यधिक आनन्द पूर्वक कीर्त्तन करते थे।

बेड़ा-नृत्य-कीर्त्तन के श्रवण
से चित्त वृत्ति में स्फूर्त्ति—

एइ त' कहिलुँ प्रभुर कीर्त्तन-विलास।
जेबा इहा शुने, हय चैतन्येर दास॥२४२॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे जार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥२४३॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्यखण्ड में 'बेड़ा कीर्त्तन'—विलास-वर्णन नामक एकादश परिच्छेद समाप्त।

२४२-२४३। प० अनु०—(श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी कह रहे हैं—) इस प्रकार मैंने श्रीचैतन्य महाप्रभु के कीर्त्तन-विलास का वर्णन किया है, जो इसका श्रवण करता है वे श्रीचैतन्य महाप्रभु का दास बन जाता है। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

✵ ✵ ✵

द्वादश परिच्छेद

कथासार—श्रीमन्महाप्रभु का दर्शन करने के लिये राजा ने अनेक चेष्टा की। प्रभु-नित्यानन्द ने सभी भक्तों को अपने साथ लेकर प्रभु को राजा के चित्त के भाव बतलाये। महाप्रभु ने तब भी (राजा से मिलना) अस्वीकार कर दिया। तब नित्यानन्द प्रभु ने महाप्रभु से एक बहिर्वास (वस्त्र) लेकर राजा के पास भेज दिया। किसी और दिन जब रामानन्द राय ने महाप्रभु को राजा पर कृपा करने के लिये कहा तो महाप्रभु उनसे सम्मत नहीं हुए, किन्तु उन्होंने राजा के पुत्र को लाने की आज्ञा दी; राजपुत्र के कृष्णोद्दीपक वेष को देखकर महाप्रभु ने उस पर कृपा की। रथयात्रा से पहले ही अपने भक्तों के साथ महाप्रभु ने गुण्डिचा मन्दिर को धोया और उसकी सफाई की। उसके बाद इन्द्रद्युम्न सरोवर में स्नान करके उपवन में समस्त वैष्णवों को लेकर महाप्रभु ने प्रसाद सेवा की। मन्दिर मार्जन के समय जब किसी गौड़ीय ने महाप्रभु के चरणों में जल देकर उस जल को पान किया, तब एक प्रेम-रहस्य उदित हुआ। दूसरी ओर, अद्वैत पुत्र श्रीगोपाल के मूर्च्छित होने पर उसकी मूर्च्छा को भङ्ग होते न देखकर महाप्रभु ने उसे चेतन किया। प्रसाद सेवन के समय अद्वैत प्रभु और नित्यानन्द प्रभु में थोड़ा प्रेम कलह हुआ था। अद्वैत प्रभु ने कहा,—'अज्ञात कुल शील नित्यानन्द के साथ एक पंक्ति में भोजन करना गृहस्थ-ब्राह्मण का कर्त्तव्य नहीं है'; उसके उत्तर में प्रभु नित्यानन्द ने कहा,— 'अद्वैताचार्य "अद्वैत-सिद्धान्त" में निपुण है; इसके साथ भोजन करने से भद्र (सज्जन) लोगों का चित्त ना जाने किस प्रकार का हो जाता है? इन दोनों प्रभुओं की बात में अत्यन्त गूढ़ रहस्य है, उसे सद् भक्त ही अनायास समझ सकते हैं। वैष्णवों की सेवा होने के बाद स्वरूप आदि सज्जनों ने घर के भीतर प्रसाद सेवा की। श्रीनवयौवन-दर्शन के दिन भक्तों को लेकर महाप्रभु ने जगद्बन्धु (जगन्नाथ) के दर्शन में विशेष प्रसन्नता प्राप्त की।

(अः प्रः भाः)

गुण्डिचा मार्जन करने वाले गौरसुन्दर—

श्रीगुण्डिचा-मन्दिरमात्मवृन्दैः
संमार्जयन् क्षालनतः स गौरः।
स्वचित्तवच्छीतलमुज्ज्वलञ्च
कृष्णोपवेशौपयिकं चकार॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। गौरचन्द्र ने अपने घनिष्ठ भक्तों सहित श्रीगुण्डिचा मन्दिर का संमार्जन और प्रक्षालन करके उसे अपने शीतल और उज्ज्वल चित्त की भाँति साफ करके कृष्ण के बैठने योग्य किया था।

अनुभाष्य

१। सः गौरः आत्मवृन्दैः (निज भक्त गणैः) सह श्रीगुण्डिचा-मन्दिरं समार्ज्जयन् (मलादि विरहितं कुर्वन्) क्षालनतः (प्रक्षालनादिना) स्वचितवत् (आत्म हृदयवत्) शीतलं (भोगवासनानलजनित-त्रिताप-विहीन) उज्ज्वलं (दीप्तिविशिष्ट) च कृष्णोपवेशोपयिकं (कृष्णस्य-उपवेशन-योग्य) स्थानं चकार।

जय जय गौरचन्द्र जय नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प॰ अनु॰—श्रीगौरचन्द्र की जय हो जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो एवं श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो।

गौरभक्तों के निकट ग्रन्थकार का कृष्णचैतन्य के गुण-लीला-वर्णन करने की शक्ति की प्रार्थना—

जय जय श्रीवासादि गौरभक्तगण।
शक्ति देह,—करि जेन चैतन्य वर्णन॥३॥

३। प० अनु०—श्रीवासादि गौरभक्तों की जय हो जय हो। आप सभी मुझे शक्ति प्रदान करें जिससे मैं श्रीचैतन्य महाप्रभु की लीलाओं का वर्णन कर सकूँ।

दक्षिण देश से आने के बाद प्रतापरुद्र की प्रभु के दर्शन की उत्कण्ठा—

पूर्वे दक्षिण हैते प्रभु जबे आइला।
ताँरे मिलिते गजपति उत्कण्ठित हैला॥४॥

४। प० अनु—पहले दक्षिण भारत से जब श्रीचैतन्य महाप्रभु लौट आये थे तो गजपति अर्थात् महाराज प्रतापरुद्र उनसे मिलने के लिये बड़े उत्कण्ठित हो गये थे।

दर्शन करने के लिये भट्टाचार्य को प्रभु की अनुमति के लिये पत्र भेजना—

कटक हैते पत्री दिल सार्वभौम-ठाञि।
प्रभुर आज्ञा हय यदि, देखिबार जाइ॥५॥

५। प० अनु०—कटक से ही राजा ने श्रीसार्वभौम को पत्र लिखा था कि यदि श्रीचैतन्य महाप्रभु की आज्ञा हो तो मैं उनके दर्शन के लिये आ जाऊँ।

भट्ट के द्वारा प्रभु की निषेध आज्ञा का ज्ञापन एवं राजा द्वारा पुनः लोभ रूपी पत्री भेजना—

भट्टाचार्य लिखिल,—प्रभुर आज्ञा ना हैल।
पुनरपि राजा ताँरे पत्री पाठाइल॥६॥

६। प० अनु०—भट्टाचार्य ने लिखा,—"श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिलने की आज्ञा नहीं मिल पायी। यह सुनकर राजा ने फिर से श्रीसार्वभौम को एक पत्र भेजा।

भक्तों के पास अभीष्ट सिद्धि हेतु प्रार्थना—

प्रभुर निकटे आछे जत भक्तगण।
मोर लागि' ताँ-सबारे करिह निवेदन॥७॥
सेइ सब दयालु मोरे हञा सदय।
मोर लागि' प्रभुपदे करिबे विनय॥८॥
ताँ-सबार प्रसादे मिले श्रीप्रभुर पाय।
प्रभुकृपा बिना मोर राज्य नाहि भाय॥९॥

७-९। प० अनु०—महाराज प्रतापरुद्र के द्वारा भेजे हुये पत्र में लिखा था कि 'श्रीचैतन्य महाप्रभु के पास जितने भी भक्तगण रहते हैं उन सबसे मेरे लिये निवेदन करना। वे सब दयालु भक्त मुझ पर कृपा करके मेरे लिये श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों में प्रार्थना करें। उन सबकी कृपा से ही मुझे श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों की प्राप्ति हो सकती है, प्रभु की कृपा के बिना मुझे राज्य अच्छा नहीं लगता।

अनुभाष्य

७-९। 'कल्याण-कल्पतरु' ग्रन्थ में श्रीमद्भक्ति-विनोद ठाकुर ने लिखा है—

"काँदिया, काँदिया जानाइब दुःख ग्राम। संसार अनल ह'ते मागिब विश्राम॥ शुनिया आमार दुःख वैष्णव ठाकुर। आमा लागि' कृष्णे आवेदिबेन प्रचुर॥ वैष्णवेर आवेदने कृष्ण दयामय। मो हेन पामर-प्रति हबेन सदय॥"

प्रभु की कृपा के अभाव में राजा का दैन्य और निर्वेद एवं राज्य त्याग करने की प्रतिज्ञा—

यदि मोरे कृपा ना करिबे गौरहरि।
राज्य छाड़ि' योगी हइ' हइब भिखारी॥१०॥

१०। प० अनु—यदि मुझ पर श्रीगौरहरि कृपा नहीं करेंगे तो मैं राज्य को छोड़कर योगी बनकर भिखारी बन जाऊँगा।'

सभी भक्तों को राजा का पत्र दिखाना—

भट्टाचार्य पत्री देखि' चिन्तित हञा।
भक्तगण-पाश गेला सेइ पत्री लञा॥११॥
सबारे मिलिया कहिल राज-विवरण।
पिछे सेइ पत्री सबारे कराइल दरशन॥१२॥

११-१२। प० अनु—राजा का पत्र पढ़ करके

श्रीभट्टाचार्य बड़े चिन्तित हो गये और वे उसी पत्र को अपने साथ लेकर भक्तों के पास चले गये। सभी भक्तों से मिलकर श्रीभट्टाचार्य ने सबको राजा की अभिलाषा के विषय में बतलाया और बाद में सबको राजा का पत्र भी दिखाया।

राजा की प्रभु के प्रति भक्ति को
देखकर सभी भक्तों को विस्मय—

पत्री देखि' सबार मने हइल विस्मय।
प्रभुपदे गजपतिर एत भक्ति हय!१३॥

१३। प० अनु०—राजा के पत्र को देखकर सभी के मन में विस्मय हुआ कि गजपति राजा की श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों में इतनी भक्ति है।

सभी की प्रभु के दृढ़ सङ्कल्प में आस्था के कारण भय
और राजा को अप्रिय सत्य बात कहने की अनिच्छा—

सबे कहे,—प्रभु ताँरे कभु ना मिलिबे।
आमि-सब कहि यदि, दुःख से मानिबे॥१४॥

१४। प० अनु०—सभी भक्तों ने कहा—"श्रीचैतन्य महाप्रभु राजा से कभी भी नहीं मिलेंगे परन्तु यह बात यदि हम सब राजा प्रतापरुद्र से कहेंगे तो वे बहुत दुःखी हो जायेंगे।"

सार्वभौम की युक्ति—प्रभु के निकट राजा की
भगवद् भक्ति की निष्ठा वर्णन करने की इच्छा—

सार्वभौम कहे,—सबे चल' एकबार।
मिलिते ना कहिब, कहिब राज-व्यवहार॥१५॥

१५। प० अनु०—श्रीसार्वभौम ने कहा—"आप सब एक बार मेरे साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु के पास चलिए। हम उन्हें राजा से मिलने की बात न कहकर केवल राजा के व्यवहार की ही बात करेंगे।"

अमृतप्रवाह भाष्य

१५। सार्वभौम ने कहा,—हम सब मिलकर महाप्रभु के समक्ष राजा के सुवैष्णव व्यवहार का कीर्त्तन करेंगे। राजा को दर्शन देने के लिये अनुरोध नहीं करेंगे।

प्रभु के निकट आकर भी सभी को
राजा की बात ज्ञापन करने में भय—

एत बलि' सबे गेला महाप्रभुर स्थाने।
कहिते उन्मुख सबे, ना कहे वचने॥१६॥

१६। प० अनु०—इतनी बात करके सभी श्रीचैतन्य महाप्रभु के वास स्थान पर गये। सभी कुछ कहने के लिये प्रभु के उन्मुख तो हुए परन्तु उन्होंने कुछ कहा नहीं।

सभी की भय-चकित-दृष्टि को देखकर प्रभु
के द्वारा उनके आगमन के कारण की जिज्ञासा—

प्रभु कहे,—कि कहिते सबार आगमन?
देखिये कहिते चाह,—ना कह, कि कारण?१७॥

१७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पूछा—"क्या कहने के लिये आप सबका यहाँ आगमन हुआ है? मैं देख रहा हूँ कि आप कुछ कहना चाहते हैं, किन्तु कुछ कह नहीं रहे हो, क्या कारण है?"

नित्यानन्द का भयपूर्वक वक्तव्य निवेदन—

नित्यानन्द कहे,—तोमाय चाहि निवेदिते।
ना कहिले रहिते नारि, कहिते भय चित्ते॥१८॥
योग्यायोग्य तोमाय सब चाहि निवेदिते।
तोमा ना मिलिले राजा चाहे योगी हैते॥१९॥

१८-१९। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूँ, कहे बिना रह नहीं पा रहा हूँ तथा कहने में मन में भय हो रहा है। योग्य और अयोग्य सब बात आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि आपसे नहीं मिल पाने की अवस्था में राजा योगी बनना चाहता है।

गौर कृपा के अभाव में राजा की प्रतिज्ञा का निवेदन—

काणे मुद्रा लइ' मुञि हइब भिखारी।
राज्यभोग नहे चित्ते बिना गौरहरि॥२०॥

२०। प० अनु०—(राजा का कहना है कि) "मैं अपने कानों में मुद्रा (बालियाँ) धारणकर सबकुछ त्यागकर भिखारी बन जाऊँगा, क्योंकि बिना श्रीगौरहरि

के मुझे राज्य भोग करने की इच्छा नहीं है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०। काने मुद्रा,—पश्चिम भारत में योगियों को 'कान फाटा योगी' कहते हैं; योगी लोग कान में शम्बुक (सामुक, छोटे शंख के आकार) की अस्थि द्वारा एक चिह्न धारण करते हैं।

राजा ने कहा,—गौरहरि के दर्शन बिना राज्य भोग में चित्त नहीं है, अर्थात् राज्यभोग अच्छे नहीं लगते।

राजा का गाढ़ गौर अनुराग—

देखिब से मुखचन्द्र नयन भरिया।
धरिब से पादपद्म हृदये तुलिया॥२१॥

२१। प० अनु०—(राजा ने यह भी इच्छा की है कि) "मैं श्रीचैतन्य महाप्रभु के मुखचन्द्र को अपने नेत्रों से जी भरकर देखूँगा और उनके श्रीचरणकमलों को उठाकर अपने हृदय पर धारण करूँगा।"

प्रभु द्वारा आचार्योचित कठोर संन्यास-धर्म परक वाक्य—

यद्यपि शुनिया प्रभुर कोमल हय मन।
तथापि बाहिरे कहे निष्ठुर वचन॥२२॥

२२। प० अनु०—यद्यपि यह सब सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का मन कोमल हो गया परन्तु उन्होंने बाहर से कठोर होकर निष्ठुरता पूर्ण वचन कहे।

राज दर्शन रूपी भक्तों की इच्छा जानकर प्रभु का अनुयोग—

तोमा-सबार इच्छा,—एइ आमारे लञा।
राजाके मिलह इँह कटकेते गिया॥२३॥

२३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"आप सबकी इच्छा है कि आप सब मुझे कटक में ले जाकर राजा से मिलायें।

विधि-लंघन के कारण लोकनिन्दा और दामोदर पण्डित के वाक्य दण्ड की सम्भावना—

परमार्थ थाकुक, लोके करिबे निन्दन।
लोके रहु, दामोदर करिबे भर्त्सन॥२४॥

२४। प० अनु०—परमार्थ की बात तो दूर रहे लोग निन्दा करेंगे और यदि लोगों की बात को भी छोड़ दिया जाये तो यह दामोदर ही मेरी भर्त्सना करेगा।

मर्यादा प्रदर्शन के छल से दामोदर के अनधिकार चर्चा के प्रति कटाक्ष—

तोमा-सबार आज्ञाय आमि ना मिलि राजारे।
दामोदर कहे जबे, मिलि तबे ताँरे॥२५॥

२५। प० अनु०—आप सबकी आज्ञा से मैं राजा को नहीं मिल सकता परन्तु यदि दामोदर कहे तो मैं राजा से मिलूँगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

२४-२५। पारमर्थिक विचार से संन्यासी के लिये राजा का दर्शन करना दोषपूर्ण है। उस दोष की तो बात ही नहीं,—संन्यासी के बहुत सामान्य दोष को देखने से ही लोग निन्दा करते हैं। लोक निन्दा परित्याग का कुछ तात्पर्य है,—जगत् में धर्म का प्रचार ही संन्यासी का कर्म है। जगत् में यदि निन्दा ही हुई, तो फिर धर्म-प्रचार का कार्य ठीक से नहीं होता; इसलिए लोक रक्षा करना भी आवश्यक है। लोकनिन्दा की बात दूर रहे, मेरे निकट ये जो दामोदर पण्डित बैठा है, इसके हाथों छुटकारा पाना कठिन है,—यह अवश्य ही मेरी निन्दा करेगा। केवल तुम लोगों की आज्ञा से राजा के साथ साक्षात्कार नहीं कर सकता; यदि दामोदर उनसे मिलने के लिये कहे, तभी मैं ऐसा कर सकता हूँ।' प्रभु के इस वाक्य के अनेक गूढ़ अर्थ है,—दामोदर की भक्ति के वशीभूत होने पर भी उसका वाक्य रूपी दण्ड बहुत बार प्रभु के लिये अयोग्य होता है, इस बात से दामोदर को वह प्रवृत्ति छोड़नी होगी।

दामोदर का अभिमान और अनुयोग—

दामोदर कहे,—तुमि स्वतन्त्र ईश्वर।
कर्त्तव्याकर्त्तव्य सब तोमार गोचर॥२६॥
आमि कोन् क्षुद्रजीव, तोमाके विधि दिब?
आपनि मिलिबे ताँरे, ताहाओ देखिब॥२७॥

राजा तोमारे स्नेह करे, तुमि—स्नेहवश।
ताँर स्नेहे कराबे ताँरे तोमार परश॥२८॥
यद्यपि ईश्वर तुमि परम-स्वतन्त्र।
तथापि स्वभावे हओ प्रेमपरतन्त्र॥२९॥

२६-२९। प० अनु०—दामोदर ने कहा—"आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विषय में आप भली-भाँति जानते हैं। मैं एक क्षुद्र जीव हूँ, मेरा क्या सामर्थ्य कि मैं आपको विधि (क्या करना, क्या नहीं करने का परामर्श) दूँ? परन्तु मैं यह भी देखूँगा कि आप राजा से अवश्य मिलेंगे क्योंकि राजा आपसे प्रेम करता है और आप प्रेम के वशीभूत हैं, इसलिये राजा का स्नेह ही उसे आपका स्पर्श प्राप्त करायेगा। यद्यपि आप परम-स्वतन्त्र ईश्वर हैं फिर भी आपका स्वभाव है कि आप प्रेम के अधीन रहते हैं।"

अनुभाष्य

२९। यद्यपि आप ईश्वर हैं, अतएव किसी के भी निकट किसी प्रकार से बाध्य नहीं है, तथापि अपने स्वभाव के कारण आप अपने एकान्तिक भक्तों की प्रीति के ही बाध्य है।

प्रभु के मत का समर्थन करते हुये नित्यानन्द द्वारा राजा के अनुराग का समर्थन—

नित्यानन्द कहे, ऐछे हय कोन् जन।
जे तोमारे कहे, 'कर राजदरशन'॥३०॥

३०। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"ऐसा कौन व्यक्ति है जो आपसे कह सके कि 'आप राजा का दर्शन करें।

कृष्ण के अनुरागी का स्वभाव और याज्ञिक-विप्र की पत्नियों के कृष्णानुराग का दृष्टान्त—

किन्तु अनुरागी लोकेर स्वभाव एक हय।
इष्ट ना पाइले निज-प्राण से छाड़य॥३१॥
याज्ञिक-ब्राह्मणी सब ताहाते प्रमाण।
कृष्ण लागि' पति-आगे छाड़िलेक प्राण॥३२॥

३१-३२। प० अनु०—किन्तु अनुरागी व्यक्तियों का यह स्वभाव होता है कि वे अपने इष्ट को न पाकर अपने प्राणों को त्याग देते हैं। इसका प्रमाण याज्ञिक ब्राह्मणियाँ हैं, जिन्होंने कृष्ण के लिये अपने पतियों के सामने ही अपने प्राणों को त्याग दिया था।

अमृतप्रवाह भाष्य

३१-३२। एकदिन जब श्रीकृष्ण गोप बालकों और अनेकानेक गैयाओं को लेकर मथुरा के निकट पहुँचे, तब गोपबालकों को भूख लगी। कृष्ण ने कहा,—'निकट के वन में याज्ञिक ब्राह्मण यज्ञ कर रहे हैं, उनके पास जाकर मेरा नाम लेकर अन्न भिक्षा करो।' गोप बालकों ने जाकर जब अन्न की याचना की, तब कर्मजड़ याज्ञिक ब्राह्मणों ने अन्न नहीं दिया। ब्राह्मण पत्नियों ने कृष्ण के प्रति स्वाभाविक अनुराग वशतः गोप बालकों की याचना को सुनकर पतियों के यज्ञ का परित्याग करके श्रीकृष्ण को अन्न देने के लिये अनेक झंझट स्वीकार किया। तात्पर्य यह है कि भगवद् तत्त्व में अनुराग होने से उनके सेवा के अभाव में भक्त प्राण त्यागने के लिये भी प्रस्तुत रहता है।

अनुभाष्य

३१। मध्य द्वितीय परिच्छेद २८, ४३ और ४५ संख्या द्रष्टव्य एवं चतुर्थ परिच्छेद १८६ संख्या एवं अन्त्य चतुर्थ परिच्छेद ६१-६४ संख्या इस प्रसङ्ग में आलोच्य है।

३२। याज्ञिक विप्र पत्नियों का कृष्ण प्राप्ति-प्रसङ्ग—भागवत दशम स्कन्ध २३ अध्याय द्रष्टव्य।

नित्यानन्द की युक्ति—

एक युक्ति आछे, यदि कर अवधान।
तुमि ना मिलिलेह ताँरे, रहे ताँर प्राण॥३३॥
एक बहिर्वास यदि देह, कृपा करि'।
ताहा पाञा प्राण राखे, तोमार आशा धरि'॥३४॥

३३-३४। प० अनु०—यदि आप की सम्मति हो तो ऐसी एक युक्ति है जिससे आपके राजा से नहीं मिलने पर भी उसके प्राण बचे रह सकते हैं। यदि आप कृपा

करके अपने एक बहिर्वास को दे दें तो राजा उसे पाकर आपको प्राप्त करने की आशा से अपने प्राण धारण कर सकता है।"

अनुभाष्य

३४। राजा के भाग्य में आपके दर्शन की प्राप्ति किसी भी प्रकार से नहीं होगी एवं उस दर्शन के अभाव के कारण उनके प्राण उत्कण्ठित हुए हैं; इस समय यदि आपका एक पहना हुआ बहिर्वास कृपा करके उसे प्रदान करे, तभी उसके प्रति आपकी दया है, समझूँगा एवं भविष्य में उसकी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है,—इस आशा से राजा भी प्राण धारण कर पायेगा।

नित्यानन्द आदि के वशीभूत प्रभु—

प्रभु कहे,—तुमि-सब परम विद्वान्।
जेइ भाल हय, सेइ कर समाधान॥३५॥

३५। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"आप सब परम विद्वान हैं, अतएव जैसा अच्छा हो, वैसा ही कीजिए।"

नित्यानन्द के द्वारा गोविन्द से
प्रभु का बहिर्वास ग्रहण—

तबे नित्यानन्द-गोसाञि गोविन्देर पाश।
मागिया लइल प्रभुर एक बहिर्वास॥३६॥

३६। प॰ अनु॰—तब श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के सेवक गोविन्द से प्रभु का एक बहिर्वास माँग लिया।

सार्वभौम के द्वारा उस बहिर्वास को राजा के पास भेजना—

सेइ बहिर्वास सार्वभौम-पाश दिल।
सार्वभौम सेइ वस्त्र राजारे पाठा'ल॥३७॥

३७। प॰ अनु॰—उस बहिर्वास को श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीसार्वभौम को दे दिया और श्रीसार्वभौम ने उस वस्त्र को राजा के पास भेज दिया।

प्रभु के वस्त्र को प्रभु से अभिन्न
जानकर राजा के द्वारा उसकी सेवा—

वस्त्र पाञा राजार हैल आनन्दित मन।
प्रभुरूप करि' करे वस्त्रेर पूजन॥३८॥

३८। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के वस्त्र को पाकर राजा का मन अत्यन्त आनन्दित हो गया और राजा उस वस्त्र को प्रभु का रूप जानकर उसकी पूजा करने लगा।

अनुभाष्य

३८। प्रभु की जिस प्रकार आग्रह पूर्वक राजा ने पूजा करने की बात सोची थी, प्रभु द्वारा प्रदत्त बहिर्वास के टुकड़े को प्रभु के समान मानकर उसी प्रकार पूजा करने लगे। प्रभु के श्रीअङ्ग के साथ उनके द्वारा पहने गये वस्त्र-आभूषण आदि का नित्य अभेद है। सन्धिनी शक्ति मद् विग्रह श्रीबलदेव की ही कला, 'शेष' रूपी विष्णु शय्या और वस्त्र आदि विविध रूपों में अपने आराध्य कृष्णचन्द्र की सेवा करती है। अतएव वह सभी वस्तुएँ एक ही कृष्ण प्रतीति से अर्थात् कृष्ण से अभिन्न रूप में शुद्ध सेवकों के लिये सेव्य हैं; विशेषत: महाप्रभु—अद्वय ज्ञान सच्चिदानन्द विग्रह स्वयं भगवान् हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्दमय गुरु-वैष्णवों और उनके द्वारा व्यवहार किये गये उपकरणों को परस्पर अभिन्न अर्थात् जीवों के नित्य परम अर्चनीय विग्रह के रूप में जानने चाहिए।

पुरी में आकर प्रभु के सङ्ग को प्राप्त
करने के लिये राय द्वारा अवसर प्राप्त
करने हेतु राजा की अनुमति प्राप्ति—

रामानन्द राय जबे 'दक्षिण' हैते आइला।
प्रभुसङ्गे रहिते राजाके निवेदिला॥३९॥

३९। प॰ अनु॰—श्रीरामानन्द राय जब दक्षिण से आये तो उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ रहने के लिये राजा के समक्ष निवेदन किया।

राय को प्रभु के दर्शन प्राप्त
कराने हेतु राजा का अनुरोध—

तबे राजा सन्तोषे ताँहारे आज्ञा दिला।
आपनि मिलन लागि' कहिते लागिला॥४०॥
महाप्रभु महाकृपा करेन तोमारे।
मोरे मिलिबारे अवश्य साधिबे ताँहारे॥४१॥

४०-४१। प० अनु०—तब राजा ने सन्तुष्ट होकर श्रीरामानन्द राय को श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ रहने के लिये आज्ञा दे दी और प्रभु के साथ अपने मिलन के सम्बन्ध में कहने लगे—"श्रीचैतन्य महाप्रभु आप पर अत्यधिक कृपा करते हैं मुझसे मिलने के लिये भी आप उन्हें अवश्य ही अनुरोध करना।

राजा के साथ कटक से पुरी आने
पर ही राय द्वारा प्रभु का दर्शन—

एकसङ्गे दुइ जन क्षेत्रे जबे आइला।
रामानन्द राय तबे प्रभुरे मिलिला॥४२॥

४२। प० अनु०—इस प्रकार जब श्रीरामानन्द राय तथा महाराज प्रतापरुद्र—दोनों एक ही साथ नीलाचल आ गये तब श्रीरामानन्द राय श्रीचैतन्य महाप्रभु से जाकर मिले।

प्रभु के निकट राजा के लिये आवेदन—

प्रभुपदे प्रेमभक्ति जानाइल राजार।
प्रसङ्ग पाञा ऐछे कहे बारबार॥४३॥

४३। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को राजा की प्रभु के चरणों में प्रेम भक्ति के विषय में बताया और बाद में भी प्रसङ्ग पाकर बार-बार उसी बात को दोहराने लगे।

व्यवहार में चतुर श्रीरामानन्द—

राजमन्त्री रामानन्द—व्यवहारे निपुण।
राजप्रीति कहि' द्रवाइल प्रभुर मन॥४४॥

४४। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय राजमन्त्री थे इसलिये व्यवहार में कुशल थे। अतः राजा की प्रीति की व्याख्या करते-करते उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभु के मन को द्रवीभूत कर दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

४४। रामानन्द राय राजमन्त्री होने के कारण राजकीय व्यवहार इत्यादि सभी विषयों में बड़े ही निपुण थे, अतएव राजा की महाप्रभु के प्रति जो प्रीति है, उसका वर्णन करके उन्होंने प्रभु के चित्त को द्रवीभूत किया था।

उत्कण्ठित राजा को दर्शन देने के लिये प्रभु को प्रार्थना—

उत्कण्ठाते प्रतापरुद्र नारे रहिबारे।
रामानन्द साधिलेन प्रभुरे मिलिबारे॥४५॥
रामानन्द प्रभु-पाय कैल निवेदन।
एकबार प्रतापरुद्रे देखाह चरण॥४६॥

४५-४६। प० अनु०—उत्कण्ठा के कारण राजा प्रतापरुद्र महाप्रभु से मिले बिना रह नहीं पा रहे थे इसलिए श्रीरामानन्द राय ने उन्हें श्रीचैतन्य महाप्रभु से मिलाने का एक उपाय निकाला। श्रीरामानन्द राय ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों में निवेदन किया कि आप एक बार राजा प्रतापरुद्र को अपने चरणों का दर्शन दीजिये।"

राय के निकट ही प्रभु द्वारा सद्विचार की याचना—

प्रभु कहे,—रामानन्द, कह विचारिया।
राजाके मिलिते जुयाय संन्यासी हञा?४७॥
राजार मिलने भिक्षुकेर दुइ कुल-नाश।
परलोक रहु, लोके करे उपहास॥४८॥

४७-४८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"रामानन्द! तुम स्वयं ही विचार करके बतलाओ कि क्या संन्यासी होकर राजा से मिलना उचित है? राजा को मिलने से भिक्षुक के दोनों कुल नाश हो जाते हैं। परलोक की तो बात दूर रहे, सब लोग ही उसका उपहास करते हैं।

प्रभु के प्रति राय का विधिनिषेध से अतीत 'ईश्वर'-ज्ञान—

रामानन्द कहे,—तुमि ईश्वर स्वतन्त्र।
कारे तोमार भय, तुमि नह परतन्त्र॥४९॥

४९। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से कहा—"आप तो स्वतन्त्र ईश्वर हैं, आपको किसका भय है? आप तो किसी के भी अधीन नहीं हो।

स्वयं को विधि के द्वारा बाध्य
दिखलाकर प्रभु की छलने की चेष्टा—

प्रभु कहे,—आमि मनुष्य आश्रमे संन्यासी।
कायमनोवाक्ये व्यवहारे भय वासि॥५०॥

५०। प० अनु०—यह सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मैं एक साधारण मनुष्य हूँ और आश्रम के अनुसार मैं एक संन्यासी हूँ इसलिये काय, मन और वाक्य से अपने आचरण के विषय में भय करता है।

अनुभाष्य

५०। मैं चतुर्थ आश्रम में रहने वाला अर्थात् संन्यासी मनुष्य मात्र हूँ, ईश्वर नहीं; अतएव काय-मन और वाक्य से लौकिक व्यवहार के व्यभिचार की आशंका करता हूँ अर्थात् दूसरों की अपेक्षा रखता हूँ।

वैध संन्यासी के लिये निष्कलंक
आचरण करना ही कर्त्तव्य—

शुक्लवस्त्रे मसि-बिन्दु जैछे ना लुकाय।
संन्यासीर अल्प छिद्र सर्वलोके गाय॥५१॥

५१। प० अनु०—जिस प्रकार सफेद वस्त्र में स्याही का एक छोटा सा भी बिन्दु छिपता नहीं है। उसी प्रकार एक संन्यासी का छोटा सा दोष भी सभी लोगों की आलोचना का विषय हो जाता है।"

महापापी के उद्धार के लिये भगवद् भक्त
राजा का भी प्रभु के दर्शन का सौभाग्य
प्राप्त करने का निश्चित रूप से अधिकार—

राय कहे,—"जत पापी करियाछ अव्याहति।
ईश्वर-सेवक तोमार भक्त गजपति॥"५२॥

५२। प० अनु०—श्रीरामानन्द राय ने कहा—"प्रभु! आपने तो अनेक पापियों का उद्धार किया है फिर गजपति राजा तो श्रीजगन्नाथ के सेवक हैं और आपके भक्त हैं।"

प्रभु की फिर भी राजा का दर्शन करने की अनिच्छा—

प्रभु कहे,—"पूर्ण जैछे दुग्धेर कलस।
सुराबिन्दु-पाते, केह ना करे परश॥५३॥

५३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"जिस प्रकार एक दूध से भरे पात्र में यदि शराब की एक बूँद भी गिर जाये तो कोई भी उसे स्पर्श नहीं करता।

जड़ 'विषयी'-संज्ञा—सर्वगुण नाशक—

यद्यपि प्रतापरुद्र—सर्व-गुणवान्।
ताँहारे मलिन कैल एक 'राजा' नाम॥५४॥

५४। प० अनु०—वैसे ही यद्यपि राजा प्रतापरुद्र सर्वगुण सम्पन्न है। परन्तु उसे एक 'राजा' के नाम ने ही मलिन किया हुआ है।

अन्त में रामानन्द राय के आग्रह से प्रभु की
राजा के पुत्र के साथ मिलने की इच्छा—

तथापि तोमार यदि महाग्रह हय।
तबे आनि' मिलाह तुमि ताँहार तनय॥५५॥

५५। प० अनु०—फिर भी यदि आपका इतना अधिक आग्रह है तो आप राजा के पुत्र को लाकर मुझसे मिला सकते हो।

अनुभाष्य

५५। तनय,—पुरुषोत्तम जाना (?)।

पिता और पुत्र में दैहिक-धातुगत अभेद—

"आत्मा वै जायते पुत्रः"—एइ शास्त्रवाणी।
पुत्रेर मिलने जेन मिलिबे आपनि॥"५६॥

५६। प० अनु०—क्योंकि शास्त्रों की वाणी है कि 'आत्मा वै जायते पुत्रः' अर्थात् आत्मा ही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है। अतएव उनके पुत्र के मुझसे मिलने पर उनका स्वयं का मुझसे मिलना हो जायेगा अर्थात् पुत्र के मिलने से राजा का स्वयं मिलना हो जायेगा।"

अनुभाष्य

५६। श्रीभगवद् उक्ति (भा. १०/७८/३६)—"आत्मा

वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम्"; इस श्लोक की श्रीधर स्वामि की टीका—"आत्मा वै पुत्र नामासि स जीवः शरदः शतम्" इत्यादि वेदानुशासनम्।

राजा को राय के द्वारा प्रभु की कृपा का संवाद ज्ञापन; राज पुत्र को प्रभु के समीप लाना—

तबे राय जाइ' सब राजारे कहिला।
प्रभुर आज्ञाय ताँर पुत्र लञा आइला॥५७॥

५७। प० अनु०—तब श्रीरामानन्द राय ने जाकर राजा को सब बात बता दी और वे श्रीचैतन्य महाप्रभु की आज्ञा अनुसार राजा के पुत्र को अपने साथ ले आये।

श्यामवर्ण के किशोर राज पुत्र को प्रभु द्वारा 'कृष्ण' की उद्दीपना—

सुन्दर, राजार पुत्र—श्यामल-वरण।
किशोर-वयस, दीर्घ कमलनयन॥५८॥
पीताम्बर, धरे अङ्गे रत्न-आभरण।
श्रीकृष्ण-स्मरणे तेंह हैला 'उद्दीपन'॥५९॥
ताँरे देखि, महाप्रभुर कृष्णस्मृति हैल।
प्रेमावेशे ताँरे मिलि' कहिते लागिल॥६०॥

५८-६०। प० अनु०—महाराज प्रतापरुद्र का पुत्र सुन्दर, किशोर वयस, दीर्घ कमलनयन तथा श्याम वर्ण का था। उसने पीताम्बर पहन रखा था। उसके अङ्ग में अनेक रत्नों के अलंकार शोभा पा रहे थे एवं उसे देखकर श्रीकृष्ण का 'उद्दीपन' हो आता था। राजा के पुत्र को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को श्रीकृष्ण की स्मृति हो आयी इसलिये प्रेमोवेश में उसे आलिङ्गन कर श्रीचैतन्य महाप्रभु कहने लगे—

वैष्णव दर्शन की चूड़ान्त कथा—

"एइ—महाभागवत, जाहाँर दर्शने।
व्रजेन्द्रनन्दन-स्मृति हय सर्वजने॥६१॥

६१। प० अनु०—"यह तो महाभागवत है क्योंकि इन्हें देखने से सभी को व्रजेन्द्रनन्दन का स्मरण हो आता है।

अनुभाष्य

५९-६१। आत्मदर्शन में अनात्म देह और मन रूपी भोग्य-अनुशीलन पर बाहरी दर्शन के अभाव वशतः प्रभु में राजपुत्र को 'विषयी का पुत्र विषयी', अतएव 'योषित' अथवा 'स्त्री सङ्गी' एवं स्वयं को 'स्त्री भोक्ता पुरुष' मानने रूपी धारणा बिल्कुल भी नहीं है, अर्थात् सच्चिदानन्दमय वास्तव-वस्तु के दर्शन में कृष्ण बहिर्मुख मायावादी जीव का निर्सग सुलभ जड़ में चिद् का आरोप अथवा भूमि में पूज्य बुद्धि आदि की भाँति किसी प्रकार के मनोधर्म से उत्पन्न कल्पना अथवा आरोप के लेशमात्र का भी अवकाश नहीं है। स्वयं अद्वय ज्ञान विषय-विग्रह होकर भी प्रभु का अपने को 'आश्रय' जातीय भोग्य अथवा दृश्य 'गोपी' मानकर प्रतीति एवं राजपुत्र को साक्षात् 'व्रजेन्द्र-नन्दन' मानकर प्रतीति हुई,—यही शुद्ध जीवात्मा का अद्वयज्ञान-दर्शन अथवा वैष्णव दर्शन' (मध्य अष्टम परिच्छेद २७७ संख्या द्रष्टव्य); "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष्ज आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" (कठ और मुण्डकोपनिषद्)। इन दोनों दर्शनों के अभाव हेतु ही जीव के अविद्या जनित कितने ही प्रकार के अनर्थों का आवाहन अथवा संसृति हैं;—"संसारे आसिया प्रकृति भजिया 'पुरुष' अभिमाने मरि" (ठाकुर श्रीभक्तिविनोद कृत 'कल्याण कल्पतरु')।

राज पुत्र को प्रभु द्वारा कृष्ण मानकर आलिङ्गन—

कृतार्थ हइलाङ आमि इँहार दरशने।
एत बलि' कैल ताँरे पुनः आलिङ्गने॥६२॥

६२। प० अनु०—मैं इनके दर्शन से कृतार्थ हो गया हूँ, इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उसे पुनः आलिङ्गन किया।

आलिङ्गन के फलस्वरूप राज पुत्र में कृष्ण प्रेमावेश—

प्रभुस्पर्शे राजपुत्रेर हैल प्रेमावेश।
स्वेद, कम्प, अश्रु, स्तम्भ, पुलक विशेष॥६३॥

६३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु का स्पर्श पाते

ही राजा के पुत्र में अष्ट सात्त्विक विकारों में से विशेष करके स्वेद, कम्प, अश्रु, स्तम्भ तथा पुलक आदि प्रेम का आवेश हो गया।

उसके प्रेम का दर्शन करके भक्तों द्वारा प्रशंसा—

'कृष्ण' 'कृष्ण' कहे, नाचे, करये रोदन।
ताँर भाग्य देखि' श्लाघा करे भक्तगण॥६४॥

६४। प० अनु—और राजपुत्र 'कृष्ण' 'कृष्ण' कहने लगा। वे कभी नृत्य तो कभी क्रन्दन करने लगा। राजा के पुत्र का ऐसा सौभाग्य देखकर सभी भक्तगण उसकी प्रशंसा करने लगे।

प्रभु द्वारा राजा के पुत्र को आश्वासन
और नित्य सङ्ग की याचना—

तबे महाप्रभु ताँरे धैर्य कराइल।
नित्य आसि' आमाय मिलिह,—एइ आज्ञा दिल॥६५॥

६५। प० अनु—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उसे धैर्य दिलाया और आदेश दिया कि 'तुम नित्य आकर मुझसे मिला करो'।

पुत्र के दर्शन और आलिङ्गन से राजा
को प्रभु के स्पर्श की अनुभूति—

विदाय हञा राय आइल राजपुत्रे लञा।
राजा सुख पाइल पुत्रेर चेष्टा देखिया॥६६॥

६६। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु से विदाई लेकर श्रीरामानन्द राय राजा के पुत्र को लेकर राजा के पास आ गये। राजा प्रतापरुद्र अपने पुत्र की चेष्टाओं को देखकर बहुत प्रसन्न हुए।

पुत्रे आलिङ्गन करि' प्रेमाविष्ट हैला।
साक्षात् स्पर्श जेन महाप्रभुर पाइला॥६७॥

६७। प० अनु०—अपने पुत्र को आलिङ्गन करके महाराज प्रतापरुद्र भी प्रेम में आविष्ट हो गये। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो साक्षात् श्रीचैतन्य महाप्रभु का स्पर्श प्राप्त हो गया हो।

राजा के पुत्र की गौर भक्तों में गिनती—

सेइ हैते भाग्यवान् राजार नन्दन।
प्रभुभक्तगण-मध्ये हैला एकजन॥६८॥

६८। प० अनु—उसी दिन से भाग्यवान् राजा का पुत्र भी श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्तगणों में एक भक्त हो गया।

भक्तों के साथ प्रभु का कीर्त्तन-विलास—

एइमत महाप्रभु भक्तगण-सङ्गे।
निरन्तर क्रीड़ा करे संकीर्त्तन-रङ्गे॥६९॥

६९। प० अनु—इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों के साथ निरन्तर संकीर्त्तन करते हुये लीलाएँ करते थे।

अद्वैतादि का सगण प्रभु को निमन्त्रण—

आचार्यादि भक्त करे प्रभुरे निमन्त्रण।
ताँहा ताँहा भिक्षा करे लञा भक्तगण॥७०॥

७०। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य आदि भक्तगण श्रीचैतन्य महाप्रभु को निमन्त्रण करते और श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों के साथ उन-उनके स्थान पर भोजन ग्रहण करते।

रथयात्रा निकटवर्ती—

एइमत नाना रङ्गे दिन कत गेल।
जगन्नाथेर रथयात्रा निकट हइल॥७१॥

७१। प० अनु—इस प्रकार अनेक लीलाएँ करते-करते कुछ दिन बीत गये और अब श्रीजगन्नाथ की रथयात्रा का समय निकट आ गया।

काशीमिश्र, पड़िछा और भट्टाचार्य के निकट प्रभु द्वारा
गुण्डिचा-मन्दिर-मार्जन के लिये अनुमति की याचना—

प्रथमेइ काशीमिश्रे प्रभु बोलाइल।
पड़िछा-पात्र, सार्वभौमे बोलाञा आनिल॥७२॥
तिनजन-पाशे प्रभु हासिया कहिल।
गुण्डिचा-मन्दिर-मार्जन-सेवा मागि' निल॥७३॥

७२-७३। प० अनु०—पहले से ही श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीकाशीमिश्र, पड़िछा और सार्वभौम को अपने पास बुलवा लिया और तीनों के समक्ष प्रभु ने मुस्कराते हुये गुण्ड़िचा-मन्दिर-मार्जन करने की सेवा माँग ली।

अनुभाष्य

७३। गुण्डिचा-मन्दिर—श्रीजगन्नाथ मन्दिर से पूर्व-उत्तर दिशा में एक क्रोस की दूरी पर अवस्थित। रथ यात्रा के समय वहाँ श्रीजगन्नाथ देव एक सप्ताह के लिये जाते हैं, बाद में फिर से रथ से लौट आते हैं। जनश्रुति के आधार पर यह जाना जाता है कि श्रीइन्द्रद्युम्न राजा की पत्नी 'गुण्डिचा' के नाम से परिचित थी। शास्त्र ग्रन्थों में गुण्डिचा-मन्दिर का उल्लेख है। गुण्डिचा मन्दिर का प्रागण—लम्बाई २८८ हाथ*, चौड़ाई—२१५ हाथ; मूल मन्दिर—लम्बाई ३६ हाथ, चौड़ाई ३० हाथ, नाट्य मन्दिर—लम्बाई ३२ हाथ और चौड़ाई ३० हाथ।

पड़िछा की दीनता पूर्वक उक्ति—

पड़िछा कहे,—"आमि-सब सेवक तोमार।
जे तोमार इच्छा, सेइ कर्त्तव्य आमार॥७४॥

७४। प० अनु०—पड़िछा ने कहा—"हम सब आपके सेवक हैं। आपकी जो भी इच्छा होगी उसे पालन करना हमारा कर्त्तव्य है।

राजा की आज्ञा से प्रभु की सेवा का अधिकार—

विशेषे राजार आज्ञा हञाछे आमारे।
प्रभुर आज्ञा जेइ, सेइ शीघ्र करिबारे॥७५॥

७५। प० अनु०—विशेष रूप से राजा ने हमें आज्ञा दी है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु की जो आज्ञा हो, उसका शीघ्र ही पालन करना।

पड़िछा की गुण्डिचा मन्दिर मार्जन के तत्त्व में अनभिज्ञता—

तोमार योग्य सेवा नहे मन्दिर-मार्जन।
एइ एक लीला कर, जे तोमार मन॥७६॥

७६। प० अनु०—मन्दिर के मार्जन करने की सेवा आपके योग्य नहीं है। यह तो आप कोई लीला कर रहे हैं, जैसी आपकी इच्छा।

प्रभु द्वारा घट और सम्मार्जनी संग्रह—

किन्तु घट, सम्मार्जनी बहुत चाहिये।
आज्ञा देह, आजि सब इहाँ आनि दिये॥"७७॥
नूतन एकशत घट, शत संमार्जनी।
पड़िछा आनिया दिल प्रभुर इच्छा जानि॥७८॥

७७-७८। प० अनु०—किन्तु मन्दिर का मार्जन करने के लिये बहुत से घड़ों और झाड़ुओं की आवश्यकता है इसलिये आप आज्ञा दीजिये मैं आज ही वह सब लाकर रख दूँ।" इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु की इच्छा जानकर पड़िछा ने एक सौ नये घड़े और एक सौ झाड़ुओं को लाकर प्रभु को दे दिया।

सुबह होते ही भक्तों के साथ
प्रभु का गुण्डिचा में जाना—

आर दिने प्रभाते लञा निजगण।
श्रीहस्ते सबार अङ्गे लेपिला चन्दन॥७९॥
श्रीहस्ते दिल सबारे एक एक मार्जनी।
सबगण लञा प्रभु चलिला आपनि॥८०॥

७९-८०। प० अनु०—दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने हाथों से अपने भक्तों के अङ्ग (ललाट) पर चन्दन लगाया। उसके बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सबको अपने हाथों से एक-एक झाड़ू दिया। इस प्रकार अपने परिकरों को साथ लेकर प्रभु स्वयं भी चल दिये।

पहले अपने आचरण के द्वारा आदर्श-प्रदर्शन—

गुण्डिचा-मन्दिरे गेला करिते मार्जन।
प्रथमे मार्जनी लञा करिल शोधन॥८१॥
भितर मन्दिर उपर,—सकल माजिल।
सिंहासन माजि' पुनः स्थापन करिल॥८२॥

* १ हाथ अर्थात् १.५ फुट

छोट-बड़-मन्दिर कैल मार्जन-शोधन।
पाछे तैछे शोधिल श्रीजगमोहन॥८३॥

८१-८३। प॰ अनु॰—गुण्डिचा मन्दिर में मार्जन करने के उद्देश्य से जाकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सर्वप्रथम अपने हाथ में झाडु लेकर वहाँ सफाई की। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मन्दिर के भीतर जाकर उसे सम्पूर्ण रूप से साफ किया, और-तो-और छत्त को भी साफ किया। उन्होंने सिंहासन (अर्थात् रत्नबेदी के ऊपर रखे जाने वाले लकड़ी के सिंहासन) को अपने स्थान से हटाकर उसे पूरी तरह से साफ करके उसे फिर से उसी स्थान पर स्थापित कर दिया। गुण्डिचा-मन्दिर के अन्दर बने अन्यान्य सभी छोटे-बड़े मन्दिरों का मार्जन करके उनको साफ किया तथा बाद में वैसे ही श्रीजगमोहन (नाट्य मन्दिर) की भी सफाई की।

अनुभाष्य

८२। गुण्डिचा मूल मन्दिर में बारह हाथ चौड़ी और दो हाथ ऊँची एक रत्नवेदी है,—यही सिंहासन है।

अनुभाष्य

८३। श्रीजगमोहन,—मूलमन्दिर और नाट्य मन्दिर के बीच का मन्दिर ३२ हाथ लम्बा है।

प्रभु द्वारा स्वयं ही शोधन (सफाई करना) एवं शिक्षा-दान—
चारिदिके शत भक्त सम्मार्जनी करे।
आपनि शोधेन प्रभु, शिखा'न सबारे॥८४॥

८४। प॰ अनु॰—चारों ओर से सैकड़ों भक्त हाथ में झाड़ू लेकर सफाई कर रहे थे और श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं भी मार्जन करते हुये सभी को शिक्षा दे रहे थे।

भक्तों के द्वारा प्रभु का अनुसरण—
प्रेमोल्लासे शोधेन, लयेन कृष्णनाम।
भक्तगण 'कृष्ण' कहे, करे निज-काम॥८५॥

८५। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े ही प्रेमोल्लास से सफाई करते हुये कृष्णनाम का उच्चारण कर रहे थे तथा भक्तगण भी अपना-अपना काम करते हुये 'कृष्ण' नाम का उच्चारण कर रहे थे।

अश्रुओं के जल से मन्दिर का मार्जन—
धूलि-धूसर तनु देखिते शोभन।
काहाँ काहाँ अश्रुजले करे सम्मार्जन॥८६॥

८६। प॰ अनु॰—मन्दिर मार्जन करते हुये श्रीचैतन्य महाप्रभु की देह धूल से धूसरित होने के कारण पहले की अपेक्षा और भी अधिक शोभायमान हो रही थी और कहीं कहीं पर तो वे अपने अश्रुओं से ही धुलाई कर रहे थे।

सर्वत्र सम्पूर्ण रूप से शोधन-मार्जन—
भोगमन्दिर शोधन करि' शोधिल प्राङ्गण।
सकल आवास क्रमे करिल शोधन॥८७॥

८७। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भोगमन्दिर की सफाई करके मन्दिर के प्राङ्गण की सफाई की और क्रमशः सभी स्थानों की सफाई कर दी।

अनुभाष्य

८७। भोग मन्दिर—लम्बाई ४० हाथ और चौड़ाई १७ हाथ।

भक्तों के द्वारा तृण-धूलि आदि को बाहर फैंकना—
तृण, धूलि, झिँकुर, सब एकत्र करिया।
बहिर्वासे लञा फेलाय बाहिर करिया॥८८॥
एइमत भक्तगण करि' निज-वासे।
तृण, धूलि बाहिरे फेलाय परम-हरिषे॥८९॥

८८-८९। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने तृण, धूलि और छोटे-छोटे कंकड़ आदि को एकत्रित करने के बाद उन्हें अपने बहिर्वास में लेकर बाहर फैंक दिया और सभी भक्तों ने भी इसी प्रकार अपने वस्त्र में एकत्रित करने के बाद तृण, धूलि आदि को अत्यधिक प्रसन्नतापूर्वक बाहर फैंक दिया।

मल के परिमाण के अनुसार मार्जन का तारतम्य—
प्रभु कहे,—"के कत करियाछ संमार्जन।
तृण, धूलि देखिलेइ जानिब परिश्रम॥"९०॥

९०। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"किसने कितनी सफाई की है, तृण, धूलि को देखने से ही उसके द्वारा किये गये परिश्रम के विषय में पता चल जायेगा।"

सभी की अपेक्षा प्रभु के मार्जन के फलस्वरूप गुण्डिचा का अत्यधिक निर्मल होना—

सबार झयाँटान बोझा एकत्र करिल।
सबा हैते प्रभुर बोझा अधिक हइल॥९१॥

९१। प॰ अनु॰—सभी भक्तों ने झाड़ु लगाकर एकत्रित किये गये धूलि-कंकड आदि को एकत्रित करके एक-एक ढेर लगाया, परन्तु सभी भक्तों से श्रीचैतन्य महाप्रभु का ढ़ेर सबसे बड़ा हुआ।

सेवकों के साथ सेव्य का सेवा-निर्वाह—

एइमत अभ्यन्तर करिल मार्जन।
पुनः सबाकारे दिल करिया वण्टन॥९२॥

९२। प॰ अनु॰—इस प्रकार सबने मन्दिर के अन्दर के प्रकोष्ठ को साफ किया और फिर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पुनः सभी को मन्दिर के बाहर के एक-एक खण्ड को सफाई हेतु उनमें बाँट दिया।

मन्दिर को गन्दगी रहित करने की प्रभु की आज्ञा—

"सूक्ष्म धूलि, तृण, काँकर, सब करह दूर।
भालमते शोधन करह प्रभुर अन्तःपुर॥"९३॥

९३। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सबको आदेश दिया—"सूक्ष्म धूलि, तृण तथा कङ्कर को—सभी प्रकार की गन्दगी को दूर फैंककर अच्छे से श्रीजगन्नाथ के अन्तःपुर की सफाई करो।"

दो बार आवरण की सफाई करना—

सब वैष्णव लञा जबे दुइबार शोधिल।
देखि' महाप्रभुर मने सन्तोष हइल॥९४॥

९४। प॰ अनु॰—सभी वैष्णवों को साथ लेकर श्रीमन् महाप्रभु ने—जब दो बार सफाई कर ली, तब मन्दिर को साफ देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का मन सन्तुष्ट हुआ।

दूसरे सम्प्रदायों की मन्दिर मार्जन में सहायता—

आर शत-जन शत-घट जल भरि'।
प्रथमेइ लञा आछे काल अपेक्षा करि'॥९५॥
'जल आन' बलि' जबे महाप्रभु कहिल।
तबे शत घट आनि' प्रभु-आगे दिल॥९६॥

९५-९६। प॰ अनु॰—सौ भक्त सौ घड़ों में जल भरकर पहले से ही समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। जब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—जल ले आओ तब भक्तों ने सौ घड़े जल लाकर प्रभु के समक्ष रख दिया।

मन्दिर में सर्वत्र प्रक्षालन एवं शोधन—

प्रथमे करिल प्रभु मन्दिर प्रक्षालन।
ऊर्ध्व-अधो भित्ति, गृह-मध्य, सिंहासन॥९७॥
खापरा भरिया जल ऊर्ध्वे चालाइल।
सेइ जले ऊर्ध्व शोधि भित्ति प्रक्षालिल॥९८॥

९७-९८। प॰ अनु॰—सर्वप्रथम श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मूल मन्दिर को धोया, वहाँ मन्दिर में ऊपर, नीचे तथा दीवार और मन्दिर के अन्दर के सभी हिस्सों के साथ-साथ सिंहासन को भी साफ किया। टूटे हुये घड़ों के नीचे वाले भाग में पानी भरकर ऊपर छत की ओर फैंका, उसी जल से ही छत की सफाई के साथ ही दीवारें भी धो दी।

अपने हाथों के द्वारा भगवान् के सिंहासन की सफाई—

श्रीहस्ते करेन सिंहासनेर मार्जन।
प्रभु-आगे जल आनि' देय भक्तगण॥९९॥

९९। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने हाथों से सिंहासन की सफाई करने लगे। भक्तगण प्रभु के सामने जल को लाकर दे रहे थे।

भक्तों की विचित्र सेवा—

भक्तगण करे गृह-मध्य प्रक्षालन।
निज निज हस्ते करे मन्दिर मार्जन॥१००॥

केह जल आनि' देय महाप्रभुर करे।
केह जल देय ताँर चरण-उपरे॥१०१॥
केह लुकाञा करे सेइ जलपान।
केह मागि' लय, केह अन्ये करे दान॥१०२॥

१००-१०२। प० अनु०—भक्त भी मन्दिर के भीतरी भाग की धुलाई कर रहे थे और अपने हाथों से ही मन्दिर की सफाई कर रहे थे। कोई जल लाकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के हाथों में दे रहा था तो कोई जल लेकर उनके चरणों में डाल रहा था। कोई छिपकर प्रभु के चरणों का जल पान कर रहा था। कोई किसी से माँगकर उस जल का पान कर रहा था तो कोई दूसरे को अनायास ही दान कर रहा था।

नाली से जल का निकलना—

घर धुइ' प्रणालिकाय जल छाड़ि' दिल।
सेइ जले प्राङ्गण सब भरिया रहिल॥१०३॥

१०३। प० अनु०—मन्दिर को धोने के बाद जल को नाली में छोड़ दिया गया और उस जल से प्राङ्गण भर गया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०३। प्रणलिकाय,—नाली में।

अपने वस्त्रों से घर और सिंहासन का मार्जन—

निज-वस्त्रे कैल प्रभु गृह सम्मार्जन।
महाप्रभु निज-वस्त्रे माजिल सिंहासन॥१०४॥

१०४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने वस्त्र से ही मन्दिर को पौंछा तथा अपने वस्त्र से ही सिंहासन को भी पौंछा।

श्रीराधा के निर्मल मन के साथ मार्जित (साफ) और धुले हुये मन्दिर की उपमा—

शत घट जले हैल मन्दिर मार्जन।
मन्दिर शोधिया कैल, जेन निज मन॥१०५॥
निर्मल, शीतल, स्निग्ध करिल मन्दिरे।
आपन-हृदय जेन धरिल बाहिरे॥१०६॥

१०५-१०६। प० अनु०—सौ घड़े जल से मन्दिर साफ हो गया। महाप्रभु ने मन्दिर को साफ करके ऐसा कर दिया, जैसा उनका मन था। श्रीमन् महाप्रभु ने मन्दिर को ऐसे निर्मल, शीतल तथा स्निग्ध (मन को अच्छा लगने वाला) बना दिया, मानो उन्होंने अपने हृदय को ही बाहर में प्रकाशित कर दिया हो।

सौ-सौ भक्तों के द्वारा मन्दिर का शोधन करने की चेष्टा—

शत-शत जन जल भरे सरोवरे।
घाटे स्थान नाहि, केह कूपे जल भरे॥१०७॥
पूर्ण कुम्भ लञा आइसे शत भक्तगण।
शून्य घट लञा जाय, आर शत जन॥१०८॥

१०७-१०८। प० अनु०—सैकड़ों-सैकड़ों लोग सरोवर से जल भरकर ला रहे थे, जिन्हें घाट पर स्थान नहीं मिला वे कुएँ से ही जल भरकर ला रहे थे। सौ भक्त पानी से भरे घड़ों को ला रहे थे और सौ भक्त खाली घड़ों को ले जा रहे थे।

नित्यानन्द, अद्वैत, स्वरूप, भारती, पुरी आदि का मन्दिर मार्जन और अन्यान्य भक्तों के द्वारा जल लाना—

नित्यानन्द, अद्वैत, स्वरूप, भारती, पुरी।
इँहा बिना आर सब आने जल भरि'॥१०९॥

१०९। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीअद्वैताचार्य, श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीब्रह्मानन्द भारती तथा श्रीपरमानन्द पुरी के अतिरिक्त अन्यान्य सभी भक्त जल भरकर ला रहे थे।

अनुभाष्य

१०९। वैष्णव गण जल लाने के कार्य में नियुक्त थे। प्रभु नित्यानन्द, अद्वैत, दामोदर-स्वरूप, ब्रह्मानन्द भारती और परमानन्द पुरी,—ये पाँच जन महाप्रभु के साथ जल ग्रहण करके मार्जन के कार्य में व्यस्त थे।

मन्दिर को शोधन और मार्जन करने में सभी का उत्साह—

घटे घटे ठेकि' कत घट भाँगि' गेल।
शत शत घट लोक ताहाँ लञा आइल॥११०॥

११०। प॰ अनु॰—घड़ों के घड़ों से टकरा जाने पर न जाने कितने ही घड़े टूट गये, किन्तु लोग फिर से सैंकड़ों घड़े वहाँ लेकर आ गये।

मन्दिर के मार्जन और प्रक्षालन के समय सर्वक्षण कृष्णनाम-कीर्त्तन—

जल भरे, घर धोय, करे हरिध्वनि।
'कृष्ण' 'हरि' ध्वनि बिना आर नाहि शुनि॥१११॥
'कृष्ण' 'कृष्ण' कहि' करे घटेर प्रार्थन।
'कृष्ण' 'कृष्ण' कहि' करे घट समर्पण॥११२॥
जेइ जेइ कहे, सेइ कहे कृष्णनामे।
कृष्णनाम हइल संकेत सब-कामे॥११३॥

१११-११३। प॰ अनु॰—सभी भक्त जल भर रहे थे, घर धो रहे थे और हरि ध्वनि कर रहे थे। इस प्रकार 'कृष्ण' 'हरि' की ध्वनि के बिना और कुछ भी सुनायी नहीं दे रहा था। कुछ भक्त 'कृष्ण' 'कृष्ण' कहते हुये घड़े माँग रहे थे और कुछ भक्त 'कृष्ण' 'कृष्ण' कहते हुये घड़े दे रहे थे। जिसको जो भी कुछ कहना होता वे कृष्ण नाम के माध्यम से ही कहता, अतः कृष्णनाम ही सभी कार्यों का संकेत बन गया।

प्रभु द्वारा अनुक्षण कृष्ण-नाम-ग्रहण और अकेले ही एक सौ भक्तों के समान सेवा—

प्रेमावेशे प्रभु कहे 'कृष्ण' 'कृष्ण'-नाम।
एकले प्रेमावेशे करे शतजनेर काम॥११४॥

११४। प॰ अनु॰—प्रेमोवेश में श्रीचैतन्य महाप्रभु 'कृष्ण' 'कृष्ण' नाम कर रहे थे और प्रेमावेश में सौ भक्तों का काम अकेले ही कर रहे थे।

स्वयं ही आचरण और उपदेश करने वाले—

शत-हस्ते करेन जेन क्षालन-मार्जन।
प्रतिजन-पाशे जाइ' करान शिक्षण॥११५॥

११५। प॰ अनु॰—ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं सौ हाथों से प्रक्षालन एवं मार्जन कर रहे हों। श्रीमन् महाप्रभु प्रत्येक भक्त के पास जाकर उसे ठीक से कार्य करने हेतु शिक्षा भी प्रदान कर रहे थे।

सुष्ठु सेवकों के द्वारा सेवा की प्रशंसा—

भाल कर्म देखि' तारे करे प्रशंसन।
मने ना मिलिले करे पवित्र भर्त्सन॥११६॥

११६। प॰ अनु॰—किसी के द्वारा किये गये अच्छे काम को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु उसकी प्रशंसा करते और किसी के काम के पसन्द नहीं आने पर उसका मधुर वचनों से तिरस्कार करते।

सुष्ठु सेवक को आचार्य का कार्य करने की आज्ञा—

"तुमि भाल करियाछ, शिखाह अन्येरे।
एइमत भाल कर्म सेह जेन करे॥"११७॥

११७। प॰ अनु॰—जिन्होंने भलीभाँति सफाई की थी, उन्हें देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते—"तुमने बहुत अच्छा कार्य किया है, तुम दूसरों को भी ऐसा करना सिखाओ, जिससे वे भी अच्छी तरह से काम करें।"

प्रभु के द्वारा उत्साह देने पर भक्तों का उत्साहपूर्वक सेवा में रत होना—

ए-कथा शुनिया सबे संकुचित हआ।
भाल-मते कर्म करे सबे मन दिया॥११८॥

११८। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु की ऐसी बात को सुनकर (जिन्होंने पहले अच्छे से सफाई नहीं की थी), वे सब संकुचित हो जाते और मन लगाकर अच्छी प्रकार से सफाई करने लगे।

मन्दिर में सर्वत्र प्रक्षालन—

तबे प्रक्षालन कैल श्रीजगमोहन।
भोगमन्दिर आदि तबे कैल प्रक्षालन॥११९॥
नाटशाला धुइ' धुइल चत्वर-प्राङ्गण।
पाकशाला-आदि करि' करिल प्रक्षालन॥१२०॥
मन्दिरेर चतुर्दिक् प्रक्षालन कैल।
सब अन्तःपुर भालमते धोयाइल॥१२१॥

११९-१२१। प॰ अनु॰—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु

ने मन्दिर के जगमोहन (नाट्य मन्दिर) और भोगमन्दिर आदि की धुलाई की। नाटशाला (सभा भवन) की धुलाई के बाद उन्होंने चारों ओर के प्राङ्गण की भी धुलाई की तथा फिर पाकशाला (रसोई घर) आदि को भी धोया। इस प्रकार अन्दर, बाहर तथा चारों ओर से अच्छे से मन्दिर को धुलवाया।

एक गौड़ीय भक्त का काण्ड (क्रिया)—अचानक प्रभु के चरणों को धोकर चरणामृत का पान—

हेनकाले गौड़ीया एक सुबुद्धि सरल।
प्रभुर चरण-युगे दिल घट-जल॥१२२॥
सेइ जल लञा आपने पान कैल।
ताहा देखि' महाप्रभुर मने रोष हैल॥१२३॥

१२२-१२३। प० अनु०—उसी समय एक सुबुद्धि-मान् सरल गौड़ीय भक्त ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के दोनों चरणों में घड़े का जल डाल दिया और फिर उस जल को लेकर उसने पी लिया। ऐसा देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के मन में रोष (क्रोध) भर आया।

जगद्गुरु आचार्य की लीला प्रदर्शक प्रभु का क्रोध—

यद्यपि गोसाञि तारे हञाछे सन्तोष।
धर्मसंस्थापन लागि' बाहिरे महारोष॥१२४॥

१२४। प० अनु०—यद्यपि श्रीचैतन्य महाप्रभु भीतर से उसके प्रति सन्तुष्ट थे परन्तु धर्म की स्थापना करने के लिये बाहर से अत्यधिक रोष प्रकट कर रहे थे।

माधव-गौड़ीयेश्वर दामोदर स्वरूप के समीप प्रभु का अभियोग (शिकायत)—

शिक्षा लागि' स्वरूपे डाकि' कहिल ताँहारे।
"एइ देख तोमार 'गौड़ीया'र व्यवहारे॥१२५॥

१२५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अन्य लोगों को शिक्षा देने के लिये श्रीस्वरूप दामोदर को बुलाया और उनसे कहा—"अपने गौड़ीया का व्यवहार देखो।

अनुभाष्य

१२५। तोमार (तुम्हारा),—सभी गौड़ीय-वैष्णव ही श्रीदामोदर स्वरूप के अधीन है, इसलिये प्रभु ने 'तोमार' शब्द प्रयोग किया।

भगवान् के मन्दिर में चरणों का धोना—जीवों के लिये सेवा अपराध—

ईश्वर मन्दिरे मोर पद धोयाइल।
सेइ जल आपनि लञा पान कैल॥१२६॥

१२६। प० अनु०—इसने भगवान् के मन्दिर में मेरे चरणों को धुलाया है और फिर इसने उसी जल को लेकर स्वयं पान किया है।

प्रभु के द्वारा सेवा अपराध की भय से कातरता—

एइ अपराधे मोर काँहा हबे गति!
तोमार 'गौड़ीया' करे एतेक दुर्गति!"१२७॥

१२७। प० अनु०—इस अपराध के कारण मेरी क्या गति होगी, तुम्हारे गौड़ीया ने मेरी ऐसी दुर्गति कर दी है।"

अनुभाष्य

१२६-१२७। जीवों के नित्यप्रभु भगवान् के मन्दिर में पैर धोना आदि उनके नित्यदास जीवों के लिये मर्यादा-लङ्घन-हेतु सेवापराध है (हः भः विः); किन्तु प्रभु स्वयं भगवान् हैं, उनके लिये अपराध आदि का आरोप अत्यन्त असम्भव और वेद-विरुद्ध होने पर भी वे बाहर से जगद् गुरु, लोक शिक्षक और आचार्य का कार्य कर रहे हैं, इसलिये ही उन्होंने अपने को एक विभिन्नांश जीव मात्र मानकर निर्बोध गुरुब्रुवों को सेवापराध से सर्तक करने के लिये शिक्षा दी।

स्वरूप द्वारा उस 'गौड़ीय' को गुण्डिचा से बाहर निकालना—

तबे स्वरूप गोसाञि तार घाड़े हात दिया।
ढेका मारि' पुरीर बाहिर राखिलेन लञा॥१२८॥

१२८। प० अनु०—तब श्रीस्वरूप दामोदर ने उसकी गर्दन को अपने हाथों से पकड़कर उसे धक्का मारकर मन्दिर से बाहर कर दिया।

अनुभाष्य

१२८। ढेका,—धक्का; पुरीर—गुण्डिचा पुरी।

प्रभु के चरणों में क्षमा-भिक्षा—

पुनः आसि' प्रभु-पाय करिल विनय।
'अज्ञे अपराध' क्षमा करिते जुयाय॥"१२९॥

१२९। प॰ अनु॰—और पुनः आकर श्रीस्वरूप दामोदर ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों में दीनतापूर्वक कहा—"वह अज्ञ है इसलिये उसके अपराध को क्षमा करना ही उचित है।"

प्रभु द्वारा क्षमा करना और सभी का प्रभु के दोनों ओर बैठ जाना—

तबे महाप्रभुर मने सन्तोष हइल।
सारि करि' दुइ पाशे सबारे बसाइल॥१३०॥

१३०। प॰ अनु॰—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु का मन सन्तुष्ट (प्रसन्न) हुआ और उन्होंने पंक्ति बनवाकर सभी भक्तों को अपने दोनों ओर बिठा लिया।

बीच में प्रभु द्वारा तृणादि एकत्रित करना—

आपने बसिया माझे, आपनार हाते।
तृण, काँकर, कुटा लागिला कुड़ाइते॥१३१॥

१३१। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं बीच में बैठकर ही अपने हाथों से तृण, कंकड़ और कूड़े को एकत्रित करने लगे।

अल्प इकट्ठा करने वाले व्यक्तियों को प्रसाद ग्रहण रूप दण्ड-प्रदान—

"के कत कुड़ाय, सब एकत्र करिब।
जार अल्प, तार ठाञि पिठा-पाना लइब॥"१३२॥

१३२। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"किसने कितना कूड़ा एकत्रित किया है, सब भक्तों को एक साथ बुलाकर मैं उसे देखूँगा। जिसका कम होगा, उससे पिठा-पाना लूँगा।"

गुण्डिचा मन्दिर को सम्पूर्ण रूप से निर्मल (साफ) करना—

एइमत सब पुरी करिल शोधन।
शीतल, निर्मल कैल,—जेन निज-मन॥१३३॥

१३३। प॰ अनु॰—इस प्रकार श्रीमन् महाप्रभु ने अपने परिकरों सहित सम्पूर्ण मन्दिर की सफाई की। मन्दिर को उन्होंने ऐसा शीतल तथा निर्मल बना दिया, मानो जैसे उनका अपना मन हो।

नाली के द्वार से जल का निकलना—

प्रणालिका छाड़ि' यदि पानि बहाइल।
नूतन नदी जेन समुद्रे मिलिल॥१३४॥

१३४। प॰ अनु॰—नाली से पानी को छोड़ देने पर ऐसा प्रतीत होता मानो कोई नयी नदी समुद्र में मिलने जा रही हो।

गुण्डिचा मन्दिर के अन्दर जाने के विभिन्न मार्गों की सफाई—

एइमत पुरद्वार-आगे पथ जत।
सकल शोधिल, ताहा के वर्णिबे कत॥१३५॥

१३५। प॰ अनु॰—इस प्रकार श्रीमन् महाप्रभु ने सभी भक्तों के साथ मिलकर मन्दिर के भीतर आने के सभी मार्गों की भी सफाई की, उन्होंने जिन सभी स्थानों को परिष्कार किया, उसका कौन कितना वर्णन कर सकता है।

अनुभाष्य

१३५। गुण्डिचा-मार्जन लीला-रहस्य,—जगद्गुरु महाप्रभु इस लीला के द्वारा यह शिक्षा दे रहे हैं कि श्रीकृष्ण को यदि कोई सौभाग्यवान् जीव अपने हृदय-सिंहासन पर बैठाने की इच्छा करता है, तो सबसे पहले उसके लिये अपने हृदय के मल को धोना उचित है; हृदय को निर्मल, शान्त और भक्ति से उज्ज्वल करना आवश्यक है। हृदयक्षेत्र में कण्टकपूर्ण तृण अथवा अगाछा (मूल पौधे के साथ उग जाने वाले अन्यान्य पौधे), धूलि और कंकर आदि रूपी अनर्थ थोड़े से रहने पर भी परम सेव्य भगवान् को बैठाया नहीं जा सकता। हृदय का यह

मल अथवा कूड़ा—अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञान और योग चेष्टा आदि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। श्रील रूप गोस्वामी प्रभु ने कहा है,—"अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्ति-रुतमा॥"

जहाँ भक्ति के अतिरिक्त अन्याभिलाष, ज्ञान-कर्म-योग-तपस्या आदि अथवा भक्ति प्रतिकूल भाव द्वारा आत्मा की नित्य स्वाभाविक वृत्ति भक्ति ढ़क गयी है, वहाँ शुद्ध भक्ति नहीं है। शुद्ध सत्त्वमयी शुद्धभक्ति के बिना कृष्ण का आविर्भाव नहीं होता।

अन्याभिलाष अर्थात् 'जगत् में जब तक रहूँगा, केवल अपनी इन्द्रियों का तर्पण ही करूँगा' ऐसी अन्य अभिलाष,—यह काँटे से भरे तृण की भाँति शुद्ध जीव की सुकोमल हृदवृत्ति केवलाभक्ति को छलनी करती है। कर्मचेष्टा अर्थात् याग, यज्ञ, दान, तपस्या आदि द्वारा 'स्वर्ग आदि उच्च लोकों में सुख अथवा इस लोक में सुख भोग करूँगा' ऐसी वासनामयी क्रिया; वह—धूलि के समान है। कर्मचक्र से उड़ती हुई वायु द्वारा वासना रूपी धूलिराशि हमारे स्वच्छ और निर्मल हृदय दर्पण को ढक देती है। सत् और असत् कर्मों की वासना रूपी असंख्य धूलि राशि ने हरि विमुख जीव के हृदय को कितने जन्म-जन्मान्तर तक मलिन किया है, इसलिये उसकी कर्मवासना दूर नहीं हो रही। हरिविमुख जीव सोचता है, कर्म के द्वारा कर्म-शल्य को अर्थात् अच्छे कर्म के द्वारा बुरे कर्म को हटाया जा सकता है, किन्तु ऐसी धारणा—गलत है; इसके वशवर्ती होकर वो केवल आत्मवञ्चित ही होता है। हाथी को स्नान करा देने पर जैसे वह फिर से शरीर पर धूलि मल लेता है, उसी प्रकार कर्म के द्वारा कर्म की वासना दूर नहीं होती। एकमात्र केवला भक्ति के द्वारा ही जीवों की समस्त असुविधाएँ दूर होती हैं, तब उसके उस निर्मल हृदय रूपी सिंहासन पर ही श्रीभगवान् विश्राम योग्य स्थान प्राप्त करते हैं। इसलिये भक्त कवि ने गान किया है,—"भक्तेर हृदये सदा गोविन्देर विश्राम"।

निर्विशेष और कैवल्य योग अथवा ज्ञान-योग आदि की चेष्टा—बिल्कुल कंकर जैसी है। उसके द्वारा श्रीहरि तोषण अथवा सेवा तो दूर की बात, श्रीहरि की देह में शेल (काँटा) बिद्ध करने का ही प्रयास किया जाता है। यद्यपि निर्विशेष-ब्रह्मानुसन्धान में सर्वप्रथम मुमुक्षु अवस्था में श्रीहरि का नाम आदि गौण रूप में स्वीकार किया जाता है, किन्तु मुक्त अथवा ब्रह्म-अभिमान के समय उसका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता; अतएव भगवान् वैसे दुर्भाग्य विमुक्त-अभिमानी जीव के हृदय में आविर्भूत नहीं होते। इसलिये श्रीगौरसुन्दर ने इन सब तृण, धूलि, छोटे-छोटे कंकर आदि कूड़े को भगवान् के मन्दिर की चारदीवारी के भीतर भी नहीं रखा, परन्तु अपने बहिर्वास में भरकर उसको बाहर फैंक दिया—कहीं बाद में हवा की सहायता से यह सब जञ्जाल फिर से श्रीमन्दिर में प्रविष्ट न हो जाये।

बहुत बार कर्म, ज्ञान आदि की चेष्टा के दूर होने पर भी हृदय में सूक्ष्म-सूक्ष्म मल रह जाता है। उनकी 'कुटिनाटि', 'प्रतिष्ठाशा', 'जीवहिंसा', 'निषिद्धाचार', 'लाभ', 'पूजा' प्रभृति के साथ तुलना की जा सकती है। कुटिनाटी शब्द कपटता, प्रतिष्ठाशा शब्द निर्जन भजन आदि अथवा बुजुरुगी द्वारा (बगुला भक्त के वेष) 'निर्बोध लोग मुझे एक बड़ा साधु अथवा महन्त कहें' ऐसे जड़ीय सम्मान आदि की आशा, अथवा विषय भोगक्रम से स्वार्थ को पूर्ण करने के उद्देश्य से कठिनता को प्राप्त हृदय में कृत्रिम विकार आदि भावाभास-प्रदर्शन द्वारा 'भक्त' अथवा 'अवतार' के रूप में सजने की आशा; जीव हिंसा शब्द शुद्धभक्ति के प्रचार में कुण्ठा रखना अथवा कृपणता करना, मायावादी, कर्मी और अन्याभिलाषी को प्रश्रय देना अथवा उनका मन रखकर बात बोलना; 'लाभ-पूजा' शब्द धर्म के नाम पर हरिनाम-मन्त्र-विग्रह और भागवत जीवी होकर निर्बोध लोगों को ठग कर धन आदि अथवा सम्मान की प्राप्ति; निषिद्धाचार-शब्द—स्त्री सङ्ग एवं कर्मी, ज्ञानी और अन्याभिलाषी प्रभृति कृष्ण-अभक्तों के सङ्ग की ही जानकारी देता है।

इस प्रकार एक बार बहुत दिन के सञ्चित बड़े-बड़े कंकड, तिनके, धूल राशि प्रभृति को झाँडकर फैंक देने के बाद श्रीगौर सुन्दर ने दो-दो बार मन्दिर को पूरी तरह से साफ और जल द्वारा धोने के बाद, यदि कहीं पर फिर कोई सूक्ष्म दाग-धब्बा आदि लगा हो (ऐसा सोचकर) उसके लिये वे अपने पहने हुए वाले सूखे वस्त्र के द्वारा घिस-घिसकर श्रीमन्दिर और भगवान् के बैठने योग्य स्थान सिंहासन का मार्जन करने लगे।

धोने, सफाई करने तथा घिसने आदि के बाद श्रीमन्दिर में और धूलि के कणों के लेश को और तो और, एक छोटा सा दाग भी नहीं था, श्रीमन्दिर स्फटिक मणी की तरह निर्मल, केवल इतना ही नहीं, सुशीतल भी हो गया अर्थात् साधक का हृदय 'सूर्य के ताप से तपते हुए रेगिस्तान के ताप से रहित अर्थात् विषय-भोग-वासना से उत्पन्न आध्यात्मिक आदि तीनों तापों की अग्नि की ज्वाला से रहित हो गया है। वास्तव में उसके हृदय से अन्याभिलाष और कर्म-ज्ञान-योग आदि चेष्टा रूपी भुक्ति-मुक्ति की कामना दूर होकर आत्मवृत्ति शुद्धभक्ति प्रकटित होने पर वह इस प्रकार शान्त और सुशीतल हो जाता है।

बहुत बार समस्त प्रकार की कामनाओं और वासनाओं के दूर होने पर भी हृदय के किसी-किसी अज्ञात कोने में कुछेक छोटे धब्बे रह जाते है, उसे निर्बोध जीव नहीं समझ पाता; वही 'मुक्ति की कामना' है। निर्विशेष-वादियों की सायुज्य मुक्ति की कामना तो दूर की बात,—अन्यान्य चार प्रकार की मुक्ति की कामना रूपी सूक्ष्म धब्बों को भी श्रीमन्महाप्रभु ने अपने वस्त्र द्वारा घिसकर दूर किया।

इस प्रकार श्रीगौरसुन्दर,—किस प्रकार साधक अपने हृदय को वृन्दावन के रूप में परिणत करके स्वराट् कृष्ण के स्वच्छन्द विहार का स्थल बनाने के लिये, कृष्णेन्द्रिय प्रीति वाञ्छा के लिये, अत्यधिक उत्साह पूर्वक उच्च स्वर से कृष्णनाम करते-करते कृष्ण की प्रीति के लिये अपने हृदय को मार्जित (साफ) करेंगे,— उसे जीवों के मङ्गल के लिये अपने को जीव मानकर जगद् गुरु के रूप में स्वयं शिक्षा देने लगे—'यद्यप्यन्या भक्तिः कलौ कर्त्तव्या, तदा कीर्त्तनाख्य-भक्ति-संयोगेनैव।' महाप्रभु प्रत्येक भक्त के निकट जाकर उसका हाथ पकड़कर मन्दिर की सेवा की शिक्षा देने लगे। जिसका कार्य अच्छा हो रहा है, उसकी प्रशंसा एवं जिसकी सेवा कृष्णवाञ्छापूर्तिमयी श्रीराधा के भाव सुवलित प्रभु के मन की इच्छानुसार नहीं हो रहा, उसे भी पवित्र (मीठी) डाँट देकर हाथ पकड़कर कृष्णसेवा की प्रणाली की शिक्षा दी। केवल इतना ही नहीं,—श्रीचैतन्य शिक्षानुगत ऐसे भक्त जिन्हें भजन करने में कुशलता प्राप्त हो गयी है, अद्वय ज्ञान में भक्तियोग युक्त शुद्ध हृदय वाले भक्तों को अन्य विमुख जीवों के 'आचार्य' का कार्य करने के लिये भी आदेश पूर्वक उत्साह देने लगे। (११७ संख्या)। पुनः, जो जितने अधिक परिमाण में मैल को हृदय से निकालकर सफाई करने में समर्थ होंगे, वे उतने अधिक प्रभु के प्रिय होंगे एवं जिनकी अनर्थ-निवृत्ति बहुत कम ही हुई है, उनके लिये दण्ड स्वरूप हरि-गुरु-वैष्णव-सेवा को ही विधि कहकर निर्देश किया।

नृसिंह मन्दिर की सफाई के बाद सभी का विश्राम—

नृसिंह मन्दिर-भितर-बाहिर शोधिल।
क्षणेक विश्राम करि' नृत्य आरम्भिल॥१३६॥

१३६। प॰ अनु॰—उसके बाद श्रीमन् महाप्रभु ने श्रीनृसिंह मन्दिर को भी भीतर एवं बाहर से धो दिया और क्षण भर विश्राम करने के उपरान्त नृत्य करना आरम्भ कर दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३६। नृसिंह-मन्दिर,—गुण्डिचा मन्दिर के बहुत पास में ही एक सुन्दर और पुराना नृसिंह मन्दिर है। वहाँ नृसिंह चतुर्दशी के दिन बहुत बड़ा महोत्सव होता है। श्रीमुरारि गुप्त रचित श्रीचैतन्य चरित-ग्रन्थ में, श्रीनवद्वीप धाम में नृसिंह मन्दिर अर्थात् श्रीनृसिंह पल्ली के संस्करण की लीला वर्णित है।

चारों ओर महासङ्कीर्त्तन और
बीच में प्रभु का नृत्य—

चारिदिके भक्तगण करेन कीर्त्तन।
मध्ये नृत्य करेन प्रभु मत्तसिंह-सम॥१३७॥

१३७। प॰ अनु॰—चारों ओर से भक्तगण कीर्त्तन कर रहे थे और बीच में मत्त-सिंह की भाँति श्रीचैतन्य महाप्रभु नृत्य करने लगे।

प्रभु के अष्ट सात्त्विक-विकार और अश्रु वर्षण—

स्वेद, कम्प, वैवर्ण्याश्रु, पुलक, हुँकार।
निज-अङ्ग धुइ' आगे चले अश्रुधार॥१३८॥
चारिदिके भक्त-अङ्ग कैल प्रक्षालन।
श्रावणेर मेघ जेन करे वरिषण॥१३९॥
महा-उच्चसंकीर्तने आकाश भरिल।
प्रभुर उद्दण्ड-नृत्ये भूमिकम्प हैल॥१४०॥

१३८-१४०। प॰ अनु॰—नृत्य करते हुये श्रीचैतन्य महाप्रभु में स्वेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु, पुलक, हुँकार आदि अष्ट सात्त्विक भाव उदित होने लगे और उनकी अश्रुओं की धारा उनके अपनी देह को धोते हुये आगे की ओर चली जा रही थी। चारों ओर से एकत्रित भक्तों के शरीर भी उस अश्रु धारा से ऐसे गीले हो गये थे जैसे श्रावण मास में मेघ द्वारा वर्षण हो रहा हो। भक्तों के अत्यधिक उच्च संकीर्त्तन से सम्पूर्ण आकाश भर गया और श्रीचैतन्य महाप्रभु के उद्दण्ड नृत्य से भूमि भी काँपने लगी मानो भूकम्प आ गया हो।

उच्च:स्वर से स्वरूप दामोदर के कीर्त्तन
से प्रभु का आनन्दपूर्वक नृत्य—

स्वरूपेर उच्च-गान प्रभुरे सदा भाय।
आनन्दे उद्दण्ड नृत्य करे गौरराय॥१४१॥

१४१। प॰ अनु॰—श्रीस्वरूप दामोदर का उच्च स्वर से किया गया गान श्रीचैतन्य महाप्रभु को सदैव प्रिय लगता था इसलिये श्रीगौरराय उनके द्वारा किये जा रहे गान को सुनकर आनन्द पूर्वक उद्दण्ड नृत्य कर रहे थे।

नृत्य के अन्त में विश्राम—

एइमत कतक्षण नृत्य जे करिया।
विश्राम करिला प्रभु समय जानिया॥१४२॥

१४२। प॰ अनु॰—इस प्रकार कुछ देर तक नृत्य करने के उपरान्त श्रीचैतन्य महाप्रभु ने समय जानकर अर्थात् देरी हुई देखकर नृत्य करना बन्द कर दिया।

अद्वैताचार्य के पुत्र गोपाल को नृत्य करने का आदेश—

आचार्य-गोसाञिर पुत्र श्रीगोपाल-नाम।
नृत्य करिते ताँरे आज्ञा दिल गौरधाम॥१४३॥

१४३। प॰ अनु॰—तब गौरधाम श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीअद्वैत आचार्य के पुत्र श्रीगोपाल को नृत्य करने का आदेश दिया।

अनुभाष्य

१४३। श्रीगोपाल—आदि द्वादश परिच्छेद १९-२६ संख्या द्रष्टव्य।

नृत्य के फलस्वरूप गोपाल की मूर्च्छा—

प्रेमावेशे नृत्य करि' हइला मूर्च्छिते।
अचेतन-हञा तेंह पड़िला भूमिते॥१४४॥

१४४। प॰ अनु॰—प्रेमावेश में नृत्य करते हुये श्रीगोपाल मूर्च्छित हो गये तथा अचेतन होकर पृथ्वी पर गिर पड़े।

आचार्य की व्यस्तता—

आस्ते-व्यस्ते आचार्य ताँरि कैल कोले।
श्वास-रहित देखि' आचार्य हैला विकले॥१४५॥

१४५। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैताचार्य ने कुछ व्यस्त होकर श्रीगोपाल को अपनी गोद में ले लिया और उसे श्वास-रहित देखकर वे व्याकुल हो गये।

अद्वैताचार्य की नृसिंह मन्त्र के द्वारा पुत्र
की चेतनता को सम्पादित करने की चेष्टा—

नृसिंहेर मन्त्र पड़ि' मारे जल-छाँटि।
हुँकारेर शब्दे ब्रह्माण्ड जाय फाटि'॥१४६॥

१४६। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य ने नृसिंह मन्त्र पढ़ते हुये गोपाल के मुँह पर जल के छींटे मारे और उन्होंने ऐसा हुँकार किया कि उस शब्द से ब्रह्माण्ड तक फटा जा रहा था।

फिर भी गोपाल में चेतनता का अभाव,
आचार्य आदि भक्तों का दुःख—

अनेक करिल, तबु ना हय चेतन।
आचार्य कान्देन, कान्दे सब भक्तगण॥१४७॥

१४७। प० अनु०—श्रीअद्वैताचार्य के द्वारा अनेक प्रयत्न करने पर भी जब गोपाल को चेतना नहीं आयी तो श्रीआचार्य क्रन्दन करने लगे और उनके क्रन्दन को देखकर समस्त भक्त भी क्रन्दन करने लगे।

श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा से चेतनता
की प्राप्ति और भक्तों में हर्ष—

तबे महाप्रभु ताँर बुके हस्त दिल।
'उठह गोपाल' बलि' उच्चैःस्वरे कहिल॥१४८॥
शुनितेइ गोपालेर हइल चेतन।
'हरि' बलि' नृत्य करे सर्वभक्तगण॥१४९॥

१४८-१४९। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने गोपाल के वक्षः स्थल पर अपना हाथ रखा और उन्होंने उच्च स्वर से 'गोपाल उठो'—ऐसा कहा। श्रीचैतन्य महाप्रभु के इन वचनों को सुनने मात्र से ही गोपाल को चेतना आ गयी। ऐसा देखकर सभी भक्त 'हरि' बोलकर नृत्य करने लगे।

वृन्दावनदास ठाकुर द्वारा यह लीला वर्णित—

एइ लीला वर्णियाछेन दास-वृन्दावन।
अतएव संक्षेप करि' करिलुँ वर्णन॥१५०॥

१५०। प० अनु०—(श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कह रहे हैं) इस लीला का श्रीवृन्दावन दास ठाकुर ने वर्णन किया है इसलिये मैंने संक्षेप में ही इसका वर्णन किया है।

अनुभाष्य

१५०। गोपाल का यह वृत्तान्त श्रीचैतन्य भागवत में दिखायी नहीं देता।

भक्तों के साथ प्रभु का स्नान—

तबे महाप्रभु क्षणेक विश्राम करिया।
स्नान करिबारे गेला भक्तगण लञा॥१५१॥

१५१। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कुछ समय विश्राम किया तथा फिर अपने भक्तों को साथ लेकर इन्द्रद्युम्न सरोवर में स्नान करने गये।

स्नान के उपरान्त नृसिंह को प्रणाम
करके उद्यान में जाकर बैठना—

तीरे उठि' परेन प्रभु शुष्क वसन।
नृसिंह-देवे नमस्करि' गेला उपवन॥१५२॥

१५२। प० अनु०—स्नान करने के बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु ने तट पर आकर सूखे वस्त्र पहने और श्रीनृसिंह देव को प्रणाम करके उपवन में चले गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५१-१५२। गुण्डिचा मन्दिर के निकट इन्द्रद्युम्न सरोवर में स्नान करके श्रीचैतन्य महाप्रभु नृसिंहदेव को प्रणाम करके उपवन में चले गये।

वाणीनाथ द्वारा प्रसाद लाना—

उद्याने बसिला प्रभु भक्तगण लञा।
तबे वाणीनाथ आइला महाप्रसाद लञा॥१५३॥

१५३। प० अनु०—उस उपवन में श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों के साथ बैठ गये और तब श्रीवाणीनाथ वहीं पर ही सभी के लिये महाप्रसाद लेकर आ गये।

काशीमिश्र और तुलसी-पड़िछा द्वारा ५००
लोगों के परिमाण का प्रसाद भेजना—

काशीमिश्र, तुलसी-पड़िछा—दुइजन।
पञ्चशत लोके जत करये भोजन॥१५४॥

तत अन्न-पिठा-पाना, सब पाठाइल।
देखि' महाप्रभुर मने सन्तोष हइल॥१५५॥

१५४-१५५। प० अनु०—श्रीकाशीमिश्र और तुलसी नामक पड़िछा—इन दोनों ने पाँच सौ भक्तों के भोजन के परिमाण अनुसार अन्न-पिठा-पाना इत्यादि सबकुछ भेज दिया। जिसे देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का मन अत्यन्त सन्तुष्ट (प्रसन्न) हुआ।

अपने परिकरों के साथ प्रभु का प्रसाद का सम्मान करने के लिये बैठना—

पुरी-गोसाञि, महाप्रभु, भारती ब्रह्मानन्द।
अद्वैत-आचार्य, आर प्रभु-नित्यानन्द॥१५६॥
आचार्यरत्न, आचार्यनिधि, श्रीवास, गदाधर।
शङ्कर, नन्दनाचार्य, आर राघव, वक्रेश्वर॥१५७॥
प्रभु-आज्ञा पाञा बैसे आपने सार्वभौम।
पिण्डार उपरे प्रभु बैसे लञा भक्तगण॥१५८॥
तार तले, तार तले करि' अनुक्रम।
उद्यान भरि' बैसे भक्त करिते भोजन॥१५९॥

१५६-१५९। प० अनु०—श्रीपरमानन्द पुरी, श्रीचैतन्य महाप्रभु ,श्रीब्रह्मानन्द भारती, श्रीअद्वैत आचार्य, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीआचार्य रत्न, श्रीआचार्य निधि, श्रीवास पण्डित, श्रीगदाधर पण्डित, श्रीशङ्कर, श्रीनन्दाचार्य, श्रीराघव, श्रीवक्रेश्वर पण्डित आदि सब भक्त प्रसाद पाने हेतु बैठ गये और श्रीसार्वभौम भी महाप्रभु की आज्ञा से बैठ गये। महाप्रभु अपने सभी भक्तों के साथ काष्ठ के बने आसन पर बैठे और उनके नीचे क्रम के अनुसार अन्यान्य भक्तगण भी बैठ गये। इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ भोजन करने के लिये बैठे भक्तों से समस्त उद्यान भर गया।

अनुभाष्य

१५८। पिण्डा (उड़िया भाषा),—लकड़ी का बना आसान, बंगाली भाषा में उसे पीडी कहते हैं।

प्रभु द्वारा हरिदास ठाकुर का आह्वान—

'हरिदास' बलि' प्रभु डाके घने घन।
दूरे रहि' हरिदास करे निवेदन॥१६०॥

१६०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु जोर-जोर से श्रीहरिदास ठाकुर को बुलाने लगे परन्तु श्रीहरिदास ठाकुर ने दूर से ही निवेदन किया—

हरिदास की स्वभाविक दीनता और शुद्धभक्त के प्रति मर्यादा-बुद्धि—

"भक्त-सङ्गे प्रभु करून प्रसाद अङ्गीकार।
ए-सङ्गे बसिते योग्य नहि मुञि छार॥१६१॥

१६१। प० अनु०—"आप अपने भक्तों के साथ प्रसाद ग्रहण कीजिये। मेरे जैसा अधम व्यक्ति इनके साथ बैठने के अयोग्य है।

सबसे अन्त में प्रसाद ग्रहण करने की इच्छा, प्रभु द्वारा सम्मति—

पाछे मोरे प्रसाद गोविन्द दिबे बहिद्वारे।"
मन जानि' प्रभु पुनः ना बलिल ताँरे॥१६२॥

१६२। प० अनु०—"आप सबके द्वारा प्रसाद पाने के बाद गोविन्द उपवन के द्वार पर आकर मुझे प्रसाद दे देंगे।" श्रीहरिदास ठाकुर के मन की भावना को समझकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने फिर उन्हें कुछ नहीं कहा।

स्वरूप आदि सात भक्तों के द्वारा परिवेशन—

स्वरूप-गोसाञि, जगदानन्द, दामोदर।
काशीश्वर, गोपीनाथ, वाणीनाथ, शङ्कर॥१६३॥

प्रसाद-सेवन के समय हरि ध्वनि—

परिवेशन करे ताहाँ एइ सातजन।
मध्ये मध्ये हरिध्वनि करे भक्तगण॥१६४॥

१६३-१६४। प० अनु०—श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी, श्रीजगदानन्द, श्रीदामोदर, श्रीकाशीश्वर, श्रीगोपीनाथ, श्रीवाणीनाथ और श्रीशङ्कर—इन सात भक्तों

ने वहाँ प्रसाद का परिवेशन किया और बीच-बीच में भक्त लोग हरिध्वनि करने लगे।

अनुभाष्य

१६४। हरिध्वनि,—मध्य एकादश परिच्छेद २०९ संख्या द्रष्टव्य।

द्वापर में कृष्ण द्वारा की गयी
पुलिन-भोजन-लीला का उद्दीपन—

पुलिन-भोजन कृष्ण पूर्वे जैछे कैल।
सेइ लीला महाप्रभुर मने स्मृति हैल॥१६५॥

१६५। प० अनु०—द्वापर में श्रीकृष्ण ने जैसे अपने सखाओं के साथ पुलिन भोजन किया था। श्रीचैतन्य महाप्रभु के मन में आज [सभी भक्तों को प्रसाद पाते देख] उसका स्मरण हो आया।

प्रभु का धैर्य और अपने भावों का संवरण—

यद्यपि प्रेमावेशे प्रभु हइला अस्थिर।
समय बुझिया प्रभु हैला किछु धीर॥१६६॥

१६६। प० अनु०—यद्यपि लीला को स्मरण करके श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रेमावेश में अस्थिर हो रहे थे परन्तु समय को जानकर (परिस्थिति वशतः) प्रभु कुछ धीर-स्थिर हो गये।

प्रभु की वैराग्य लीला—

प्रभु कहे,—"मोरे देह' लाफरा-व्यञ्जने।
पिठा-पाना, अमृत-गुटिका देह' भक्तगणे॥"१६७॥

१६७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"मुझे तो केवल लाफरा-व्यञ्जन दो और पिठा-पाना, अमृत-गुटिका आदि भक्तों को दो।"

अमृतप्रवाह भाष्य

१६७। लाफरा-व्यञ्जन,—सामान्य सूखी सब्जी जैसा एक प्रकार का व्यञ्जन विशेष; उसे चावल में मिलाकर दुःखी (गरीब) लोगों को बाँटा जाता है; अमृतगुटीका,—दुध में पकाई गयी मोटी 'पूड़ी', जिसको सभी 'अमृत-रसावली' कहते हैं।

अनुभाष्य

१६७। मध्य षष्ठ परिच्छेद ४३-४४ संख्या द्रष्टव्य।

स्वरूप के द्वारा प्रत्येक भक्त को
अपने मन के अनुसार प्रसाद-प्रदान—

सर्वज्ञ प्रभु जानेन, जाँरे जेइ भाय।
ताँरे ताँरे सेइ देओयाय स्वरूप-द्वाराय॥१६८॥

१६८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु सर्वज्ञ हैं अतः वे जानते थे कि किसे क्या पसन्द है इसलिये उन्होंने श्रीस्वरूप दामोदर के द्वारा सबको उनकी रुचि के अनुसार परिवेशन कराया।

जगदानन्द की प्रभु के प्रति प्रीति का निदर्शन—

जगदानन्द बेड़ाय परिवेशन करिते।
प्रभुर पाते भाल-द्रव्य देन आचम्बिते॥१६९॥

१६९। प० अनु०—जब श्रीजगदानन्द परिवेशन करते हुये श्रीचैतन्य महाप्रभु के पास आते, तो वे अचानक उनके पत्ते में अच्छे-अच्छे द्रव्यों को डाल देते।

प्रभु के न चाहने पर भी प्रभु को
उत्तम भोग देने पर सन्तोष—

यद्यपि दिले प्रभु ताँरे करेन रोष।
बले-छले तबु देन, दिले से सन्तोष॥१७०॥

१७०। प० अनु०—यद्यपि अच्छे द्रव्यों को देने से श्रीचैतन्य महाप्रभु उनके प्रति क्रोध करने लगे परन्तु श्रीजगदानन्द के द्वारा छल-बल से परिवेशन करने पर उनके मन में सन्तोष ही हुआ।

जगदानन्द के मान (नाराज होने) के
भय से प्रभु द्वारा थोड़ा-थोड़ा ग्रहण—

पुनरपि सेइ द्रव्य करे निरीक्षण।
ताँर भये प्रभु किछु करेन भक्षण॥१७१॥

ना खाइले जगदानन्द करिबे उपवास।
ताँर आगे किछु खा'न—मने ओइ त्रास॥१७२॥

१७१-१७२। प० अनु—श्रीजगदानन्द सभी भक्तों को परिवेशन करते हुये जब पुनः श्रीचैतन्य महाप्रभु के पत्ते में पड़े हुये द्रव्य को निरीक्षण करते अर्थात् देखते कि प्रभु ने खाया है या नहीं। तो श्रीचैतन्य महाप्रभु उनके भय से कुछ खा लेते क्योंकि प्रभु जानते थे कि नहीं खाने से जगदानन्द उपवास करेंगे। इसलिये जगदानन्द के सामने ही कुछ खाते, क्योंकि उनके मन में यह भय कि कहीं इसने नहीं देखा तो भी असुविधा है। इसलिये उनका मन रखने के लिये उनके सामने कुछ खा लेते।

स्वरूप द्वारा प्रभु को मीठे
प्रसाद का परिवेशन—

स्वरूप-गोसाञि भाल मिष्टप्रसाद लञा।
प्रभुके निवेदन करे आगे दाण्डाञा॥१७३॥
"एइ महाप्रसाद अल्प करह आस्वादन।
देख, जगन्नाथ कैछे करयाछेन भोजन॥"१७४॥

१७३-१७४। प० अनु—श्रीस्वरूप दामोदर भी उत्तम मीठा प्रसाद लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को निवेदन करने के लिये उनके सामने खड़े हो जाते और कहते—"इस महाप्रसाद का थोड़ा-सा आस्वादन करके देखें, देखो! भगवान् श्रीजगन्नाथ ने कैसा भोजन किया है।"

प्रभु द्वारा स्वरूप की वाञ्छा पूर्ण—

एत बलि' आगे किछु करे समर्पण।
ताँर स्नेहे प्रभु किछु करेन भोजन॥१७५॥

१७५। प० अनु—इतना कहकर श्रीस्वरूप दामोदर ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के पत्ते में कुछ मीठा प्रसाद दे दिया और श्रीचैतन्य महाप्रभु भी उनके स्नेह के कारण उसमें से कुछ ग्रहण कर लेते।

स्वरूप और जगदानन्द के विचित्र प्रेम के वशीभूत प्रभु—

एइमत दुइजन करे बारबार।
विचित्र एइ दुइ भक्तेर स्नेह-व्यवहार॥१७६॥

१७६। प० अनु—इस प्रकार श्रीस्वरूप दामोदर और श्रीजगदानन्द पण्डित दोनों ही बार-बार आकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को कुछ-न-कुछ परिवेशन कर देते। इन दोनों भक्तों का स्नेहपूर्ण व्यवहार कुछ अद्भुत ही है।

दोनों की प्रभु के प्रति प्रीति को
देखकर सार्वभौम का हास्य—

सार्वभौमे प्रभु बसाञाछेन वाम-पाशे।
दुइ भक्तेर स्नेह देखि' सार्वभौम हासे॥१७७॥

१७७। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य को अपने बायें ओर बिठाया था इसलिये श्रीसार्वभौम भी इन दोनों भक्तों के प्रेम व्यवहार को देखकर मुस्करा रहे थे।

सार्वभौम के प्रति प्रभु का स्नेह—

सार्वभौमे देयान प्रभु प्रसाद उत्तम।
स्नेह करि' बारबार करान भोजन॥१७८॥

१७८। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीसार्वभौम को भी उत्तम प्रसाद दिला रहे थे, वे स्नेहपूर्वक उन्हें भी बार-बार भोजन करा रहे थे।

प्रभु की आज्ञा से गोपीनाथ के
द्वारा भट्ट को उत्तम प्रसाद प्रदान—

गोपीनाथाचार्य उत्तम महाप्रसाद आनि'।
सार्वभौमे दिया कहे सुमधुर वाणी'॥१७९॥

१७९। प० अनु—श्रीगोपीनाथाचार्य ने भी उत्तम महाप्रसाद लाकर श्रीसार्वभौम को परिवेशन किया और इस प्रकार अत्यधिक मधुर वचन कहने लगे।

सार्वभौम के पूर्व और वर्त्तमान आचरण की तुलना—

"काँहा भट्टाचार्येर पूर्व जड़-व्यवहार।
काँहा एइ परमानन्द,—करह विचार॥"१८०॥

१८०। प० अनु—कहाँ तो भट्टाचार्य का पहले जैसा जड़ व्यवहार और कहाँ अब ये परम आनन्द"—थोड़ा विचार कीजिए।

अनुभाष्य

१८०। श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य पहले स्मार्त विचार पर होकर जागतिक जड़ विश्वास पोषण करके प्रसाद में, गोविन्द-नाम में और वैष्णव में अप्राकृत श्रद्धा युक्त नहीं थे, किन्तु अब उन्होंने महाप्रभु की कृपा से अप्राकृत दर्शन में विश्वास प्राप्त करके प्रसाद आदि ग्रहण करने में परमानन्द प्राप्त किया,—यही आलोच्य विषय है।

भट्टाचार्य का दैन्य और गोपीनाथ के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन—

सार्वभौम कहे,—"आमि तार्किक कुबुद्धि।
तोमार प्रसादे मोर ए सम्पत्-सिद्धि॥१८१॥

१८१। प० अनु०—श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा—"मैं तो तार्किक कुबुद्धि सम्पन्न व्यक्ति था परन्तु आपकी कृपा से मुझे यह सम्पत्ति प्राप्त हुयी है।

प्रभु की अहैतुकी कृपा की महिमा का वर्णन—

महाप्रभु बिना केह नाहि दयामय।
काकेरे गरुड़ करे,—ऐछे कौन हय॥१८२॥

१८२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के बिना और कोई भी दयालु नहीं है क्योंकि उनके अतिरिक्त ऐसा कौन है जो काक (कौवे) को भी गरुड़ के समान बना सके?

अपनी पूर्व और वर्त्तमान अवस्था की आलोचना—

तार्किक-शृगाल-सङ्गे भेउ-भेउ करि।
सेइ मुखे एबे सदा कहि 'कृष्ण' 'हरि'॥१८३॥
काँहा बहिर्मुख तार्किक-शिष्यगणे सङ्गे।
काँहा एइ सङ्गसुधा-समुद्र-तरङ्गे॥"१८४॥

१८३-१८४। प० अनु०—जिस मुख से मैं पहले तार्किक लोमड़ियों के साथ भेऊ-भेऊ करता था अब श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा से उसी मुख से सदा 'कृष्ण' 'हरि' कहता हूँ। कहाँ तो पहले बहिर्मुख तार्किक शिष्यों के सङ्ग में रहता था और कहाँ अब ऐसे सङ्ग रूपी अमृत के समुद्र की तरङ्गों में डूबा रहता हूँ।

अनुभाष्य

१८४। बहिर्मुख,—जो बाहरी रूप, रस आदि में अपने को भोक्ता मानकर अभिमान करते हुए अपने इन्द्रिय-तर्पण में व्यस्त एवं कृष्ण सेवा विमुख है, वही बहिर्मुख हैं। (भा: ७/५/३१) 'मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् अदान्त गोभिर्विशतां तमिस्त्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥ न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णु दुराशया ये बहिरर्थमानिनः। अन्धा यथान्धैरुपनीय-मानास्तेऽपीशतन्त्र मुरुदाम्नि बद्धाः॥" जड़ विषयभोगपरक अभिज्ञान से कृष्णसेवा के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। अप्राकृत राज्य के बाहरी भाग में यह देवीधाम अवस्थित है, इस राज्य की सभी वस्तुएँ ही प्राकृत है। स्वरूप भ्रम के कारण वही बद्धजीव की सेव्य वस्तु के रूप में प्रतीत होता है।

सार्वभौम की मानद
प्रभु के द्वारा प्रशंसा—

प्रभु कहे,—"पूर्व सिद्ध कृष्णे तोमार प्रीति।
तोमा-सङ्गे आमा-सबार हैल कृष्णे मति॥"१८५॥

१८५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीसार्वभौम से कहा—"आपकी तो पहले से ही कृष्ण के प्रति प्रीति थी और अब आपके सङ्ग से हम सबकी भी श्रीकृष्ण में मति लग गयी है।"

भक्तों के गुण-कीर्त्तन करने में भगवान्
श्रीचैतन्य—अद्वितीय—

भक्त-महिमा बाड़ाइते, भक्ते सुख दिते।
महाप्रभु बिना अन्य नाहि त्रिजगते॥१८६॥

१८६। प० अनु०—भक्तों की महिमा को बढ़ाने तथा भक्तों को सुख प्रदान करने में श्रीचैतन्य महाप्रभु के अतिरिक्त त्रिभुवन में कोई नहीं है।

अनुभाष्य

१८६। भागवत के तृतीय स्कन्ध का सोलहवाँ अध्याय इस प्रसङ्ग में आलोच्य है।

सभी भक्तों को प्रसाद देना—
तबे प्रभु प्रत्येके, सब भक्तेर नाम लञा।
पिठा-पाना देओयाइल प्रसाद करिया॥१८७॥

१८७। प॰ अनु॰—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कृपा-पूर्वक वहाँ उपस्थित प्रत्येक भक्तों का नाम ले-लेकर सबको पिठा-पाना प्रसाद दिलवाया।

निताई और अद्वैत का
परस्पर कौतुकपूर्ण कलह—
अद्वैत-नित्यानन्द बसियाछेन एक ठाञि।
दुइजने क्रीड़ा-कलह लागिल तथाइ॥१८८॥

१८८। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैताचार्य और श्रीनित्यानन्द प्रभु एक दूसरे के पास बैठे हुये थे तथा वहाँ बैठे हुये ही दोनों में प्रेम-कलह आरम्भ हो गया।

अद्वैताचार्य के द्वारा सूत्रपात—
अद्वैत कहे,—"अवधूतेर सङ्गे एक पंक्ति।
भोजन करिलुँ, ना जानि हबे कोन् गति॥१८९॥

१८९। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैताचार्य ने कहा—"मैंने इस अवधूत के साथ एक ही पंक्ति में बैठकर भोजन किया है, ना जाने मेरी क्या गति होगी।

संन्यासी को अन्न स्पर्श दोष नहीं—
प्रभु त' संन्यासी, उँहार नाहि अपचय।
अन्न-दोषे संन्यासीर दोष नाहि हय॥१९०॥
"नान्नदोषेण मस्करी"—एइ शास्त्र-प्रमाण।
आमि त' गृहस्थ-ब्राह्मण, आमार दोष-स्थान॥१९१॥

१९०-१९१। प॰ अनु॰—(श्रीअद्वैताचार्य ने आगे कहा) प्रभु तो संन्यासी हैं उनकी कोई हानि नहीं होगी। क्योंकि अन्न के दोष से संन्यासी का कोई दोष नहीं होता। 'नान्नदोषेण मस्करी' अर्थात् संन्यासी को अन्न दोष नहीं लगता यह शास्त्र का ही प्रमाण है। परन्तु मैं तो एक ब्राह्मण गृहस्थ हूँ, मुझे तो तुम्हारे साथ बैठकर भोजन करने से अवश्य दोष लगेगा।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९१। 'नान्नदोषेण मस्करी',—अर्थात् संन्यासी को अन्नदोष नहीं लगता।

'अपने को गृहस्थ-ब्राह्मण' कहकर अद्वैताचार्य द्वारा
लौकिक स्मार्त्त समाज के आनुगत्य की छलना—
जन्मकुलशीलाचार ना जानि जाहार।
तार सङ्गे एक पंक्ति—बड़ अनाचार॥"१९२॥

१९२। प॰ अनु॰—जिसके जन्म, कुल, स्वभाव और आचरण का ही मुझे पता नहीं है उसके साथ एक पंक्ति में बैठकर प्रसाद पाना बड़ा अनाचार है।"

नित्यानन्द के द्वारा केवलाद्वैतवाद की निन्दा—
नित्यानन्द कहे,—"तुमि अद्वैत-आचार्य।
'अद्वैत-सिद्धान्ते' बाधे शुद्धभक्तिकार्य॥१९३॥

१९३। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैताचार्य के वचनों को सुनकर श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा—"तुम अद्वैत अर्थात् अद्वैतवाद के आचार्य हो। 'अद्वैत सिद्धान्त' शुद्धभक्ति के कार्य में बाधा पहुँचाता है।

नित्यानन्द प्रभु द्वारा अद्वैताचार्य की निन्दा
के छल से अद्वयज्ञान की महिमा का वर्णन—
तोमार सिद्धान्त-सङ्ग करे जेइ जने।
'एक' वस्तु बिना सेइ 'द्वितीय' नाहि माने॥१९४॥

१९४। प॰ अनु॰—तुम्हारे सिद्धान्त का जो व्यक्ति सङ्ग करता है वे केवल एक वस्तु को ही जानता है और उसके अतिरिक्त दूसरी वस्तु को नहीं मानता।

अनुभाष्य

१९४। अद्वैत-सिद्धान्त,—सेव्य सेवक लीला जो नित्य सत्य है, यह बात अद्वैतवादियों के सिद्धान्त के द्वारा अनुमोदित नहीं है। वे कृष्ण सेवा रूप अप्राकृत भक्तिकार्य को मनुष्य के काम आदि इन्द्रिय वृत्ति से उत्पन्न सुख दुःख—भोग अथवा कर्मफल के अन्तर्गत अन्यतम प्राकृत विषय-भोग-चेष्टा समझते हैं, अतएव

वैसा सिद्धान्त—भगवान् से अभिन्न नाम, रूप, गुण, लीला वैचित्र्य सेवामय निर्मल भक्ति कार्य का प्रति बन्धक है।

आदि प्रथम परिच्छेद सप्तम श्लोक इस स्थान पर विशेष रूप से आलोच्य है। असुरों को मोहित करने के लिये श्रीमद् अद्वैत प्रभु की निन्दा के छल से श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु की उक्ति में प्राकृत लोगों की बाहरी दृष्टि में मायावाद, कैवलाद्वैतवादियों के 'अद्वैत-सिद्धान्त' अथवा 'निर्भेद-ब्रह्मसायुज्य' वाद के साथ श्रीमद् अद्वैत प्रभु के द्वारा प्रचारित शुद्ध अद्वय ज्ञान 'एक' जैसा आपाततः प्रतीत होने पर भी वास्तव में श्रीहरि के अभिन्न-विग्रह श्रीमद् अद्वैत प्रभु की 'शुद्धभक्ति के कीर्त्तन " हेतु ही "आचार्य" पदवी है; उनका जो "अद्वैत-सिद्धान्त" है,—वह अद्वयज्ञानोपासना अथवा शुद्ध भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतएव गौर कृष्ण भक्ति-महिमा कीर्त्तनकारी होने के कारण श्रीनित्यानन्द प्रभु ने श्रीअद्वैत की निन्दा के छल से उनकी 'व्याज स्तुति' ही की है।

वास्तव में, शुद्ध वैष्णव अथवा शुद्ध भक्ति पथ पर चलने वाले भक्त (भाः १/२/११)—"वदन्ति तत्त्वविद-स्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥" अथवा (छाः उः ६/२/१)—"एकमेवा-द्वितीयम्" आदि शास्त्रीय वाक्यों में दृढ़ विश्वासी होकर तत्त्व वस्तु के असमोर्द्धत्व को स्वीकार करने पर भी उन्हें केवल निर्विशेष चिन्मात्र 'ब्रह्म' या सच्चिदात्मक 'भूमा', 'विराट', शब्दों से अभिहित न कर उन एकमात्र तत्त्ववस्तु को 'चिद्विलासी रसमय भगवान्' शब्द से उद्देश्य करते हैं। वे ये स्वीकार करते हैं कि शक्तिमद् विग्रह एक 'अद्वय ज्ञान' होने पर भी उनकी एक ही शक्ति के प्रभावगत बहुत से विभेद अथवा वैचित्र्य है। उनमें स्वगत-सजातीय-विजातीय भेद अथवा ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता,—यह तीन अवस्थाएँ नित्य-वर्त्तमान हैं, एवं उनके स्वरूप विग्रह से अभिन्न नित्य नाम, रूप, गुण, लीला और परिकर वैशिष्ट्य विद्यमान है, अतएव भक्ति-मार्गीय वैष्णव गण कभी भी अहंग्रहोपासक मायावादी नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं, ज्ञेय और ज्ञाता का पृथक् अधिष्ठान न रहने पर परस्पर ज्ञान, विलास अथवा रस-वैचित्र्य नहीं रहता; अतएव केवलाद्वैत-सिद्धान्त—प्रच्छन्न अवैदिक नास्तिक्य वाद मात्र है। श्रीनित्यानन्द प्रभु ने इसी का खण्डन किया है; परमार्थ भूत वास्तव वस्तु 'एक' श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य वस्तु में जो 'द्वितीय'-प्रतीति हैं—वहीं माया है। माया दो प्रकार की है—'जीव-माया' और 'गुण-माया'; गुणमाया भी 'प्रकृति' और 'प्रधान' के भेद से दो प्रकार की है। जहाँ कृष्ण प्रतीति है, 'द्वितीय' (माया) की प्रतीति नहीं है,—(भाः २/९/३३ एवं ११/३/४५ श्लोक का गौड़ीय-भाष्य-द्रष्टव्य); तब महाभागवत की अवस्था—शुद्ध भक्त प्रह्लाद के समान 'एक' कृष्णप्रीति युक्त—"कृष्ण ग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्" (भाः ७/४/३७), अतएव उनकी द्वितीयाभिनिवेश जनित मृत्यु अथवा भय अर्थात् संसृत्ति (वृः आः १/४/२) नहीं रहती। श्रीमद् अद्वैत प्रभु ने आचार्य के रूप में इस 'अद्वयज्ञान दर्शन' के आधार पर 'शुद्ध भक्ति का कीर्त्तन " किया है—श्रीमन् नित्यानन्द प्रभु ने द्वितीयाभिनिवेशकारी भोगों में रत जड़द्वैतवादियों का तिरस्कार करके श्रीमद् अद्वैत प्रभु के इस अद्वय-ज्ञान दर्शन की ही प्रशंसा की है।

अद्वयज्ञान-विरोधी जड़-द्वैतज्ञानी अथवा मायावादी के सङ्ग हेतु निषिद्धता के विषय में इङ्गित—

हेन तोमार सङ्गे मोर एकत्रे भोजन।
ना जानि, तोमार सङ्गे कैछे हय मन॥"१९५॥

१९५। प० अनु—ऐसे तुम्हारे साथ बैठकर मैं भोजन कर रहा हूँ ना जाने तुम्हारे साथ भोजन करने से मेरे मन की क्या स्थिति होगी?"

अमृतप्रवाह भाष्य

१९३-१९५। नित्यानन्द प्रभु ने कहा—तुम अद्वैत-आचार्य हो, तुम्हारे सिद्धान्त अद्वैतवाद से शुद्ध भक्ति के कार्य में बाधा पहुँचती है। तुम्हारे सिद्धान्त के प्रति जो आसक्त होता है, वह एक वस्तु (चिद्-विलास) ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देख पाता; ऐसे तुम्हारा सङ्ग

द्वैतवादियों के लिये त्याज्य होने पर भी तुम्हारे साथ एकत्र भोजन करना पड़ रहा है—यह बात मेरे मन को अच्छी नहीं लग रही।

अनुभाष्य

१९५। श्रीरूप प्रभु ने 'उपदेशामृत' में लिखा है— "ददाति प्रति गृहणाति गुह्यमाख्याति पृच्छति। भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥" इसलिए भोजन आदि सङ्ग-विषयक विचार—शुद्धभक्तों के लिये अवश्य पालनीय है। दूसरी ओर, प्रच्छन्न मायावादी अथवा द्वितीयाभिनिवेश में रत प्राकृत-सहिजयाओं के साथ शुद्ध भक्तों को कभी भी एकत्र भोजन करना विधेय (विधान/विधि) नहीं है,—यह भी नित्यानन्द प्रभु ने इङ्गित द्वारा बताया।

निन्दा के छल से दोनों प्रभुओं की परस्पर स्तुति—

एइमत दुइजने करे बलाबलि।
व्याज-स्तुति करे दुँहे, जेन गालागालि॥१९६॥

१९६। प॰ अनु॰—इस प्रकार दोनों ही परस्पर एक-दूसरे को कुछ-न-कुछ कह रहे थे। दोनों ही एक दूसरे की व्याज स्तुति अर्थात् निन्दा के छल से स्तुति कर रहे थे परन्तु देखने से ऐसा लग रहा था जैसे वे एक-दूसरे को गालियाँ दे रहे हों।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९६। 'व्याज स्तुति'—छल स्तुति अर्थात् बाहर से निन्दा, अन्दर से माहात्म्य सूचक वचन।

अनुभाष्य

१८८-१९६। दुईजने क्रीड़ा-कलह,—मध्य तृतीय परिच्छेद ९३-१०१ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु द्वारा सभी भक्तों को महाप्रसाद देना—

तबे प्रभु सर्व-वैष्णवेर नाम लञा।
महाप्रसाद देन महा-अमृत सिञ्चिया॥१९७॥

१९७। प॰ अनु॰—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सभी वैष्णवों का नाम लेकर महा-अमृत की वर्षा करते हुये उन्हें महाप्रसाद दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९७। महाप्रभु ने वैष्णवों को महाप्रसाद दिलवाया; उसमें प्रभु का कृपा रूप अमृत सिञ्चित होने के कारण वह उससे अधिक उपादेय (ग्रहणीय/उत्तम) हो गया।

प्रसाद का सम्मान करने के बाद
हरिध्वनि देकर उठना और आचमन—

भोजन करि' उठे सबे हरिध्वनि करि'।
हरिध्वनि उठिल सब स्वर्गमर्त्य भरि'॥१९८॥

१९८। प॰ अनु॰—उसके बाद सभी भक्तगण भोजन करके हरिध्वनि करते हुये उठ खड़े हुए और उस हरिध्वनि से स्वर्गलोक और मर्त्यलोक गूँज उठा।

भक्तों को अपने हाथों से माला और चन्दन देना—

तबे महाप्रभु सब निज-भक्तगणे।
सबाकारे श्रीहस्ते दिला-माल्य चन्दने॥१९९॥

१९९। प॰ अनु॰—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने समस्त भक्तों को श्रीहस्त से माला तथा चन्दन प्रदान किया।

स्वरूपादि सात परिवेशन करने वाले
भक्तों को सबसे अन्त में प्रसाद की प्राप्ति—

तबे परिवेशक स्वरूपादि सात जन।
गृहेर भितरे कैल प्रसाद भोजन॥२००॥

२००। प॰ अनु॰—उसके बाद परिवेशन करने वाले श्रीस्वरूप दामोदर आदि सात भक्तों ने घर के भीतर बैठकर प्रसाद भोजन किया।

गोविन्द की सहायता से हरिदास
को प्रभु के उच्छिष्ट की प्राप्ति—

प्रभुर अवशेष गोविन्द राखिल धरिया।
सेइ अन्न हरिदासे किछु दिल लञा॥२०१॥

२०१। प० अनु०—श्रीगोविन्द ने श्रीचैतन्य महाप्रभु के भुक्त-अवशेष प्रसाद को रख लिया और वे उसमें से कुछ अन्न प्रसाद लेकर श्रीहरिदास ठाकुर को दे आये।

गोविन्द को सबसे अन्त में प्रभु के उच्छिष्ट की प्राप्ति—

भक्तगण गोविन्द-पाश किछु मागि' निल।
सेइ प्रसादान्न गोविन्द आपनि पाइल॥२०२॥

२०२। प० अनु०—भक्तों ने भी श्रीगोविन्द से श्रीचैतन्य महाप्रभु के भुक्त-अवशेष प्रसाद में से माँगकर थोड़ा-थोड़ा ले लिया और उस अन्न प्रसाद में जो अवशेष रहा उसे गोविन्द ने स्वयं ग्रहण किया।

गुण्डिचा-मार्जन-लीला का ही नामान्तर 'धोयापाखला'-लीला—

स्वतन्त्र ईश्वर प्रभु करे नाना खेला।
'धोयापाखला' नाम कैल एइ एक लीला॥२०३॥

२०३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वतन्त्र ईश्वर हैं इसलिये वे अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं। उन लीलाओं में से उन्होंने एक 'धोयापाखला' अर्थात् 'धुलाई-सफाई' नामक लीला की।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०३। 'धोया पाखला',—इस गुण्डिचा-मार्जन-लीला को उड़िया भाषा में 'धोया पाखला' कहते हैं।

अनवसर के अन्त में नेत्र उत्सव अथवा अङ्गराग उत्सव—

आर दिने जगन्नाथेर 'नेत्रोत्सव' नाम।
महोत्सव हैल भक्तेर प्राण-समान॥२०४॥

२०४। प० अनु०—दूसरे दिन श्रीजगन्नाथ का नेत्रोत्सव हुआ। श्रीजगन्नाथ का यह महोत्सव भक्तों के लिये प्राणों के समान बन गया।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०४। 'नेत्रोत्सव',—स्नान के समय जगन्नाथ का वर्ण धुल जाता है, इसलिए 'अनवसर' के समय तीनों की मूर्त्तियों का अङ्ग-राग होता है। 'नव-यौवन' के दिन प्रातः काल में नेत्रोत्सव अर्थात् नेत्रों का अङ्ग-राग होता है।

१५ दिन के बाद प्राप्त प्रभु का मन भरके दर्शन—

पक्षदिन दुःखी लोक प्रभुर अदर्शने।
दर्शन करिया लोक सुख पाइल मने॥२०५॥

२०५। प० अनु०—पन्द्रह दिनों से श्रीजगन्नाथ का दर्शन प्राप्त न होने के कारण सभी लोग बड़े दुःखी थे परन्तु बाद में श्रीजगन्नाथ का दर्शन प्राप्त करके सभी का मन प्रसन्न हो गया।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०५। पक्ष-दिन,—पन्द्रह दिन।

अनुभाष्य

२०५। पूर्णिमा की स्नान-यात्रा के बाद श्रीजगन्नाथ मूर्त्ति पन्द्रह दिन के लिये दर्शनार्थियों के नेत्रों के आनन्द का विषय नहीं होती। जिस दिन दर्शनार्थी व्यक्ति पन्द्रह दिन के अनवसर के बाद श्रीभगवान् के दर्शन करके अपने नेत्रों को सफल बनाते हैं, इस वियोग (विरह) पक्ष के बाद होने वाले प्रथम दर्शन को ही 'नेत्रोत्सव' कहते हैं।

भक्तों के साथ प्रभु की जगन्नाथ दर्शन करने के लिये यात्रा—

महाप्रभु सुखे लञा सब भक्तगण।
जगन्नाथ-दरशने करिला गमन॥२०६॥

२०६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु अत्यन्त प्रसन्न होकर सभी भक्तों को साथ लेकर श्रीजगन्नाथ के दर्शन के लिये चल पड़े।

प्रभु के आगे बलवान काशीश्वर और पीछे गोविन्द का जाना—

आगे काशीश्वर जाय लोक निवारिया।
पाछे गोविन्द जाय जल-करङ्ग लञा॥२०७॥

२०७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के आगे श्रीकाशीश्वर लोगों की भीड़ को सम्भालते हुये चल रहे

थे और प्रभु के पीछे श्रीगोविन्द जल का पात्र लेकर चल रहे थे।

अनुभाष्य

२०७। करङ्ग,—चतुर्थाश्रमी संन्यासी के जल का पात्र।

प्रभु के आगे पुरी-भारती के पार्श्व में स्वरूप-अद्वैत—

प्रभुर आगे पुरी, भारती,—दुँहार गमन।
स्वरूप, अद्वैत,—दुँहेर पार्श्वे दुइजन॥२०८॥

२०८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु से आगे श्रीपरमानन्द पुरी एवं श्रीब्रह्मानन्द भारती जा रहे थे और श्रीस्वरूप दामोदर एवं श्रीअद्वैताचार्य उन दोनों के दोनों तरफ चल रहे थे।

पीछे-पीछे अन्यान्य भक्त—

पाछे पाछे चलि' जाय आर भक्तगण।
उत्कण्ठाते गेला सब जगन्नाथ-भवन॥२०९॥

२०९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के पीछे-पीछे और सब भक्तगण उत्कण्ठित होकर श्रीजगन्नाथ मन्दिर में जा रहे थे।

कमलनयन के दर्शन करने के लिये भक्तों के अनुरागवशतः मर्यादा का लंघन—

दर्शन-लोभेते करि' मार्यादा लंघन।
भोग-मण्डपे याञा करे श्रीमुख दर्शन॥२१०॥

२१०। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ के मुख का दर्शन करने के लोभ से मर्यादा का उल्लंघन करते हुए सभी भक्तों ने भोग-मण्डप में खड़े होकर जगन्नाथ के श्रीमुख का दर्शन किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

२१०। मर्यादा-लङ्घन,—शास्त्रों की जिस विधि के अनुसार देव दर्शन करने चाहिए, उस विधि का नाम 'मर्यादा' है। दर्शन के लोभ से बहुत से लोग उस मर्यादा का लङ्घन करके नव-यौवन-दर्शन के लिये गये।

राधा भाव में भावित प्रभु का पलकों को बिना झपकाये हुये नेत्रों से कृष्ण के मुख का दर्शन—

तृषार्त प्रभुर नेत्र—भ्रमर-युगल।
गाढ़ तृष्णाय पिये कृष्णेर वदन-कमल॥२११॥

२११। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के तृष्णा युक्त (प्यासे) दोनों नेत्र भ्रमर की भाँति गाढ़ तृष्णा से श्रीजगन्नाथ के मुखकमल का पान कर रहे थे।

अनुभाष्य

२१०-२११। श्रीमहाप्रभु जगमोहन के अन्तिम भाग में सदैव 'गरुड़ स्तम्भ के पीछे से श्रीजगन्नाथ के दर्शन करते थे। पन्द्रह दिन तक दर्शन प्राप्त नहीं कर पाने के कारण प्रबल विप्रलम्भ से पुष्ट चेष्टा के कारण महाप्रभु ने जगमोहन पार करके भोग मण्डप में जाकर श्रीमुख का दर्शन किया। वरणीय (सेव्य) वस्तु के अत्यन्त निकटवर्ती होने के कारण मर्यादा का लङ्घन समझना चाहिये। प्यास से व्याकुल भँवरा जिस प्रकार पुष्प का मधुपान करने की सुदृढ़ चेष्टा प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार प्रभु के नेत्रयुगल के साथ दो भँवरो एवं जगन्नाथ के मुख के साथ कमल के पुष्प की उपमा! गाढ़ तृष्णा वशतः कृष्ण मुखकमल दर्शन रूप पान कार्य में प्रभु की अत्यधिक प्यास प्रकाशित हो रही थी।

श्रीविग्रह का असमोर्द्ध एवं नित्य नव-नवायमान और वर्द्धनशील माधुर्य—

प्रफुल्ल-कमल जिनि' नयन-युगल।
नीलमणि-दर्पण-कान्ति गण्ड झलमल॥२१२॥
बान्धुलीर फुल जिनि' अधर सुरङ्ग।
ईषत् हसित कान्ति—अमृत-तरङ्ग॥२१३॥
श्रीमुख-सुन्दरकान्ति बाढ़े क्षणे क्षणे।
कोटिभक्त-नेत्र-भृङ्ग करे मधु पाने॥२१४॥
जत पिये, तत तृष्णा बाढ़े निरन्तर।
मुखाम्बुज छाड़ि' नेत्र ना जाय अन्तर॥२१५॥

२१२-२१५। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ के दोनों नेत्र खिले हुये कमल को भी तिरस्कृत करने वाले थे और

नीलमणि से बने दर्पण की कान्ति की तरह उनके दोनों गण्ड (कपोल) झलमल कर रहे थे। उनके अत्यधिक सुन्दर रंग वाले अधर लाल रंग के बान्धुली पुष्प की शोभा को भी तिरस्कृत करने वाले थे तथा उनकी मन्द मुस्कान अमृत की तरङ्गों की भाँति लहरा रही थी। उनके श्रीमुख की सुन्दर कान्ति क्षण-क्षण में बढ़ती जा रही थी और कोटि-कोटि भक्त अपने नेत्र रूपी भ्रमर के द्वारा उस मुखकमल के मधु का पान कर रहे थे। भक्तगण जितना-जितना उस मधु का पान कर रहे थे उनकी तृष्णा निरन्तर उतनी ही बढ़ती जा रही थी। श्रीजगन्नाथ के मुखकमल को छोड़कर किसी के भी नेत्र अन्य स्थान पर नहीं जा रहे थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

२१२। नीलमणि अर्थात् इन्द्रनीलमणि से बने हुए दर्पण की कान्ति की भाँति जगन्नाथदेव के गण्डस्थल (कपोल) झलमल कर रहे थे।

द्वादश परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

२१३। बान्धुली,—यहाँ इस जाति का लाल रङ्ग का पुष्प समझना चाहिए।

सुरङ्ग—हिंगुल वर्ण।

२१२-२१५। श्रीविग्रह की माधुरी के विषय में श्रीरूप प्रभु ने श्रीलघु भागवतामृत में लिखा है—'असमानोर्द्धमाधुर्यतरङ्गामृतवारिधिः। जङ्गमस्थावरोल्लासिरूपो गोपेन्द्रनन्दनः।" तन्त्रे—"कन्दर्पकोट्यर्बुदरूपशोभानीराज्य-पादाब्ज-नखाञ्चलस्य। कुत्राप्यदृष्टश्रुतरम्यकान्तेर्ध्यानं परं नन्दसुतस्य वक्ष्ये॥" भा. १०/२९/१४ श्लोक द्रष्टव्य।

२१५। श्रीमहाप्रभु जितना ही श्रीमुख दर्शन करने लगे, उतनी ही उनकी दर्शन की प्यास उत्तरोत्तर वर्द्धित होने लगी। प्रभु के नेत्र और कृष्ण मुखकमल, दोनों में और कोई भेद अथवा अन्तराय नहीं आया।

दो प्रहर तक श्रीमुख दर्शन-लीला—

एइमत महाप्रभु लञा भक्तगण।
मध्याह्न पर्यन्त कैल श्रीमुख दरशन॥२१६॥

२१६। प॰ अनु॰—इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने भक्तों के साथ मध्याह्न तक श्रीजगन्नाथ के मुख का दर्शन किया।

प्रभु का भावावेश होने पर भी
सम्वरण पूर्वक दर्शन सेवा सुख—

स्वेद, कम्प, अश्रु-जल बहे सर्वक्षण।
दर्शनेर लोभे प्रभु करे सम्वरण॥२१७॥

२१७। प॰ अनु॰—श्रीजगन्नाथ का दर्शन करके यद्यपि श्रीचैतन्य महाप्रभु में स्वेद, कम्प और अश्रु जल निरन्तर बह रहा था परन्तु दर्शन के लोभ से प्रभु उन भावों का सम्वरण (गोपन) कर रहे थे।

अनुभाष्य

२१७। आदि चतुर्थ परिच्छेद २०१-२०३ संख्या विशेष रूप से आलोच्य है।

द्वादश परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

भोग के समय प्रभु का दर्शन-कीर्त्तन—

मध्ये मध्ये भोग लागे, मध्ये दरशन।
भोगेर समये प्रभु करेन कीर्तन॥२१८॥

२१८। प॰ अनु॰—श्रीजगन्नाथ को बीच-बीच में भोग लगता तथा बीच में कभी दर्शन होते। भोग के समय श्रीचैतन्य महाप्रभु कीर्त्तन करने लगते।

कृष्ण दर्शन के सेवा सुख में प्रभु की
आत्म विस्मृति; अन्त में घर लौट जाना—

दर्शन-आनन्दे प्रभु सब पासरिला।
भक्तगण मध्याह्न करिते प्रभुरे लञा गेला॥२१९॥
प्रातःकाले रथयात्रा हबेक जानिया।
सेवक लागाय भोग द्विगुण करिया॥२२०॥

२१९-२२०। प॰ अनु॰—श्रीजगन्नाथ के दर्शन

के आनन्द में श्रीचैतन्य महाप्रभु सब भूल गये और तब भक्तगण प्रभु को मध्याह्न कराने के लिये ले गये। अगले दिन प्रातःकाल श्रीजगन्नाथ की रथयात्रा होगी यह जानकर श्रीजगन्नाथ के सेवक दो-गुणा अधिक भोग लगाने लगे।

गुण्डिचा-मार्जन-लीला के
श्रवण से अपवित्र व्यक्ति को
भी चित्त की शुद्धता की प्राप्ति—

गुण्डिचा-गृह मार्जन संक्षेपे कहिल।
जाहा देखि' शुनि' पापीर कृष्णभक्ति हैल॥२२१॥

श्रीरूप-रघुनाथ-पदे जार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥२२२॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्यखण्ड में गुण्डिचा-गृह-मार्जन नामक द्वादश परिच्छेद समाप्त।

२२१-२२२। प॰ अनु॰—(श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कह रहे हैं) इस प्रकार मैंने गुण्डिचा मार्जन लीला का संक्षेप में वर्णन किया है जिसे देखकर और सुनकर पापी व्यक्ति को भी कृष्ण भक्ति की प्राप्ति हुई। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

❋ ❋ ❋

त्रयोदश परिच्छेद

कथासार—प्रातः स्नान करके प्रभु ने जगन्नाथ, बलदेव और सुभद्रा के पाण्डु विजय के साथ रथ पर आरोहण करने का दर्शन किया। उस समय राजा सोने के झाड़ू द्वारा मार्ग की सफाई कर रहे थे। लक्ष्मी की अनुमति लेकर जगन्नाथ गुण्डिचा मन्दिर की ओर चल पड़े। रेतीले चौड़े मार्ग, दोनों ओर घर तथा उद्यान आदि, उस मार्ग से गौड़ जन रथ खींचकर ले जाने लगे। महाप्रभु ने अपने भक्तों को सात सम्प्रदायों में विभक्त करके चौद्दह-मृदङ्ग के साथ कीर्त्तन आरम्भ किया। कीर्त्तन के समय महाप्रभु के बहुत प्रकार के भाव उदित हाने लगे, ऐसा लगा, जैसे जगन्नाथ और महाप्रभु परस्पर भावों के आदान-प्रदान का परिचय देने लगे। बलगण्डि तक रथ आने पर वहाँ साधारण लोगों द्वारा एक भोग निवेदित होने लगा। उद्यान के निकटवर्ती उपवन में महाप्रभु ने नृत्य में हुए परिश्रम को कुछ दूर किया।

(अः प्रः भाः)

रथ के आगे आश्चर्यपूर्ण नृत्य करने वाले गौरहरि की जय—

स जीयात् कृष्णचैतन्यः श्रीरथाग्रे ननर्त यः।
येनासीज्जगतां चित्रं जगन्नाथोऽपि विस्मितः॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। जगन्नाथ के रथ के आगे जिन्होंने नृत्य किया था, वे श्रीकृष्णचैतन्य जययुक्त हो; उनका वह नृत्य देखकर समस्त जगत् एवं स्वयं जगन्नाथ भी विस्मित हो गये थे।

अनुभाष्य

१। यः (महाप्रभुः) रथाग्रे (श्रीजगन्नाथ देवस्य रथस्य सम्मुखे) ननर्त्त, येन (नर्त्तनमाधुर्येण) जगतां (लोकाना) चित्रं (कुतूहलम्) आसीत्, जगन्नाथः अपि विस्मितः (बभूव), सः कृष्णचैतन्य जीयात् (विजयेत)।

जय जय श्रीकृष्णचैतन्य नित्यानन्द।
जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

२। प॰ अनु॰—श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु की जय हो जय हो, श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्र की जय हो एवं श्रीगौरभक्तवृन्द की जय हो।

श्रोताओं के चित्त का आकर्षण—

जय श्रोतागण, शुन, करि' एक मन।
रथयात्राय नृत्य प्रभुर परम मोहन॥३॥

३। प॰ अनु॰—श्रोताओं की जय हो! हे श्रोताओं! एकाग्रचित्त होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के रथयात्रा के समय किये गये परम मनोहर नृत्य की कथा के विषय में श्रवण करो।

पाहाण्डि के दर्शन के लिये प्रातः
स्नान के बाद सगण प्रभु का गमन—

आर दिन महाप्रभु हञा सावधान।
रात्रे उठि' गण-सङ्गे कैल प्रातःस्नान॥४॥
पाण्डुविजय देखिबारे करिल गमन।
जगन्नाथ यात्रा कैल छाड़ि' सिंहासन॥५॥

४-५। प॰ अनु॰—अगले दिन श्रीचैतन्य महाप्रभु ने रात रहते ही उठकर अपने भक्तों के साथ थोड़े अन्धकार के कारण सावधानीपूर्वक ब्रातः स्नान किया और श्रीजगन्नाथ की पाण्डुविजय देखने के लिये चल दिये। श्रीजगन्नाथ ने अपने सिंहासन को छोड़कर यात्रा प्रारम्भ की।

अमृतप्रवाह भाष्य

५। जगन्नाथ, बलदेव और सुभद्रा,—इन तीन मूर्त्तियों को पट्टडोर से बाँधकर सेवकगण मन्दिर से जिस पद्धति द्वारा सिंह द्वार के निकट रथ पर चढ़ाते हैं, उसे 'पाण्डु-विजय' कहते हैं।

अनुभाष्य

५। पाण्डुविजय अथवा पाहाण्डि,—सिंहासन से रथ पर चढ़ना।

पाहाण्ड़ि के दर्शन में सपरिकर राजा की सहायता—

आपनि प्रतापरुद्र लञा पात्रगण।
महाप्रभुर गणे कराय विजय-दर्शन॥६॥

६। प॰ अनु॰—राजा प्रतापरुद्र अपने पात्रगणों को साथ लेकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्तों को विजय-दर्शन कराने लगे।

निताइ, अद्वैतादि के साथ प्रभु का पाहाण्ड़ि दर्शन—

अद्वैत, निताइ आदि सङ्गे भक्तगण।
सुखे महाप्रभु देखे ईश्वर-गमन॥७॥

७। प॰ अनु॰—श्रीअद्वैताचार्य, श्रीनित्यानन्द प्रभु आदि अनेकानेक भक्तों के साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु आनन्दपूर्वक श्रीजगन्नाथ की यात्रा का दर्शन करने लगे।

दयिताओं के द्वारा जगन्नाथ को रथ पर चढ़ाने की चेष्टा—

बलिष्ठ दयिता' गण—जेन मत्त हाती।
जगन्नाथ विजय कराय करि' हाताहाति॥८॥
कतक दयिता करे स्कन्ध आलम्बन।
कतक दयिता धरे श्रीपद्म-चरण॥९॥
कटितटे बद्ध, दृढ़ स्थूल पट्टडोरी।
दुइ दिके दयितागण उठाया ताहा धरि'॥१०॥
उच्च दृढ़ तूली सब पाति' स्थाने स्थाने।
एक तुली हैते त्वराय आर तुलि आने॥११॥

८-११। प॰ अनु॰—श्रीजगन्नाथ के दयिता सेवक गण बलवान् मत्त हाथी की भाँति श्रीजगन्नाथ को अपने-अपने हाथों से पकड़कर विजय महोत्सव करा रहे थे। कुछ दयिता अपने कन्धे के सहारे से और कुछ दयिता श्रीजगन्नाथ के श्रीचरणकमल को पकड़कर श्रीजगन्नाथ को उठा रहे थे। श्रीजगन्नाथ के दयिता सेवक गण दोनों ओर से श्रीजगन्नाथ के कटि प्रदेश (कमर) में बँधी हुयी मोटी एवं पक्की रेशमी डोरी को पकड़कर श्रीजगन्नाथ को उठा-उठा कर रख रहे थे। श्रीजगन्नाथ के आने के मार्ग में स्थान-स्थान पर ऊँचे सख्त रुईं के गद्दे बिछा कर श्रीजगन्नाथ को एक गद्दे से उठाकर जल्दी-जल्दी दूसरे गद्दे पर रखा जा रहा था।

अमृतप्रवाह भाष्य

८। दयितागण,—'दयित' शब्द से 'दयिता' हुआ है। दयिता नाम के एक प्रकार के सेवक हैं; ये भद्र नहीं है, किन्तु इन्होंने जगन्नाथ की सेवा प्राप्त करके भ्रद वर्ण वालों का सम्मान प्राप्त किया है। स्नान के दिन से आरम्भ करके रथ के लौट आने पर्यन्त तक दयिताओं का श्रीजगन्नाथ (की सेवा) में विशेष अधिकार रहता है। दयिताओं को 'क्षेत्रमाहात्म्य में 'शबर' कहा गया है; उनमें भी जो ब्राह्मण हैं, उन्हें 'दयिता-पति' कहा जाता है। ये जगन्नाथ देव को अनवसर काल में मिष्ठान्न का भोग देते हैं एवं प्रतिदिन प्रातःकाल में बालभोग में मिष्ठान्न निवेदन करते हैं। ये अनवसर-काल में 'जगन्नाथ देव को ज्वर हुआ है' कहकर औषधि और पाँचन (मीठे रस का बना पाना) अर्पित करते हैं। मूल बात यह है कि श्रीजगन्नाथ की प्रतिष्ठा से पहले शबरों की श्रीनील-माधवमूर्त्ति की मूर्त्ति थी, वही श्रीनीलमाधवमूर्त्ति बाद में 'जगन्नाथ के रूप में' परिणत होने के कारण शबर-दयिताओं का जगन्नाथ की अन्तरङ्ग सेवा में अधिकार उत्पन्न हुआ है।

११। तूली,—ढकी हुई रुई, रुई की छोटी-छोटी गद्दियाँ।

अनुभाष्य

११। पाति,—डालकर, बिछाकर; आर तूली,—दूसरी गद्दी पर।

जगन्नाथ का गुरुत्व—

प्रभु-पदाघाते तूलि हय खण्ड खण्ड।
तुला सब उडि' जाय, शब्द हय प्रचण्ड॥१२॥

१२। प॰ अनु॰—प्रभु श्रीजगन्नाथ के चरणों की चोट से गद्दे बहुत ऊँची आवाज करते हुये टुकड़े-टुकड़े हो जाते तथा सारी रुई बिखर कर उड़ जाती।

अनुभाष्य

१२। प्रभु,—श्रीजगन्नाथदेव।

स्वेच्छामय प्रभु जगन्नाथ—

विश्वम्भर जगन्नाथे के चालाइते पारे?
आपन इच्छाय चले करिते विहारे॥१३॥

१३। प० अनु०—विश्वम्भर श्रीजगन्नाथ को कौन चला सकता है? वे तो विहार करने हेतु अपनी इच्छा से ही चल रहे थे।

जगन्नाथ का कातर भाव से आह्वान—

महाप्रभु 'मणिमा' 'मणिमा' करे ध्वनि।
नाना-वाद्य-कोलाहले किछुइ ना शुनि॥१४॥

१४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीजगन्नाथ को सम्बोधित करते हुये 'मणिमा' 'मणिमा' कह रहे थे, परन्तु वहाँ अनेक प्रकार के वाद्यों के कोलाहल के कारण किसी को कुछ भी सुनायी नहीं दे रहा था।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४। मणिमा,—उड़ीसा के लोग पूजनीय व्यक्ति एवं राजा को 'मणिमा' कहकर बुलाते हैं।

स्वयं राजा की झाड़ूदार के रूप में सेवा—

तबे प्रतापरुद्र करे आपने सेवन।
सुवर्ण-मार्जनी लञा करे पथ सम्मार्जन॥१५॥
चन्दन-जलेते करे पथ निषेचने।
तुच्छ सेवा करे बसि' राज-सिंहासने॥१६॥

१५-१६। प० अनु०—तब राजा प्रतापरुद्र स्वयं अपने हाथों में सोने की झाड़ू लेकर श्रीजगन्नाथ के मार्ग की सफाई कर रहे थे एवं चन्दन से युक्त जल का मार्ग पर छिड़काव कर रहे थे। इस प्रकार राजा प्रतापरुद्र राज-सिंहासन पर बैठने वाले होने पर भी [साधारण जगत्वासियों के दृष्टिकोण से] इस प्रकार की तुच्छ सेवाएँ कर रहे थे।

राजा की दीनता पूर्वक सेवा
को देखकर प्रभु की कृपा—

उत्तम हञा राजा करे तुच्छ सेवन।
अतएव जगन्नाथेर कृपार भाजन॥१७॥
महाप्रभु सुख पाइल से-सेवा देखिते।
महाप्रभुर कृपा हैल से-सेवा हइते॥१८॥

१७-१८। प० अनु०—राजा प्रतापरुद्र उत्तम व्यक्ति होते हुये भी तुच्छ सेवा कर रहे हैं, इसलिये वे श्रीजगन्नाथ की कृपा के पात्र हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु राजा की सेवा को देखकर बहुत प्रसन्न हुये और इन्हीं सेवाओं के कारण राजा को श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा की प्राप्ति हुयी।

रथ की शोभा—

रथेर साजनि देखि' लोके चमत्कार।
नव हेममय रथ—सुमेरु-आकार॥१९॥
शत शत सु-चामर-दर्पणे उज्ज्वल।
उपरे पताका शोभे चाँदोया निर्मल॥२०॥
घाघर, किङ्किनी बाजे, घण्टार क्वणित।
नाना चित्र-पट्टवस्त्रे रथ विभूषित॥२१॥

१९-२१। प० अनु०—रथ की सजावट को देखकर लोग चमत्करित हो उठे। वह रथ नये स्वर्ण की भाँति और सुमेरु पर्वत के आकार का प्रतीत हो रहा था। उस रथ में सैकड़ों सुन्दर सैकड़ों चामर एवं उज्ज्वल दर्पण सुशोभित हो रहे थे तथा रथ के ऊपर सुन्दर पताका एवं स्वच्छ चाँदोया (चन्द्रातप) शोभायमान हो रहा था। उसमें घाघर, किङ्किनी तथा घण्टा बज रहा था और अनेक प्रकार के चित्रों एवं रेशमी वस्त्रों से रथ विभूषित हो रहा था।

अनुभाष्य

१९। साजनि,—सज्जा (सजावट)।

२१। घाघर,—झाँझा (झम्प, बड़ा करताल); किङ्किणी,—घुंघरु; क्वणित—ध्वनि।

जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा का रथारोहण—

लीलाय चड़िल ईश्वर रथेर उपर।
आर दुइ रथे चड़े सुभद्रा, हलधर॥२२॥

२२। प० अनु०—इस प्रकार लीला करते हुये श्रीजगन्नाथ रथ के ऊपर चढ़ गये और दो रथों पर श्रीसुभद्रा एवं हलधर श्रीबलराम चढ़ गये।

अनवसर के समय १५ दिन तक
लक्ष्मी के साथ जगन्नाथ का विलास—

पञ्चदश दिन ईश्वर महालक्ष्मी लञा।
ताँर सङ्गे क्रीड़ा कैल निभृते बसिया॥२३॥

२३। प० अनु०—रथ में चढ़ने से पहले पन्द्रह दिनों तक श्रीजगन्नाथ ने अपनी शक्ति श्रीमहालक्ष्मी के साथ एकान्त में बैठकर लीला विहार किया।

अमृप्रवाह भाष्य

२३। श्रीजगन्नाथ देव, स्नान के बाद जिन पन्द्रह दिनों तक एकान्त में रहते हैं, उन पन्द्रह दिनों को 'अनवसर' अथवा निभृत काल कहा जाता है; उसके बाद वे लक्ष्मी की अनुमति लेकर रथ पर गमन करते हैं।

विलास के बाद लक्ष्मी की सहमति से रथ पर आरोहण—

ताँहार सम्मति लञा भक्ते सुख दिते।
रथे चड़ि' बाहिर हैल विहार करिते॥२४॥

२४। प० अनु०—उसके बाद श्रीजगन्नाथ श्रीमहालक्ष्मी की सम्मति लेकर एवं भक्तों को सुख प्रदान करने के लिये रथ पर चढ़कर विहार करने के उद्देश्य से बाहर आ गये।

रथ के जाने के मार्ग का वर्णन—

सूक्ष्म श्वेतबालु पथे पुलिनेर सम।
दुइदिके टोटा सब,—जेन वृन्दावन॥२५॥
रथे चड़ि' जगन्नाथ करिला गमन।
दुइपार्श्वे देखि' चले आनन्दित-मन॥२६॥

२५-२६। प० अनु०—रथ के मार्ग पर पड़ी हुयी सूक्ष्म श्वेत बालु यमुना पुलिन के समान लग रही थी और दोनों ओर के सुन्दर बगीचों को देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वृन्दावन हो। रथ पर चढ़कर श्रीजगन्नाथ चलने लगे और अपने दोनों ओर के दृश्य को देखकर उनका मन आनन्दित हो रहा था।

अनुभाष्य

२३-२५। अनवसर-काल में जगन्नाथदेव ने पन्द्रह दिनों तक निर्जन में महालक्ष्मी के साथ मर्यादामय होकर बिना किसी बाधाके लीला की थी; अब लक्ष्मी की सम्मति से अनुराग मार्गीय कृष्णैक निष्ठ भक्तों को आनन्द देने के लिये रथ पर चढ़कर स्वच्छन्द विहार के लिये बाहर निकले; कहने की आवश्यकता नहीं, स्वकीया भाव—यहाँ पर शिथिल हो जाता है। रथ के जाने का मार्ग—यमुना के तट के समान बारीक सफेद बालू से ढ़का हुआ। मार्ग दोनों ओर से—वृन्दावन के समान उपवनों से घिरा हुआ।

गौड़ीय भक्तों के द्वारा रथ की रस्सी को खींचना,
स्वेच्छामय भगवान् की इच्छा के अनुसार रथ का चलना—

'गौड़' सब रथ टाने करिया आनन्द।
क्षणे शीघ्र चले रथ, क्षणे चले मन्द॥२७॥
क्षणे स्थिर हञा रहे, टानिलेह ना चले।
ईश्वर इच्छाय चले, ना चले कारो बले॥२८॥

२७-२८। प० अनु०—गौड़देश से आये हुये भक्त आनन्दपूर्वक रथ को खींच रहे थे। कभी रथ शीघ्र चलता तो कभी मन्द गति से चलने लगता। कभी स्थिर होकर एक स्थान पर खड़ा हो जाता और खींचने पर भी आगे नहीं बढ़ता। वस्तुतः रथ किसी के बल से नहीं बल्कि श्रीजगन्नाथ की इच्छा से ही चल रहा था।

अमृतप्रवाह भाष्य

२७। गौड़,—उड़ीसावासी ग्वालों को 'गौड़' कहते हैं।

प्रभु द्वारा भक्तों को अपने हाथों से माला और चन्दन देना—

तबे महाप्रभु सब लञा भक्तगण।
स्वहस्ते पराइल सबे माल्य-चन्दन॥२९॥

२९। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभ ने सभी भक्तों को अपने हाथों से चन्दन लगाकर माला पहनायी।

सर्वप्रथम गुरुवर्गों का सम्मान—

परमानन्द पुरी, आर भारती ब्रह्मानन्द।
श्रीहस्ते चन्दन पाञा बाड़िल आनन्द॥३०॥
अद्वैत-आचार्य, आर प्रभु-नित्यानन्द।
श्रीहस्त-स्पर्शे दुँहार हइल आनन्द॥३१॥

३०-३१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के श्रीहस्त से माल्य-चन्दन प्राप्त करके श्रीपरमानन्द पुरी एवं श्रीब्रह्मानन्द भारती का आनन्द बहुत अधिक बढ़ गया। श्रीअद्वैत आचार्य तथा श्रीनित्यानन्द प्रभु भी महाप्रभु के श्रीहस्त के स्पर्श को प्राप्त करके बहुत आनन्दित हुये।

प्रधान कीर्त्तनीया श्रीस्वरूप और श्रीवास का समादर—

कीर्त्तनीयागणे दिल माल्य-चन्दन।
स्वरूप, श्रीवास,—जाँहा मुख्य दुइजन॥३२॥

३२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सभी कीर्त्तन करने वालो को भी माल्य-चन्दन प्रदान किया जिसमें मुख्य रूप से श्रीस्वरूप दोमादर और श्रीवास पण्ड़ित थे।

बाइन (मृदङ्ग वादक) और दोहार (पीछे गान करने वाले) के साथ ४ कीर्त्तन सम्प्रदाय—

चारि सम्प्रदाये हैल चब्बिश गायन।
दुइ दुइ मृदङ्ग करि' हैल अष्ट जन॥३३॥

३३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की कीर्त्तन करने वाली चार मण्डलियों के लिये चौबीस गायक थे अर्थात् प्रत्येक मण्डली के लिये छह-छह गायक और प्रत्येक मण्डली में दो-दो मृदङ्ग बजाने वाले अर्थात् कुल आठ मृदङ्ग बजाने वाले थे।

महाप्रभु द्वारा कीर्त्तन-सम्प्रदाय का विभाग—

तबे महाप्रभु मने विचार करिया।
चारि सम्प्रदाय दिल गायन बाँटिया॥३४॥

३४। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने विचार करके चार मण्डलियों में गायकों को बाँट दिया।

४ मण्डिलयों में ४ लोग नृत्य करने वाले—

नित्यानन्द, अद्वैत, हरिदास, वक्रेश्वरे।
चारि जने आज्ञा दिल नृत्य करिबारे॥३५॥

३५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीअद्वैताचार्य, श्रीहरिदास ठाकुर और श्रीवक्रेश्वर पण्ड़ित—इन चार भक्तों को नृत्य करने का आदेश दिया।

प्रथम मण्डली में श्रीस्वरूप ही मूल गायक—

प्रथम-सम्प्रदाये कैल स्वरूप—प्रधान।
आर पञ्चजन दिल ताँर पालिगान॥३६॥

३६। प० अनु०—प्रथम मण्डली में श्रीस्वरूप दामोदर प्रधान कीर्त्तनीया थे और पाँच लोग उनके पीछे गाने के लिये दिये गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

३६। पालिगान,—दोहार (दोहराना)।

स्वरूप दामोदर के साथ पाँच भक्त उनके पीछे गाने वाले—

दामोदर, नारायण, दत्त गोविन्द।
राघव पण्डित, आर श्रीगोविन्दानन्द॥३७॥

३७। प० अनु०—श्रीस्वरूप दामोदर के पीछे गाने वाले भक्तों में श्रीदामोदर, श्रीनारायण, श्रीगोविन्द दत्त, श्रीराघव पण्ड़ित और श्रीगोविन्दानन्द थे।

और अद्वैत ही नर्तक; दूसरी मण्डली में श्रीवास मूल गायक—

अद्वैतेरे नृत्य करिबारे आज्ञा दिल।
श्रीवास—प्रधान आर सम्प्रदाय कैल॥३८॥

३८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीस्वरूप दामोदर की मण्डली में श्रीअद्वैताचार्य को नृत्य करने

का आदेश दिया और श्रीवास पण्ड़ित को दूसरी मण्डली का प्रधान कीर्त्तनीया नियुक्त किया।

पाँच लोग पीछे गाने वाले और निताई-नर्त्तक—

गङ्गादास, हरिदास, श्रीमान्, शुभानन्द।
श्रीराम पण्डित, ताँहा नाचे नित्यानन्द॥३९॥

३९। प० अनु०—दूसरी मण्डली में श्रीवास पण्ड़ित के पीछे गाने वाले भक्तों में श्रीगङ्गादास, श्रीहरिदास, श्रीमान्, श्रीशुभानन्द और श्रीराम पण्ड़ित थे तथा उस मण्डली में नृत्य करने वाले श्रीनित्यानन्द प्रभु थे।

तीसरी मण्डली में मुकुन्द मूल गायक, पाँच लोग पीछे गाने वाले, हरिदास ठाकुर ही नर्त्तक—

वासुदेव, गोपीनाथ, मुरारि जाँहा गाय।
मुकुन्द—प्रधान कैल आर सम्प्रदाय॥४०॥
श्रीकान्त, वल्लभसेन आर दुइ जन।
हरिदास-ठाकुर ताँहा करेन नर्तन॥४१॥

४०-४१। प० अनु०—तीसरी मण्डली में श्रीमुकुन्द प्रधान कीत्तनीया थे और उनके सहायक गाने वालों में श्रीवासुदेव, श्रीगोपीनाथ, श्रीमुरारि, श्रीकान्त और श्रीवल्लभसेन नामक भक्तगण थे। इस मण्डली में श्रीहरिदास ठाकुर नृत्य करने वाले थे।

चौथी मण्डली में गोविन्द घोष मूल गायक, पाँच लोग पीछे गाने वाले, वक्रेश्वर नर्त्तक—

गोविन्द-घोष—प्रधान कैल आर सम्प्रदाय।
हरिदास, विष्णुदास, राघव, जाँहा गाय॥४२॥
माधव, वासुदेव-घोष,—दुइ सहोदर।
नृत्य करेन ताँहा पण्डित-वक्रेश्वर॥४३॥

४२-४३। प० अनु०—चौथी मण्डली में श्रीगोविन्द घोष प्रधान कीर्त्तनीया थे और उनके पीछे गाने वालों में श्रीहरिदास, श्रीविष्णुदास, श्रीराघव, श्रीमाधव और श्रीवासुदेव घोष नामक दो भाई—कुल मिलाकर पाँच सहायक गायक थे और श्रीवक्रेश्वर पण्ड़ित नृत्य करने वाले थे।

रथ के एक ओर कुलीनग्रामवासियों के कीर्त्तन की मण्डली—

कुलीन-ग्रामेर एक कीर्तनीया-समाज।
ताँहा नृत्य करेन रामानन्द, सत्यराज॥४४॥

४४। प० अनु०—कुलीन ग्राम से भी एक कीर्तन मण्डली आयी जिसमें श्रीरामानन्द वसु और श्रीसत्यराज नृत्य करने वाले थे।

दूसरी ओर अद्वैताचार्य के अनुगत जन—

शान्तिपुरेर आचार्येर एक सम्प्रदाय।
अच्युतानन्द नाचे तथा, आर सब गाय॥४५॥

४५। प० अनु०—शान्तिपुर के श्रीअद्वैत आचार्य की भी एक मण्डली थी जिसमें श्रीअच्युतानन्द नृत्य कर रहे थे और सब भक्तगण गा रहे थे।

रथ के पीछे खण्डवासियों के कीर्त्तन की मण्डली में नरहरि और रघुनन्दन ही नर्त्तक—

खण्डेर सम्प्रदाय करे अन्यत्र कीर्तन।
नरहरि नाचे ताँहा श्रीरघुनन्दन॥४६॥

४६। प० अनु०—श्रीखण्ड़ से भी एक कीर्त्तन मण्डली आयी जोकि अन्य स्थान पर कीर्त्तन कर रही थी, उसमें श्रीनरहरि और श्रीरघुनन्दन नृत्य कर रहे थे।

सात सम्प्रदायों के अवस्थान की पुन: आलोचना—

जगन्नाथेर आगे चारि सम्प्रदाय गाय।
दुइ पाशे दुइ, पाछे एक सम्प्रदाय॥४७॥
सात सम्प्रदाये बाजे चौद्द मादल।
जार ध्वनि शुनि' वैष्णव हैल पागल॥४८॥

४७-४८। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ के सामने चार मण्डलियाँ गा रही थी और रथ के दोनों ओर दो मण्डली एवं पीछे एक मण्डली थी। सात मण्डलियों में कुल चौदह मृदङ्ग बज रहे थे जिसकी ध्वनि को सुनकर वैष्णवगण पागल हो रहे थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

४८। सात मण्डलियाँ,—पूवोक्त चारों मण्डलियों

के साथ कुलीन ग्राम की मण्डली, शान्तिपुर की मण्डली और श्रीखण्ड की मण्डली अर्थात् ये तीन मण्डलियाँ मिलकर कुल सात मण्डिलयाँ हुईं एवं दो-दो मादल (मृदङ्ग) के हिसाब से चौद्दह मादलेर (चौदह मृदङ्गों के साथ) कीर्त्तन हुआ।

अनुभाष्य

३३-४८। गायन,—गायक; सात-मण्डिलयों का विवरण क्रमपूर्वक लिखा जा रहा है—जगन्नाथ के रथ के आगे—(क) प्रथम मण्डली के प्रधान (मुख्य) गायक—दामोदर स्वरूप; गायक (पीछे दोहराने वाले)—१) दामोदर पण्डित, २) नारायण, ३) गोविन्द दत्त, ४) राघव पण्डित, ५) गोविन्दानन्द; नर्त्तक—अद्वैत। (ख) द्वितीय मण्डली के मुख्य गायक—श्रीवास; पीछे दोहराने वाले—१) गङ्गादास, २) (बड़े?) हरिदास, ३) श्रीमान्, ४) शुभानन्द, ५) श्रीराम; नर्त्तक—नित्यानन्द। (ग) तृतीय मण्डली के मुख्य गायक—मुकुन्द; पीछे दोहराने वाले—१) वासुदेव दत्त, २) गोपीनाथ, ३) मुरारि, ४) श्रीकान्त, ५) वल्लभसेन; नर्त्तक—ठाकुर हरिदास। (घ) चतुर्थ मण्डली के मुख्य गायक—गोविन्द; पीछे दोहराने वाले—१) (छोटा?) हरिदास, २) विष्णुदास, ३) राघव, ४) माधव, ५) वासुघोष; नर्त्तक—वक्रेश्वर। रथ के बाँई ओर (ङ) पञ्चम मण्डली के गायक—कुलीन ग्रामवासी; नर्त्तक—रामानन्द और सत्यराज। रथ के दाँई ओर—(च) छटे मण्डली के गायक—अद्वैताचार्य के अनुगत जन; नर्त्तक—अच्युतानन्द। रथ के पीछे (छ) साँतवे मण्डली के गायक—खण्डवासी जन; नर्त्तक—नरहरि और रघुनन्दन।

महासङ्कीर्त्तन का वर्णन—

वैष्णवेर मेघ-घटाय हइल बादल।
कीर्तनानन्दे सब वर्षे नेत्र-जल॥४९॥
त्रिभुवन भरि' उठे कीर्तनेर ध्वनि।
अन्य वाद्यादिर ध्वनि किछुइ ना शुनि॥५०॥

४९-५०। प० अनु०—सभी वैष्णवगण मेघ की घटा के समान एक-एक करके एकत्रित होकर बादल की भाँति छा गये और कीर्त्तन के आनन्द में सभी अपने नेत्रों से अश्रु की वर्षा करने लगे। कीर्त्तन की ध्वनि से समस्त त्रिभुवन गूँजने लगा जिससे अन्यान्य वाद्यादि की ध्वनि बिल्कुल भी सुनाई नहीं दे रही थी।

प्रभु का आचरण—

सात ठाञि बुले प्रभु 'हरि' 'हरि' बलि'।
'जय जगन्नाथ', बलेन हस्तयुग तुलि'॥५१॥

५१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु 'हरि' 'हरि' बोलते हुए सातों मण्डलियों में विचरण कर रहे थे और अपने हाथों को उठाकर 'जय जगन्नाथ' बोल रहे थे।

प्रभु का सात रूपों में प्रकाश—

आर एक शक्ति प्रभु करिल प्रकाश।
एककाले सात ठाञि करिल विलास॥५२॥
सबे कहे,—प्रभु आछेन मोर सम्प्रदाय।
अन्य ठाञि नाहि जा'न आमारे दयाय॥'५३॥

५२-५३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने एक और शक्ति का प्रकाश किया। वे एक ही समय में सातों मण्डलियों में विद्यमान होकर विलास करने लगे। सभी भक्त कहने लगे कि श्रीचैतन्य महाप्रभु केवल हमारी मण्डली में ही हैं और वे हम पर विशेष कृपा करने के लिये अन्य मण्ड़ली में नहीं जा रहे।

अमृतप्रवाह भाष्य

५२। जिस प्रकार रास में महिषियों के विवाह में श्रीकृष्ण एकसाथ 'बहुत' से विग्रह होकर 'प्रकाशित' हुए थे, श्रीकृष्णचैतन्य नेभी उसी प्रकार उसी शक्ति को प्रकाशित करके प्रत्येक मण्डली में ही स्वयं को 'प्रकाशित' किया था। प्रत्येक मण्डली के लोग ही समझ रहे थे कि 'प्रभु हमारी मण्डली में ही हैं, दूसरी मण्डली में नहीं।'

प्रभु की शक्ति—शुद्ध
भक्तों के ही दृष्टिगोचर—

केह लक्षिते नारे प्रभुर अचिन्त्य शक्ति।
अन्तरङ्ग-भक्त जाने, जाँर शुद्धभक्ति॥५४॥

५४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की अचिन्त्य शक्ति को एकमात्र शुद्धभक्ति करने वाले अन्तरङ्ग भक्तों के अतिरिक्त कोई नहीं देख पाया।

कीर्त्तन के दर्शन से जगन्नाथ को आनन्द—

कीर्तन देखिया जगन्नाथ हरषित।
सङ्कीर्तन देखे रथ करिया स्थगित॥५५॥

५५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्तों को कीर्त्तन करते देख श्रीजगन्नाथ देव बहुत प्रसन्न हुए, वे रथ को रोककर संकीर्त्तन देख रहे थे।

यह देखकर राजा को आश्चर्य—

प्रतापरुद्रेर हैल परम विस्मय।
देखिते शरीर जाँर हैल प्रेममय॥५६॥

५६। प० अनु—वे प्रतापरुद्र महाराज बहुत आश्चर्य चकित हुए, जिनका इस लीला को देखने के साथ-ही-साथ शरीर प्रेममय हो गया।

काशीमिश्र के समक्ष उस रहस्य का प्रकाश—

काशीमिश्रे कहे राजा प्रभुर महिमा।
काशीमिश्र कहे,—'तोमार भाग्येर नाहि सीमा॥'५७॥

५७। प० अनु—राजा श्रीकाशीमिश्र को श्रीचैतन्य महाप्रभु की महिमा बताने लगे और श्रीकाशीमिश्र राजा की प्रशंसा करते हुये कहने लगे कि 'आपके भाग्य की सीमा नहीं।'

सार्वभौम के साथ राजा का मूक इङ्गित—

सार्वभौम-सङ्गे राजा करे ठाराठारि।
आर केह नाहि जाने चैतन्येर चुरि॥५८॥

५८। प० अनु—राजा श्रीसार्वभौम को भी श्रीचैतन्य महाप्रभु की इस लीला को देखने के लिये इङ्गित करने लगे। इनके अतिरिक्त और कोई भी श्रीचैतन्य महाप्रभु के लीला रहस्य को न जान सका।

कृपा के द्वारा ही उसकी उपलब्धि,
तर्क पन्था से ब्रह्मा के लिये भी अज्ञेय—

जाँरे ताँर कृपा, सेइ जानिबारे पारे।
कृपा बिना ब्रह्मादिक जानिबारे नारे॥५९॥

५९। प० अनु—जिस पर श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा है वे ही उन्हें जान सकता है, श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा के बिना ब्रह्मादि भी उन्हें नहीं जान सकते।

अनुभाष्य

५९। मध्य षष्ठ परिच्छेद ८२-८४, ८६, ८७, ८९-९१ संख्या द्रष्टव्य।

राजा की दीनता पूर्वक की गयी
सेवा के दर्शन से प्रभु की सन्तुष्टि—

राजार तुच्छ सेवा देखि' प्रभुर तुष्ट मन।
सेइ त' प्रसादे पाइल 'रहस्य-दर्शन'॥६०॥

६०। प० अनु—राजा द्वारा की गयी तुच्छ सेवा को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रसन्न हो गये थे इसलिये श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा से ही राजा उनकी रहस्यमयी लीला का दर्शन कर सके।

अनुभाष्य

६०। रहस्य-दर्शन,—श्रीजगन्नाथ देव ने महाप्रभु के नृत्य-गीत आदिके दर्शन से विस्मित होकर अपने रथ को रोक दिया। महाप्रभु ने रथ के सामने नृत्य आदि द्वारा जगन्नाथ का आनन्द विधान किया। 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के यहाँ एक वस्तु होने पर भी लीला की विचित्रता के कारण इस अद्भुत रहस्य का प्रकाश हुआ, महाप्रभु की कृपा से राजा (इस रहस्य) को समझ गये। सात-मण्डलियों में प्रभु की एक ही समय में उपस्थिति भी रहस्य में से ही एक है, राजा ने उसे भी अनुभव किया।

राजा के प्रति साक्षात् कृपा करने
में विराग, परोक्ष रूप से कृपा—

साक्षाते ना देय देखा, परोक्षे त' दया।
के बुझिते पारे चैतन्यचन्द्रेर माया॥६१॥

६१। प० अनु०—श्रीचैतन्यचन्द्र की माया को कौन जान सकता है? उन्होंने राजा को साक्षात् दर्शन न देकर परोक्ष रूप में उन पर दया की।

अनुभाष्य

६१। प्रत्यक्ष रूप में आचार्य की लीला का अभिनय करने वाले प्रभु की 'राजा' नाम के प्रति बहुत वितृष्णा (अरुचि) थी, किन्तु परोक्ष रूप से उनके प्रति इतनी कृपा थी कि, राजा प्रभु की कृपा से उनकी गूढ़ लीला के रहस्य तक को भी भेद करने में समर्थ हुए। वास्तव में महाप्रभु की यह कृपा और वञ्चना-लीला अर्थात् एक ही साथ ईश्वर और जीव जैसी लीला का तात्पर्य—उन्हीं के एकान्तिक भक्त के अतिरिक्त और कोई भी समझने में समर्थ नहीं है।

भट्ट और मिश्र को
यह देखकर आश्चर्य—

सार्वभौम, काशीमिश्र,—दुइ महाशय।
राजारे प्रसाद देखि' हइला विस्मय॥६२॥

६२। प० अनु०—श्रीसार्वभौम और श्रीकाशीमिश्र दोनों महाशय भी राजा पर श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा को देखकर आश्चर्य चकित हो गये।

स्वयं मूल गायक होकर सभी सम्प्रदायों
को नृत्य करने की प्रेरणा—

एइमत लीला प्रभु कैल कतक्षण।
आपने गायेन, नाचा'न निज-भक्तगण॥६३॥

६३। प० अनु०—इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कुछ समय तक लीला की। वे स्वयं गान करके अपने भक्तों को नचाने लगे।

कीर्त्तन के बीच में ऐश्वर्य-प्रकाश—

कभु एक मूर्त्ति, कभु हन बहु-मूर्त्ति।
कार्य-अनुरूप प्रभु प्रकाशये शक्ति॥६४॥

६४। प० अनु०—कभी श्रीचैतन्य महाप्रभु एक मूर्त्ति धारण करते तो कभी बहुत सी मूर्त्तियों को धारण करते। लीला के अनुरूप ही वे अपनी शक्ति को प्रकाशित करते थे।

अधीन रहने वाली लीलाशक्ति द्वारा अपने प्रभु की सेवा—

लीलावेशे प्रभुर नाहि निजानुसन्धान।
इच्छा जानि' 'लीला शक्ति' करे समाधान॥६५॥

६५। प० अनु०—लीला के आवेश में श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपना भी अनुसन्धान नहीं था इसलिये प्रभु की इच्छा जानकर उनकी लीलाशक्ति ने ही सभी लीलाओं का समाधान किया।

अनुभाष्य

६५। सात कीर्त्तन-सम्प्रदायों में स्वतन्त्र निरंकुश-इच्छामय प्रभु अपनी इच्छानुसार कभी एक मूर्त्ति, कभी बहुत सी मूर्त्तियाँ प्रकाश करके स्वयं नाचकर, गाकर एवं भक्तों को नचाकर आनन्द आस्वादन करने में इतने मत्त थे कि उन्हें अपने स्वरूप के विषय में अनुसन्धान अथवा लक्ष्य करने का बिल्कुल भी अवसर नहीं मिला—मानो वे पूर्ण रूप से आत्म विस्मृत हो गये थे। (उनकी अप्राकृत चिन्मय अनन्त लीला के वैचित्र्य का,—चिद्विलास की, यह भी एक लीला है); किन्तु इच्छामात्र से ही स्वरूप शक्ति रूपिणी इच्छा शक्ति ने प्रकाश-विग्रह को प्रकटित करके अपने प्रभु की सेवा की।

द्वापर में रास लीला और महिषी विवाह
में भी इसी प्रकार का प्रकाश—

पूर्वे जैछे रासादि लीला कैल वृन्दावने।
अलौकिक लीला गौर कैल क्षणे क्षणे॥६६॥

६६। प० अनु०—द्वापर में जैसे वृन्दावन में श्रीकृष्ण

ने रासादि लीलाओं को सम्पादित किया था। उसी प्रकार अब श्रीगौरहरि ने क्षण-क्षण में अलौकिक लीला की।

"अप्राकृत वस्तु प्राकृत इन्द्रियों के गोचर नहीं"—

भक्तगण अनुभवे, नाहि जाने आन।
श्रीभागवत-शास्त्र ताहाते प्रमाण॥६७॥

६७। प० अनु०—इन अलौकिक लीलाओं को केवल भक्तगण ही अनुभव कर सकते हैं और कोई इन्हें नहीं जान सकता।श्रीमद्भागवत ही इसका प्रमाण है।

अनुभाष्य

६७। कृष्णलीला में जिस प्रकार रासस्थली में कृष्ण का बहुत हो जाना एवं महिषियों के साथ विवाह के समय जिस प्रकार एक ही मूर्त्ति अनेक होकर प्रकटित हुई थी, उसी प्रकार गौर-लीला में सात भिन्न-भिन्न कीर्त्तन-सम्प्रदायों में भक्तों के निकट और प्रतापरुद्र आदि दर्शकों के समक्ष भगवान् गौरसुन्दर अनेक मूर्त्तियों में प्रकटित हुए। भक्तों के अतिरिक्त उनकी लोकातीत लीला के दर्शन का दूसरों को अधिकार नहीं होता। रास में महिषियों के विवाह में कृष्ण का युगपत् (एक ही समय में, एक साथ) अनेक मूर्त्तियों में प्रकटित होने का प्रमाण श्रीमद्भागवत में है।

प्रभु के नृत्य से लोगों का उद्धार—

एइमत महाप्रभु करे नृत्य-रङ्गे।
भासाइल सब लोक प्रेमेर तरङ्गे॥६८॥

६८। प० अनु०—इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने नृत्य आदि लीला करके सभी लोगों को प्रेम की तरङ्गों में डुबो दिया।

प्रभु का सगण नृत्य और कीर्त्तन के बीच में जगन्नाथ का रथ पर चढ़ना और गुण्डिचा गमन—

एइमत हैल कृष्णेर रथे आरोहण।
तार आगे प्रभु नाचाइल भक्तगण॥६९॥
आगे शुन जगन्नाथेर गुण्डिचा-गमन।
तार आगे प्रभु जैछे करिला नर्तन॥७०॥
एइमत कीर्तन प्रभु करिल कतक्षण।
आपन-उद्योगे नाचाइल भक्तगण॥७१॥

६९-७१। प० अनु०—(श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी कह रहे हैं) यहाँ तक श्रीजगन्नाथ द्वारा रथ पर चढ़ना और उनके आगे श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा भक्तों को नृत्य करवाने का प्रसङ्ग वर्णित हुआ है। अब आगे श्रीजगन्नाथ का गुण्डिचा मन्दिर की ओर जाने के प्रसङ्ग का श्रवण करो जिसमें यह भी वर्णन किया जायेगा कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने रथ के आगे किस प्रकार से नृत्य किया था। इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कुछ समय तक कीर्त्तन किया और उन्होंने अपने प्रयास से सभी भक्तों को भी नृत्य कराया।

नृत्य करने की इच्छा से ९ भक्तों के साथ स्वरूप के द्वारा कीर्त्तन की मण्डली का गठन—

आपनि नाचिते जबे प्रभुर मन हैल।
सात सम्प्रदाय तबे एकत्र करिल॥७२॥
श्रीवास, रामाइ, रघु, गोविन्द, मुकुन्द।
हरिदास, गोविन्दानन्द, माधव, गोविन्द॥७३॥
उद्दण्ड-नृत्ये प्रभुर जबे हैल मन।
स्वरूपेर सङ्गे दिल एइ नव जन॥७४॥

७२-७४। प० अनु०—जब श्रीचैतन्य महाप्रभु को स्वयं नृत्य करने की इच्छा हुयी तो उन्होंने सातों मण्डलियों को इकट्ठा कर लिया और उद्दण्ड नृत्य करने की इच्छा को पूर्ण करने के लिये उन्होंने श्रीस्वरूप दामोदर के पीछे गान करने के लिये श्रीवास, श्रीरामाइ, श्रीरघु, श्रीगोविन्द, श्रीमुकुन्द, श्रीहरिदास, श्रीगोविन्दानन्द, श्रीमाधव तथा श्रीगोविन्द आदि—नौ भक्त दे दिये।

अन्यान्य भक्तों के द्वारा चारों ओर कीर्त्तन—

एइ दश जन प्रभुर सङ्गे गाय, धाय।
आर सब सम्प्रदाय चारि दिके गाय॥७५॥

७५। प० अनु०—यह दस (श्रीस्वरूप दामोदर तथा उनके पीछे गान करने वाले अन्य नौ) भक्त श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ नृत्य-गान कर रहे थे और सभी

मण्डलियों के अन्यान्य भक्त चारों ओर से गान कर रहे थे।

प्रभु द्वारा जगन्नाथ की स्तुति—

दण्डवत् करि' प्रभु जुड़ि' दुइ हात।
ऊर्ध्व मुखे स्तुति करे देखि' जगन्नाथ॥७६॥

७६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीजगन्नाथ को देखकर दण्डवत् किया और अपने दोनों हाथों को जोड़कर, मुख को ऊपर उठाकर श्रीजगन्नाथ की स्तुति करने लगे।

विष्णुपुराण (१/१९/६५)—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः॥७७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७७। ब्रह्मण्यदेव, गो-ब्राह्मण के हितस्वरूप, जगत् के मङ्गल स्वरूप, कृष्ण स्वरूप और गोविन्द स्वरूप परमतत्त्व को प्रणाम करता हूँ।

अनुभाष्य

७७। गो ब्राह्मणहिताय (गवादिसर्वमङ्गलाकर वस्तूनां शुभानुध्यायिने) ब्रह्मण्यदेवता (ब्रह्मण्यानाम् उपास्याय) जगद्धिताय (लोककल्याणनिवासाय) गोविन्दाय कृष्णाय नमः नमः नमः (असकृत प्रणतिः)।

(पद्यावली के १०८ अङ्क में उद्धृत मुकुन्ददेववाक्य)—

जयति जयति देवो देवकीनन्दनोऽसौ
जयति जयति कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः।
जयति जयति मेघश्यामलः कोमलाङ्गो
जयति जयति पृथ्वीभारनाशो मुकुन्दः॥७८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७८। यह देवकीनन्दन देवता जययुक्त हों; यह वृष्णि वंश के प्रदीप कृष्ण जययुक्त हो; यह नव जलधर श्याम कोमल अङ्गों वाले कृष्ण जययुक्त हो; पृथ्वी के भार का नाश करने वाले मुकुन्द जययुक्त हो।

अनुभाष्य

७८। असौ देवकीनन्दनः (इति प्रसिद्धः) देवः जयति जयति (सर्वोत्तमत्वेन वर्त्तते), वृष्णिवंशप्रदीपः (वृष्णीनां यूदनां वंश कुलं प्रदीपयति यः सः वृष्णिकुलोज्ज्वलकारी) कृष्णः जयति जयति; मेघश्यामलः (नवघन-श्यामलः इव वर्णः यस्य सः इन्द्रनीलघनश्यामः) कोमाङ्गः (कोमलं—"यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहम्" इत्यादि श्लोकोदितं सुकोमलम् अङ्गं यस्य सः कृष्णः) जयति जयति; पृथ्वी भार नाशः (कृष्णाभक्तार्द्दितधराभारक्लेशनाशनः-वीर) मुकुन्दः (मुक्ति प्रदो हरिः) जयतिः जयति।

अप्राकृत नवीन कामदेव की जय—

श्रीमद्भागवत (१०/९०/४८)—

जयति जननिवासो देवकी जन्मवादो
यदुवरपरिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मित-श्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्धयन कामदेवम्॥७९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

७९। जननिवास, देवकीजन्मवाद (देवकी के गर्भ से जन्म ग्रहण करने वाले के रूप में विख्यात), यदुओं के सभापति, अपनी बाहुओं द्वारा अधर्म का नाश करने वाले, स्थावर-जङ्गम का पाप हरण करने वाले, मधुर हास्य युक्त मुख द्वारा व्रजपुर की वनिताओं के काम का वर्द्धन करने वाले कृष्णचन्द्र जययुक्त हो।

अनुभाष्य

७९। महाभागवत श्रीशुकदेव दशम स्कन्ध के अन्त में संक्षेप में श्रीकृष्णलीला वर्णन पूर्वक श्रीकृष्ण की सर्वोत्तमता के विषय में कह रहे हैं—

जननिवासः (जनेषु गोप-यादवादि-मध्येषु एव निवासो यस्य सः, यद्वा, जनानां जीवानां यो निवासः आश्रयः, जीवेषु वा निवसति अन्तर्यामितया तथा सः) देवकीजन्मवादः (देवक्यां जन्म इति वादमात्रं यस्य सः अथवा देवक्योर्नन्दवसुदेव गृहिण्योर्जन्मेव वादः सिद्धान्तो यत्र सः, वस्तुतः अजन्मा) यदुवरपरिषत् (यदुवराः गोपाः

व्रजस्थाः क्षत्रियाः पुरस्थाः च परिषत् सभा सेवकरूपा यस्य सः) स्वैः दोर्भिः (इच्छामात्रेण निरसन-समर्थोऽपि क्रीड़ार्थं दोर्भिः, दोस्तुल्यैः स्वभक्तजनैः अर्जुनादिभिर्वा) अधर्मं (धर्मप्रतिपक्षमसुरसंधम) अस्यन् (क्षिप्यन्, दूरी-कुर्वन्, निध्नन्) स्थिरचरवृजिनघ्नः (स्थिरचराणां-स्थिराणां स्थावराणां चराणा जङ्गमानां, वृजिनं संसारदुःखं व्रजपुरं स्थानां तेषां सेवकानां स्ववियोगदुखं वा हन्ति यः सः) व्रजपुरवनितानां (व्रजवनितानां पुरवनितानाञ्च मथुरा-द्वारका-पुरस्थानुरागिणीनां ताषां योषिता) कामदेवं (कामश्चासौ दिव्यतीति विजिगीषते संसारमिति देवश्च यद्वा, देवः अप्राकृतस्तत्स्वरूपभूतः तत् स्वप्रकाशस्वरूप) सुस्मितश्रीमुखेन (शोभनं स्मितं तदुपलक्षितं प्रसाद-विलासादिकं यत्र तेन स्वभावत एव श्रीमता शोभन हास्ययुतेन मुखेनैव) वर्द्धयन् (उद्दीपयन् सन् एवम्भूतः श्रीकृष्णः) जयति (सर्वोत्तमत्वेन वर्त्तते)।

अहं पदार्थ वाच्य जीवात्म का स्वरूप—
पद्यावली १४ अङ्क में उद्धृत
श्रीकृष्णचैतन्य द्वारा उक्त श्लोक—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे
गोंपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥८०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

८०। मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, क्षत्रिय राजा नहीं हूँ, वैश्य अथवा शूद्र नहीं हूँ, अथवा ब्रह्मचारी नहीं हूँ, गृहस्थ नहीं हूँ, वानप्रस्थ नहीं हूँ, संन्यासी भी नहीं हूँ, किन्तु उन्मीलित अर्थात् स्वप्रकाशमान निखिल परमानन्द से पूर्ण अमृत समुद्र रूप 'श्रीकृष्ण के चरणकमलों के दासों को दास' कहकर अपना परिचय देता हूँ।

अनुभाष्य

८०। अहं (जीवात्मस्वरूपः) विप्रः (प्राकृतबुद्ध्या शौक्र-सावित्र-दैक्ष-त्रिविध-जन्माभिमानी ब्राह्मणः न (न अस्मि), नरपतिः (क्षत्रियः) च न, वैश्यः न, शूद्रः च न (नाहं वर्णाभिमानीत्यर्थः), (पुनः) अहं (जीवः) वर्णी (ब्रह्मचारी) न, गृहपतिः (गृहस्थः) च न, वनस्थ (वानप्रस्थः) न, यति (तूर्याश्रमी संन्यासी वा) न (नास्मि-नाहं आश्रमाभिमानीत्यर्थः)। किन्तु (कोहहमिति चेत् तत्राह—अहं जीव-स्वरूपः) प्रोद्यनिखिल परमानन्द-पूर्णामृताब्धेः (प्रकृष्टरूपेण उधन् उदयमाविष्कुर्वन प्रकाशमान इति यावत, यः निशिलः परमानन्दः, तेन एव पूर्णः अमृताब्धि तस्य) गोपीभर्त्तुः (गोपीजनवल्लभस्य तस्यैव स्वयं स्वयं रूपत्वाद्वा) पदकमलयोः (पादपङ्क-जयोः) दासदासानुदासः (वैष्णवदास्यानुदास्ये संप्रतिष्ठितः त्रिगुणातीतः कृष्णदासः)।

प्रभु के अनुगमन करने वाले
भक्तों के द्वारा भगवान् को प्रणाम—

एत पड़ि' पुनरपि करिल प्रणाम।
जोड़हाते भक्तगण वन्दे भगवान्॥८१॥

८१। प० अनु०—इन श्लोकों को पढ़कर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने फिर से श्रीजगन्नाथ को प्रणाम किया और भक्तों ने भी अपने हाथ जोड़कर श्रीजगन्नाथ की वन्दना की।

प्रभु के उद्दण्ड नृत्य का वर्णन—

उद्दण्ड नृत्य प्रभु करिया हुँकार।
चक्र-भ्रमि भ्रमे जैछे अलात-आकार॥८२॥
नृत्ये प्रभुर जाँहा जाँहा पड़े पदतल।
ससागर-शैल मही करे टलमल॥८३॥

८२-८३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु हुँकार करते हुये उद्दण्ड नृत्य करते हुये अविच्छिन्न आलात चक्र की भाँति घूमने लगे। नृत्य करते समय श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरण जहाँ पड़ते वहाँ की पृथ्वी पर्वत और सागर सहित टलमल करने लगती।

अमृतप्रवाह भाष्य

८२। 'चक्र-भ्रमि भ्रमे जैछे अलात-आकार',—जलते हुए अङ्गारे के चक्र के समान। महाप्रभु चक्र में भ्रमण करने वाले जैसे घूमने लगे।

अनुभाष्य

८२। अलातचक्र अर्थात् जलते हुये अङ्गारे के टुकड़े को बहुत तेजी से घुमाने पर वह जैसे एक पूरे जलते हुए चक्र की भाँति प्रतीत होता है, किन्तु वह वास्तव में जलता हुआ चक्र नहीं होता, उस प्रकार महाप्रभु उद्दण्ड नृत्य करते-करते 'एक' विग्रह होने पर भी सर्वत्र 'व्यापक' रूप में दिखायी दिये थे।

प्रभु का अष्ट सात्त्विक विकार—

स्तम्भ, स्वेद, पुलक, अश्रु, कम्प, वैवर्ण्य।
नाना-भावे विवशता, गर्व, हर्ष, दैन्य॥८४॥
आछाड़ खाञा पड़े भूमे गड़ि' जाय।
सुवर्ण-पर्वत जैछे भूमेते लोटाय॥८५॥

८४-८५। प० अनु०—नृत्य करते-करते श्रीचैतन्य महाप्रभु में स्तम्भ, स्वेद, पुलक, अश्रु, कम्प, वैवर्ण्य, गर्व, हर्ष और दैन्य आदि अष्ट सात्त्विक भाव उदित हो आये, जिससे महाप्रभु विवश हो जाते। पछाड़ खाकर जब प्रभु भूमि पर गिरकर लोट-पोट होते तो ऐसा प्रतीत होता मानो कोई सोने का पर्वत भूमि पर लोट-पोट खा रहा हो।

निताई द्वारा रक्षा करने की चेष्टा—

नित्यानन्द प्रभु दुइ हात प्रसारिया।
प्रभुरे धरिते चाहे आशपाश धाञा॥८६॥

८६। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु अपने दोनों हाथों को फैलाकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को गिरने से बचाने के लिये उनके आस-पास घूम रहे थे।

प्रभु के पीछे हरिध्वनि में रत अद्वैत—

प्रभु-पाछे बुले आचार्य करिया हुँकार।
'हरिबोल' 'हरिबोल' बले बार बार॥८७॥

८७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के पीछे-पीछे श्रीअद्वैताचार्य हुँकार करते हुये बार-बार 'हरिबोल' 'हरिबोल' का उच्चारण कर रहे थे।

प्रभु को लोगों के स्पर्श से रक्षा करने हेतु तीन टोलियों के द्वारा घेरे का गठन—

लोक निवारिते हैल तिन मण्डल।
प्रथम-मण्डले नित्यानन्द महाबल॥८८॥
काशीश्वर-मुकुन्दादि जत भक्तगण।
हाताहाति करि' हैल द्वितीय आवरण॥८९॥
बाहिरे प्रतापरुद्र लञा पात्रगण।
मण्डल हञा करे लोक निवारण॥९०॥

८८-९०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु को लोगों के स्पर्श से बचाने के लिये तीन चक्र (मण्डल) बनाये गये। पहले चक्र में महा बलवान् श्रीनित्यानन्द प्रभु रक्षा कर रहे थे। दूसरे चक्र में श्रीकाशीश्वर एवं श्रीमुकुन्दादि भक्त अपने हाथों को एक दूसरे के हाथों से पकड़कर आवरण बना रहे थे और बाहरी अर्थात् तीसरे चक्र में राजा प्रतापरुद्र अपने पात्रगणों को साथ लेकर एक चक्र बनाकर लोगों को रोक रहे थे।

अनुभाष्य

८८। महाबल,—श्रीबलदेव।

तीन मण्डल,—लोगों को विमर्द्दन (रौंदने, घर्षण करने तथा) रोकने हेतु महाप्रभु को बीच में रखकर भक्तों ने चक्र के रूप में उन्हें चारों ओर से घेरकर तीन घेरे बनाये। पहले घेरे में—अन्यान्य भक्तों के साथ नित्यानन्द प्रभु, दूसरे घेरे में काशीश्वर और मुकुन्द आदि तथा दूसरे घेरे के चारों ओर लोगों द्वारा प्रतापरुद्र राजा ने तीसरा घेरा बनाया। तीसरे घेरे द्वारा आवरण करके दूसरे, पहले और उसके भी अन्दर श्रीमहाप्रभु को लोगों की भीड़ से अलग कर दिया। उद्देश्य,—लोगों की भीड़ से तीसरे घेरे के टूट जाने पर दूसरा एवं उसके भी किसी प्रकार टूट जाने पर पहला घेरा प्रभु की रक्षा के कार्य में आयेगा।

हरिचन्दन के साथ राजा द्वारा प्रभु के नृत्य का दर्शन—

हरिचन्दनेर स्कन्धे हस्त आलम्बिया।
प्रभुर नृत्य देखे राजा आविष्ट हञा॥९१॥

९१। प० अनु०—राजा प्रतापरुद्र हरिचन्दन के कन्धे

पर हाथ रखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का नृत्य देखकर आविष्ट हो रहे थे।

राजा के सामने श्रीवास की प्रभु नृत्य-दर्शन-सेवा—

हेनकाले श्रीनिवास प्रेमाविष्ट-मन।
राजार आगे रहि' देखे प्रभुर नर्तन॥९२॥

९२। प० अनु०—उस समय श्रीवास पण्डित भी राजा के आगे [वाले चक्र में] प्रेमाविष्ट होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का नृत्य देख रहे थे।

राजा को बिना किसी रुकावट के दर्शन का सुयोग देने के लिये श्रीवास को हरिचन्दन द्वारा मृदु भाव से हटाने की चेष्टा—

राजार आगे हरिचन्दन देखे श्रीनिवास।
हस्ते ताँरि स्पर्शि' कहे,—हओ एक-पाश॥'९३॥

९३। प० अनु०—राजा के आगे श्रीवास पण्ड़ित को देखकर हरिचन्दन ने उन्हें अपने हाथों से स्पर्श करके एक तरफ हो जाने को कहा।

सेवा में रत श्रीवास का पुनः पुनः सेवा में विघ्न हेतु क्रोध—

नृत्यावेशे श्रीनिवास किछुइ ना जाने।
बार बार ठेले, तेंहो क्रोध हैल मने॥९४॥

९४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के नृत्य को देखते समय श्रीवास पण्ड़ित आविष्ट होने के कारण कुछ भी न जान पाये परन्तु हरिचन्दन के द्वारा बार-बार हटाये जाने पर उनके मन में क्रोध आ गया।

हरिचन्दन को थप्पड़ मारना और उसके फलस्वरूप उसका क्रोध—

चापड़ मारिया तारे कैल निवारण।
चापड़ खाञा क्रुद्ध हैला हरिचन्दन॥९५॥

९५। प० अनु०—श्रीवास पण्ड़ित ने क्रोध में आकर हरिचन्दन को थप्पड़ मार कर उसे हटाने के लिये मना किया। श्रीवास से थप्पड़ खाकर हरिचन्दन को भी क्रोध आ गया।

अनुभाष्य

९५। तारे—हरिचन्दन को।

हरिचन्दन को राजा द्वारा निषेध करना—

क्रुद्ध हञा ताँरि किछु चाहे बलिबारे।
आपनि प्रतापरुद्र निवारिल तारे॥९६॥

९६। प० अनु०—हरिचन्दन क्रोध में आकर श्रीवास पण्ड़ित को कुछ बोलना ही चाहता था कि स्वयं राजा प्रतापरुद्र ने उसे यह कहकर रोक दिया—

अनुभाष्य

९६। ताँरै—श्रीवास को।

वैष्णव द्वारा अपमान और आघात भी सौभाग्य सूचक—

"भाग्यवान् तुमि—इँहार हस्त-स्पर्श पाइला।
आमार भाग्ये नाहि, तुमि कृतार्थ हैला॥"९७॥

९७। प० अनु०—"तुम बहुत भाग्यवान् हो क्योंकि तुमने इनके हाथों का स्पर्श प्राप्त किया। मेरा ऐसा भाग्य नहीं है, तुम ही कृतार्थ हो गये।

बिना पलक झपके नेत्रों से निश्चलभाव में जगन्नाथ का प्रभु के नृत्य का दर्शन करने से परम आनन्द—

प्रभुर नृत्य देखि' लोके हैल चमत्कार।
अन्य आछुक, जगन्नाथेर आनन्द अपार॥९८॥
रथ स्थिर कैल, आगे ना करे गमन।
अनिमेष-नेत्रे करे नृत्य दरशन॥९९॥

९८-९९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के नृत्य को देखकर लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ। औरों की तो बात ही क्या, स्वयं श्रीजगन्नाथ को भी अपार आनन्द की प्राप्ति हुई। श्रीजगन्नाथ अपने रथ को रोककर आगे नहीं बढ़ रहे थे वे अनिमिष-नेत्रों से (बिना पलक झपकाये) श्रीचैतन्य महाप्रभु का नृत्य देख रहे थे।

प्रभु के नृत्य का दर्शन करने से सुभद्रा एवं बलराम भी हर्षित—

सुभद्रा-बलरामेर हृदये उल्लास।
नृत्य देखि' दुइ जनार श्रीमुखेते हास॥१००॥

१००। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु का नृत्य देखकर श्रीसुभद्रा और श्रीबलराम के हृदय में भी उल्लास हो रहा था एवं उन दोनों के मुख पर मुस्कुराहट छा गयी थी।

अष्टसात्त्विक-भाव-कदम्ब की भाँति
सुशोभित प्रभु का रूप और लीला—

उद्दण्ड नृत्ये प्रभुर अद्भुत विकार।
अष्ट सात्विक भाव-उदय हय समकाल॥१०१॥
माँस-व्रण सम रोमवृन्द पुलकित।
शिमुलीर वृक्ष जेन कण्टक-वेष्टित॥१०२॥
एक एक दन्तेर कम्प देखिते लागे भय।
लोके जाने, दन्त सब खसिया पड़य॥१०३॥
सर्वाङ्गे प्रस्वेद छूटे ताते रक्तोद्गम।
'जज गग' 'जज गग'—गदगद-वचन॥१०४॥
जलयन्त्र-धारा जैछे बहे अश्रुजल।
आश-पाशे लोक जत भिजिल सकल॥१०५॥
देह-कान्ति गौरवर्ण देखिये अरुण।
कभु कान्ति देखि, जेन
मल्लिका-पुष्पसम॥१०६॥
कभु स्तम्भ, कभु प्रभु भूमिते लोटाय।
शुष्ककाष्ठसम पद-हस्त ना चलय॥१०७॥
कभु भूमे पड़े, कभु श्वास हय हीन।
जाहा देखि' भक्तगणेर प्राण हय क्षीण॥१०८॥

१०१-१०८। प॰ अनु॰—उद्दण्ड नृत्य करते हुये श्रीचैतन्य महाप्रभु में अद्भुत विकार होने लगे। सभी अष्ट सात्त्विक भाव भी एक साथ उदय हो आये। उनकी रोमावली पुलकित होकर ऐसे फूल रही थी जैसे शिमुली के वृक्ष में काँटे होते हैं। उनके एक-एक दाँत में हो रहे कम्पन को देखने से ही भय लगता था और लोगों को लग रहा था कि सभी दाँत टूट कर गिर पड़ेंगे। सभी अङ्गों से पसीने के साथ रक्त निकल रहा था और प्रभु के श्रीजगन्नाथ का नाम उच्चारण करने की इच्छा होने पर उनकी गद्गद् वाणी से केवल 'जज गग' 'जज गग' ही उच्चारित हो पा रहा था। जल की पिचकारी की धार के समान श्रीचैतन्य महाप्रभु के नेत्रों से अश्रु बह रहे थे और आसपास खड़े लोग उन अश्रुओं की धारा में भीग रहे थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु के देह की कान्ति अरुण वर्ण की थी परन्तु सात्त्विक भावों के कारण उनका वर्ण मल्लिका के पुष्पों की भाँति रक्त रहित दिखायी देने लगा। कभी तो श्रीचैतन्य महाप्रभु चलते-चलते स्तम्भित हो जाते और कभी भूमि पर लोटने लगते। कभी उनके हाथ-पैर सूखी लकड़ी की भाँति हिल-डुल न पाते। कभी तो वे भूमि पर गिर पड़ते तथा कभी श्वास हीन हो जाते जिसे देखकर सभी भक्तों के प्राण ही मानो निकल जाते।

अनुभाष्य

१०१। एक ही समय में आठ प्रकार के सात्त्विक भावों का उदय।

१०२। प्रभु के रोमवृन्द पुलकित होकर लोमकूप का माँस व्रण (घाव, फोड़ा) जैसा दीखने लगा।

१०४। 'जज गग'—'जगन्नाथ' बोलते हुए प्रभु के मुख से आधे-आधे वचन ही निकल पाये।

१०५। जल-यन्त्र—पिचकारी, अथवा जल-सिंचन करने वाला यन्त्र अथवा फव्वारा।

प्रभु के मुखचन्द्र से फेनामृत की धारा—

कभु नेत्रे-नासाय जल, मुखे पड़े फेन।
अमृतेर धारा चन्द्रबिम्बे बहे जेन॥१०९॥

१०९। प॰ अनु॰—कभी-कभी श्रीचैतन्य महाप्रभु के नेत्र एवं नाक से जल निकलने लगता और मुखचन्द्र से ऐसा फेन निकलता जिसे देखकर लगता कि मानो चन्द्र से अमृत की धारा बह रही हो।

शुभानन्द द्वारा पान—

सेइ फेन लञा शुभानन्द कैल पान।
कृष्णप्रेमरसिक तेंहो महाभाग्यवान्॥११०॥

११०। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के मुखचन्द्र से निकली हुयी फेन को श्रीशुभानन्द ने पान कर लिया क्योंकि वे कृष्णप्रेम रस के रसिक तथा अति सौभाग्यशाली थे।

अनुभाष्य

११०। शुभानन्द,—आदि दशम परिच्छेद ११० संख्या एवं मध्य त्रयोदश परिच्छेद ३९ संख्या द्रष्टव्य।

नृत्य के अन्त में प्रभु द्वारा कान्त और कान्ता के मिलन का गीत श्रवण—

एइमत ताण्डव-नृत्य कैल कतक्षण।
भाव-विशेषे प्रभुर प्रवेशिल मन॥१११॥
ताण्डव-नृत्य छाड़ि' स्वरूपेर आज्ञा दिल।
हृदय जानिया स्वरूप गाइते लागिल॥११२॥

१११-११२। प॰ अनु॰—इस प्रकार कुछ समय तक ताण्डव-नृत्य करते हुये श्रीचैतन्य महाप्रभु के मन में विशेष भाव ने प्रवेश किया और उन्होंने ताण्डव-नृत्य को छोड़कर श्रीस्वरूप दोमादर को कुछ आदेश दिया। श्रीस्वरूप दामोदर भी श्रीचैतन्य महाप्रभु के हृदय के भावों को जानकर गान करने लगे।

श्रीस्वरूप दामोदर का गीत—
तथाहि पदम्—

"सेइ त' पराण-नाथ पाइनु।
जाहा लागि' मदन-दहने झुरि' गेनु॥"११३॥ध्रु

११३। प॰ अनु॰—श्रीस्वरूप दामोदर ने कहा—"मैंने उन्हीं प्राणनाथ श्रीकृष्ण को पा लिया है, जिनके लिये मैं कामाग्नि की ज्वाला में जल रही थी।"

अमृतप्रवाह भाष्य

११३। अब महाप्रभु ने ताण्डव-नृत्य करना छोड़ दिया, क्योकि कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण से मिलने पर श्रीराधा के हृदय में जो भाव उदित हुए थे, अब वही सब भाव उनके हृदय में उदित हो आये। बहुत दिन के विरह के बाद, यह गीत स्वाभाविक रूप में आकर उपस्थित हुआ।

अनुभाष्य

११३। मध्य प्रथम परिच्छेद ५३-५६ संख्या द्रष्टव्य।

गीत श्रवण करने से प्रभु का नृत्य—

एइ धुया उच्चैःस्वरे गाय दामोदर।
आनन्दे मधुर नृत्य करेन ईश्वर॥११४॥

११४। प॰ अनु॰—इसी पद का श्रीस्वरूप दामोदर उच्चः स्वर से गान कर रहे थे और श्रीचैतन्य महाप्रभु आनन्दपूर्वक मधुर नृत्य कर रहे थे।

जगन्नाथ का प्रभु के पीछे-पीछे चलना—

धीरे धीरे जगन्नाथ करेन गमन।
आगे नृत्य करि' चलेन शचीर नन्दन॥११५॥

११५। प॰ अनु॰—धीरे-धीरे श्रीजगन्नाथ चल रहे थे और उनके आगे-आगे शचीनन्दन श्रीगौरहरि नृत्य करते हुए चल रहे थे।

सभी भक्तों द्वारा जगन्नाथ के मुख को देखकर नृत्य और कीर्त्तन—

जगन्नाथे नेत्र दिया सबे नाचे, गाय।
कीर्तनीया सह प्रभु पाछे पाछे जाय॥११६॥

११६। प॰ अनु॰—श्रीजगन्नाथ की ओर अपने नेत्रों को लगाकर सभी नृत्य एवं गान कर रहे थे और श्रीचैतन्य महाप्रभु कीर्त्तन करने वाले भक्तों के साथ पीछे-पीछे चल रहे थे।

बहुत समय के विरह के बाद श्रीराधा भाव में भावित प्रभु का दयित श्रीकृष्ण के साथ मिलन—

जगन्नाथे-मग्न प्रभुर नयन-हृदय।
श्रीहस्तयुगे करे गीतेर अभिनय॥११७॥

११७। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के नेत्र और हृदय श्रीजगन्नाथ में निमग्न थे और वे अपने श्रीहस्त कमलों (की भङ्गी) से गीत का अभिनय कर रहे थे।

श्रीराधा भाव सुवलित प्रभु में ही
कृष्ण की अपेक्षा अधिक प्रेम—

गौर यदि पाछे चले, श्याम हय स्थिरे।
गौर आगे चले, श्याम चले धीरे-धीरे॥११८॥
एइमत गौर-श्यामे, दोंहे ठेलाठेलि।
सरथे श्यामेरे राखे गौर महाबली॥११९॥

११८-११९। प० अनु०—जब गौर रथ के पीछे चलते तो श्याम रुक जाते और यदि गौर रथ के आगे चलते तो श्याम (श्रीचैतन्य महाप्रभु के नृत्य को देखते हुये) धीरे-धीरे चलने लगते। इस प्रकार गौर एवं श्याम—दोनों में परस्पर खींचातानी हो रही थी। अत्यन्त बलशाली गौर ने अपने प्रेम के कारण रथ पर चढ़े हुये श्रीश्याम (श्रीजगन्नाथ) को वशीभूत कर रखा था।

अमृतप्रवाह भाष्य

११८। जिस समय गौरचन्द्र गीत का अभिनय करते-करते (रथ के) पीछे चलते, तब जगन्नाथ रुक जाते; गौर जब आगे चलते, जगन्नाथ तब धीरे-धीरे आगे बढ़ते।

अनुभाष्य

११८-११९। श्रीमहाप्रभु का भाव यह है कि व्रजेन्द्र-नन्दन गोकुलवासिनियों को छोड़कर द्वारका लीला में मत्त हो गये थे, बाद में कृष्ण ने कुरुक्षेत्र मिलन के समय उनका सङ्ग प्राप्त किया। यहाँ पर, व्रजेन्द्रनन्दन रूप श्रीजगन्नाथदेव को राधाभाव में विभावित श्रीगौरसुन्दर ऐश्वर्य लीला भूमि श्रीनीलाचल क्षेत्र से माधुर्य लीला भूमि गुण्डिचा की ओर खींचकर ले जा रहे हैं। श्रीराधा और गोपियों के भाव में विभावित श्रीगौरहरि के पीछे पग बढ़ाने का उद्देश्य यह है कि व्रजेन्द्रनन्दन ने व्रज के भावों को भूलकर उनका (श्रीराधा आदि गोपियों का) अनादर किया है, तथापि उनकी चेष्टा से फिर से कृष्ण में व्रज की माधुरी के उदित होने के कारण ऐश्वर्य लीला से माधुर्य लीला के उत्कर्ष की उपलब्धि होने से ही श्रीकृष्ण रथ पर सवार हुए हैं। श्रीराधा आदि व्रजजनों के प्रति आन्तरिक सौहार्द के वशीभूत होकर कृष्ण वास्तव में ही जा रहे है या नहीं, अथवा उनका इसके अतिरिक्त और कोई उद्देश्य है या नहीं, इस विषय में सन्देह को दूर करने के लिये श्रीमन्महाप्रभु पीछे की ओर जा रहे हैं। महाप्रभु के हृदय के भाव को जानकर श्रीजगन्नाथदेव भी रुककर उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। विशेष करके, वृन्दावनेश्वरी के अभाव में व्रज के भाव के सौष्ठव की सम्भावना नहीं है। जगन्नाथ को प्रतीक्षा करते देख श्रीगोपीभाव के सामर्थ्य को समझकर गौरसुन्दर उत्साहित होकर आगे बढ़े, श्रीजगन्नाथ देव भी लज्जित होकर धीरे-धीरे उनका अनुगमन कर रहे हैं। श्रीराधा आदि गोपियों के भाव में भावुक गौर का अनुगमन और गौर के लिये प्रतिक्षा करने की योग्यता जगन्नाथ देव में ही देखी जाती है, अतएव जगन्नाथ के प्रति महाप्रभु के भाव और महाप्रभु के प्रति जगन्नाथ के भाव,—दोनों के इस प्रकार के भावों के धक्का-मुक्की में अथवा श्रीराधाभाव विभावित महाप्रभु अथवा उनका प्रेम ही अधिक बलवान् है।

विरह के अन्त में मिलन स्थली
की स्मृति का द्योतक श्लोक पाठ—

नाचिते नाचिते प्रभुर हइला भावान्तर।
हस्त तुलि' श्लोक पड़े करि' उच्चैःस्वर॥१२०॥

१२०। प० अनु०—नृत्य करते-करते श्रीचैतन्य महाप्रभु के भाव में अन्तर हो आया अर्थात् और एक भाव से विभावित हो गये और वे अपने हाथों को ऊपर उठाकर उच्च:स्वर से निम्नलिखित श्लोक पढ़ने लगे।

(काव्यप्रकाश (१/४) अङ्क में उद्धृत साहित्यदर्पण (१/१०); पद्यावली (३८२)—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढ़ाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवा-रोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥१२१॥

१२१। श्लोकानुवाद—जिसने कौमार-अवस्था में रेवा नदी के तट पर मेरे चित्त को हरण किया था, वही अब मेरे पति बने हैं; वह मधुमास की रात्रि भी उपस्थित है; विकसित मालती पुष्पों की सुगन्धि भी है; कदम्ब

कानन से वायु भी मधु के रूप में बह रही है; सुरत व्यापार लीला (नायक के सङ्ग की आकांक्षा) के कार्य में मैं वही नायिका भी उपस्थित हूँ; तथापि मेरा चित्त इस अवस्था में सन्तुष्ट न होकर रेवा के तट पर विद्यमान वेतसी (बेंत) के वृक्ष के तल के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है।

अनुभाष्य

१२१-१२२। मध्य प्रथम परिच्छेद ५८-५९ संख्या द्रष्टव्य।

प्रभु के हृदय के भावों के रसज्ञ श्रीस्वरूप—

एइ श्लोक महाप्रभु पड़े बार बार।
स्वरूप बिना अर्थ केह ना जाने इहार॥१२२॥

१२२। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु बार-बार इस श्लोक को पढ़ रहे थे परन्तु श्रीस्वरूप दामोदर के बिना कोई भी इसके अर्थ (ममार्थ) को नहीं जानता था।

श्लोक के अर्थ की प्रथम परिच्छेद में व्याख्या—

एइ श्लोकार्थ पूर्वे करियाछि व्याख्यान।
श्लोकेर भावार्थ करि संक्षेपे आख्यान॥१२३॥

१२३। प० अनु०—(श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कह रहे है) मैंने इस श्लोक के अर्थ की पहले व्याख्या की है। अब संक्षेप में ही इस श्लोक के भावों को व्यक्त कर रहा हूँ।

अनुभाष्य

१२३। मध्य प्रथम परिच्छेद ५३, ७७-८०, ८२-८४ सख्या द्रष्टव्य।

बहुत समय के विरह के बाद कुरुक्षेत्र में कृष्ण के साथ गोपियों का मिलन—

पूर्वे जैछे कुरुक्षेत्रे सब गोपीगण।
कृष्ण दर्शन पाञा आनन्दित मन॥१२४॥

१२४। प० अनु०—पहले जैसे कुरुक्षेत्र में सभी गोपियाँ श्रीकृष्ण का दर्शन पाकर आनन्दित हो गयीं थी।

जगन्नाथ के दर्शन से भी प्रभु में वैसा ही गोपी भाव—

जगन्नाथ देखि' प्रभुर से भाव उठिल।
सेइ भावाविष्ट हञा धुया गाओयाइल॥१२५॥

१२५। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु में भी वही भाव उदित हुआ। अतः श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उसी भाव में आविष्ट होकर ही श्रीस्वरूप दामोदर से वह पद गान कराया।

राजवेश धारण करने वाले कृष्ण के प्रति गोपवधू श्रीमती राधिका की उक्ति—

अवशेषे राधा कृष्णे करे निवेदन।
सेइ तुमि, सेइ आमि, सेइ नव सङ्गम॥१२६॥
तथापि आमार मन हरे वृन्दावन।
वृन्दावने उदय कराओ आपन-चरण॥१२७॥
इहाँ लोकारण्य, हाती, घोड़ा, रथध्वनि।
ताँहा पुष्पारण्य, भृङ्ग-पिक-नाद शुनि॥१२८॥
एइ राजवेश, सङ्गे सब क्षत्रियगण।
ताँहा गोपवेश, सङ्गे मुरली-वादन॥१२९॥
व्रजे तोमार सङ्गे जेइ सुख-आस्वादन।
सेइ सुखसमुद्रेर इँहा नाहि एक कण॥१३०॥
आमा लञा पुनः लीला करह वृन्दावने।
तबे आमार मनोवाञ्छा हय त' पूरणे॥'१३१॥

१२६-१३१। प० अनु०—अन्त में श्रीमती राधिका श्रीकृष्ण से इस प्रकार निवेदन करने लगी—आप वही हैं, मैं भी वहीं हूँ और हमारा मिलन भी पहले की ही भाँति नवनवायमान जैसा ही है। फिर भी मेरे मन का तो वृन्दावन ही हरण करता है, अतः आप वृन्दावन में ही अपने चरणों को उदय कराओ अर्थात् वृन्दावन में प्रवेश करो। यहाँ पर लोगों की भीड़, हाथी, घोड़ों और रथों की ध्वनि है परन्तु वृन्दावन में पुष्पों के वन तथा मधुकर और कोकिल की ध्वनि सुनाई देती है। यहाँ आपका यह राजवेश और क्षत्रियों का सङ्ग और वृन्दावन में आपका गोपवेश और साथ में आपका मुरली वादन। व्रज में

आपके साथ जो सुख का आस्वादन है उस सुख-समुद्र का यह कण भर भी नहीं है। आप मुझे लेकर फिर से उसी वृन्दावन में लीला कीजिये, तभी मेरी मनोवाञ्छा पूर्ण होगी।

प्रथम परिच्छेद में सूत्र वर्णन में यह वर्णित—

भागवते आछे जैछे राधिका-वचन।
पूर्वे ताहा सूत्रमध्ये करियाछि वर्णन॥१३२॥

१३२। प॰ अनु॰—श्रीमद्भागवत में जैसे श्रीमती राधिका के वचन वर्णित हैं उन्हीं वचनों का ही मैंने पहले (प्रथम परिच्छेद में) सूत्र रूप में वर्णन किया है।

अनुभाष्य

१३२। मध्य प्रथम परिच्छेद ८१ संख्या, त्रयोदश परिच्छेद १३६ संख्या द्रष्टव्य।

अन्यों के लिये भागवत के श्लोक का
अर्थ स्वरूप और रूप के अतिरिक्त अज्ञात—

सेइ भावावेशे प्रभु पड़े आर श्लोक।
सेइ सब श्लोकेर अर्थ नाहि बुझे लोक॥१३३॥
स्वरूप-गोसाञि जाने, ना कहे अर्थ तार।
श्रीरूप-गोसाञि कैल से अर्थ प्रचार॥१३४॥

१३३-१३४। प॰ अनु॰—उन्हीं श्रीमती राधिका के भावावेश में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने एक और श्लोक पढ़ा जिसके अर्थ को कोई नहीं समझ पाया। यद्यपि श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी उस श्लोक के अर्थ को जानते थे, तथापि उन्होंने किसी को भी इसके अर्थ को प्रकाशित नहीं किया। श्रीरूप गोस्वामी ने उसके अर्थ का प्रचार किया।

नृत्य के बीच में नित्य आस्वादित श्लोकों का उच्चारण—

स्वरूप सङ्गे जार अर्थ करे आस्वादन।
नृत्यमध्ये सेइ श्लोक करेन पठन॥१३५॥

१३५। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीस्वरूप दामोदर के साथ जिन-जिन अर्थों को आस्वादन करते थे उन-उन श्लोकों को नृत्य करते हुये पाठ करते।

अनुभाष्य

१३३-१३५। मध्य प्रथम परिच्छेद ५९-६०, ६९-७२ और ७६-८४ संख्या द्रष्टव्य।

गोपियों के द्वारा अपने घर में
कृष्ण को प्राप्त करने की आकांक्षा—
श्रीमद्भागवत (१०/८२/४८)—

आहुश्च ते नलिन-नाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणोवलम्बं
गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥१३६॥

१३६। श्लोकानुवाद—गोपियों ने कहा—"हे कमलनाभ! संसार रूपी कुएँ में गिरे हुए व्यक्तियों के ऊपर उठने के एकमात्र अवलम्बन स्वरूप आपके चरणकमल, जो अगाध बोध योगेश्वरों के हृदय में ही सदैव चिन्तनीय हैं, वह गृह सेवी हमारे मन में उदित हों।

अनुभाष्य

१३६। मध्य प्रथम परिच्छेद ८१ संख्या द्रष्टव्य।

कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-वाञ्छामय शुद्ध
हृदय रूपी वृन्दावन में ही कृष्ण
के उदय होने की योग्यता—

"अन्येर हृदय—मन, मोर मन—वृन्दावन,
'मने' 'वने' एक करि' जानि।
ताँहा तोमार पदद्वय, कराह यदि उदय,
तबे तोमार पूर्ण कृपा मानि॥१३७॥

१३७। प॰ अनु॰—अन्य लोगों का मन ही हृदय है; किन्तु मेरा मन तो वृन्दावन है। मैं मन और वृन्दावन को एक ही मानती हूँ। आप यदि वहाँ अपने श्रीचरणकमलों को उदित कराये, तभी मैं स्वयं पर आपकी पूर्ण कृपा मानूँगी।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३७। अन्य लोगों का मन ही हृदय है, किन्तु मेरा मन वृन्दावन से पृथक नहीं है। मैं मन और वृन्दावन को 'एक' ही मानती हूँ।

अनुभाष्य

१३७। प्राकृत (जागतिक) मनुष्य सङ्कल्प और विकल्पात्मक धर्म से युक्त 'हृदय' को ही मन मानता है। प्राकृत भोग बुद्धि परित्याग करके मैं अपने कृष्ण सेवा परायण चित्त को ही श्रीराधाकृष्ण की विहार भूमि 'वृन्दावन' मानती हूँ। प्राकृत-विषय-चेष्टा-रहित मन को वृन्दावन से 'अभिन्न' मानती हूँ।

शुद्ध हृदय में कृष्ण-सङ्ग-लालसा—

प्राणनाथ, शुन मोर सत्य निवेदन।
व्रज—आमार सदन, ताहाँ तोमार सङ्गम,
ना पाइले ना रहे जीवन॥१३८॥ध्रु

१३८। प० अनु०—हे प्राणनाथ! मेरे सत्य निवेदन को सुनिये। व्रज मेरा घर है, वहाँ आपका सङ्ग प्राप्त नहीं करने पर मेरा जीवन नहीं रह पायेगा।

कृष्णेन्द्रिय प्रीति वाञ्छा में
ऐश्वर्य सूचक ज्ञान शिथिल—

पूर्वे उद्धव-द्वारे, एबे साक्षात् आमारे,
योग-ज्ञाने कहिला उपाय।
तुमि—विदग्ध, कृपामय, जानह आमार हृदय,
मोरे ऐछे कहिते ना जुयाय॥१३९॥

ऐकान्तिक कृष्णप्रेम में उसके
अतिरिक्त अन्य अभिनिवेश असम्भव—

चित्त काढ़ि' तोमा हैते, विषये चाहि लागाइते,
यत्न करि' नारि काढ़िबारे।
तारे ध्यान शिक्षा कराह, लोक हासाञा मार,
स्थानास्थान ना कर विचारे॥१४०॥

ऐश्वर्य ज्ञान के अभ्यास में गोपियों की अरुचि—

नहे गोपी योगेश्वर, पद-कमल तोमार,
ध्यान करि' पाइबे सन्तोष।
तोमार वाक्य-परिपाटी, तार मध्ये कुटिनाटी,
शुनि' गोपीर आरो बाड़े रोष॥१४१॥

कृष्ण विरह के ग्रास से ही गोपियों के द्वारा
उद्धार प्राप्ति की इच्छा, स्वयं की संसार
बन्धन से मुक्त होने की इच्छा नहीं—

देह-स्मृति नाहि जार, संसारकूप काँहा तार,
ताहा हैते ना चाहे उद्धार।
विरह समुद्र-जले, काम-तिमिङ्गिले गिले,
गोपीगणे नेह' तार पार॥१४२॥

व्रजलीला और स्वजनों के विस्मरण
हेतु कृष्ण को उलाहना देना—

वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना-पुलिन, वन,
सेइ कुञ्जे रासादिक लीला।
सेइ व्रजेर जनगण, माता, पिता, बन्धुगण,
बड़ चित्र, केमने पासरिला॥१४३॥

कृष्ण की व्रज की विस्मृति को देखकर दयित को दोष न देकर अपने अदृष्ट (भाग्य) को धिक्कार—

विदग्ध, मृदु, सद्गुण, सुशील, स्निग्ध, करुण,
तुमि, तोमार नाहि दोषाभास।
तबे जे तोमार मन, नाहि स्मरे व्रजजन,
से—आमार दुर्दैव-विलास॥१४४॥

यशोदा का दुःख बतलाकर आवेदन द्वारा कृष्ण की करुणा को उदित कराने की चेष्टा; कृष्ण के विरह की अपेक्षा व्रजवासियों की मृत्यु की कामना—

ना गणि आपन-दुःख, देखि' व्रजेश्वरी-मुख,
व्रजजनेर हृदय विदरे।
किबा मार' व्रजवासी, किबा जीयाओ व्रजे आसि',
केन जीयाओ दुःख सहाइबारे?१४५॥

कृष्ण की ऐश्वर्य लीला में व्रजवासियों की अरुचि फिर भी व्रज के त्याग और कृष्ण के विरह में मृतप्रायः—

तोमार जे अन्य वेश, अन्य सङ्ग, अन्य देश,
व्रजजने कभु नाहि भाय।
व्रजभूमि छाड़िते नारे, तोमा ना देखिले मरे,
व्रजजनेर कि हबे उपाय॥१४६॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१३९-१४६। हे कृष्ण, तुम जब मथुरा में थे, तब उद्धव के माध्यम से 'ज्ञान योग' का उपदेश भेजकर ज्ञानयोग से तुम्हें प्राप्त किया जा सकता है, यह बुलवाया था; अब इस कुरुक्षेत्र में साक्षात् मिलन होने पर भी उसी प्रकार 'ज्ञान योग' के विषय में बतला रहे हो! मेरा हृदय—प्रेममय है, इसमे ज्ञानयोग का स्थान नहीं है। ऐसा जानने पर भी तुम्हारे द्वारा ऐसा उपदेश देना उचित नहीं है! मैं तुमसे चित्त हटाकर विषय में लगाने की इच्छा करने पर भी वैसा नहीं कर पाती! अतएव तुम्हारे प्रति ऐसी अनुरक्ति ही जब मेरा स्वभाव है, तब मुझे ध्यान की शिक्षा देना—केवल लोक हास्य मात्र है; अतएव तुमने स्थानास्थान का कोई विचार नही किया। गोपियाँ कोई योगेश्वर नहीं है कि तुम्हारे चरणकमलों का ध्यान करके आनन्द प्राप्त करेगीं। तुम्हारे वचनों में बहुत अधिक परिपाटी होने पर भी गोपियों को अपने ध्यान के विषय में शिक्षा देना—केवल कुटिनाटी ही है; इस (ध्यान की शिक्षा की आवश्यकता) के विषय में सुनकर गोपियों में अधिक अभिमान उत्पन्न होता है। गोपियों को जब स्वाभाविक रूप में ही देह की स्मृति नहीं है, तब 'संसार-कूप' के नाम पर तो उनका कुछ है ही नहीं; अतएव मुक्ति जनक ध्यान की पद्धति उनके लिये विफल (मात्र) है। तुम्हारे विरह रूपी समुद्र में पड़ी हुई गोपियों को तुम्हारी केवल-सेवा-काम रूपी तिमिङ्गल (बहुत बड़ी मछली) निगल रही है, उसे अर्थात् उस विरह से उनका उद्धार करो। आश्चर्य की बात यह है कि, तुम अपने उन व्रजजनों अर्थात् माता, पिता, बन्धुओं को किस प्रकार भूल गये? तुम—विशुद्ध पुरुष, मृदु, सद्गुणों के द्वारा सदैव सुशील, स्निग्ध, करुण हो, अतएव तुम्हारा ऐसा व्यवहार दोषाभास भी नहीं है, फिर भी तुम व्रजजनों को जो स्मरण नहीं करते हो, वह केवल हमारा ही दुर्दैव विलास (दुर्भाग्य का खेल) है। मैं अपने दुःख को नहीं देख रही, (किन्तु सच तो यह है कि), व्रजेश्वरी यशोदा का दुःख देखकर व्रजवासियों का हृदय वास्तव में फट जाता है। तुम व्रजवासियों को विरह के द्वारा कभी तो मरे हुए जैसा बना देते हो, कभी मिलन के द्वारा जीवित करते हो,—किसलिये दुःख सहन करने के लिये जीवित रखते हो इस विषय में कुछ नहीं कह सकती। तुम्हारा माथुर राजवेश आदि धारण, व्रज से पृथक स्थान पर वास एवं महिषियों का सङ्ग, यह व्रजवासियों को बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता। व्रजवासियों की यही एक विचित्र बात है कि, वे व्रजभूमि को छोड़कर भी अन्यत्र नहीं जा सकते, और दूसरी ओर, तुम्हें नहीं देखने पर भी मर जाते हैं; अतएव व्रजवासियों के लिये क्या उपाय है, उसे तुम ही जानते हो।

अनुभाष्य

१३९। उद्धव-द्वारे,—(उद्धव के माध्यम से),—भाः दशम स्कन्ध ४७ वाँ अध्याय द्रष्टव्य।

१४०। विषय,—कृष्ण से भिन्न वस्तु अथवा कार्य।

१४१। कुटिनाटी,—कपटता।

१४२। देह स्मृति देह में अभिनिवेश होने से 'संसार' होता है—भाः ११/२/३७, ११/३/६ प्रभृति असंख्य भागवत के श्लोक प्रमाण है; अधिकता के भय से वह यह उद्धृत नहीं किये जा रहे। गोपियों (एवं सिद्ध महाभागवत अथवा परमहंसो की भी) देह स्मृति नहीं होती—भाः १०/२९/३०, ३३-३४, ११/३०/४३, १०/३२/२२, ११/३५/१९ इत्यादि श्लोक द्रष्टव्य। काम—भः रः सिः पूर्व विभाग, साधन भक्ति लहरी में गौतमीय तन्त्र-वाक्य ?—आदि चतुर्थ परिच्छेद १६२-२१४ संख्या एवं मध्य अष्टम परिच्छेद २०७-२१८ संख्या द्रष्टव्य, तिमिङ्गिल,—बड़ी तिमि-मछली को भी निकलने में जो समर्थ है, ऐसा बहुत बड़ा जलचर जन्तु; 'नेह',—ले जाओ; तार—विरह समुद्र का।

कृष्ण को व्रज में आने के
लिये कातर होकर आवेदन—

तुमि—व्रजेर जीवन, व्रजराजेर प्राणधन,
तुमि—सकल व्रजेर सम्पद्।

कृपार्द्र तोमार मन, आसि' जीयाओ व्रजजन,
व्रजे उदय कराओ निज-पद॥'१४७॥

१४७। प॰ अनु॰—हे कृष्ण! तुम व्रज के जीवन हो। व्रजराज नन्द महाराज के प्राणधन हो। तुम तो समस्त व्रज की एकमात्र सम्पत्ति हो। तुम्हारा मन कृपा से द्रवीभूत रहता है। तुम व्रज में आकर व्रजवासियों को सञ्जीवित करो। व्रज में अपने चरणों को उदित कराओ।

कृष्ण की लज्जा, व्याकुलता
एवं श्रीराधिका को सान्त्वना—

शुनिया राधिका-वाणी, व्रजप्रेम मने आनि,
भावे व्यकुलित देह-मन।
व्रजलोकेर प्रेम शुनि', आपनाके 'ऋणी' मानि',
करे कृष्ण ताँरे आश्वासन॥१४८॥

१४८। प॰ अनु॰—श्रीमती राधारानी के वचन सुनकर व्रजप्रेम के मन में स्फुरित हो आने के कारण भाव में श्रीकृष्ण की देह तथा मन व्याकुल हो उठा। व्रजवासियों के प्रेम के विषय में सुनकर तथा स्वयं को ऋणी मानकर श्रीकृष्ण उन्हें आश्वासन देते हुए कहने लगे—

अनुभाष्य

१४८। ऋणी—आदि चतुर्थ परिच्छेद १७९-१८० संख्या द्रष्टव्य।

कृष्ण का सहैतुक प्रत्युत्तर—

'प्राणप्रिये, शुन, मोर एइ सत्य-वचन।
तोमा-सबार स्मरणे, झुरों मुञि रात्रिदिने,
मोर दुःख ना जाने कोन जन॥१४९॥

१४९। प॰ अनु॰—हे प्राणप्रिये! मेरे इन सत्य वचनों को सुनो। तुम सबके स्मरण में मैं रात-दिन रोता हूँ। मेरे दुःख के विषय में कोई भी नहीं जानता।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४९। झुरों—रोता हूँ।

कृष्ण द्वारा व्रजवासियों की विशेषतः
गोपियों और श्रीराधिका की स्तुति—

व्रजवासी जत जन, माता, पिता, सखागण,
सबे हय मोर प्राणसम।
ताँर मध्ये गोपीगण, साक्षात् मोर जीवन,
तुमि—मोर जीवनेर जीवन॥१५०॥

१५०। प॰ अनु॰—समस्त व्रजवासी, मेरे माता, पिता तथा सखा—सभी मेरे प्राणों के समान हैं। उनमें भी गोपियाँ तो साक्षात् मेरे जीवन स्वरूप हैं और उनमें भी तुम तो मेरे जीवन का भी जीवन हो।

व्रजवासियों के साथ विच्छेद—कृष्ण
के ही दूरदृष्ट (दुर्भाग्य) का फल—

तोमा-सबार प्रेमरसे, आमाके करिल वशे,
आमि तोमार अधीन केवल।
तोमा-सबा छाड़ाञा, आमा दूर-देशे लञा,
राखियाछे दुर्दैव प्रबल॥१५१॥

१५१। प॰ अनु॰—तुम सबके प्रेम रस ने मुझे वश में कर रखा है, मैं तो केवल तुम्हारे अधीन हूँ। मुझे तुम सबसे छुड़ाकर, मुझे दूर देश में मेरे प्रबल दुर्दैव ने ही लाकर रखा है।

परस्पर का विच्छेद मृत्यु के समान होने पर
भी परस्पर की प्रीति के लिये कान्त और
कान्ता को जीवन धारण करने की इच्छा—

प्रिया-प्रिय-सङ्गहीना, प्रिय प्रिया-सङ्ग बिना,
नाहि जीये,—ए सत्य प्रमाण।
मोर दशा शोने जबे, ताँर एइ दशा हबे,
एइ भये दुँहे राखे प्राण॥१५२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५२। प्रिय के सङ्ग से विहीन प्रिया स्त्री तथा प्रिया के सङ्ग से विहीन प्रिय पुरुष बच नहीं सकता, यही सत्य प्रमाण है; तथापि (दोनों यही सोचकर) इसलिये

बचे रहते हैं कि 'मैं मर गया हूँ, यह सुनकर उनकी भी मृत्यु होगी'।

विरह होने पर भी प्रणय पात्र का मङ्गल अथवा
प्रीतिवाञ्छा ही यथार्थ प्रेम का परिचय—

सेइ सती प्रेमवती, प्रेमवान् सेइ पति,
वियोगे जे वाञ्छे प्रिय-हिते।
ना गणे आपन-दुःख, वाञ्छे प्रियजन-सुख,
सेइ दुइ मिले अचिराते॥१५३॥

१५३। प॰ अनु॰—वही सती ही प्रेमवती है तथा प्रेमवान् वही पति है, जो वियोग में भी प्रिय का हित चाहते हैं। अपने दुःख की चिन्ता न कर केवल प्रिय जन के सुख की ही कामना करते हैं। ऐसे दोनों का बिना किसी विलम्ब के ही मिलन होता है।

श्रीराधिका को प्रबोध प्रदान करने की छलना—

राखिते तोमार जीवन, सेवि आमि नारायण,
ताँर शक्त्ये आसि निति-निति।
तोमा-सने क्रीड़ा करि', पुन जाइ यदुपुरी,
ताँहा तुमि मानह मोर स्फूर्ति॥१५४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५४। तुमि (तुम)—मेरी नित्य प्रिया और मेरे विरह में तुम बचोगी नहीं—ऐसा जानकर मैं नारायण की सेवा करते हुए उनकी विभुत्व-शक्ति के बल से प्रतिदिन व्रज में आकर तुम्हारे साथ लीला करके पुनः यदुपुरी लौट जाता हूँ; अतएव व्रज में रहकर तुम सोचती हो कि तुम्हें मेरी स्फूर्त्ति हुई है।

अनुभाष्य

१५४। यदुपुरी,—द्वारका और मथुरा।

श्रीराधा प्रेम—
कृष्ण का प्राकट्य—

मोर भाग्य मो-विषये, तोमार जे प्रेम हये,
सेइ प्रेम—परम प्रबल।
लुकाञा आमा आने, सङ्ग कराय तोमा-सने,
प्रकटेह आनिबे सत्वर॥१५५॥

१५५। प॰ अनु॰—मेरे ही सौभाग्य के कारण मेरे प्रति तुम्हारा जो प्रेम है, वह प्रेम अत्यधिक प्रबल है। वही प्रेम ही मुझे गुप्तरूप से व्रज में ले जाकर तुम्हारे साथ मेरा सङ्ग कराता है। वही प्रेम साक्षात् रूप में भी मुझे शीघ्र ही वहाँ ले जायेगा।

श्रीराधिका को स्वयं के व्रज जाने
के विषय में आश्वासन देना—

यादवेर विपक्ष, जत दुष्ट कंसपक्ष,
ताहा आमि कैलूँ सब क्षय।
आछे दुइ-चारि जन, ताहा मारि' वृन्दावन,
आइलाम आमि, जानिह निश्चय॥१५६॥
सेइ शत्रुगण हैते, व्रजजन राखिते,
रहि राज्ये उदासीन हञा।
जेबा स्त्री-पुत्र-धने, करि राज्य-आवरणे,
यदुगणेर सन्तोष लागिया॥१५७॥

१५६-१५७। प॰ अनु॰—यादवों के विपक्षी जितने भी कंस पक्षीय दुष्ट राजा थे, मैंने उस सबका नाश कर दिया है। अब केवल दो-चार लोग ही बचे हैं, उन्हें मारकर मैं वृन्दावन में आ ही गया, ऐसा निश्चय जानो। उन शत्रुओं से व्रजजनों की रक्षा हेतु ही मैं द्वारिकापुरी में उदासीन होकर रहता हूँ। मैं जो राज्य के आवरण में स्त्री-पुत्र-धन आदि के बीच में रहता हूँ, वह केवल यादवों की सन्तुष्टि के लिये ही करता हूँ।

अनुभाष्य

१५७। जेबा,—यद्यपि।

'ब्रज में आऊँगा' कहकर श्रीराधिका
के समीप कृष्ण की प्रतिज्ञा—

तोमार जे प्रेमगुण, करे आमा आकर्षण,
आनिबे आमा दिन दश विशे।
पुनः आसि' वृन्दावने, व्रजवधू तोमा-सने,

विलसिब रजनी-दिवसे॥ '१५८॥

१५८। प॰ अनु॰—तुम्हारा जो प्रेम रूपी गुण है, वही मुझे आकर्षित कर रहा है, वह मुझे दस-बीस दिन में व्रज में ले जायेगा। पुनः वृन्दावन में आकर हे व्रजवधू! मैं तुम्हारे साथ रात-दिन विलास करूँगा।

कृष्ण द्वारा उक्त श्लोक श्रवण करने से श्रीराधा को विश्वास—

एत ताँरे कहि' कृष्ण, व्रजे जाइते सतृष्ण,
एक श्लोक पड़ि' शुनाइल।
सेइ श्लोक शुनि' राधा, खण्डिल सकल बाधा,
कृष्णप्राप्त्ये प्रतीति हइल॥१५९॥

१५९। प॰ अनु॰—उनसे इतना कहकर व्रज में जाने के लिये आतुर श्रीकृष्ण ने एक श्लोक पढ़कर सुनाया। उस श्लोक को सुनकर श्रीमती राधारानी की समस्त बाधाएँ दूर हो गयीं तथा कृष्णप्राप्ति की आशा सफल होती दिखायी दी।

गोपीयों का कृष्ण प्रेम ही उनकी
कृष्ण की प्राप्ति का कारण—
श्रीमद्भागवत (१०/८२/३१)—

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां
मदापनः॥१६०॥

१६०। श्लोकानुवाद—मेरे प्रति की गयी भक्ति ही जीवों के लिये अमृत है। हे गोपियों! मेरे प्रति तुम्हारा जो स्नेह है, वही एकमात्र तुम्हारे लिये मेरी प्राप्ति का कारण है।

अनुभाष्य

१६०। आदि चतुर्थ परिच्छेद २३ संख्या द्रष्टव्य।

स्वरूप के साथ प्रभु का आस्वादन—

एइ सब अर्थ प्रभु स्वरूपेर सने।
रात्रि-दिने घरे बसि' करे आस्वादने॥१६१॥

१६१। प॰ अनु॰—इन सभी अर्थों को श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीस्वरूप दामोदर के साथ रात-दिन अपनी कुटीर में बैठकर आस्वादन करते थे।

जगन्नाथ को देखकर राधा भाव
में भावित प्रभु का श्लोक पाठ—

नृत्यकाले सेइभावे आविष्ट हञा।
श्लोक पड़ि' नाचे जगन्नाथ-मुख चाञा॥१६२॥

१६२। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु नृत्य करते हुये इन्हीं भावों में आविष्ट होकर श्लोक पढ़कर श्रीजगन्नाथ का मुख दर्शन कर नृत्य कर रहे थे।

ग्रन्थकार के द्वारा श्रीस्वरूप दामोदर की स्तुति—

स्वरूप-गोसाञिर भाग्य ना जाय वर्णन।
प्रभुते आविष्ट जाँर काय, वाक्य, मन॥१६३॥

१६३। प॰ अनु॰—उन श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी के भाग्य का वर्णन नहीं किया जा सकता जिनके काय, वाक्य और मन श्रीचैतन्य महाप्रभु में ही आविष्ट रहते थे।

कृष्ण सेवा में रत प्रभु और
स्वरूप की इन्द्रियाँ अभिन्न—

स्वरूपेर इन्द्रिये प्रभुर निजेन्द्रियगण।
आविष्ट हञा करे गान-आस्वादन॥१६४॥

१६४। प॰ अनु॰—श्रीस्वरूप दामोदर की इन्द्रियों में अपनी इन्द्रियों को आविष्ट करके श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वरूप दामोदर के गान का आस्वादन कर रहे थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६४। स्वरूप दामोदर जब इन सब भावों का कीर्त्तन करते हैं, तब प्रभु की नेत्र-कर्ण आदि इन्द्रियाँ स्वरूप दामोदर की इन्द्रियों में आविष्ट होकर गान का आस्वादन करने लगती है अर्थात् दोनों की एक चित्तता (अर्थात् एक समान चित्त का होना) और एक तानता (अर्थात् एक ही वस्तु के प्रति आकर्षित) श्रेष्ठ रूप से उदित होती है।

कान्त की उदासीनता के कारण मलिन देह वाली
मानिनी श्रीराधा के भावों में आविष्ट प्रभु—

भावेर आवेशे कभु भूमिते बसिया।
तर्जनीते भूमे लिखे अधोमुख हञा॥१६५॥

१६५। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु भाव में आविष्ट होकर कभी भूमि पर बैठ जाते और नीचे की ओर मुख करके अपनी तर्जनी अँगूली के द्वारा भूमि पर कुछ लिखने लग जाते।

प्रभु की अंगुली में चोट लगने के
भय से श्रीस्वरूप की सतर्कता—

अंगुलिते क्षत हबे जानि' दामोदर।
भये निज-करे निवारये प्रभु-कर॥१६६॥

१६६। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के द्वारा अंगुली से भूमि पर लिखने पर उनकी अंगुली में घाव हो जायेगा, श्रीस्वरूप दामोदर इसे जानते थे, इसलिए वे अपने हाथ के द्वारा प्रभु के हाथ को लिखने से रोकते।

अनुभाष्य

१६६। दामोदर,—श्रीस्वरूप।

स्वरूप के कीर्त्तन से प्रभु के हृदय में
राधा भाव के वैचित्र्य की मूर्त्ति प्रतिग्रह—

प्रभुर भावानुरूप स्वरूपेर गान।
जबे जेइ रस, ताहा करे मूर्त्तिमान॥१६७॥

१६७। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के भावों के अनुरूप ही श्रीस्वरूप दामोदर गान करते थे। जिस समय जो भी रस प्रवाहित होता उसे श्रीस्वरूप दामोदर मूर्त्तिमान कर देते।

जगन्नाथ के श्रीरूप का वर्णन—

श्रीजगन्नाथेर देखे श्रीमुख-कमल।
ताहार उपर सुन्दर नयन युगल॥१६८॥
सूर्येर किरणे मुख करे झलमल।
माल्य, वस्त्र, दिव्य अलङ्कार, परिमल॥१६९॥

१६८-१६९। प॰ अनु॰—उस समय श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीजगन्नाथ के मुखकमल पर शोभायमान सुन्दर नेत्रों को देखा। सूर्य की किरणों से श्रीजगन्नाथ का मुख झलमल कर रहा था तथा उनके श्रीअङ्गों पर माला, वस्त्र और दिव्य अलङ्कार तथा उनके अङ्गों से सुगन्ध आ रही थी।

अनुभाष्य

१६९। परिमल,—सुगन्ध।

प्रभु का दिव्य उन्माद—

प्रभुर हृदये आनन्दसिन्धु उथलिल।
उन्माद, झञ्झा-वात तत्क्षणे उठिल॥१७०॥
आनन्दोन्मादे उठाय भावेर तरङ्ग।
नाना-भाव-सैन्ये उपजिल युद्ध-रङ्ग॥१७१॥
भावोदय, भावशन्ति, सन्धि, शाबल्य।
सञ्चारी, सात्त्विक, स्थायी स्वभाव-प्राबल्य॥१७२॥

१७०-१७२। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु के हृदय में आनन्द का सागर हिलोरे मारने लगा और उसमें उसी समय फिर उन्माद रूपी तुफान भी उठा। आनन्द के उन्माद में भावों की तरङ्गे उठने लगी और अनेक प्रकार के भावों की सेनाओं में युद्ध रूपी कौतुक होने लगा। भावोदय, भावशान्ति, सन्धि, शाबल्य, सञ्चारी, सात्त्विक और स्थायी इत्यादि ने अत्यधिक प्रबलता धारण की।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७०। झाझावात,—बीच-बीच में आने वाली तेज हवा।

१७२। 'भावोदय', 'भाव शान्ति', 'सन्धि', 'शाबल्य',—भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशाबल्य।

अनुभाष्य

१७०। उन्माद,—मध्य द्वितीय परिच्छेद ६६ संख्या द्रष्टव्य।

१७१-१७२। मध्य द्वितीय परिच्छेद ६३ संख्या द्रष्टव्य।

स्वर्ण गिरि के साथ प्रभु की देह और पुष्पों वाले वृक्ष के साथ सात्त्विक भावों की उपमा—

प्रभुर शरीर जेन शुद्ध-हेमाचल।
भाव-पुष्पद्रुम ताहे पुष्पित सकल॥१७३॥

१७३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु का शरीर शुद्ध स्वर्ण के पर्वत के समान था और उसमें भाव रूपी पुष्प क्रमपूर्वक पुष्पित हो रहे थे।

प्रभु के प्रेम के दर्शन से सभी कृष्णप्रेम में उन्मत—

देखिते आकर्षये सबार चित्त-मन।
प्रेमामृतवृष्ट्ये प्रभु सिञ्चे सबार मन॥१७४॥
जगन्नाथ-सेवक जत राजपात्रगण।
यात्रिक लोक, नीलाचलवासी जत जन॥१७५॥
प्रभुर नृत्य-प्रेम देखि' हय चमत्कार।
कृष्णप्रेम उपजिल हृदये सबार॥१७६॥

१७४-१७६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के भावों को देखकर सभी का चित्त आकर्षित हो रहा था और श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रेमामृत की वर्षा से सभी के हृदय को सींच रहे थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु के नृत्य को देखकर श्रीजगन्नाथ के जितने भी राजपात्रगण सेवक थे, जितने यात्री लोग और जितने सब नीलाचलवासी थे, वे सभी चमत्करित हो रहे थे। सभी के हृदय में कृष्णप्रेम उदित हो गया।

अनुभाष्य

१७४-१७६। मध्य द्वितीय परिच्छेद ८१-८२ संख्या द्रष्टव्य।

सभी का प्रेम-कलरव—

प्रेमे नाचे, गाय, लोक, करे कोलाहल।
प्रभु-नृत्ये कैल यात्री चौगुण-मङ्गल॥१७७॥

१७७। प० अनु०—कृष्ण प्रेम में सभी लोग नृत्य-गान करते हुये कोलाहल कर रहे थे और श्रीचैतन्य महाप्रभु के नृत्य ने यात्रियों की मङ्गल ध्वनि को चार गुणा बढ़ा दिया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७७। चौगुण मङ्गल,—चार गुणा मङ्गलध्वनि।

कृष्ण बलराम के द्वारा भी प्रभु के नृत्य का दर्शन—

अन्येर कि काय, जगन्नाथ-हलधर।
प्रभुर-नृत्य देखि' सुखे चलिला मन्थर॥१७८॥

१७८। प० अनु—अन्य लोगों की तो बात ही क्या स्वयं श्रीजगन्नाथ और श्रीबलदेव भी श्रीचैतन्य महाप्रभु के नृत्य को देखकर मन्थर (धीमी-धीमी) गति से चलने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७८। मन्थर,—धीरे-धीरे।

दोनों के द्वारा प्रभु के नृत्य को देखकर चलना स्थगित करना—

कभु सुखे नृत्यरङ्ग देखे रथ राखि'।
से कौतुक जे देखिल, सेइ तार साक्षी॥१७९॥

१७९। प० अनु—कभी-कभी तो श्रीजगन्नाथ और श्रीबलदेव प्रभु अपने रथ को रोककर श्रीचैतन्य महाप्रभु के नृत्य-कौतुक को देखते थे। इस कौतुक को जिसने देखा था, वही उसका साक्षी है।

नृत्य करते-करते प्रभु का राजा के समक्ष गिर पड़ना—

एइमत नृत्य प्रभु करिते भ्रमिते।
प्रतापरुद्रेर आगे लागिला पड़िते॥१८०॥

१८०। प० अनु०—इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु नृत्य के आवेश में राजा प्रतापरुद्र के आगे गिरने लगे।

राजा का प्रभु को धारण, प्रभु की बाह्यदशा—

सम्भ्रमे प्रतापरुद्र प्रभुके धरिल।
ताँहाके देखिते प्रभुर बाह्य हइल॥१८१॥

१८१। प० अनु०—राजा प्रतापरुद्र ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को गिरते हुये देखकर उन्हें सम्भ्रमपूर्वक (भयपूर्वक) पकड़ लिया। राजा को देखते ही श्रीचैतन्य महाप्रभु को बाहरी ज्ञान हो आया।

बाह्यदशा में लोक शिक्षक, जगद्गुरु आचार्य लीला करने वाले प्रभु का राजा के स्पर्श करने से स्वयं को धिक्कार—

राजा देखि' महाप्रभु करेन धिक्कार।
"छि, छि, विषयीर स्पर्श हइल आमार!"१८२॥
आवेशेते नित्यानन्द हैला असावधान।
काशीश्वर, गोविन्दादि छिला अन्यस्थान॥१८३॥

१८२-१८३। प० अनु०—राजा को देखते ही श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने को धिक्कार देते हुये कहने लगे—"छि, छि मुझे एक विषयी का स्पर्श हो गया है"। उस समय श्रीनित्यानन्द प्रभु भी भाव में आविष्ट होने के कारण सतर्क नहीं थे और श्रीकाशीश्वर एवं श्रीगोविन्द आदि भक्त भी दूसरे स्थान पर थे।

राजा की दीनतापूर्वक कृष्ण सेवा के दर्शन से हृदय में सन्तोष, भक्ति साधक के हित के लिये बाहर से रोषाभास—

यद्यपि राजारे देखि' हाड़िर सेवने।
प्रसन्न हञाछे ताँरि मिलिबारे मने॥१८४॥
तथापि आपन-गणे करिते सावधान।
बाह्य किछु रोषाभास कैला भगवान्॥१८५॥

१८४-१८५। प० अनु०—यद्यपि राजा को झाडुदार का कार्य करते देख श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रसन्न होने के कारण उससे मिलना भी चाहते थे परन्तु फिर भी अपने भक्तों को सावधान करने के उद्देश्य से उन्होंने बाहरी रूप से कुछ क्रोध का आभास दिखलाया।

अनुभाष्य

१८४। हाड़िर सेवन,—रास्ते में झाडुदार का कार्य (मध्य लीला त्रयोदश परिच्छेद १५-१८ संख्या द्रष्टव्य)।

१८५। आपन-गण (अपने गण)—भवसागर से पार जाने के इच्छुक, निष्किञ्चन, भगवद्-भजनोन्मुख अर्थात् प्रेमारुरुक्षु की लीला करने वाले भक्तगण।

प्रभु के वाक्य को सुनकर राजा का भय, सार्वभौम का आश्वासन—

प्रभुर वचने राजार मने हैल भय।
सार्वभौम कहे,—"तुमि ना कर संशय॥१८६॥
तोमार उपरे प्रभुर सुप्रसन्न मन।
तोमा लक्ष्य करि' शिखायेन निज-गण॥१८७॥
अवसर जानि' आमि करिब निवेदन।
सेइकाले जाइ' करिह प्रभुर मिलन॥"१८८॥

१८६-१८८। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के वचन सुनकर राजा के मन में भय का सञ्चार हो आया परन्तु श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य ने राजा को समझाते हुये कहा—"आप किसी भी प्रकार का संशय मत करो। आप पर श्रीचैतन्य महाप्रभु बहुत प्रसन्न हैं केवल आपको लक्ष्य करके वे अपने भक्तों को शिक्षा देने के लिये ही ऐसा कह रहे हैं। मैं अवसर पाकर ही उन्हें आपके विषय में निवेदन करूँगा, उसी समय आप जाकर प्रभु से मिलना।"

स्वयं प्रभु के द्वारा रथ संचालन—

तबे महाप्रभु रथ प्रदक्षिण करिया।
रथ-पाछे जाइ' ठेले रथे माथा दिया॥१८९॥

१८९। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने रथ की परिक्रमा की तथा फिर रथ के पीछे जाकर रथ को अपने माथे से धक्का देने लगे।

रथ को चलते हुये देखकर लोगों के द्वारा हरिध्वनि—

ठेलितेइ चलिल रथ 'हड़' 'हड़' करि'।
चतुर्दिके लोक सब बले 'हरि' 'हरि'॥१९०॥

१९०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के द्वारा पीछे से रथ को धक्का देने मात्र से ही रथ 'हड़' 'हड़' शब्द करता हुआ आगे चलने लगा और चारों ओर से सभी लोग 'हरि' 'हरि' ध्वनि करने लगे।

सुभद्रा और बलराम के रथ के आगे सगण प्रभु नृत्य—

तबे प्रभु निज-भक्तगण लञा सङ्गे।
बलदेव-सुभद्राग्रे नृत्य करे रङ्गे॥१९१॥

१९१। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने

भक्तों को साथ लेकर श्रीबलदेव एवं श्रीसुभद्रा के आगे नृत्य करने लगे।

उसके बाद जगन्नाथ के रथ के आगे नृत्य—

तँाहा नृत्य करि' जगन्नाथाग्रे आइला।
जगन्नाथ-आगे नृत्य करिते लागिला॥१९२॥

१९२। प० अनु०—श्रीबलदेव एवं सुभद्रा के रथ के आगे नृत्य करने के उपरान्त श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीजगन्नाथ के समक्ष आये, तथा उनके समक्ष नृत्य करने लगे।

बलगण्डि पर रथ का रुकना—

चलिया आइल रथ 'बलगण्डि'-स्थाने।
जगन्नाथ रथ राखि' देखे डाहिने-वामे॥१९३॥
वामे—'विप्रशासन', नारिकेल-वन।
डाहिने त' पुष्पोद्यान, जेन वृन्दावन॥१९४॥
आगे नृत्य करे गौर लञा भक्तगण।
रथ राखि' जगन्नाथ करेन दरशन॥१९५॥

१९३-१९५। प० अनु०—रथ चलते-चलते बलगण्ड़ि नामक स्थान पर पहुँच गया। अतः रथ को रोककर श्रीजगन्नाथ दायें-बायें देखने लगे। वाम भाग में विप्रशासन अर्थात् ब्राह्मणों की पल्ली तथा नारियल का वन था और दक्षिण भाग में वृन्दावन जैसा सुन्दर पुष्पों का उद्यान था। रथ के आगे श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों के साथ नृत्य कर रहे थे और श्रीजगन्नाथ, रथ को रोककर नृत्य का दर्शन कर रहे थे।

अमृतप्रवाह भाष्य

१९३। 'बलगण्डि-स्थाने',—श्रद्धाबालु और अर्द्धासनी देवी के बीच के स्थान का नाम 'बलगण्डि' है।

अनुभाष्य

१९४। उड़ीसा में ब्राह्मणों की बस्ती को 'विप्र शासन' कहते हैं।

जगन्नाथ के द्वारा उत्तम भोगों का आस्वादन—

सेइ स्थले भोग लागे,—आछये नियम।
कोटि भोग जगन्नाथ करे आस्वादन॥१९६॥
जगन्नाथेर छोट-बड़, जत भक्तगण।
निज-निज उत्तम-भोग करे समर्पण॥१९७॥

१९६-१९७। प० अनु—उस स्थान पर श्रीजगन्नाथ को भोग लगाने का नियम है। वहाँ श्रीजगन्नाथ कोटि-कोटि भोगों का आस्वादन करते हैं। श्रीजगन्नाथ के जितने भी छोटे-बड़े भक्त हैं, अपने-अपने सामर्थ्यानुसार श्रीजगन्नाथ को उत्तम-उत्तम भोग समर्पित करते हैं।

छोटे-बड़े, प्रजा और राजा
सभी के द्वारा भोग सर्म्पण—

राजा, राजमहिषीवृन्द, पात्र, मित्रगण।
नीलाचलवासी जत छोट-बड़ जन॥१९८॥
नाना-देशेर देशी जत यात्रिक जन।
निज-निज-भोग तँाहा करे समर्पण॥१९९॥
आगे-पाछे, दुइ पार्श्वे उद्यानेर वने।
जेइ जाहा पाय, लागाय,—नाहिक नियमे॥२००॥

१९८-२००। प० अनु—उस स्थान पर स्वयं राजा, उनकी पत्नियाँ, उनके सेवक, उनके मित्रगण तथा नीलाचलवासी सभी छोटे-बड़े लोग और अनेक स्थानों से आये जितने भी यात्री थे, वे लोग अपना-अपना भोग लाकर श्रीजगन्नाथ को वहाँ समर्पित करते हैं। उस स्थान पर आगे-पीछे, दोनों ओर स्थित पुष्पों के उद्यानों में से जिसे जहाँ स्थान मिला उसने वहीं से जगन्नाथ को भोग लगाया।

भोग के समय लोगों का एकत्रित होना, विश्राम करने के लिये प्रभु का निकटस्थ उद्यान में जाना—

भोगेर समय लोकेर महा-भिड़ हैल।
नृत्य छाड़ि' महाप्रभु उपवने गेल॥२०१॥
प्रेमावेशे महाप्रभु उपवन पाञा।
पुष्पोद्याने गृहपिण्डाय रहिला पड़िया॥२०२॥

२०१-२०२। प० अनु—भोग के समय वहाँ लोगों की बहुत भीड़ हो गयी। इसलिये श्रीचैतन्य महाप्रभु नृत्य को छोड़कर उपवन में चले गये। प्रेमोवेश में श्रीचैतन्य महाप्रभु उपवन में जाकर एक पुष्प के उद्यान में बने घर के बरामदे में लेट गये।

शीतल वायु से परिश्रम दूर होना—

नृत्य-परिश्रमे प्रभुर देहे घन घर्म।
सुगन्धि शीतल-वायु करेन सेवन॥२०३॥

२०३। प० अनु०—नृत्य के परिश्रम के कारण श्रीचैतन्य महाप्रभु का शरीर पसीने से तर-बतर हो रहा था, इसलिये श्रीचैतन्य महाप्रभु उस उपवन में प्रवाहित हो रही सुगन्धित, शीतल वायु का सेवन करने लगे।

कीर्त्तनकारी गणों का
वृक्ष के नीचे विश्राम—

जत भक्त कीर्तनीया आसिया आराम।
प्रतिवृक्षतले सबे करेन विश्राम॥२०४॥

२०४। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ जितने भी कीर्त्तन करने वाले भक्त थे वे भी उस उपवन में क्रमशः प्रत्येक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

२०४। 'आराम',—उद्यान (उपवन, बागान)।

प्रभु का इसी
प्रकार महासङ्कीर्त्तन—

एइ त' कहिल प्रभुर महासंकीर्त्तन।
जगन्नाथेर आगे जैछे करिल नर्तन॥२०५॥

२०५। प० अनु०—(श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कह रहे हैं) यहाँ तक मैंने श्रीचैतन्य महाप्रभु के महासंकीर्त्तन का एवं उनके द्वारा श्रीजगन्नाथ के रथ के आगे नृत्य करने का वर्णन किया है।

श्रीरूप गोस्वामी के चैतन्याष्टक
में प्रभु के रथ के आगे नृत्य का वर्णन—

रथाग्रेते प्रभु जैछे करिला नर्तन।
श्रीचैतन्याष्टके रूप-गोसाञि करयाछे वर्णन॥२०६॥

२०६। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ के रथ के आगे श्रीचैतन्य महाप्रभु ने जिस प्रकार से नृत्य किया था, उसका श्रीरूप गोस्वामी ने स्वरचित श्रीचैतन्याष्टक में वर्णन किया है।

स्तवमाला में श्रीचैतन्यदेव के
प्रथम स्तव के सप्तम श्लोक में
श्रीरूप गोस्वामी के वाक्य—

रथारूढ़स्यारादधिपदवि नीलाचलपते-
रदभ्रप्रेमोर्मिस्फुरितनट्नोल्लासविवशः।
सहर्षं गायद्भिः परिवृत-तनुर्वैष्णवजनैः
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम्॥२०७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२०७। रथ पर आरुढ़ नीलाचल पति के सामने अधिक प्रेम के कारण उठने वाली लहरों के स्फुरित नाट्योल्लास से विवश होकर आनन्द पूर्वक सङ्कीर्त्तन करनेवाले एवं वैष्णवों के द्वारा जो घिरे हुए हैं, वे चैतन्यदेव क्या पुनः मेरे दृष्टिपथ पर आयेंगे?

त्रयोदश परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

अनुभाष्य

२०७। श्रीरूप गोस्वामी ने तीन 'श्रीचैतन्याष्टकों' की रचना की है, उनमें से प्रथम अष्टक का सप्तम श्लोक—

रथारुढ़स्य (रथोपरि स्थितस्य) नीलाचलपतेः (जगन्नाथ देवस्य) आरात् (समीपे) अधिपदवि (प्रधान पथे) अभद्र प्रेमोर्मिस्फुरितनटनोल्लासविवशः (अदभ्रेण अधिकेन प्रेमोर्मिना प्रेमतरङ्गेण स्फुरितः प्रतिबिम्बितः

यः नटनोल्लासः नर्तन विलास-हर्षः, तेन विवशः श्रम-विह्वलः) सहर्ष (सानन्दे) गायद्भिः (कीर्त्तनपरैः) वैष्णव-जनैः (भक्तवृन्दैः) परिवृत्त तनुः (वेष्टित विग्रहः एवम्भूतः) सः चैतन्यः (गौरचन्द्रः) पुनरपि किं मे (मम) दृशोः पदं (नयन पथे) यास्यति (प्राप्स्यति) ?

श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती त्रिदण्डिपाद ने स्वकृत 'श्रीराधारससुधानिधि' में भी—"निन्दन्तं पुलकोत्करेण विकसन्नीपप्रसूनच्छवि प्रोधर्वीकृत्य भुजद्वयं हरि हरित्यु-च्चैर्वदन्तं मुहुः। नृत्यन्तं द्रुतमश्रुनिर्झरचयैः सिञ्चन्त-मूर्वीतलं गायद्भिर्निजपार्षदैः परिवृत्तं श्रीगौरचन्द्रं स्तुमः॥" सर्षापद श्रीश्रीगौर हरि के कीर्त्तन-नृत्य आदि की शोभा का वर्णन किया है।

त्रयोदश परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

श्रीचैतन्य महाप्रभु के रथ के आगे नृत्य श्रवण करने से चैतन्य के प्रेम भक्ति की प्राप्ति—

इहा जेइ शुने, सेइ श्रीचैतन्य पाय।
सुदृढ़ विश्वास-सह प्रेमभक्ति हय॥२०८॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे जार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥२०९॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्यखण्ड में रथ के आगे नृत्य नामक त्रयोदश परिच्छेद समाप्त।

२०८-२०९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की इन लीलाओं को जो व्यक्ति सुनेगा उसे श्रीचैतन्य महाप्रभु की प्राप्ति होगी और सुदृढ़ विश्वास के साथ प्रेम भक्ति प्राप्त होगी। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

❋ ❋ ❋

चतुर्दश परिच्छेद

कथासार—बलगण्डि-उद्यान में प्रभु का प्रेमावेश होने पर राजा प्रतापरुद्र देव वैष्णव वेश धारण करके अकेले ही भागवत के श्लाकों का पाठ करते-करते प्रभु के चरणों को दबाने लगे। प्रेमावेश में प्रभु ने उन्हें आलिङ्गन प्रदान करके कृपा की। भक्तों के साथ महाप्रभु ने बलगण्डि-भोग का प्रसाद सेवन किया। उसके बाद रथ के न चलने पर, राजा ने अनेक मतवाले हाथियों को लगाया परन्तु फिर भी रथ न चला पाये। महाप्रभु ने स्वयं अपने सिर से रथ को धकेलकर उसे चलाया; भक्तगण उस समय रस्सी खींचने लगे। गुण्डिचा के निकट आइटोटा में महाप्रभु का विश्राम स्थान हुआ। जगन्नाथ के सुन्दराचल में वास करने पर महाप्रभु को वृन्दावन की लीला की स्फूर्त्ति हो आई। इन्द्रद्युम्न सरोवर में प्रभु की अपने भक्तों सहित जल-केलि क्रीड़ा हुई। नौ रात की यात्रा में महाप्रभु की जगन्नाथ वल्लभ उद्यान में अवस्थिति एवं पञ्चमी के दिन 'हेरा-पञ्चमी' लीला के दर्शन में (श्रीस्वरूप दामोदर के साथ श्रीवास पण्डित में) लक्ष्मी और गोपियों के स्वभाव को लेकर अनेक कथोपकथन हुआ। श्रीस्वरूप के मुख से राधिका के भाव की सर्वोत्कर्षता के विषय में सुनकर महाप्रभु ने परमानन्द प्राप्त किया। पुनर्यात्रा के समय कीर्त्तन आदि होने पर कुलीन ग्राम निवासी रामानन्द बसु और सत्यराज खाँ को प्रत्येक वर्ष (श्रीजगन्नाथजी के रथ के लिये) 'पट्टडोरी' लाने के लिये श्रीमन्महाप्रभु ने आज्ञा दी।

(अ: प्र: भा:)

'हेरा-पञ्चमी' के दर्शन में नृत्य करते हुये श्रीगौरसुन्दर—

गौरः पश्यन्नात्मवृन्दैः श्रीलक्ष्मीविजयोत्सवम्
श्रुत्वा गोपीरसोल्लासं हृष्टः प्रेम्णा ननर्त्त सः॥१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१। अपने भक्तों सहित लक्ष्मीदेवी के विजयोत्सव का दर्शन करके एवं गोपियों के रासोल्लास के विषय में श्रवण करके हृष्टचित्त अर्थात् अत्यधिक प्रसन्न होकर गौरचन्द्र ने नृत्य किया था।

अनुभाष्य

१। सः गौरः आत्मवृन्दैः (स्वपार्षदगणैः) श्रीलक्ष्मी-विजयोत्सवं पश्यन् गोपीरसोल्लासं (गोपीनां पारकीय-रसातिशय्य) श्रुत्वा हृष्टः सन् प्रेमणा (परमया प्रीत्या) ननर्त्त।

जय जय गौरचन्द्र श्रीकृष्णचैतन्य।
जय जय नित्यानन्द जयाद्वैत धन्य॥२॥
जय जय श्रीवासादि गौरभक्तगण।
जय श्रोतागण,—जाँर गौर प्राणधन॥३॥

२-३। प॰ अनु॰—श्रीगौरचन्द्र श्रीकृष्णचैतन्य की जय हो, जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभु की जय हो, जय हो और भाग्यवान श्रीअद्वैताचार्य प्रभु की जय हो। श्रीवासादि गौरभक्तों की जय हो, जय हो तथा इस ग्रन्थ के श्रोतागण की जय हो जिनके प्राणधन श्रीगौरचन्द्र हैं।

प्रभु के विश्राम के
समय राजा का प्रवेश—

एइमत प्रभु आछेन प्रेमेर आवेशे।
हेनकाले प्रतापरुद्र करिल प्रवेशे॥४॥

४। प॰ अनु॰—इस प्रकार जब श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रेम के आवेश में पुष्पोद्यान में विश्राम कर रहे थे, उसी समय राजा प्रतापरुद्र ने भी पुष्पोद्यान में प्रवेश किया।

दीन वैष्णव के वेश में सभी वैष्णवों की आज्ञा
लेकर अश्रु भरे नेत्रों से प्रभु का पाद-सम्वाहन—

सार्वभौम-उपदेशे छाड़ि' राजवेश।
एकला वैष्णव-वेशे करिल प्रवेश॥५॥
सब-भक्तेर आज्ञा निल जोड़-हात हइञा।
प्रभु-पद धरि' पड़े साहस करिया॥६॥
आँखि मुँदि' प्रेमे प्रभु भूमिते श्यान।
नृपति नैपुण्ये करे पाद-सम्वाहन॥७॥

५-७। प० अनु०—श्रीसार्वभौम के उपदेश से राजा प्रतापरुद्र ने अपने राजवेश को छोड़कर वैष्णव वेश को धारण किया और अकेले ही पुष्पोद्यान में प्रवेश किया। वहाँ उपस्थित सभी भक्तों से हाथ जोड़कर आज्ञा लेकर राजा ने बड़े साहस से श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणों को पकड़ लिया। आँखों को बन्द करके श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रेमावेश में भूमि पर शयन कर रहे थे और राजा बड़ी निपुणता से प्रभु के चरणों को दबाने लगा।

राजा के द्वारा गोपी-गीत को पढ़ना—

रासलीलार श्लोक पड़ि' करेन स्तवन।
"जयति तेऽधिकं" अध्याय करेन पठन॥८॥

८। प० अनु०—राजा प्रतापरुद्र श्रीमद्भागवत में वर्णित रास लीला प्रसंग के श्लोकों को पढ़कर स्तव करने लगे तथा क्रमशः वे "जयति तेऽधिकं" अध्याय का पाठ करने लगे।

अमृतप्रवाह भाष्य

८। "जयति तेऽधिकं" अध्याय,—रासपञ्चाध्याय के बीच में "गोपीगीत"—दशम स्कन्ध का ३१ वाँ अध्याय।

प्रभु का सन्तोष और
सुनने का आग्रह—

शुनिते शुनिते प्रभुर सन्तोष अपार।
'बल, बल' बलि' प्रभु बले बार बार॥९॥

९। प० अनु०—सुनते-सुनते श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपार सन्तुष्टि हुई और वे बार-बार 'बोलो बोलो' कहने लगे।

प्रेमाविष्ट प्रभु का राजा को आलिङ्गन—

"तव कथामृतं" श्लोक राजा जे पड़िल।
उठि' प्रभु प्रेमावेशे आलिङ्गन कैल॥१०॥

१०। प० अनु०—जैसे ही राजा प्रतापरुद्र ने "तव कथामृतं" श्लोक का उच्चारण किया, तभी श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उठकर प्रेमावेश में राजा का आलिङ्गन किया।

स्वयं को प्रचुर लाभान्वित जान
राजा के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन—

तुमि मोरे दिले बहु अमूल्य-रतन।
मोर किछु दिते नाहि' दिलुँ आलिङ्गन॥११॥

११। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भाव विभोर होकर राजा प्रतापरुद्र से कहा—"तुमने (इन श्लोकों का उच्चारण करके) मुझे बहुत अमूल्य रत्न प्रदान किये है इसके बदले में मेरे पास तुम्हें देने के लिये और कुछ नहीं है, इसलिये मैंने तुम्हें आलिङ्गन प्रदान किया है।"

दोनों में अश्रु और कम्प—

एत बलि' सेइ श्लोक पड़े बार बार।
दुइजनार अङ्गे कम्प, नेत्रे जलधार॥१२॥

१२। प० अनु०—इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु उस श्लोक का बार-बार उच्चारण करने लगे। दोनों के अङ्गों में कम्पन तथा नेत्रों से जल की धारा बह रही थी।

भगवान् के कथा रूपी अमृत को
वितरण करने वाला ही सर्वश्रेष्ठ दाता—
(श्रीमद्भागवत १०/३१/९)

तव कथामृतं तप्तजीवनं,
कविभिरीड़ितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥१३॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१३। हे प्रिय, बहुत जन्मों की बहुत सी सुकृतियाँ करने वाले व्यक्ति जगत में आकर, तुम्हारे प्रेम में सन्तप्त व्यक्तियों के जीवन स्वरूप, कवियों के सङ्गीत, कल्मष

का नाश करने वाली, श्रवण मङ्गल, सर्वोत्कृष्ट, सर्व-व्यापक तुम्हारे कथामृत का गान करते हैं।

अनुभाष्य

१३। रासलीला के समय श्रीकृष्ण के अचानक अन्तर्धान होने पर कृष्णैकप्राणा (कृष्णमयी) गोपियाँ कृष्ण के विरह में अत्यन्त कातर होकर तन्मय चित्त से रास लीला के स्थान से यमुना के तट पर आकर इन सब गीतों द्वारा कृष्ण का विविध गुणगान कर रही हैं—

ये जनाः भुवि (संसारे) तप्त जीवनं (विरह तापक्लि-ष्टानां प्राण स्वरूप) कविभिः (कृष्णरसविद्भिः) ईड़ितम् (आराधित) कल्मषापहं (विरहज्वरदुःखविनाशक) श्रवण मङ्गलं (कर्ण रसायन) श्रीमत् (सर्वशक्तिसमन्वित) तव (हरेः) कथामृतं (सुधात्मिकां कथाम्) आततं (विस्तृत) गृणन्ति (कीर्त्तयन्ति) ते (एव) जनाः भूरिदाः (वदान्य वराः)।

अनजाने में राजा को आलिङ्गन—

'भूरिदा' 'भूरिदा' बलि' करे आलिङ्गन।
इँहो नाहि जाने,—इँहो हय कोन जन॥१४॥

१४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु राजा प्रतापरुद्र को 'भूरिदा' 'भूरिदा' अर्थात् वदान्यों में सर्वोत्तम कहकर उनका आलिङ्गन करने लगे, परन्तु वे यह नहीं जानते थे कि ये कौन हैं।

अनुभाष्य

१४। पहले वाले 'इँहो' शब्द से महाप्रभु तथा बाद वाले 'इँहो' शब्द से राजा प्रतापरुद्र समझना चाहिए।

राजा की पहले की हुई सेवा को देखते हुये प्रभु द्वारा कृपा—

पूर्व-सेवा देखि' ताँरे कृपा उपजिल।
अनुसन्धान-बिना कृपा-प्रसाद करिल॥१५॥

१५। प० अनु०—पहले राजा प्रतापरुद्र के द्वारा श्रीजगन्नाथ के रथ के आगे की हुई झाड़ू सेवा को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु की उनके प्रति कृपा उत्पन्न हुयी थी। इसलिये अब अनुसन्धान-बिना अर्थात् बिना किसी जाँच-पड़ताल के ही उन्होंने राजा को कृपा रूपी प्रसाद प्रदान किया।

चैतन्य की कृपा में अधिकार
विचार अथवा हेतु नहीं—

एइ देख,—चैतन्येर कृपा महाबल।
तार अनुसन्धान बिना कराय सफल॥१६॥

१६। प० अनु०—यह देखिये! श्रीचैतन्य महाप्रभु की कृपा कैसे अत्यधिक बलशाली है, जिसने श्रीचैतन्य महाप्रभु के अनुसन्धान के बिना ही राजा प्रतापरुद्र का जीवन सफल कर दिया।

प्रेमावेश में राजा के
परिचय की जिज्ञासा—

प्रभु बले,—के तुमि करिला मोर हित?
आचम्बिते आसि' पियाउ कृष्णलीलामृत?१७॥

१७। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु राजा प्रतापरुद्र से कहने लगे,—"तुम कौन हो जो मेरा इतना हित कर रहे हो, अचानक आकर मुझे कृष्णलीला रूपी अमृत का पान करा रहे हो?"

राजा के द्वारा 'कृष्णदासानुदास'
कहकर अपना परिचय देना—

राजा कहे,—आमि तोमार दासेर दास।
भृत्येर भृत्य कर,—एइ मोर आश॥१८॥

१८। प० अनु०—राजा प्रतापरुद्र ने कहा—"मैं आपके दासों का दास हूँ मेरी यही अभिलाषा है कि आप मुझे अपने दासों का दास बना लीजिए।"

प्रभु द्वारा राजा को अपना ऐश्वर्य दिखाना—

तबे महाप्रभु ताँरे ऐश्वर्य देखाइल।
'कारेह ना कहिबे' एइ निषेध करिल॥१९॥

१९। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने राजा को अपना ऐश्वर्य दिखलाया। 'इसे किसी से मत कहना' कहकर निषेध किया।

सर्वान्तर्यामी प्रभु का बाह्य-दशा में भावावेश में राजा के दर्शन की घटना अप्रकाशित—

'राजा'—हेन ज्ञान कभु ना कैल प्रकाश।
अन्तरे सकल जानेन, बाहिरे उदास॥२०॥

२०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने राजा को यह नहीं जानने दिया कि वे जान चुके हैं कि उनके सामने राजा ही हैं। अन्तर में सब जानने पर भी श्रीचैतन्य महाप्रभु बाहर से उदासीनता ही प्रकाशित कर रहे थे।

भक्तों के द्वारा राजा के भाग्य की प्रशंसा—

प्रतापरुद्रेर भाग्य देखि' भक्तगणे।
राजारे प्रशंसे सबे आनन्दित-मने॥२१॥

२१। प० अनु०—राजा प्रतापरुद्र के सौभाग्य को देखकर सभी भक्त आनन्दित-मन से राजा की प्रशंसा कर रहे थे।

प्रभु और भक्तों की वन्दना करके राजा का प्रस्थान—

दण्डवत करि' राजा बाहिरे चलिला।
जोड़ हस्त करि' सब भक्तेरे वन्दिला॥२२॥

२२। प० अनु०—राजा प्रतापरुद्र श्रीचैतन्य महाप्रभु को दण्डवत प्रणाम करके बाहर चले आये और हाथ जोड़कर उन्होंने सभी भक्तों की वन्दना की।

सभी के द्वारा मध्याह्न स्नानादि करने के बाद वाणीनाथ द्वारा प्रचुर प्रसाद लाना—

मध्याह्न करिला प्रभु लञा भक्तगण।
वाणीनाथ प्रसाद लञा कैल आगमन॥२३॥
सार्वभौम-रामानन्द वाणीनाथे दिया।
प्रसाद पाठाल राजा बहुत करिया॥२४॥

२३-२४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भक्तों को अपने साथ लेकर अपनी मध्याह्निक क्रियाओं को सम्पन्न किया और उसी समय श्रीवाणीनाथ प्रसाद लेकर आ गये। राजा प्रतापरुद्र ने श्रीसार्वभौम, श्रीरामानन्द राय और श्रीवाणीनाथ के द्वारा बहुत प्रसाद भिजवा दिया।

विचित्र प्रसाद—

'बलगण्डि भोगे'र प्रसाद—उत्तम, अनन्त।
'नि-सकड़ि' प्रसाद आइल, जार नाहि अन्त॥२५॥
छाना, पाना, पैड़, आम्र, नारिकेल, काँठाल।
नानाविध कदली, आर बीज-ताल॥२६॥
नारङ्ग, छोलङ्ग, टावा, कमला, बीजपूर।
बादाम, छोहारा, द्राक्षा, पिण्डखजुर॥२७॥
मनोहरा, लाडु, आदि शतेक प्रकार।
अमृतगुटिका-आदि, क्षीरसा अपार॥२८॥
अमृतमण्डा, सरवती, आर कुमड़ा-कुरी।
सरामृत सरभाजा, आर सरपुरी॥२९॥
हरिवल्लभ, सेंउति, कर्पूर, मालती।
डालि-मरिच-लाडु, नवात, अमृति॥३०॥
पद्मचिनि, चन्द्रकान्ति, खाजा, खण्डसार।
वियरि, कद्मा, तिलाखाजार प्रकार॥३१॥
नारङ्ग-छोलङ्ग-आम्र-वृक्षेर आकार।
फूल-फल-पत्रयुक्त खण्डेर विकार॥३२॥
दधि-दुग्ध, ननी, तक्र, रसाला, शिखरिणी।
स-लवण मुदगान्कुंर, आदा खानि खानि॥३३
लेम्बु-कूल-आदि नाना-प्रकार आचार।
लिखिते ना पारि प्रसाद कतेक प्रकार॥३४॥

२५-३४। प० अनु०—बलगण्डि पर जो भोग लगता है वह प्रसाद उत्तम और परिमाण में अनन्त होता है। राजा ने कितना निसकड़ि प्रसाद भेजा उसका कोई अन्त नहीं था। उस प्रसाद में छैना, पाना, डाब (पानी वाला नारियल), आम, नारियल, कठहल, अनेक प्रकार के केले और बीजताल (कच्चे ताल के बीज), नारङ्ग, छोलङ्ग, टावा और कमला आदि अनेक प्रकार के नींबू जातीय फल, अनार, बादाम, छोहारा, काला अंगूर, पिण्डखजुर, मनोहर आदि सौ प्रकार के लड्डू, अमृत-गुटिका आदि, अपार खीर, अमृतमण्डा (पपीता), सरवती (मौसमी), कुमड़ा-कुरी (पेठे की मिठाई), सरामृत (मलाई लड्डू), सरभाजा (मलाई को घी में भूनकर बनाई गयी मिठाई) और सरपुरी (मलाई का पुर

देकर खोये से बनी मिठाई), हरिवल्लभ (घी में बनाई गई रोटी), सेंउति (गुलकन्द), कर्पूर (पीले मीठे चावल), मालती, डालिमरिच (मूँग दाल) के लड्डू, नवात (एक प्रकार की मिठाई), इमरती, पद्मचिनि, चन्द्रकान्ति, खाजा, खण्डसार (गुड़ की मिठाई), वियरि (वियन धान के चावल को भूनकर गुड़ में मिलाकर बनी मिठाई), कद्मा (पीसे हुये तण्डुल की मिठाई), तिलखाजार (तिल की गजक), गुड़ से बने फूल, फल तथा पत्तों से युक्त संतरा, मौसमी, आम आदि के वृक्ष के आकार के बने खिलौनों जैसी) मिठाई, दही, दूध, माखन, छाछ, शिंकजी, शिखरिणी (चीनी, शहद, कर्पूर इत्यादि को मिलाकर बनाया गया शर्बत), अंकुरित मूँग की नमकीन दाल, अदरक के टुकड़े, नीबूँ तथा बेर आदि से बने अनेक प्रकार के आचार थे। कितनी तरह का प्रसाद था, मैं उसका लिखकर वर्णन नहीं कर सकता।

अमृतप्रवाह भाष्य

२५। नि-सकड़ि—दही, दूध, फल, मूल आदि जो सकड़ि (चावल, दाल) नहीं है।

२६। पैड़—डाब (हरा नारियल)

३२। चीनी में बनाया गया 'नारङ्ग', 'छोलङ्ग', 'टावा', 'कमला' आदि नींबू और आम के वृक्ष का आकार ('खिलौना' अर्थात् खिलौनों जैसी मिठाई)।

अनुभाष्य

२६-३४। ग्रन्थकार का कृष्ण-नैवेद्य (भोग) विचित्रता-विषयक ज्ञान प्रकाशित हो रहा है।

२६। बीजताल,—कच्चे ताल का फल।

२७। संतरा आदि सभी नींबू जाति के फल है; बीजपूर,—अनार अथवा टाबानेबू (?); छोहारा,—छुआरा (सूखा खजूर); द्राक्षा,—अंगूर।

२८। मनोहरा,—एक विशेष प्रकार की बनी मिठाई, जिसे संदेश कहते हैं; क्षीरसा—पूर्व बङ्गाल में चलती भाषा में 'क्षीर अर्थात् दूध' (घने दूध) को ही क्षीरसा कहते हैं।

२९। पाठन्तर में अमृतभण्डा',—पपीता; सरबती,—बहुत अच्छा एक विशेष प्रकार का नींबू; सरभाजा और सरपुरी—नदीया जिले के कृष्णनगर अञ्चल में विशेष रूप से बनाया जाने वाला (मिठाई)।

३०। हरिवल्लभ,—घी में बनाई गई विशेष प्रकार की रोटी, सेउँति—सुगन्धित पुष्प; कर्पूर,—विशेष पुष्प (?), डालमरिच-लाडु—मूँग की दाल का बना लड्डु (?) नवात,—चीनी के रस में पक्का मिष्ठान्न-द्रव्य विशेष; अमृति,—'जलेबी'—जैसा घी में पक्का मिष्ठान्न।

३१। चन्द्रकान्ति,—उड़द की दाल की बनी चन्द्राकार की फूल बड़ी; वियड़ि—विरण धान के चावल को भूनकर बनाये गये (मिठाई के टुकड़े); कद्मा,—चावलों को पीसकर चीनी के रस में बनाया गया बहुत कठोर अति प्रसिद्ध मिष्ठान्न; तिले खाजा,—खाजा के साथ घी में भूने हुये तिल से बना मिष्ठान्न।

अनुभाष्य

३३। तक्र,—मट्ठा; रसाला—शरबत, पाना; खानि-खानि,—छोटे-छोटे टुकड़े।

अनुभाष्य

३४। नींबू का आचार और बेर का आचार; पूर्व बङ्गाल में चलती भाषा में 'नींबू' (नींबू) को लेमू कहते हैं।

प्रसाद के पात्रों से बहुत स्थानों का घिर जाना—

प्रसाद पूरित हैल अर्द्ध उपवन।
देखिया सन्तोष हइल महाप्रभुर मन॥३५॥

३५। प॰ अनु॰—वह उपवन तो आधा प्रसाद से ही भर गया। जिसे देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का मन बहुत सन्तुष्ट हुआ।

जगन्नाथ की तृप्ति के स्मरण से प्रभु को हर्ष—

एइमत जगन्नाथ करेन भोजन।
एइ सुखे महाप्रभुर जुड़ाय नयन॥३६॥
केया-पत्र-द्रोणी आइल बोझा पाँच-सात।
एक एक जने दश दोना दिल,—एत पात॥३७॥

३६-३७। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ ने ऐसी सुन्दर वस्तुओं का भोजन किया है इसी सुख में ही श्रीचैतन्य महाप्रभु के नेत्र शीतल हो रहे हैं। राजा ने पाँच-सात बोरियाँ भरकर केतकी वृक्ष के पत्ते और दोने भिजवा दिये। एक-एक भक्त के आगे दस-दस दोने और एक-एक पत्ता रखा गया।

अनुभाष्य

३७। केयापत्र-द्रोणी,—केतकी वृक्ष के पत्ते से बना दोना; दोना, (साल के पत्ते का बना हुआ) दोना।

कीर्त्तन करते-करते थक गये भक्तों की स्वयं भगवान् द्वारा ही सेवा—

कीर्त्तनीया परिश्रम जानि' गौरराय।
ताँ-सबारे खाउयाइते प्रभुर मन धाय॥३८॥

३८। प० अनु०—कीर्त्तनीयाओं के परिश्रम को जानकर श्रीगौरराय का मन उन्हें खूब खिलाने के लिये धावित हो रहा था।

प्रभु स्वयं परिवेशन करने वाले—

पाँति पाँति करि' भक्तगणे बसाइला।
परिवेशन करिबारे आपने लागिला॥३९॥

३९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सभी भक्तों को पंक्ति बनाकर बैठा दिया और प्रसाद का परिवेशन करने के लिये वे स्वयं लग गये।

अनुभाष्य

३९। पाँति,—पंक्ति बनाकर।

प्रभु के द्वारा भोजन न करने से सभी की भोजन करने में अरुचि—

प्रभु ना खाइले, केह ना करे भोजन।
स्वरूप-गोसाञि तबे कैल निवेदन॥४०॥

४०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के भोजन न करने से कोई भी भोजन नहीं कर रहा था। ऐसा देखकर श्रीस्वरूप दामोदर ने श्रीचैतन्य महाप्रभु से निवेदन किया।

भक्तों का पक्ष लेकर स्वरूप की प्रार्थना—

आपने वैस, प्रभु, भोजन करिते।
तुमि ना खाइले, केह ना पारे खाइते॥४१॥

४१। प० अनु०—(श्रीस्वरूप दामोदर ने कहा—) "प्रभो! आप भोजन करने के लिये बैठिये। जब तक आप भोजन नहीं करेंगे तब तक कोई भी प्रसाद ग्रहण नहीं कर सकता।

प्रभु के द्वारा प्रसाद सेवन—

तबे महाप्रभु बैसे निजगण लञा।
भोजन कराइल सबाके आकण्ठ पूरिया॥४२॥

४२। प० अनु—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों के साथ भोजन करने के लिये बैठ गये और उन्होंने सभी भक्तों को कण्ठ तक भरकर भोजन कराया।

भोजन के बाद में आचमन, बहुत लोगों को भी अतिरिक्त प्रसाद की प्राप्ति—

भोजन करि' बसिला प्रभु करि' आचमन।
प्रसाद उवरिल, खाय सहस्रेक जन॥४३॥

४३। प० अनु०—भोजन करने के पश्चात जब श्रीचैतन्य महाप्रभु आचमन करके बैठ गये तो उन्होंने देखा कि इतना प्रसाद बच गया है कि अभी और भी एक हजार व्यक्ति भोजन कर सकते हैं।

अनुभाष्य

४३। उवरिल,—अतिरिक्त (अधिक) हुआ।

दीन-दुःखी और कङ्गालों को प्रभु की कृपा से प्रसाद की प्राप्ति—

प्रभुर आज्ञाय गोविन्द दीन-हीन जने।
दुःखी काङ्गाल आनि' कराय भोजने॥४४॥

४४। प० अनु—श्रीचैतन्य महाप्रभु की आज्ञा से श्रीगोविन्द ने दीन-हीन, दुःखी तथा कङ्गाल लोगों को बुलाकर उन्हें भोजन कराया।

गौरहरि के द्वारा कङ्गालों को भोजन करते
हुये देखना और कीर्त्तन करने का उपदेश—

काङ्गालेर भोजन-रङ्ग देखे गौरहरि।
'हरिबोल' बलि' तारे उपदेश करि॥४५॥

४५। प० अनु०—श्रीगौरहरि ने काङ्गालों को जब भोजन करते हुये देखा तो उन्होंने उन्हें 'हरि बोल' बोलने का उपदेश प्रदान किया।

काङ्गालों को हरिभक्ति की प्राप्ति—

'हरिबोल' बलि' काङ्गाल प्रेमे भासि' जाय।
ऐछन अद्भुत लीला करे गौरराय॥४६॥

४६। प० अनु—'हरिबोल' बोलकर काङ्गाल व्यक्ति भी प्रेम में डूबे जा रहे थे। श्रीगौरराय ऐसी अद्भुत लीला करते हैं।

रथ का संचालन करने में गौर भक्तों का असमार्थ्य—

इँहा जगन्नाथेर रथ-चलन-समय।
गौड़ सब रथ टाने, आगे नाहि जाय॥४७॥

४७। प० अनु—इधर जब श्रीजगन्नाथ के रथ के चलने का समय हुआ, तो तब गौड़देश से आये भक्तों ने रथ खींचना आरम्भ किया। परन्तु रथ आगे नहीं जा रहा था।

सपरिकर राजा की व्यस्त भाव से उपस्थिति—

टानिते ना पारे गौड़, रथ छाडि' दिल।
पात्र-मित्र लञा राजा व्यग्र हञा आइल॥४८॥

४८। प० अनु—गौड़ भक्त जब रथ को चला नहीं पाये तो उन्होंने रथ को खींचने वाली रस्सी छोड़ दी। इस विषय में सुनकर राजा व्याकुल होकर अपने सेवकों और मित्रों को साथ लेकर आये।

बड़े-बड़े पहलवानों का रथ को संचालन करने में असमार्थ्य—

महामल्लगणे दिल रथ चालाइते।
आपने लागिला रथ, ना पारे टानिते॥४९॥

व्यग्र हञा आने राजा मत-हातीगण।
रथ चालाइते रथे करिल योजन॥५०॥
मत-हस्तिगण टाने, जत तार बल।
एक पद ना चले रथ, हइल अचल॥५१॥

४९-५१। प० अनु०—राजा ने अपने बलवान् पहलवानों के द्वारा रथ को खींचवाया तथा स्वयं भी प्रयास करने लगे परन्तु वे भी रथ को न खींच सके। अत्यन्त व्याकुल होकर राजा ने अपने मतवाले हाथियों को बुलवाया और उन्हें रथ के साथ जोत दिया। मतवाले हाथियों ने भी अपना सम्पूर्ण बल लगा दिया परन्तु रथ स्थिर ही रहा एक पग भी आगे न बढ़ा।

सपरिकर प्रभु का रथ को खींचने की चेष्टा का दर्शन—

शुनि' महाप्रभु आइला निजगण लञा।
मतहस्ति रथ टाने,—देखे दण्डाञा॥५२॥

५२। प० अनु—यह सब सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों को साथ लेकर वहाँ आ गये और खड़े होकर मतवाले हाथियों को रथ को खींचते हुये देखने लगे।

हाथियों के द्वारा भी रथ को
चलता न देख सबका हाहाकार—

अंकुशेर घाय हस्ती करये चित्कार।
रथ नाहि चले, लोक करे हाहाकार॥५३॥

५३। प० अनु—हाथियों को संचालन करने वाले महावत के द्वारा हाथियों को अंकुश से घायल किये जाने पर भी हाथी चिंघाड़ने लगे परन्तु रथ फिर भी न हिला, यह सब देखकर लोग भी हा-हाकार करने लगे।

अपने भक्तों को रथ खींचने में नियुक्त करना—

तबे महाप्रभु सब हस्ति घुचाइल।
निजगणे रथ-काछि टानिबारे दिल॥५४॥

५४। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सभी हाथियों को हटवा दिया और उन्होंने अपने भक्तों के हाथों में रथ को खींचने की रस्सी को पकड़ा दिया।

प्रभु के द्वारा रथ के साथ अपने मस्तक
को स्पर्श करने मात्र से रथ का चलना—

आपने रथेर पाछे ठेले माथा दिया।
हड़ हड़ करि' रथ चलिल धाइञा॥५५॥

५५। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं रथ के पीछे जाकर अपने मस्तक से रथ को धक्का देने लगे जिससे रथ हड़ हड़ शब्द करता हुआ बहुत तेजी से चलने लगा।

अनायास ही रथ का चलना—

भक्तगण काछि हाते करि' मात्र धाय।
आपने चलिल रथ, टानिते ना पाय॥५६॥

५६। प० अनु०—भक्त केवल रस्सी को हाथ में लेकर ही दौड़ रहे थे [अर्थात् रथ की रस्सी खींचने में उन्हें बिल्कुल भी प्रयास नहीं करना पड़ा] रथ तो अपने आप ही चल रहा था, भक्तों का तो रथ को खींचने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो रहा था। रथ तो बिना खींचे ही अपने आप चलने लगा।

हर्षवशतः सभी के द्वारा जयध्वनि—

आनन्दे करये लोक 'जय' 'जय'—ध्वनि।
'जय जगन्नाथ' वइ आर नाहि शुनि॥५७॥

५७। प० अनु०—रथ को चलते हुए देख लोग आनन्द में 'जय' 'जय' की ध्वनि करने लगे। 'जय जगन्नाथ ' के अतिरिक्त और कुछ भी सुनाई नहीं दे रहा था।

प्रभु के प्रभाव से रथ
का गुण्डिचा पहुँचना—

निमेषे त' गेल रथ गुण्डिचार द्वार।
चैतन्य-प्रताप देखि' लोके चमत्कार॥५८॥

५८। प० अनु०—एक निमेष अर्थात् बहुत कम समय में ही श्रीजगन्नाथ का रथ गुण्डिचा मन्दिर के द्वार पर पहुँच गया। श्रीचैतन्य महाप्रभु के ऐसे प्रताप को देखकर सभी लोग चमत्करित हो उठे।

लोगों के द्वारा प्रभु की जयध्वनि—

'जय गौरचन्द्र', 'जय श्रीकृष्णचैतन्य'।
एइमत कोलाहल लोके करे धन्य॥५९॥

५९। प० अनु०—'जय गौरचन्द्र' 'जय श्रीकृष्ण-चैतन्य' का तुमुलनाद लोगों को अतिधन्य कर रहा था।

प्रभु की महिमा का दर्शन करने से राजा को प्रेमावेश—

देखिया प्रतापरुद्र पात्र-मित्र-सङ्गे।
प्रभुर महिमा देखि' प्रेमे फुले अङ्गे॥६०॥

६०। प० अनु०—राजा प्रतापरुद्र अपने सेवकों एवं मित्रों के साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु की महिमा का दर्शन कर प्रेम से फूले नहीं समा रहे थे।

जगन्नाथ का पाहाण्डि—

पाण्डुविजय तबे करे सेवकगणे।
जगन्नाथ बसिला गिया निज-सिंहासने॥६१॥

६१। प० अनु०—तब श्रीजगन्नाथ के सेवकों ने श्रीजगन्नाथ को पाण्डुविजय कराया (अर्थात् उन्हें रथ से नीचे उतारा) और श्रीजगन्नाथ गुण्डिचा मन्दिर में स्थित अपने सिंहासन पर जाकर बैठ गये।

सुभद्रा और बलराम का पाहाण्डि,
जगन्नाथ का स्नानभोग—

सुभद्रा-बलराम निज-सिंहासने आइला।
जगन्नाथेर स्नानभोग हइते लागिला॥६२॥

६२। प० अनु०—तब श्रीसुभद्रा एवं श्रीबलराम भी अपने सिंहासन पर आकर विराजमान हुये और श्रीजगन्नाथ का स्नान भोगादि होने लगा।

आङ्गन में प्रभु का अपने भक्तों के साथ कीर्त्तन—

आङ्गिनाते महाप्रभु लञा भक्तगण।
आनन्दे आरम्भ कैल नर्त्तन-कीर्त्तन॥६३॥

६३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मन्दिर के आङ्गन में अपने भक्तों के साथ आनन्दपूर्वक नृत्य-कीर्त्तन करना आरम्भ किया।

प्रभु के प्रेम में सभी पागल—

आनन्दे महाप्रभु प्रेम उथलिल।
देखि' सब लोक प्रेम-सागरे भासिल॥६४॥

६४। प० अनु०—आनन्द में श्रीचैतन्य महाप्रभु में प्रेम प्रकाशित हो आया जिसे देखकर सब लोग प्रेम के सागर में तैरने लगे।

सन्ध्या आरति का दर्शन और आइटोटा में विश्राम—

नृत्य करि' सन्ध्याकाले आरति देखिल।
आइटोटा आसि' प्रभु विश्राम करिल॥६५॥

६५। प० अनु०—नृत्य करने के उपरान्त श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीजगन्नाथ की सन्ध्या आरती का दर्शन किया और आईटोटा नामक उद्यान में जाकर प्रभु ने विश्राम किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

६५। आइटोटा,—गुण्डिचा मन्दिर के निकट एक उद्यान।

अद्वैतादि नौ भक्तों के द्वारा नौ रात की यात्रा के नौ दिन तक प्रभु को निमन्त्रण—

अद्वैतादि भक्तगण निमन्त्रण कैल।
मुख्य मुख्य नव जन नव दिन पाइल॥६६॥

६६। प० अनु०—तब श्रीअद्वैतादि भक्तों ने जाकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को भोजन के लिये निमन्त्रण किया और इस प्रकार मुख्य-मुख्य नौ भक्तों ने नौ दिन तक अपने-अपने घर में निमन्त्रण करने का अवसर प्राप्त किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

६६। गौड़ से अद्वैत आदि जो सब भक्त आये थे, उन्होंने प्रभु को एक-एक दिन निमन्त्रण करके भिक्षा (प्रसाद) दिया। गुण्डिचा मन्दिर में नौ दिन उत्सव हुआ,—इसका नाम 'नवरात्र-यात्रा' है; उन नौ दिनों में प्रभु ने भक्तों सहित आइटोटा में वास किया। अद्वैत आदि मुख्य-मुख्य नौ भक्तों ने नौ दिन प्रभु का निमन्त्रण किया। और-और भक्तों ने चातुर्मास्य का एक-एक दिन करके बाँट लिया था।

चातुर्मास्य में प्रत्येक भक्त के द्वारा एक-एक दिन तक प्रभु को निमन्त्रण—

आर भक्तगण चातुर्मास्य जत दिन।
एक एक दिन करि' करिल वन्टन॥६७॥

६७। प० अनु०—और जितने भी भक्त थे, सबने चातुर्मास्य के जितने भी दिन थे, उनको एक-एक करके श्रीचैतन्य महाप्रभु को भोजन कराने के लिये बाँट लिया।

अन्यान्य भक्तों के द्वारा प्रभु को निमन्त्रण करने के सौभाग्य का अभाव—

चारि मासेर दिन मुख्यभक्त बाँटि निल।
आर भक्तगण अवसर ना पाइल॥६८॥

६८। प० अनु०—चातुर्मास्य के चार मासों के दिन भी मुख्य-मुख्य भक्तों ने श्रीचैतन्य महाप्रभु को भिक्षा कराने के लिये बाँट लिये। अन्य-अन्य भक्तों को अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ।

अन्य कोई उपाय न देख २/३ भक्तों के द्वारा इकट्ठे मिलकर एक-एक दिन प्रभु का निमन्त्रण—

एक दिन निमन्त्रण करे दुइ-तिने मिलि'।
एइमत महाप्रभुर निमन्त्रण-केलि॥६९॥

६९। प० अनु०—इसी कारण एक दिन में ही दो-तीन भक्त मिलकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को भोजन के लिये निमन्त्रण करते थे। इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु की निमन्त्रण लीला होती रही।

प्रातः स्नानपूर्वक जगन्नाथ के दर्शन कर सपरिकर कीर्त्तन-नृत्य—

प्रातःकाले स्नान करि' देखि' जगन्नाथ।
संकीर्त्तने नृत्य करे भक्तगण-साथ॥७०॥

७०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रातःकाल स्नान करके श्रीजगन्नाथ का दर्शन करने के उपरान्त

अपने भक्तों के साथ संकीर्त्तन के समय नृत्य करते थे।

निताई और अद्वैतादि का नृत्य,
गुण्डिचा में तीनों समय कीर्त्तन—

कभु अद्वैते नाचाय, कभु नित्यानन्दे।
कभु हरिदासे नाचाय, कभु अच्युतानन्दे॥७१॥
कभु वक्रेश्वरे, कभु आर भक्तगणे।
त्रिसन्ध्या कीर्त्तन करे गुण्डिचा-प्राङ्गणे॥७२॥

७१-७२। प० अनु०—वे कभी तो श्रीअद्वैताचार्य को नृत्य कराते तो कभी श्रीनित्यानन्द को। कभी श्रीहरिदास को नृत्य कराने लगते तो कभी श्रीअच्युतानन्द को। कभी श्रीवक्रेश्वर को तथा कभी किसी ओर भक्त को इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु तीनों सन्ध्याओं में श्रीगुण्डिचा मन्दिर के प्राङ्गण में कीर्त्तन करने लगे।

कृष्ण के व्रज में आगमन और श्रीराधा के साथ मिलन
से उनकी दासी गोपी अभिमानी प्रभु का आनन्द—

वृन्दावने आइला कृष्ण—एइ प्रभुर ज्ञान।
कृष्णेर विरह-स्फूर्त्ति हैल अवसान॥७३॥
राधा-सङ्गे कृष्ण-लीला—एइ हैल ज्ञाने।
एइ रसे मग्न प्रभु हइला आपने॥७४॥

७३-७४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु को केवल यही पता था कि श्रीकृष्ण वृन्दावन में आ गये हैं। अत: श्रीकृष्ण के विरह की स्फूर्त्ति शान्त हो गयी।'श्रीकृष्ण श्रीराधा के साथ विहार कर रहे हैं' श्रीचैतन्य महाप्रभु इसी रस में मग्न हो गये।

भक्तों के साथ प्रभु की अनेक प्रकार की जलकेलि—

नानोद्याने भक्तसङ्गे वृन्दावन-लीला।
'इन्द्रद्युम्न'-सरोवरे करे जलखेला॥७५॥
आपने सकल भक्ते सिञ्चे जल दिया।
सब भक्तगण सिञ्चे चौदिके बेड़िया॥७६॥
कभु एक मण्डल, कभु अनेक मण्डल।
जलमण्डुक-वाद्ये सबे बाजाय करताल॥७७॥

७५-७७। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु अनेक प्रकार के उद्यानों में भक्तों के साथ वृन्दावन की लीलाओं के आवेश में उन लीलाओं का अभिनय करने लगे और 'इन्द्रद्युम्न' सरोवर में उन्होंने जल-क्रीड़ा की। श्रीचैतन्य महाप्रभु सभी भक्तों पर सरोवर का जल उछालने लगे और सब भक्त भी चारों ओर से श्रीचैतन्य महाप्रभु पर जल फैंकने लगे। वे जल में कभी तो एक मण्डल और कभी अनेक मण्डल बनाकर जलमण्डुक-वाद्य (जल के ऊपर हाथ द्वारा आघात करके एक प्रकार की ध्वनि करना) के माध्यम से करताल बजाते।

अमृतप्रवाह भाष्य

७७। जलमण्डुक-वाद्य,—पानी में मेढ़क जिस प्रकार आवाज करती है, उसी प्रकार की ध्वनि जैसे बजाकर गोलाकार में जलकेलि होने लगी।

अनुभाष्य

७७। जलमण्डुक-वाद्य,—पानी में करताल बजाकर मेढ़क जैसे ध्वनि करना।

दो-दो भक्तों के द्वारा जलकेलि
करना और प्रभु द्वारा उसका दर्शन—

दुइ-दुइ जने मेलि' करे जल-रण।
केह हारे केह जिने,—प्रभु करे दरशन॥ ७८॥
अद्वैत-नित्यानन्दे जल फेलाफेलि।
आचार्य हारिया, पाछे करे गालागालि॥७९॥
विद्यानिधिर जलकेलि स्वरूपेर सने।
गुप्त-दत्ते जलकेलि करे दुइ जने॥८०॥
श्रीवास-सहित जल खेले गदाधर।
राघव-पण्डित सने खेले वक्रेश्वर॥८१॥
सार्वभौम-सङ्गे खेले रामानन्द-राय।
गाम्भीर्य गेल दोंहार, हैल शिशुप्राय॥८२॥

७८-८२। प० अनु०—[श्रीचैतन्य महाप्रभु यह सब देखने लगे] दो-दो जन मिलकर जल-युद्ध करने लगे तथा इस युद्ध में कोई तो हार जाता और कोई जीत जाता—श्रीअद्वैताचार्य और श्रीनित्यानन्द प्रभु एक-दूसरे पर जल फैंक रहे थे, श्रीअद्वैताचार्य हार गये और

श्रीनित्यानन्द प्रभु को (प्रेमपूर्वक) गाली देने लगे। श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि भी श्रीस्वरूप दामोदर के साथ जल केलि कर रहे थे और श्रीमुरारि गुप्त एवं वासुदेव दत्त भी परस्पर एक-दूसरे के साथ जलकेलि कर रहे थे। श्रीवास पण्डित के साथ श्रीगदाधर पण्डित, श्रीराघव पण्डित के साथ श्रीवक्रेश्वर पण्डित जलकेलि कर रहे थे। श्रीसार्वभौम के साथ श्रीरामानन्द-राय भी बालक की भाँति जल-क्रीड़ा कर रहे थे, उन दोनों की गम्भीरता [न जाने कहाँ] चली गयी।

अनुभाष्य

८०। गुप्त—मुरारि गुप्त; दत्त,—वासुदेव दत्त।

गोपीनाथ को सार्वभौम और राय के
चापल्य को त्याग करवाने की आज्ञा—

महाप्रभु ताँ-दोंहार चाञ्चल्य देखिया।
गोपीनाथाचार्य किछु कहेन हासिया॥८३॥
पण्डित, गम्भीर, दुँहे—प्रामाणिक जन।
बाल-चाञ्चल्य करे, कराह वर्जन॥८४॥

८३-८४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इन दोनों (श्रीसार्वभौम और श्रीरामानन्द राय) की चञ्चलता को देखकर मुस्कराते हुये श्रीगोपीनाथ आचार्य से कहा—"यह दोनों ही स्वभाव से पण्डित, गम्भीर और समाज में प्रमाणिक व्यक्ति हैं। ये दोनों बालक की भाँति चञ्चलता कर रहे हैं, इन्हें ऐसा करने से मना करो।

गोपीनाथ द्वारा प्रभु की कृपा की महिमा का वर्णन—

गोपीनाथ कहे,—तोमार कृपा-महासिन्धु।
उछलित करे जबे तार एक बिन्दु॥८५॥
मेरु-मन्दर-पर्वत डुबाय यथा-तथा।
एइ दुइ—गण्ड-शैल, इहार का कथा॥८६॥

८५-८६। प० अनु०—श्रीगोपीनाथ ने कहा—"आपकी कृपा महासिन्धु की भाँति है जब उसकी एक बूँद भी उछलती है तो वह बड़े-बड़े मेरु और मन्दराचल जैसे पर्वत को भी वहीं पर ही डुबो देती है। फिर ये दोनों तो क्षुद्र पर्वत के समान हैं—इनकी क्या बात है?

अनुभाष्य

८६। 'गण्ड-शैल',—छोटा पहाड़; यद्यपि 'दुई अर्थात् दो' शब्द का उल्लेख है, तथापि विशेष रूप से सार्वभौम भट्टाचार्य को लक्ष्य करके ऐसा कहा गया है।

प्रभु की कृपा से शुष्क ज्ञानी सार्वभौम
भी अब कृष्णसेवा के रस में रसिक—

शुष्कतर्क-खलि खाइते जन्म गेल जार।
ताँरे लीलामृत पियाउ,—ए कृपा तोमार॥८७॥

८७। प० अनु—(श्रीगोपीनाथ आचार्य श्रीसार्वभौम को लक्ष्य करके कह रहे हैं—) जिनका समस्त जीवन सूखी तर्क रूपी खलि खाते हुआ व्यतीत हुआ है, उन्हें आप आज लीला रूपी अमृत का पान करा रहे हैं—इसमें आपकी ही कृपा लक्षित होती है।

अनुभाष्य

८७। 'खलि'—खैल, तैल-मल (सरसों के दानों से तेल निकालने के बाद बची हुई खलि); महाप्रभु की कृपा प्राप्त करने से पहले निर्विशेष-ब्रह्म-ज्ञानी तर्कपन्थी सार्वभौम की खलि खाने वाले 'कोल्हु के बैल' के साथ तुलना की।

तैरने वाले अद्वैत की 'शेष' और प्रभु
की 'शेषशायी'-लीला का प्रकाश—

हासि' महाप्रभु तबे अद्वैते आनिल।
जलेर उपरे ताँरे शेष-शय्या कैल॥८८॥
आपने ताँहार उपर करिल शयन।
'शेषशायी-लीला' प्रभु करे प्रकटन॥८९॥
अद्वैत निज-शक्ति प्रकट करिया।
महाप्रभु लञा बुले जलेते भासिया॥९०॥

८८-९०। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मुस्कराते हुये श्रीअद्वैताचार्य को बुला लिया और उन्हें जल के ऊपर शेष शय्या की भाँति शयन करा दिया। फिर श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं उनके ऊपर शयन करने

लग गये और अपने 'शेषशायी' रूपी लीला को प्रकाशित करने लगे। श्रीअद्वैताचार्य अपनी शक्ति को प्रकट करके श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपने ऊपर लेकर जल में तैरने लगे।

सगण प्रभु का आइटोटा में आगमन—

एइमत जलक्रीड़ा करि' कतक्षण।
आइटोटा आइला प्रभु लञा भक्तगण॥९१॥

९१। प० अनु०—इस प्रकार कुछ समय तक जलकेलि करने के उपरान्त श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों के साथ आई टोटा नामक उद्यान में आ गये।

मुख्यभक्तों के द्वारा आचार्य का निमन्त्रण स्वीकार—

पुरी, भारती आदि जत मुख्य भक्तगण।
आचार्येर निमन्त्रणे करिला भोजन॥९२॥

९२। प० अनु०—श्रीअद्वैताचर्य के द्वारा निमन्त्रण करने पर श्रीपरमानन्द पुरी और श्रीब्रह्मानन्द भारती आदि मुख्य-मुख्य भक्तों ने भोजन ग्रहण किया।

प्रभु के भक्तों के द्वारा वाणीनाथ के द्वारा लाया हुआ प्रसाद स्वीकार—

वाणीनाथ आर जत प्रसाद आनिल।
महाप्रभुर गणे सेइ प्रसाद खाइल॥९३॥

९३। प० अनु०—श्रीवाणीनाथ द्वारा और जितना प्रसाद लाया गया था उसे श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्तों ने ग्रहण किया।

अपराह्न में दर्शन और नृत्य, रात में उपवन में निद्रा—

अपराह्ने आसि' कैल दर्शन, नर्तन।
निशाते उद्याने आसि' करिला शयन॥९४॥

९४। प० अनु०—अपराह्न के समय में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीजगन्नाथ का दर्शन कर नृत्य किया और रात में उद्यान में आकर शयन किया।

दूसरे दिन भगवान् का दर्शन और मन्दिर के प्राङ्गण में नृत्य-गीत—

आर दिन आसि' कैल ईश्वर दरशन।
प्राङ्गने नृत्य-गीत कैल कतक्षण॥९५॥

९५। प० अनु०—दूसरे दिन भी श्रीचैतन्य महाप्रभु ने आकर श्रीजगन्नाथ का दर्शन किया और प्राङ्गण में कुछ समय तक नृत्य-गीत आदि किया।

भक्तों के साथ विश्राम करते हुये उद्यान में व्रज-विहार—

भक्तगण-सङ्गे प्रभु उद्याने आसिया।
वृन्दावन-विहार करे भक्तगण लञा॥९६॥

९६। प० अनु०—फिर श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों के साथ उद्यान में आ गये और वहाँ अपने भक्तों को साथ लेकर वृन्दावन-विहार लीला करने लगे।

अनुभाष्य

९६। प्रभु द्वारा इस स्थान पर वृन्दावन विहार आरम्भ करने पर भी कृष्ण की भाँति उनका पारकीय-रस में दूसरे की स्त्रियों के साथ विहार रूपी भोक्तृ-लीला नहीं है; उन्होंने अपने को श्रीराधा की दासी समझकर अपनी सेव्या आश्रय विग्रह श्रीराधा के साथ प्रियतम कृष्ण के मिलन में आनन्द-सागर में निमग्न हैं—इस रस में मत्त अवस्था में ही उनकी भक्तों के साथ 'वृन्दावन-विहार' लीला हुयी थी; (इसी परिच्छेद की ७४, ७५ संख्या द्रष्टव्य); अतएव 'गौरनागरीवाद' की कोई भी बात यहाँ बिल्कुल भी प्रयोज्य नहीं है।

प्रभु के दर्शन से चारों ओर हर्ष का लक्षण—

वृक्षवल्ली प्रफुल्लित प्रभुर दरशने।
भृङ्ग-पिक गाय, बहे शीतल पवने॥९७॥

९७। प० अनु०—वहाँ के वृक्ष और लताएँ श्रीचैतन्य महाप्रभु का दर्शन कर प्रफुल्लित हो गयी और भँवरे तथा कोयल गाने लगे और शीतल पवन बहने लगी।

प्रभु का नृत्य, वासुदेव दत्त का कीर्त्तन—

प्रति-वृक्षतले प्रभु करेन नर्तन।
वासुदेव-दत मात्र करेन गायन॥९८॥

९८। प० अनु०—उस उद्यान में श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रत्येक वृक्ष के नीचे नृत्य करने लगे और केवल श्रीवासुदेव-दत्त गान करने लगे।

प्रत्येक वृक्ष के नीचे नृत्य करने वाले प्रभु—

एक एक वृक्षतले एक एक गान गाय।
परम-आवेशे एका नाचे गौरराय॥९९॥

९९। प० अनु०—श्रीवासुदेव-दत्त एक-एक वृक्ष के नीचे एक-एक गान गाने लगे और परम आवेश में श्रीचैतन्य महाप्रभु अकेले ही नृत्य कर रहे थे।

नृत्य के अन्त में वक्रेश्वर को नाचने का आदेश—

तबे वक्रेश्वरे प्रभु कहिला नाचिते।
वक्रेश्वर नाचे, प्रभु लागिला गाइते॥१००॥

१००। प० अनु०—तब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीवक्रेश्वर पण्डित से नृत्य करने के लिये कहा। श्रीवक्रेश्वर पण्डित नृत्य करने लगे और श्रीचैतन्य महाप्रभु स्वयं गाने लगे।

प्रभु के साथ स्वरूप आदि भक्तों
का गान, सभी में प्रेम विह्वलता—

प्रभु-सङ्गे स्वरूपादि कीर्त्तनीया गाय।
दिक्विदिक् नाहि ज्ञान प्रेमेर वन्याय॥१०१॥

१०१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के साथ श्रीस्वरूप दामोदर आदि कीर्त्तनीया भी गाने लगे। सभी प्रेम की बाढ़ में ऐसे बह रहे थे कि किसी को भी दिशा-विदिशा का भी ज्ञान नहीं था।

वन की लीला के अन्त में नरेन्द्र सरोवर में जलकेलि—

एइ मत कतक्षण करि' वन-लीला।
नरेन्द्र सरोवरे गेला करिते जलखेला॥१०२॥

१०२। प० अनु०—इस प्रकार कुछ समय तक वन लीला करने के बाद श्रीचैतन्य महाप्रभु नरेन्द्र सरोवर में जल-क्रीड़ा करने के लिये गये।

स्नान करने के बाद उद्यान में
भक्तों के साथ प्रसाद-सम्मान—

जलक्रीड़ा करि' पुनः आइला उद्याने।
भोजनलीला कैला प्रभु लञा भक्तगणे॥१०३॥

१०३। प० अनु०—जल-क्रीड़ा करके श्रीचैतन्य महाप्रभु पुनः उद्यान में आ गये और वहाँ उन्होंने अपने भक्तों के साथ भोजन लीला की।

श्रीजगन्नाथ के गुण्डिचा में ९ दिन तक
रहने के समय हुई इस प्रकार की लीला—

नव दिन गुण्डिचाते रहे जगन्नाथ।
महाप्रभु ऐछे लीला करे भक्त-साथ॥१०४॥

१०४। प० अनु०—जिन नौ-दिनों तक श्रीजगन्नाथ श्रीगुण्डिचा मन्दिर में रहे, उन दिनों श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भी अपने भक्तों के साथ इस प्रकार की लीलाएँ की।

जगन्नाथवल्लभ में प्रभु
की विश्राम-लीला—

'जगन्नाथ-वल्लभ'-नाम बड़ पुष्पाराम।
नव दिन करेन प्रभु ताहाते विश्राम॥१०५॥

१०५। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ-वल्लभ नामक एक बड़े पुष्प-उद्यान में ही श्रीचैतन्य महाप्रभु ने नौ दिनों तक विश्राम किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०५। जगन्नाथवल्लभ,—गुण्डिचा मन्दिर और जगन्नाथ मन्दिर के प्रायः बीच में 'जगन्नाथ वल्लभ' नामक एक उद्यान है। इस उद्यान में 'दना' चोरी-लीला होती है अर्थात् श्रीमदनमोहन जाकर दना-नामक सुगन्धित वृक्ष चोरी करके लाते हैं।

अनुभाष्य

१०५। पुष्पाराम,—पुष्प वाटिका।

हेरापञ्चमी के उत्सव में विपुल आयोजन
के लिये राजा का काशीमिश्र से अनुरोध—

'हेरा-पञ्चमी'र दिन आइल जानिया।
काशीमिश्रे कहे राजा सयत्न करिया॥१०६॥
कल्य 'हेरा-पञ्चमी' हबे लक्ष्मीर विजय।
एछै उत्सव कर, जेन कभु नाहि हय॥१०७॥

१०६-१०७। प॰ अनु॰—'हेरा-पञ्चमी' का दिन आया हुआ जानकर राजा प्रतापरुद्र ने श्रीकाशीमिश्र को बहुत आदरपूर्वक विनीत भाव से कहा—"कल हेरा-पञ्चमी है, लक्ष्मी विजय अर्थात् लक्ष्मी के गुण्डिचा मन्दिर जाने का दिन है। इस उपलक्ष्य में ऐसा उत्सव करो, जैसा पहले कभी न हुआ हो।

अमृतप्रवाह भाष्य

१०६। हेरा पञ्चमी का दिन,—रथ यात्रा के बाद पाँचवे दिन को 'हेरापञ्चमी' कहते हैं। लक्ष्मीदेवी जगन्नाथ को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते गुण्डिचा में जाकर जगन्नाथ को हेरकर (देखकर) आती है; इसलिये उड़ीसा वासी लोग इस दिन को 'हेरा-पञ्चमी' कहते हैं। इस दिन लक्ष्मी जगन्नाथ को खोई हुई वस्तु की भाँति ढूँढ़ने जाती है, इसलिये 'अतिबाड़ी' लोग इसे 'हारापञ्चमी' कहते हैं। जो हो, कविराज गोस्वामी ने इस पञ्चमी का 'हेरा-पञ्चमी' कहकर ही उल्लेख किया है।

प्रभु की सन्तिुष्ट के लिये महोत्सव के आयोजन का आदेश—

महोत्सव कर तेछै विशेष सम्भार।
देखि' महाप्रभुर जेछै हय चमत्कार॥१०८॥

१०८। प॰ अनु॰—राजा प्रतापरुद्र ने आगे कहा—"विशेष आयोजन करके ऐसा महोत्सव करो जिसे देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु भी चमत्करित हो जायें।

सुचारू रूप से सजाने का आदेश—

ठाकुरेर भाण्डारे आर आमार भाण्डारे।
चित्रवस्त्र किन्किनी, आर छत्र-चामरे॥१०९॥
ध्वजावृन्द-पताका-घन्टाय करह मण्डन।
नानावाद्य-नृत्य-दोलाय करह साजन॥११०॥

१०९-११०। प॰ अनु॰—(राजा ने कहा—) ठाकुर श्रीजगन्नाथ के भण्डार और मेरे भण्डार में जितने भी चित्र (रङ्ग-बिरङ्गे) वस्त्र, किन्किणी, छत्र, चामर, ध्वजा, पताका, घण्टा, आदि सामान है उसे निकाल कर पालकी को सजाओ। अनेक प्रकार के वाद्य-यन्त्रों तथा नर्त्तकों को बुलाकर यात्रा की शोभा को बढ़ाओ।

अनुभाष्य

१०९। चित्रवस्त्र,—ऐसे वस्त्र जिन पर चित्र बने हुये हो; किङ्किणी,—छोटी घण्टियाँ।

रथयात्रा की अपेक्षा अधिक
रूप से समारोह के लिये आदेश—

द्विगुण करिया कर सब उपहार।
रथयात्रा हैते जैछे हय चमत्कार॥१११॥

१११। प॰ अनु॰—अन्यान्य वर्षों से इस बार दो गुणा अधिक आयोजन करो, जिससे लक्ष्मी-विजय रथ-यात्रा से भी कहीं अधिक चमत्कार पूर्ण हो जाये।

प्रभु के लिये दर्शन की सुविधा का विधान—

सेइ त' करिह,—प्रभु लञा भक्तगण।
स्वछन्दे आसिया जैछे करेन दरशन॥११२॥

११२। प॰ अनु॰—और ऐसी व्यवस्था करना जिससे श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों के साथ स्वच्छन्दता से उत्सव का दर्शन कर सकें।"

भक्तों के साथ गुण्डिचा में जगन्नाथ का दर्शन—

प्रातःकाले महाप्रभु निजगण लञा।
जगन्नाथ दर्शन कैल सुन्दराचले जाञा॥११३॥

११३। प॰ अनु॰—प्रातःकाल होते ही श्रीचैतन्य महाप्रभु अपने भक्तों को साथ लेकर श्रीजगन्नाथ का दर्शन करने सुन्दराचल (श्रीगुण्डिचा मन्दिर) चले गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

११३। सुन्दराचल,—श्रीजगन्नाथ मन्दिर को जिस प्रकार 'नीलाचल' कहा जाता है, गुण्डिचा मन्दिर को उसी प्रकार 'सुन्दराचल' कहते हैं।

हेरा-पञ्चमी के दर्शन के
लिये पुनः नीलाचल आगमन—

नीलाचले आइला पुनः भक्तगण-सङ्गे।
देखिते उत्कण्ठा हेरा पञ्चमीर रङ्गे॥११४॥

११४। प० अनु०—सुन्दराचल से श्रीचैतन्य महाप्रभु [हेरा पञ्चमी के उत्सव को देखने की उत्कण्ठा से] अपने भक्तों के साथ नीलाचल (श्रीजगन्नाथ मन्दिर) आ गये।

काशीमिश्र के द्वारा प्रभु
उत्तम स्थान पर विराजमान—

काशीमिश्र प्रभुरे बहु आदरे करिया।
स्वगण-सह भाल स्थाने बसाइल लञा॥११५॥

११५। प० अनु०—श्रीकाशीमिश्र ने बहुत आदर से श्रीचैतन्य महाप्रभु को उनके भक्तों के साथ सुन्दर स्थान पर बैठा दिया।

प्रभु का स्वरूप को, जगन्नाथ के द्वारा
लक्ष्मी के सङ्ग को छोड़कर वृन्दावन
जाने के कारण की जिज्ञासा—

रसविशेष प्रभुर शुनिते मन हैल।
ईषत् हासिया प्रभु स्वरूपे पूछिल॥११६॥
यद्यपि जगन्नाथ करेन द्वारकाय विहार।
सहज प्रकट करे परम उदार॥११७॥
तथापि वत्सर-मध्य हय एकबार।
वृन्दावन देखिते ताँर उत्कण्ठा अपार॥११८॥
वृन्दावन-सम एइ उपवन-गण।
ताहा देखिबारे उत्कण्ठित हय मन॥११९॥
बाहिर हइते करे रथयात्रा-छल।
सुन्दराचले जाय प्रभु छाड़ि' नीलाचल॥१२०॥
नाना-पुष्पोद्याने तथा खेले रात्रि-दिने।
लक्ष्मीदेवीरे सङ्गे नाहि लय कि कारणे?१२१॥

११६-१२१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु की रस विशेष को सुनने की इच्छा हुई और उन्होंने थोड़ा मुस्कराते हुए श्रीस्वरूप दामोदर से पूछा—"यद्यपि श्रीजगन्नाथ द्वारका में विहार करते हैं और सहज रूप में ही परम उदारता प्रकटित करते हैं, तथापि वर्ष में एक बार उनकी वृन्दावन देखने की तीव्र उत्कण्ठा होती है। यहाँ के उपवन वृन्दावन के समान हैं जिन्हें देखने की उनमें उत्कण्ठा होती है। नीलाचल से बाहर जाने के लिये श्रीजगन्नाथ रथ-यात्रा का छल करते हैं परन्तु वास्तव में वे नीलाचल को छोड़कर सुन्दराचल चले जाते हैं। सुन्दराचल के पुष्प उद्यानों में वे दिन-रात लीला करते हैं परन्तु वे अपने साथ लक्ष्मी देवी को नहीं ले जाते, इसका क्या कारण है?

अनुभाष्य

११७-११९। श्रीजगन्नाथदेव जीवों के प्रति करुण होकर नीलाचल मन्दिर में बैठकर कृष्ण के द्वारिका-विहार को प्रकट करते हैं। वर्ष में उनकी एकबार मात्र वृन्दावन सदृश सुन्दराचल को देखने के लिये अत्यधिक उत्कण्ठा होती है।

स्वरूप के द्वारा इसके कारण को बताना—
व्रजलीला में गोपियों का अधिकार और
लक्ष्मी का अनधिकार—

स्वरूप कहे,—शुन, प्रभु, कारण इहार।
वृन्दावन क्रीड़ाते लक्ष्मीर नाहि अधिकार॥१२२॥
वृन्दावन लीलाय कृष्णेर सहाय गोपीगण।
गोपीगण बिना कृष्णेर हरिते नारे मन॥१२३॥

१२२-१२३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के प्रश्न को सुनकर श्रीस्वरूप दामोदर कहने लगे,—"सुनो, प्रभो! इसका कारण यह है कि वृन्दावन की लीलाओं में लक्ष्मी का अधिकार नहीं है। वृन्दावन की लीलाओं में गोपियाँ ही श्रीकृष्ण की सहायक हैं। गोपियों के बिना श्रीकृष्ण का मन और कोई नहीं हरण कर सकता।

अनुभाष्य

१२२। वृन्दावन लीला में लक्ष्मी-ठाकुरानी का अधिकार नहीं होने के कारण सुन्दराचल जाते समय जगन्नाथ लक्ष्मी को साथ नहीं ले जाते,—यही कारण है।

प्रभु के द्वारा पुनः प्रश्न—लक्ष्मी
के क्रोध के कारण की जिज्ञासा—

प्रभु कहे,—यात्रा-छले कृष्णेर गमन।
सुभद्रा आर बलदेव, सङ्गे दुइ जन॥१२४॥
गोपी-सङ्गे जत लीला हय उपवने।
निगूढ़ कृष्णेर भाव केह नाहि जाने॥१२५॥
अतएव कृष्णेर प्राकट्ये नाहि किछु दोष।
तबे केन लक्ष्मीदेवी करे एत रोष?१२६॥

१२४-१२६। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"श्रीजगन्नाथ रथ-यात्रा के छल से ही बाहर जाते हैं और अपने साथ श्रीसुभद्रा तथा श्रीबलदेव को भी ले जाते हैं। गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की उपवन में जो लीलाएँ होती हैं, उन निगूढ़ भावों को श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। श्रीजगन्नाथ का स्पष्ट रूप से दिखायी देने वाला कोई भी दोष नहीं होने पर भी, लक्ष्मीदेवी किसलिए इतना क्रोध करती है?

अनुभाष्य

१२४। यात्रा,—रथ यात्रा।

१२६। बृहद् भागवतामृत प्रथम खण्ड सप्तम अध्याय द्रष्टव्य।

स्वरूप के द्वारा इसका कारण बताना—प्रिय
की उदासीनता से प्रिया का क्रोधाभिमान—

स्वरूप कहे,—प्रेमवतीर एइ त' स्वभाव।
कान्तेर उदास्य-लेशे हय क्रोधभाव॥१२७॥

१२७। प० अनु०—श्रीस्वरूप दामोदर ने कहा—"प्रेमवती प्रेयसी का यह तो स्वभाव ही होता है कि उनमें अपने कान्त की उदासीनता के लेशमात्र से ही क्रोध उत्पन्न हो जाता है।

विपुल समारोह के साथ बहुत दासियों
के साथ लक्ष्मी का आगमन—

हेनकाले, खचित जाहे विविध रतन।
सुवर्णेर चौदाला करि' आरोहण॥१२८॥
छत्र-चामर-ध्वजा पताकार गण।
नानावाद्य-आगे नाचे देवदासीगण॥१२९॥
ताम्बुल-सम्पुट, झारी, व्यजन, चामर।
साथे दासी शत, हार दिव्य भूषाम्बर॥१३०॥
अनेक ऐश्वर्य सङ्गे बहु-परिवार।
क्रुद्ध हञा लक्ष्मीदेवी आइला सिंहद्वार॥१३१॥

१२८-१३१। प० अनु०—[जब श्रीचैतन्य महाप्रभु का श्रीस्वरूप दामोदरके साथ वार्त्तालाप चल ही रहा था] उसी समय विविध रतनों से जड़ित सोने की पालकी पर बैठकर तथा अत्यन्त ऐश्वर्य और बहुत से सगे-सम्बन्धियों को साथ लेकर क्रुध श्रीलक्ष्मी देवी सिंह द्वार पर आ गयीं। [उनकी दासियों ने अपने हाथों में] छत्र, चामर, ध्वजा तथा पताकाएँ ले रखी थी। पालकी के आगे अनेक प्रकार के वाद्ययन्त्र बज रहे थे तथा देवदासियाँ नृत्य कर रही थी। उनके साथ पान की पेटी, जल के पात्र, पंखा, चामर तथा एक सौ दासियाँ थी। श्रीलक्ष्मीदेवी ने हार तथा दिव्य परिधान धारण किये हुये थे। ताम्बुल, झारी, व्यञ्जन, चामर से सेवित तथा दिव्य हार, भूषण, वस्त्र को धारण करके असंख्य परिवार के साथ ऐश्वर्य से युक्त लक्ष्मीदेवी क्रोधित होती हुईं सिंहद्वार पर आ गयीं।

अनुभाष्य

१३०। सम्पुट,—पेटिका; झारी,—नल रहित गाडू (एक प्रकार का जल पात्र)।

लक्ष्मी की दासियों के द्वारा जगन्नाथ के प्रधान
सेवकों को बाँधकर ईश्वरी के पास लाना और प्रहार—

जगन्नाथेर मुख्य मुख्य जत भृत्यगणे।
लक्ष्मीदेवीर दासीगण करेन बन्धने॥१३२॥
बान्धिया आनिया पाड़े लक्ष्मीर चरणे।
चोरे दण्ड करे, जेन लय नाना-धने॥१३३॥
अचेतनवत तारे करेन ताड़ने।
नानामत गालि देन भण्ड-वचने॥१३४॥

१३२-१३४। प० अनु०—[लक्ष्मीदेवी की दासियों ने] श्रीजगन्नाथ के जितने भी मुख्य-मुख्य दास थे।

उन्हें बाँध दिया और बाँधकर लक्ष्मीदेवी के चरणों में ऐसे पटक दिया जैसे चोर के द्वारा अनेक धन की चोरी करने पर उसे दण्ड दिया जाता है। अपने ताड़न के द्वारा उन्होंने जगन्नाथ के सेवकों को प्राय: अचेतन (मूर्च्छित) ही कर दिया तथा अनेक प्रकार के अश्लील वचनों का व्यवहार करके उन्हें गालियाँ देने लगी।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३२-१३३। जगन्नाथ जिस समय रथ पर यात्रा करते हैं, उस समय लक्ष्मी को यह बोलकर जाते हैं कि 'मैं कल ही लौट आऊँगा'। दो-तीन दिन बीत जाने पर भी जगन्नाथ के न आने पर, कान्त की उदासीनता के लेशमात्र के दर्शन से ही प्रेमवती लक्ष्मी में स्वाभाविक ही क्रोध उदित होता है। तब उनकी अपनी जो सब दासियाँ है, उनके द्वारा सज-धजकर लक्ष्मी पालकी में श्रीमन्दिर से बाहर निकल पड़ती है। इसी समय, जगन्नाथ मन्दिर में एक परम रहस्य हो उठता है,—लक्ष्मी की सेविकाएँ जगन्नाथ जी के मुख्य-मुख्य सेवकों को बाँधकर ले आती है।

लक्ष्मी की दासियों की उद्दण्डता को देख भक्तों का हँसना—

लक्ष्मी-सङ्गे दासीगणेर प्रागलभ्य देखिया।
हासे महाप्रभुर गण मुखे हस्त दिया॥१३५॥

१३५। प० अनु०—लक्ष्मीदेवी के साथ उनकी दासियों के प्रागलभ्य (प्रगल्भता अथवा उद्धत्य) भाव को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्त मुँह पर हाथ रखकर हँसने लगे।

दामोदर के द्वारा लक्ष्मी के ऐसे
अपूर्व असाधारण मान की व्याख्या—

दामोदर कहे,—ऐछे मानेर प्रकार।
त्रिजगते काँहा देखि, शुनि नाइ आर॥१३६॥

१३६। प० अनु०—(श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्तों को इस प्रकार से हँसते हुये देखकर) श्रीस्वरूप दामोदर ने कहा—"ऐसा मान तो मैंने त्रिभुवन में न कभी देखा है और न ही कहीं इसके विषय में सुना है।

कान्त की उदासीनता में मानिनी कान्ता का आचरण—

मानिनी निरुत्साहे छाड़े विभूषण।
भूमे बसि' नखे लेखे, मलिन-वदन॥१३७॥

१३७। प० अनु०—प्राय: देखा जाता है कि मानिनी निरुत्साहित (निराश) होकर अपने आभूषणों को त्याग देती है और मलिन मुख वाली होकर भूमि पर बैठकर अपने नखों से लिखने लगती है।

व्रजगोपियों और सत्यभामा का मान भी इसी प्रकार—

पूर्वे सत्यभामार शुनि एवम्विध मान।
व्रजे गोपीगणेर मान—रसेर निधान॥१३८॥

१३८। प० अनु०—मैंने पहले श्रीसत्यभामा के इस प्रकार के मान के विषय में सुना है। व्रज की गोपियों के मान कि तो बात ही क्या—वह तो रस का भण्डार है।

लक्ष्मी का मान उनसे भी विलक्षण—

इँहा निज-सम्पत्ति सब प्रकट करिया।
प्रियेर ऊपर जाय सैन्य साजाञा॥१३९॥

१३९। प० अनु०—(परन्तु लक्ष्मी का मान कैसा है—) यह लक्ष्मी तो अपनी सारी सम्पत्ति को प्रकाशित करके अपने सैन्य बल के साथ, (प्रतीत होता है कि) प्रियतम श्रीजगन्नाथ के ऊपर आक्रमण करने जा रही है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१३६-१३९। स्वरूप गोस्वामी ने लक्ष्मी की ऐसी प्रगल्भता देखकर व्रजवासियों की प्रेम-सम्पत्ति के उत्कर्ष को बताने के लिये कहा,—प्रभो, लक्ष्मी के इस प्रकार के मान के विषय में मैंने कभी त्रिजगत में भी नहीं सुना है। प्रिया मानिनी होने पर उत्साह हीन होकर भूषणादि परित्याग करके मलिन मुख से भूमि पर बैठकर नख द्वारा जो कुछ भी लिखती है। व्रज में गोपियों के इस प्रकार का मान एवं पुरवासिनी सत्यभामा का भी ऐसा मान सुना गया है; किन्तु लक्ष्मीदेवी का मान उसके विपरीत देख रहा हूँ। ये अपनी सम्पति को प्रकट करके सैन्य सजाकर प्रिय के ऊपर आक्रमण करने जा रही हैं।

प्रभु के प्रश्नों के उत्तर में स्वरूप
द्वारा गोपियों के मान का वर्णन—

प्रभु कहे,—कह व्रजेर मानेर प्रकार।
स्वरूप कहे,—गोपीमान-नदी शतधार॥१४०॥

१४०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीस्वरूप दामोदर से कहा—"हे स्वरूप! व्रज का मान कितने प्रकार का होता है, जरा बतलाओ तो। श्रीस्वरूप दामोदर ने उत्तर दिया—"गोपियों का मान सैकड़ों धाराओं वाली नदी के समान है।

कान्ता के स्वभाव और प्रीति
के भेद से मान का भेद—

नायिकार स्वभाव, प्रेमवृत्त्ये बहु भेद।
सेइ भेदे नाना-प्रकार मानेर उद्भेद॥१४१॥

१४१। प० अनु०—व्रज में नायिकाओं के स्वभाव तथा उनकी प्रेम की वृत्ति के अनुसार बहुत भेद है और इसी भेद के कारण उनमें उदित होने वाले मान के भी अनेक भेद हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४१। नायिका का स्वभाव और प्रेमवृत्ति—अनेक प्रकार के हैं, उसी भेद के अनुसार ही प्रत्येक नायिका के मान का उदय होता है।

गोपियों के अनिवर्चनीय
मान का संक्षेप में वर्णन—

सम्यक् गोपिकार मान ना जाय कथन।
एक-दुई-भेदे करि दिग्-दरशन॥१४२॥

१४२। प० अनु०—सम्पूर्ण रूप से गोपियों के मान का वर्णन तो नहीं किया जा सकता परन्तु संक्षेप में एक-दो भेद के विषय में बतलाकर दिग्दर्शन करा रहा हूँ।

तीन प्रकार की मानिनी—

माने केह हय 'धीरा', केह त' 'अधीरा'।
एइ तिन-भेदे केह हय 'धीराधीरा'॥१४३॥

१४३। प० अनु०—मानिनी की तीन अवस्थाएँ हैं। मान में कोई तो 'धीरा', कोई 'अधीरा' और कोई 'धीराधीरा' होती हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४३। मानिनीगण संक्षेप में तीन भागों में विभक्त हैं—'धीरा', 'अधीरा' और 'धीराधीरा'।

'धीरा' मानिनी का स्वभाव—

'धीरा' कान्त दूरे देखि' करे प्रत्युत्थान।
निकटे आसिले, करे आसन प्रदान॥१४४॥
हृदये कोप, मुखे कहे मधुर वचन।
प्रिय आलिङ्गिते, तारे करे आलिङ्गन॥१४५॥
सरल व्यवहार, करे मानेर पोषण।
किम्वा सौलुण्ठ-वाक्ये करे प्रिय-निरसन॥१४६॥

१४४-१४६। प० अनु०—'धीरा' मानिनी वह हैं जोकि दूर से ही कान्त को आते देखकर उसके स्वागत के लिये खड़ी हो जाती है और कान्त के निकट आने पर उन्हें आसन प्रदान करती है। हृदय में क्रोध के होने पर भी मुख से कान्त के प्रति मधुर वचनों का ही व्यवहार करती है तथा प्रियतम के आलिङ्गन करने पर वे भी आलिङ्गन प्रदान करती है। कान्त के प्रति सरल व्यवहार करते हुये भी भीतर में अपने मान का पोषण करती है या फिर परिहासयुक्त मृदु वचनों के द्वारा अपने प्रियतम के व्यवहार का प्रतिवाद करती है।

अनुभाष्य

१४६। सौलुण्ठ वाक्य,—ईषद् हास-परिहास युक्त अथवा व्याज स्तुति पूर्ण वचन; निरसन,—प्रतिवाद।

'अधीरा' मानिनी का स्वभाव—

'अधीरा' निष्ठुर-वाक्ये करये भर्त्सन।
कर्णोत्पले ताड़े, करे मालाय बन्धन॥१४७॥

१४७। प० अनु०—'अधीरा' नायिका निष्ठुर (कटु) वाक्यों के द्वारा अपने कान्त की भर्त्सना करती है। (पद्मकलिका रूपी) कर्ण-भूषण के द्वारा कान्त की ताड़ना करती है तथा माला के द्वारा उसे बाँध भी देती है।

'धीराधीरा' मानिनी का स्वभाव—

'धीराधीरा' वक्र-वाक्ये करे उपहास।
कभु स्तुति, कभु निन्दा, कभु वा उदास॥१४८॥

१४८। प० अनु०—'धीराधीरा' नायिका वक्रोक्ति (कुटिल वचनों) के द्वारा कान्त का उपहास करती है। कभी कान्त की स्तुति, कभी निन्दा तथा कभी उसके प्रति उदासीन हो जाती है।

अनुभाष्य

१४८। मध्य अष्टम परिच्छेद १७२ संख्या द्रष्टव्य; वक्र,—कुटिल, शठतापूर्ण।

तीन प्रकार की नायिका; मान-कौशल में मुग्धा की अनभिज्ञता—

'मुग्धा', 'मध्या', 'प्रगल्भा',—तिन नायिकार भेद।
'मुग्धा' नाहि जाने मानेर वैदग्ध्य-विभेद॥१४९॥
मुख आच्छादिया करे केवल रोदन।
कान्तेर प्रियवाक्य शुनि' हय प्रसन्न॥१५०॥

१४९-१५०। प० अनु०—नायिकाओं के तीन भेद हैं 'मुग्धा', 'मध्या' और 'प्रगल्भा'। 'मुग्धा' नायिका मान के विषय में चतुर नहीं होती। वे मुँह को ढ़ककर केवल रोती रहती है और कान्त के द्वारा कहे गये प्रिय वचनों को सुनकर ही प्रसन्न हो जाती है।

'मध्य' और 'प्रगल्भा' का ही पूर्वोक्त धीरा, अधीरा और धीराधीरा-भेद; इसी में ही कृष्ण का सुख—

'मध्या' 'प्रगल्भा' धरे धीरादि विभेद।
तार मध्ये सबार स्वभावे तिन-भेद॥१५१॥
केह 'प्रखरा', केह 'मृदु', केह हय 'समा'।
स्व-स्वभावे कृष्णेर बाड़ाय प्रेम-सीमा॥१५२॥
प्राखर्य्य, मार्द्दव, साम्य-स्वभाव निर्द्दोष।
सेई सेई स्वभावे कृष्णे कराय सन्तोष॥१५३॥

१५१-१५३। प० अनु०—'मध्या' और 'प्रगल्भा' नायिका धीरादि के भेद से अनेक प्रकार की हैं। फिर इन सभी के स्वभाव में भी तीन प्रकार के भेद हैं। कोई 'प्रखरा', कोई मृदु' और कोई 'समा' हैं। ये सब अपने स्वभाव के अनुसार कृष्ण के प्रेम को सीमा (चरम) तक बढ़ाती है। प्रखता, मृदुता और समता इन तीनों गुणों के स्वभाव की (व्रज की गोपियों में) निर्दोषता के कारण वे उन-उन स्वभावों से श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करती है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१४९-१५१। नायिका तीन प्रकार की हैं,—'मुग्धा', 'मध्या' और 'प्रगल्भा'। मुग्धागण मान चातुर्य का कोई प्रकार-भेद नहीं जानती। जो सब नायिकाएँ,—'मध्या' और 'प्रगलभा', वही धीर आदि के भेद से तीन प्रकार की हैं।

अनुभाष्य

१४९। वैदग्ध-विभेद,—अनेक प्रकार की कुशलता।

१४१-१५३। उज्ज्वलनीलमणि में नायिका-भेद, यूथेश्वरी-भेद और सखीभेद-प्रकरण द्रष्टव्य।

गोपियों के नायिकाओं के लक्षण को सुनकर प्रभु की प्रसन्नता—

ए कथा शुनिया प्रभुर आनन्द अपार।
'कह, कह', दामोदर बले बार बार॥१५४॥

१५४। प० अनु०—यह बात सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु को अपार आनन्द की प्राप्ति हुयी और वे श्रीस्वरूप दामोदर से बार-बार कहने लगे—"और कहो, और कहो।"

स्वरूप के द्वारा कृष्ण और गोपियों के परस्पर के प्रति प्रेम-लक्षण का वर्णन—

दामोदर कहे,—कृष्ण रसिकशेखर।
रस-आस्वादक, रसमय-कलेवर॥१५५॥
प्रेममय-वपु कृष्ण—भक्त-प्रेमाधीन।
शुद्धप्रेमे, रसगुणे, गोपिका—प्रवीण॥१५६॥
गोपिकार प्रेमे नाहि रसाभास-दोष।
अतएव कृष्णेर करे परम सन्तोष॥१५७॥

१५५-१५७। प० अनु०—श्रीस्वरूप दामोदर ने

कहा—"श्रीकृष्ण रसिक-शेखर हैं, रस के आस्वादक हैं एवं उनका कलेवर भी रसमय है। श्रीकृष्ण का वपु प्रेम के द्वारा गठित है तथा कृष्ण भक्तों के प्रेम के अधीन हैं और गोपियाँ शुद्ध प्रेम तथा रस के गुणों में प्रवीण हैं। गोपियों के प्रेम में रसाभास दोष नहीं है अतएव वे श्रीकृष्ण को परम सन्तुष्ट करती हैं।

अनुभाष्य

१५५। रस-आस्वादक,—श्रीकृष्ण ही चिद् रस के एकमात्र आस्वादक हैं, भोक्ता अथवा विषय हैं, और सभी उनके आश्रय अथवा भोग्य हैं।

अनुभाष्य

१५७। रसाभास,—भः रः सिः, उः विः, नवम लहरी—"पूर्व मेवानुशिष्टेन विकला रसलक्षणा। रसा एव रसाभास रसज्ञैरनुकीर्त्तितः॥ स्युस्त्रिधोपरसाश्चानु रसाश्चापरसाश्च ते। उत्तमा मध्यमाः प्रोक्ताः कनिष्ठाश्चेत्यमी क्रमात॥" पूर्व कथित रस-लक्षण से विपर्ययता प्राप्त करने पर उस लक्षणहीन रस को ही रसिक गण 'रसाभास' कहते हैं। रसाभास तीन प्रकार के हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अर्थात् उपरस, अनुरस और अपरस।

श्रीकृष्ण की चिन्मयीरासक्रीड़ा—
(श्रीमद्भागवत १०/३३/२५)

एवं शशांकांशुविराजिता निशाः स
सत्यकामोऽनुरताबलागणः।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः
शरत्काव्यकथारसाश्रयाः॥१५८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१५८। इस प्रकार शरत् कालीन और काव्य-सम्बन्धीय समस्त कथाओं के रसाश्रय-रूप, अबलाओं द्वारा अनुरत, चन्द्र किरणों से सुशोभित उन सब रात्रियों में, चिन्मय भावावरुद्ध सत्यकाम शृङ्गार रसमय पुरुष श्रीकृष्ण ने रासलीला की थी। तात्पर्य यह है कि, गोपियाँ—शुद्ध चिन्मयी, श्रीवृन्दावन—शुद्ध चिन्मयधाम एवं वे आनन्दमय रात्रियाँ भी चिन्मय रात्रियाँ हैं; जो रासलीला हुई थी, वह भी सम्पूर्ण रूप से चिन्मय है; उसमें जड़ीय किसी भी क्रिया का स्पर्श मात्र भी नहीं हुआ। कृष्ण कभी भी जड़मयी रति की ओर ईक्षण अर्थात् देखते नहीं है; चिद् जगत में उनकी समस्त लीला—अवरुद्ध (बन्द) है; उनका काममय क्रीड़ा करना, सब कुछ चिन्मय कार्य-मात्र है।

अनुभाष्य

१५८। शुद्ध हृदय वाले परीक्षित के समक्ष महाभागवत परमहंस कुल चूड़ामणि श्रीशुकदेव द्वारा गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की रासलीला का वर्णन—

एवं (कथितभोवन) सत्यकामः (नित्य सत्य सङ्कल्पः श्रीकृष्णः) अनुरताबलागणः (अनुरतः आकृष्टः अबलागणः यस्मिन् तादृशः अनुरागि-स्त्रीकदम्बस्थः इत्यर्थः) आत्मनि (एव) अवरुद्ध सौरतः (अवरुद्धाः सौरताः सुरतव्यापाराः येन एवम्भूतः सः आत्मारामः अप्राकृत-कामदेवः इत्यर्थः) शरत्-काव्यकथारसाश्रयाः (शरदि भवाः काव्येषु कथ्यमाना ये रसास्तेषामाश्रयभूताः यद्वा, शरत्कालोचित-काव्यकथारसाः तेषाम् आश्रयभूताः ताः, यद्वा, 'रसाश्रयाः शरत्काव्यकथाः' इत्यन्वये—शृङ्गार-रसाश्रयाः शरदि प्रसिद्धाः काव्येषु याः कथास्ताः) शशङ्कांशु-विराजिताः (शशाङ्कस्य अंशुभिः किरणैः विराजिताः शोभमानाः) सर्वाः एव निशाः सिषेवे (रासक्रीड़या यापयामास)।

गोपियों में नायिका उचित परम-
चमत्कार-लक्षणमय गुण- वैचित्र्य—

'वामा' एक गोपीगण, 'दक्षिणा' एक गण।
नाना-भावे कराय कृष्णेर रस आस्वादन॥१५९॥

१५९। प० अनु०—पुनः गोपियों के गण में एक तो 'वामा' हैं और दूसरी 'दक्षिणा' हैं। ये अनेक भावों के द्वारा श्रीकृष्ण को रस का आस्वादन कराती हैं।

सभी गोपियों में श्रेष्ठ एवं श्रीकृष्ण
की प्रेष्ठ श्रीराधा के गुण और स्वभाव—

गोपीगण-मध्ये श्रेष्ठा राधा-ठाकुरानी।
निर्मल-उज्ज्वल-रस-प्रेम-रत्नखानि॥१६०॥

वयसे 'मध्यमा' तेंहो स्वभावते 'समा'।
गाढ़ प्रेमभावे तेंहो निरन्तर 'वामा'॥१६१॥
वाम्य-स्वभावे मान उठे निरन्तर।
तार मध्य उठे कृष्णेर आनन्द-सागर॥१६२॥

१६०-१६२। प० अनु०—गोपियों में सर्वश्रेष्ठ श्रीराधा ठाकुरानी हैं, वे निर्मल-उज्ज्वल-रस-प्रेम की रत्न स्वरूपा हैं। वे वयस में 'मध्यमा', स्वभाव में 'समा' है। 'समा' होने पर भी और गाढ़ प्रेम भाव के कारण सदैव 'वामा' (वाम्य भाव धारण करने वाली) हैं। वाम्य स्वभाव होने के कारण इनमें सदैव मान उठता रहता है जिससे श्रीकृष्ण को अपार आनन्द सागर की प्राप्ति होती है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१५९-१६२। गोपियाँ दो प्रकार की हैं,—'वामा' और 'दक्षिणा'। गोपियों में निर्मल उज्ज्वल-रस रूपी प्रेम रत्न की मणि-स्वरूपा राधा-ठाकुरानी ही सर्व श्रेष्ठ हैं। वे आयु में—'मध्यमा', स्वभाव में—'समा' एवं निरन्तर 'वामा' हैं। उनके वाम्य स्वभाव से ही मान उदित होता है।

अनुभाष्य

१५९। वामा,—उज्ज्वलनीलमणि के सखी प्रकरण में, १३ संख्या,—"मानग्रहे सदोद् युक्ता तच्छैथिल्ये च कोपना:। अभेद्या नायके प्राय: क्रूरा वामेति कीर्त्त्यते॥" जो नायिका मान धारण करने में सदैव उद्योग विशिष्ट और मान के शिथिल पड़ने में कोप-विशिष्ट, नायक के वश में नहीं रहने वाली तथा उसके प्रति प्राय: कठिन होती है, वही 'वामा' कहलाती है।

'दक्षिणा',—उसी उज्ज्वलनीलमणि के सखी प्रकरण में १४ संख्या—"असह्या माननिर्बन्धे नायके युक्तवादिनी। सामभिस्तेन भेद्य च दक्षिणा परिकीर्तिता॥" अर्थात् मान धारण करने को सहन नहीं कर पाने वाली, नायक के प्रति युक्त (न तो मधुर और न ही कटु, बीच के) वाक्य प्रयोग करने वाली, नायक के हास्य युक्त परिहासमय वाक्यों में प्रसन्न नायिका 'दक्षिणा' कहलाती है।

(उज्ज्वलनीलमणि में श्रृंगार भेद का १०२ श्लोक)
अहेरिव गतिः प्रेम्णाः स्वभावकुटिला भवेत्।
अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति॥१६३॥

१६३। श्लोकानुवाद—उज्ज्वलनीलमणि में कहा गया है—सर्प के समान प्रेम की भी स्वाभाविक कुटिल गति होती है; इसी कारण से युवक और युवती में 'अहेतु' (बिना किसी कारण से) और 'सहेतु' (किसी कारण से)—इन दो प्रकार का मान उदित होता है।

अनुभाष्य

१६३। मध्य अष्टम परिच्छेद ११० संख्या द्रष्टव्य।

महाभाव-सार-पराकाष्ठा-महिमा
की व्याख्या का विस्तार—

एत शुनि' बाड़े प्रभुर आनन्द सागर।
'कह' कह' कहे प्रभु, बले दामोदर॥१६४॥
'अधिरूढ़ महाभाव'—राधिकार प्रेम।
विशुद्ध, निर्मल, जैछे दग्धवान् हेम॥१६५॥
कृष्णेर दर्शन यदि पाय आचम्बिते।
नाना-भाव-विभूषणे हय विभूषिते॥१६६॥

१६४-१६६। प० अनु०—यह सब सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का आनन्द समुद्र बढ़ने लगा और वे श्रीस्वरूप दामोदर को और आगे बोलने के लिये कहने लगे। श्रीस्वरूप दामोदर कहने लगे—"श्रीराधिका का प्रेम अधिरूढ़ महाभाव है। वह प्रेम विशुद्ध, निर्मल और तपाये हुये सोने की भाँति उज्ज्वल है। श्रीराधिका को यदि अचानक श्रीकृष्ण का दर्शन प्राप्त हो जाता है तो वे अनेक भाव रूपी विभूषणों से विभूषित (अलंकृत) हो जाती है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६५। दग्धवान् हेम—ज्वलित अर्थात् तपता हुआ सोना।

अनुभाष्य

१६५। अधिरूढ़ महाभाव,—उज्ज्वलनीलमणि के

स्थायिभाव प्रकरण में १२३ संख्या—"रुद्वेक्तेभ्योऽनुभावेभ्यः कामप्याप्ता विशिष्टताम्। यत्रानुभावा दृश्यन्ते सोऽधिरूढ़ो निगद्यते॥" रूढ़ भाव के लक्षण में जो सब सात्त्विक अनुभाव अपूर्व विशिष्टता प्राप्त करते हैं, उन अनिर्वचनीय विशिष्टता प्राप्त सात्विक भाव समूहों को 'अधिरूढ़ महाभाव' कहते हैं।

कृष्ण को परिपूर्ण मात्रा में सुख प्रदान करने वाले सब प्रकार के भाव रूपी अलंकारों से विभूषित श्रीराधिका—

अष्ट 'सात्त्विक', हर्षादि 'व्यभिचारी' जाँर।
'सहज प्रेम', विंशति 'भाव'-अलंकार॥१६७॥
'किलकिञ्चित', 'कुटमित', 'विलास', 'ललित'।
'विवोक', 'मोट्टायित', आर 'मौग्ध', 'चकित'॥१६८॥

कृष्ण की वाञ्छा को पूर्ण करने वाली श्रीराधा के नाना प्रकार के भाव रूपी अलंकारों से सुशोभित रूप को देखकर श्रीकृष्ण को अत्यन्त सुख—

एत भावभूषाय भूषित श्रीराधार अंग।
देखिते उथले कृष्णसुखाब्धि-तरंग॥१६९॥

१६७-१६९। प॰ अनु॰—सात्त्विक आदि आठ भाव, हर्षादि व्यभिचारी भाव, 'सहज प्रेम' तथा बीस भाव रूपी अलङ्कार है। किलकिञ्चित, कुटमित, विलास, ललित, विवेवाक, मोटायित और मौग्ध, चकित—इतनी प्रकार के समस्त भाव रूपी अलङ्कारों से श्रीराधिका के अंग विभूषित हैं जिनको देखने मात्र से ही श्रीकृष्ण के सुख-समुद्र में तरंगे उठने लगती हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

१६७। 'सात्त्विक',—सात्त्विक विकार आठ प्रकार के हैं—(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमाञ्च, (४) स्वरभङ्ग, (५) वेपथु, (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु एवं (८) प्रलय।

'व्यभिचारी',—व्यभिचारी अथवा सञ्चारी भाव—तैंतीस हैं, यथा,—१) निर्वेद, २) विषाद, ३) दैन्य, ४) ग्लानि, ५) श्रम, ६) मद, ७) गर्व, ८) शङ्का, ९) त्रास, १०) आवेग, ११) उन्माद, १२) अपस्मार, १३) व्याधि, १४) मोह, १५) मति, १६) आलस्य, १७) जाड्य, १८) व्रीड़ा, १९) अवहिथ्या, २०) स्मृति, २१) वितर्क, २२) चिन्ता, २३) मति, २४) धृति, २५) हर्ष, २६) उत्सुक्य, २७) उग्रय, २८) अमर्ष, २९) असुया, ३०) चापल्य, ३१) निद्रा, ३२) सुप्ति एवं ३३) प्रबोध।

'भाव' रूप अलङ्कार—बीस प्रकार के हैं; यथा—(क) अङ्गज—१) भाव, २) हाव, ३) हेला; (ख) अयत्नज—४) शोभा, ५) कान्ति, ६) दीप्ति, ७) माधुर्य, ८) प्रगल्भता, ९) औदार्य, १०) धैर्य; (ग) स्वभावज—११) लीला, १२) विलास, १३) विच्छित्ति, १४) विभ्रम, १५) किलकिञ्चित, १६) मोट्टायित, १७) कुट्टमित, १८) विव्वोक, १९) ललित और २०) विकृत।

अनुभाष्य

१६८। 'किलकिञ्चित्'—इस परिच्छेद की १७४ संख्या द्रष्टव्य। 'कुट्टमित'—इसी परिच्छेद की १९७ संख्या द्रष्टव्य। 'विलास',—इसी परिच्छेद की १८७ संख्या द्रष्टव्य। 'ललित',—इसी परिच्छेद की १९२ संख्या द्रष्टव्य। 'विव्वोक',—उज्ज्वलनीलमणि के अनुभाव प्रकरण की ७५ संख्या—"इष्टेऽपि गर्वमानाभ्यां विव्वोकः स्यादनादरः" अर्थात् गर्व और मान द्वारा प्रियतम अथवा उनके द्वारा दी गयी वस्तु के अनादर को 'विव्वोक' कहते हैं। 'मोट्टायित'—उज्ज्वलनीलमणि के अनुभाव प्रकरण में—"कान्तस्मरणवार्त्तादौ हृदि तद्भावभावतः। प्राकट्यमभिलाषस्य मोट्टायितमुदीर्यते॥" अर्थात् हृदय में प्रियतम की स्मृति और कथा-जनित उनकी भावना से जो अभिलाषा उत्पन्न होती है, वही 'मोट्टायित' कहलाती है। 'मोग्ध्य',—उज्ज्वलनीलमणि के अनुभाव प्रकरण में—'ज्ञातस्याप्यज्ञावत् पृच्छा प्रियाग्रे कौग्ध्यमीरितम्' अर्थात् कान्त के सामने नायिका कोई विषय जानने पर भी नहीं जानती, ऐसा भाव प्रकाशित करके जो जिज्ञासा करती है, उसी को 'मोग्ध्य' कहते हैं। 'चकित',—उज्ज्वलनीलमणि के अनुभाव प्रकरण में—"प्रियाग्रे चकितं भीतेरस्थापि भयं महत्" अर्थात् कान्त के सम्मुख होने पर भयभीत नहीं होने पर भी जब नायिका अत्यधिक भयभीत जैसी प्रदर्शित करती है, उसी को 'चकित' कहते हैं।

अनुभाष्य

१६९। आदि चतुर्थ परिच्छेद २४३, २५०, २५६ संख्या द्रष्टव्य।

श्रीराधा के 'किलकिञ्चित'
भाव के दृष्टान्त का स्थान—

किलकिञ्चितादि-भावेर शुन विवरण।
जे भाव-भूषाय राधा हरे कृष्ण-मन॥१७०॥
राधा देखि' कृष्ण यदि छुँइते करे मन।
दानघाटि-पथे जबे वर्जेन गमन॥१७१॥
जबे आसि' माना करे पुष्प उठाइते।
सखी-आगे चाहे यदि गाये हात दिते॥१७२॥
एइसब स्थाने किलकिञ्चित-उद्गम।
प्रथमे 'हर्ष' सञ्चारी—मूल-कारण॥१७३॥

१७०-१७३। प० अनु०—अब किलकिञ्चितादि भावों का विवरण सुनिये जिस भाव रूपी भूषण से विभूषित होकर श्रीराधा श्रीकृष्ण का मन हरण करती हैं। श्रीराधा को देखकर श्रीकृष्ण यदि उन्हें छूने की इच्छा करते हैं, दानघाटी के रास्ते पर खड़े होकर जब गोपियों को जाने से रोकते हैं, जब पुष्पों का चयन करने से मना करते हैं, यदि किसी सखी के सामने श्रीकृष्ण श्रीराधा के श्रीअङ्ग को छूने का प्रयास करते हैं—इन सब स्थानों पर किलकिञ्चित भाव का प्राकट्य होता है जिसमें हर्षादि सञ्चारी भाव ही मूल कारण है।

अमृतप्रवाह भाष्य

१७१-१७३। जब श्रीमती की भाव-भूषा देखकर कृष्ण में उन्हें स्पर्श करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब या तो दानघाटी के मार्ग में, या फिर पुष्पों के कानन में, वही लीला सम्पादित करते हैं। दानघाटी के मार्ग पर ऐसी लीला,—जिस मार्ग पर श्रीमती प्रसार (कुछ खाद्य-वस्तुएँ) लेकर जाती है, उस रास्ते अथवा दूसरी पार खड़े होकर कृष्ण कहते हैं कि, तुम जब तक शुल्क (कर) नहीं दोगी, तब तक इस रास्ते से तुम्हारा गुजरना मना है'; इस छल से एक दानकेलि रूपी लीला का उद्गम करते हैं; फिर जब राधिका पुष्प चयन करने जाती हैं, तब कृष्ण पुष्प के वन के अधिकारी बनकर 'मेरे पुष्प चोरी कर रही हो' कहकर एक लीला का उद्गम करते हैं। इन सभी स्थानों पर इस समय श्रीराधाजी का 'किलकिञ्चित' भाव उत्पन्न होता है।

किलकिञ्चित-भाव की संज्ञा—
(उज्ज्वलनीलमणि में विभाव प्रकरण का ७१ श्लोक)

गर्वाभिलाषरूदितस्मितासूयाभयक्रू धाम्।
सन्करीकरणं हर्षादूच्यते किलकिञ्चितम्॥१७४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१७४। गर्व, अभिलाष, रोदन, हास्य, असुया, भय और क्रोध,—इन सात भावों का, हर्ष के साथ सङ्करीकरण अर्थात् मिश्रित होने को 'किलकिञ्चित्' भाव कहते हैं।

अनुभाष्य

१७४। हर्षात् (हर्षः एव हेतुः तस्मात्) गर्वाभिलाष-रुदितस्मितासूयाभय क्रुधां (गर्वादीना सप्तानां भावाना) सङ्करकरणं (मिश्रणं युगपत् प्राकट्य) 'किलकिञ्चितम्' उच्यते।

गर्वादि सात भावों के उनमें युगपत् मिलन
के फलस्वरूप उक्त 'महाभाव' का उदय—

आर सात भाव आसि' सहजे मिलय।
अष्टभाव-सम्मिलने 'महाभाव' हय॥१७५॥
गर्व, अभिलाष, भय, शुष्करूदित।
क्रोध, असूया हय, आर मन्दस्मित॥१७६॥
नाना-स्वादु अष्टभाव एकत्र मिलन।
जाहार आस्वादे तृप्त हय कृष्ण-मन॥१७७॥

१७५-१७७। प० अनु०—उस हर्ष के साथ गर्व, अभिलाष, भय, शुष्क- रुदित, क्रोध, असूया एवं मन्द स्मित—ये सात भाव सहज में आकर मिल जाते हैं और इन आठ भावों के मिलने पर 'महाभाव' हो जाता है। इन आठों का मिश्रण अत्यन्त स्वादिष्ट होता है, जिसका आस्वादन करके श्रीकृष्ण का मन सन्तुष्ट होता है।

अनुभाष्य

१७५। मूल कारण हर्ष के साथ गर्व आदि सात भाव मिलकर—इन आठ भावों के सम्मिलन से 'किलकिञ्चित्'—महाभाव होता है।

मीठे पाने के साथ उपमा—

दधि, खण्ड, घृत, मधु, मरीच, कर्पूर।
इलाची मिलने जैछे रसाला मधुर॥१७८॥

१७८। प० अनु०—(इन आठों का सम्मिलन अर्थात् 'महाभाव' वैसे ही आस्वादनीय होता है, जैसे) जिस प्रकार दही, चीनी, घी, मधु, (काली) मिर्च, कर्पूर और (छोटी) इलायची के मिलने पर रस मधुर हो जाता है।

श्रीराधा के किलकिञ्चित-भाव की शोभा
के दर्शन से श्रीकृष्ण का प्रगाढ़तम सुख—

एइ भाव-युक्त देखि' राधास्य-नयन।
संगम हइते सुख पाय कोटि-गुण॥१७९॥

१७९। प० अनु०—इन अष्ट सात्त्विक भावों के मिश्रण रूपी किलकिञ्चित भाव से युक्त श्रीराधा के मुख कमल और नेत्रों को देखकर श्रीकृष्ण संगम सुख से भी करोड़ो गुणा अधिक सुख प्राप्त करते हैं।

श्रीराधा के किलकिञ्चित भाव के दृष्टान्त का स्थान—
(दानकेलिकौमदी के प्रथम श्लोक
में श्रीरूप गोस्वामी के वाक्य)

अन्तःस्मेरतयोज्ज्वला
जलकणव्याकीर्णपक्ष्मांकुरा
किञ्चित् पाटलिताञ्चला
रसिकतोत्सिक्ता पुरः कुञ्चती।
रुद्धायाः पथि माधवेन मधुरव्याभुग्नतारोत्तरा
राधायाः किलकिञ्चितस्तवकिनी
दृष्टिः श्रियं वः क्रियात्॥१८०॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१८०। श्रीराधिका के गर्व आदि सात भावों से मिलित, हर्षजनित 'किलकिञ्चित्' भावोत्थित दृष्टि तुम्हारा मङ्गल विधान करे। दानघाटी के पथ पर श्रीकृष्ण ने आकर जब राधाजी को रोका तो राधाजी के अन्तःकरण में हँसी उदित हो आई; तब उनके नयन उज्ज्वल हो गये; नेत्रों की पलके नवोदित अश्रुओं से भर गयी; अपाङ्ग कुछ लाल रङ्ग के हो गये; रसोच्छवास-हेतु नेत्रों में उत्साह उत्पन्न हुआ; नयनाश्रु कुछ कम होने लगे एवं अत्यधिक सुन्दर रूप से दोनों नयन तारे ऊपर हो गये।

अनुभाष्य

१८०। पथि (दानघट्टमार्गे) माधवेन (श्रीराधा रमणेन; शुल्कग्रहणच्छलेन) रुद्धायाः राधायाः अन्तःष्मेवतया (अन्तः अव्यक्तया स्मेरतया ईषद्धास्य युक्त भया) उज्ज्वला (दीप्तिविशिष्टा इति स्मित), जलकणव्याकीर्णपक्षांकुरा (जलकणैः व्याकीर्णाः विक्षिप्ताः पक्षांकुरा नेत्रलोमाग्रभागः यस्याः सा इति 'रोदनं'), किञ्चित्-पाटलिताञ्चला (श्वेतरक्ताभनयनप्रान्तदेशाश्वेतिमा स्वाभाविक एव, रक्तिमा क्रोधात् इति 'क्रोधः'), रसिकतोत्सिक्ता (रसिकतया उत्कर्षेण सिक्ता इति 'गर्वः' 'अभिलाषाः' वा), पुरः (अग्रतः) एवं कुञ्चती (इति 'भय) मधुरव्याभुग्नतारोत्तरा (मधुरा व्याभुग्ना वक्रा या नयन-तारा तया उत्तरा श्रेष्ठा इति अभिलाषः' 'गर्वः' 'असूया' चा), किलकिञ्चितस्तवकिनी (किकिञ्चित-रूपो यः स्तवकः गाम्भीर्य मयत्वादस्फुटः भाव विशेषः नानाभावपुष्पगुच्छः तद्वती) दृष्टिः वः (युष्माक) श्रियं क्रियात्।

(गोविन्दलीलामृत के ९म सर्ग का १८ श्लोक)

वाष्पव्याकुलितारुणाञ्चलन्नेत्रं रसोल्लासितं
हेलोल्लासचलाधरं कुटिलितभ्रुयुग्ममुद्यत्स्मितम्।
राधायाः किलकिञ्चिताञ्चितमसौ वीक्ष्याननं
सङ्गमा-दानन्दं तमवाप कोटि गुणितं योऽभुन्न
गीर्गोचरः॥१८१॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१८१। राधिका के नेत्र अश्रुओं के द्वारा आकुलित हो गये, अरुण-वर्ण का अञ्चल हिलने लगा; रस के

उल्लास और कन्दर्प भाव के कारण अधर कम्पित होने लगे; भौंहे टेढ़ी हो गयी; मुखकमल पर मुस्कराहट छा गयी एवं किलकिञ्चित भाव से उत्पन्न प्रसन्नता को व्यक्त होते देख श्रीकृष्ण ने राधिका के मुख दर्शन से उनसे मिलन की अपेक्षा जिस करोड़ों गुणा अधिक सुख को प्राप्त किया, उसका वचनों द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता।

अनुभाष्य

१८१। असौ (श्रीकृष्णः) राधायाः वाष्पव्याकुलितारुणाञ्चलचलनेत्रं (वाष्पैः अश्रुजलैः व्याकुलिते, अरुणम् अञ्चलं ययोः एवम्भूते चञ्चले नेत्रे यस्मिन् तत्) रसोल्लासितं, हेलोल्लासचलाधरं (भावविशेषातिशयेन कम्पमानोष्ठ) कुटीलितभ्रूयुग्मम् उद्यतस्मितम् (प्रकटन्मन्दहास्य) किलकिञ्चिताञ्चितं (तद्भावयुक्तम्) आननं (मुख) वीक्ष्य (दृष्ट्वा) सङ्गमात् कोटिगुणितं तम् आनन्दम् अवाप (प्राप्तवान्)—यः आनन्दः गीर्गोचरः (वाक्यविषयः) न (नैव भवति, कदापीत्यर्थः)।

श्रीराधा के भावों को श्रवण करके
प्रभु द्वारा स्वरूप को आलिङ्गन—

एत शुनि' प्रभु हैला आनन्दित मन।
सुखाविष्ट हञा स्वरूपे कैला आलिङ्गन॥१८२॥

१८२। प० अनु०—इतना सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु का मन बहुत आनन्दित हुआ और सुख से आविष्ट होकर उन्होंने श्रीस्वरूप दामोदर का आलिङ्गन किया।

प्रभु के प्रश्न के उत्तर में स्वरूप का
श्रीराधा के 'विलास' भाव का वर्णन—

विलासादि'-भाव भूषार कह त' लक्षण।
जेइ भावे राधा हरे गोविन्देर मन?१८३॥

१८३। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीस्वरूप दामोदर से कहा— "विलासादि भाव भूषणों का लक्षण भी वर्णन करो, जिस भाव के द्वारा श्रीराधा श्रीगोविन्द का मन हरण करती हैं?

श्रीस्वरूप के द्वारा वर्णन आरम्भ; भक्तों का सुख—

तबे त' स्वरूप-गोसाञि कहिते लागिला।
शुनि' प्रभुर भक्तगण महासुख पाइला॥१८४॥
राधा बसि' आछे, किबा वृन्दावने जाय।
ताँहा आचम्विते कृष्ण दरशन पाय॥१८५॥
देखिते नाना-भाव हय विलक्षण।
से वैलक्षण्येर नाम 'विलास'-भूषण॥१८६॥

१८४-१८६। प० अनु०—तब श्रीस्वरूप दामोदर ने जो कहा, उसे सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्त परम सुख को प्राप्त हुये। श्रीराधा बैठीं हैं अथवा वृन्दावन में प्रवेश कर रही हैं—ऐसे समय में यदि उन्हें अचानक श्रीकृष्ण का दर्शन प्राप्त हो जाये, तो दर्शन करते ही उनमें अनेक प्रकार के विलक्षण भावों का उदय हो आता है, इस विलक्षण भाव का नाम ही 'विलास' भूषण है।

(उज्ज्वलनीलमणि में विभाव प्रकरण का ६७ श्लोक)

गतिस्थानासनादीनां मुख-नेत्रादि-कर्मणाम्।
तात्कालिकन्तु वैशिष्ट्यं विलासः प्रियसङ्गजम्॥१८७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१८७। प्रिय के सङ्ग से उत्पन्न, प्रिय सङ्गम-स्थान पर गमन और अवस्थिति इत्यादि एवं मुखनेत्र आदि अङ्गों का उस समय जो वैशिष्ट्य उदित होता है, उसे 'विलास' कहते हैं।

अनुभाष्य

१८७। गतिस्थानासनादीनां (कान्तायाः गमनावस्थानोपवेशनादिकाना) मुख नेत्रादिकर्मणां च (आङ्गिकक्रियाणा) प्रियसङ्गजं (कान्तसम्मिलनजात) तात्कालिकं (कान्तमिलनकालिक) वैशिष्ट्य (वैचित्र्य) तु 'विलासः' (इत्यभिधीयते)।

लज्जा, हर्ष, अभिलाष, सम्भ्रम, वाम्य, भय।
एत भाव मिलि' राधाय चञ्चल करय॥१८८॥

१८८। प० अनु०—श्रीकृष्ण के अचानक दर्शन होने से श्रीराधा को लज्जा, हर्ष, अभिलाष, सम्भ्रम, वाम्य

तथा भय—इतने सब भाव मिलकर चञ्चल कर देते हैं।

(गोविन्दलीलामृत के ९म सर्ग का ११ श्लोक)

पुरः कृष्णालोकात् स्थगितकुटिलास्या गतिरभूत्
तिरश्चीनं कृष्णाम्बरदरवृतं श्रीमुखमपि।
चलत्तारं स्फारं नयनयुगमाभुग्नमिति सा
विलासाख्य-स्वालङ्करणवलितासीत् प्रियमुदे॥१८९॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१८९। श्रीकृष्ण को सामने देखकर राधिका के गमन ने स्थिर होकर कुटिल भाव धारण किया; उनका मुखकमल नीले वस्त्र से थोड़ा-ढ़का होने पर भी दोनों नयन तारे विस्तृत, चञ्चल और वक्र हो गये एवं विलास के उपयोगी अलङ्कारों से मण्डित होकर वे कृष्ण का सुख उत्पन्न करने लगी।

अनुभाष्य

१८९। अस्याः (श्रीराधायाः) गति पुरः (अग्रतः) कृष्णालोकात् (कृष्णदर्शनेन) स्थगितकुटिला (स्थगिता स्तब्धा कुटिला मन्दा च) अभूत; श्रीमुखमपि तिरश्चीनं (वक्रीभूत) कृष्णाम्बर-दरवृतं (श्यामवासेन ईषत्) आवृतञ्च) अभूत; चलतारं (चलन्ती तारा यत्र तत्) स्फारं (विस्तृत) नयनयुगं (नेत्रद्वयम्) आभुग्नं (वक्रम्) अभूत;—इति सा राधा प्रियमुदे (कृष्णानन्दवर्द्धनाय) विलासाख्य-स्वालङ्करणवलिता (विलासाभिधेयेन स्वेन निजेन अलङ्करणेन भूषणेन वलिता समन्विता आसीत्।

कृष्ण-आगे राधा यदि रहे दाण्डाञा।
तिन-अंग-भंगे रहे भ्रू नाचाञा॥१९०॥
मुखे-नेत्रे हय नाना-भावेर उद्गार।
एइ कान्ता-भावेर नाम 'ललित'-अलंकार॥१९१॥

१९०-१९१। प० अनु०—यदि श्रीराधा श्रीकृष्ण के सामने खड़ी हो जाती हैं तो उनके तीन अंग टेढ़े हो जाते हैं और उनकी भ्रकुटि नाचने लगती है। उनके मुख तथा नेत्रों में अनेक प्रकार के भावों का प्राकट्य हो जाता है। कान्ता के इस भाव का नाम 'ललित' अलंकार है।

अनुभाष्य

१९०। तिन-अङ्ग-भङ्गे,—त्रिभङ्ग रूप में; तिन अङ्ग—गर्दन, कमर और चरण (अथवा घुटना)।

अनुभाष्य

१९१। हय उद्गार—फूटकर बाहर होता है।

उज्ज्वलनीलमणि में विभाव प्रकरण ७५ श्लोक)

विन्यास-भंगिरंगानां भ्रू-विलास-मनोहरा।
सुकुमारा भवेद्यत्र ललितं तदुदाहृतम्॥१९२॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९२। जिस स्थान पर अङ्गों की विन्यास-भङ्गि और भौंहो का विलास मनोहर और सुकुमार होता है, उस स्थान पर 'ललितालङ्कार' उक्त होता है।

अनुभाष्य

१९२। यत्र अङ्गानां सुकुमारा (अति कोमला) विन्यासभङ्गिः (रचना-चातुरी) भ्रू विलास-मनोहरा भवेत्, तत् 'ललितम्' इति उदाहृतम्।

ललित-भूषित राधा देखे यदि कृष्ण।
दुँहे दुँहा मिलिबारे हयेन सतृष्ण॥१९३॥

१९३। प० अनु०—इन्हीं ललित नामक भाव रूपी अलङ्कारों से भूषित श्रीराधा को यदि श्रीकृष्ण देख लें तो दोनों एक-दूसरे से मिलने के लिये उत्कण्ठित हो जाते हैं।

(गोविन्दलीलामृत के ९म सर्ग का १४श श्लोक)

ह्रिया-तिर्यग्-ग्रीवा-चरण-कटि-भङ्गी-सुमधुरा
चलटिल्लली-वल्ली-दलित-रतिनाथोर्ज्जित-धनुः।
प्रिय-प्रेमोल्लासोल्लसित-ललितालालित-तनुः
प्रियप्रीत्यै सासीदुदितललितालंकृतियुता॥१९४॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९४। कृष्ण की प्रीति को वर्धित करने के लिये जब राधिका ललिताङ्कार में भूषित हुई थी, जब लज्जा से उनकी गर्दन के वक्रभाव, चरण और कमर की सुमधुर

भङ्गिमा और भ्रूलता की चञ्चलता से कामदेव के तेजस्वी धनुष की पराजय एवं प्रियतम के प्रति प्रेमोल्लास में उल्लसित ललित-भाव से पुष्ट श्रीअङ्ग लक्षित होते हैं।

अनुभाष्य

१९४। सा (राधा) ह्रिया (लज्जया) तिर्यग् ग्रीवा चरणकटि भङ्गी सुमधुरा (त्रिर्यग् भावेन सुष्ठुविन्य-स्तकन्धरजानु-कटीभ्यङ्गत्रयेण भङ्ग्या सुमधुरा कृष्ण मनोहरा) चलच्चिल्लीवल्ली-दलितरतिनाथोर्जितधनुः (चलन्ती कम्पनवती टिल्ली भ्रूः टिल्लीपक्षिणीव भ्रूः क्लिन्नाक्षीवा, स एव वल्ली लता, तया दलितः विजितः रतिनाथस्य कामदेवस्य उर्जितं धनुः यया सा) प्रियप्रेमो-ल्लासोल्लसितललिता-लालित तनुः (प्रियस्य कान्तस्य कृष्णस्य प्रेमणा यः उल्लासः तेनोल्लसितं यत् ललितं क्रीड़ा नृत्यं तेन आ-लालित-तनुः आ-लालिता संसविता तनुः यस्याः सा) प्रियप्रीत्यै (कान्तस्य प्रेमवर्द्धनाय) उदित-ललितालंकृतियुता (उदितं प्रकाशितं ललित भाव-विशेषं, तदेव अलङ्कारेण युता ललितालङ्कार- समन्विता) आसीत्।

लोभे आसि' कृष्ण करे कञ्चुकाकर्षण।
अन्तरे उल्लास, राधा करे निवारण॥१९५॥
बाहिरे वामता-क्रोध, भितरे सुख मने।
'कुट्टमित'-नाम एइ भाव विभूषणे॥१९६॥

१९५-१९६। प० अनु०—श्रीराधा के संग के लोभ से यदि श्रीकृष्ण उनकी कञ्चुली को खींचते हैं तो यद्यपि उससे श्रीराधा के हृदय में उल्लास होता है तथापि वे बाहर से श्रीकृष्ण को ऐसा करने से मना करती हैं। श्रीराधा बाहर से वाम्यभाव और क्रोध प्रकट करती हैं और भीतर से अपने मन में सुख अनुभव करती हैं। इसी भाव रूपी विभूषण का नाम 'कुट्टमित' है।

अनुभाष्य

१९५। कञ्चुक,—काँचुलि, कवच, अङ्गरखा, वस्त्र।

(उज्ज्वलनीलमणि के अनुभाव प्रकरण में ४९ श्लोक)

स्तनाधरादिग्रहणे हृत्प्रीतावपि सम्भ्रमात्।
बहिः क्रोधो व्यथितवत् प्रोक्तं कुट्टमितं बुधैः॥१९७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

१९७। कञ्चुली और मुखवस्त्र धारण करने के समय हृदय के प्रफुल्ल होने पर भी सम्भ्रम के कारण बाहर से व्यथित की भाँति क्रोध के लक्षण को 'कुट्टमित' कहते हैं।

अनुभाष्य

१९७। स्तनाधरादि-ग्रहणे (वक्षोगण्डस्थलौष्ठस्पर्शने) हृत्प्रीतौ (मनसि लब्धे आनन्दे सति) अपि सम्भ्रमात् (लोक-गौरवात्) बहिः (सखिदृष्टिपथे) व्यथितवत् (आर्त्तजनोचितः) क्रोधः अर्थात् (अन्तः सन्तोषाः बहिः क्रोधः) भवेत्—इति बुधैः (अलङ्कारशास्त्रविद्भिः) 'कुट्ट-मितं' प्रोक्तम् (कथितम्)।

कृष्ण-वाञ्छा पूर्ण हय, करे पाणि-रोध।
अन्तरे आनन्द राधा, बाहिरे वाम्य-क्रोध॥१९८॥
व्यथा पात्रा करे, जेन शुष्क रोदन।
ईषत् हासिया कृष्ण करेन भर्त्सन॥१९९॥

१९८-१९९। प० अनु०—श्रीराधा श्रीकृष्ण के हाथ को रोकती तो हैं परन्तु इस प्रकार रोकती हैं जिससे श्रीकृष्ण की वाञ्छा पूर्ण हो जाये। श्रीराधा हृदय में तो आनन्द अनुभव करती हैं परन्तु बाहर से वामता और क्रोध प्रकट करती है। श्रीराधा व्यथा का बहाना बनाते हुये जैसे दिखावटी रोना तो दिखाती हैं परन्तु मन्द मुस्कराते हुये श्रीकृष्ण का तिरस्कार करती है।

(गोस्वामीपाद द्वारा उक्त श्लोक)

पाणिरोधमविरोधितवाञ्छं
भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः।
माधवस्य कुरुते करभोरुर्हारि
शुष्करुदितञ्च मुखेऽपि॥२००॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२००। कृष्ण के हाथ द्वारा रोके जाने पर अनिच्छा होने पर भी करभोरु (हथिनी की बच्ची की सूंड़ के जैसे स्तन युगल से विभूषित) राधिका उनके विरुद्ध मधुर-स्मितगर्भा भर्त्सना (डाँट-डपट) और मनोहर रोने का भान करने लगी।

अनुभाष्य

२००। करभोरुरु (करिशावकशुण्डवत् उर्जितोरुदेशा राधिका) माधवस्य अविरोधितवाञ्छं (न विरोधिता वाञ्छा यस्मिन् तत्) पाणिरोधं (करस्पर्शनिवारण) मधुरस्मित-गर्भाः (मधुरं मृदु स्मितं मन्द हास्यं गर्भे यासां तथा-भूताः) भर्त्सनाः, अपि च मुखे हारिशुष्क रुदितं (कृष्ण मनोहारि कपट रोदनं कुरुते)

एइमत आर सब भाव-विभूषण।
जाहाते भूषित राधा हरे कृष्ण मन॥२०१॥

२०१। प० अनु०—इस प्रकार और अनेक भाव रूपी भूषण हैं जिससे विभूषित होकर श्रीराधा श्रीकृष्ण का मन हरण करती है।

अनुभाष्य

२०१। हरे,—हरण अर्थात् आकर्षण करती हैं।

सहस्त्र मुख से भी शेष रूपी विष्णु
श्रीकृष्ण-लीला वर्णन करने में असमर्थ—

अनन्त कृष्णेर लीला ना जाय वर्णन।
आपने वर्णेन यदि 'सहस्त्रवदन'॥२०२॥

२०२। प० अनु०—श्रीकृष्ण की लीलाएँ अनन्त हैं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। यदि 'सहस्त्र-वदन' अर्थात् हजार मुख वाले शेष भी वर्णन करे, तो वे भी नहीं कर पायेंगे।

अनुभाष्य

२०२। मध्य एकविंश (२१ संख्या) परिच्छेद की १० और १२ संख्या तथा भाः २/७/४१ और १०/१४/७ श्लोक द्रष्टव्य।

श्रीराधा के सेवक स्वरूप और श्रीलक्ष्मीनारायण
के सेवक श्रीवास का संलाप; श्रीवास को
अपनी ईश्वरी के ऐश्वर्य का गर्व—

श्रीवास हासिया कहे,—शुन, दामोदर।
आमार लक्ष्मीर देख सम्पत्ति विस्तर॥२०३॥
वृन्दावनेर सम्पद् देख,—पुष्प-किसलय।
गिरिधातु शिखिपिच्छ-गुञ्जाफल-मय॥२०४॥

२०३-२०४। प० अनु०—श्रीवास ने मुस्कराते हुये कहा—सुनो! दामोदर, मेरी लक्ष्मी की अथाह सम्पत्ति को देखिये। वृन्दावन की सम्पत्ति तो केवल फूल, नये पत्ते, गैरिक धातु, मोर पंख और गुञ्जाफल मात्र ही है।

अनुभाष्य

२०३। श्रीवास स्वयं को दास्य रस के ऐश्वर्य में अवस्थित होने का अभिमान करके श्रीदामोदर स्वरूप को ऐश्वर्य हीन 'व्रजवासी' समझकर प्रेमकलह कर रहे हैं।

कृष्ण के व्रज जाने हेतु लक्ष्मी का क्रोध अभिमान—

वृन्दावन देखिबारे गेला जगन्नाथ।
शुनि' लक्ष्मी देवीर मने हैल आसोयाथ॥२०५॥
एत सम्पत्ति छाड़ि' केने गेला वृन्दावन।
ताँरे हास्य करिते लक्ष्मी करिला साजन॥२०६॥
"तोमार ठाकुर, देख एत सम्पत्ति छाड़ि'।
पत्र-फल-फूल-लोभे गेला पुष्पबाड़ी॥२०७॥
एइ कर्म करे काँहा विदग्ध-शिरोमणि?
लक्ष्मीर अग्रेते निज प्रभुरे देह' आनि'॥"२०८॥

२०५-२०८। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ वृन्दावन को देखने गये हैं, यह सुनकर लक्ष्मीदेवी के मन में दुःख होता है। इतनी सारी सम्पत्ति को छोड़कर श्रीजगन्नाथ वृन्दावन क्यों गये हैं, श्रीजगन्नाथ का उपहास करने के लिये ही लक्ष्मी ऐश्वर्य प्रकटित करके बाहर आयी हैं। लक्ष्मीदेवी की दासियाँ श्रीजगन्नाथ के सेवकों से कहती हैं—"तुम्हारे ठाकुर श्रीजगन्नाथ इतनी सम्पत्ति को छोड़कर पत्ते, फल और फूल को देखने के लोभ से बगीचे में गये हैं। ऐसा कार्य क्या विदग्ध-शिरोमणि करते हैं? अपने प्रभु को लक्ष्मी के सामने ले आओ।"

अमृतप्रवाह भाष्य

२०५। आसोयाथ—असूया (घृणा) युक्त, स्वल्प ईर्ष्यायुक्त।

२०७-२०८। लक्ष्मी की दासियाँ कह रही हैं,—ओ जगन्नाथ के सेवकों, देखो, इतनी सम्पत्ति छोड़कर फल-पत्र-फूल के लोभ से तुम्हारा ठाकुर पुष्पोद्ययान में गया है। अब लक्ष्मीदेवी के समक्ष अपने उन्हीं प्रभु को ला दो।

अनुभाष्य

२०५। आसोयाथ—अस्वस्ति, अस्वास्थ्य, चाञ्चल्य।

२०७। तोमार ठाकुर,—जगन्नाथ के सेवकों को लक्ष्य करके लक्ष्मी की दासियों की उक्ति।

२०८। निज प्रभुरे,—जगन्नाथ को।

लक्ष्मी की दासियों के द्वारा ईश्वर के दोष के भागीदार सेवकों का बन्धन और उन्हें दण्ड प्रदान—

एत बलि' महालक्ष्मीर सब दासीगणे।
कटि-वस्त्रे बान्धि' आने प्रभुर निजगणे॥२०९॥
लक्ष्मीर चरणे आनि' कराय प्रणति।
धन-दण्ड लय, आर कराय मिनति॥२१०॥
रथेर उपरे करे दण्डेर ताड़न।
चोर-प्राय करे जगन्नाथेर सेवकगण॥२११॥

२०९-२११। प० अनु०—इतना कहकर महालक्ष्मी की सभी दासियों ने श्रीजगन्नाथ के सेवकों की कमर में वस्त्र बाँध दिया और उन्हें अपनी स्वामिनी श्रीलक्ष्मी के चरणों में गिराकर प्रणाम कराया तथा दण्ड के रूप में धन लेकर, उनसे विनय-अनुनय कराया। श्रीजगन्नाथ के रथ पर भी डण्डों से प्रहार किया और श्रीजगन्नाथ के सेवकों के प्रति चोर जैसा व्यवहार किया।

अनुभाष्य

२०९। प्रभुर,—जगन्नाथ का।

अमृतप्रवाह भाष्य

२११। दण्ड अर्थात् लाठी द्वारा गुण्डिचा मन्दिर के द्वार पर खड़े रथ को चोट पहुँचाने लगी।

अपने प्रभु जगन्नाथ को लौटाने हेतु सेवकों की प्रतिज्ञा—

सब भृत्यगण कहे,—जोड़ करि' हात।
'कालि आनि दिब तोमार आगे जगन्नाथ'॥२१२॥

२१२। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ के सभी सेवकों ने हाथ जोड़कर कहा—'हम कल ही श्रीजगन्नाथ को आपके सामने लाकर खड़ा कर देंगे।'

उसे सुनकर लक्ष्मी का क्रोध शान्त—

तबे शान्त हञा लक्ष्मी जाय निज घर।
आमार लक्ष्मीर सम्पद्—वाक्य-अगोचर॥२१३॥

२१३। प० अनु०—(श्रीवास पण्डित कह रहे हैं—) जगन्नाथ के सेवकों के मुख से ऐसा सुनकर ही शान्त होकर श्रीलक्ष्मी अपने महल में चली गयीं, मेरी लक्ष्मीदेवी की सम्पत्ति का वचनों के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता।

लक्ष्मी के ऐश्वर्य के विषय में बतलाकर श्रीवास के द्वारा स्वरूप का परिहास—

दुग्ध आउटि दधि मथे तोमार गोपीगणे।
आमार ठाकुराणी बैसे रत्नसिंहासने॥२१४॥

२१४। प० अनु०—(श्रीवास पण्डित ने आगे कहा—) तुम्हारी गोपियाँ तो दूध उबालना और दधी मन्थन करना ही जानती है परन्तु मेरी ठाकुरानी तो रत्न सिंहासन पर बैठती हैं।

अनुभाष्य

२१४। आउटि,—आवर्त्तन (उबाल) करके।

श्रीवास के वचन सुनकर प्रभु के रागमार्गीय भक्तों का हँसना—

नारद-प्रकृति श्रीवास करे परिहास।
शुनि' हासे महाप्रभुर जत निज-दास॥२१५॥

२१५। प० अनु०—नारद की प्रकृति वाले श्रीवास पण्डित जब इस प्रकार परिहास कर रहे थे, तब उनकी बातों को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु के सभी अन्तरङ्ग भक्त हँस रहे थे।

अनुभाष्य

२१५। निज-दास,—श्रीराधा गोविन्द की सेवा में एकनिष्ठ रागत्मिक भक्ति में रत गदाधर आदि प्रभु के शक्ति वर्ग।

प्रभु के द्वारा श्रीवास और श्रीस्वरूप
के भजन-वैशिष्ट्य का वर्णन—

प्रभु कहे,—श्रीवास, तोमाते नारद-स्वभाव।
ऐश्वर्यभावे तोमाते, ईश्वर-प्रभाव॥२१६॥
इँहो दामोदर-स्वरूप—शुद्ध-व्रजवासी।
ऐश्वर्य ना जाने इँहो शुद्धप्रेमे भासि'॥२१७॥

२१६-२१७। प॰ अनु॰—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा—"श्रीवास, तुम नारद के स्वभाव से प्रभावित हो। इसीलिये ईश्वर का जो ऐश्वर्य भाव है, तुम उसी का ही बहुमानन करते हो। यह स्वरूप दामोदर तो शुद्ध व्रजवासी है, ये ऐश्वर्य को नहीं जानता है, यह तो शुद्ध प्रेम में ही डूबा रहता है।"

स्वरूप के द्वारा व्रज के माधुर्य की गरिमा का वर्णन—

स्वरूप कहे,—श्रीवास, शुन सावधाने।
वृन्दावनसम्पद् तोमार नाहि पड़े मने?२१८॥

२१८। प॰ अनु॰—श्रीस्वरूप दामोदर ने कहा—श्रीवास! सावधानी पूर्वक सुनो क्या वृन्दावन की सम्पत्ति तुम्हारे को याद नहीं आती।

महावैकुण्ठ का ऐश्वर्य वृन्दावन
के ऐश्वर्य का एक कण मात्र—

वृन्दावने साहजिक जे सम्पद्सिन्धु।
द्वारका-वैकुण्ठ-सम्पद—तार एक बिन्दु॥२१९॥

२१९। प॰ अनु॰—वृन्दावन में सहज सम्पद का जो समुद्र है। द्वारका और वैकुण्ठ की सम्पत्ति वृन्दावन की उस सम्पत्ति की तुलना में एक बिन्दु मात्र है।

कृष्ण के वृन्दावन धाम का वर्णन—

परम पुरुषोत्तम स्वयं भगवान्।
कृष्ण जाँहा धनी ताँहा वृन्दावन-धाम॥२२०॥
चिन्तामणिमय भूमि, रत्नेर भवन।
चिन्तामणिगण—दासी-चरण-भूषण॥२२१॥
कल्पवृक्ष-लतार—जाँहा साहजिक-वन।
पुष्प-फल बिना केह ना मागे अन्य धन॥२२२॥
अनन्त कामधेनु ताँहा फिरे वने वने।
दुग्धमात्र देन, केह ना मागे अन्य धने॥२२३॥
सहज लोकेर कथा—जाँहा दिव्य-गीत।
सहज गमन करे,—जैछे नृत्य-प्रतीत॥२२४॥
सर्वत्र जल—जाँहा अमृत-समान।
चिदानन्द ज्योतिः स्वाद्य—जाँहा मूर्त्तिमान॥२२५॥
लक्ष्मी जिनि' गुण जाँहा लक्ष्मीर समाज।
कृष्ण-वंशी करे जाँहा प्रियसखी-काज॥२२६॥

२२०-२२६। प॰ अनु॰—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण परम पुरुषोत्तम हैं। श्रीकृष्ण जहाँ पर धनी है वह श्रीवृन्दावन धाम है। श्रीवृन्दावन की भूमि चिन्तामणिमय है, वहाँ के भवन रत्नों से निर्मित हैं। वहाँ की दासियों के चरणों के भूषण (नूपुर) चिन्तामणियों से बने हुये हैं। वहाँ के साधारण वन कल्पवृक्ष और लताओं से घिरे हुये हैं। वहाँ के लोग उन वृक्षों से पुष्प और, फलों के अतिरिक्त और कोई धन नहीं माँगते। वहाँ अनन्त कामधेनु वन-वन में भ्रमण करती रहती है, व्रजवासीगण उनसे मात्र दूध ही चाहते हैं अन्य किसी भी प्रकार का धन नहीं माँगते। वृन्दावन के वासियों की सहज साधारण बातें भी दिव्य गीत की भाँति मधुर है एवं उनका सहज गमन इत्यादि भी नृत्य की भाँति प्रतीत होता है। जहाँ का जल सर्वत्र ही अमृत के समान है तथा चिदानन्द ज्योति स्वयं मूर्त्तिमान स्वरूप होकर प्रकाशित हो रही है। वहाँ की अनन्त कोटि माधुर्यवती लक्ष्मियाँ गुणों में ऐश्वर्यवती लक्ष्मी को भी पराजित करती है और श्रीकृष्ण की वंशी ही जहाँ प्रिय सखी का कार्य करती है।

अमृतप्रवाह भाष्य

२२०-२२२। कृष्ण जिस स्थान पर ऐश्वर्य का परित्याग करके पत्र-पुष्प आदि के माधुर्य में स्वयं को

धनी समझते हैं, उसी का नाम ही 'वृन्दावन धाम' है। उस वृन्दावन धाम में चिन्तामणिमय भूमि अर्थात् चिन्मय भूमि, चिन्मय रत्नों के भवन, चिन्मय अलङ्कारों को चरणों में धारण करने वाली सेविकाएँ, चिन्मयकल्पवृक्ष और लताओं से वेष्टित सहज सिद्ध वन नित्य विराजित है—जहाँ पर फल-पुष्प के बिना किसी को भी अन्य किसी धन की इच्छा नहीं है।

२२६। ऐश्वर्यवती लक्ष्मी को पराभूत करके अनन्त कोटि माधुर्यवती लक्ष्मी जहाँ विराजमान हैं।

अनुभाष्य

२२०-२२६। आदि पञ्चम परिच्छेद २०, २२ संख्या द्रष्टव्य।

वृन्दावन में स्थित वस्तुओं के स्वरूप
और विचित्र स्वभाव का वर्णन—
(ब्रह्मसंहिता ५/५६ श्लोक)—

श्रियः कान्ताः कान्तः परम पुरुषः कल्पतरवो
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च॥२२७॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२२७। उस वृन्दावन की कान्ताएँ—व्रज की लक्ष्मियाँ गोपियाँ हैं; कान्त—परम पुरुष श्रीकृष्ण हैं, वृक्ष—कल्पतरु हैं, सम्पूर्ण भूमि ही चिन्मय है, जल—अमृत है, कथा—सङ्गीत है, गमन (चलना)—नृत्य हैं, कृष्ण की वंशी ही प्रिय सखी है एवं सर्वत्र चिदानन्द ज्योति अनुभूत होती है, अतएव श्रीवृन्दावन ही परम आस्वाद्य है।

अनुभाष्य

२२७। तत्र (अप्राकृत भूमौ) परम पुरुषः (एव)—कान्तः (एकः द्वितीय-भोक्तृ-रहितः), श्रियः (लक्ष्म्यः गोप्यः एव)—कान्ताः, (सर्वाः कृष्णाश्रिताः) द्रुमाः (कदम्बाद्या वृक्षाः)—कल्पतरवः (कृष्णप्रेम फलदातारः एव), भूमिः चिन्तामणिगणमयी (विविधचिन्मय वाञ्छा-पूरक-रत्न-पूर्णा एव), तोयम्—अमृतमेव, कथा—गानमेव, गमनपि नाट्यमेव, वंशी—प्रियसखी (एव), परं ज्योतिः (चन्द्र सूर्यादिः) अपि चिदानन्दं (तन्मयं), तत् अपि आस्वाद्यं (तेषां सर्वमेव जड़भावरहितम् अप्राकृतं कृष्णैकभोग्यमित्यर्थः)।

मध्य अष्टम परिच्छेद १३७ संख्या में वृन्दावन शब्द का अनुभाष्य द्रष्टव्य।

वृन्दावन के ऐश्वर्य का वर्णन—
(भः रः सिः, दः विः १म लः
में उद्धृत बिल्वमंगल के वचन)

चिन्तामणिश्चरणभूषणमङ्गलानां
शृङ्गारपुष्पतरवस्तरवः सुराणाम्।
वृन्दावने व्रजधनं ननु कामधेनु
वृन्दानि चेति सुखसिन्धुरहो विभूतिः॥२२८॥

अमृतप्रवाह भाष्य

२२८। श्रीवृन्दावन की व्रजाङ्गनाओं के चरणों के भूषण ही चिन्तामणि हैं, लीला-अनुकूल समस्त पुष्प वृक्ष ही कल्पवृक्ष (सुरतरु) एवं कामधेनु ही व्रज का परम धन है। इन सबके द्वारा श्रीवृन्दावन की विभूति परमानन्द स्वरूप में प्रकाशित हो रही है।

अनुभाष्य

२२८। वृन्दावने अङ्गनानां (गोपीना) चरण भूषणं चिन्तामणिः (एव) शृङ्गार पुष्पतरवः (शृङ्गारार्थं वेश-विन्यासाय कुसुमविटपिनः) सुराणां तरवः (कल्पद्रुमाः एव) कामधेनु वृन्दानि (एव) व्रजधनं (गोकुल वासिनां धनम्); अहो (वृन्दावनस्य) विभूतिः (अतुलनीयमहेश्व-र्यमपि) सुखसिन्धुः (आनन्दामृत समुद्रः एव)।

श्रीवास का परमानन्द—

शुनि' प्रेमावेशे नृत्य करे श्रीनिवास।
कक्षतालि बाजाय, करे अट्ट-अट्ट हास॥२२९॥

२२९। प॰ अनु॰—श्रीस्वरूप दामोदर के वचनों को सुनकर श्रीनिवास प्रेम में आविष्ट होकर नृत्य करने लगे और बगल बजाते हुये अट्टहास करने लगे।

श्रीराधा का रस श्रवण करने से प्रभु को भी आनन्द—

राधार शुद्धरस प्रभु आवेशे शुनिल।
सेइ रसावेशे प्रभु नृत्य आरम्भिल॥२३०॥

२३०। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रीराधा के शुद्ध प्रेम रस की बातों को आवेश में सुनकर उसी रस में आविष्ट होकर नृत्य आरम्भ कर दिया।

प्रभु का नृत्य और स्वरूप का गीत—

रसावेशे प्रभुर नृत्य, स्वरूपेर गान।
'बल' 'बल' बलि' प्रभु पाते निज-कान॥२३१॥

२३१। प० अनु०—रस में आविष्ट होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु नृत्य कर रहे थे और श्रीस्वरूप दामोदर गान कर रहे थे तथा श्रीचैतन्य महाप्रभु 'बोलो बोलो' कहकर अपने कानों को (हाथ के माध्यम से) फैला रहे थे।

प्रभु की प्रेम रूपी बाढ़ में पुरी धाम प्लावित—

व्रजरस-गीत शुनि' प्रेम उथलिल।
पुरुषोत्तम-ग्राम प्रभु प्रेमे भासाइल॥२३२॥

२३२। प० अनु०—व्रज रस के गीत को सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु में प्रेम उमड़ आया और इसी प्रेम के द्वारा उन्होंने श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र को डुबो दिया।

दो पहर तक प्रभु का नृत्य—

लक्ष्मी-देवी-यथाकाले गेला निज-घर।
प्रभु नृत्य करे, हैल द्वितीय प्रहर॥२३३॥

२३३। प० अनु०—श्रीलक्ष्मीदेवी भी यथा समय अपने घर नीलाचल में चली गयीं और श्रीचैतन्य महाप्रभु नृत्य करने लगे, इस प्रकार द्वितीय प्रहर का समय हो आया।

चारों सम्प्रदायों की ही कीर्त्तन करते हुए थकान—

चारि सम्प्रदाय गान करि' बहु श्रान्त हैल।
महाप्रभुर प्रेमावेश द्विगुण बाड़िल॥२३४॥

२३४। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु के भक्तों की चारों मण्डलियाँ गान करते-करते बहुत थक गयी परन्तु श्रीमन् महाप्रभु का प्रेमावेश बढ़कर दो गुणा हो गया।

श्रीराधा के प्रेम के आवेश में प्रभु—

राधा-प्रेमावेशे प्रभु हैला सेइ मूर्त्ति।
नित्यानन्द दूरे देखि' करिलेन स्तुति॥२३५॥

२३५। प० अनु०—श्रीराधा के प्रेम में आविष्ट होकर श्रीचैतन्य महाप्रभु भी वैसी राधा-मूर्त्ति हो गये अर्थात् स्वयं को श्रीराधा ही मानने लगे तथा दूर खड़े हुए श्रीनित्यानन्द प्रभु की (व्रज के बलराम मानकर) स्तुति करने लगे।

रस विरोध के भय से दूर से ही
श्रीनित्यानन्द का प्रभु के प्रति स्तव—

नित्यानन्द देखिया प्रभुर भावावेश।
निकट ना आइसे, किछु रहे दूरदेश॥२३६॥

२३६। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु श्रीचैतन्य महाप्रभु को श्रीराधा के भाव में आविष्ट देखकर निकट नहीं आये, कुछ दूर ही रहे।

निताई के न आने से प्रभु का आवेश
और कीर्त्तन भी रुकता नहीं—

नित्यानन्द बिना प्रभुके धरे कोन् जन।
प्रभुर आवेश ना जाय, ना रहे कीर्त्तन॥२३७॥

२३७। प० अनु०—श्रीनित्यानन्द प्रभु के अतिरिक्त श्रीचैतन्य महाप्रभु को कौन व्यक्ति सम्भाल सकता है। न तो श्रीचैतन्य महाप्रभु का आवेश दूर हो रहा था और न ही कीर्त्तन बन्द हो रहा था।

अनुभाष्य

२३७। रहे,—रुके या विराम प्राप्त करे।

स्वरूप के कौशल से प्रभु की बाह्यदशा—

भङ्गि करि' स्वरूप सबार श्रम जानाइल।
भक्तगणेर श्रम देखि' प्रभुर बाह्य हैल॥२३८॥

२३८। प० अनु०—तब श्रीस्वरूप दामोदर ने भङ्गीपूर्वक श्रीचैतन्य महाप्रभु को भक्तों के परिश्रम के

विषय में बतलाया और भक्तों के श्रम को देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु बाह्य दशा में आ गये।

अमृतप्रवाह भाष्य

२३५-२३८। प्रभु ने राधा प्रेम के आवेश में राधिका मूर्त्ति प्रकाशित की है, ऐसा देखकर अधिकार-विरोध-प्रयुक्त प्रभु नित्यानन्द दूर ही रहे; स्वरूप गोस्वामी ने भी भङ्गि पूर्वक प्रभु के भावावेश को दूर कराया।

उपवन में जाकर सभी के द्वारा
विश्राम करने के बाद मध्याह्न-स्नान—

सब भक्त लञा प्रभु गेला पुष्पोद्याने।
विश्राम करिया कैला मध्याह्निक-स्नाने॥२३९॥

२३९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु सभी भक्तों को साथ लेकर पुष्प-उद्यान में चले गये और वहाँ विश्राम करके उन्होंने मध्याह्निक स्नान किया।

लक्ष्मी और जगन्नाथ का बहुत प्रसाद-संग्रह—

जगन्नाथेर प्रसाद आइल बहु उपहार।
लक्ष्मीर प्रसाद आइल विविध प्रकार॥२४०॥

२४०। प० अनु०—तब श्रीजगन्नाथ का श्रीसुन्दराचल (गुण्डिचा मन्दिर) से तथा श्रीलक्ष्मी का श्रीनीलाचल (जगन्नाथ मन्दिर) से बहुत प्रकार का प्रसाद आ गया।

भक्तों के साथ प्रसाद सेवन; सन्ध्या में
स्नान करने के बाद श्रीजगन्नाथ का दर्शन—

सबा लञा नाना-रङ्गे करिला भोजन।
सन्ध्या स्नान करि' कैल जगन्नाथ दरशन॥२४१॥

२४१। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सभी भक्तों के साथ प्रेम पूर्वक भोजन किया और सन्ध्या स्नान करके श्रीजगन्नाथ का दर्शन किया।

अमृतप्रवाह भाष्य

२४०-२४१। कोई-कोई विटल (धर्मध्वजी भण्ड) व्यक्ति लक्ष्मीदेवी का प्रसाद पाने में वितर्क करता है। इस स्थान पर देखिये,—श्रीमहाप्रभु ने स्वयं भक्तों के साथ उसी प्रसाद को पाया था। तात्पर्य यह है कि लक्ष्मी आदि समस्त शक्तियाँ ही श्रीभगवान् की दासियाँ हैं। जब जो भक्त उन्हें जो भी उत्तम वस्तु अर्पित करता है, शक्तियाँ अपने प्रभु श्रीकृष्ण को निवेदित करके ही उन वस्तुओं का सेवन करती हैं। इसलिए भगवान् के दास-दासियों का प्रसादान्न 'भगवान् का प्रसादान्न' ही है, ऐसा मानकर सर्वदा ही सेवनीय है। यहाँ पर और भी एक विचारणीय विषय यह है कि;—मायावादी नास्तिकों के द्वारा निवेदित खाद्य द्रव्यों को भगवान् की शक्तियाँ ग्रहण करती है या नहीं, यह घोर सन्देह का विषय है। अतएव भगवान् के दास-दासियों के प्रति शुद्ध वैष्णवों द्वारा अर्पित निवेदित अन्न का सेवन करना ही वैष्णवों के लिये उचित है।

८ दिन तक श्रीजगन्नाथ का दर्शन करते हुए
नृत्य-कीर्त्तन करके भक्तों के साथ नरेन्द्र
सरोवर में जलकेलि एवं उद्यान में भोजन—

जगन्नाथ देखि' करेन नर्त्तन-कीर्त्तन।
नरेन्द्र जलक्रीड़ा करे लञा भक्तगण॥२४२॥
उद्याने आसिया कैल वन-भोजन।
एइमत क्रीड़ा कैल प्रभु अष्ट दिन॥२४३॥

२४२-२४३। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ का दर्शन करके श्रीचैतन्य महाप्रभु ने वहाँ नृत्य-कीर्त्तन किया तथा भक्तों को साथ लेकर नरेन्द्र सरोवर में जल-क्रीड़ा करके फिर उद्यान में आकर वन-भोजन किया। इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु आठ दिनों तक ऐसी लीलाएँ करते रहे।

जगन्नाथ की पुरी में पुनर्यात्रा—

आर दिने जगन्नाथेर भितर-विजय।
रथे चड़ि' जगन्नाथ चले निजालय॥२४४॥

२४४। प० अनु०—अगले दिन श्रीजगन्नाथ की भीतर-विजय हुई तथा फिर वे रथ पर चढ़कर सुन्दराचल से अपने स्थान नीलाचल की ओर चल पड़े।

अमृतप्रवाह भाष्य

२४४। भितर-विजय,—गुण्डिचा मन्दिर की रत्नबेदी से जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा—ये तीन विग्रह जगमोहन में रहने पर उन्हें एक ही समय रथ पर चढ़ाया जाता है। रत्नबेदी से उतरकर वे जगमोहन में जितनी देर तक रहते हैं, उसी का नाम ही 'भितर-विजय' है।

अनुभाष्य

२४४। भितर-विजय,—पुनर्यात्रा श्रीमन्दिर के अन्दर आने के लिये की जाने वाली यात्रा। गुण्डिचा मन्दिर से बाहर आकर पुनः मन्दिर की ओर गमन।

पहले की भाँति नृत्य-गीत—

पूर्ववत कैल प्रभु लञा भक्तगण।
परम आनन्दे करेन नर्तन-कीर्त्तन॥२४५॥

२४५। प० अनु०—पहले की भाँति श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने भक्तों के साथ रथ के आगे परम आनन्द से नृत्य-कीर्त्तन किया।

पाहाण्डि के समय पट्टडोरी आंशिक रूप से छिन्न—

जगन्नाथेर पुनः पाण्डु विजय हइल।
एक-गुटि पट्टड़ोरी ताँहा टुटि गेल॥२४६॥
पाण्डु-विजयेर तुली फाटि-फूटि जाय।
जगन्नाथेर भरे तुला उड़िया पलाय॥२४७॥

२४६-२४७। प० अनु०—श्रीजगन्नाथ का फिर से पाण्डु विजय हुआ और उनके कमर में बाँधी हुई अनेक पट्ट डोरी में से एक डोरी टूट गयी। श्रीजगन्नाथ के पाण्डु विजय के समय उन्हें जिन गद्दों पर रखा जा रहा था वह फटते जा रहे थे और उनके भार से रुई उड़ती जा रही थी।

प्रत्येक वर्ष जगन्नाथ के लिये सपुत्र सत्यराज को पट्टड़ोरी लाने का आदेश—

कुलीनग्रामी रामानन्द, सत्यराज खाँन।
ताँरे आज्ञा दिल प्रभु करिया सम्मान॥२४८॥
एइ पट्टड़ोरीर तुमि हउ यजमान।
प्रतिवत्सर आनिबे 'ड़ोरी' करिया निर्माण॥२४९॥

२४८-२४९। प० अनु०—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कुलीनग्रामवासी श्रीरामानन्द एवं श्रीसत्यराज खाँन को सम्मान पूर्वक आज्ञा दी कि तुम इस पट्ट डोरी के यजमान हो जाओ। और प्रत्येक वर्ष एक नयी पट्ट डोरी बनाकर लाया करना।

अमृतप्रवाह भाष्य

२४९। जिन सब पट्टडोरी (रस्सियों) द्वारा तीनों मूर्त्तियों की पाण्डुविजय होती है, वे रस्सियाँ बहुत से देशों से आती थी और आती हैं। वर्द्धमान जिले के अन्तर्गत कुलीनग्राम के निकटवर्ती अनेक ग्रामों में पट्टवस्त्र बनाने के स्थान विद्यमान हैं, इसलिये पट्टडोरी लाने के लिये रामानन्द वसु और सत्यराज खान को प्रभु ने यजमान के रूप में नियुक्त किया।

पक्की डोरी निर्माण करने के लिये टूटी हुई डोरी द्वारा निदर्शन-प्रदान—

एत बलि' दिल ताँरे छिण्ड़ा पट्टड़ोरी।
इहा देखि' करिबे ड़ोरी अति दृढ़ करि'॥२५०॥

२५०। प० अनु०—इतना कहकर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हें टूटी हुयी पट्ट डोरी पकड़ा दी और कहा कि इसे देखकर आप अत्यधिक मजबूत डोरी बनाकर लाना।

अनुभाष्य

२५०। छिण्डा (उड़िया भाषा),—छिन्न (टुकड़ा)।

श्रीजगन्नाथ की पट्टड़ोरी—अनन्त रूपी भगवान् विष्णु की ही अर्च्चा—

एइ पट्टड़ोरी हय 'शेष' अधिष्ठान।
दश-मूर्त्ति हञा जेंहो सेवे भगवान्॥२५१॥

२५१। प० अनु०—इस रेशमी डोरी में 'शेष' का वास है जो कि दस मूर्त्ति धारण करके भगवान् की सेवा करते हैं।

अमृतप्रवाह भाष्य

२५१। 'शेष' अधिष्ठान,—अनन्तदेव का अधिष्ठान; दशमूर्त्ति—आदि पञ्चम परिच्छेद १२३-१२४ संख्या द्रष्टव्य।

चतुर्दश परिच्छेद का अमृतप्रवाह भाष्य समाप्त।

सेवा प्राप्त करके दोनों (सत्यराज
और उनके पुत्रों) का आनन्द—

भाग्यवान् सेइ सत्यराज, रामानन्द।
सेवा आज्ञा पाञा हैल परम आनन्द॥२५२॥

२५२। प० अनु०—वे श्रीसत्यराज खाँन एवं श्रीरामानन्द बहुत भाग्यवान् हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु की आज्ञा पाकर वे परम आनन्दित हुये।

तभी से प्रति वर्ष गुण्डिचा में पट्टडोरी लाना—

प्रति वत्सर गुण्डिचाते भक्तगण-सङ्गे।
पट्टडोरी लञा आइसे अति बड़ रङ्गे॥२५३॥

२५३। प० अनु०—इस प्रकार वे प्रत्येक वर्ष बड़े उत्साह से भक्तों के साथ गुण्डिचा अर्थात् रथ-यात्रा में पट्ट डोरी लेकर आते।

श्रीजगन्नाथ का रत्नबेदी पर आरोहण,
प्रभु का अपने भक्तों के साथ घर जाना—

तबे जगन्नाथ जाइ' बसिला सिंहासने।
महाप्रभु घरे आइला लञा भक्तगणे॥२५४॥

२५४। प० अनु०—तब श्रीजगन्नाथ अपने सिंहासन पर जाकर बैठ गये और श्रीचैतन्य महाप्रभु भी अपने भक्तों के साथ अपने वास स्थान पर चले आये।

भक्तों को हेरापञ्चमी का
प्रदर्शन और व्रजलीला—

एइमत भक्तगणे यात्रा देखाइल।
भक्तगण लञा वृन्दावन-केलि कैल॥२५५॥
चैतन्य-गोसाञिर लीला—अनन्त, अपार।
'सहस्र-वदन' जार नाहि पाय पार॥२५६॥
श्रीरूप-रघुनाथ-पदे जार आश।
चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥२५७॥

श्रीचैतन्यचरितामृत के मध्यखण्ड में 'हेरापञ्चमी'-यात्रा-दर्शन नामक चतुर्दश परिच्छेद समाप्त।

२५५-२५७। प० अनु०—इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भक्तों को श्रीजगन्नाथ रथ-यात्रा का दर्शन करवाया और भक्तों के साथ वृन्दावन की लीलाओं को सम्पन्न किया। श्रीचैतन्य गोसाईं की लीलाएँ अनन्त, अपार हैं, हजार मुख वाले शेष भी उन लीलाओं का पार नहीं पा सकते। श्रीरूप-रघुनाथ के चरणों में ही जिसकी आशा है, वही कृष्णदास चैतन्यचरितामृत का गान कर रहा है।

अनुभाष्य

२५६। आदि दशम परिच्छेद १६२-१६३ एवं सप्तदश परिच्छेद का ३३१ संख्या द्रष्टव्य।

चतुर्दश परिच्छेद का अनुभाष्य समाप्त।

मध्यलीला का प्रथम खण्ड समाप्त।

✵ ✵ ✵